TEXT IS FLY WITHIN THE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182743

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास

हिन्दी-समीक्षा की विविध पद्धतियों का सैद्धान्तिक एवं
ऐतिहासिक विश्लेषण

प्राक्कथन
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एम०ए०
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
सागर-विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)

लेखक
डॉक्टर भगवतस्वरूप मिश्र
एम०ए०, पी-एच०डी०
हिन्दी-संस्कृत-विभाग, आगरा कालिज, आगरा

साहित्य सदन, झाँसी

प्रकाशक
सुरेन्द्रनाथ
साहित्य-सदन, देहरादन

१९६१
मूल्य बारह रुपए पचास नए पैसे

मुद्रक
सुरेन्द्रनाथ
सरस्वती प्रेस, देहरादून ।

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक आगरा-विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत मेरी शोध-कृति है। इधर उधर कुछ वाक्यो के जोडने-घटाने के अतिरिक्त प्रकाशन के समय मैने इसमे कोई विशेष परिवर्तन नही किया है। यह मेरा आलोचना के स्वरूप एवं विकास को समझने का प्रारम्भिक प्रयास-मात्र है। इसमें मैने हिन्दी के समीक्षा सिद्धातो, उसके सम्प्रदायो तथा शैलियों का तात्विक एवं तटस्थ अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इनका स्पष्टीकरण तथा मूल्याङ्कन करते समय मैने सम्प्रदायगत पूर्वाग्रहों से यथासंभव दूर रहने का ही प्रयत्न किया है। प्रसंगवश कतिपय आलोचकों की समीक्षा पद्धति पर भी विचार करने का अवसर प्राप्त हो गया है। इस कार्य मे मै कितना सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय विज्ञ एवं सहृदय पाठक स्वय ही करेगे।

यह प्रबन्ध परम पूज्य गुरुवरो श्रीयुत पं० जगन्नाथ तिवारी तथा पं० कैलाश चन्द्र मिश्र के आशीर्वाद, प्रेरणा एवं मार्ग-प्रदर्शन का ही फल है। यह उन्ही की वस्तु है। इसमे जो कुछ त्रुटिया रह गई है, वे ही मेरी है। गुरुजनों के प्रति मेरे हृदय मे जो कृतज्ञता है, वह तो हृदय की वस्तु है, उसको मैं शब्दो मे कैसे बाधूं ?

परम श्रद्धेय श्रीयुत पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी की मुझ पर महती कृपा और स्नेह है। इसी स्नेह के कारण उन्होने इस प्रबन्ध की भूमिका लिखना स्वीकार किया है। इसी विषय पर आगे और अध्ययन करने की प्रेरणा एवं मार्ग-प्रदर्शन द्वारा उन्होने अपने अनुग्रह एवं मगल कामना का परिचय दिया है। श्रीयुत डा० सत्येन्द्र का सहयोग तो इस कार्य के प्रारम्भ से ही रहा है। विषय की सुविधाओं को सुलझाने से लेकर टाइप जैसे छोटे से कार्य तक के लिए मैंने उन्हें कष्ट दिया है। स्नेहवश वे इन सब कष्टो का बराबर स्वागत करते रहे हैं। उन्होने मुझे हमेशा ही आगे बढने के लिए प्रोत्साहित किया है।

इस प्रबन्ध के लिखने में मैंने जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उनकी सूची ग्रंथ के अन्त में दे दी गई है। मूल ग्रंथ में जिन पुस्तकों के उद्धरण दिये गए हैं, उनका निर्देश भी नीचे टिप्पणी मे कर दिया गया है मै उन सभी साहित्य-

मनीषियों का ऋणी हूँ। आगरा के चिरंजीव पुस्तकालय के विद्यानुरागी मालिक श्रीयुत पं० चिरंजीलाल जी ने अपने निजी बृहद् ग्रंथ संग्रह से लाभ उठाने की अनुमति देकर मुझे बहुत से कष्टो से बचा लिया है। हस्त लिखित ग्रंथो को देखने की विशेष सुविधा प्रदान करके काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भी मुझ पर बडी कृपा की है।

उपर्युक्त सभी व्यक्तियों के अमूल्य सहयोग के लिए म उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ, इस शोध कृति को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं आगरा-विश्वविद्यालय के अधिकारियो का भी आभारी हूँ।

हिन्दी-संकृत-विभाग
आगरा कालेज, आगरा
पौष शुक्ला २ गुरुवार २०१०।

भगवत्स्वरूप मिश्र

व्याकरण, दर्शन तथा धर्म-शास्त्र के निष्णात पण्डित

परमपूज्य प्रपितामह

स्व० श्रीयुत पं० रामरिखदास जी मिश्र

की पुण्य स्मृति को सादर समर्पित

प्राक्कथन

भारतीय साहित्यालोचन की ही भाँति पाश्चात्य साहित्यालोचन की परम्परा बड़ी पुरानी है। प्रायः पच्चीस सौ वर्षों से वह निरन्तर चली आ रही है। यद्यपि उसका आरम्भ यूरोप के एक छोटे से प्रदेश में हुआ था, परन्तु क्रमशः उसका विस्तार समस्त यूरोप और पश्चिमी संसार में हो गया। पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन भी विकसित होता गया है और उसकी अपनी एक इकाई बन गई है। आज जब हम पाश्चात्य साहित्यालोचन का नाम लेते हैं, तब वह सारी इकाई हमारे सामने आ जाती है, जो पश्चिम की उपज है। यह साहित्यालोचन यूरोप की राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर गया है और समस्त पश्चिमी संसार तथा अमरीका की वस्तु बन गया है। जिस तरह पश्चिमी देश क्रिश्चियन सभ्यता के नाम पर अपने को एक मानते हैं, उसी प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन भी, उक्त क्रिश्चियन सभ्यता की ही भाँति, सारे पश्चिमी राष्ट्रों की सम्पत्ति बन गया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसकी परम्परा अटूट मानी जाती है और विकासमूलक सिद्धान्तों की दृष्टि से वह चिर-विकासमान वस्तु के रूप में उपस्थित किया जाता है। पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षकों ने उक्त परम्परा का इतना सुन्दर और क्रमबद्ध विवरण दिया है कि आज जब हम उसे देखते हैं तब सचमुच वह पश्चिमी चेतना के विकास का इतिवृत्त-सा जान पड़ता है। भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा का आधुनिक विद्वानों ने इतना सुन्दर विवेचन नहीं किया है जिसके फलस्वरूप भारतीय समीक्षा भी अपनी सुदृढ़ विकासमूलक भूमिका पर प्रतिष्ठित की जा सके। आज हमारे साहित्य की एक बड़ी आवश्यकता यह है कि हम भारतीय साहित्यालोचन के क्रम-विकास को उसी वैज्ञानिक और विकासमूलक भित्ति पर स्थापित करें जिस पर पाश्चात्य साहित्यालोचन स्थापित हो चुका है।

किसी भी देश की ज्ञान-राशि का सुव्यवस्थित विवरण भविष्य की सन्तान के लिए कितना उपयोगी होता है, यह हम पाश्चात्य साहित्यालोचन के उदाहरण से समझ सकते हैं। समीक्षा के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों को लेकर जो विवेचन आज तक पश्चिमी देशों में हो चुका है वह पश्चिम के प्रत्येक साहित्यिक अध्येता के लिए एक खुली पुस्तक है। उसे यह जानने में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ता कि वह की सैद्धांतिक समीक्षा किन दशाओं में कितना विकास कर चुकी है और उसके

उपलब्धियां क्या हैं ! नये शोधकों को भी इससे बड़ी सुविधा हो गई है। वे आज तक की स्थिति से पूर्णतः परिशीलन में सुगमता के साथ प्रवृत्त हो सकते हैं। उन्हें अंधेरे में भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारतवर्ष में अब तक यह स्थिति नहीं आ सकी है। यद्यपि हमारे देश में साहित्य-सम्बन्धी अनेकानेक सैद्धांतिक उद्भावनाएं हुई हैं, परन्तु आज के विद्यार्थी के सामने वे बिखरी हुई वस्तुओं के रूप में पड़ी हुई हैं। उनका सुव्यवस्थित और सापेक्ष अनुशीलन नहीं किया जा सका है। इसलिए जब हम आज भारतीय साहित्यालोचन की चर्चा करते हैं तब हमारे सामने कोई ऐसा सम्पूर्ण चित्र नहीं आता जैसा पाश्चात्य समीक्षा के अध्येताओं के समक्ष आता है। इसका कारण यही है कि हमारी साहित्यिक परम्परा समृद्ध होती हुई भी सुगठित नहीं है। उसका सम्पूर्ण मूल्य हमारी वर्तमान सभ्यता नहीं उठा पाती। वस्तु का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संचय नहीं किया जा सका।

किसी साहित्यिक या सांस्कृतिक परम्परा के सुसबद्ध होने का एक और भी लाभ होता है। हमारी ज्ञान-राशि जितनी दूर तक बढ़ चुकी है उससे पीछे लौटने का भय नहीं रहता। पश्चिम के साहित्य-शास्त्र का कोई विद्यार्थी जब तक इस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को आत्मसात् नहीं कर लेता तब तक नई दिशा में लेखनी उठाने का साहस नहीं होगा। इस प्रकार क्रमशः नये युगों और नई संतति को पूर्ववर्त्ती समस्त साहित्यिक चेतना उत्तराधिकार के रूप में मिल जाती है। ऐसी प्रौढ़ परम्परा ही भविष्य में नये ज्ञान और नवीन चिन्तन के द्वार खोल सकती है और उस समृद्ध परम्परा का पूरा मूल्य उठाया जा सकता है। यूरोप में तथा पाश्चात्य देशों में यही हो रहा है। वहां साहित्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण नया चिन्तन प्राचीन पोथिका को साथ लेकर चलता है। इसीलिए वहां की साहित्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाएं महत्वपूर्ण होती हैं और वे संसार के ज्ञान को आगे बढ़ाने में योग देती हैं। आज भारतीय विद्यार्थी के समक्ष इस प्रकार की सुविधा नहीं है अथवा नहीं के बराबर है। फलतः यहां हमें पश्चिम से आई हुई नवीन साहित्यिक निष्पत्तियों से काम लेना पड़ता है और हम अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। पिछले पचास वर्षों में भारतीय साहित्यालोचन को अपनी परम्परा से कितना मिला और पश्चिम के वादों और सिद्धान्तों का उस पर कितना प्रभाव पड़ा, इसकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पश्चिम हमारे ऊपर कितनी तेजी से छा रहा है और हमारी अपनी ज्ञान-राशि किस हद तक उपेक्षित हो रही है।

आये दिन हिंदी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी समीक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत जो शब्दावली प्रचलित हो रही है, क्या वह अधिकांश पश्चिमी नहीं है ? जो नये वाद और जो नई शैलियां हमारे साहित्य में स्थान पाती जा रही हैं, क्या वे वस्तुतः हमारी परम्परा के स्वाभाविक विकास क्रम से गृहित हो सकी हैं ! यही नहीं,

यूरोपीय अनुकरण के नाम पर जो सामग्रिया हमारे साहित्य में आ रही हैं क्या वे सब की सब हमारे समाज के अनुकूल है ? आज हमारे देश को क्या उन्हीं विचारों और जीवन-दृष्टियो की आवश्यकता है जो नवीनता के नाम पर यूरोप में फैली हुई है ? क्या हमारे नये साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तिया भारतीय जनता के गले के नीचे उतर सकी है, और क्या वह सम्पूर्ण द्रव्य हमारे लिए उपादेय बन सका है? ये सब प्रश्न हैं जिनके प्रकाश मे हमें अपनी साहित्यिक गति-विधि को देखना होगा। यहा जिस बात की चर्चा की जा रही है, वह यह है कि पाश्चात्य साहित्यालोचन की परम्परा इतनी बलवती है कि वह पश्चिम मे तो अपना उत्तरोत्तर विकास कर ही रही है, पूर्वी देशो मे भी उसका प्रसार होने लगा है और कदाचित् बडे कृत्रिम रूप मे होने लगा है। यो तो ज्ञान देश और काल की सीमा मे बाधा नही जा सकता और वह सर्वत्र अखड रूप मे रहता है, परन्तु प्रत्येक देश और भू-भाग की अपनी विशेषताएं भी होती है जो उसकी इयत्ता को सूचित करती हैं और जिनका परित्याग नही किया जा सकता।

पाश्चात्य साहित्यालोचन ठीक उसी मार्ग पर नही चला जिस मार्ग पर भारतीय समीक्षा चली है। अतएव आज जब हम दोनो को अपने समक्ष पाते हैं तब सहसा यह निणय नही कर पाते कि इन दोनो शास्त्रीय पद्धतियो मे कितनी सफलता अथवा क्या अन्तर है। इसके लिए हमे पश्चिमी और भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्पूर्ण क्रम-विकास को देखना आवश्यक होगा। तभी हम उनके सपूर्ण स्वरूप से अवगत हो सकेगे और तभी भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धातो की समानता और असमानता का भी परिचय प्राप्त कर सकेगे। आज के साहित्यिक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि भारत और पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सर्वाङ्ग स्वरूप उसके समक्ष रहे। तभी यह तुलनात्मक दृष्टि से अपने देश की समीक्षा सम्बधी प्रगति की ठीक ठीक जानकारी प्राप्त कर सकेगा और तभी वह पूर्वी तथा पश्चिमी सैद्धांतिक विकास की उचित भूमिका पर रखकर दोनो की परीक्षा कर सकेगा। इस समय जब हम ऐसे कार्य मे प्रवृत्त होते है, तब पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के सैद्धांतिक विकास-क्रम पर तो हमे अनेकानेक ग्रंथ पढने को मिल जाते है, पर भारतीय साहित्य शास्त्र के विकास क्रम को दिखाने वाली दो-चार पुस्तके भी नहीं मिलती। सच पूछिए तो अलकार रीति, रस, अलंकार आदि विविध भारतीय मतों की रूप-रेखा भी स्पष्ट नहीं की जा सकी, उनका पारस्परिक सम्बंध क्रम-विकास तथा उनकी तुलनात्मक वस्तु सम्पत्ति का निरूपण तो आगे की साधनाएं हैं।

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय विद्वानो ने इस क्षेत्र में कार्यारंभ कर दिया है। अब वे केवल 'हमारी बराबरी कौन कर सकता है' के भ्रामक वाक्य और अर्थहीन उपपत्ति तक सीमित न रहकर वास्तविक तथ्यो की खोज और संग्रह भी करने लगे

हैं। निश्चय ही यह कार्य अतिशय परिश्रम-साध्य है और इसमें प्रगति धीरे-धीरे ही हो सकती है। वास्तव में यह सारा कार्य सम्पूर्ण भारतीय साहित्य शास्त्र को विकास मूलक वैज्ञानिक भूमिका पर पहुँचा देने का है। इसे यदि हम एक पूरी पीढ़ी का समय लेकर भी पूरा करें तो कम नही है।

प्रस्तुत पुस्तक में डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने इसी क्षेत्र में प्रवेश करने का साधनापूर्ण प्रयत्न किया है। यद्यपि उनका विषय हिन्दी समीक्षा तक ही सीमित है, फिर भी उन्होंने पूर्व-पीठिका के रूप मे विविध भारतीय सम्प्रदायों की उत्पत्ति और विकास के आंशिक विवरण दिये हैं। एक प्रकार से भगवत्स्वरूपजी ने पुरानी बैठनो को खोलकर उनमें दिखाई देने वाली वस्तुओं को एक तरतीब से हमारे सामने रखने की चेष्टा की है। प्रारंभिक स्थिति में यही किया भी जा सकता था। उन्होने उपलब्ध वस्तुओं का जो संक्षिप्त विवरण दिया है वह अपने स्थान पर बडा उपयोगी है। उससे हमें विवेच्य सामग्री की एक झलक मिल जाती है और हम यह समझ लेते हैं कि वहां पर कौन सी वस्तु मिलती है या मिल सकती है। इसके अतिरिक्त श्री भगवत्स्वरूप ने अपने सम्पूर्ण प्रबंध को एक विकासमूलक भूमिका देने का उपक्रम किया है जो आधुनिक अनुशीलन के लिए अत्यावश्यक है। पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का, वस्तु समीक्षा का, कार्य उन्हें अभी करना है और इसके पश्चात् विभिन्न सम्प्रदायो की निष्पत्तियो को ऐतिहासिक क्रम विकास की भूमि पर ला रखना है। इसके साथ यदि वे आधुनिक साहित्य समीक्षा की सैद्धांतिक व्याख्याओ को प्राचीन व्याख्याओं के साथ समन्वित कर सकेंगे तो और भी उपयोगी कार्य करेंगे। सममामयिक सामाजिक विकास, रचनात्मक साहित्य तथा अन्य कलाओ की समानांतर प्रगति का रेखा-चित्र भी इस विवेचन को वस्तुमूलक बनाने मे सहायक होगा। वैसी स्थिति मे प्रस्तुत पुस्तक श्री मिश्र के आगामी कार्य के लिए भूमिका का काम करेगी। अपने वर्तमान रूप में भी उनका यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है और हिन्दी के साहित्यिक चिन्तन की गति-विधि पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। साहित्य-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इसका उपयोग आवश्यक और उपादेय होगा और श्री भगवत्स्वरूप जी के लिए यह उस आधार शिला का कार्य करेगा जो उनके आगामी निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। इस सम्बन्ध मे मै लेखक से मिलने तथा बातचीत और पत्र-व्यवहार करने के पश्चात् पूणत: आश्वस्त हो चुका हूँ। उनकी इस कृति की प्रशंसा मैं अपने उस वक्तव्य मे भी कर चुका हूँ जिसमें मैंने इसे पी-एच० डी० की उपाधि के लिए पूर्णत: उपयुक्त पाया था। परन्तु प्रशंसा की अपेक्षा मैं प्राप्याशा को अधिक महत्व देता हूँ, और प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर मैं इसी (प्राप्याशा की) भावना से भावित होकर लेखक तथा इस पुस्तक का सहर्ष स्वागत करता हूँ।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

क्रम

१	विषय-प्रवेश . साहित्य समीक्षा का स्वरूप और उसके प्रकार	१७
२	संस्कृत-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप	३९
३	हिन्दी में रीति-ग्रंथ और साहित्य-समीक्षा	१५३
४	आधुनिक समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ	२२६
५	द्विवेदी काल में आलोचना का स्वरूप	२४७
६	मिश्रबन्धुओं की समीक्षा पद्धति	२७६
७	तुलनात्मक समालोचना	२९७
८	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	३३१
९	शुक्लोत्तर समीक्षा	३९७
१०	सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा	४१६
११	मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा	४६७
१२	मार्क्सवादी समीक्षा	४८५
१३	समीक्षा की अन्य शैलियां . प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी सौंदर्यान्वेषी	५२१
१४	चरितमूलक समीक्षा	५३५
१५	ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति	५४२
१६	आधुनिक काल में साहित्य-शास्त्र	५६०
१७	उपसंहार	५७८
१८	पुस्तक सूची	५८५

प्राक्कथन

भारतीय साहित्यालोचन की ही भाँति पाश्चात्य साहित्यालोचन की परम्परा बड़ी पुरानी है। प्रायः पच्चीस सौ वर्षों से वह निरन्तर चली आ रही है। यद्यपि उसका आरम्भ यूरोप के एक छोटे से प्रदेश मे हुआ था, परन्तु क्रमश. उसका विस्तार समस्त यूरोप और पश्चिमी ससार मे हो गया। पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही पाश्चात्य साहित्यालोचन भी विकसित होता गया है और उसकी अपनी एक इकाई बन गई है। आज जब हम पाश्चात्य साहित्यालोचन का नाम लेते हैं, तब वह सारी इकाई हमारे सामने आ जाती है, जो पश्चिम की उपज है। यह साहित्यालोचन यूरोप की राष्ट्रीय सीमाओ को पार कर गया है और समस्त पश्चिमी संसार तथा अमरीका की वस्तु बन गया है। जिस तरह पश्चिमी देश क्रिश्चियन सभ्यता के नाम पर अपने को एक मानते है, उसी प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन भी, उक्त क्रिश्चियन सभ्यता की ही भाति, सारे पश्चिमी राष्ट्रो की सम्पत्ति बन गया है।

पाश्चात्य साहित्यालोचन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसकी परम्परा अटूट मानी जाती है और विकासमूलक सिद्धान्तो की दृष्टि से वह चिर-विकासमान वस्तु के रूप मे उपस्थित किया जाता है। पिछली कुछ शताब्दियों के यूरोपीय समीक्षको ने उक्त परम्परा का इतना सुन्दर और क्रमबद्ध विवरण दिया है कि आज जब हम उसे देखते है तब सचमुच वह पश्चिमी चेतना के विकास का इतिवृत्त-सा जान पडता है। भारतीय साहित्यालोचन की परम्परा का आधुनिक विद्वानो ने इतना सुन्दर विवेचन नही किया है जिसके फलस्वरूप भारतीय समीक्षा भी अपनी सुदृढ विकासमूलक भूमिका पर प्रतिष्ठित की जा सके। आज हमारे साहित्य की एक बड़ी आवश्यकता यह है कि हम भारतीय साहित्यालोचन के क्रम-विकास को उसी वैज्ञानिक और विकासमूलक भित्ति पर स्थापित करे जिस पर पाश्चात्य साहित्यालोचन स्थापित हो चुका है।

किसी भी देश की ज्ञान-राशि का सुव्यवस्थित विवरण भविष्य की सन्तान के लिए कितना उपयोगी होता है, यह हम पाश्चात्य साहित्यालोचन के उदाहरण से समझ सकते है। समीक्षा के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों को लेकर जो विवेचन आज तक पश्चिमी देशो में हो चुका है वह पश्चिम के प्रत्येक साहित्यिक अध्येता के लिए एक खुली पुस्तक है। उसे यह जानने मे अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ता कि वहां की सैद्धांतिक समीक्षा किन दशाओ में कितना विकास कर चुकी है और उसको

उपलब्धियां क्या है ! नये शोधकों को भी इससे बड़ी सुविधा हो गई है। वे आज तक की स्थिति से पूर्णतः परिशीलन मे सुगमता के साथ प्रवृत्त हो सकते है। उन्हें अंधेरे मे भटकने की आवश्यकता नही पड़ती। भारतवर्ष मे अब तक यह स्थिति नही आ सकी है। यद्यपि हमारे देश मे साहित्य-सम्बन्धी अनेकानेक सैद्धांतिक उद्भावनाए हुई है, परन्तु आज के विद्यार्थी के सामने वे बिखरी हुई वस्तुओं के रूप मे पड़ी हुई है। उनका सुव्यवस्थित और सापेक्ष अनुशीलन नही किया जा सका है। इसलिए जब हम आज भारतीय साहित्यालोचन की चर्चा करते है तब हमारे सामने कोई ऐसा सम्पूर्ण चित्र नही आता जैसा पाश्चात्य समीक्षा के अध्येताओं के समक्ष आता है। इसका कारण यही है कि हमारी साहित्यिक परम्परा समृद्ध होती हुई भी सुगठित नही है। उसका सम्पूर्ण मूल्य हमारी वर्तमान सभ्यता नही उठा पाती। वस्तु का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संचय नही किया जा सका।

किसी साहित्यिक या सास्कृतिक परम्परा के सुसबद्ध होने का एक और भी लाभ होता है। हमारी ज्ञान-राशि जितनी दूर तक बढ चुकी है उससे पीछे लौटने का भय नही रहता। पश्चिम के साहित्य-शास्त्र का कोई विद्यार्थी जब तक इस सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को आत्मसात् नही कर लेता तब तक नई दिशा मे लेखनी उठाने का साहस नही होगा। इस प्रकार क्रमशः नये युगों और नई सतति को पूर्ववर्त्ती समस्त साहित्यिक चेतना उत्तराधिकार के रूप मे मिल जाती है। ऐसी प्रौढ परम्परा ही भविष्य मे नये ज्ञान और नवीन चिन्तन के द्वार खोल सकती है और उस समृद्ध परम्परा का पूरा मूल्य उठाया जा सकता है। यूरोप मे तथा पाश्चात्य देशो मे यही हो रहा है। वहा साहित्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण नया चिन्तन प्राचीन पोठिका को साथ लेकर चलता है। इसीलिए वहा की साहित्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाए महत्वपूर्ण होती है और वे ससार के ज्ञान को आगे बढाने मे योग देती है। आज भारतीय विद्यार्थी के समक्ष इस प्रकार की सुविधा नही है अथवा नही के बराबर है। फलतः यहा हमे पश्चिम से आई हुई नवीन साहित्यिक निष्पत्तियो से काम लेना पड़ता है और हम अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का पूरा उपयोग नही कर पाते। पिछले पचास वर्षों मे भारतीय साहित्यालोचन को अपनी परम्परा से कितना मिला और पश्चिम के वादो और सिद्धान्तो का उस पर कितना प्रभाव पडा, इसकी मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि पश्चिम हमारे ऊपर कितनी तेजी से छा रहा है और हमारी अपनी ज्ञान-राशि किस हद तक उपेक्षित हो रही है।

आये दिन हिंदी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी समीक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत जो शब्दावली प्रचलित हो रही हैं, क्या वह अधिकांश पश्चिमी नही है ? जो नये वाद और जो नई शैलिया हमारे साहित्य मे स्थान पाती जा रही है, क्या वे वस्तुतः हमारी परम्परा के स्वाभाविक विकास क्रम से गृहित हो सकी है ! यही नहीं,

यूरोपीय अनुकरण के नाम पर जो सामग्रियां हमारे साहित्य मे आ रही हैं क्या वे सब की सब हमारे समाज के अनुकूल है ? आज हमारे देश को क्या उन्ही विचारों और जीवन-दृष्टियो की आवश्यकता है जो नवीनता के नाम पर यूरोप मे फैली हुई है ? क्या हमारे नये साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तिया भारतीय जनता के गले के नीचे उतर सकी है, और क्या वह सम्पूर्ण द्रव्य हमारे लिए उपादेय बन सका है ? ये सब प्रश्न हैं जिनके प्रकाश मे हमे अपनी साहित्यिक गति-विधि को देखना होगा। यहा जिस बात की चर्चा की जा रही है, वह यह है कि पाश्चात्य साहित्यालोचन की परम्परा इतनी बलवती है कि वह पश्चिम मे तो अपना उत्तरोत्तर विकास कर ही रही है, पूर्वी देशो मे भी उसका प्रसार होने लगा है और कदाचित् बडे कृत्रिम रूप मे होने लगा है। यों तो ज्ञान देश और काल की सीमा मे बाधा नही जा सकता और वह सर्वत्र अखड रूप मे रहता है, परन्तु प्रत्येक देश और भू-भाग की अपनी विशेषताएं भी होती है जो उसकी इयत्ता को सूचित करती है और जिनका परित्याग नही किया जा सकता।

पाश्चात्य साहित्यालोचन ठीक उसी मार्ग पर नही चला जिस मार्ग पर भारतीय समीक्षा चली है। अतएव आज जब हम दोनो को अपने समक्ष पाते हैं तब सहसा यह निर्णय नही कर पाते कि इन दोनो शास्त्रीय पद्धतियो मे कितनी सफलता अथवा क्या अन्तर है। इसके लिए हमे पश्चिमी और भारतीय साहित्य-शास्त्र के सम्पूर्ण क्रम-विकास को देखना आवश्यक होगा। तभी हम उनके सपूर्ण स्वरूप से अवगत हो सकेंगे और तभी भारतीय साहित्यालोचन के साथ पश्चिमी सिद्धातो की समानता और असमानता का भी परिचय प्राप्त कर सकेंगे। आज के साहित्यिक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि भारत और पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का सर्वाङ्ग स्वरूप उसके समक्ष रहे। तभी यह तुलनात्मक दृष्टि से अपने देश की समीक्षा सम्बधी प्रगति की ठीक ठीक जानकारी प्राप्त कर सकेगा और तभी वह पूर्वी तथा पश्चिमी सैद्धातिक विकास की उचित भूमिका पर रखकर दोनो की परीक्षा कर सकेगा। इस समय जब हम ऐसे कार्य मे प्रवृत्त होते है, तब पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के सैद्धातिक विकास-क्रम पर तो हमे अनेकानेक ग्रथ पढने को मिल जाते है, पर भारतीय साहित्य शास्त्र के विकास क्रम को दिखाने वाली दो-चार पुस्तके भी नही मिलती। सच पूछिए तो अबतक रीति, रस, अलकार आदि विविध भारतीय मतो की रूप-रेखा भी स्पष्ट नही की जा सकी, उनका पारस्परिक सम्बंध क्रम-विकास तथा उनकी तुलनात्मक वस्तु सम्पत्ति का निरूपण तो आगे की साधनाएं है।

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय विद्वानो ने इस क्षेत्र मे कार्यारभ कर दिया है। अब वे केवल 'हमारी बराबरी कौन कर सकता है' के भ्रामक वाक्य और अर्थहीन आपत्ति तक सीमित न रहकर वास्तविक तथ्यो की खोज और सग्रह भी करने लगे

हैं। निश्चय ही यह कार्य अतिशय परिश्रम-साध्य है और इसमें प्रगति धीरे-धीरे ही हो सकती है। वास्तव में यह सारा कार्य सम्पूर्ण भारतीय साहित्य शास्त्र को विकास मूलक वैज्ञानिक भूमिका पर पहुँचा देने का है। इसे यदि हम एक पूरी पीढ़ी का समय लेकर भी पूरा करे तो कम नही है।

प्रस्तुत पुस्तक मे डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने इसी क्षेत्र में प्रवेश करने का साधनापूर्ण प्रयत्न किया है। यद्यपि उनका विषय हिन्दी समीक्षा तक ही सीमित है, फिर भी उन्होने पूर्व-पीठिका के रूप मे विविध भारतीय सम्प्रदायो की उत्पत्ति और विकास के आंशिक विवरण दिये हैं। एक प्रकार से भगवत्स्वरूपजी ने पुरानी बेठनो को खोलकर उनमे दिखाई देने वाली वस्तुओ को एक तरतीब से हमारे सामने रखने की चेष्टा की है। प्रारंभिक स्थिति मे यही किया भी जा सकता था। उन्होने उपलब्ध वस्तुओ का जो सक्षिप्त विवरण दिया है वह अपने स्थान पर बडा उपयोगी है। उससे हमे विवेच्य सामग्री की एक झलक मिल जाती है और हम यह समझ लेते है कि वहा पर कौन सी वस्तु मिलती है या मिल सकती है। इसके अतिरिक्त श्री भगवत्स्वरूप ने अपने सम्पूर्ण प्रबंध को एक विकासमूलक भूमिका देने का उपक्रम किया है जो आधुनिक अनुशीलन के लिए अत्यावश्यक है। पृथक्-पृथक् सम्प्रदायो का, वस्तु समीक्षा का, कार्य उन्हें अभी करना है और इसके पश्चात् विभिन्न सम्प्रदायो की निष्पत्तियो को ऐतिहासिक क्रम विकास की भूमि पर ला रखना है। इसके साथ यदि वे आधुनिक साहित्य समीक्षा की सैद्धांतिक व्याख्याओ को प्राचीन व्याख्याओं के साथ समन्वित कर सकेंगे तो और भी उपयोगी कार्य करेंगे। समसामयिक सामाजिक विकास, रचनात्मक साहित्य तथा अन्य कलाओ की समानांतर प्रगति का रेखा-चित्र भी इस विवेचन को वस्तुमूलक बनाने मे सहायक होगा। वैसी स्थिति मे प्रस्तुत पुस्तक श्री मिश्र के आगामी कार्य के लिए भूमिका का काम करेगी। अपने वर्तमान रूप में भी उनका यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है और हिन्दी के साहित्यिक चिन्तन की गति विधि पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। साहित्य-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए इसका उपयोग आवश्यक और उपादेय होगा और श्री भगवत्स्वरूप जी के लिए यह उस आधार शिला का कार्य करेगा जो उनके आगामी निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। इस सम्बन्ध मे मै लेखक से मिलने तथा बातचीत और पत्र-व्यवहार करने के पश्चात् पूर्णतः आश्वस्त हो चुका हूँ। उनकी इस कृति की प्रशंसा मैं अपने उस वक्तव्य मे भी कर चुका हूँ जिसमे मैंने इसे पी-एच० डी० की उपाधि के लिए पूर्णतः उपयुक्त पाया था। परन्तु प्रशंसा की अपेक्षा मैं प्राप्त्याशा को अधिक महत्व देता हूँ, और प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर मै इसी (प्राप्त्याशा की) भाव से भावित होकर लेखक तथा इस पुस्तक का सहर्ष स्वागत करता हूँ।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

क्रम

१	विषय-प्रवेश : साहित्य-समीक्षा का स्वरूप और उसके प्रकार	१७
२	संस्कृत-साहित्य में समीक्षा का स्वरूप	३९
३	हिन्दी में रीति-ग्रंथ और साहित्य-समीक्षा	१५३
४	आधुनिक समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ	२२६
५	द्विवेदी काल में आलोचना का स्वरूप	२४७
६	मिश्रबन्धुओं की समीक्षा पद्धति	२७६
७	तुलनात्मक समालोचना	२९७
८	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	३३१
९	शुक्लोत्तर समीक्षा	३९७
१०	सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा	४१६
११	मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा	४६७
१२	मार्क्सवादी समीक्षा	४८५
१३	समीक्षा की अन्य शैलियां : प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी सौंदर्यान्वेषी	५२१
१४	चरितमूलक समीक्षा	५३५
१५	ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति	५४२
१६	आधुनिक काल में साहित्य-शास्त्र	५६०
१७	उपसंहार	५७८
१८	पुस्तक सूची	५८५

: १ :

विषय-प्रवेश

साहित्य-समीक्षा का स्वरूप और उसके प्रकार

आलोचना या समालोचना का मूल अर्थ किसी भी वस्तु को सम्यक् प्रकार से विधि पूर्वक उसके सम्पूर्ण रूप मे देखना है। सस्कृत मे दर्शन या देखने का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में होता है। इसमे इन्द्रिय, मन, बुद्धि और हृदय सबके प्रत्यक्षों का समावेश है। इन सबके द्वारा वस्तु का प्रत्यक्ष देखना या दर्शन ही कहलाता है। इतना ही नही अपितु जगत् से अतिक्रान्त आत्मा और परमात्मा का प्रत्यक्ष भी दर्शन ही है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा अगम्य, स्वानुभूति-स्वरूप आत्मा के भी दर्शन का ही आदेश दिया गया है : "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:।" कहने का तात्पर्य यह है कि आलोचना अथवा इसके पर्यायवाची शब्दो मे एक व्यापक अर्थ अन्तर्हित है और यह मानव की मूलभूत वृत्ति तथा आकाक्षा का सकेत करता है। जगत् को देखना और सम्यक् प्रकार से समझना मानव का स्वभाव है। वह प्रतिक्षण जगत् को समझ रहा है, उसके स्वरूप और महत्व के सम्बन्ध मे एक विशेष धारणा बना रहा है। उसे अपनी जगत्-सम्बन्धी प्रत्येक धारणा विशेष क्षणो मे बहुत-कुछ सम्यक्, विधि पूर्वक और पूर्ण ही प्रतीत होती है। उसका अहम् चिर विकासमान एव सम्पूर्णता की ओर गति-शील है। इसके साथ ही उसका जगत-सम्बन्धी ज्ञान भी निरन्तर पूर्णता की ओर ही बढ़ रहा है। वस्तु के यथार्थ रूप की जिज्ञासा और उसे जानने का प्रयत्न मानव का स्वभाव है। वह ज्ञान पूर्वक जीता है। जगत् के प्रति बौद्धिक और रागात्मक प्रति-क्रियाएं ही उसका जीवन है। यही जगत् को समझना है और यही समीक्षा है, इस प्रकार स्पष्ट है कि समीक्षा मानव की मूलभूत प्रवृत्ति है। व्यापक अर्थ मे यह उसके प्रत्येक कार्य के अन्तस्तल में प्रवाहित रहने वाली वह बुद्धि-वृत्ति है, जिसके दो प्रधान कार्य है—व्याख्या और निर्णय। इसमें संकल्प-विकल्पात्मक तथा व्यवसायात्मिका दोनों प्रकार की बुद्धि-वृत्तियों का

सामञ्जस्य है। यही कारण है कि विश्लेषण एवं निर्णय ये दो तत्व विज्ञान तथा साहित्य—दोनों की समीक्षा के प्रधान कार्य माने गये है। ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि समीक्षा विषय और विषयी दोनो के आधीन होती है। समीक्षक वस्तु का ही विश्लेषण करता है, पर निर्णय मे उसके व्यक्तित्व को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होने का अवसर मिलता है। इसका यह तात्पर्य नही है कि विश्लेषण मे वैयक्तिकता का नितान्त अभाव है अथवा निर्णय वस्तु-सापेक्ष नही है। समीक्षा के ये दोनो कार्य ही वस्तु और विषयी के सम्मिश्रण मात्र है। इनके अनुपात मे भेद हो सकता है, और होता है। यह अनुपात आलोचना के विषय तथा समीक्षक के व्यक्तित्व पर भी बहुत-कुछ निर्भर है। विज्ञान और साहित्य का मौलिक अन्तर ही उनकी समीक्षा के मूलभूत अन्तर का कारण है। विज्ञान के कार्य तथा उसकी समालोचना दोनो ही अधिकाशत: वस्तु-सापेक्ष एवं वस्तु तन्त्रात्मक होते है। उनमे व्यक्ति का महत्व प्राय: नगण्य है। पर साहित्य में तो व्यक्ति का ही महत्व अधिक है, इसलिये उसकी समीक्षा में भी वैयक्तिकता का तत्व प्रधान हो जाता है। उसमे विश्लेषण और निर्णय भी व्यक्तित्व से परिचालित एवं निर्दिष्ट होते है। विज्ञान और साहित्य की समीक्षा मे यही मौलिक अन्तर है। समीक्षा सामान्य के मूलभूत तत्व इन दोनों क्षेत्रो मे भिन्न रूपों मे विकसित हुये है। विज्ञान के क्षेत्र मे सृजन का ही अधिक मूल्य है। यहा पर वस्तु की समीक्षा भी सृजन की पृष्ठ भूमि अथवा सृजन ही है। पर काव्य मे सृजन और समीक्षा दोनों का पृथक अस्तित्व और महत्व है। साहित्य और कला के क्षेत्र मे भी समीक्षा सृजन की पृष्ठभूमि अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रेरणा का कार्य करती है। पर उसका अपना पृथक अस्तित्व, महत्व और उपादेयता भी अस्वीकृत नहीं किये जा सकते, अत: साहित्य समीक्षा भी एक प्रकार से सृजन ही है। समालोचना की आधुनिकतम प्रवृत्ति प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा तो आलोचना का उद्देश्य ही स्वतन्त्र अस्तित्व और उपादेयता वाली वस्तु का सृजन मानती है।

"Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which give us sensations. That is the art of criticism"..... Art can find its alter-ego in art"[1]

विज्ञान की वस्तु का मूल्याङ्कन उसकी स्थूल उपादेयता एवं ठोस वैज्ञानिक सिद्धान्तो के वस्तु-तंत्रात्मक मान पर किया जाता है। किसी पुल की परख के लिए इंजीनियर की ही आवश्यकता है और वह अपना निर्णय कुछ सिद्धान्तों के आधार

1. Spingarn—'The New Criticism,'

पर ही देता है। पर कला-कृति की समीक्षा प्रत्येक पाठक कर सकता है, उसके लिए कवि होना जरूरी नही। फिर उसकी समीक्षा पूर्णत: वैयक्तिक रुचि पर भी निर्भर रह सकती है। कला की समीक्षा मे केवल आनन्द अथवा मनोरजन को ही मान दड बनाया जा सकता है। विज्ञान की तरह आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य उपादेयता का ध्यान रखना अनिवार्य नही। विज्ञान और कला की समीक्षा मे यह भी एक बडा अन्तर है।

(साहित्य मानव-मस्तिष्क के सृजन और भावन-व्यापारो का सहज परिणाम है। इन्ही के आधार पर उसके क्षेत्र को स्पष्ट और पृथक् अस्तित्व वाले 'काव्य' एवं 'समीक्षा' नामक दो भागो मे बाट सकते है। प्राय: साहित्य शब्द का प्रयोग पहले अर्थ मे होता है। प्रस्तुत निबन्ध मे भी स्थान-स्थान पर ऐसा ही हुआ है। पर शास्त्रीय, सूक्ष्म और प्रामाणिक विवेचन के लिए इन दोनो मे अन्तर कर लेना आवश्यक था। साहित्य के क्षेत्र मे यह समस्या प्रत्येक युग मे उठती आई है कि इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। प्रश्न को अधिक स्पष्ट करने के लिए इसके कई-एक विभाग भी किये जा सकते हैं। क्या काव्य और समीक्षा एक-दूसरे के विरोधी है? क्या समीक्षा काव्य के विकास में बाधक है? साहित्य और समीक्षा दोनो मे अन्त.करण के सृजन और भावन दोनो व्यापारो की अपेक्षा है अथवा ये दोनो क्रमश. साहित्य और समीक्षा के ही उपकरण है? समीक्षा साहित्य की अनुगामिनी है, अथवा उस पर नियन्त्रण रखती हुई उसका पथ-निर्देश भी कर पाती है? इस प्रकार साहित्य और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध पर अनेक प्रश्न होते है। प्रत्येक युग मे ये प्रश्न उठाये जाते हैं और उनके अपने ढग से उत्तर भी दिये जाते हैं। आज प्राय: यह सामान्य धारणा बनी हुई है कि समीक्षा साहित्य के विकास में बाधक अधिक है। कुछ लोग यह मानते है कि कुछ युगो मे समीक्षाएँ अधिक लिखी गईं और उनमें कविता निम्न कोटि की रही। इससे साहित्य और समीक्षा में विरोध व्यक्त करना उनका उद्देश्य है। कभी-कभी यह भी अनुमान होता है कि सृजनात्मक शक्ति के अभाव अथवा दूषित होने पर ही समीक्षा का विकास होता है।[1] ऐसे कुछ युगो के उदाहरण प्राय: सभी साहित्यो से उपस्थित किये जा सकते है, जब सृजनात्मक की अपेक्षा समीक्षात्मक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। हिन्दी में आज का युग समीक्षा का युग कहा जा सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड अपने युग को सक्षीक्षात्मक प्रयास का युग कहते है।[2] लेकिन इन युगों में कविता का ह्रास ही हुआ है, यह

1. T.S. Eliot—'The use of poetry and the use of Criticism'. Page 29.
2. Mathew Arnold—Essays in Criticism. 'The functions of Criticism at the present time.' Page 1.

कहना कठिन है। यह कुछ विवादास्पद भी है। वस्तुतः जो हमे ह्रास प्रतीत होता है, वह नवीन क्रान्ति का पूर्वाभास भी हो सकता है। चिर परिचित काव्य-स्वरूप के दर्शन न होने से हम उसको ह्रास का युग मानते है। छायावाद के सम्बन्ध मे भी यही ठीक है। विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से उसका सामान्य धरातल अभी निम्न भी कहा जा सकता है, पर यह हिन्दी काव्य मे नवीन युग का सूत्रपात भी करता है। इसे अस्वीकार नही कर सकते। इसमे वे तत्व स्पष्ट है जो विकसित होकर साहित्य को उज्ज्वल और मगलमय आभा से आलोकित कर देंगे। विचार और भाव, बुद्धि और हृदय के भावी एवं सुन्दर समन्वय की कल्पना इस आलोक का कुछ अनुमान करा देती है। यह समन्वय ही काव्य का आदर्श रूप है। आज इसकी आकांक्षा धीरे-धीरे युग चेतना का रूप धारण कर रही है। प्रसाद जी की कविता इसका पूर्वाभास है। 'कामायनी' मे आध्यात्मिकता का प्राधान्य होते हुए भी विचार और भाव का समन्वय है। इसी तत्व के चिर विकासशील होने में साहित्य का कल्याण है।

इस समन्वय की प्रेरणा समीक्षा ही दे रही है। इस प्रकार इस युग की कविता की उत्कृष्टता भी समीक्षा पर ही आश्रित है। हिन्दी का रीति-काल ठीक अर्थ में समीक्षा का युग नही था, वह तो उल्टा प्राचीन से चिपटे रहने का युग था। इसलिए उसमें तो सृजनात्मक शक्ति का भी ह्रास ही हुआ है। हिन्दी का यह युग तो इस बात का और भी अच्छा प्रमाण है कि सृजनात्मक और समीक्षात्मक प्रवृत्तियां परस्पर विरोधी नही है। एक के उत्थान से दूसरे का ह्रास नही होता है। रीति-काल में दोनो का ह्रास हुआ और दोनो इसके लिए अन्यो-न्याश्रित रूप से उत्तरदायी है। समीक्षा और सृजनात्मक साहित्य के पारस्परिक विरोध का सिद्धान्त मानने वाले का ध्यान समीक्षा के संकुचित रूप पर ही अधिक रहता है। कभी-कभी केवल दोष-दर्शन के लिए लिखी गई पुस्तकें भी आलोचना के नाम से अभिहित होती हैं। उनमें लेखक की प्रतिभा और सहृदयता के स्थान पर केवल अरुचि और प्रयास की कृत्रिमता के ही दर्शन होते हैं। ऐसी रचनाएँ काव्य के विकास में बाधक भी होती है। लेकिन केवल इन पुस्तकों के आधार पर ऐसा कोई सामान्य सिद्धान्त बनाया जाना ठीक नही है। यह तो सब स्वीकार करेंगे कि कुरुचि और असद्भावनापूर्ण समीक्षा का न लिखा जाना ही ठीक है और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि भावन की अपेक्षा सृजन का महत्व अधिक है।[1] पर इससे सृजन और भावन मे पारस्परिक विरोध के सामान्य सिद्धान्त अथवा एक की दूसरे से हेयता का समर्थन नही होता। गूढ़ बिवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः भावन भी दूसरे रूप में सृजन ही है। ऊपर हम

1. Mathew Arnold—'Essays in Criticism' Page 4

देख चुके हैं कि प्रभाववादी समीक्षा के मत में कला-समीक्षा भी कला-कृति ही है। आर्नल्ड कहते है कि कुछ व्यक्तियों की प्रतिभा का विकास भावन-क्षेत्र में ही सम्भव है, क्योंकि उनमें प्रतिभा का वही स्वरूप अधिक प्रबल और मौलिक है।[1] सस्कृत के आचार्यों ने तो इनकी एकता स्थापित करते हुए प्रतिभा के कारयित्री और भावयित्री नाम से दो भेद ही स्वीकार किये हैं। राजशेखर ने इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं माना है, प्रतिभा मूल रूप में एक ही है, केवल व्यापार-भेद से दो आपाततः भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओं को जन्म देती है। भावन की सृजनात्मकता उन्हें और पश्चिम के आचार्यों को स्पष्टतः मान्य है। बाँधन कहते है :

"It is in virtue of the poet latent in him that the plain man has the power to become a critic."[2]

इससे कवि और समीक्षक की एकता स्पष्ट है। यह तो एक दृष्टि से भावन और सृजन की एकता सिद्ध हुई। समीक्षक का एक प्रधान उत्तरदायित्व कवि के गूढार्थ को पाठक के लिए स्पष्ट भी करना है। कवि की अनुभूति को यथार्थ रूप में ग्रहण एवं उसका रसास्वाद कराने में समीक्षक सहायक होता है। अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए जैसे कवि सृजन करता है वैसे ही भावक को भी प्रेषणीयता में सहायक होने के लिए भावना के साथ ही कुछ सृजनात्मक भी होना पड़ता है। समीक्षा की प्रौढ़ता के लिए सृजनात्मक प्रतिभा अपेक्षित है, यह तो प्रतिपादित हो गया। पर सृजन के लिए भी समीक्षा आवश्यक है, यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं है। साहित्यकार का कार्य कुछ भावों और विचारों को विशिष्ट समन्वय और व्यवस्था मे सौन्दर्यपूर्वक सजा देना है। साहित्य की महत्ता और चिरन्तनता उसकी भावात्मकता अथवा अभिव्यंजना के सौन्दर्य पर उतनी निर्भर नहीं है, जितनी जीवन की उदात्त और विराट् कल्पना पर। जीवन की महती कल्पना के लिए निरी भावुकता ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए दार्शनिक की सूक्ष्म दृष्टि भी अपेक्षित है। कवि इस महान् पद का अधिकारी केवल जीवन का प्रौढ समीक्षक बनकर ही हो सकता है। आर्नल्ड कहते है :

".....the creation of a modern poet to be of worth much implies a great critical effort behind it, else it must be a comparatively poor, barren and short-lived affairs."[3]

जीवन-सम्बन्धी धारणाएँ बदलती रही है और उन्होने कविता के स्वरूप को

---

1. Mathew Arnold—'Essay in Criticism पृष्ठ ५, ६।
2. C. S. Vaughan—'English literary Criticism.'
3. Mathew Arnold—'Essays in Criticism'

अत्यधिक प्रभावित किया है, इसके प्रमाण इतिहास में बहुत सुलभ है। वस्तुतः सारा इतिहास इस बात की साक्षी देता है कि साहित्य जीवन-दर्शन का अनुगामी है।[1] समीक्षा के इस व्यापक स्वरूप के अतिरिक्त साहित्य-सम्बन्धी धारणाएं भी सृजन की प्रेरणा देती है। काव्य के उद्देश्य एव स्वरूप-सम्बन्धी एक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट धारणा सृजन के पूर्व ही कवि के मस्तिष्क मे रहती है। वह चाहे तत्कालीन सामूहिक चेतना का प्रतिबिम्ब-मात्र हो अथवा उस पर कवि के व्यक्तित्व की गहरी और स्पष्ट छाप हो, वह चाहे ज्ञात एवं सचेतन अथवा अज्ञात एवं अवचेतन हो, पर इतना निश्चित है कि साहित्य-सम्बन्धी एक ऐसी धारणा अवश्य होती है, जो साहित्य के स्वरूप का निर्धारण करती है। विभिन्न कालो में साहित्य का बदलता हुआ स्वरूप इस बात का प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि भावन भी सृजन का नियन्त्रण करता है। इसी को पुष्ट करते हुए टी० एस० इलियट कहते है :

"The critical mind operating in poetry, the critical effort which goes to the writing of it, may always be advance of the critical mind operating upon poetry whether it be one's own or some one's else. I only affirm that there is significant relation between the best poetry and the best criticism of the same period... ..contemporary poet who is not merely a composer of graceful verses—is forced to ask himself such questions as 'What is poetry for,' not merely what am I to say but rather how and to whom I am to say it.'[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि इलियट को भी साहित्य-सृजन के अन्तस्तल में प्रवाहित साहित्य-सम्बन्धी धारणा की प्रेरक शक्ति मान्य है। युग की कविता पर उस युग की साहित्यिक धारणाओ का बहुत-कुछ नियन्त्रण रहता है यह निर्विवाद है। ये धारणाएं साहित्य-सृजन तथा उसकी समीक्षा के मानदन्ड के निर्माण की प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार साहित्य और समीक्षा का विकास अन्योन्याश्रित है। समीक्षा साहित्य के विकास में बाधक है, यह कहना केवल सकुचित दृष्टिकोण को अपनाना-मात्र है। आलोचना का विकास काव्य के विकास के समानान्तर रहता है। समीक्षा का विकास काव्य की उन्नति की लक्षण है। हडसन कहते है कि कविता

1. Hudson.—'An Introduction to the Study of Literature' Page, 298.
2. T. S. Eliot.—'The use of poetry and the use of Criticism' Page, 30.

जीवन से प्रेरणा ग्रहण करती है और समीक्षा काव्य से, यह अन्तर ही कृत्रिम है। सच्ची समीक्षा भी जीवन से ही प्रेरणा लेती है। समीक्षा साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होकर ही उसे प्रेरणा नही देती, अपितु व्यक्त रूप मे भी उसका स्वरूप निर्दिष्ट करती है।[1] उसके अव्यक्त महत्त्व को व्यक्त करके साहित्य को सर्वाङ्गीण विकास का अवसर और प्रेरणा प्रदान करती है। उच्च साहित्यिक धारणा उत्कृष्ट साहित्य को जन्म देती है तथा साहित्य की उत्कृष्टता पर ही समीक्षा की प्रौढ़ता निर्भर है। साहित्य और समीक्षा, सृजन और भावन का यही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

तो क्या यह धारणा निराधार है कि समीक्षा साहित्य के विकास मे बाधक है। नही, समीक्षा के एक रूप के लिए यह भी सत्य है। हा, समीक्षा का यह रूप अस्वस्थ अवश्य है। जैसा कि आर्नल्ड ने कहा है कुछ लोग किसी विचारधारा का प्रतिपादन करने के लिए नही लिखते अपितु लिखने के लिए किसी विचार-धारा को अपना लेते है। उनमे लिखने की सहज आकाक्षा का अभाव रहता है। ऐसे लेखकों द्वारा लिखी गई आलोचना साहित्य को प्रेरणा प्रदान नही कर सकती। वे साहित्य की अनुगामिनी तो होती है, पर साहित्य की आत्मा तक भी नही पहुच पाती। ऐसी रचनाएं पाठक का आलोच्य रचनाओ के बाह्य आकार से ही परिचय कराती है। समीक्षा के इस स्वरूप से मूल ग्रन्थो के अध्ययन को प्रोत्साहन नही मिलता। पाठक उन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे केवल आलोचनात्मक ग्रन्थो से ही साधारण परिचय प्राप्त कर लेते है। उनकी धारणा भी उन्ही के आधार पर बन जाती है। यह प्रवृत्ति साहित्य के सृजन और अध्ययन दोनो मे बाधक है। हडसन ने पुस्तकों के सम्बन्ध मे पुस्तके लिखने की प्रवृत्ति को अत्यधिक प्रोत्साहन देना ठीक नही समझा है।[1] समीक्षा का यह स्वरूप रूढिवादिता पर आधारित रहता है। इसमे पुस्तक का महत्व रूढिवादी दृष्टिकोण से आँका जाता है। इस प्रकार की समीक्षा म साहित्य के सहज और स्वाभाविक विकास को प्राचीनता एव रूढिवादिता की शृङ्खलाओ मे जकड़ कर रखने का प्रयत्न होता है। समीक्षा का यह स्वरूप अस्वस्थ है, इसलिए साहित्य के विकास मे बाधक भी है।

सृजनात्मक साहित्य पर आश्रित होने के कारण यह तो निर्विवाद है कि समीक्षा का प्रयोगात्मक रूप सृजन का अनुगामी है। पर यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि सृजनात्मक साहित्य के कितने काल के उपरान्त इसका विकास हुआ है। साधारणतया यह अनुमान होता है कि साहित्य की लिखित परम्परा के पूर्व बहुत

1. Hudson—'An Introduction to the Study of literature,' Pages, 262-263.

दिन तक काव्य मौखिक ही रहा होगा। उस समय संभवत. समीक्षा की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति नही रही होगी। उसके बाद लिखित रूप मे आने पर भी कुछ दिन तक लोगों का काव्यानुशीलन केवल आनन्दानुभूति तक ही रहा होगा। बाद में धीरे-धीरे उस पर एक अस्पष्ट निर्णयात्मक धारणा भी बनने लगी होगी। समीक्षा के व्याख्यात्मक स्वरूप का विकास बाद की वस्तु है। इस प्रकार साहित्य-समीक्षा का व्यक्त और लिखित रूप अपेक्षाकृत नवीन है। डा० दासगुप्ता अपनी 'काव्य-विचार' नामक पुस्तक मे इसे स्वीकार करते है कि आलोचना-शास्त्र दर्शन, व्याकरण आदि से अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है। अलकार-शास्त्र के व्यवस्थित रूप का विकास अर्वाचीन है। पर काव्य की प्रयोगात्मक आलोचना का आभास तो स्वयं आदि-कवि ही दे देते है। उनका "शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा" उनके प्रथम श्लोक की आलोचना तथा महत्वपूर्ण साहित्य-सिद्धान्त का आभास है। इससे यह मानना पडता है कि साहित्य-सृजन और समीक्षा दोनो प्राय: समकालीन और समानान्तर ही रहे है। यह स्वाभाविक भी है। कवि-कृति का उसका समकालीन पाठक ही रसास्वादन करता है और कभी-कभी स्वय कवि अथवा पाठक अपने आनन्द अथवा निर्णय का परिचय भी दे देता है। उसकी साधारण व्याख्या कर देना भी संभव है। इस प्रकार कविता के आदिम रूप के साथ ही समीक्षा के आदिम रूप के उदय का भी अनुमान होता है।

ऊपर समीक्षा और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुये हमने समीक्षा के उस स्वरूप के दर्शन किये है जो साहित्य के अन्तस्तल मे प्रवाहित होकर अव्यक्त रहते हुये भी सृजनात्मक साहित्य को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। अब उसके व्यावहारिक रूप पर विचार करना है। आलोचना अपने व्यक्त और व्यवहारिक रूप में दो कार्य करती है—निर्णय और व्याख्या। यह भी हम देख चुके है कि ये दोनों कार्य समीक्षा शब्द की मूल प्रकृति के ही अंश है, इसलिये परस्पर मे तथा समीक्षा सामान्य के साथ इनका अभिन्न सम्बन्ध है। ऐसी समीक्षा, जो विशुद्ध रूप में निर्णयात्मक या व्याख्यात्मक कही जा सके, केवल कल्पना की वस्तु है। निर्णयात्मक आलोचक भी कुछ व्याख्या करने के उपरान्त ही किसी निर्णय पर पहुच सकेगा। इसी तरह विशद व्याख्या के उपरान्त कवि के सम्बन्ध में एक विशेष धारणा का बन जाना एक कवि की अपेक्षा दूसरे को प्रौढ मान लेना भी बहुत-कुछ स्वाभाविक है। हां, यह कार्य अव्यक्त भी रह सकता है। यह संभव है कि निर्णयात्मक आलोचक व्याख्या अपने मन मे ही कर ले तथा व्याख्यात्मक आलोचक अपने निर्णय को केवल ध्वनि के द्वारा ही प्रकट करे और पाठक को अपने स्वतन्त्र निर्णय का अवसर प्रदान कर दे, पर फिर भी पाठक आलोचक की ध्वनि से प्रभावित हुये बिना नही रहता। पाठक का निर्णय भी इस ध्वनि से कुछ अंशो में मर्यादित हो जाता है। मोल्टन भी

यह मानते हैं कि निर्णयात्मक आलोचना के लिये व्याख्यात्मक आलोचना भी अपेक्षित है।[1] फिर भी शास्त्रीय विवेचन के लिये समीक्षा के ये दो भेद मानने पड़ते है और इनका पारस्परिक अन्तर भी स्वीकार करना पडता है। प्रत्येक साहित्य मे समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप प्राय: निर्णयात्मक ही रहता है, पर धीरे-धीरे वह व्याख्यात्मक होती जाती है। निर्णयात्मक आलोचना मे कवियो को उत्तम-अधम कहने की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट होती है। यह आलोचक समीक्षा के कुछ बाहरी मानदण्डो और सिद्धातो को काव्य-सामान्य के लिये सत्य मानता है और उन्ही के आधार पर प्रत्येक रचना का मूल्यांकन करता है। काव्य के नियम तथा नीति-सम्बन्धी उसकी धारणाएं अत्यन्त रूढ होती है। वह प्रत्येक रचना मे अपनी मान्य धारणाओ का निर्वाह देखना चाहता है। और जिनमें उनका निर्वाह नही मिलता उसी को हेय कोटि मे रख देता है। इस प्रकार उसमे स्थूल और रूढिवादी दृष्टिकोण का प्राधान्य रहता है। पर व्याख्यात्मक आलोचना मे ऐसी कोई मान्य धारणाएं नही होती है।

व्याख्यात्मक आलोचक पूर्व निर्मित मानदन्ड के आधार पर किसी रचना का मूल्याङ्कन नही करता है। उसे काव्य के कोई ऐसे निश्चित नियम मान्य नही हैं जिनका अनुगमन कवि के लिये अनिवार्य हो। वह प्रत्येक रचना को अपने आप मे स्वतन्त्र और पृथक सत्ता वाली मानकर चलता है और रचना की समीक्षा का मानदण्ड भी उसी मे अन्तर्हित मानता है। व्याख्यात्मक आलोचक का कार्य केवल यह स्पष्ट करना है कि कवि का वर्ण्य-विषय क्या है, वह पाठक पर क्या प्रभाव डालना चाहता है, इसमे वह कितना सफल हुआ है और उसकी सफलता के कारण क्या है। वह कवि की जीवन-कल्पना की महत्ता तथा अभिव्यञ्जना-सौदर्य को स्पष्ट करता है, पर उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियां नही बनाता है। व्याख्यात्मक आलोचक दो कवियों के स्वरूप का मौलिक अन्तर तो स्पष्ट करता है पर उनमे किसी एक की श्रेष्ठता नही प्रतिपादित करता है। व्याख्यात्मक आलोचना के स्वरूप स्पष्ट करते हुये मोल्टन कहते है:—

"Inductive criticism will examine literature in the sprit of pure investigation, looking for the laws of art in the practice of artists and treating art like the rest of nature as a thing of continous development.....which can be fully grasped only when examined

1. In the interest of judicial criticism itself we have to ecognize that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation.....no judicial criticism can be of any value which has not been preceded by the criticism of interpretation

Moulton—'The modern Study of Literature.'

with an attitude of mind adapted to the special variety without interference from without."[1]

निर्णय और व्याख्या के अतिरिक्त आलोचक आलोच्य वस्तु से स्वभावतः ही प्रभावित भी होता है। आलोचक इन प्रभावों की व्याख्या कर सकता है, उनको निर्णय का स्वरूप दे सकता है। पहले दो विकल्पों मे प्रभाव प्रथम दो प्रकार की आलोचनाओ के साधन के रूप में उन्ही मे अन्तर्भूत हो जाता है, पर एक तीसरा विकल्प भी है। वह एक स्वतन्त्र आलोचना-पद्धति को जन्म देता है। मोल्टन ने इन तीन मनोवृत्तियो के आधार पर समीक्षा के तीन प्रधान भेद माने है—१. निर्णयात्मक, २. व्याख्यात्मक, ३. प्रभावाभिव्यञ्जक। आलोचना के पहले दो प्रकारो मे आलोचक के व्यक्तित्व का प्रायः अभाव रहता है। व्याख्यात्मक आलोचना मे तो पूर्णत, तटस्थ तथा केवल वैज्ञानिक विश्लेषण ही अपेक्षित है। पर प्रभावाभिव्यञ्जक समीक्षा में आलोचक के व्यक्तित्व का ही प्राधान्य है। यह स्वाभाविक भी है। कला का क्षेत्र व्यक्तित्व का क्षेत्र है, इस लिये उसकी समीक्षा में भी व्यक्तित्व की उपेक्षा नही की जा सकती।

समीक्षा का प्रत्येक रूप कुछ अश में वैयक्तिक ही होता है। मानव में काव्य को समझने, उसका रसास्वादन करने तथा मूल्य आकने की नैसर्गिक शक्ति होती है। शास्त्र के अध्ययन और काव्य के अनुशीलन से वह शक्ति निरन्तर बढती जाती है। इसलिये काव्य-समीक्षा में इस सहजात वृत्ति का महत्व उपेक्षणीय नही है। समीक्षा के मनोवैज्ञानिक विकास मे प्रथम स्थान हृदय की सहज प्रतिक्रिया का ही है। धीरे-धीरे आलोचक उसको अधिक स्पष्ट एवं निश्चित रूप मे समझने लगता है। निर्णयात्मक आलोचना तो इस विकास की अन्तिम अवस्था है।

"That is the ideal order ; instinctive responses, voluntary understanding, final evaluation.[2]

यह तो समीक्षक के मानसिक विकास का क्रम है। साहित्य-समीक्षा के ऐतिहासिक विकास मे इस क्रम का उल्टा मिलता है। प्राचीन काल की समीक्षा मे निर्णय और नैतिक मूल्य की प्रधानता थी। धीरे-धीरे समीक्षा व्याख्यात्मक होती गई। उसके मूल्याकन के मानदड भी बहुत-कुछ वैयक्तिक होते गए। प्रभावाभिव्यजक समीक्षा तो आधुनिकतम है। आज की समीक्षा में वैयक्तिक धारणा का ही प्राधान्य होता जा रहा है। शास्त्रीय पद्धति पर किया गया

1. Hudson—'An Introduction to the study of Literature' page 271

2. 'Dictionary of world Literature' page 139.

विश्लेषण तो आज पुरानी और विगत युग की वस्तु माना जाने लगा है। हिन्दी मे भी आलोचना का अत्यन्त प्राचीन रूप टीका थी। भारतेन्दु काल की आलोचना नैतिक मूल्याकन-मात्र थी। उसमे वाह्य मानदडों का आरोप हुआ करता था। उसके निर्णयात्मक तत्व अत्यन्त स्पष्ट थे। पर धीरे-धीरे वह भी व्याख्यात्मक से वैयक्तिक होती जा रही है। आज हिन्दी मे प्रत्येक पद्धति को आलोचना में वैयक्तिकता का प्राधान्य है।

ऊपर आलोचना के दो प्रधान तत्वों—व्याख्या और निर्णय का निर्देश हुआ है। आलोचना के प्राय· सभी प्रकार इन्ही के पृथक् अथवा सम्मिश्रित रूप के विकास है। मान्य धारणाओ पर आधारित आदर्शनात्मक तथा दो कवियो की पारस्परिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने वाली तुलनात्मक समीक्षा स्पष्टतः ही निर्णयात्मक आलोचना के ही अवान्तर भेद है। लेकिन इन शैलियों का गवेषणात्मक अथवा व्याख्यात्मक आलोचना मे भी प्रयोग होता है। तुलनात्मक शैली का उपयोग तो प्रायः सब समीक्षाओ मे हो जाता है। शास्त्रीय अथवा तन्त्रवादी समीक्षा भी एक दृष्टिकोण से आदशनात्मक कही जा सकती है। आलोच्य रचना की व्याख्या के कई आधार संभव है। काव्य-शास्त्र, इतिहास, कवि का व्यक्तित्व, चरित्र-चित्रण, कवि-चरित्र, कवि-प्रतिभा, काव्य की वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रेरणा आदि अनेक दृष्टियो से आलोच्य पुस्तक की व्याख्या, हो सकती है। इन विभिन्न दृष्टियो से विश्लेषण और गवेषण द्वारा रचना की विशद विवेचना संभव है। इस प्रकार एक गवेषणात्मक समीक्षा ही बहुत सी शैलियों मे विभक्त होकर अनेक नाम धारण कर लेती है। ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, चरितमूलक (बाइओग्राफिकल) और तन्त्रवादी (टैकनीकल) ये समीक्षा-शैलियाँ इसी के प्रधान भेद है। यह स्पष्ट है कि समीक्षा-शैलियो का यह विभाजन कुछ सैद्धान्तिक आधारो पर आश्रित है।

कलाकार के व्यक्तित्व, प्रतिभा, चरित आदि से कला का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक एव चरितमूलक समीक्षा-शैलियो की उद्भावना का कारण है। इसी प्रकार समीक्षा की ऐतिहासिक शैली भी साहित्य-दर्शन की विशेष मान्यताओं का ही परिणाम है। आगे हम इन शैलियो पर विशद रूप से विचार करेगे। एक ही समीक्षा मे इन सब शैलियो का प्रयोग भी सभव और श्लाघनीय है। इनमे कुछ का एक दूसरे मे अन्तर्भाव भी है। आध्यात्मिक एव चरितमूलक का मनोवैज्ञानिक शैली के साथ अधिक सम्बन्ध है। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक समीक्षा के मूल मे एक विशेष मूल्यवादी दृष्टिकोण अन्तर्हित रहता है। यहाँ तक कि पूर्ण वैयक्तिक और आत्म-प्रधान मानी जाने वाली समीक्षा-पद्धतियों का आधार भी मूल्य ही होता है। प्रभाववादी समीक्षा सबसे अधिक वैयक्तिक होती

है, पर उसमें भी समीक्षक की साहित्य, सौन्दर्य तथा आनन्द सम्बन्धी वैयक्तिक धारणाएँ मूल्य का रूप धारण कर लेती हैं। उसकी समीक्षा में ये मूल्य व्यक्त और स्थूल रूप नहीं धारण करते, परन्तु अव्यक्त रूप में प्रेरणा देते रहते है, इसे अस्वीकार भी नही किया जा सकता। समीक्षा के विभिन्न मूल्य साहित्य के प्रयोजन, प्रेरणा और स्वरूप-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं पर आधारित होते हैं। मूल्य-सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण ही समीक्षा के सम्प्रदाय अथवा पद्धतियों के रूप मे विकसित हो जाते है।

ऊपर समीक्षा की जिन शैलियों तथा व्यापारों का उल्लेख हुआ है, उनका उपयोग प्रायः सब सम्प्रदायों द्वारा होता है। पर कुछ शैलियो का एक विशेष सम्प्रदाय से अधिक सम्बन्ध होता है। यह कहना भी ठीक है। ऐतिहासिक पद्धति मार्क्सवादी समीक्षा की आधार-भूमि है। तन्त्रात्मक समीक्षा का स्वरूप सम्प्रदाय के अनुसार बदल जाता है। सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के पास कोई एक मान्य तन्त्र नही है। प्रत्येक रचना मे उसका तन्त्र तथा मूल्य-सम्बन्धी मानदड रहता है। और स्वच्छन्दतावदी आलोचक का कार्य निगमन के द्वारा उसकी गवेषणा करना है। सौष्ठववादी इसी के आधार पर आलोच्य रचना का मूल्याकन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्प्रदाय की प्रकृति के अनुकूल इन शैलियो के स्वरूप भी बदल जाते है। दूसरी तरफ सम्प्रदाय के स्वरूप का निर्माण मूल्य-सम्बन्धी धारणा तथा शैलियों के उपयोग द्वारा ही होता है। आगे हम समीक्षा के सम्प्रदाय और शैली के अन्तर का विशद विवेचन करेंगे। पर यहां पर भी इनके अन्तर का सामान्य परिचय आवश्यक है। साहित्य और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसग में हम ऊपर देख चुके हैं कि साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन-सम्बन्धी कोई एक धारणा युग एवं कलाकार में व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। यही धारणा साहित्य एवं काव्य धाराओं के स्वरूप को निर्दिष्ट भी करती है तथा परिपक्व होकर समालोचना के मानदड का स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की विभिन्न धारणाओं से ही विभिन्न समीक्षा-सम्प्रदायो का स्वरूप-संघठन होता है। पर शैलियों में साहित्य की व्यापक प्रेरणा तथा मानदड का अभाव रहता है। उनके द्वारा साहित्य के विभिन्न अंगों का पृथक्-पृथक् रूप मे विश्लेषण भर होता है। सम्प्रदाय एक सर्वाङ्गीण साहित्य-दर्शन पर आधारित रहते है। शैली समीक्षा का एक प्रकार-मात्र है। समीक्षा-शैलियों का विभाजन अपेक्षाकृत सार्वभौमिक है, पर सम्प्रदायों का देश की सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा से अच्छेद्य सम्बन्ध रहता है। समीक्षा की शैलियों (मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक ऐतिहासिक) आदि के आधार भी साहित्य-दर्शन के सिद्धान्त ही होते हैं। साहित्य-शास्त्री की विशेष मान्यताओं ने ही इन विभिन्न शैलियों को जन्म दिया है हां, उनकी पृष्ठभूमि में सर्वाङ्गीण साहित्य-दर्शन नहीं होता है। समीक्षा के कुछ मूलभूत सम्प्रदायों की कल्पना हो सकती है, जो स्थूल रूप से सार्व-

देशिक भी माने जा सकते हैं, पर देश और साहित्य की प्रकृति के अनुकूल उनका स्वरूप बदल भी सकता है। प्रत्येक साहित्य की मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं की अपनी मौलिक विशेषताएं होती है, इसलिए समीक्षा के सम्प्रदायों का विभाजन भी उपज्ञ ही रहता है। हिन्दी में सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति का स्वरूप-विकास स्वतन्त्र धारा में हुआ है। उसमें पाश्चात्य पद्धति का अविकल अनुकरण नही है।

काव्य के प्रयोजन अथवा मूल्य के सम्बन्ध में ऐकमत्य संभव नही। कुछ लोग काव्य का उद्देश्य नीति का उपदेश मानते है और कुछ केवल आनन्दानुभूति ही। कुछ की दृष्टि से काव्य का उद्देश्य व्यक्ति का रागात्मक प्रसार है तथा कुछ काव्य का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण भावो की अभिव्यक्ति तथा उनमे सामजस्य स्थापित करना मानते है। टॉलस्टाय-जैसे व्यक्ति काव्य की नैतिक उपादेयता स्वीकार करते है। पर ब्रैडले, आस्कर वाईल्ड आदि को 'कला कला के लिए' यह सिद्धान्त मान्य है। स्वच्छन्दतावादी आलोचक केवल आनन्द को ही काव्य का उद्देश्य मानता है। शुक्ल जी व्यक्ति के रागात्मक प्रसार को महत्त्व देते है। रिचर्ड्स महत्त्वपूर्ण मनोवृत्तियो मे अभिव्यक्ति द्वारा सामंजस्य स्थापित करना ही साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। मार्क्सवादी साहित्य पर व्यक्ति की दृष्टि से नही अपितु समाज की दृष्टि से विचार करना चाहता है। वह साहित्य को मानव की भौतिक उन्नति का साधन मानता है। इस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति साहित्य का विभिन्न दृष्टियो से मूल्यांकन करना चाहते है। इसी आधार पर साहित्य-समीक्षा के निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय माने जा सकते है—नीतिवादी, सौष्ठववादी, सौन्दर्यान्वेषी, अभिव्यंजनावादी, प्रभावाभिव्यंजक, मनोवैज्ञानिक, मूल्यवादी और मार्क्सवादी। मूल्य की दृष्टि से समीक्षा के और अनेक प्रकार हो सकते हैं। यहां पर केवल कुछ का संकेत भर किया गया है। आगे इसी निबन्ध में इनके सामान्य स्वरूप तथा हिन्दी की दृष्टि से इनकी विशेषताओ का विवेचन किया जायगा। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक, चरितमूलक आदि शैलियां है, पर शास्त्रीय, सौष्ठववादी, मार्क्सवादी आदि सम्प्रदाय हैं।

पाश्चात्य विवेचन के अनुसार समीक्षा शास्त्र और कला दोनों हैं। शास्त्र में तथ्यों के विश्लेषण एवं संश्लेषण के द्वारा कतिपय सामान्य नियमों की उद्भावना होती है और उन नियमों को वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है। शास्त्र के आचार्य वस्तु-जगत् का निरीक्षण करके अपने प्रतिपाद्य शास्त्र के अनुकूल तथ्यों का संग्रह करते है तथा विश्लेषण के द्वारा उनको अन्य तथ्यों से पृथक् करते हैं। संश्लेषण वर्गीकरण तथा सादृश्य और असादृश्य के विवेचन के उपरान्त कुछ सामान्य नियमो का अनुसन्धान करना तथा, उनको वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करना ही उनका कार्य है। इस प्रकार वैज्ञानिक कुछ विशिष्ट तथा एकदेशीय एवं नियमों से व्यापक सार्वदेशीय

सामान्य नियमों की ओर अग्रसर होते रहते हैं। अन्य शास्त्रों की तरह साहित्य-दर्शन का आचार्य भी विग्रह और अनुमान दोनों प्रकारों से साहित्य के स्वरूप का प्रतिपादन करता है और उसके व्यापक नियमों की ओर अग्रसर होता है। लेकिन साहित्य-समीक्षा केवल इसी रूप तक सीमित नहीं है। यह तो उसका सैद्धान्तिक पक्ष है और इस दृष्टि से समीक्षा शास्त्र की कोटि में आती है। पर उसका दूसरा रूप है, प्रयोगात्मक। प्रयोगात्मक रूप की दृष्टि से समीक्षा कला है। साहित्य-समीक्षा को दो प्रधान वर्गों में बाँट सकते है—१.सैद्धांतिक और २.प्रयोगात्मक समीक्षा। पहले प्रकार को साहित्य दर्शन अथवा विशुद्ध आलोचना भी कहते है। ये दोनो क्रमशः इसके शास्त्र और कला पक्ष है। पहले आलोचना के जिन प्रकारों का निर्देश हुआ है उनका प्रयोगात्मक आलोचनाओं मे ही अन्तर्भाव है। समीक्षा के इन दोनो पक्षों का परस्पर मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सिद्धात प्रयोग के आधारभूत होते हैं तथा प्रयोगों से ही सिद्धातो का अन्वेषण सम्भव है। इसलिए यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है कि समीक्षा का कौन सा स्वरूप पूर्ववर्ती है। सैद्धातिक निरूपण प्रयोगो के विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, तथा प्रयोग सैद्धान्तिक आधार की। आधार सूक्ष्म और अव्यक्त भी हो सकता है। लेकिन होता अवश्य है। पश्चिम मे समीक्षा के कला अथवा प्रयोगात्मक रूप का अधिक विकास हुआ और भारत मे इसके सैद्धातिक और शास्त्रीय रूप का। भारत में अन्य विद्याओं या शास्त्रो की तरह साहित्य का उद्देश्य भी "धर्मार्थ-काममोक्ष" ही माना गया है। इस प्रकार उन्होने साहित्य-दर्शन को भी अन्य शास्त्रों की कोटि में ही रखा है। आदि-कवि की "मा निषाद" की आलोचना मे समीक्षा के सैद्धान्तिक एव प्रयोगात्मक दोनो रूपों का समन्वय है। पर उसका सैद्धातिक पक्ष अधिक प्रबल और व्यक्त है, यह भी अस्वीकार नही किया जा सकता है। संस्कृत-साहित्य मे सैद्धातिक समीक्षा के प्रौढ रूप के दर्शन होते है, पर प्रयोगात्मक आलोचना का उसमे बहुत कम विकास हुआ है। आगे हम इसके कारणों पर भी विचार करेंगे। हिन्दी मे इनके कला और सिद्धान दोनो पक्षों का विकास हो रहा है। लेकिन किसी भी साहित्य-समीक्षा की प्रगति का महत्व प्रयोगात्मक रूपों की अनेकता पर नही अपितु सैद्धान्तिक निरूपण एव साहित्य-सम्बन्धी प्रौढता और व्यापकता पर निर्भर है। आलोचना के प्रयोगात्मक रूप की उपादेयता भी कुछ सामान्य सिद्धांतों के अन्वेषण में ही है। पश्चिम मे भी साहित्य के सार्वदेशिक तत्वों के अनुसन्धान की माँग बढती जा रही है। कॉलरिज भी समीक्षा का प्रधान लक्ष्य इन तत्वों की उद्भावना ही मानते हैं। वे कहते हैं :—

"The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing than to furnish rules to pass judgement on what ha been written by others."

पर उन नियमो के प्रयोग की क्षमता का महत्व भी कम नही है। इस प्रकार इन दोनो रूपो का समन्वय ही महत्वपूर्ण है।

दर्शन और विज्ञान के अन्य बहुत से विषयो की तरह साहित्य-समीक्षा का स्वरूप भी बहुत-कुछ अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसकी स्वरूप सम्बन्धी धारणाओ मे ऐकमत्य असम्भव-सा है। साहित्य के प्रयोजन, स्वरूप जगत् से उसके सम्बन्ध आदि धारणाओ की अनेकता समीक्षा को भी अनिर्वचनीयता प्रदान कर देती है। साहित्य के प्रयोजन, स्वरूप आदि की धारणा समीक्षा सम्प्रदायो की आधार-भूमि है, प्रत्येक सम्प्रदाय मे समीक्षा का अपना पृथक् स्वरूप है। इस प्रकार समीक्षा की सम्प्रदायगत कोई भी धारणा सर्वांगीण और सर्वमान्य नही है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी दृष्टि से समीक्षा की परिभाषा देता है इन सम्प्रदायो के अतिरिक्त समीक्षा के व्यापारो की दृष्टि से भी समीक्षा मे स्वरूप सम्बन्धी भिन्नता है। कुछ लोग समीक्षा का प्रधान लक्ष्य निर्णय ही मानते है और वे अपने लक्षण मे उसी तत्व को प्रधानता देते है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका मे समीक्षा को प्रधानतः निर्णय ही कहा गया है :—

"Criticism is the art of judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or the fine arts, it involves the formation and expression of a judgement".

विक्टर ह्यूगो ने भी समीक्षा के लक्ष्य का निर्देश करते हुए यही कहा है "रचना अच्छी है या बुरी, यही समीक्षा का प्रयोजन है।" निर्णय के लिए किसी-न किसी आधार की अपेक्षा है। निर्णय को ही समीक्षा का प्रधान लक्ष्य मानने वाला आलोचक निश्चित मानदण्ड का उपयोग करता है तथा मूल्य-सम्बन्धी धारणाओ के आधार पर मूल्याकन करता है। रिचर्ड्स कहते हैं:—

"To set up as a critic is to set up as a judge of values !"

विभिन्न आचार्यों की मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं मे अंतर हो सकता है और होता है। यह मतभेद और अन्तर ही विभिन्न मूल्यवादी सम्प्रदायो की आधार भूमि है। इस प्रकार निर्णय और मूल्यांकन को समीक्षा का प्रधान लक्ष्य मानने वाले आचार्य भी समीक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत नही है। मूल्य-सम्बन्धी धारणाओं या मानदण्डो के द्वारा ही समीक्षा का स्वरूप निर्धारित होता है और उसके पारस्परिक अन्तर का भी यही कारण है। अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक के इतने लम्बे काल के विभिन्न आचार्य इस प्रकार से मूल्यवादी आलोचक कहे जा सकते हैं, पर उन सबकी आलोचना की स्वरूप-सम्बन्धी धारणाओ में बहुत अन्तर है, कलात्मक सौन्दर्य तथा तज्जनित आह्लाद के प्रभाव को ग्रहण करना तथा उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा पाठक के आह्लाद में सहयोग देना ही कुछ आलोचकों की

दृष्टि से समीक्षा का चरम लक्ष्य है। वे समीक्षा के तीन कार्यों मे से इसी को अधिक महत्व देते है। प्रभावाभिव्यजकता की दृष्टि से समीक्षा का यही स्वरूप है। कार्लाइल (स्विन्गार्न) कहते है :

"To have sensations in the presence of a work of art and to express them that is the function of criticism for the impressionistic critic."[1]

प्रभाववादी को कोई बाह्य मानदंड मान्य नही वह तो समीक्षा को विशुद्ध रूप मे वैयक्तिक मानता है .

"Literary Criticism is nothing and should be nothing but the recital of one's personal adventures with a book"[2]

वह तो समीक्षा के इतिहास को भी कला-कृति के अनुशीलन से जाग्रत दिव्य अनुभूति के माधुर्य के प्रति समीक्षक की सहृदयता एव ग्रहणशीलता के विकास का इतिहास-मात्र मानता है। प्रभाववादी भी केवल सौन्दर्य की अनुभूति से प्रभावित तथा आह्लादित होने में ही समीक्षक के कार्य की सीमा नही मानता है, अपितु वह इस दृष्टि से कला के मूल्याङ्कन को भी उसके प्रकृत क्षेत्र की वस्तु ही कहता है। पर यह भी सत्य है कि प्रभाववादी का केवल ध्वन्यात्मक शैली मे ही मूल्याकन करता है। उसके द्वारा मूल्यो के निर्देश अभिधेय नही अपितु व्यग्य ही होते है। उसकी दृष्टि से मूल्याङ्कन का कार्य तो गौण है, वह समीक्षक का प्रमुख कार्य तो सौन्दर्य से आह्लादित होना तथा उन प्रभावो को कलात्मक ढग से अभिव्यक्त करना ही मानता है। कुछ दूसरी प्रकार के आलोचक समीक्षा में व्याख्या को प्रधानता देते है। उनका कहना है कि समीक्षक का कार्य केवल वस्तु का विश्लेषण-भर कर देना है। यह अपने प्रभावो का उपयोग कर सकता है, पर केवल विश्लेषण की स्पष्टता एवं मार्मिकता के लिए ही। व्याख्यात्मक आलोचक समीक्षा को भावात्मक शैली में लिखा गया गद्य-काव्य नही मानता है। इस शैली को तो वह समीक्षा के अनुपयुक्त ही समझता है। यही उसका प्रभाववादी से विरोध है। व्याख्यात्मक आलोचक की दृष्टि से वैयक्तिक प्रभावों का महत्व तब तक नही है जब तक कि वे समष्टिगत रूप न धारण कर लें और विश्लेषण द्वारा पाठकों के लिए सुबोध न कर दिये जायँ। यह आलोचक निर्णयों की घोषणा-मात्र को समीक्षा नही कहता है। विश्लेषण में अगर निर्णय

---

1 Shvingorn—The Newcriticism P.427 American critical Essays XIX & XX Centuaries.

2 Ibid. P.191.

भी ध्वनित हो जाय, तो उसे कोई आपत्ति नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना को स्पष्ट करते हुए हडसन कहते है :

"If creative literature may be defined as an interpretation of life under the various forms of literary art, critical literature may be defined as an interpretation of that interpretation and of the forms of art through which it is given"[1]

मूल्य-वादी समीक्षक व्याख्या का उपयोग साधन रूप से करता है। वह अपनी मान्यताओं के आधार पर वस्तु का मूल्य आकता है। पर विशुद्ध व्याख्यात्मक आलोचक तटस्थता का समर्थक है। वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा ही उसको आलोचना-कार्य मे प्रवृत्त करती है। मैथ्यू आर्नल्ड आलोचक के लिए तटस्थ होकर श्रेष्ठ वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा तथा उस ज्ञान का प्रचार अनिवार्य मानते है। उन्होने आलोचना की यही परिभाषा मानी है, आलोचना मे जिज्ञासा के महत्व का प्रतिपादन करते हुए आर्नल्ड कहते है :

"But criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (Curiosity and disinterested love of a free play of mind) it obeys an instinct prompting to try to know the best that is known and thought in the world."[2]

आर्नल्ड की सम्मति मे समीक्षा का स्वरूप निम्न है :

"A disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world"[3]

साहित्य की समीक्षा में केवल वर्ण्य विषय की उपादेयता तथा उसकी बौद्धिक प्रौढता का विवेचन ही पर्याप्त नही है, पर उसके स्वरूप एव अभिव्यजना-कौशल का तटस्थ विश्लेषण भी अपेक्षित है। कार्लाइल कहते है कि समीक्षक का कार्य यह देखना है कि कवि क्या अभिव्यक्त करना चाहता है और उसे अभिव्यक्ति में कितनी सफलता मिल सकी है। आलोचक का कर्त्तव्य उस वस्तु का अनुसन्धान करना है जिससे अनुप्राणित होकर कवि की रचना पाठक के हृदय को सौन्दर्य की अनुभूति से अभिभूत कर देती है। प्रभाव, व्याख्या तथा मूल्याङ्कन का सामजस्य ही समीक्षा का वास्तविक एव समीचीन स्वरूप है। 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर' ने समीक्षा के लक्षण मे इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण का आश्रय लिया है। उसके प्राय:

---

1. Hudson-'An Introduction to the study of literature Page 261
2. 'Essays in Criticism' page 16.
3. Ibid page 38

सभी तत्वो का समाहार है । उसमे समीक्षा को "The conscious evaluation or appreciation to a work of art, either according to the critic's personal taste or according to some accepted aesthetic ideas." कहा गया है ।

ऊपर काव्य-समीक्षा के जिस स्वरूप एवं जिन तत्वो का निर्देश हुआ है, उनमें विरोध प्रतीत होता है । पर यह केवल प्रतीति-मात्र है । काव्य-समीक्षा की विभिन्न शैलियो तथा सम्प्रदायो मे समीक्षा के प्रायः एकागी रूप का ग्रहण हुआ है । इसी एकागिता के कारण ही यह विरोध प्रतीत होता है । पर इस आपातत. प्रतीयमान विरोध मे सामंजस्य भी स्थापित हो सकता है । और इस समन्वय मे ही समीक्षा के सर्वाङ्गीण स्वरूप का विकास अन्तर्हित है । ऊपर 'डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर' का जो उद्धरण दिया गया है उसमे इसी समन्वय के दर्शन होते है । प्रायः समन्वय को लोग सकलन का पर्यायवाची समझ लेते है । सब तत्वो को मिलाकर एक स्थान पर रख देने भर से समन्वय नही होता है । इसके लिए एक ऐसे सामान्य धरातल अथवा धारणा के निर्माण की आवश्यकता है जिसके अनुरूप वस्तुओ का सग्रह एवं त्याग किया जा सके । आपातत· विरुद्ध प्रतीत होने वाली वस्तुओ को अविकल रूप से ग्रहण करके सकलन करने से समन्वय स्थापित नही हो सकता । उनके कुछ अगो का परिमार्जन या परिष्कार भी अपेक्षित है । समीक्षा मे भी समन्वय की यही प्रक्रिया सफल हो सकती है । सग्रह, त्याग अथवा परिष्कार के लिए एक व्यापक दार्शनिक आधार अपेक्षित है । साहित्य-दर्शन एव जीवन-दर्शन की निश्चित धारणा के अभाव मे समीक्षा का स्वरूप भी अनिश्चित रहता है । उसमे वैयक्तिक पूर्वाग्रहो के अस्वस्थ स्वरूप को प्रोत्साहन मिलने की आशका प्रबल हो उठती है । निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनो का समन्वय ही समीक्षा के स्वरूप का विकास कर सकता है । समीक्षा का स्थूल, जड एव केवल वस्तुतन्त्रात्मक निरपेक्षतावादी दृष्टिकोण साहित्य के स्वतन्त्र विकास मे बाधक होता है, पर सापेक्षतावाद को नितान्त वैयक्तिक एव साहित्य के सब प्रकार के नियमो, मान-मूल्यो तथा मर्यादाओ से पूर्णतः मुक्त के अर्थ में ग्रहण करने से साहित्य के निरुद्देश्य तथा जीवन-धारा से विच्छन्न हो कर केवल प्रलाप अथवा उन्मुक्त विलाप का प्रतीक-मात्र हो जाने की आशका रहती है । साहित्य के स्वाभाविक एव स्वस्थ विकास मे ये दोनो अतिवादी दृष्टिकोण बाधक है ।

सौन्दर्याङ्कन के स्वरूप एव मान-मूल्यों का निर्माण स्वस्थ जीवन-दर्शन पर आश्रित है । समीक्षक और साहित्यकार को अपना जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण जीवन का आदर्श तथा साहित्य का उससे सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट हो जाना चाहिए, तभी तो वह किसी साहित्य की उपादेयता अथवा अनुपादेयता का मूल्यांकन कर सकेगा ।

जीवन के प्रति सचाई एव जीवन के भावी निर्माण के लिए प्रेरणा, साहित्य-समीक्षा के ये दो ही तो प्रधान आधार स्तम्भ है। व्यक्ति और समाज के समन्वित योग-क्षेम तथा भावी विकास की दृष्टि से ही तो साहित्य का मूल्यांकन सम्भव है। जीवन-दर्शन तथा साहित्य-दर्शन के इस व्यापक आधार के अतिरिक्त समीक्षा का कार्य साहित्य की मूल प्रकृति से अवगत होना भी है। उसे यह भी बताना है कि आलोच्य रचना साहित्य या कलाकृति ही है, अन्य कुछ नही। समीक्षा का अर्थ यह देखना भी है कि कही कला अपनी उपयोगिता के लोभ में कला के प्रकृत क्षेत्र के बाहर तो नहीं चली गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि वह साहित्य का मूल्याङ्कन कर रहा है, दर्शन या विज्ञान का नही। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि समीक्षक भाव और अभिव्यजना के विशुद्ध दृष्टिकोण से भी विचार करे। वह सौदर्य एव राग-तत्व का मूल्यांकन भी करें जिसके कारण कोई रचना साहित्य है। जीवन-सम्बन्धी धारणा तथा सास्कृतिक आधार की प्रौढ़ता के साथ ही समीक्षक को इसका विश्लेषण भी करना है कि इन आधारो के उपयोग एवं अभिव्यजना मे कला-कृति को कितनी सफलता प्राप्त हुई है ? साहित्यकार पाठक के हृदय को द्रवित करके व्यक्तिगत रूप मे उसका कितना परिष्कार कर सका है ? व्यक्ति और समाज को जीवन के विशाल एव उदार दृष्टिकोण को अपनाने के लिए कितना प्रेरित कर सका है ? यह प्रेरणा सौन्दर्य-जनित सवेदना और भावात्मकता के माध्यम से ही आई है न, कही केवल बौद्धिक तो नही हो गई है ? बुद्धि और हृदय का पूर्ण सामजस्य है या नही ? इनमें से किसी एक का अनुचित प्राधान्य तो नही है, जो साहित्य की मूल प्रकृति के ही विरुद्ध हो। समीक्षक को साहित्य के वर्ण्य-विषय, जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, उसकी संवेदनशीलता, व्यक्ति और समाज के लिए प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता तथा अभिव्यजना-कौशल की दृष्टि से तो प्रधान रूप से विचार करना ही है, इसके अतिरिक्त उसको कला के उपकरणों पर भी विचार करना है। कला का सबसे बडा प्रधान उपकरण कलाकार का व्यक्तित्व होता है। अन्य सारे उपकरण उसी माध्यम से प्राप्त होते है। उन पर कलाकार के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप भी होती है। कलाकार जो कुछ बाहर से ग्रहण करता है उसको अपने व्यक्तित्व के साचे मे ढालकर ही कला मे उसका उपयोग कर सकता है। पर कलाकार का व्यक्तित्व भी उसी सीमा तक कलोपयोगी है, जहां तक यह मानव के व्यक्तित्व के सामजस्य में है, इसके अतिरिक्त नही। कलाकार का व्यक्तित्व देश-काल के प्रभाव से निरपेक्ष नही रह सकता है, इसलिए कला और कलाकार के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में देश-काल का विवेचन भी अपेक्षित है। समीक्षक का कार्य काव्य-उपकरणों पर भी इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण से विचार करना है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि समीक्षक का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार और

व्यापक होना चाहिए। उसे साहित्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन तो साहित्यकार की जीवन-कल्पना की विराटता तथा मानव के स्वस्थ एवं सर्वाङ्गीण विकास के लिए कलात्मक प्रेरणा की प्रौढता की दृष्टि से ही करना है। वह साहित्यकार की चिरन्तनता और उपादेयता को इसी मानदंड पर आंक सकता है। पर साथ ही उसे साहित्य की मूल प्रकृति, उसके तत्व—भावात्मक सौन्दर्य तथा उसकी अभिव्यक्ति की भी उपेक्षा नही करनी है। जीवन की विराट् कल्पना मे अपना एक सौन्दर्य है। इसे तो कोई भी अस्वीकार नही कर सकता है। पर कलाकार का कार्य जीवन का बौद्धिक विश्लेषण नही, अपितु रागात्मक, अनुभूतिमय एवं सौन्दर्यमूलक अभिव्यंजना है, यह भी समीक्षक को नही भूलना है। उसे साहित्य का इसी दृष्टि से मूल्यांकन करना है। प्रौढ जीवन-दर्शन, साहित्य-दर्शन एवं उनके स्वस्थ सम्बन्ध के साथ कला के उपकरणो एव अभिव्यजना-कौशल के समन्वय से ही समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति का निर्माण और विकास संभव है। साहित्य का क्षेत्र वैयक्तिक अभावों और संवेदनात्मक अनुभूति का क्षेत्र है, इसलिए उसका साक्षात्कार भी अनुभूति के माध्यम से ही किया और कराया जा सकता है, केवल बुद्धि से नही। इसलिए प्रभावाभिव्यंजना, अनुभूतिव्यंजक शैली एव भावात्मकता भी समीक्षा के अनिवार्य तत्व है। इस प्रकार की समीक्षा में विज्ञान और कला का भी समन्वय हो जाता है। समीक्षा-शास्त्र की पूर्ण वैज्ञानिकता इसी समन्वय में अन्तर्हित है। इसी मूल आधार पर समीक्षा अन्य शास्त्रो और कलाओ के समक्ष अपने पृथक् एव महत्वपूर्ण व्यक्तित्व की उद्घोषणा कर सकती है।

वस्तु को उसके सम्पूर्ण रूप मे विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से देखना ही समीक्षा है और यह उपर्युक्त समन्वयवादी दृष्टिकोण से ही सभव है। इसी से आलोचक कविता की उस जीवन-शक्ति का उद्घाटन कर सकता है, जिससे अनुप्राणित होकर वह रचना कविता होती है तथा अन्य कविताओं से अपना पृथक् एव सार्थक अस्तित्व सिद्ध करने मे सफल होती है। कविता इसी से अनुप्राणित होकर व्यक्ति और समाज को विकास की प्रेरणा कर सकती है। समीक्षा के लिए जीवन और साहित्य-दर्शन के प्रौढ ज्ञान और स्वस्थ धारणा के साथ ही कवि से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने की भी आवश्यकता है।

कवि का कार्य अपने भावन की सफल एवं सुन्दर अभिव्यजना करना है तथा समालोचक का कवि-सृष्टि के प्रति अपने भावन का सफल विवेचन। यही इन दोनों मे अन्तर है। कवि-सृष्टि के प्रति समीक्षक का भावन जितना ही यथार्थ होता है, उतना ही यह समीक्षक प्रौढ कहा जा सकता है। साधारण पाठक एव समालोचक में केवल थोड़ा-सा अन्तर है। साधारण पाठक में भावनशक्ति अविकसित होती है। वह अपने भावन द्वारा केवल थोड़ा आस्वाद भर कर पाता है, विवेचन नही। साधारण पाठक की अपेक्षा अधिक प्रौढ, सहृदय तथा अपने भावन के विश्लेषण की

क्षमता वाला पाठक ही समालोचक होता है। समीक्षक का कार्य कवि की संवेदनीयता की गूढता को स्पष्ट कर देना है, जिससे वह साधारण पाठक के लिए भी पूर्णतः भावित हो सके। कार्लाइल समीक्षा को अंशतः भावित व्यक्ति के लिए पूर्ण भावित की व्याख्या मानता है। साधारण पाठक को काव्य के स्थूल एवं बाह्य सौन्दर्य का अस्पष्ट आभास-सा मिलता है, और समीक्षा उसी को विशद कर देती है।[1] हडसन इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहता है ?

"If a great poet makes us partakers of his larger sense of the meaning of life, a great critic may make us partakers of his larger sence of the meaning of literature."[2]

कैजामिया इसी को और भी स्पष्ट शब्दों मे कहते है :

"To criticise a work is to understand and to interpret as fully as possible, the urge of energy that produced it, to live again the stages of its development and partake of the impuless and intentions with which it is still pregnant".[3]

समीक्षा का कार्य कवि के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके कला को अनुप्राणक शक्ति, भावात्मक सौन्दर्य एवं अभिव्यजना-कौशल का रसास्वाद करना तथा उनकी गूढता को स्पष्ट करना है। कैजामिया और हडसन के कथनो का भी यही तात्पर्य है। ऊपर जिस व्यापक समन्वय की बात कही गई है वह तो समीक्षा का आदर्श रूप है, पर साहित्य के भावन के स्थूल-से-स्थूल तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सभी रूपों का समीक्षा में ही अन्तर्भाव है। काव्य को समझने-समझाने का सामान्य से सामान्य प्रयत्न भी समीक्षा ही है। इसमे समीक्षा के सैद्धान्तिक एव प्रयोगात्मक दोनो ही रूपों का अन्तर्भाव प्रस्तुत निबन्ध मे समीक्षा शब्द के इसी व्यापक अर्थ का ग्रहण हुआ है।

समीक्षा की अनेकरूपता और अनीमता इसी से सिद्ध है कि समीक्षकों की शैली और प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। समीक्षा की कोई भी ऐसी पद्धति नही है जो सर्वमान्य कही जा सके। किसी भी समीक्षा-सम्प्रदाय के सिद्धान्त इतने परिपूर्ण एवं अकाट्य नही है जिससे दूसरे सम्प्रदायो के सिद्धान्त उपेक्षणीय माने जा सके। इससे भी समन्वय का महत्व स्पष्ट है। वैषम्य को कुछ विरोधी कोटियो का विवेचन किया जा सकता है। एक ओर आदर्शनात्मक, शास्त्रीय व्यवस्थित एव वस्तुतन्त्रात्मक आलोचना की कोटि है तथा दूसरी ओर आत्मप्रधान, वैयक्तिक प्रभावाभिव्यंजक एव

---

1. J E Spingarn,—'The new criticism.'
2. Hudson—'An Introduction to the study of literature' P. 266.
3. 'The dictionary of word Literature' Page 136.

मुक्त आलोचना की। विशुद्ध आनन्द और उपयोगिता काव्य-प्रयोजन की दो कोटियां है। अभिव्यंजना शैली तथा अभिव्यक्त वस्तु की दृष्टि से आलोचना की दो अतिवादी कोटियो की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार कुछ सामान्य एवं व्यापक कोटियो की उद्भावना की जा सकती है। लेकिन समीक्षा का प्रकृत स्वरूप इन तत्वो की निरपेक्षता में नही है। व्यवहार मे सब सापेक्षित रूप मे ही उपयोगी है। कोई समालोचना पूर्णत. निरपेक्ष रूप मे न आदर्शनात्मक हो सकती है और न पूर्णत. आत्मप्रधान। पर प्रत्येक आलोचक की आलोचना इन्ही कोटियो के बीच की रेखा पर कही अवस्थित रहती है। जो इन सबके मध्यम मार्ग को इनके समन्वित रूप को अपनाती है, वही आलोचना अधिक प्रकृत कही जा सकती है। समालोचक मे बहुत से गुण आवश्यक है। पर उसका सबसे बडा गुण सहृदयता है। भारतीय आचार्य सहृदयता को "तन्मयीभवमयोग्यता" कहता है। काव्य-सृजन के लिये जैसे शक्ति, निपुणता और अभ्यास का समन्वय अपेक्षित है, उसी तरह काव्य के भावन के लिये भी समीक्षक के लिये प्रतिभा, शास्त्रज्ञता, जीवन की गम्भीर अनुभूति एव सूक्ष्म विश्लेषण-क्षमता अनिवार्य है। इनके अभाव मे वह सफल समीक्षक नही माना जा सकता है। अभ्यास और निपुणता समीक्षक की प्रतिभा एवं सहृदयता के संस्कार है। जीवन तथा काव्य की भावनक्षमता एव सहृदयता के विकास की अवस्था की समीक्षा की प्रौढता का मानदण्ड है। समीक्षक, जाति तथा देश की समीक्षा के विकास का अध्ययन इसी आधार पर किया जा सकता है। साहित्य की प्रौढ़ता जीवन-दर्शन तथा भावात्मकता की विराट्ता पर निर्भर है, और समीक्षा की प्रौढता सहृदयता और भावन की व्यापकता एव उत्कृष्टता पर।

: २ :

संस्कृत–साहित्य में समीक्षा का स्वरूप

भारतीय साहित्य की प्रायः सभी शाखाओ, ग्रन्थों, कलाकारों और दार्शनिकों की तरह समीक्षा-शास्त्र और उसके प्रणेताओ के समय के सम्बन्ध मे भी ऐतिहासिको का मतैक्य नही है। कतिपय विद्वानो की प्रवृति है कि वे प्रत्येक विद्या का, प्रत्येक शास्त्र का आदि-स्रोत वेद को ही मानते है। उन्होने अलकार-शास्त्र को भी ईश्वर-प्रणीत माना है। राजशेखर-जैसे प्राचीन विद्वानो ने काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति भी ईश्वर से ही मानी है।[1] भारत-प्रणीत 'नाट्य-शास्त्र' को पचम वेद कहने का तात्पर्य ही उसको अपौरुषेय मानना है। अस्तु, यह तो उन प्राचीनता के उत्कट प्रेमियो की बात रही जो यह नही मानना चाहते कि वेदो के उत्तर काल मे भी मानव ज्ञान-क्षेत्र मे विकास करता रहा है और उसने नवीन शास्त्रो के ज्ञान की नवीन धाराओ का अन्वेषण किया है। यह मानना तो समीचीन नही है कि वैदिक काल में समालोचना या समीक्षा-शास्त्र और रस के विकसित स्वरूप के दर्शन होते है, यह केवल अत्युक्ति मात्र है। पर इतना तो सभी को स्वीकार करना पडता है कि वैदिक काल के ऋषियो में भी सौन्दर्य समीक्षा की प्रवृत्ति का सूक्ष्म रूप अवश्य था। वेदो की ऋचाओ मे सुन्दर उक्तियो और अलकारो का अत्यधिक प्रयोग है। इससे ऋषियो का सौन्दर्य-प्रेम स्पष्ट है। 'रसो वै सः' मे रस का विकसित रूप मानना तो उचित नही, पर यह भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि काव्य के समीक्षको को रस का स्वरूप निश्चित करने मे उपनिषद् के इस महा वाक्य से प्रेरणा मिली है। आज भी ऐसे काव्य रस के स्वरूप के लिए प्रामाणिक है। कुप्पुस्वामी ने माना है कि ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टा मे समालोचक का स्वरूप है।[2] अपनी पुस्तक 'The highways and By-ways of

1 Dr S. K. Dey—'History of Sanskrit poetics' Vol. II Page 3-7. Dr. Sankaran –'Some aspects of literary criticism in Sanskrit.'

2 The oldest phase of literary criticism may be traced back to the Rigveda. It is not meant to suggest that the Rigveda bard was concious of his position as critic, yet it is quite possible the bards were quite also critics without being concious of it.

criticism in Sanskrit' मे उन्होने अपना यह मत प्रतिपादित किया है। वे अपने मत की पुष्टि मे ऋग्वेद की एक ऋचा उद्धृत करते है। उस ऋचा मे कवि समीक्षा की प्रशसा कर रहे है।[1] शकरन ने इसी ऋचा को उद्धृत करके उसके द्वारा यह सिद्ध किया है कि उस काल के मन्त्र-द्रष्टाओं को भी काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का ज्ञान था। उन्हे आभ्यन्तर की उत्कृष्टता भी मान्य थी।[2] इन उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियो मे भी सस्कृत समालोचक का एक स्वरूप उपलब्ध होता है। ये केवल सौदर्य-प्रेमी ही नही थे, अपितु उसकी आलोचना करने की प्रवृत्ति भी उन मे थी। प्राय: उस काल का ऋषि अपने आलोचक स्वरूप को स्वय नही पहचान पाता था। पर अनेक स्थानो पर उसने अपने आलोचक स्वरूप के ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण भी दिया है। डॉ० शकरन द्वारा उद्धृत ऋचा का ऋषि अज्ञात रूप से आलोचना नही कर रहा है उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान है। काव्य के बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद के तुलनात्मक महत्त्व की बात करना, स्पष्टत. ही आकस्मिक समीक्षा नही है। इस मे ऋषि कवि और समीक्षक दोनो है।

आदिकवि वाल्मीकि में आलोचक का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है। उन्होने स्वय अपने प्रथम श्लोक 'मा निषाद' की आलोचना की है।[3] उनकी इस आलोचगा में साहित्य-शास्त्र का वह महान् सिद्धान्त निहित है जो केवल पूर्वी नही अपितु पश्चिमी विद्वानो को भी अब मान्य हो गया है।[4] पश्चिम का विद्वान अभी इस महान् सिद्धान्त का स्पष्ट दर्शन नही कर पाया है। भविष्य मे उसे इसी सिद्धान्त को काव्य का मूलभूत मानना पड़ेगा, इसके लक्षण अभी से दिखाई दे रहे है। भारतीय समीक्षा-पद्धति का तो यह सिद्धान्त प्राण ही है। आदिकवि ने जिस सत्य का दर्शन किया है उसी को परवर्ती आचार्यो ने 'ध्वनि' के नाम से पुकारा है। उसीमे रस, वस्तु और अलकार का समावेश भी हो जाता है। कवि के इन वाक्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति

---

1 Poesy reveals herself to whom who understands. It is not critic that praises the poet here but the poet praises the critic.

उत त्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्यु उशती सुवास:॥

2 The verse उतत्व: etc. by denouncing the person that sees only the externals in poetry and praising the learned to whom alone the beauty of the inner senses is revealed, appears to value highly poetic content not its from.—The theories of Rasa and Dhvani.

3 **पादबद्ध अक्षरसम: तन्त्रीलय समन्वित:।**
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥

4 'Vide The Principles of criticism' by Abercrombie.

ही भाषा का रूप धारण करने पर काव्य कहलाती है। कवि अपनी ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी अनुभूति को भाषा के माध्यम से अभिव्यजित करता है। अथवा अनुभूति स्वय अभिव्यक्ति में परिणित हो जाती है। वस्तु के साथ कवि-हृदय का जितना तादात्म्य होता है उतना ही सौदर्य और हृदय-स्पर्शिता उसकी कविता मे आ जाते है। अनुभूति की तीव्रता स्वय भाव को अभिव्यक्त करने के लिये श्लोक बन जाती है।

व्यवस्थित रूप से अलकार-शास्त्र का प्रणयन कब प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। दासगुप्ता ने अपनी 'काव्य-विचार' नामक पुस्तक मे यह माना है कि भारतीय साहित्य मे अलकार-शास्त्र अन्य शास्त्रो की अपेक्षा अर्वाचीन है।[1] गर्ग मुनि के द्वारा की गई उपमा की व्याख्या प्राचीनतम है। स्वय यास्क ऋषि ने उपमा की परिभाषा दी है और उसके स्थूल भेदो पर विचार किया है।[2] उपमा तथा उसके भेदो की उक्त व्यवस्था यद्यपि अत्यन्त प्राचीन है और इनके पूर्व का कोई दूसरा उदाहरण भी उपलब्ध नही है, तथापि उपमा का यह विवेचन प्रौढ कहा जो सकता है। इसमे जिन तत्वो का विश्लेषण और विवेचन हुआ है, आज भी आचार्यो को यह मान्य है। इस व्याख्या की प्रौढता इस बात का निर्देश करती है कि इनसे पहले भी इन विषयो पर किसी न-किसी रूप मे चिन्तन अवश्य हुआ है। यह उस चिन्तन का कुछ विकसित रूप है जो लिपिबद्ध हुआ है। पाणिनि ने उपमा, उपमिता, सामान्या आदि शब्दो का प्रयोग किया है। कौटिल्य ने सुन्दर रचना की विशेषताओ का उल्लेख किया है। जूनागढ मे प्राप्त एक शिला-लेख में काव्य-भेद और काव्य गुणों का उल्लेख है।[3]

---

१. आमादेर देशेर अलंकारशास्त्रेकेर अपेक्षाकृत आधुनिक बोली पाई मने करा जाइते ऋग्वेद प्रभृति सहिता ग्रन्थे ब्राह्मण आरण्यक वा उपनिषदादि ते श्रौत सूत्रवा धर्मसूत्र आदि ते अलंकार शास्त्रेर वर्णित विषयेर विशेषकोनो उल्लेख पावा जाय ना। 'काव्य-विचार' पृष्ठ १।

२. यास्केर निरुक्तेर मध्ये उपमार किंचिन्मात्र उल्लेख पाओ जाय। तिना, भूतोपमा पोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा वा अर्थोपमा उल्लेख करयाछेन तिनी प्रसंग क्रमेगार्गेर उपमा लक्षणेर और करियाछेन। 'वही'।

3. One inscription belonging to 150 A. C makes a reference to some poetic excellences and incidenuly alludes to the division of poetry into Gadya and Padya. Some of the inscriptions employ some of the poetic devices like a literation in such profusion and such mastery that one is forced to conclude that the signs of Sanskrit poetics have made large studies before they were executed "S. S. Sukthankar, Kavya Prakash introduction."

भरत मुनि से तो भारतीय अलङ्कार-शास्त्र की निश्चित परम्परा आरम्भ हो जाती है। भरत से लेकर पडितराज तक व्यवस्थित रूप से साहित्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षो का, तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नो का विशद विवेचन हुआ है। आलोचना और प्रत्यालोचना के फलस्वरूप कई काव्य-सप्रदायो का जन्म हुआ और साहित्य-शास्त्र के इतिहास के विभिन्न समयो मे विभिन्न सप्रदायो का प्राधान्य रहा। प्रत्येक सप्रदाय अपनी प्रमुखता का प्रयत्न करता रहा। अन्त मे इन सभी सप्रदायो मे समन्वय भी स्थापित हुआ। डा० सुशीलकुमार दे ने मम्मट आदि आचार्यो को उसी सामजस्यवादी सम्प्रदाय के प्रमुख व्यक्ति माना है।[1] इस समन्वय के तत्वआनन्दवर्धन के 'ध्वनि-सिद्धान्त' मे ही निहित थे, पर इन तत्वो का विकास अभिनव गुप्त, मम्मट प्रभृति आचार्यो द्वारा हुआ। समन्वय के पथ पर अग्रसर यह विकास पडितराज मे अपनी पूर्णता को पहुँच गया था। यह तो उस परम्परा की बात हुई जो आलकारिको के ग्रन्थो मे अक्षुण्ण है। लेकिन भरत मुनि के पहले भी अलकार-शास्त्र के आचार्य हुये है। ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध होते है।[2] अगर सौदर्य-शास्त्र के दिव्य उद्भव के सिद्धान्त की बात छोड दे तो भरत के 'नाट्य शास्त्र' की प्रौढता ही उसके पूर्व की परम्परा का पर्याप्त प्रमाण है। वैसे स्वय भरत ने भी अन्य आचार्यो के अस्तित्व का निर्देश किया है। उनके 'अन्य अन्येतु' शब्दो से यह सिद्ध है।[3] भरत ने तुण्ड को अपना उपदेशक कहा है। राजशेखर ने भरत के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन आचार्यो का उल्लेख किया है।[4] वात्सायन के 'काम-सूत्र' मे भी कुचमार और 'सुवर्णनाभ' नामक दो आचार्यों का उल्लेख है।

भरत के 'नाट्य-शास्त्र' मे वाचकाभिनय का छः अध्यायो मे विवेचन है। इस प्रसग मे लेखक ने गुण, अलकार, लक्ष्य (काव्य शरीर) आदि का विवेचन किया है। अतः कुछ विद्वानो का यह कहना कि उक्त ग्रन्थ मे काव्य-सामान्य पर कोई विचार प्रकट नही किये गये है, भ्रम-मात्र है। अलकार, गुण, दोष, लक्षण आदि के विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य को इनका सम्बन्ध केवल नाट्य-मात्र मे नही अपितु काव्य-सामान्य से ही मान्य है[5]। अत्यन्त प्राचीन काल मे भारतीय साहित्य मे दृश्य और श्रव्य का भेद मान्य रहा है। पाणिनी ने नाट्य-सूत्रो का उल्लेख किया है, पर अलकार-शास्त्र का नही। बहुत दिनो तक ये पृथक-पृथक शास्त्र नही रहे होगे। ये

1. Dr. Day, The History of Sanskrit poetics Vol. 11Ch. VI.
२. डा० दे–'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोयटिक्स' दसरा भाग, पृष्ठ १।
३. श्री कन्हैयालाल पोद्दार–'सस्कृत साहित्य का इतिहास' प्रथम भाग, पृष्ठ २६।
४. श्री राजशेखर–'काव्य मीमाँसा' प्रथम अध्याय।
५. डा० दे—'हिन्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स' दूसरा भाग पृष्ठ १।

साहित्य शास्त्र के दो पृथक् विषय ही रहे हैं। 'नाट्य-शास्त्र अलंकार शास्त्र की अपेक्षा प्राचीन अवश्य कहा जाता है। भरत के पहले दृश्य और श्रव्य का भेद कितना मान्य रहा है, यह कहना कठिन है। भामह के समय मे तो यह भेद अत्यन्त स्पष्ट हो गया था। पहले काव्य सामान्य का निरूपण नाट्य के साथ ही होता रहा होगा। भरत के 'नाट्य शास्त्र' से तो यही अनुमान होता है, पर भामह के समय मे स्पष्टत. ही पृथक् रचना आरम्भ हो गई थी। अगर 'अग्नि-पुराण' भामह के पूर्व का न भी माना जाय तो भामह का 'काव्यालंकार' ही काव्य-शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना जायगा। 'अग्नि पुराण' के काल-निर्णय के संबंध मे ऐतिहासिकों का मतैक्य नही है। हम स्थानाभाव और विषयान्तर होने के कारण इस विषय पर यहाँ विचार नही कर रहे है। दृश्य और श्रव्य पर पृथक् रचना की परम्परा भी बहुत दिनो तक चलती रही। यही कारण है कि भामह, दण्डी आदि आचार्यो ने दृश्य पर विचार नही किया है। कुछ काल ये दोनों शाखायें अलग-अलग रही। परवर्ती काल मे ये दोनो फिर कुछ-कुछ मिलने लगी और अलकार-शास्त्र मे नाट्य पर भी विवेचन किया जाने लगा। हेमचन्द्र और निधिनाथ के समय मे ही यह प्रथा आरम्भ हुई प्रतीत होती है।[1]

'अलंकार-शास्त्र' मे काव्य सामान्य का स्वरूप, परिभाषा, प्रयोजन, हेतु, भेद, रस, अलकार, रीति, ध्वनि, गुण, दोष, लक्षण, पाक, शय्या, आदि अनेको विषयो पर विशद विवेचन हुआ है। प्रत्येक ग्रन्थ मे अपने सम्प्रदाय का विशेष तथा अन्य प्रायः सभी विषयों का गौण रूप से विचार हुआ है। कुछ ग्रन्थो मे इन सभी तथा कुछ मे कतिपय विषयो पर विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त दृश्य-काव्य के निरूपण के लिए पृथक् ग्रन्थो की रचना भी होती रही है, यह हम पहले ही कह चुके है।[2]

काव्य-लक्षण.—व्याकरण के अनुसार कवि की कृति ही काव्य है। कवि शब्द मे अर्थ की व्यापकता और गौरव है। कवि मनीषी और ब्रह्मा का पर्यायवाची है।[3] कवि को ब्रह्मा कहा गया है।[4] 'कवि' शब्द के अर्थ की यह व्यापकता और गौरव पुराण-काल तक चलते रहे। पुराण-काल मे काव्य की परिभाषा देने की प्रवृत्ति जागृत हो गई थी। काव्य को अन्य शास्त्रो से पृथक् करके देखा जाने लगा था। कवि शब्द शास्त्र से भिन्न काव्य मे से सम्बद्ध होकर कुछ सकुचित अर्थ मे

---

१ 'वही' पृष्ठ ३।

२ किस ग्रन्थ में कौन-कौन से विषयों का अध्ययन हुआ है इसके लिए सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' भी दृष्टव्य है

३. कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। 'शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता।

४. तेने ब्रह्महृदाय आदि कवये। श्रीमद्भागवत पुराण' प्रथम श्लोक।

प्रयुक्त होने लगा। अब मनु-पाराशर आदि को कवि नही कहा जा सकता था। काव्य-प्रणेता के रूप मे वाल्मीकि के लिए ही प्रथम बार कवि शब्द का प्रयोग हुआ। अर्थ-सकोच होते हुए भी उसका गौरव अक्षुण्ण बना रहा। कवि की तुलना तो ब्रह्मा से ही होती रही। वह अपनी सृष्टि का स्वय नियामक माना जाता रहा। कवि शब्द की अर्थ-व्यापकता राजशेखर के समय तक चलती रही। इसीलिए उन्हें कवि के तीन भेद करने पड़े।[1] काव्य के गौरव और अलौकिक प्रतिष्ठा का बीज कवि शब्द में निहित है। कवि और ब्रह्मा को समतुल्य मानकर सस्कृत-समीक्षको ने काव्य का सम्मान खूब बढा दिया है।

भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' मे स्पष्टत काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यह भरत मुनि के ग्रन्थ के प्रकृत क्षेत्र से बाहर भी था। मुनि ने दृश्य काव्य पर विचार करते हुए वाचकाभिनय के प्रसंगवश काव्य सामान्य के लक्षणों का निर्देश कर दिया है। पात्र जिन उक्तियो का प्रयोग करता है, अभिनेता प्रेक्षको के समक्ष जो कुछ बोलता है, वह सब एक प्रकार के श्रव्य-काव्य ही है, इसे ही हम काव्य का सामान्य रूप कहते है। श्रव्य और दृश्य दोनो भेदो की बात करने के कारण भी मुनि को काव्य के सामान्य स्वरूप के यत्किंचित परिचय की आवश्यकता थी ही। एक स्थान पर उन्होने काव्य के गुण, रस, दोष-राहित्य, पदो का लालित्य और मृदुत्व शब्दार्थ की सरलता आदि कतिपय विशेषताओ का उल्लेख किया है। इनसे काव्य में प्रौढता आ जाती है। यह भी भरत मुनि को मान्य है।[2] यहाँ पर यह तो स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का मुख्य अभिप्राय नाटक से ही है। यह उसके 'नाटक प्रेक्षकणाम्' से अत्यन्त ही स्पष्ट है, 'जनपद सुखबोध्य' आदि पद भी इसे स्पष्ट करते है। लेकिन 'दृश्य-काव्य' के साथ ही उन्होने काव्य -सामान्य के स्वरूप का भी निर्देश कर दिया है। यह मानना भी क्लिष्ट कल्पना नही है। 'नाट्य-शास्त्र' मे काव्य के छत्तीस आभूषण माने गये है। उनसे विभूषित काव्य ही सहृदय व्यक्तियो के द्वारा श्लाघनीय होता है। 'लक्षण' नामक काव्य-तत्व का सम्बन्ध तो भरत ने भी प्रधानत: काव्य सामान्य से ही स्थापित किया है। अभिनवगुप्त ने लक्षण के सम्बन्ध मे कई मतो का उल्लेख किया है। उनमे से अधिकाश मतो मे 'लक्षण' को काव्य शरीर, काव्य-विभूषण अथवा कवि-व्यापार ही कहा गया है। कुछ मत 'लक्षण' को नाटक-मात्र के विभूषण

---

१ 'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोइटिक्स' दूसरा भाग पृष्ठ ३६६-७० : राजशेखर: काव्य मीमांसा पृष्ठ ५६

२. मृदुललितपदाढ्यं गूढ शब्दार्थहीन, जनपदसुखबोध्य युक्तिनृत्तो बहुकृतरसमार्ग सन्धिसन्धानयुक्त स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्।

'नाट्य-शास्त्र' १६।१२८।

अथवा सध्यग मात्र मानने वाले भी है। काव्य सामान्य के स्वरूप-निर्देश तथा उसके ३६ गुण मानने का उल्लेख डा० राघवन ने भी किया है।[1] प० रामदहिन मिश्र ने भी अपने 'काव्यालोक' के द्वितीय उद्योत की भूमिका मे वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमे भरत द्वारा काव्य-सामान्य पर विचार किया गया है।[2] प्रतीपक्षी का तर्क है कि 'यथारस'के द्वारा भरत ने इस श्लोक का सीधा सम्बन्ध नाटक से कर दिया है। रस का सम्बन्ध काव्य सामान्य से करने का श्रेय ध्वनिकार को ही है, यह कतिपय विद्वानों का मत है।[3] इसमे कोई सन्देह नही कि काव्य में रस को जो महत्व भारतीय साहित्य में मिला है, उसका बहुत कुछ श्रेय आनन्दवर्द्धन को ही है। पर भामह, दडी आदि ने भी रस-तत्व को स्वीकार किया है, इसका विवेचन हम इसी अध्याय मे आगे करेगे। ध्वनिकार के पूर्व 'ध्वनि' (जिसमे रस निहित है) काव्य की आत्मा मानी जा चुकी थी, यह तो स्वयँ आनन्दवर्द्धन भी स्वीकार करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि भरत द्वारा जिन लक्षणो का निर्देश हुआ है उन्हें काव्य-सामान्य का स्वरूप मानना असमीचीन नही है। भरत को उस श्लोक द्वारा काव्य का स्वरूप निर्देश अभिप्रेत हो या नही, लेकिन उस काल मे भी काव्य-सामान्य के सम्बन्ध मे एक धारणा अवश्य थी और उससे भरत भी परिचित थे, इसके लिये उनका काव्य-विभाजन (श्रव्य और दृश्य) ही पर्याप्त प्रमाण है। इन गुणो का निर्देश उन्होने काव्य सामान्य के लिए कर दिया हो तो कुछ अस्वाभाविक नही। 'लक्षण' के सौन्दर्य का आधार रसौचित्य है। भरत ने लक्षण का सम्बन्ध काव्य-सामान्य से माना है। अतः भरत को श्रव्य-काव्य मे भी 'रसत्व' मान्य है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, 'अग्नि पुराण' के निर्माण का समय अनिश्चित है। प्राचीन पद्धति के भारतीय विद्वानो की दृष्टि से तो पुराण वेदव्यास रचित हैं, इसलिए भामह आदि अलकारिको के पूर्व ही इसकी रचना हो चुकी थी। 'अग्नि पुराण' मे काव्य के विवेचन से यह नही कहा जा सकता कि वह अलकारवादी है या रसवादी। काव्य का परिभाषा और विवेचन मे पुराणकार ने अनेको तत्त्वो का समाहार किया है। इनमे से बहुत से तत्व भामह आदि मे नही है। इस प्रकार पुराण की

---

१ नाट्य-शास्त्र (अभिनव भारती) पृष्ठ २९४-३००

२ काव्य बन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशलक्षणान्विताः। नाट्य-शास्त्र।

३. एतानि वा काव्यविभूषणानि षट्त्रिंशतमुद्दिश्य निदर्शनानि।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि रसानुरूपम् (यथारसंतु वा)।
नाट्य शास्त्र ॥ १६।४२

एतानि काव्य विभूषणानि काव्ये प्रयोज्यानि। नाटय-शास्त्र।

4. History of Sanskrit Poetics' Page 135.

परिभाषा को अधिक विकसित एव पूर्ण मानकर कुछ विद्वान् इसे भामह के बाद की रचना मानना चाहते है। लेकिन यह कोई सबल प्रमाण नही है। पुराण की परिभाषा की अपेक्षा विकास की दृष्टि से भामह दडी आदि आचार्यों ने अपना विवेचन अधिक सश्लिष्ट किया है। इस प्रकार पुराण को इनके प्रथम मानने के ही अधिक कारण हैं। यहा पर हम भी पुराण को ही प्रथम मानकर चलते है। पुराण-काल तक सम्प्रदाय नही बन सके थे। इसलिए 'अग्नि पुराण' को किसी भी सम्प्रदाय मे रखना ठीक नही।

'अग्नि पुराण' का लक्षण ही इस क्षेत्र का सर्व प्रथम व्यवस्थित प्रयास कहा जा सकता है। इस लक्षण मे जिन तत्त्वो का निर्देश हुआ है, बहुत समय तक परवर्ती काल के आचार्य उन्हे ही लेकर चलते रहे। बहुत से आचार्यो की परिभाषा तो कुछ शब्दातर से इसका स्पष्ट अनुकरण-मात्र ही रही। कुछ आचार्यो ने अपनी मौलिक प्रतिभा का भी परिचय दिया। इस पर हम अभी विचार करेगे। अभीष्ट अर्थ का द्योतन करने मे सक्षम पदावली को अग्नि पुराण मे काव्य कहा गया है। इतने से तो काव्य का स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट नही होता है। काव्य और शास्त्र दोनो मे ही अर्थ सश्लिष्टता आवश्यक है। पर गुण, अलकार दोषहीनता के तत्वो से काव्य का स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ है।[1] इन तत्वों को परवर्ती आलकारिको ने ग्रहण किया। भामह ने अपनी परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' मे भी शब्द और अर्थ दोनो को ही काव्य कहा है। उन्होने इस परिभाषा मे तो गुण, अलंकार आदि तत्वो का उल्लेख नही किया है, पर अपने ग्रन्थ में आगे अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है। उनके 'साहित्य' मे शब्द और अर्थ के सामजस्य मे ही, इन तत्वो का समावेश हो जाता है। वे वक्रोक्ति के अभाव मे काव्य का अस्तित्व नही मानते। इस वक्रोक्ति मे ही अलंकार आदि तत्व समाविष्ट है। दडी ने इष्टार्थ को प्रकट करने वाली पदावली को ही काव्य कहा है।[2] इसमें केवल शब्द को ही काव्य मान लिया गया है। रुद्रट ने फिर "ननु शब्दार्थौ काव्यम्" कहकर मानो केवल "शब्द" को मानने का विरोध किया है। वामन ने कई वाक्यो द्वारा काव्य के स्वरूप को स्पष्ट किया है। उनका अभिप्राय काव्य का लक्षण न करके उसके स्वरूप से परिचित कराने का है। वामन ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यो द्वारा मान्य तत्वो को ही ग्रहण किया है। पर उनमे विशेष स्पष्टता ला देने का श्रेय भी उनको है। उन्होंने अलंकारो के कारण ही काव्यत्व स्वीकार किया, लेकिन साथ ही उनके मत मे अलंकारों के अत्यन्त विशद अर्थ का भी ग्रहण

---

१ **संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।**
काव्यं स्फुरदलकार गुणदोषविवर्जितम्॥ 'अग्नि पुराण ३३७।६०॥

२ **शरीरं तावदिष्टार्थ। व्यवच्छिन्न पदावली। दडी. प्रथम।१०॥**

हुआ है। सौन्दर्य-मात्र को अलकार कहा गया है। वामन ने काव्य मे गुणो की उपस्थिति तथा दोष-राहित्य को भी आवश्यक माना है। ये भी सौन्दर्य के हेतु है।[1] इस प्रकार वामन की परिभाषा से चिन्तन की प्रवृत्ति तथा काव्य के स्वरूप को निश्चित कर देने की आकाँक्षा अत्यन्त स्पष्ट है।

भरत से लेकर वामन तक आचार्यो ने काव्य का चिन्तन प्रायः एक ही धारा मे किया है। भरत का मूल विषय ही नाट्य रहा, इसलिए उन्होने काव्य सामान्य की कतिपय विशेषताओ का उल्लेख भर कर दिया है। 'अग्नि-पुराण' मे अलंकार, गुण, रस आदि पर कुछ थोडा अधिक विवेचन हुआ। व्यास जी के द्वारा मान्य तत्वो को ही परवर्ती आचार्यों ने ग्रहण किया। इस काल के आचार्यो का ध्यान विशेषत. गुण और अलकार पर ही गया। सभी आचार्यो ने अलकार को काव्य का आवश्यक तत्व कहा है। वामन का दृष्टिकोण तो ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। भामह के शब्द और अर्थ के साहित्य तथा वक्रोक्ति के सिद्धान्तो द्वारा उनका अलकार-प्रेम की ओर भी सकेत हुआ है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त पर लिखते हुए इसका और विशेष स्पष्टीकरण किया जायगा। उनके 'अलकार' शब्द मे गुणो का समावेश है, यह भी कह दिया गया है। यहा पर उनके ग्रन्थ से एक दो उद्धरणो द्वारा उनका मन्तव्य और भी स्पष्ट किया जा रहा है। भामह ने कान्ता के सुन्दर मुख का सौन्दर्य भी अलकारो से ही माना है। इसी प्रकार कविता मे भी वे अलकारो को आवश्यक समझते है।[2] दडी ने गुणो को अधिक प्रधानता दी है, पर उन्होने भी काव्य मे अलकारो की उपस्थिति आवश्यक मानी है। यह उन्होने अपने 'काव्यादर्श' मे महाकाव्य पर विचार करते हुए कहा है।[3] दडी के 'काव्यादर्श' मे गुणो का विशद विवेचन है,इससे भी गुणो की महत्ता प्रतिपादित हो जाती है। वे काव्य मे स्वल्प दोष भी अक्षम्य समझते है।[4] इसके द्वारा भी गुणो का ही अगीत्व स्पष्ट होता है। वामन ने तो शब्द और अर्थ का प्रयोग भी गौण माना है। उनके मत मे इन्ही पदो के प्रयोग से ही गुण और अलकार का ग्रहण हो जाता है।[5] 'अग्नि पुराण' मे अलकार, गुण और दोष-राहित्य काव्य के

---

१ "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्,' "सौन्दर्यमलंकार', "सदोषगुणालंकार हानादाना • भ्याम्" काव्यालंकार सूत्र।

२ न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। काव्यालंकार १। १३

३ 'अलंकृतमसंक्षिप्तम्।" काव्यादर्श। १।१८

४ तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपु सुन्दरमपि श्वित्रेण केन दुर्भगम्॥ काव्यादर्श १।७

५ काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो ऽत्र गृह्यते॥ काव्यालकार सूत्र॥

आवश्यक तत्व तो कहे गए हैं, पर प्राधान्य 'रस' को ही दिया गया है। पुराणकार ने स्पष्ट शब्दो मे 'रस' को काव्य का प्राणभूत कह दिया है।[1] भामह और दडी ने रस को इतनी प्रधानता तो नही दी, पर इसकी नितान्त उपेक्षा उन्होने भी नही की है। इन दोनो आचार्यो ने रस को महाकाव्य का आवश्यक तत्व माना है।[2] दंडी एक स्थान पर तो अलकारो को रस का उत्कर्षक कहकर रसवादी के अनुरूप ही उसकी प्रधानता स्वीकार कर रहे है।[3] 'अग्नि पुराण' मे काव्य के जिन तत्वो का ग्रहण हुआ था, उन्हीको ये आचार्य भी स्वीकार कर रहे है। यह बात ऊपर के विवेचन से पूर्णत. स्पष्ट हो गई है। इसीलिए कुछ विद्वान् भामह आदि मे 'अग्नि पुराण' के ही आदर्श का अनुकरण बताते है।

इन आचार्यो ने केवल काव्य के शरीर पर ही विचार किया है। वस्तुत: इस समय तक आचार्य लोग काव्य के शरीर को ही काव्य मानते थे। दडी ने ही 'शरीर' शब्द का प्रयोग करके सर्व प्रथम आत्मा और शरीर के अन्तर की तरफ सकेत किया है। पर यह सकेत अत्यन्त अस्पष्ट है। आत्मा और शरीर की पृथक् सत्ता मानने की विचार-धारा का दर्शन तो सर्व प्रथम वामन मे ही होता है। उन्होने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर काव्य के शरीर और आत्मा का भेद स्पष्ट करने की चेष्टा की है। काव्य की आत्मा के अनुसधान का यह प्रथम प्रयास है। इसमे भी आचार्य ने शरीर के सूक्ष्म रूप को ही आत्मा कह दिया है। रीति, गुण आदि का 'सम्बन्ध 'शब्दार्थ' से ही है और इसलिए ये भी शरीर में ही है। फिर भी वामन ने 'आत्मा' का प्रश्न उठाकर आलकारिको का ध्यान एक महत्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट किया है। दूसरे 'इष्टार्थ' आदि पदों द्वारा पूर्ववर्ती आचार्य सौन्दर्य को काव्य की प्रधान विशेषता कहना चाहते थे। पर उनका चिन्तन इतना स्पष्ट नही हो पाया था। वामन ने इसे 'सौदर्यमलकार:' कहकर स्पष्ट कर दिया। तथा गुण, अलकार आदि को सौदर्य-वृद्धि का हेतु बताकर इस विचार धारा को पर्याप्त पुष्ट भी किया गया। अब काव्य-लक्षण से कविता का स्वरूप और उसका शास्त्र-वाक्यो से भेद अधिक स्पष्ट हो गया। इन आचार्यों के विवेचन मे गुण, अलंकार आदि का ही प्राधान्य है। 'रस' तो इनमे से किसी एक तत्व का अगभूत ही माना गया है। रुद्रट और दन्डी ने अपने विवेचन मे रस को महत्वपूर्ण स्थान भी दिया।[4] दन्डी ने अल-

---

१ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। अग्नि पुराण ३३७।३३।

२ युक्त लोक स्वभावेन रसैश्च सकलै: पृथक्॥ काव्यालंकार १।२१।
रसभाव निरंतरम् काव्यादर्श १।१८॥

३ कार्य सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थं निषिञ्चतु॥ काव्यादर्श १।६२॥

४. तस्मान्तत्कर्तव्य यत्नेन महीयस रसैर्युक्तम्॥ रुद्रट, 'काव्यालंकार'॥

कारों को रस का उत्कर्षक कहा है, यह अभी बताया जा चुका है। इस कार्य में रस की प्रधानता मुक्त कठ से तो स्वीकृत नही हुई, पर इसमें भावी विकास के बीज अवश्य अन्तर्हित है। दडी के शब्दो में भावी विकास की क्षमता के दर्शन होते है। रुद्रट ने काव्य के वर्ण्य-विषय को भी कवि-सृष्टि कहा है और इस प्रकार उस नवीन सिद्धान्त का अनुसंधान हुआ है जो परवर्ती काल में सर्वमान्य हो गया। इस काल की प्रधान विशेषता अलकारो का विवेचन है। इस विवेचन की प्रौढता के कारण सम्प्रदायो का निर्माण होने लगा था। सस्कृत-समीक्षा के विकास में यह काल अस्पष्ट, अव्यवस्थित, अनिश्चित और अप्रौढ विवेचन का युग कहा जाता है। पर इस तथा-कथित प्राथमिक और अप्रौढ विवेचन ने ही भावी प्रौढता को जन्म दिया है। इस काल में ही काव्य के मूल प्रश्नों पर विचार प्रारम्भ हो गया और इसीके फलस्वरूप परवर्ती आनन्दवर्द्धन-जैसे आचार्यों ने सामंजस्य के आधार पर अत्यन्त उत्कृष्ट और प्रौढ विचार-धारा को जन्म दिया। इस प्रकार विकास का यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कतिपय विद्वानो के मत मे ध्वनिकार अर्थात् 'ध्वन्यालोक' के कारिकाकार तथा वृत्तिकार दो व्यक्ति हैं। आनन्दवर्द्धन वृत्तिकार है, इसमें तो मतभेद नही। पर आनन्दवर्द्धन ही कारिकाकार भी है यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। डा० दासगुप्ता इन्हें दो व्यक्ति मानते है।[1] इन दो व्यक्तियों को पृथक मानने के कोई प्रमाण नही हैं। वृत्ति और कारिका मे कही ऐसा कोई मतभेद अथवा अन्य कोई प्रमाण नही है जिसके आधार पर इन दोनो को दो व्यक्ति माना जाय। प्राय: विद्वानो ने ध्वनिकार को आनन्दवर्द्धन कहा है। हम भी यहाँ पर विवेचन की सुविधा के लिये इन दोनों को एक ही मान रहे है। इस निबन्ध में आनन्दवर्द्धन को ही स्थान-स्थान पर ध्वनिकार भी कह दिया गया है।

समीक्षा के क्षेत्र मे आनन्दवर्द्धन के प्रवेश ने क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर दिये। उन्होने प्राचीन तथा समकालीन सभी विचार-धाराओं मे सामजस्य स्थापित कर दिया। 'ध्वन्यालोक' में काव्य की परिभाषा देने का प्रयास नहीं हुआ है। काव्य भी ब्रह्म की तरह शब्दो की परिधि मे नही आ पाता है। वह अभिधा का नहीं, केवल अनुभूति का विषय है। काव्य सहृदय के आह्लाद का कारण है, पर शब्दों द्वारा अभिधेय अर्थ से उसके स्वरूप का विवेचन नही हो सकता। शब्द और अर्थ केवल उसके वास्तविक स्वरूप के व्यंजक हो सकते है; वे उसका व्यंजना द्वारा आभास दे सकते है। व्यजक शब्द और अर्थ के द्वारा कवि के अनुरूप ही सहृदय मे अनुभूति जाग्रत होती है। आह्लाद की यह अनुभूति ही काव्य की आत्मा है। यह आनन्द व्यग्य है, अभिधेय नही; इसीलिये ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है।

---

१. काव्य-विचार : दासगुप्ता।

अपने मत की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये उसे विद्वानों द्वारा सम्मत बताया है।[1] काव्य के स्वरूप को स्वष्ट करने के लिये उन्होंने 'नेति-नेति' वाली पद्धति अपनाई है। अलंकार, गुण, दोष, रीति आदि मे से एक भी वस्तु काव्य नही है। लेकिन इन सबको काव्य मे उपादेयता है। वे सभी काव्य की आत्मा के उत्कर्ष करने वाले है। अलकार के कारण काव्य नही अपितु काव्यत्व से अलकारत्व की प्रतिष्ठा है।[2] जैसे मृत शरीर मे आभूषण अमंगल के वर्द्धक है, वैसे ही रसहीन अथवा ध्वनि हीन काव्य में अलंकार भी भार स्वरूप ही है। आनन्दवर्द्धन ने सहृदय श्लाघ्य अर्थ को ही काव्य की आत्मा कहा है।[3] यह अर्थ अभिधेय नही अपितु प्रतीयमान ही हो सकता है। इस अर्थ की समता उन्होने रमणी के लावण्य से की है।[4] रमणी के अंगो का समूह मात्र लावण्य नही है। वह अंगो से भिन्न कोई वस्तु है। उस लावण्य के कारण ही उसके सब अंग-प्रत्यंग सुशोभित होते है। इसी प्रकार काव्य में भी प्रतीयमान अर्थ के कारण ही सौदर्य है और अलंकार आदि भी इसी के कारण सुन्दर प्रतीत होते है। इस अर्थ की सौदर्य-वृद्धि में ही इनकी उपादेयता है। 'सहृदय को आह्लाद देने वाला शब्दार्थ ही काव्य है।[5] यह लक्षण ध्वनिकार को परम्परा से प्राप्त हुआ होगा। ध्वनिकार का इस लक्षण को समर्थन प्राप्त है। वे अपनी कारिकाओं और वृत्ति में काव्य के इसी स्वरूप की प्रतिष्ठा कर रहे हैं। इसे अधिक स्पष्ट रूप देने का श्रेय भी ध्वनिकार को ही है। सहृदय-आह्लाद का कारण अभिधेय अर्थ नही, अपितु प्रतीयमान है। व्यजना से ही इस आह्लाद की अनुभूति हो सकती है। कवि-हृदय की तीव्र अनुभूति शब्द की व्यंजना-शक्ति का आश्रय लेकर ही सहृदय में अपने अनुरूप अनुभूति जाग्रत कर सकती है। यही कवि और काव्य की सफलता है। इस प्रकार भावानुभूति काव्य नही है। कवि की अनुभूति काव्य का उपादान है तथा सहृदय की रसानुभूति उसका प्राप्तव्य। इन दोनों का सम्बन्ध कराने का हेतु काव्य है। काव्य भी यह कार्य बिना व्यंजना के नहीं कर सकता है। इसीलिये ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा "ध्वनि" मानी है। इस गूढ सत्य का निरूपण परिभाषा या लक्षण की पद्धति में नही हो सकता था इसलिये उन्होंने आदिकवि के

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधै तत्समाम्नात पूर्वम्। ध्वन्यालोक, प्रथम कारिका॥

२. रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगकांगात॥

३. अर्थःसहृदयश्लाघ्यः काव्यस्यात्मा यो व्यवस्थितः। ध्वन्यालोक, द्वितीय कारिका॥

४. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्वन्यालोक॥

५. सहृदयश्लाघ्यादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्॥ ध्वन्यालोक, वृत्तिभाग॥

"मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः" की व्याख्या द्वारा काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा की है। आदिकवि के हृदय शोक का श्लोक बन जाने का तात्पर्य ही उसकी अभिव्यक्ति है। शोक ही श्लोक बन गया था और वही काव्य की आत्मा है।[1] भाव भाषा के अभिधा-रूप में मूर्तिमान नहीं हो सकता। उसकी व्यंजना शक्ति ही पाठक के हृदय में तदनुसार भाव जागृत करने में सक्षम है। डा० शंकरन ने इस कारिका की व्याख्या में 'अभिव्यक्ति' को ही प्रमुखता दी है।[2] प० शालिग्राम शास्त्री के विचार भी इस सम्बन्ध में दर्शनीय है। "भाव" "भावाभिव्यक्ति" के सूक्ष्म भेद की ओर तो उनका ध्यान नहीं गया है। इसीलिये उन्होंने इसकी व्याख्या में "पद्यश्चेद सर्वाङ्गीणतया शोकमेवाभिव्यक्ति। स एव च प्रतीयमानो रसादि काव्यस्यात्मा" कहा है। ध्वनिकार ने "रस-ध्वनि" को काव्य की आत्मा कहा है, रस को नहीं। यह सूक्ष्म निरूपण भी ध्यान देने योग्य है। वैसे "रस" भी व्यंग्य ही है, इसलिये कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। पंडित जी का विश्लेषण 'मा निषाद' की व्याख्या के लिए दर्शनीय है।[3] ध्वनिकार ने लक्षण तो नहीं किया, क्योंकि वे उसे शब्दों की परिधि में लाना नहीं चाहते थे, पर जितना सूक्ष्म, प्रौढ, और प्रामाणिक विवेचन उनका हुआ है, उतना विश्व के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है।

पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों के विवेचन को आत्मसात् करके उसमें सामञ्जस्य स्थापित करने तथा काव्य-स्वरूप के इतने प्रौढ और तर्क-सम्मत निरूपण के कारण ही आनन्दवर्द्धन का स्थान विश्व के आलंकारिकों में इतना उच्च है। संस्कृत-साहित्य के सभी परवर्ती आचार्यों के लिये ये उपजीव्य रहे हैं, यह स्थान-स्थान पर प्रसंगानुकूल स्पष्ट किया जायगा। ध्वनिकार ने "शब्दार्थशरीरं तावत्त्वकाव्यम्" कहकर अलंकार गुण, रीति आदि तत्वों को काव्य का शरीर कह दिया है, और 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा के स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि "ध्वनिकार" आह्लाद को ही काव्य का प्राण मान रहे हैं। उसका स्पष्टीकरण तो "रस-ध्वनि" को प्रमुख मानकर भी कर दिया गया है।[4] लेकिन केवल 'रस' को ही काव्य का

---

१. **काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।**
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्यालोक १/५॥

2. It must be said that the sympathetic expression which was the spontaneous out-flow of the mind over powered by the grief caused by the loss of the inseparable association of the pair of craunch birds would alone constitute the life of poetry.
"The theories of Rasa & Dhvani"

३. **पं० शालिग्राम शास्त्री : साहित्य-दर्पण, पृष्ठ ३० टिप्पणी।**

४. **रसादयो हि द्वयोरपि तयो : "काव्यनाटकयोः" जीवभूत॥ ध्वन्यालोक॥**

सर्वस्व कह देने का परिणाम तो काव्य के क्षेत्र को सीमित कर देना था। रस, ब्रह्मानन्द-सहोदर-आह्लाद के एक विशिष्ट स्वरूप एक स्तर के शास्त्रीय अर्थ मे रूढ हो गया है। अलकार और वस्तु के चमत्कार मे सहृदय को जो आह्लाद मिलता है, उसे आचार्य लोग "रस" नही कहते। पर वह भी काव्यानन्द होने के कारण काव्य की आत्मा ही है। यही कारण है कि उन्होने "वस्तु ध्वनि" और "अलकार ध्वनि" को भी आत्मा बनने का गौरव प्रदान किया है। लेकिन उनके आनन्द का भी पर्यवसान "रस" मे ही होता है।[1] इनकी "ध्वनि" भी आह्लाद का कारण बन कर आह्लाद-स्वरूप रसानुभूति मे परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। इनका आनन्द भी काव्यानन्द ही है और गौरव अर्थ मे उसे भी "रस" कह सकते है। "रस" मे ही इनका पर्यवसान मानकर आचार्य ने इनको रस का उत्कर्षक कह दिया है और इस प्रकार इनको काव्य मे एक निश्चित स्थान भी मिल गया। यह आचार्य की सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति का परिणाम है। "रस" और "ध्वनि" के सिद्धान्त को मान लेने के बाद स्वभावतः एक सिद्धान्त और मानना पडता है। वह भी इनका स्वाभाविक परिणाम है। अथवा यो कहना चाहिए कि उसके अभाव मे इनकी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की भी कल्पना नही की जा सकती। वह है "औचित्य सिद्धान्त"। यही सिद्धान्त रस और ध्वनि का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित कर रहा है। इसका विवेचन आगे किया जायगा। इस प्रकार "ध्वनिकार" ने काव्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, उसका शरीर शब्दार्थ है और आत्मा ध्वनि है। इस ध्वनि मे रस और औचित्य भी समाविष्ट है। ध्वनिकार के विवेचन की मूल भित्ति ही रस, ध्वनि और औचित्य पर टिकी हुई है। "रस" के इस प्राधान्य के कारण परवर्ती आचार्यो ने इस ग्रन्थ को प्रमुख उपजीव्य बनाया और रस को ही काव्य की आत्मा कहा। यद्यपि ध्वनि-कार का अभिप्राय केवल "रस-ध्वनि" को काव्य की आत्मा मानने मे नही रहा, पर उसके विवेचन मे परवर्ती आचार्यो को प्रेरणा देने की पर्याप्त सामग्री है।[2] काव्य-पुरुष की कल्पना भी साहित्य-क्षेत्र में इसी आचार्य की प्रेरणा से

---

१. **तेन रस एव वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनि तु सर्वथा रसं प्रतिपर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ इति अभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामन्येनोक्तम्।**
॥लोचन-व्याख्या॥

2. Neither the Dhvanikar nor Anandvardhan could atleast from the stand point of theoritical consistency explicitly make the suggestion of Rasa the exclusive end of poetry in so much as the unexpressed may in some cases be matter or an imaginative mood, although it can be shown that their views practically tend

हुई है। इसकी मूल प्रेरणा तो ऋग्वेद के वेद पुरुष मे है, पर साहित्य-क्षेत्र का श्रेय इन्हे ही है।

आनन्दवर्द्धन के काव्य- विवेचन का इतना प्रभाव पडा कि महिम भट्ट जैसे प्रतिपक्षी भी उसके 'रस'-सिद्धान्त के समक्ष नतमस्तक हो गए। रस-सिद्धान्त के आदि आचार्य तो भरत है, पर इसको व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी कुन्तु स्वामी ने आनन्दवर्द्धन को ही दिया है।[1] रस तथा औचित्य का विरोध तो कुन्तक और महिमभट्ट दोनो ने ही नही किया। ध्वनिकार से इनका मतभेद तो केवल "ध्वनि" पर ही रहा। 'आत्मा' और 'जीवभूत' शब्दो का प्रयोग तो इतना अधिक बढ गया था कि प्राय सभी आचार्य इसी शब्दमाला मे सोचने लगे थे। प्रतिपक्षी कुन्तक ने भी 'जीवितम्' का ही प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र-जैसे आचार्य ने तो औचित्य को काव्य की आत्मा ही कहा है। कतिपय आचार्य और औचित्य के लिए 'रस' की अपेक्षा स्वीकार नही करते है। पर अभिनवगुप्त ने 'लोचन व्याख्या' मे इनके मत का खंडन किया है। उनका कहना है कि औचित्य शब्द में किसी की दृष्टि से उचित होने का अर्थ सन्निहित है और वह 'रस-दृष्टि' ही हो सकती है।[2] उनकी यह आलोचना समीचीन और तर्क-सम्मत है। अभिनव गुप्त ने 'आत्मा' और 'जीवभूत' इन शब्दों का प्रयोग किया है, तथा 'रस' और 'औचित्य' को क्रमश इन नामो से अभिहित किया है। इसके द्वारा ध्वनिकार के मत का और भी परिष्कार हो गया। एक अव्यवस्था मिट गई और काव्य के सभी तत्वो मे पूर्व सामजस्य स्थापित हो गया।

---

to such a proposition and probably inspire later theorist to workout the thesis that the Rassa alone is the essence of poetry.
—Dr. Raghvan 'Some concepts of Alankar Shastra."

1. The exponent of artistic culture in ancient India arrived at certain well formulated doctrine of Rassa and it was formulated by Anandvardhan High-ways and by-ways of literary criticism in Sanskrit.

२. **उचित शब्देन रसविषयमौचित्यम् भवतीति दर्शयन् रसध्वने. जीवित तत्व सूचयति तदभावे हि किमपेक्षयेद औचित्यम् नाम सर्वत्र उद्‌घोषयतः इतिभावः ॥**
लोचन पृष्ट १३

औचित्यवती जीवितमिति चेत् औचित्यनिबन्धनम् रसभावादि युक्तानान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्तर्मासि मुख्य जीवितमित्यभ्युपगंतव्य न तु सो। एतेन यदाहु केचित् औचित्यघटितसुन्दरशब्दार्थमये काव्येन किमन्येन ध्वनिनाआत्माभूतेन कल्पितेन इति स्ववचनमेव ध्वनिसद्‌भावाभ्युपगमम् साक्षीभूतम् अमन्यमाना प्रयुक्ताः ॥ । लोचन, पृष्ठ २०८ ।

ध्वनिकार के प्रतिपक्षियो मे कुन्तक का मत भी विचारणीय है। उन्होने अपनी परिभाषा मे काव्य के कई सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण किया है। कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को ही काव्य का सर्वस्व माना है, यह उनके 'जीवितम्' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के मतो की आलोचना करते हुए उन्होने अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। वे केवल शब्द या अर्थ को काव्य नही मानते। उन्होने दोनो के समन्वय अर्थात साहित्य को ही काव्य माना है। उन्होने कहा है: "शब्दार्थौ काव्य-वाचकौ वाच्यम् चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। तेन यत्केषाचिन्मत ''शब्द एव केवलं काव्यमिति केषाचित् वाच्यमेव'' पक्षद्वयमपि निरस्त भवति।"[1] 'न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्व नाप्यर्थस्येति।[2] जिस शब्द और अर्थ के समन्वय मे अर्थ की वक्रता है, भगिमा है, वही काव्य है। कुन्तक स्वाभावोक्ति और वार्ता को काव्य नही मानते। उन्होने वैचित्र्य, वक्रता भगिभणिति, और मनोजत्व को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है। वक्रता को स्पष्ट करते हुए "शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थीय निबन्ध व्यतिरेक"[3] कहा है। आचार्य ने वक्रता को कवि-व्यापार-सभव और आह्लाद-कारी माना है। इस प्रकार वक्रोक्तिकार को काव्य के मुख्य तीन तत्व मान्य है, वक्रता, कवि-व्यापार और आह्लाद।[4] वक्रता का एक-मात्र मानदण्ड सहृदय का आह्लाद है। इस आह्लाद का स्वरूप लोकोत्तर है जो व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना से सर्वथा मुक्त है। यह पार्थिव जगत् का ऐन्द्रिय अथवा अभाव-पूर्ति का आनन्द नही है, अपितु रसानुभूति ही है। इसकी लोकोत्तरता सहृदय के सत्वाविष्ट होकर काव्यानन्द प्राप्त करने मे ही है, न कि अनुभव की अलौकिकता अथवा स्वर्गीयता मे। इसे अलौकिक तो इसलिए कहते है कि यह आनन्द लौकिक आभास-विपयात्मक से भिन्न है। इसमे व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता का अभाव है। काव्य की भावनाए मानव-मात्र की है। इस काव्यानन्द का कारण ही दृष्टा का सत्वाविष्ट होकर अपने योगक्षेम से दूर हो जाना है। प्राचीन आचार्यो ने इस सारे व्यापार को 'साधारणीकरण" के नाम से अभिहित किया है। वक्रोक्तिकार का काव्यलक्षण तो परवर्ती आचार्यो को मान्य नही हुआ, ध्वनि ने विशद विवेचना द्वारा उसे अपने मे आत्मसात् कर लिया। लेकिन कुन्तक के विवेचन से काव्य के जिन तत्वो का स्पष्टीकरण हुआ है, वे किसी न किसी रूप मे परवर्ती आचार्यों द्वारा ग्रहण कर लिए गए। साधारण वार्ता को परवर्ती किसी भी आचार्य ने काव्य नही माना है। आह्लाद ही उसका प्रधान तत्व है, यह तो सर्व-मान्य सिद्धान्त है ही। काव्य सृजन मे कवि-व्यापार ही कारण है। जिस वक्रता को

१ **वक्रोक्ति जीवितम्।**
२ **वही पष्ठ १०।**
३ **वही पृष्ठ १४।**
४ **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनी। बन्धे व्यवपस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥ कुन्तक. वक्रोक्ति जीवितम् १।७**

कुन्तक ने आह्लाद का कारण कहा है, वह कवि-प्रतिभा की ही देन है। इससे काव्य-शास्त्र-जगत् को कुन्तक की देन स्पष्ट है।

इस काल मे काव्य के जिन तत्वों का प्रतिपादन हुआ है, वे आज तक मान्य हैं। इस काल के आचार्यो (आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक आदि) ने जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, वह ज्यो-का-त्यों ग्रहण हुआ है। ये ही ग्रंथ आगे के आचार्यों के लिए उपजीव्य है। सस्कृत-साहित्य के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन इसी काल मे हुआ है, परवर्ती प्रतिभा तो इन्ही तत्वो के विशद विश्लेषण में लगी रही। इसका यह तात्पर्य नही है कि सस्कृत-साहित्य का विकास रुक गया था। आगे के आचार्यों ने रस आदि अनेक तत्वो पर प्रौढ विचारधारा को जन्म दिया है। पडितराज और मम्मट की देन नगण्य नही मानी जा सकती।

इस काल के आचार्यो के उपरान्त काव्य का लक्षण देने की एक परम्परा सी हो गई। बाद के प्रायः सभी आचार्यो ने काव्य के लक्षण दिये है। पर इनमें से केवल तीन ही आचार्यो (मम्मट, विश्वनाथ और पडितराज) की परिभाषायें विशेष उल्लेखनीय है। अन्य लक्षण या तो इनके अनुकरण-मात्र है अथवा वे उनके परिमार्जन के परिणाम है। आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती भोज ने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' मे यद्यपि काव्य की परिभाषा देने का तो प्रयास नही किया है, पर उन्होंने काव्य के स्वरूप वर्णन मे जो कुछ लिखा है उससे उनका काव्य-लक्षण सम्बन्धी मन्तव्य स्पष्ट है।[1] आचार्य हेमचन्द्र, विद्यानाथ प्रभृति आचार्य, जो मम्मत के पवर्ती हैं, और प्रभृति वे 'काव्य प्रकाश' के काव्य लक्षण का ही अनुकरण कर रहे है।[2] इनमे से कुछ ने तो केवल गुण, दोष, अलंकार के आधार पर ही काव्य की परिभाषा दी है। जयदेव के काव्य-लक्षण मे इन तत्वो का परिगणन-मात्र है।[3] वाग्भट्ट ने गुण, अलकार, रीति और रसयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहा है।[4] द्वितीय वाग्भट्ट की परिभाषा तो दूसरे शब्दों मे मम्मट की ही है। आचार्य विश्वनाथ ने भी अपना काव्य

---

१ निर्दोष गुणवत्काव्यमलकारैरलंकृतम्।
रसान्वित कवि. कुर्वन् कीर्तिप्रीतिं च विन्दति॥ सरस्वतीकंठाभरण १।२ ॥

२ अदोषौ सगुणौ सालकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्॥ हेमचन्द्रः काव्यानुशासमम् ॥
गुणालकारसहितौ शब्दार्थौ रोष वर्जित काव्यम् ॥
विद्यानाथः प्रतारुद्र-यशोभूषण ॥

३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालकाररसानेकवृतिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ चन्द्रलोक ॥

४. साधुशब्दार्थसंदर्भम् गुणालंकार भूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेत काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥ वाग्भटालंकार १।८॥

लक्षण शुद्धौदिनी की कारिका पर अधिष्ठित किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन दोनो आचार्यों की परिभाषा कोई नवीन नही। पंडितराज की परिभाषा एक प्रकार से नवीन कही जाती है। सस्कृत-साहित्य में काव्य की परिभाषा की दृष्टि से विद्वानों का ध्यान इन्ही आचार्यों की ओर आकृष्ट होता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ये परिभाषाएँ अपने मे कई शताब्दियो के चिन्तन को छिपाए है। इतने दिन के विवेचन के उपरान्त काव्य का जो स्वरूप निश्चित-सा हो चुका था, काव्य सामान्य के जो तत्व मान्य हो गए थे, उसी स्वरूप की प्रतिष्ठा, उन्ही तत्वो का समाहार, इन परिभाषाओ मे है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ये परिभाषाए भारतीय काव्य-चिन्तन का सार रूप है। इसीलिए काव्य-लक्षण के क्षेत्र में इन्हे भारतीय विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करने का श्रेय प्राप्त है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन तीनो आचार्यों में सर्वप्रथम स्थान मम्मट का है। उनका 'काव्य प्रकाश' उस काल की रचना है जब साहित्य के सभी सम्प्रदाय निर्मित हो चुके थे। सभी विचार-धाराएँ प्रौढ हो गई थी। वास्तव मे यह काल इन विभिन्न विचार-धाराओ और सम्प्रदायो के समन्वय का था। समन्वय का यह प्रयास तो बहुत दिन पहले ही प्रारम्भ हो गया था। पर मम्मट में ही इसके स्पष्ट दर्शन होते है। डा० दे के अनुसार तो हम इन्हें इस समन्वयवादी सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कह सकते है। आचार्य का यह समन्वयवादी दृष्टिकोण उनकी काव्य-परिभाषा से भी स्पष्ट है। "तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलकृतीपुनः क्वापि" मे काव्य के सभी मान्य तत्वो का समाहार है। इतना ही नही इस परिभाषा मे इन तत्वों के आपेक्षिक सतुलन और महत्व का भी प्रतिपादन हुआ है। पूर्ववर्ती प्राय. सभी आचार्यो ने काव्य-लक्षण में रस, गुण, दोष अलकार आदि का विचार किया है। वास्तव में मतभेद तो किसी एक तत्व को अन्य की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करने मे है। एक तत्व को अन्य की अपेक्षा प्रधान मानना सम्प्रदायो के नामकरण की आधारशिला भी है। मम्मट ने इन तत्वो के महत्व मे जो तारतम्य रखा है, वह अत्यन्त विवेकपूर्ण और तर्कसम्मत है।

इस परिभाषा को अनेक आचार्यो की, आलोचना का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए इसकी अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्याएँ हुई हैं और इसके अभिप्राय के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद भी है। "अदोषौ" शब्द से कुछ आचार्यों ने "च्युत-सस्कृत" आदि प्रबल तथा काव्य-विघटक दोषों का अभिप्राय लिया है। अन्य आचार्यो ने "दोष सामान्य का अभाव" अर्थ लेना उचित समझा है। यद्यपि ऐसा काव्य अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि दोषहीन काव्य की विरलता के कारण ही पहला अर्थ मान्य नही हो सकता। दोष भाव को असंभव कहकर "साहित्य दर्पणकार" ने "अदोषौ" शब्द का प्रयोग अनुचित माना है। इस सम्बन्ध में वामनाचार्य का अर्थ विशेष समीचीन प्रतीत होता है। उन्होने "उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्व" को दोष माना है। वास्तव में दोष

निरपेक्ष वस्तु तो है नही । एक ही वस्तु एक प्रसग में दोष तथा दूसरे में गुण कही जा सकती है। उद्देश्य या प्रतिपाद्य वस्तु की दृष्टि से ही गुण-दोष का निरूपण सभव है। दोष शब्द का यही अर्थ आचार्य मम्मट को भी मान्य है। उन्होने दोषो के विशेष नाम भी गिनाये हैं तथा उनके शब्द, अर्थ और रस की दृष्टि से भेद भी किये है। पर दोष के सामान्य लक्षण मे उनको भी यही मत मान्य है। वे दोष का लक्षण देते हुए लिखते हैं : "मुख्यार्थहतिर्दोषो" अर्थात् मुख्यार्थ मे अपकर्ष का हेतु ही दोष है। जिससे व्यग्य या वाच्य के वैचित्र्य मे बाधा उत्पन्न हो, उसकी प्रतीति स्पष्ट न हो, वैचित्र्य के आस्वाद की हानि हो, वही दोष है। इसीलिए प्रभा, प्रदीप आदि टीकाओ ने विशिष्ट दोषहीन तथा रस-वैचित्र्यमय काव्य को केवल सामान्य दोष के कारण अकाव्य नही माना है।

आचार्य मम्मट गुणो को रस के नित्य धर्म मानते है। वे रस के उत्कर्षक, अव्यभिचारी और अचल है। "सौगुणौ" को काव्य के लक्षण मे स्थान देकर उन्होने काव्य के प्रधान तत्व रस का निर्देश कर दिया है। लेकिन स्वयं आचार्य और उनके टीकाकारो ने यह भी स्वीकार किया है कि गुण रस-व्यंजक शब्दार्थ के भी परम्परा से धर्म है। इस प्रकार "शब्दार्थौ" का "सगुणौ" को विशेषण बनाकर अपनी परिभाषा को आचार्य ने व्यापक कर दिया है। इससे नीरस स्थलों में भी काव्यत्व की अव्याप्ति नही होती। आचार्य-परम्परा अलकार और वस्तु-ध्वनि को भी काव्य मानती आई है, इसलिए "सगुणौ" के स्थान पर "सरसौ" का प्रयोग इन सालकार या वस्तु-वैचित्र्य वाले स्थलो को अकाव्य मानने के अतिरिक्त और कुछ नही होता।

इस परिभाषा के आलोचको का ध्यान सबसे अधिक "अनलकृती पुनः क्वापि" के अभिप्राय की व्याख्या पर गया है। इस पद के अभिप्राय मे पर्याप्त मतभेद भी है। विवरणाकार का कहना है कि आचार्य का "अनलकार" पद से भी सालकार का ही अभिप्राय है। नरसिह ठक्कुर आदि "नञ्" का अर्थ "ईषत" या 'अस्फुट" लेते है। अतः उनके मत में 'अनलंकार' का अर्थ 'अलकार शून्य' नही अपितु 'ईषत्' अथवा 'अस्फुट' अलंकार सहित है। इस प्रकार इनको इस पद का अर्थ सालकार ही मान्य

। प्रदीप, उद्योत आदि टीकाओं को भी यही थोड़े से परिष्कार के साथ मान्य है। उनका कहना है कि आचार्य का अभिप्राय काव्य को सर्वत्र सालकार मानने में ही है, पर अगर कही-कही अलकार अस्पष्ट भी हो तो वहा भी काव्यत्व की हानि वे नही मानते। अस्पष्ट अलंकार वाले स्थल को काव्य मानने से यह भ्रम भी हो सकता है कि आचार्य नीरस और अस्फुट अलकार वाले स्थल को भी अकाव्य नही मानते। लेकिन इस मत का निराकरण स्वय टीकाकार ने ही कर दिया है। गम्भीर विचार से यह स्पष्ट भी हो जाता है कि वस्तुतः आचार्य का यह अभिप्राय भी इसमें नही है। काव्य में चमत्कार के दो ही हेतु हैं, रस और अलकार। चमत्कार ही काव्य के प्राण

है। यही भारतीय आचार्यों का अभिमत है। इसलिए प्रदीपकार का यह तर्क ठीक है कि केवल अस्फुट अथवा अलकार-हीन स्थल को काव्य कहना आचार्य को अभिप्रेत है नही। काव्य के लिये "सालकारत्व" या "रसत्व" मे से एक की तो आवश्यकता है ही।

"शब्दार्थौ" का लक्षण मे सन्निवेश करने के कारण पडितराज ने मम्मट की कटु लेकिन निस्सार आलोचना की है। इस पद का प्रयोग भारतीय परम्परा की अक्षुण्णता और काव्य-स्वरूप के निरूपण की वास्तविकता के लिये आवश्यक था। काव्य मे शब्द और अर्थ का समान ही महत्व है। इन दोनो के समन्वय को ही साहित्य कहते है। साहित्य शब्द की व्याख्या मे भोज तथा कुन्तक ने इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है।[1] कुछ आलोचको के मन मे 'शब्दार्थ' पद के प्रयोग से इस लक्षण में काव्य के अनेक उपादानो तथा सब प्रकार के काव्यो का समावेश हो गया है। उनका कहना है कि शब्द से वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक शब्द तथा अर्थ से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का ग्रहण हो गया है। इस प्रकार वे इसी से रस, रसाभास, भाव, भावाभास, अलंकार और वस्तु-ध्वनि को काव्य मे अन्तर्भाव का सकेत मानते है।[2] आचार्य को काव्य के उक्त तीन भेद, काव्य मे रस की प्रधानता, रस, वस्तु और अलकार-ध्वनि मे तारतम्य आदि सिद्धान्त मान्य है। उन्होने अपने ग्रन्थ मे इनका विशद विवेचन भी किया है, पर इसी लक्षण में इतने सारे का निर्देश समझ लेना केवल बाल की खाल खीचना है। ऐसा अन्य किसी प्राचीन व्याख्याता ने नही माना है। दोष-रहित तथा गुण और अलकार-सहित शब्दार्थ अर्थात गुण, अलंकार आदि से जनित शब्द और अर्थ का साहित्य अथवा अलंकार, गुण और रस मे परिणत और अभिव्यक्त होता हुआ शब्दार्थ का साहित्य ही काव्य है; कही-कहीं अलकार अगर अस्पष्ट भी हो तो भी काव्यत्व की हानि नही; वस्तुतः लक्षण से इतना ही तात्पर्य निकलता है।

"सगुणौ" तथा "अलकृती पुन क्वापि" की विभिन्न व्याख्याओ के आधार पर वामनाचार्य ने छ प्रकार के काव्य बताये है—१, सरस तथा स्फुट अलकार सहित, २. सरस तथा अस्फुट अलंकार-सहित, ३ सरस तथा अलकार-शून्य, ४. नीरस तथा स्फुटालकार-सहित, ५ नीरस तथा अस्फुट अलकार-सहित, ६. नीरस तथा अलकार-शून्य। इनमे से प्रथम द्वितीय, चतुर्थ तथा पचम मम्मट के मत मे यथार्थ काव्य है। प्रथम चार को तो प्रदीपकार ने भी काव्य माना है। इसमे छटा तो किसी भी व्याख्याता की दृष्टि से काव्य नही हो सकता। रस और अलकार दोनो तत्वो के अभाव मे उसमे काव्यत्व का कोई हेतु ही नही रह जाता। प्रथम, द्वितीय, और चतुर्थ

---

१. डॉ० राघवन, 'शृङ्गार प्रकाश'।

२. संस्कृत-साहित्य का इतिहास भाग २।

निर्विवाद रूप से काव्य है। प्रश्न केवल तृतीय और पचम का है। इन्ही दो के बारे मे मतभेद भी है, पचम को काव्य मानकर मम्मट चित्र-काव्य मे काव्यत्व की अव्याप्ति का परिहार कर रहे है। सूक्ति-मात्र के लिये भी काव्य शब्द का प्रयोग होता है, यद्यपि यह गौण प्रयोग है। पर सरस तथा अलकार शून्य स्थल को काव्य न मानने मे आचार्य का क्या अभिप्राय है ? काव्य का प्राण चमत्कार तो वहा पर रस रूप से अवस्थित है ही और अलकार को वे रस का नित्य धर्म मानते ही नही। फिर उसे अकाव्य कहने का कारण क्या है ? इस प्रकार विवेचन करने पर आचार्य के ही दृष्टिकोण की गूढता का अनुमान किया जा सकता है। दो प्रश्न है : पहला, क्या वे अलकार को काव्य मे नितान्त आवश्यक मानते है, चाहे वह अस्पष्ट ही हो ? दूसरा, क्या वे सरस काव्य मे अलकार-शून्यता ही स्वीकार नही करते ? प्राय. सभी टीकाकारो ने अलकार को काव्य का आवश्यक तत्व माना है। यह तो ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है ही। इस दृष्टि से सरस काव्य भी अलकार-शून्य नही हो सकता है। इस लिये ये दोनो दृष्टि-कोण मूलत: एक ही वस्तु को प्रकाशित कर रहे है। सरस और अलकार शून्य स्थल को अकाव्य कहकर उन्होने सरस स्थल मे अलकाराभाव की असभावना को व्यक्त किया है। इससे आचार्य के अलकार सम्बन्धी दृष्टिकोण की विशदता स्पष्ट होती है। वे अलकार को केवल कतिपय भेदो मे ही सीमित नही समझते है। उनके मन मे उक्ति वैचित्र्य ही अलकार है। इसलिए अगर किसी वैचित्र्य का स्पष्ट नामकरण न भी हो तब भी उसका अलकारत्व अस्वीकृत नही किया जा सकता। "रस" व्यग्य है, इसलिए उसे उक्ति-वैचित्र्य का आश्रय लेना ही पडता है, काव्य की भाषा सामान्य भाषा से भिन्न होती है, उसमे वक्रता अनिवार्य है। इस प्रकार अलकार का विशद अर्थ लेने पर सरस स्थल नितान्त अलकार शून्य नही हो सकता है। इस भेद को अकाव्य कहकर आचार्य ने अपने अलकार सम्बन्धी दृष्टिकोण की व्यापकता स्पष्ट कर दी है।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती बहुत से आचार्यो के काव्य लक्षणो की आलोचना करते हुए अपना क्षलण दिया है। यह आलोचना कही-कही कटु आक्षेपो का रूप धारण कर गई है। 'काव्य प्रकाश' के काव्य लक्षण की जो आलोचना की गई है, उसकी निस्सारता की ओर पहले भी सकेत किया जा चुका है। परिभाषा के पदो का मनमाना अर्थ लगाकर आलोचना नही की जाती। लेखक को पदो का जो तात्पर्य अभिप्रेत है, उसके अनुसार आलोचना की जानी चाहिए। जैसा हम देख चुके है कि विश्वनाथ ने "अदोषौ सगुणौ" और "अनलकृती" पदो का वही अर्थ नही लिया है,

१ आगे हम सालंकार स्थलों के काव्यत्व के सम्बन्ध मे अन्य आचार्यों के मतों का भी विवेचन करेंगे।

जो मम्मट को अभिप्रेत है। विश्वनाथ के ये कठोर प्रहार विशेषत: मम्मट पर ही पड़े है, पर इनसे ध्वनिकार और वामन भी बच नही सके है। ध्वनिकार मे उन्होने 'वदतोव्याघात' दोष देखा है। कुन्तक की परिभाषा उन्हे इसलिए मान्य नही कि 'वक्रोक्ति' एक अलकार है, तथा अलकार व्यभिचारी और अनित्य है। वे तो केवल काव्य की शोभा बढाने वाले मात्र है। 'वक्रोक्ति' का इतना परिमित अर्थ कुन्तक को मान्य नही है, इसका थोडा निर्देश पहले किया गया है। वक्रोक्ति के वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण आगे और भी विशदता पूर्वक किया जायगा। इतने व्यापक अर्थ वाली वक्रोक्ति को केवल अलकार मात्र मानकर काव्य लक्षण की आलोचना करना उचित नहीं। कुन्तक के गम्भीर विवेचन की अवहेलना करके उन पर आक्षेप किया गया है। इस लपेट मे भोज भी आ गए है। भोज की परिभाषा मे प्राय: सभी तत्वो का समावेश है और इस प्रकार उन्होने सब मतो मे सामजस्य स्थापित किया है। मम्मट की परिभाषा भोज की परिभाषा का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार जो दोष मम्मट के लक्षण मे है वे ही भोज की परिभाषा मे भी है। रीति अग सघटन रूप है, इसलिए उसका सम्बन्ध आत्मा मे नही, शरीर से है। रीति को आत्मा कहने वाले वामन का मत भी विश्वनाथ की दृष्टि मे तर्क सम्मत नही है। ध्वनि मात्र को काव्य मानने से व्यजनापूर्ण साधारण (रसहीन) उक्तिया भी काव्य हो जायगी और यह आचार्यो को अभिमत नही है। "वस्तु ध्वनि" वाले स्थलो को "रस" के या रसाभास के कारण काव्य माना गया है। इस प्रकार उन्होंने ध्वनि मात्र को काव्य मानने के सिद्धान्त का खडन कर दिया है। दूसरे उन्होने ध्वनिकार की द्वितीय कारिका के आधार पर उनमे "वदतोव्याघात" का दोष भी देखा है। इसमे "वाच्यार्थ" को भी काव्य की आत्मा कहा गया है, इसलिए "काव्यस्यात्माध्वनिरिति" से स्पष्ट विरोध है। इसका उपयुक्त उत्तर प० शालिग्राम शास्त्री ने अपनी 'साहित्य दर्पण की टीका' मे दिया है।[1] प्रथम कारिका मे "समाम्नातपूर्व्व" से यह भी स्पष्ट हो गया है कि आचार्य प्राचीन मत को उद्धृत कर रहे है। द्वितीय कारिका मे भी प्राचीन मत ही उद्धृत है। प्रथम के साथ "बुधै" का प्रयोग करके आचार्य ने इस मत को स्वीकार कर लिया है। लेकिन दो प्राचीन मतो के उद्धरणो के अन्तर पर आचार्यो मे वदतो-व्याघात देखना कहाँ तक उचित है ?

जैसा पहले कहा जा चुका है कि 'साहित्य-दर्पण' की परिभाषा नवीन नही है। शुद्धोदिनी के काव्य लक्षण "काव्य रसादिभवद्वाक्य" के आधार पर "वाक्य रसात्मकं काव्यम्" कहा है। इन दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही है। प्रथम लक्षण में 'रसादि' से अलकार वस्तु आदि का भी ग्रहण हो गया है, विश्वनाथ ने "रस" को इतना

---

२ 'साहित्य दर्पण' पृष्ट २८-३०

प्राधान्य दिया है कि वस्तु और अलंकार वाले स्थल अकाव्य हो जाते है। परिभाषा के शब्दो के आधार पर यह आलोचना ठीक प्रतीत होती है। पर सभवत: स्वय आचार्य ने इस आलोचना की पहले से कल्पना कर ली थी। इसलिए उन्होने काव्य की व्याख्या में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। वहा पर रस केवल शास्त्रीय अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। उन्होने "रस्यते इति रस" कहा है। आगे भाव भावाभास आदि का भी इसीमे समावेश हो जाने का निर्देश किया है। क्या आदि शब्द से वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का ग्रहण आचार्य को अभिप्रेत नही? आचार्य ने काव्य भेदो मे इन्हे स्थान दिया है, इसलिए इन्हे अकाव्य तो वे नही मानते। हा, इन्हें आत्मा का स्थान देना उचित नही समझते। इन स्थलो के लिए काव्य का गौण प्रयोग ही उन्हे अभिप्रेत प्रतीत होता है।

पडितराज का काव्य-लक्षण नवीन तथा मौलिक है। सबसे पहली मौलिकता तो यह है कि आचार्य-परम्परा शब्द और अर्थ दोनो को काव्य मानती आई थी और उन्होने केवल शब्द को ही काव्य कहा। वे शब्दार्थ को काव्य मानने का खण्डन करते है और प्रश्न करते है कि शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् काव्य माने अथवा दोनो को मिलाकर। इस प्रकार उन्होने दोनो पक्षो को ही दूषित कह दिया है। एक ही पद्य मे दो काव्य मानना अथवा दो का एक मानना ये दोनों ही ठीक नही। वास्तव मे पडितराज का यह तर्क बाल की खाल खीचना-मात्र है। इसीलिए उनके व्याख्याता नागेश भट्ट ने उसका कोई खडन नही किया। आगे पडितराज शब्द को ही काव्य मानने के पक्ष मे गम्भीर तर्क देते है। उनका कहना है कि वेद, पुराण आदि की तरह काव्य को भी शब्द ही मानना चाहिए। दूसरे लौकिक व्यवहार मे "काव्य सुना" का प्रयोग होता है, जिसका सम्बन्ध शब्द से ही है, अर्थ से नही। इसका उत्तर नागेश भट्ट ने दिया है। भट्ट जी का कहना है कि जैसे "काव्य सुना" लौकिक व्यवहार है वैसे ही "काव्य समझा" भी है। जिस प्रकार सुनना जैसे शब्द का ही होता है वैसे ही समझना केवल अर्थ का होता है, इसलिए अर्थ को ही काव्य क्यो न मान लिया जाय। इस तर्क का अभिप्राय पडितराज के तर्कों की निस्सारता दिखानामात्र है; अर्थ ही काव्य है, ऐसे किसी सिद्धात का प्रतिपादन नही। वेद, इतिहास, पुराण आदि के लक्षणो मे शब्द अथवा अर्थ का प्राधान्य है। काव्य का उन शास्त्रो से भेद ही इस आधार पर किया गया है कि जहाँ वेदादि में शब्द की प्रधानता है, पुराणादि में अर्थ की वहाँ पर काव्य मे शब्द और अर्थ के समन्वय की प्रधानता है। दूसरे वेद को भी शब्द और अर्थ दोनो माना गया है। नागेश ने इसके प्रमाण मे महाभाष्यकार पतजलि को उद्धृत किया है। "तदधीत तद्वेद" की व्याख्या मे वेद को शब्द और अर्थ दोनो कहा गया है।

पंडितराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट की आलोचना करते हुए लिखा है

कि काव्य-लक्षण मे गुण, अलकार अथवा दोष का विचार करना ठीक नही। गुण और अलकारो की सख्या निश्चित नही है। अनिश्चित वस्तु के आधार पर काव्य का लक्षण देना उचित नही। लेकिन इस तर्क का खडन तो स्वय पडितराज ने ही कर दिया है, रस के धर्म होने के कारण गुणो का तथा शोभाकारक होने के कारण अलकारो का अनुगमन पडितराज को मान्य है। इसलिए ये उनकी दृष्टि से भी अनिश्चित नही। उन्होने 'काव्य-प्रकाश' के लक्षण का खडन करते हुए "उदित मडल विधो" का उदाहरण दिया है। इसके व्यजित अर्थो का भी स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि गुण और अलकार के अभाव मे उस उक्ति को अकाव्य नही कह सकते। मम्मट ने गुणो को रस का नित्य धर्म माना है। इसलिए अगर इस उक्ति मे ध्वनि के कारण हृदयस्पर्शिता है तो कोई गुण भी है ही। 'प्रसाद' गुण मानना कोई अनुचित नही है। पडितराज ने "अदोषौ" पद का विरोध करते हुए कहा है कि सदोष स्थल भी काव्य ही माना जाता है। पर यहा पर भी पडितराज ने मम्मट के मन्तव्य को बिना समझे ही आलोचना की है। काव्य-प्रकाशकार "ईषत्" दोष के कारण किसी उक्ति का अकाव्य नही मानते। दोष की परिभाषा ही उन्होने "मुख्यार्थहतिर्दोषो" दी है। अभीप्सित वैचित्र्य की व्यजना न होने पर वह स्थल काव्य नही होगा, और उसके लिए भी काव्य शब्द का प्रयोग होता है वह औपचारिक ही माना जायगा।

सहित्यदर्पणकार की परिभाषा मे पडितराज ने अव्याप्ति दोष देखा है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानने से वस्तु-वर्णन तथा केवल अलकार वाले स्थलों के काव्यत्व का खण्डन हो जाता है, पडितराज केवल परम्परा सम्बन्ध के कारण इन्हें काव्य मानना नही चाहते। इस प्रकार काव्य मानने से तो कोई भी वाक्य काव्य हो सकता है। विभाव, अनुभावादि मे से किसी एक से तो उसका सम्बन्ध स्थापित किया ही जा सकता है और इस प्रकार परम्परा से उसका रस से भी सम्बन्ध हो ही जायगा। ऐसे सम्बन्ध-मात्र से काव्यत्व मानना उचित नही। पडितराज ने इन आचार्यो के काव्य-लक्षणो को दुष्ट कहकर फिर अपना लक्षण दिया है। "रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्" केवल शब्द को ही काव्य मानने पर भी आचार्य अपने लक्षण मे अर्थ की अवहेलना नही कर सके है। इस परिभाषा की सबसे बडी विशेषता तो "रमणीयता" के सन्निवेश मे है। सौन्दर्य, चत्मकार और आह्लाद—ये तीनों तत्व आचार्यो को मान्य रहे हैं, पर पडितराज ने इन तीनो का समाहार इसी एक शब्द मे कर दिया है। किसी अर्थ या वस्तु के ज्ञान के बार-बार अनुसन्धान से जो अलौकिक आह्लाद [1]

१ रमणीयता प्रतिपादक. शब्द काव्य। रमणीयताम् च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगत चमत्कारपर्याय अनुभव साक्षिकोजाति विशेष:

मिलता है उसका हेतु ही रमणीयता है। ऐसे ही रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द पण्डितराज के मत मे काव्य है। इस आह्लाद को लौकिक आनन्द से पृथक् बताते हुए उन्होने एक उदाहरण दिया है। उनका कहना है, "तुम्हारे लडका हुआ है" इस वाक्य को सुनकर जो आनन्द होता है, वह लौकिक है। काव्यानन्द की अलौकिकता वैयक्तिक योगक्षेम की भावना से ऊपर होने मे है। वह सासारिक आनन्द से इसी रूप में भिन्न है। और यही उसकी अलौकिकता है। यह शुक्ल जी के शब्दो मे हृदय की मुक्तावस्था है।

सस्कृत के विद्वानों तथा अलंकार-शास्त्र के व्याख्याताओ ने इन तीनो परिभाषाओ मे से आचार्य मम्मट की परिभाषा को ही अधिक पूर्ण और निर्दोष बताया है। प्रभा, प्रदीप, उद्योत आदि टीकाकारो के अतिरिक्त 'रस गगाधर' पर टीका करने वाले नागेश भट्ट ने भी इस लक्षण को "अनुपहसनीय" कहा है। लक्षण मे मान्य सभी तत्वो का निर्देश होने के कारण निस्सन्देह यह अधिक सरल और व्यावहारिक है, गुणो का रस से नित्य सम्बन्ध और "सगुणत्व" काव्य का अनिवार्य तत्व मान लिया गया है, इससे काव्य मे आनन्द और हृदयस्पर्शिता की उपस्थिति भी अनिवार्य हो गई है। 'सगुणौ' पद मे एक तरफ तो काव्य की आत्मा 'रस' की उपस्थिति अपरिहार्य मान ली गयी है, दूसरी तरफ काव्य को 'रस' तक ही सीमित मानने की प्रवृत्ति का भी खन्डन होगया है। "शब्दार्थौ" पद में काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष का सामजस्य आचार्य को अभिप्रेत है। इस परिभाषा की सबसे बडी विशेषता तो इसकी व्यवहारोपयोगिता है। इन परिभाषाओ मे अपनी-अपनी विशेषताए है। यद्यपि अतिम दो काव्य-लक्षण सस्कृत के विद्वत्समाज में मम्मट की परिभाषा के समान आदृत नही हुए। इसका मूल कारण तो विश्वनाथ और पडितराज की अन्य परिभाषाओं की कटु आलोचना है। इनकी इस आलोचना के कारण परवर्ती विद्वानो ने भी इन परिभाषाओ पर कठोर आलोचना की दृष्टि डाली। इसलिये दुर्भाग्य से किसी सहृदय समालोचक ने इसकी विशेषताओं का उद्घाटन भी नही किया। आधुनिक विद्वानो में इस लक्षण का आदर हो रहा है।

आचार्य विश्वनाथ के लक्षण में सबसे बडा दोष तो अव्याप्ति का ही माना गया है। केवल रसात्मक स्थलो को काव्य मानने से वस्तु और अलकार के चमत्कार वाले स्थल अकाव्य हो जाते हैं। लेकिन जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि यह आलोचना आचार्य के दृष्टिकोण को पूर्णत: ग्रहण न करने के कारण हुई है। रस से उनका तात्पर्य केवल शास्त्रीय रस से नही है। जो स्थल सहृदय को तल्लीन कर सके, उसको आह्लाद का आस्वाद करा सके, वही स्थल रसात्मक है। जिन स्थलों में सहृदय के हृदय को स्पर्श करने की थोडी-सी भी क्षमता है, जो स्थल पाठक को अपनी संकुचित वैयक्तिकता से लोक सामान्य की भाव-भूमि पर उठा सकते है, उन्हें चमत्कृत

और आनन्दित कर सकते है, वे सब स्थल काव्य है। फिर चाहे इस चमत्कार या आह्लाद का कारण रस है या वस्तु अथवा अलकार। हा केवल बुद्धि को चमत्कृत करने वाली पद्यबद्ध रचना इस लक्षण के अनुसार काव्य नही कही जायगी। और उन्हें काव्य कहने मे या तो आचार्यों का अभिप्राय ही नही है अथवा यह काव्य शब्द का केवल औपचारिक प्रयोग-मात्र है। "वाक्यं रसात्मक काव्यम्" में बहुव्रीहि समास के कारण वाक्य शब्द का प्राधान्य हो गया है। इसी पर उनके आलोचको ने इस लक्षण के लिये "विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास बानर" कहा है। विश्वनाथ द्वारा 'काव्य-प्रकाश' के लक्षण को की गई कटु और सराहनीय आलोचना का उत्तर देने के अभिप्राय से तो ठीक है, पर सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से यह आलोचना केवल कटु आक्षेप-मात्र ही कही जा सकती है। 'मम्मट' भी 'सगुणौ' को नही अपितु 'शब्दार्थौ' को ही काव्य कह रहे है। पंडितराज भी 'शब्द' को ही काव्य कहते है। इसका यह तात्पर्य तो नही कि उनका सरम्भ अर्थ की रमणीयता अथवा सगुणो मे नही। ये विशेषण ही तो काव्य को शास्त्र से पृथक कर रहे है, इसलिये इन्ही की प्रधानता है। जिस माध्यम से रस की अभिव्यक्ति और चर्वणा होती है वही तो कला अथवा काव्य है, और काव्य मे वह माध्यम 'वाक्य' ही है। रसानुभूति अथवा लोकोत्तर आह्लाद का कारण तो नाद, नृत्य, चित्र आदि भी है, पर इन्हें काव्य नाम से अभिहित नही करना है। लक्षण की व्याप्ति सगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओ मे न चली जाय, इसी उद्देश्य से आचार्य ने 'वाक्य' शब्द का प्रयोग किया है और यह समीचीन है। रसपूर्ण वाक्य ही काव्य है, रस नही। इसी से मम्मट ने 'शब्दार्थ' को तथा पडितराज ने शब्द को काव्य कहा है।

यहा पर यह याद दिला देना अप्रासगिक नही है कि काव्य में 'रस' के प्राधान्य को स्पष्टतया कोई भी अस्वीकार नही कर सका है। वामन, दण्डी आदि अलकार-वादी आचार्य भी काव्य मे रस का महत्व स्वीकार करते है, यह पहले दिखाया जा चुका है। भरत तो रस के आदि आचार्य ही है। कुन्तक, महिमभट्ट आदि आचार्यों का मतभेद भी रस-सिद्धान्त पर नहीं है। ध्वनिकार और अभिनय गुप्त ने तो स्पष्ट शब्दो मे 'रस' का प्राधान्य घोषित किया है। उन्होने वस्तुत: काव्य की आत्मा 'रस' ही मानी है, वस्तु और अलकार तो रस के सहायक है। उनको आत्मा कहना तो केवल गौण प्रयोग-मात्र है।[1] अभिनव गुप्त ने औचित्य के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुये भी रस के प्राधान्य का प्रतिपादन किया है।[2] इस पर इसी अध्याय मे पहले-पहले विशद

१ रसोदयो हि द्वयोरपि तयो: काव्य-नाटकयो: जीवभूत:"—ध्वन्यालोक:।
तेन रस एव वस्तुत: आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनितु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्यते।
—'लोचन'।

२. उचित शब्देन रस विषयमौचित्यं भवतीति। —'लोचन'।

रूप मे विवेचन किया जा चुका है। यहा पर प्रसगवश इसका निर्देश भर करना पड़ा है। भोज ने अपने काव्य लक्षण मे भी 'रस' को स्थान दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पहली कई शताब्दियो के चिन्तन ने भारतीय समीक्षा पद्धति मे रस को जो स्थान प्रदान कर दिया था, उसके कारण "रस" शब्द को लक्षण—घटक न मानना अथवा लक्षण की पदावली मे से उसका तिरस्कार आचार्यो को खटक रहा होगा। आचार्य विश्वनाथ ने इसी अभाव की पूर्ति की है। इस प्रकार 'साहित्य-दर्पण' के इस लक्षण मे शताब्दियो के चिन्तन का सार ही नही अपितु आचार्यो के हृदय का रस के प्रति स्पष्ट और उत्कट अनुराग भी अभिव्यजित हुआ है। परिभाषा की सश्लिष्टता की दृष्टि से यह लक्षण मम्मट के लक्षण की अपेक्षा प्रौढ़ है। मम्मट का लक्षण, काव्य का वर्णन अथवा तत्त्वो का परिगणन अधिक है।

काव्य-लक्षण को "रमणीयता" के आधार पर अधिष्ठित करके पडितराज ने रस, अलकार, रीति आदि का साम्प्रदायिक झगडा ही मिटा दिया। पूर्व के आचार्य इनमें से किसी एक तत्व को प्रधानता देकर उसी को लक्षण-घटक मानते थे। पर पडितराज ने अपने लक्षण को काव्य की मूल आधार-भित्ति पर अधिष्ठित किया है। 'रमणीयता' अर्थात् सौदर्य और तज्जनित आह्लाद ही काव्य के प्राण है। "रस" तो इसका एक प्रकार से प्रधान, एव उच्चतम स्तर का स्वरूप कहा जा सकता है, पर अलंकार, गुण आदि का अस्तित्व भी इसी आह्लाद के लिए है। रस, अलकार, गुण, रीति, वस्तु ध्वनि आदि सभी रमणीयता और आह्लाद के विभिन्न प्रकार मात्र ही है। "ध्वनि काव्य" की श्रेष्ठता का कारण भी सहृदय का आह्लाद आदि रमणीयता ही है। रमणीयता के समावेश से यह लक्षण अत्यन्त व्यापक हो गया है। सरस, सालकार आदि शास्त्रीय विशेषताओ से विभूषित स्थलो के अतिरिक्त,वे पद्य भी काव्य माने जायगे जो शास्त्रीय शब्दावली की इस परिधि मे पूर्णतया नही आ पाते है। कवि प्रतिभा इन नियमोपनियमो मे बधकर नही चल सकती। उसकी अभिव्यजना अलकार शास्त्र की मान्य शैलियो तक सीमित नही रह सकती, अलकार, गुण, रीति, व्यजना आदि के मान्य कटघरो मे बन्द नही रह सकती। अलकार, गुण आदि के मूल मे रमणीयता है। अलकारत्व और गुणत्व का आधार रमणीयता है। पर रमणीयता इन तत्वों मे ही सीमित नही है, उससे कुछ अधिक देश-व्यापी भी है। कवि प्रतिभा उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण मे विकसित होती है। रमणीयता द्वारा कवि प्रतिभा को स्वच्छन्दता स्वीकृत हुई है। दूसरे केवल अलकार, गुण आदि की भरमार से काव्यत्व नही है। काव्यत्व का वास्तविक मानदण्ड तो वही लोकोत्तर आह्लाद है जिसे पडितराज रमणीयता के नाम से अभिहित करते है। इस प्रकार 'रस गङ्गाधर' के काव्य लक्षण मे काव्य के व्यापक मानदण्ड का ग्रहण हुआ है। "रमणीयार्थ" का महत्व स्वीकार करके आचार्य ने शब्द और अर्थ के सामजस्य की ओर परोक्ष रूप मे सकेत किया

है। अगर इस समन्वय की स्पष्ट स्वीकृति हो पाती तो इस परिभाषा का महत्व और भी बढ जाता। पडितराज रमणीयार्थ को काव्य की 'आत्मा' तथा 'शब्द' को काव्य का शरीर मानते प्रतीत होते है। कवि व्यापार अर्थात् सृजनात्मक व्यापार का विषय अर्थ तो किसी भी प्रकार नही हो सकता है। 'शब्द' को भी सृजन का विषय मानना औपचारिक ही है। कवि रमणीयार्थ के प्रतिपादन मे सक्षम शब्द को चुनता है, अथवा अधिक से अधिक किसी शब्द की अर्थ व्यजक शक्ति को उद्भूत भर कर पाता है। इस प्रकार कवि के व्यापार का विषय केवल 'शब्द' ही हो सकता है। कवि की कृति ही काव्य है, इसलिए 'शब्द' ही काव्य है। आत्मा और शरीर दोनो मिलकर ही मानव कहलाती है। यही बात काव्य के विषय मे भी है। 'अर्थ' काव्य की आत्मा है, और शब्द शरीर। शरीर ही व्यावर्तक गुण है, इसीलिए पडितराज ने 'शब्द' को ही काव्य कहा है। 'रमणीय अर्थ' तो सम्पूर्ण कायाओ की आत्मा है, पर शब्द काव्य का भेदक तत्व है। इसी सिद्धान्त को ध्यान मे रखकर ही पडितराज ने 'शब्द' को काव्य कहा प्रतीत होता है। आज भी यह लक्षण दूसरे कारण से सर्वोत्कृष्ट माने जाने की क्षमता रखता है।

सस्कृत-अलकार-शास्त्र मे काव्य के स्वरूप पर विचार करने का एक दृष्टिकोण चमत्कार भी था। अलंकार, गुण, रस, ध्वनि आदि के आचार्य चमत्कार-तत्व का भी निरूपण करते रहे। रस की तरह यह शब्द भी अलकार-शास्त्र मे पाक शास्त्र से ही आया है। इस क्षेत्र में इसका तात्पर्य आश्चर्य और तज्जनित आनन्द हो गया। काव्यानन्द के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग 'ध्वन्यालोक' और 'लोचन' मे हुआ है। अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमेन्द्र के 'कविकठाभरण' मे चमत्कार पर एक पूरा अध्याय है। नारायण ने चमत्कार शब्द को चित्त-विस्तार के अर्थ मे लिया है। इस प्रकार सब रसों का समावेश इसी में कर दिया है। क्षेमेन्द्र के बाद चौदहवी शताब्दी मे विश्वेश्वर ने भी काव्य का अध्ययन चमत्कार की दृष्टि से किया है। उन्होने इसको सहृदय का आनन्द कहा है। रस, गुण, अलकार आदि सभी तत्वो को चमत्कार का कारण माना है।[1] हरिप्रसाद ने अपने 'काव्यालोक' मे चमत्कार को काव्य की आत्मा कहा है।[2] पडितराज की रमणीयता भी इसी चमत्कार का परिष्कृत और विकसित रूप है। चमत्कार की अपेक्षा इसमे अधिक अर्थ गाम्भीर्य है। अलौकिक आह्लाद, काव्य के

---

१ **चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।**
गुण रीति रसं वृत्ति पाकं शय्यामलकृतिम्॥
सप्तैतानि चमत्कारणं ब्रुवते बुधाः॥

२ **विशिष्ट शब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः॥**
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्।

प्राण, इस शब्द से अधिक स्पष्ट है। इसमें सौन्दर्य और आनन्द दोनों का समन्वय है। वास्तव मे रमणीयता सुन्दर और आनन्द दोनो के स्थूल तत्वो का सम्मिश्रण मात्र नही है। इसमे सौदर्य की चिर नवीनता का भाव भी सन्निहित है। ये भाव सौदर्य और आनन्द शब्द से व्यजित नही होते। पडितराज ने इसे "लोकोत्तरज्ञानगोचरता" और "लोकोत्तर आह्लाद" कहा है। कवि रमणीयता को स्पष्ट करते हुए कहता है— "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीयतायाः" काव्य के अर्थ का क्षण-क्षण नवीन प्रतीत होना और उससे आनन्द की बढती हुई प्रतीति कितनी आवश्यक है। सहृदय अर्थ का जितना अधिक अनुशीलन करें उतना ही गम्भीर वह होता जाय और अर्थ की गम्भीर और नवीन उद्भावना से उतना ही आनन्द भी बढता जाय, यही काव्य की उत्कृष्टता है। वह काव्य ही क्या जो क्षणिक जिज्ञासा को शान्त भर कर सके, जिसे दूसरी बार पढने का मन ही न करे। क्षणिक कुतूहल की तृप्ति करने वाला काव्य केवल मनोरजन का साधन-मात्र है, उसका आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर नही कहा जा सकता। काव्य को साधारण मनोरजन का साधन-मात्र बनाने का अभिप्राय भारतीय आचार्यो का काम नही रहा है। इससे पडितराज के काव्य-लक्षण की विशदता, गम्भीरता और समीचीनता स्पष्ट है। रस, अलकार आदि की विवेचना से आचार्य लोग इसी आह्लाद के स्वरूप तथा साधनो की विवेचना कर रहे थे। पडितराज ने "रमणीयता" शब्द से विकार को चरम अवस्था पर पहुचा दिया है। जिस सामजस्य का प्रयत्न ध्वनिकार ने प्रारम्भ किया वह पडितराज द्वारा पूर्णता को पहुँचाया गया। पडितराज के काव्य लक्षण मे "रमणीयता" के प्रयोग मे चमत्कार और 'रस' दोनो घाटियो का समन्वय भी हो गया है। यह समन्वय भारतीय चिन्तन की वस्तु है।

भरत से लेकर पडितराज के समय तक की इन शताब्दियो मे प्रवाहित चिन्तन-धारा अत्यन्त विशद और गहन रही है। काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा में भारतीय चिन्तको ने जिन तत्वो का अन्वेषण किया है, उनसे उनकी असाधारण चिन्तनशीलता का परिचय मिलता है। उनका दृष्टिकोण साधारण मनोरजन तक सीमित नही हुआ, लोकोत्तर आह्लाद तक पहुँचा है। सौन्दर्य की धारणा भी अलौकिक और विराट रही है। शब्द और अर्थ काव्य-निर्माण की सामग्री है। सामग्री का जुटा लेना वस्तु नही है, सामग्री की विशिष्ट व्यवस्था और क्रम ही वस्तु है। आचार्यो ने शब्द और अर्थ के साधारण सयोग-मात्र को काव्य नही कहा। तथ्य-निरूपण काव्य नही है। काव्य मे विच्छित्ति अत्यन्त ही आवश्यक है। उसमें शब्द और अर्थ के विशिष्ट समन्वय की अनिवार्यता प्रतिपादित हुई। शब्द की सामान्य शक्ति काव्य के उपयुक्त नही, उनमे इतनी क्षमता नही कि काव्य के लोकोत्तर आह्लाद का आस्वाद करा सके। उसके लिए शब्द और अर्थ की असाधारण एवं असीम शक्ति चाहिए। शब्द अर्थ-व्यजना की असाधारण शक्ति का कारण कवि-व्यापार ही है। यह कार्य अभिधा

नही व्यजना ही कर सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त इस सत्य को लेकर चला है। व्यजना की असीमता के कारण ही वह काव्य की आत्मा है। भरत का रस-सिद्धान्त विश्व को एक अनुपम देन है। मानव के सतोगुण से प्रेरित सभी कार्य उसे अनन्त चेतना की सत्ता के समीप ले जाने वाले होते है। मानव निजत्व की सकुचित परिधि मे से निकल कर आनन्द-स्वरूप व्यापक चेतन से तदाकर होने का प्रयत्न करता है। काव्य भी उसीका एक साधन है। पश्चिम की तरह भारतीय काव्य बेकार समय का मनोरजन नही है, सासारिक दुःखो से उत्पीडित, अत्याचारो से विकल मानवता की विस्मृतिजन्य विश्रान्ति नही है। भारतीय काव्य ज्ञान और आनन्द स्वरूप चेतना की अखड और वेद्धान्तर अनुभूति है। वह क्रूरता, भीषणता और ग्लानि की शिकार मानव की चीत्कार नही, वह उसका स्वर्गीय सगीत है। काव्य-पुरुष की कल्पना कितनी सजीव और प्रौढ कल्पना है। ध्वनि के आश्रय से अभिव्यक्त रस रूप आत्मा से प्रकाशित, अनौचित्य से अनुप्राणित रीति ही इस पुरुष की अग-सघटना है, शब्दार्थ-मय पुष्ट शरीर है, छन्दो के सुन्दर वस्त्र धारण किये है और अलंकारो से विभूषित है।

काव्य-लक्षण के तत्वो में एक निश्चित विकास हुआ है। पहले शब्द और अर्थ के किसी भी सम्बन्ध को काव्य माना गया। धीरे-धीरे शब्द और अर्थ के समन्वय की भावना का विकास हुआ। सौन्दर्य-तत्व ही काव्य की विशेषता मानी जाने लगी। "इष्टार्थ" विशिष्ट आदि पदो द्वारा अर्थ की चारुता की ओर आचार्यों का ध्यान आकृष्ट हुआ। "चारुत्वप्रतीतिहिस्तर्हि काव्यस्यात्मा" से यह भी स्पष्ट है। यह भी काव्य का बाह्य पक्ष था। आचार्य लोग अभिव्यजना के सौन्दर्य को ही काव्य का सर्वस्व मानते रहे। अलकार, गुण रीति आदि तत्वो की प्रधानता इसे स्पष्ट कर रही है। अलकारो की अपेक्षा गुणो को काव्य के आभ्यन्तर के अधिक सन्निकट समझा गया, इसलिए "काव्य शोभाया कर्तारो धर्मा गुणा" कहा गया। इस प्रकार गुण और अलकार के अन्तर को स्पष्ट कर लेने की भी आवश्यकता हुई। दंडी ने "शरीर" तथा वामन ने "आत्मा" शब्द के प्रयोग से चिन्तन-धारा की नई सरणी खोल दी थी। काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर पक्ष का भेद उन्हे कुछ स्पष्ट होने लगा था। ध्वनिकार ने तो शब्दार्थ को शरीर कहकर इस भेद को पूर्ण स्पष्ट कर दिया। "रस" को सभी आचार्य किसी-न-किसी रूप मे स्वीकार करते ही आये थे। ध्वनिकार ने इसे ही काव्य की आत्मा कहकर विकास को आगे बढा दिया। ध्वनि और औचित्य-सिद्धान्त तो इसके स्वाभाविक परिणाम थे ही, अभिनवगुप्त ने "रस" को आत्मा तथा औचित्य को जीव कहकर इसमे भी व्यवस्था ला दी। काव्य-पुरुष की कल्पना ही इस चिन्तन की परिपक्व अवस्था है। परवर्ती आचार्यों ने "रमणीयता" शब्द के द्वारा कुछ मौलिकता का परिचय दिया, पर वह भी "रस" या काव्यानन्द का व्यापक

रूप-मात्र है। संस्कृत-समीक्षा-शास्त्र का विकास रस के अलौकिक स्वरूप की धारणा से प्रारम्भ होकर अन्त मे उसी मे पर्यवसित हो गया। यह विकास आनन्द और सौन्दर्य के बदलते हुए अहम् का इतिहास-मात्र है। अलकार, गुण, वक्रोक्ति आदि मे काव्य के इस अहम् की भ्रान्ति रही। निरन्तर चिन्तन के फलस्वरूप अन्त मे काव्य ने अपने वास्तविक रूप को पहचाना। पहले वह शब्दार्थमय शरीर को ही अपना अहम् अथवा अपना वास्तविक रूप समझता रहा, पर अन्त मे उसकी भी स्वरूप में स्थिति हुई और रस रूप आत्मा की पुनः प्रतिष्ठा हो गई। भ्रान्ति तथा अपूर्ण दृष्टि से जिन्हें (आलंकारिकों को) काव्य की आत्मा कहा गया था, वास्तविक आत्मा के पहचानने के बाद उनमें भी सामजस्य स्थापित हुआ। सक्षेप मे यही भारतीय समीक्षा-विकास का इतिहास है। ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त ने जिस सामजस्य को प्रारम्भ किया है, वही रमणीयता के सिद्धान्त द्वारा पूर्णता को पहुँच गया। वह शास्त्र की सकुचित पदावली का अतिक्रमण कर गया। काव्य के अहम् की व्याप्ति शब्दार्थमय शरीर, ध्वनिरूप चिदाभास को घेरकर भी रस एक रमणीयता की अतिक्रान्त और तुरीय अवस्था तक है। रमणीयता रस के शास्त्रीय रूप को मानते हुए भी उससे उच्च और अतिक्रान्त अवस्था की द्योतक है।

संस्कृत के आचार्यो ने काव्य के कारण तथा प्रयोजन पर भी विस्तृत विवेचन किया है। प्रतिभा को काव्य का कारण मानने मे आचार्यो का एक मत है। लेकिन कुछ आचार्य प्रतिभा के साथ अभ्यास और व्युत्पत्ति को भी काव्य का कारण मानते है। इसमें आचार्यो के दो सम्प्रदाय है। कुछ तो केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते है तथा दूसरे तीनो को सम्मिलित रूप मे। प्रतिभा को ही एक-मात्र काव्य का कारण मानने वाले प्रधान आचार्य है—भामह, रुद्रट, वामन और पडितराज। दूसरे सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य है--दडी, वाग्भट्ट, मम्मट आदि। दडी ने काव्य के कारण की विवेचना करते हुए तीनो को ही काव्य का कारण माना है।[1] इन तीनो कारणों मे उन्होने प्रतिभा को ही प्रधान माना है। प्रतिभा के अभाव में भी शास्त्राभ्यास, श्रवण, मनन, आदि से मानव कवित्व-शक्ति उत्पन्न कर सकता है। सरस्वती अभ्यास पर भी प्रसन्न हो जाती है।[2] रुद्रट ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण कहा है, पर उसके सहजा तथा उत्पाद्या नाम से दो भेद मानकर शास्त्रा-

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्पदः॥ काव्यादर्श १।१०।३॥

२. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ काव्यादर्श १।१०५॥

म्यास को भी उन्होने काव्य का कारण मान लिया है।[1] रुद्रट ने प्रतिभा को ईश्वर-दत्त शक्ति कहा है, पर शास्त्राभ्यास और काव्यानुशीलन से उसका विकास भी सभव माना है। आचार्य मम्मट और प्राय. अन्य सभी परवर्ती आचार्यो ने काव्य-कारण मे रुद्रट के ही मत को मान्य समझा है, उसकी व्याख्या की है, और कुछ परिष्कार भी किये है। एक प्रकार से मम्मट का मत रुद्रट के मत का प्रौढ रूप है। आचार्य ने स्पष्ट शब्दो मे शक्ति, निपुणता और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु माना है।[2] 'शक्तिर्निपुणता' वाले श्लोक की व्याख्या मे भी अपने मन्तव्य को पूर्णत: स्पष्ट कर दिया है। वे कहते है—"त्रय: सम्मिलिता..... हेतुर्नहेतव." । सस्कृत-साहित्य मे यह मत प्राय: सर्वमान्य है।

केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानने वाले आचार्य भामह, वामन और पडितराज है। भामह ने स्पष्ट शब्दो मे प्रतिभा को ही काव्य का कारण घोषित किया है। वे कहते है कि मन्दबुद्धि गुरु-प्रसाद से शास्त्राध्ययन मे भले समर्थ हो जाय पर काव्य तो केवल प्रतिभावान व्यक्ति का ही कार्य है।[3] वामन ने "कवित्व बीजे प्रतिभान" कहा है। इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए राजशेखर ने जन्मान्ध कुमारदास, मेधाविन् का उदाहरण भी दिया है। द्वितीय वाग्भट्ट ने प्रतिभा को काव्य का हेतु कहकर अभ्यास और शास्त्र-निपुणता को उसका सस्कारक कह दिया है।[4] पडितराज ने प्रतिभा के दो भेद माने है, प्रारब्धवशा और उत्पाद्या। इन दोनो को ही पडितराज ने पृथक् रुप से काव्य के हेतु कहा है।

प्रतिभा के विवेचन मे कहा गया है: "बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता"। काव्य-निर्माण मे जिन शब्दो और अर्थो की अपेक्षा है उनकी तत्काल उपस्थिति को ही पडितराज ने प्रतिभा कहा है। रुद्रट ने भी प्रतिभा के सम्बन्ध मे ऐसे ही विचार प्रकट किये है :

---

१. **सहोजोत्पाद्या च सा द्विविधा भवति।**
उत्पाद्यातु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जायते परया ।। रुद्रट ।।

२. **शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्रावेक्षणात्।**
काव्यज्ञ शिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। काव्य प्रकाश १।३।।

३. **गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्र जड़धियोऽप्यलम् ।**
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभानत: ।। भामह, काव्यालंकार ।।

४. **प्रतिभैव च कवीनां काव्य करणकारणं ।**
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न काव्य हेतु ।। द्वितीय वाग्भट्ट, 'काव्यालोक' मे यही उद्धरण गद्य में हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' से उद्धृत है।

मनसी सदा सुसाधिनो विस्फुरमनेकधाभिधेयस्य ।
अविलष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौशक्ति ।।

प्रतिभा या शक्ति की इस परिभाषा को समझ लेने के बाद काव्य के कारणों की उद्भावना स्पष्ट हो जाती है । मूल रूप मे ईश्वर-दत्त प्रतिभा (शक्ति) ही काव्य का कारण है । जितनी उत्कृष्ट रचना नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा होती है, उतनी अभ्यास और निपुणता से विकसित प्रतिभा के द्वारा नही । फिर भी व्युत्पत्ति और अभ्यास उपेक्षणीय नही है । कम प्रतिभा वालो मे तो काव्य सृजन की शक्ति उनके द्वारा आ ही जाती है, पर प्रतिभाशाली कवियो के लिये भी उपादेय है । रचना में लोकोत्तर आह्लाद का उद्रेक तो प्रतिभा से ही हो सकता है, पर उन भावनाओ की अभिव्यक्ति की सफलता के लिये निपुणता और अभ्यास भी अपेक्षित है । इस प्रकार काव्य के तीनों ही कारण है, वे भी सम्मिलित ही, तीनो मे से एक मे भी पृथक् रूप मे काव्योत्पादन की क्षमता नही है । इसलिये मम्मट का मत ही समीचीन है । वामनाचार्य ने मम्मट की व्याख्या करते हुये चक्र, दड आदि की घट के प्रति सम्मिलित कारणता का उदाहरण दिया है । भावों मे मार्मिकता तथा हृदय-स्पर्शिता तो प्रतिभा से ही आती है, पर उन भावो को सुन्दर भाषा के आवरण मे रखने में अभ्यास और निपुणता भी उत्तरदायी है । जिस कवि मे इन तीनो मे से एक की भी कमी हो उसके काव्य का सौदर्य कम हो जाता है । इसी कारण बहुत से आचार्यों ने प्रतिभा को स्पष्टता पूर्वक काव्य का प्रमुख कारण कहा है और शेष दो को उसके संस्कारक । यही दृष्टिकोण भारतीय आचार्यो का सार है, और उनके मत का प्रतिनिधि है ।

मानव की कोई भी क्रिया निष्प्रयोजन नही है और इसी नियम से काव्य भी सप्रयोजन है । काव्य का सम्बन्ध कवि और सहृदय दोनो से है, इसलिये इसके प्रयोजन पर दोनो व्यक्तियो की दृष्टि से विचार हुआ है, जीवन की सभी क्रियाओ की तरह भारतीय आचार्यो ने काव्य का प्रयोजन भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात चतुर्वर्ग की प्राप्ति कहा है । भरत ने काव्य के अत्यन्त व्यापक प्रयोजन की उद्भावना की है । उन्होने काव्य को धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान, दुर्विनीत व्यक्तियो का निग्रह तथा वीरो के उत्साह का कारण माना है । काव्य से आर्यजनो को सान्त्वना तथा उद्विग्नो को विश्रान्ति मिलती है ।[1] भामह ने धर्मार्थकाममोक्ष के साथ कीर्ति और मनोरजन को भी काव्य का प्रयोजन कहा है ।[2] अनेक आचार्यो ने काव्य को

---

१. **धर्मोधर्मप्रवृतानां कर्म: कामोपसेविनाम ।**
निग्रहो दुर्विनीतानाम् विनीतानाम् दमक्रिया ।।

२. **धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।**
करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषवणम् ।। भामह ।।

भगवत्प्राप्ति का साधन भी कहा है। मम्मट से पूर्व काव्य के प्रयोजन शास्त्र के प्रयोजनो से पूर्णतया विविक्त करके नही देखे जा सके। उनके व्यावर्तक गुण की ओर पूर्ण स्पष्टता के साथ आचार्यो का ध्यान नही जा पाया। 'रस काव्य की आत्मा है' इस बात को ध्यान मे रखकर शास्त्र के प्रयोजनो से काव्य के प्रयोजनो के पृथक स्वतन्त्र स्वरूप की प्रतिष्ठा अपेक्षित थी, यह कार्य मम्मट ने ही किया। भामह ने 'मनोरजन' को प्रयोजनो मे अन्तर्भूत करके आनन्दतत्व की ओर सकेत किया है। इससे काव्य के प्रयोजनो को शास्त्र के प्रयोजन से भिन्न करके देखने की आकाक्षा अवश्य है। पर यह अलकारवादी दृष्टिकोण ही है। 'रस वादी' दृष्टिकोण से काव्य के प्रयोजन का विवेचन मम्मट ने ही किया है। "काव्य-प्रकाशकार" ने किसी नवीन प्रयोजन की उद्भावना नही की है, पर उनके विवेचन मे एक क्रम और व्यवस्था है, उन्होने कवि और सहृदय दोनों की दृष्टि से विचार किया है। अर्थ-लाभ, यश, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल-नाश, अलौकिक आह्लाद तथा नैतिक उपदेश—मम्मट के मतानुसार ये ही काव्य के प्रयोजन है।[1] इनमे प्रत्येक प्रयोजन पर कवि और सहृदय दोनो की दृष्टि से विशद विवेचन हुआ है। 'यशसे" और "अर्थकृते" का तो स्पष्टत ही कवि से सम्बन्ध है। सहृदय के लिये इस प्रयोजन की कल्पना का कोई विशेष महत्व नही है। स्वय ग्रन्थकार ने इस प्रयोजन से काव्य मे प्रवृत्त अनेक कवियो के उदाहरण दिये है। शेष सभी प्रयोजनो मे से कुछ का सम्बन्ध कवि से और कुछ का सहृदय से है, यह तो स्पष्ट ही है। इनमे से कुछ का सम्बन्ध सहृदय की अपेक्षा कवि से अथवा कुछ का कवि की अपेक्षा सहृदय से अधिक है। इस प्रकार का तारतम्य भी प्रतिपादित किया जा सकता है। "व्यवहार-विदे" का सम्बन्ध सहृदय से ही अधिक है। कवि तो पहले से ही व्यवहार-कुशल होते ही है। शेष का सम्बन्ध सहृदय से ही अधिक है, यह स्पष्ट है। स्तोत्र-पाठ मगल-कामना से किया जाता है। पण्डितराज ने 'गंगा-लहरी' का प्रणयन तथा पाठ दोनो मगल-कामना से किये थे। इस प्रकार "शिवेतरक्षतये" का सम्बन्ध सहृदय से तो है ही, कवि से भी हो सकता है। इसमे इतिहास भी प्रमाण है। काव्य-प्रयोजन के इस विवेचन से शिव और आनन्द का समन्वय स्पष्ट है। "कान्तासम्मितयोपदेश" मे आचार्य ने एक साथ ही दोनों बातो को स्पष्ट कर दिया है। नैतिक उपदेश के लिये काव्य का सृजन होता है। पाठक के हृदय पर नीति का स्थायी प्रभाव डालने के लिये इसमे सौदर्य और आनन्द-तत्व का सम्मिश्रण कर दिया जाता है। यह "कांता-सम्मित" से स्पष्ट है। ऊपर के "यशसे", "अर्थकृते" आदि प्रयोजन तो गौण हैं। काव्य

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे॥ काव्य प्रकाश॥

का वास्तविक प्रयोजन "सद्य. परनिर्वृत्तये" ही है। इसके लिये आचार्य ने "सकल-प्रयोजन मौलिभूत" कहा है। आह्लाद काव्य के प्राण है, इसके अभाव मे काव्यत्व का ही कोई प्रमाण नही है। अर्थ, यश, व्यवहार-ज्ञान के लिये भी कवि काव्य का सृजन कर सकता है, पर आवश्यक नही कि उसके ये प्रयोजन हो ही। ऐसे कवियो के उदाहरणो का अभाव नही है जिनको इनमे से एक भी प्रयोजन से प्रेरणा न मिली हो, तथा जिन्होने केवल "स्वान्तः सुखाय" ही काव्य-सृजन किया है। लेकिन "सद्यः परनिर्वृत्तये" प्रयोजन तो सर्वत्र रहता ही है। वामनाचार्य ने इस प्रयोजन की प्रमुखता स्पष्ट शब्दो मे घोषित की है 'सकलेषु यशः प्रभृतिषु प्रयोजनेषु फलेषु मौलिभूतं प्रधानमित्यर्थः।' इस व्याख्या के बाद इसकी प्रधानता मे कोई सदेह नही रह जाता है। जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण मे सौदर्य, आनन्द और मगल के समन्वय की प्रधानता है। मम्मट और साहित्य दर्पणकार दोनो ने ही काव्य का उद्देश्य 'रामादिवत् प्रवर्त्तितव्य न रावणादिवत्' बताया है। कान्ता के उपदेश मे माधुर्य, सरसता और आकर्षण होता है। पहले वह अपने माधुर्य आदि के द्वारा हृदय को द्रवित कर देती है और फिर भी अपना अभीप्सित कहती नही व्यजित करती है, इसके कारण उसका प्रभाव सहज और अवश्यम्भावी होता है। यही बात काव्य के लिए भी कही जा सकती है। अलकारादि के द्वारा चित्त को आकृष्ट एव माधुर्यादि गुणो के द्वारा उसे स्वत्वाविष्ट करता हुआ काव्य सहृदय को रसाक्षिप्त कर लेता है। इस अवस्था मे दिये गये उपदेशो अथवा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का अत्यन्त स्थायी प्रभाव पडता है। वे बुद्धि से नही हृदय से गृहीत होते है। इस उदाहरण के द्वारा आचार्य ने उपयोगिता और आनन्द दोनो का सुन्दर सम्मिश्रण कर दिया है। नैतिकता और आनन्द के इस सतुलन के कारण ही भारतीय समीक्षा-शास्त्र मे 'उपयोगितावाद', 'कलावाद,' 'अभिव्यजनावाद,' के विवाद नही खडे हुए। यहा पर आनन्द की भावना पश्चिम के मनोरजन से गहरी है। वह लोकोत्तर आह्लाद है। इसीलिए इसको आचार्यो ने 'वेद्यान्तरसस्पर्श शून्य" कहा है। यह आनन्द काव्यानुशीलन के समानान्तर है। ज्यो ही पाठक अनुशीलन करने लगता है, त्यो ही उसे इस आनन्द का अनुभव होने लगता है। उस समय अन्य किसी विषय की प्रतीति नही होती, इसलिए गहरी तल्लीनता की भावना भी व्यंजित है। काव्यप्रयोजन पर विश्वनाथ और पडितराज का आचार्य मम्मट से कोई मतभेद नही है। 'काव्य प्रकाश' का यह मत सस्कृत समीक्षा शास्त्र के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि काव्य के इन प्रयोजनो मे से कुछ का सम्बन्ध केवल सहृदय से है, और कुछ का कवि से। आचार्य मम्मट को यही अभिप्रेत है। उनका यह मन्तव्य "यथायोग" से स्पष्ट है। बालबोधिनी टीका मे भी इसका

विवेचन है।[1] "परनिर्वृत्तये" का सम्बन्ध केवल सहृदय अर्थात् पाठक से ही है अथवा कवि से भी। इस प्रश्न पर अधिक विवेचन की आवश्यकता संस्कृत आचार्यों ने नहीं समझी है। भलकोकर ने लिखा है: "परनिवृत्तिरपि सहृदयस्यैव। रसास्वादन काले कवेरपि सहृदयान्त पातित्वात्।" आगे वे प्रदीप को उद्धृत करते है: "काव्यास्वादन काले कवेरपि सहृदयान्त पातितया रसास्वाद."। "रस" का जो शास्त्रीय अर्थ है, उसकी निष्पत्ति तो सहृदय मे ही हो सकती है। इस रूप मे कवि भी सहृदय समाज मे सम्मिलित होकर ही रसास्वाद करता है। यहाँ पर सहृदय शब्द विचारणीय है। क्या वह शब्द केवल पाठक या दर्शक के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, या कारयित्री और भावयित्रि दोनो प्रकार की प्रतिभाओ मे से किसी एक से सम्पन्न के लिए भी। अगर "सहृदय" शब्द का दूसरा अर्थ लिया जाय तब तो स्पष्टतः ही संस्कृत आचार्यो को कवि और पाठक दोनो की आनन्दानुभूति मान्य है। सामान्यत. कवि और पाठक दोनो का ही सहृदय होना अपेक्षित है, पर शास्त्रीय शब्दावली मे इसका प्रयोग पाठक के लिए ही होता है। वस्तुत. कवि को सृजनात्मक आनन्द के साथ ही प्रतिपाद्य विषय की तल्लीनता से जन्य आनन्द का भी अनुभव होता है। कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य कर लेने की क्षमता ही सहृदय का मान है। यह साधारणीकरण के सिद्धान्त मे भी होता है, इसलिए पाठक की अनुभूति से कवि के आनन्द का अनुमान होता है। कवि के साथ ही तादात्म्य होता है। उसकी भावानुभूति ही पाठक मे भी तत्सदृश अनुभूति जागृत कर सकती है। इस प्रकार कवि मे सृजन के अतिरिक्त आनन्दानुभूति मानना भी अनुचित नही। जब तक विषय मे तल्लीन होकर वह रसानुभूति नही करेगा तब तक पाठको को रस मे तल्लीन नही कर सकता। पर कवि वस्तु का सम्पूर्ण और सश्लिष्ट चित्र तटस्थ होकर नही देखता। वह सृजन करता है, इसलिए नियमो और अभिव्यजना कौशल के प्रति अधिक जागरूक रहता है, इसलिए उसे शास्त्रीय रस की अनुभूति न होकर एक भिन्न अवस्था के बीज-रूप आनन्द की अनुभूति होती है। वह निर्वैयक्तिक अवश्य है, इसलिए उसका भी 'सद्य परनिर्वृत्तये' मे अन्तर्भाव माना जा सकता है। यही बीज-रूप आनन्द कवि कौशल से विकसित एव पल्लवित होता है—पूर्ण विकसित रूप मे इसका साक्षात्कार सहृदय को सभव है। कवि जगत की जिस प्रेरणा से सृजन प्रारम्भ करता है, सृजन की पूर्णता मे वह वस्तु पूर्णतः ही होती है। सहृदय का लक्षण करते हुए ध्वनिकार ने कहा है—"वर्णनीयतन्मयी भवनयोग्यता ते सहृदयरूवादभक सहृदय:।" इस लक्षण मे वर्णनीय वस्तु से तन्मय क्षमता के कारण ही सहृदय माना गया है, और यह कवि के लिए भी उतना ही सत्य है, जितना पाठक के लिए।

---

१ काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी पृष्ठ ६।

वर्ण्यनीय विषय पर विचार.—डॉ० सुशीलकुमार दे ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' की भूमिका मे काव्य के वर्ण्य विषय पर सस्कृत आचार्यों के विवेचन को अपूर्ण बताया है। डाक्टर साहब को इस विचारधारा की प्रेरणा पाश्चात्य समीक्षा से मिली है। उन्होने काव्य के वर्ण्य विषय के विवेचन को पश्चिम के सौदर्य-शास्त्र की प्रधान वस्तु मानी है।[1] काव्य और जीवन के सम्बन्ध पर इतना वाद-विवाद होने के कारण पश्चिम के विद्वानो को काव्य के वर्ण्य विषय पर विचार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। डॉक्टर साहब के मतानुसार भारतीय आचार्यो ने स्वभावोक्ति और भाविक के निरूपण मे इस विषय का थोडा-बहुत निरूपण किया है, लेकिन वे विषय की गहराई तक नही गए है। पर सस्कृत-साहित्य मे उपर्युक्त दोनो प्रसगो के अतिरिक्त भी इस विषय का प्रतिपादन हुआ है। कवि को ब्रह्मा कहा गया है। इस अपार काव्य-जगत् का निर्माता कवि ही है। उसकी रमज्ञता के कारण उसके द्वारा निर्मित सारा ससार ही रसमय हो जाता है।[2] 'काव्य-प्रकाश' मे भी काव्य को नियतिकृत सृष्टि से भिन्न कहा है। कार्य-कारण-परम्परा के निर्वाह की आवश्यकता काव्य-जगत् मे नही है। काव्य-जगत् मे समवायि, निमित्त आदि कारणो की परतन्त्रता नही है। बाह्य सृष्टि से भिन्न नियमों द्वारा यह जगत् परिचालित होता है। बाह्य ससार मे सर्वत्र आनन्द नही है, पर काव्य तो सर्वत्र आनन्दमय है।[3] इस प्रकार यह शेष सृष्टि से नितान्त भिन्न है। इस श्लोक में काव्य-प्रकाशकार ने काव्य के विषय का स्वरूप प्रतिपादित किया है। रस-निरूपण आदि मे अलौकिक आदि शब्दो द्वारा भी काव्य के वर्ण्य-विषय का ही विवेचन है। इसके अतिरिक्त साधारणीकरण और

---

1 The Indians theorists have almost neglected perhaps the most important part of their task viz, a definition of the nature of the subject of a poem as a product of the mind of the poet, this problem is the main issue of the western aesthetics. Only **स्वाभाविक** and **भाविक** can be adduced as a proof that the theorists were concious on the problem, but did not attack it in its entirety, treating only some aspects of it."

२ **अपारे काव्य ससारे कविरेव प्रजापति.।**
यथास्मै रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते ॥

३ **नियतिकृतनियमरहितो ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।**
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।
॥ काव्य प्रकाश १।१॥

इसपर 'वृत्ति' तथा 'बाल बोधिनी' टीका भी दृष्टव्य है।

विभावन-व्यापार के द्वारा तो सस्कृत के आचार्य इस विषय की पर्याप्त गहराई तक पहुँचे है। काव्य-जगत् की वस्तु पर व्यक्तिगत राग-द्वेष और योगक्षेम की भावना का आवरण नही रहता है। वह लोक-सामान्य की अनुभूति हो जाती है, यही रस-निष्पत्ति का मूल है। काव्य मे वर्णित सभी भाव 'मेरे-तेरे" के भेदो से ऊपर उठकर मानव-मात्र के हो जाते है। पश्चिम के समीक्षाशास्त्र मे तो इतनी प्रौढता और स्पष्टता है भी नही। कवि वर्ण्य-विषय का साधारणीकृत रूप ग्रहण करता है, उसका साधारणीकरण स्वयं करता है अथवा पाठक के हृदय मे उसका साधारणीकरण होना है—यह प्रश्न कुछ विवादास्पद है। कवि जब अपने राग-द्वेष से मुक्त होकर, केवल मानव-मात्र के राग-द्वेष के आवरण सहित अन्त करण से बाह्य जगत् की वस्तुओ का प्रत्यक्ष करता है और उसी अनुभूति को भाषा का रूप देता है, तभी काव्य का सृजन होता है। अगर ऐसा न होता तो भाव की कोई भी अभिव्यक्ति काव्य मे मान ली जाती। सांसारिक करुणा, रति, निर्वेद आदि भी काव्य ही होते। इससे कवि मे भी "साधारणीकरण" की एक स्थिति का मानना अधिक समीचीन है। सस्कृत के आचार्यो ने स्वभावोक्ति, रसोक्ति, वक्रोक्ति तथा भाविक के विवेचन मे काव्य के वर्ण्य-विषय का विवेचन और भी गहराई के साथ किया है। हम यहा पर स्थानाभाव के कारण उन पर विशद विवेचन नही करते है। वार्ता को काव्य नही माना गया है। इससे भी आचार्य काव्य-वस्तु का जगत मे भेद ही दिखा रहे है। स्वभावोक्ति को भी काव्य मे स्थान मिलने का कारण वस्तु-वर्णन की स्वाभाविकता का सौन्दर्य है। रसोक्ति का तो स्पष्टत चित्त की वृत्ति से सम्बन्ध है ही। वचन की वक्रता, विच्छित्ति, सौन्दर्य, मार्मिकता आदि गुणो को काव्य मे अनिवार्य मानने से स्पष्ट है कि सस्कृत के आचार्य काव्य के वर्ण्य विषय का निरूपण करना भूले नही है।

प्रतिहारेन्दुराज ने भाविकत्व का भट्टनायक के भावनाव्यापार से सम्बन्ध स्थापित किया है। उनके मतानुसार यह वह कल्पना है जो कवि और पाठक दोनो मे ही होती है और जिसके द्वारा दोनो का सम्बन्ध स्थापित होता है। दूसरे आचार्य भाविक को भूत और भविष्य की वस्तुओ के वर्णन की ऐसी सजीवता कहते है जिस से वे वस्तुएं वर्तमान सी प्रतीत हो। भाविक के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सस्कृत के आचार्यो ने काव्य के वर्ण्य विषय पर विचार किया है। 'साधारणीकरण', विभावन व्यापार, उक्ति, स्वभावोक्ति, रसोक्ति और वक्रोक्ति तथा भाविक के निरूपण मे सस्कृत के आचार्य काव्य के वर्ण्य-विषय के विवेचन की गहराई मे पहुँचे है। इसलिए यह कहना तो ठीक नही कि यह विषय भारतीय आचार्यों द्वारा उपेक्षित है। पर फिर भी इस विवेचन मे कवि अथवा सृजन-काल की मनोदशा का विश्लेषण नही है। आचार्यों ने साहित्य की प्रेरणा तथा कवि की मानसिक अवस्था का विश्लेषण नही किया। साधारणीकरण के प्रसग मे इसका विशद विवेचन सभव था। पर

संस्कृत के आचार्य ने सृजन की अपेक्षा काव्य के प्रभाव अथवा आस्वाद पक्ष का ही अधिक विवेचन किया है। इसलिए डॉक्टर साहब के कथन मे सत्याश अवश्य है। पर संस्कृत के आचार्य ने इसकी नितान्त अवहेलना नही की है। हा, दृष्टिकोण-भेद के कारण पश्चिम के जितना विशद विवेचन नही है।

काव्य के इन विभिन्न पक्षो पर विशद विवेचन करने के अतिरिक्त संस्कृत-आचार्यो ने अनेक तत्वो की उद्भावना की है। काव्य मे उनके महत्व और स्थान पर भी पर्याप्त विचार हुआ है। दीर्घकालीन चिन्तन ने अनेक तत्वो को निश्चित रूप प्रदान कर दिया। लेकिन बहुत से ऐसे भी तत्व है जो प्रौढ तर्को का प्रहार नही सह सके और अन्य तत्वो में विलीन हो गए। लक्षण, पाक, शय्या आदि का विवेचन अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्यो मे उपलब्ध नही होता। इनमें से कुछ अन्य तत्वो के उपभेदो के रूप मे अब भी विद्यमान है। 'लक्षण' पर प्राचीन आचार्यो ने कितना विचार किया है और उसके कितने विभिन्न अर्थ उन्हे मान्य रहे है उसका दिग्दर्शन अभिनवगुप्त ने अपनी 'अभिनव भारती' मे किया है। कुछ आचार्य लक्षण को सध्यग कहते है, कुछ इसे कवि का प्रबन्ध कर्म मानते है। कुछ आचार्यों ने गुण और अलकारो के समुचित प्रयोग को लक्षण कहा है, कुछ की दृष्टि से काव्य-शरीर का स्वाभाविक सौन्दर्य ही लक्षण नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। इससे लक्षण का गुण और अलकार से भेद स्पष्ट हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षण के स्वरूप और परिभाषा के सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यो के कई मत है। इसके अनिश्चित रूप और भिन्न अर्थो के कारण लक्षण भारतीय समीक्षा-शास्त्र मे अपना पृथक् अस्तित्व नही बनाये रख सका। यह अपने कुछ अर्थो के साथ नाटक के तत्वो मे मिल गया और इसके काव्य-शरीर के सौन्दर्य वाला अर्थ अलकार ने ग्रहण कर लिया, इसलिए यहा भी इसकी पृथक् सत्ता नही रही। "तुल्यतर्क" लक्षण का रूपक और उपमा से सीधा सम्बन्ध है। लक्षण की तरह उपर्युक्त सभी तत्व दूसरो मे विलीन हो गए। संस्कृत के आचार्यो ने कुछ ऐसे स्थायी तत्वो की भी उद्भावना की है जो किसी-न-किसी रूप मे विश्व के अन्य समीक्षा-शास्त्रो मे भी है। वहा पर इनका अत्यन्त अविकसित रूप मिलता है। पर भारतीय आचार्यो ने शताब्दियों के चिन्तन के उपरान्त इन्हे वह रूप प्रदान कर दिया है, जो चिरन्तन है। ये काव्य के मूलभूत तत्व है। इनके अभाव मे काव्य की कल्पना भी नही की जा सकती। इनमे से प्रधान है—रस, अलकार, गुण, रीति, ध्वनि और औचित्य।

सम्प्रदाय:-रस, अलकार, गुण आदि चिरस्थायी तत्वो के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायो की कल्पना की गई है। निस्सदेह भारतीय आचार्यो का इन तत्वो के प्राधान्य के सबध मे पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ आचार्यो ने अलकारो को इतना व्यापक समझा कि उनमे रस आदि अन्य तत्वो का भी अन्तर्भाव हो गया। अगर एक आचार्य ने तीन

गुण माने तो दूसरे ने दस अथवा उससे भी अधिक माने वामन के श्लेष, समाधि और उदार को मम्मट ने "ओज" मे ही सन्निविष्ट समझ लिया। किसी ने रस को अनुमित मा'ना, तो किसी ने अभिव्यजित। कुन्तक और महिमभट्ट को "ध्वनि' मान्य नही। वे व्यजना-शक्ति की कल्पना ही निरर्थक समझते है। मम्मट और आनन्दवर्द्धन ध्वनि को ही काव्य की आत्मा समझते हैं। इस प्रकार सस्कृत-आचार्यो मे पर्याप्त मतभेद है। क्योकि उन्होने अपने विवेच्य विषय को कई दृष्टियो से देखा और उसका निरूपण किया, पर क्या इस मतभेद के कारण इन आचार्यों को विभिन्न सम्प्रदायो मे विभाजित कर लेना समीचीन कहा जा सकता है। यह एक विवादास्पदत्र श्न है। डा० दासगुप्ता ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत लिटरेचर' मे इस सम्प्रदाय-विभाजन को पश्चिम का अनुकरण माना है। उनके मतानुसार पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप हमारे विचार करने की पद्धति ही सम्प्रदाय-विभाजनमय हो गई है। दासगुप्ता के मतानुसार भारतीय साहित्य-शास्त्र की चिन्तन-धारा का ऐसा विभाजन समीचीन नही है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" मानने वाले बहुत आचार्य नही हुए हैं। रस, गुण और अलकार का विवेचन सभी आचार्यो ने किया है। केवल एक ही तत्व को काव्य का सर्वस्व मानने वाला कोई आचार्य नही हुआ है। इन तथाकथित मत-मतान्तरो के अन्तःस्तल मे एक विचार-धारा प्रवाहित हो रही है। काव्य के वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान मे आचार्यो ने विभिन्न तत्वो की उद्भावना की है। इन तत्वो मे समन्वय स्थापित करने की आकाक्षा अत्यन्त प्राचीन काल मे भी परिलक्षित हो रही है। अन्त मे आनन्दवर्द्धन द्वारा यह समन्वय स्थापित भी हुआ है। इस सामजस्य के बाद अलकार अथवा रीति को काव्य की आत्मा मानने वाला कोई आचार्य नही हुआ। इन सभी तत्वो को एक विशिष्ट स्थान दे दिया गया। इस सामजस्य के आधार पर ही काव्य-पुरुष की कल्पना हुई है और यह कल्पना ही भारतीय आचार्यो द्वारा मान्य काव्य-स्वरूप का प्रतिनिधि रूप है। "काव्य क्या है" इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करते हुए भारतीय आचार्यो का ध्यान काव्य के विभिन्न तत्व, अलकार गुण आदि पर गया है। स्वभावत उन्होने काव्य के वाह्य स्वरूप को ही पहले काव्य समझा। उसके बाद वे धीरे-धीरे काव्य की आत्मा की ओर बढे है। यही कारण है कि अलकार, जिसका सम्बन्ध काव्य-शरीर से है, अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय है। गुण इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा आत्मा के सन्निकट है। इसलिए अपेक्षाकृत नवीन है। इस प्रकार भारतीय चिन्तक "काव्य की आत्मा" के अनुसन्धान मे अग्रसर हुआ है। इसी चिन्तन की विभिन्न अवस्थाये है—अलकार आदि का साक्षात्कार तथा उनमे से एक को काव्य की सर्वप्रधान वस्तु मान लेना। चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था में काव्य के बहिरग तत्व को ही काव्य की आत्मा मानना स्वाभाविक था। उस अवस्था मे उनमे स्थूल रूप का ही साक्षात्कार सभव था। पर धीरे-धीरे चिन्तक

काव्य के अन्तरंग तत्वों का साक्षात्कार करते गये। चिन्तन के इस विकास मे काव्य-तत्वो के सूक्ष्म स्वरूप का भी साक्षात्कार होता गया। यह विकास "रस" और "ध्वनि" के अनुसन्धान तक यो ही होता रहा और इन तत्वो के साक्षात्कार के अनन्तर सभी तत्वों मे एक सामंजस्य स्थापित हो गया। इस प्रकार इन तथाकथित विभिन्न सम्प्रदायों को विकास की अवस्थाएँ कहना अधिक तर्कसगत है। ये वैसे सम्प्रदाय नही है जो अन्त तक एक-दूसरे के विरोधी रहे है। एक ही विकासमान सिद्धान्त के विभिन्न स्तर 'स्टेजिज' होने के कारण इन सबका पर्यवसान एक में ही होता है। अगर इस दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर इन्हें सम्प्रदाय कहना उचित समझा जाय तो कोई विरोध नही है। सम्प्रदाय शब्द के प्रयोग मे हमारी कोई आपत्ति नही है। हमने भी स्थान-स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया है, लेकिन उसका एक कारण तो अपने मन्तव्य को बोधगम्य करने के लिए प्रचलित और मान्य पारिभाषिक शब्दावली को अपनाना भी है। वहाँ पर भी सम्प्रदाय शब्द से हमारा तात्पर्य यही है, जो ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

सस्कृत साहित्य के भिन्न काव्य लक्षणो से भी यह स्पष्ट है कि इन्हे विभिन्न सम्प्रदाय मानने की अपेक्षा एक चिन्तन धारा की अवस्था मानना अधिक समीचीन है। काव्य लक्षण भी यह स्पष्ट करते है कि पहले आचार्यो का ध्यान काव्य के बहि-रग पर गया है। फिर वे धीरे-धीरे उसके अन्तरग की ओर बढे है। अन्त मे जब उन्हें काव्य की आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार हो गया तो उन्होंने इन सभी तत्वो मे सामजस्य स्थापित कर दिया। यह इसी अध्याय में पीछे काव्य लक्षण पर लिखते हुए भी स्पष्ट किया गया है।

काव्य-विभाजन—सस्कृत में काव्य विभाजन का निरूपण अत्यन्त विशद है। आलकारिको ने इसके कई आधार अपनाये है, और इन सभी दृष्टियो से काव्य के अनेक प्रकार के विभाजन स्वीकृत हुए है। अत्यन्त प्राचीन भेद तो (जो सभवत. भरत के पूर्व भी मान्य रहा है) श्रव्य और दृश्य है। इस भेद का आधार ज्ञानेन्द्रिय है। इसके अनन्तर इन दोनो प्रधान भेदो के अनेक अवान्तर भेद स्वीकृत हुए। सस्कृत-साहित्य का दृश्य-काव्य निरूपण अत्यन्त प्रौढ है। श्रव्य काव्य के प्रबन्ध, और निर्बन्ध नामक भेद माने गए, तथा इनके भी अनेक अवान्तर भेद प्रतिपादित हुए। भेदो और उपभेदो की सख्या मे वृद्धि करते जाना सस्कृत-आचार्यो के विवेचन की प्रमुख विशेषता है। प्रबन्ध के महाकाव्य, एकार्थ काव्य और खड काव्य—ये तीन रूप माने गए। किसी देव, राजा आदि महापुरुष का, धीरोदात्त या धीरललित नायक का वृत्तान्त अनेक सर्गो मे वर्णन करने वाला काव्य महाकाव्य कहलाता है। इसमे अनेक रसो का वर्णन होना आवश्यक है।[1] एकार्थ काव्य लिखा तो जाता है महाकाव्य की शैली पर ही, लेकिन उसमे

---

१ काव्यादर्श पृष्ठ ११।

इतना विस्तार अपेक्षित नही है। खंड-काव्य में किसी वृहद् घटना का एक अंश लिया जाता है, उसमे नायक के चरित्र का एक पक्ष ही चित्रित किया जाता है। अनेक पद्यो में वर्णित कथात्मक अथवा वर्णनात्मक प्रसंग निबन्ध कहलाता है। निबन्ध के दो भेद है, मुक्तक और गीत। जिस रचना में रसोद्रेक के लिए विशेष अनुबन्ध की आवश्यकता न हो, स्वच्छन्दता हो, उसे मुक्तक कहते है। विशेषत: गेय तथा राग रागिनी के अनुकूल होने के कारण यह रचना "गीत-काव्य" कहलाती है। मुक्तक के उपभेद है—युग्मक, विशेषक, कलापक और कुलक। यह विभाजन छन्दो की संख्या के आधार पर किया गया है। पद्य, गद्य, और मिश्र ये—तीन भेद भिन्न आधार को लेकर माने गए। मिश्र को "चम्पू" भी कहते है। साहित्य क्षेत्र मे इस दूसरे नाम का अधिक प्रयोग होता है। गद्य के उपभेदो मे समास आदि का भी विचार हुआ है। गद्य के प्रसिद्ध भेद है, कथा और आख्यायिका।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सस्कृत-साहित्य मे दृश्य काव्य के भेदो और उपभेदो का बहुत ही विस्तृत निरूपण हुआ है। इसके दो प्रधान भेद है रूपक और उपरूपक। रूपक के—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, प्रहसन आदि दस तथा उपरूपक के—नाटिका, त्रोटक, प्रस्थानक, प्रकरण आदि उन्नीस भेदो का निरूपण हुआ है। रूपक-निरूपण पर सस्कृत मे पृथक ग्रन्थ रचना हुई है, इसलिए सब आचार्यो ने दृश्य काव्य और उसके उपभेदो का विचार नही किया है, पर काव्य विभाजन के सामान्य स्वरूप पर प्राय. सभी आचार्यों ने थोडा बहुत विचार किया है। उनमे कही कही पारस्परिक मतभेद भी है। हेमचन्द्र ने आख्यायिका को काव्य के प्रधान भेदो मे स्थान दिया है। प्रेक्ष्य तथा दृश्य काव्य का पाठ्य और गेय रूप भी स्वीकृत हुआ है। इस प्रकार काव्य-विभाजन मे अनेक सूक्ष्म मतभेद है, जो इतने लम्बे काल के विवेचन मे होने अनिवार्य भी है। साहित्यदर्पणकार ने श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्य-भेदो का निरूपण करते समय अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के विवेचन को उपजीव्य बताया है।[1] इसलिए आचार्य विश्वनाथ द्वारा कृत काव्य-विभाग-निरूपण सस्कृत समीक्षा का प्रतिनिधित्व करता है। 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनो का निरूपण होने के कारण यह अपने आपमे पूर्ण भी है।

सस्कृत साहित्य मे ध्वनि के आधार पर जो काव्य-विभाजन हुआ है, वह अत्यन्त मौलिक और प्रौढ है। इसका सर्व प्रथम उद्भावना ध्वनिकार ने की है। और इसके बाद यह परवर्ती सभी आचार्यों को मान्य रहा है। विषय अथवा चमत्कार के हेतु की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हो सकते है। आचार्यों ने इन्हे रस-ध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तु-ध्वनि के नाम से अभिहित किया है। "रस-ध्वनि" में ही शेष दोनो

---

१ काव्यादर्श, पृष्ठ ११ और साहित्य दर्पण, पृष्ठ ७३।

का पर्यवसान मानने से इसका प्राधान्य तो स्पष्ट ही है। रसवादी आचार्यो की दृष्टि से तो "वस्तु-ध्वनि" और "अलकार-ध्वनि" वाले स्थलो का काव्यत्व ही "रस" की व्यजना मे परोक्ष रूप से सहायक होने के कारण मान्य है। यही सिद्धान्त ठीक भी है। इसी मे सस्कृत-आचार्यो की मूल चिन्तन-धारा का प्रतिनिधित्व भी है। इन दो भेदो के पृथक अस्तित्व मानने से अलकार और चमत्कार को भी काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यो को सन्तोष होता है और अलकार तथा चमत्कार का काव्य मे महत्व भी स्वीकृत हो जाता है। विवेचन की सूक्ष्मता के लिये भी इन दोनो भेदों का निरूपण तर्क-सम्मत है। इसलिये सस्कृत के सभी आचार्यो ने इन भेदो को स्वीकार किया है, और काव्य का यह विभाजन समीचीन भी है। व्यजना के अभाव मे काव्य नही माना गया है और इस भेद का आधार भी व्यजना ही है। इन भेदो को आचार्यो ने उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया है। ध्वनिकार ने "रस-ध्वनि" के उदाहरण मे आदिकवि के प्रथम श्लोक "मा निषाद" को उद्धृत किया है। उसमे करुण रस की व्यजना मानी गई है। मम्मट ने "निश्शेषच्युत चन्दनं स्तनतट निर्भृष्टरागोऽधरो" आदि मे रीति की व्यजना मानी है। पडितराज ने व्यभिचारियो की व्यजना का उदाहरण भी दिया है।[1] दक्षिण दिशा मे सूर्य का तेज भी मन्द हो जाता है, पर वहा पर भी रघु का तेज पाड्य राजाओ से नही सहा गया। रघुवश के इस श्लोक मे व्यतिरेक अलंकार की व्यजना मानी गई है।[2] साधारण अभिधेयार्थ मे कोई अलकार नही है। अभिधेयार्थ के समझने के बाद सूर्य के प्रताप की अपेक्षा रघु के प्रताप की अधिकता व्यजित होती है, और इसे ही "अलकार-ध्वनि" कहते है। आचार्यो ने "वस्तु-ध्वनि" के अनेक उदाहरण दिये है, इनमे से कुछ बहुत ही प्रसिद्ध है। एक अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण अपभ्रश का भी है। अभिधा और लक्षणा के आधार पर व्यजना के अभिधा-मूला, और लक्षणा-मूला दो भेद स्वीकृत हुए है। अभिधा-मूला के आवान्तर भेद है असलक्ष्य क्रम-ध्वनि और दूसरा सलक्ष्यक्रम-ध्वनि। इसमे से प्रथम मे रस-ध्वनि और दूसरे मे अलंकार और वस्तु का समावेश है। "रस" को असलक्ष्य कहने का तात्पर्य यह है—यद्यपि रस की प्रतीति विभावादिक के अनन्तर ही होती है, पर क्रम के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह सलक्ष्य नही रहता है, क्रम का अभाव मान्य नही है। लेकिन पडितराज ने इसकी सलक्ष्यता का भी प्रतिपादन किया है। उन्होने "तुल्यगता पि च

---

१. गुरुमध्यगता मया नतांगी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलतांडव नतभ्रू तिलकं मामवलोक्य घूर्णिताऽसीत्॥
—रस गंगाधर पृष्ठ ३०॥

२. दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेवरवो. पॉड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ रघुवंश॥

सुतनु" के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है।[1] ऊपर व्यतिरेक-ध्वनि मे हमने स्पष्ट देखा है कि अभिधेयार्थ और ध्वनि मे क्रम अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये आचार्यो ने वस्तु और अलंकार-ध्वनि का समावेश सलक्ष्य-क्रम मे किया है। अभिधा-मूला ध्वनि के और दो भेद माने जाते है—अर्थान्तर-सक्रमिति और अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि। प्रथम मे अभिधेयार्थ दूसरे अर्थ मे परिवर्तित हो जाता है, लेकिन दूसरे प्रकार की ध्वनि में अभिधेयार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है। इन्ही को कुछ आचार्यो ने "विविक्षितान्यपर-वाच्य" और "अविक्षित वाच्य" कहा है।

मम्मट ने व्यजना के आधार पर ही काव्य के तीन भेद माने है: उत्तम, मध्यम और अधम। इन्ही तीनो को क्रमश: ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य और चित्रकाव्य कहा गया है। जिनमे व्यग्यार्थ, अभिधेयार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी और प्रधान हो उसे ध्वनि-काव्य कहते है।[2] जहा पर व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से अतिशायी न हो वहा पर गुणी भूत व्यंग्य होता है।[3] अव्यग-काव्य को चित्र अथवा अधम-काव्य के नाम से अभिहित किया गया है।[4] साहित्यदर्पणकार ने काव्य के 'ध्वनि" और "गुणीभूत व्यग्य" नामसे दो ही भेद माने है।[5] पडितराज ने यहा पर भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होने काव्य के चार भेद माने है—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम। उन्हों ने अपने मत का समर्थन प्रबल तर्को द्वारा किया है और स्थान-स्थान पर अप्पय दीक्षित का खडन भी। (सभवत: यह खडन आचार्य के जीवन और रचना का प्रधान लक्ष्य रहा होगा) जहा पर शब्द और अर्थ दोनो ही अपने-आपको अप्रधान बनाकर किसी रमणीयार्थ को व्यजित करे, वहा पर उत्तमोत्तम काव्य होता है। शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य के शरीर के तत्व है, उनके अयुधाम होने से ही काव्य की आत्मा व्यजित होती है। जिस काव्य मे व्यग्य अत्यन्त गूढ अथवा अस्पष्ट होता है उसकी रमणीयता एवं चमत्कार-जनकता कम हो जाती है, इसलिये उसे उत्तमोत्तम नही कहा जा सकता। इसके स्पष्टीकरण मे पडितराज ने अनेक उदाहरण दिये है। "निशेषच्युत चन्दन" के अर्थ मे अप्पय दीक्षित का खडन किया है। अर्थ के चमत्कार पूर्ण होते

---

१. देखिये 'रस गंगाधर' 'काव्य के भेद'।

२. इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
—काव्य प्रकाश १। ४२॥
काव्यं वाच्यात् अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यादर्थात् व्यंग्ये व्यजना प्रतिपाद्येऽर्थे अतिशयिनी॥ बालबोधिनी॥

३. अतादृशि गुणीभूत व्यग्येनु मध्यमम्। काव्य प्रकाश। १। ३।

४. काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्य चेतिद्विधा मतम्। साहित्य दर्पण॥

५. शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यग्यं त्ववर स्मृतम्। काव्य प्रकाश १। ४॥

हुए भी प्रधान न होने के कारण स्थल उत्तमोत्तम काव्य न रहकर केवल उत्तम काव्य रह जाता है। वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होते हुये भी चमत्कारपूर्ण अर्थ का किसी अन्य व्यग्य अर्थ की अपेक्षा गौण होने के कारण मध्यम काव्य होता है। जहा पर शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो और अर्थ का चमत्कार उसकी शोभा-वृद्धि मे सहायक हो वहा पर अधम काव्य होता है। पडितराज ने "अधमाधम" की कल्पना का भी खण्डन किया है। जहा अर्थ-चमत्कार का अभाव हो, केवल शाब्दिक चमत्कार ही हो, वहा पर रमणीयार्थ की अनुपस्थिति मे काव्य नही माना जा सकता।[1] पडितराज का यह निरूपण परम्परागत वस्तु मे कुछ नवीनता ला देने के कारण मौलिक है तथा उनके काव्य-लक्षण के सर्वथा अनुरूप भी है। "रमणीयता और अभिधेयार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और तुलनात्मक प्रधानता की चार अवस्थाये मानकर काव्य के चार विभाजन कर दिये गये। "रमणीयता" के अभाव मे काव्यत्व न होने के कारण "अधमाधम" भेद को अस्वीकार करना भी उनके लक्षण के अनुरूप ही है। फिर इस प्रकार भेदों की कल्पना करते जाने से अव्यवस्था भी हो जाती है। मम्मट ने भी चित्र-काव्य के 'शब्द-चित्र' और 'अर्थ-चित्र' दो भेद माने हैं। इस प्रकार से चार हो गये है। इसके अतिरिक्त 'गुणीभूतव्यग्य' के लक्षण मे 'अतादृशि' शब्द का प्रयोग करके आचार्य ने उसकी दो अवस्थाओ का पहले भी सकेत किया है। व्यग्य और वाच्य अर्थ समान भी हो सकते है और व्यग्यार्थ मे हीनता भी हो सकती है। इस दृष्टि से काव्य के चार भेद हो गये। पडितराज को सम्भवत: मौलिक रूप से चिन्तन करने की प्रेरणा इसी शब्द से मिली है।

ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य आदि का रस अलकार वस्तु आदि के आधार पर विभाजन अत्यन्त प्रौढ और सूक्ष्म निरूपण-क्षमता का परिचायक है। इस प्रकार एक एक के (अर्थात् ध्वनि) आदि के नौ-नौ प्रधान तथा अनेक गौण भेद हो जाते है।

व्यग्य और वाच्य तथा रस, वस्तु, अलकार के आधार पर काव्य के भेदो के निरूपण की जिस पद्धति को सस्कृत के आचार्यो ने अपनाया है, वह अत्यन्त महत्व-पूर्ण और अद्वितीय है। सभवत. विश्व की अन्य किसी भी भाषा मे इतना प्रौढ और सूक्ष्म विवेचन नही है। सस्कृत के आचार्यो ने काव्य के बाह्य स्वरूप, अभिव्यजना के प्रकार, वर्ण्य-विषय, भाषा आदि की दृष्टि से भी काव्य के भेदोपभेदो का विशद विवेचन किया है। इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके है, पर इन बाह्य भेदो के जजाल

---

१. 'रस गगाधर' काव्य के भेद।

तथा च व्यंग्य काव्यं अवरम् अधमम् स्मृतम् सच्चचित्र·· द्विविधं शब्दचित्र वाच्यचित्र ।।

—बालबोधिनी पृष्ठ २ ।।

मे उन्होंने काव्य की आत्मा की उपेक्षा नही की है। उनके विवेचन का मुख्य आधार 'ध्वनि', आदि ही रहा है। इस प्रकार काव्य के बहिरग से बढकर उसके अन्तस्तल तक पहुँचकर उसकी आत्मा के व्यजना के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष के देखने की प्रवृत्ति और क्षमता अत्यन्त स्पष्ट है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भेद केवल रूढि और परम्परा का खडन करने के लिए ही किया है।[1] उनका तात्पर्य काव्य के बाह्य आकार-सम्बन्धी स्थूल भेदो से हटकर काव्य की आत्मा तक पहुंचकर परीक्षण करने का है। काव्य के आकार-सम्बन्धी भेद कृत्रिम है। इस विभाजन द्वारा रूढि-प्रियता का खडन किया गया है। काव्य अविभाज्य है, यह अक्षुण्ण धारा के समान प्रवाहित है, इस सत्य का भी निरूपण होता है। आनन्दवर्द्धन का अभिप्राय काव्य-विभाजन मे नही अपितु रूढि के खडन मे है। उत्तम-मध्यम आदि का भेद भी अत्यन्त स्थूल है। केवल व्यंग्य की प्रधानता के कारण किसी काव्य को सुगम कह देना इन आचार्यो को अभिप्रेत नही है। काव्य की उत्तमता के लिए रमणीयता, आह्लाद, हृदय-स्पर्शिता, एक शब्द मे "रस" की प्रौढ व्यजना ही अपेक्षित है। आनन्द-वर्द्धन तथा परवर्ती सभी प्रधान आचार्यो का यही तात्पर्य है। वस्तु और अलकार-ध्वनि का तो काव्यत्व भी रस-ध्वनि के कारण ही है। इस प्रकार केवल "व्यजना" के आधार पर काव्य की उत्तमता की घोषणा मे तात्पर्य नही है। आचार्य के कथन को स्थूल रूप और अभिधेयार्थ मे ग्रहण करके वस्तु-ध्वनि वाले स्थलो को रस के गुणीभूत व्यग्य वाले स्थलो से उत्कृष्ट मान लेना तो भारतीय परम्परा के पूर्णत प्रतिकूल होने के कारण अप-सिद्धान्त हो जायेगा। व्यजना की प्रधानता होने के कारण इसे ध्वनि-काव्य मानना पडता है। इस दृष्टि से यह उत्तम काव्य है। इसका यह तात्पर्य कभी नही है कि वस्तु-ध्वनि का श्लोक रस या भाव वाले स्थल की तुलना मे उत्कृष्ट है। कुप्पु स्वामी ने अपनी पुस्तक मे इसको "सुवर्ण पुष्पा" तथा "अनुरागवती सध्या" नामक दो श्लोकों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[1] प्रथम श्लोक केवल सूक्ति-मात्र है, पर ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार व्यजना की प्रधानता होने के कारण उत्तम काव्य कहा जायगा और दूसरा मध्यम। रस काव्य की आत्मा है, उसके किसी भी रूप से वस्तु और अलंकार काव्य का कोई भी रूप उत्तम नही हो सकता। अगर काव्य-विभाजन का यह आधार बिलकुल दृढ और जड ही मान लिया

---

१. **सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।**
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

× × ×

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सर.।
अहो देवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

जाय तो यह निरूपण बिलकुल अवैज्ञानिक और रूप-सिद्धान्त होगा। आचार्य को यह अभीप्सित नही था इसका निर्देश भी कुप्पुस्वामी ने कर दिया।[1] स्वय आचार्य ने इस विभाजन के पुनः संस्करण की क्षमता को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं उन्होने इसको प्रेरणा भी दी है। आचार्य मम्मट और पडितराज का विवेचन वस्तुतः इस विभाजन का पुनः सस्कार-मात्र है। पडितराज ने "अधामाधम" का खंडन "रमणीयता" के आधार पर किया है और उससे सूक्ति वाले स्थलो को व्यजना-प्रधान होने पर भी उत्तमता का खडन हो जायगा। पडितराज ने रमणीयता के अभाव में सूक्ति-मात्र को काव्य मानने को अस्वीकार करके इस विभाजन की स्थूलता का स्पष्टतः खडन कर दिया है। रस-ध्वनि,वस्तु-ध्वनि और अलकार-ध्वनि को काव्य के प्रधान भेद मानकर उनमें उत्तम, मध्यम और अधम की कल्पना करने से उस विभाजन की वैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। "रस-ध्वनि" की सर्वोत्कृष्टता मे कोई सन्देह ही नही है पर "वस्तु-ध्वनि" के स्थल को इसके गुणीभूत व्यग्य से उत्तम मानना इस सिद्धान्त के बाह्य स्थूल और जड रूप का ग्रहण-मात्र है। ऐसा ही आचार्यो को अभिप्रेत है, इसका निर्देश ऊपर हो चुका है। कहने का तात्पर्य यह है कि रस के गुणीभूत व्यग्य की वस्तु-ध्वनि से उत्तमता मे सन्देह नही है। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए पडितराज ने अपने काव्य-विभाजन मे शब्द-शक्ति और रमणीयता दोनो का सम्मिलित विचार किया है। जिस रसमय स्थल मे कवि के असामर्थ्य के कारण व्यग्य-सम्बन्धी कोई त्रुटि रह गई, उसको उत्तमोत्तम न कहकर उत्तम कह दिया जायगा। पर उसको केवल व्यग्य की गौणता के कारण न अधम काव्य माना जा सकता है और न वस्तु-ध्वनि आदि से हेय। कुप्पुस्वामी द्वारा उद्धृत दो श्लोको से यह अत्यन्त स्पष्ट है।

यह विभाजन-पद्धति विश्व के समीक्षा-शास्त्र को काव्य की आत्मा तक पैठने तथा तदुपरान्त काव्य की उत्कृष्टता का निर्णय करने का सन्देश देती है। काव्य के बाह्य आकार-प्रकार मे उलझकर समीक्षा करना व्यर्थ है। बाह्य स्वरूप के भेद कृत्रिम है, उनका कोई महत्व नही। काव्य के प्राण के स्पन्दन का अनुभव और माप ही वास्तविक काव्य-समीक्षा है।

तत्वो की उद्भावना.-पीछे हमने काव्य के कुछ प्रधान तत्वो का निर्देश किया है। अलकारादि कुछ स्थायी तत्व प्रायः विश्व की प्रत्येक भाषा के समीक्षा-शास्त्र मे मान्य हैं। सस्कृत-आचार्यो के प्रौढ चिन्तन के फलस्वरूप इन तत्वो को अत्यन्त स्पष्ट रूप मिल गया है। इतनी स्पष्टता अन्यत्र दुर्लभ है। यहा पर हम सक्षेप मे इन तत्वो के विकास

---

१. एव० बी० एल० पृष्ठ ४३–४४।
(Highways and Byways of Literary criticism in Sanskrit)

तथा स्वरूप पर विचार करेंगे। इन्ही तत्वो के नाम पर कतिपय विद्वान् सम्प्रदाय-विभाजन करते है। हम यहाँ पर स्थानाभाव के कारण सम्प्रदायो के विकास पर नही लिखेंगे। सस्कृत-साहित्य के सम्प्रदायो के सम्बन्ध मे हम अपना मन्तव्य इसी अध्याय में स्पष्ट कर चुके है।

रस और अलकार सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र की दो प्रधान वस्तुएँ है। इनका निरूपण प्रायः सभी ग्रन्थो मे हुआ है। इनमे से कौन प्राचीन है, यह कहना कठिन है। भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त के अनुसार काव्य के जो प्रधान तत्व है, उनके प्रादुर्भाव-काल के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता है। सभी प्रधान तत्वो के बीज वेद मे ढूँढ निकालने की प्रवृत्ति है। इन तत्वो मे प्राचीनता और नवीनता का तारतम्य स्थापित करने की सामग्री उपलब्ध भी नही है। सभवतः ऐसा कोई क्रम निश्चित किया भी नही जा सकता। काव्य की आत्मा के अनुसधान मे इन तत्वो का नामकरण भारतीय आचार्य करता गया है। काव्य मे शोभा लाने वाले धर्म अलकार माने जाते रहे। फिर उनने से जिनका काव्य-सौन्दर्य से नित्य सम्बन्ध प्रतीत हुआ उन्हें रस का धर्म मानकर गुण कह दिया गया। गुणो का शब्द और अर्थ से सम्बन्ध मानकर रीति की कल्पना हुई। इन तत्वो का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि इन तत्वो के स्वरूप मे तो विकास हुआ, इनका पारस्परिक अन्तर भी स्पष्ट होता चला गया, इन्हे एक निश्चित स्परूप भी मिलता गया, लेकिन इनके प्रादुर्भाव-काल का निर्णय सभव नही। एक तत्व के भिन्न स्वरूपो के विभिन्न नामकरण हुए और उन्हे विभिन्न नामो से अभिहित किया गया, लेकिन सबका आदि-स्रोत एक ही रहा। संस्कृत-अलकार-शास्त्र का यह क्रमिक विकास भी इस प्रकार के सम्प्रदाय-विभाजन का समर्थन नही करता।

अलंकार—वेदो तथा आर्य साहित्य मे अलंकारों का बहुत सुन्दर प्रयोग है। इसका यह तात्पर्य नही है कि ऋषियो ने यह प्रयोग जान-बूझकर किया है अथवा उन्हें प्रयुक्त अलकारो के स्वरूप और परिभाषा की निश्चित धारणा थी। अलकार भाषा के अभिन्न अग है, उनका प्रयोग स्वत: ही हो जाता है। फल बेचने वाला अपने फलों की प्रशसा मे अनेक अलंकारो का प्रयोग करता है। इसलिए अलकार-प्रयोग-मात्र से यह मानना तो समीचीन नही है कि वेदो मे अलकार-निरूपण है। पर इतना तो निश्चित ही है कि वेदो के परवर्ती काल मे निरुक्त आदि के प्रणयन-काल में ही अलकार पर विचार प्रारम्भ हो गया था। गार्ग, यास्क आदि ऋषियों ने उपमा अलकार पर विचार किया है, इसका निर्देश हो चुका है। इस विवेचन के आधार पर कुछ लोग अलंकार को ही सबसे प्राचीन काव्य-तत्व कहना चाहते है। पर यह कहना तर्क-सम्मत नही प्रतीत होता है। आदि कवि और भरतमुनि के काल के सम्बन्ध मे कुछ निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। यह कहना संभव नहीं कि यास्क और

गार्ग मुनि भरत से पूर्व के है। फिर उपनिषदो में रस ही नही अपितु अन्य भी सभी तत्त्वो का निरूपण हुआ है। इसलिए इस प्रकार की प्राचीनता की बात करने से कुछ मतलब सिद्ध नही होता। आचार्य अलकारो के विवेचन का प्रारम्भ तो वस्तुत भामह से ही मानते है, पर रस-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भरत ही माने जाते है। भामह, दडी, उद्भट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दु, राज आदि अलकार-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य माने जाते है।

भामह आदि अलकारवादियो ने अलकार को बहुत व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया था और इससे अलकार में ही 'रस-गुण' आदि तत्वो का भी समावेश हो गया था। उन आचार्यो के विवेचन से अलकारो की बहिरगता अथवा अन्तरगता स्पष्ट नही होती। अलंकारो का स्वरूप भी परवर्ती काल के आचार्यों ने ही निश्चित किया। सभी तत्वो के स्वरूप का विकास होता रहा और अन्त मे ध्वनिकार के समय मे उन की निश्चित परिभाषा बन गई। भामह आदि आलकारिको ने भी शब्द और अर्थ पर ही विचार किया है। उसीको सर्वस्व माना है, इसलिए एक प्रकार से उन्होने भी परोक्ष रूप मे अलकारो की बहिरगता स्वीकार कर ली है। अलकार काव्य के शोभाकारक तत्व कहे गये है। बाद मे गुणो की भी यही परिभाषा करनी पडी। इस प्रकार आलकारिको के मस्तिष्क मे अलकार और गुणो के अन्तर को स्पष्ट समझ लेने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इस अन्तर के स्पष्टीकरण मे तथा काव्य की आत्मा के अनुसन्धान मे काव्य के बहिरग और अन्तरग पक्ष की कल्पना करना आवश्यक हो गया। गुणो की अलकारो से तुलना करने पर अलकारो की बहिरगता अपने-आप ही प्रतिपादित हो गई। इसी बहिरग और अन्तरग के विवेचन के द्वारा अलंकारो का स्वरूप निश्चित हो सका। यह कार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त और भोज के समय तक पूर्ण हो पाया।

अलकारो के विशेष और सामान्य दोनो स्वरूपो पर अत्यन्त विशद विवेचन हुआ, सामान्य स्वरूप के विवेचन से अलकार शब्द मे व्यापक धर्म की प्रतिष्ठा हो गई। उक्ति-वैचित्र्य का कोई भी प्रकार अलकार नाम से ही अभिहित किया गया। 'व्यक्ति-विवेक' और उसकी व्याख्या मे अलकारो को "भगिभणिति" कहा गया है। यहाँ पर अलकार की परिभाषा करते हुए "चारुत्वमलकार" कहा गया है। यह वामन के अलकार-लक्षण का शब्दान्तर-मात्र है। वामन अलंकार को "सौन्दर्यमलकारः" कहकर अत्यन्त व्यापक अर्थ मे ग्रहण करते है। लेकिन उससे अलकार के निश्चित स्वरूप का ज्ञान नही होता। इसकी अपेक्षा वक्रोक्तिकार का विवेचन अलकार को अधिक निश्चित स्वरूप प्रदान करता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा है। वे "भंगिभणिति" को ही अलकार का सर्वस्व मानते है। यही दृष्टिकोण भामह का भी है। वे भी "वक्रोक्ति" को ही अलकार का सर्वस्व मानते है। यह "कोऽलंकार अनया

विना" से अत्यन्त स्पष्ट है। 'व्यक्ति-विवेक' मे यही कहा गया है। "शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलकार"। नमिसाधु ने भी हृदयग्राही अर्थ-प्रकारो को अलकार कहा है।[1] 'काव्यादर्श' मे अलकारो को काव्य के शोभाकारक धर्म माना गया है। इन सभी लक्षणो से यह स्पष्ट है कि सस्कृत के आचार्यो ने अलकार का कितना व्यापक अर्थ लिया है। शब्द और अर्थ का असाधारणत्व, उक्ति का वैचित्र्य ही अलकार है। "गाय बनगाय-जैसी है' और 'मुख चन्द्रमा के समान है,' ये दोनो उक्तियाँ आपाततः समान ही प्रतीत होती है। इन दोनो के बाह्य स्वरूप के आधार पर इन्हे 'उपमा' अलकार के उदाहरण कहना चाहिए।[2] लेकिन प्राचीन आलकारिको का विवेचन इतना अप्रौढ और स्थूल नही है। उनकी व्याख्या इतने बहिरग तत्वो पर नही टिकी है कि उन दोनो उक्तियो की अलकारता मान्य हो जाय। तथ्य निरूपण या वस्तु की बौद्धिक प्रतीति काव्य का विषय नही है। काव्य का विषय भाव की अनुभूति जाग्रत करना है। उसका क्षेत्र बुद्धि की अपेक्षा हृदय ही अधिक है। काव्य मे वस्तु का अर्थ-ग्रहण नही अपितु बिम्बग्रहण अपेक्षित है, वस्तु या भाव का साक्षात्कार करा देना काव्य का कार्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर दूसरे वाक्य की अलकारिता स्पष्ट हो जाती है। सस्कृत के आचार्यो ने इतना सूक्ष्म विचार किया है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यो को अलकार का काव्य के बाह्य पक्ष से ही सम्बन्ध मान्य है। आनन्दवर्द्धन के पहले तक इसका स्पष्ट निर्देश तो किसी ने भी नही किया है, क्योकि उस समय तक काव्य के शरीर और आत्मा के अन्तर मे ही स्पष्टता नही आ पाई थी। लेकिन अलंकार को शब्द और अर्थ से सम्बद्ध मानने, शब्द और अर्थ की विच्छित्ति कहने, उन्हें शब्दार्थ चारुत्व का हेतु बताने का तात्पर्य ही यह है कि वे इनको काव्य-शरीर का धर्म मानते है। काव्य-प्रकाशकार ने अलकार और गुणो का अन्तर स्पष्ट करके अलकारों की बहिरगता निश्चित रूप से सिद्ध कर दी है। उन्होने अलंकारो को शब्द और अर्थ मे सौन्दर्य-वृद्धि करके काव्य के अगीभूत रस का उपकारक कहा है। इनका सीधा सम्बन्ध तो काव्य के शरीर से ही है। अलकारो और रस का सम्बन्ध व्यभिचारी और ऐच्छिक है। किसी भी अलकार का किसी विशेष रस से कोई नित्य सम्बन्ध नही है। प्रत्येक अलकार किसी भी रस का उपकारक हो सकता है। और अलकार के अभाव मे भी रस की निष्पत्ति होती है। लेकिन गुण रस के नित्य धर्म है। उनका रसो से निश्चित सम्बन्ध है। माधुर्य वीभत्स और रौद्र में नहीं रहता। गुणो का शब्द और अर्थ से गौण सम्बन्ध है। उन्हें शब्द

---

१ **ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तो अलकाराः।**

२ **उपमा हि यथा गौस्तथा गवयः। रूपकम् गौ. वाहीक इति। न वैभवादि काव्योपयोगीति॥ लोचन, पृष्ठ २१०॥**

और अर्थ का धर्म कहना केवल गौण प्रयोग मात्र है। वे भी शब्द और अर्थ के सौन्दर्य के हेतु है, पर यह सौन्दर्य अलकार जनित सौन्दर्य से भिन्न प्रकार का है। अलंकार उस सौन्दर्य मे वृद्धि भी करने वाले है। इसीलिए मम्मट ने उनकी तुलना हार, अगद आदि आभूषणो से की है।[1] आभूषण सौन्दर्य मे वृद्धि करते है, सौन्दर्य उत्पन्न नही कर सकते। यही दृष्टिकोण साहित्यदर्पणकार का भी है।[2]

अलंकार काव्य के बहिरग तत्व है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन आनन्दवर्द्धन के अनन्तर ही होने लगा था। उनकी बहिरगता की दृष्टि से जो विवेचन किया गया उसी से अलकार लक्षण मे विशेष स्पष्टता आई। ध्वनिकार इन तत्वो के महत्व मे तारतम्य का निर्देश अगीभूत और अगभूत शब्दो का प्रयोग करके करते है। काव्य की आत्मा को अगी कहा गया था तथा शरीर को अंग। अलकारो का समावेश निश्चय ही अग मे हुआ। आचार्य मम्मट और साहित्यदर्पणकार ने अलकारो की तुलना हार आदि आभूषणो से की और इस प्रकार उनको अत्यधिक बहिरग कह दिया। लावण्य के आकर्षक गुण की वृद्धि मे आभूषण सहायक अवश्य होते है, पर उनके अभाव में भी लावण्य मनोमुग्धकारी होता है। इन आचार्यो की दृष्टि मे अलकारो का इतना ही महत्व रहा। लेकिन अभिनवगुप्त ने अलकार-प्रयोग को सर्वत्र आभूषणवत् नही माना है। रसाक्षिप्त कवि द्वारा प्रयुक्त अलकारो की तुलना कुकुम-लेपन आदि क्रियाओ से ही करनी चाहिए। इस दृष्टि से अलकार काव्य के लिए अपेक्षाकृत अधिक अन्तरंग हुए। भोज ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया। उन्होने वस्त्र, माला, आभूषण आदि धारण करना, बाल काढना, और स्नान कुकुम-लेपन आदि क्रियाओ को क्रमश. बाह्य, अभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर कहा है तथा इनकी तुलना शब्दालकार, अर्थालकार और उभयालकार से की है। आनन्दवर्द्धनाचार्य का दृष्टिकोण तो और भी विशद है। वे अलंकारो को केवल काव्य के अगभूत नही मानते है। जो अलकार वाच्य होते है वे तो अगभूत है, लेकिन व्यग्य अलकार काव्य की आत्मा बन जाते है। वे स्वय अगीभूत हो जाते है।[3] प्रतिभावान कवि के द्वारा अलकार प्रयोग स्वतः ही हो जाता है।[4] काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल अथवा

---

१ उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥ काव्य प्रकाश ॥

२ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायि।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ साहित्य-दर्पण ॥

३ शरीरीकरण येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
ते अलकारा परां छायाँ भाति ध्वन्यंगतां गताः ॥ ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत ॥

४ अलंकाराणि हि निरूप्यमाण-दुर्घटान्यपि रस समाहित चेतसः प्रतिभानवत
कवे वहं पूर्णिकथा पाकपतन्ति।

शास्त्र की भाषा से भिन्न होती है । उसमे एक विच्छित्ति, वैचित्र्य होता है । शब्दार्थ का वैचित्र्य ही अलकार है, इसलिये ध्वनिकार ने अलकारो को काव्य के शरीर का तो अभिन्न अग माना ही है। रस को अव्य जित करने वाले शब्दार्थ का एक विशेष प्रकार, एक विशेष सघटना ही अल कार है ।[1] इसलिए वे बहिरंग नही, यह भी उन्हे मान्य है । ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है . 'तस्मान्न तेषा बहिरगत्वं रसाभिव्यक्तौ ।' 'ध्वन्यालोक' ने अलकारो के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, उसमे प्राचीन आल कारिको की अपेक्षा अर्थ की विशदता है । उन्होने भी अल कार को शब्दार्थ का वैचित्र्य ही माना है । दूसरी तरफ उन्होने काव्य की आत्मा और शरीर की दृष्टि से विचार करके उनके महत्व का भी प्रतिपादन कर दिया है । तथा अलंकार को काव्य की आत्मा कहकर तो उसकी विशदता मे और भी वृद्धि कर दी है । " आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आल कारिको की विचार-सामग्री का उपभोग भी किया है तथा उसमे अपने मौलिक चिन्तन से नवीनता और प्रौढता भी ला दी है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि अलकार-काव्य की आत्मा 'रस' की अपेक्षा बहिरग अवश्य है, पर वे काव्य-शरीर के अभिन्न अग भी है। इस प्रकार वे काव्य के लिए नितान्त बहिरग नही है । आभूषणो की तरह वे सौन्दर्य के प्रसाधन-मात्र ही नही है, परन्तु लावण्य के अभिन्न अग भी है । शब्द और अर्थगत माधुर्य, प्रसाद और ओज रस के व्यजक है, काव्य-शरीर का लावण्य वे ही है, इसलिये वे अलकारगत शब्द-अर्थ के वैचित्र्य की अपेक्षा अन्तरग है । रसाक्षिप्त कवि की अल-कार-योजना इन गुणो के स्वाभाविक आकर्षण मे वृद्धि करती है । इसलिये गुणो की अपेक्षा से तो अलकार बहिरग है, पर वे सदा ही काव्य के लिये पूर्णत. बहिरग, ऊपर से आभूषणो की तरह आरोपित नही कहे जा सकते है । हा, जहा ये अलकार काव्य-शरीर के सौदर्य के अभिन्न अग न होकर उसमे आभूषणो की तरह वृद्धि करते है, वहा पर इनको बहिरग कहना अधिक समीचीन है । अलकारो की बहिरगता का एक तात्पर्य यह भी है कि उनका सौदर्य और समीचीनता काव्य की आत्मा रस पर ही आश्रित है । जैसे अचेतन शव के आभूषण और लावण्य दोनो ही अमगलकर प्रतीत होते है, उनमे कोई आकर्षण नही रह जाता है, वैसे ही रसहीन-काव्य मे अलकारो का आधिक्य भार-स्वरूप है । अलकार-प्रयोग का औचित्य रस पर ही आश्रित है, उनकी उपादेयता रस-निष्पत्ति के सहयोग मे है ।[2] अलकार के लिये अलकार्य की अपेक्षा है, यही उसका

---

१. यतो रसा वाच्यविशेषैरेव आक्षेप्तव्या: तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः तत्प्रतिपादिनो वाच्याविशेषा एव रूपकादयो अल कारा ।। ध्वन्यालोक पृष्ठ २७ ।।

२ तथा हि अचेतन शब्दशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलकार्यस्याभावात् । यतिशरीर कटकादियुक्त हास्यावहं भवति अलंकार्यस्य अनौचित्यात् ।। 'ध्वन्यालोक', लोचन पृष्ठ ७५ ।

बहिरगत्व है। 'ध्वनि' होने पर तो यह बहिरगत्व भी नही रह जाता है, अलकार भी अन्तरग ही बन जाता है। ऊपर अलकार के सम्बन्ध मे आनन्दवर्धनाचार्य का जो मत उद्धृत हुआ है, वह सस्कृत-साहित्य मे सर्वमान्य है। आचार्य मम्मट ने भी गुण और अलकार दोनो का काव्य मे समवाय सम्बन्ध माना है, इससे उसकी अन्तरगता प्रतिपादित हो गई है। उन्होने अलकारो से आभूषणो की तुलना अपूर्ण बताई है। 'काव्य-प्रकाश' के टीकाकार ने अलकारो को शब्द और अर्थ से अपृथक सत्ता वाला कहा है।[1] इससे उनके मत मे भी अलकार काव्य-शरीर के अभिन्न अंग हो गये है।

अलकारो के सामान्य आधार के सम्बन्ध मे भी सस्कृत-आचार्यो ने पर्याप्त विचार किया है। विभिन्न आचार्यो ने विभिन्न आधार माने है। कुछ आचार्य सब अलकारो को उपमा का ही भेद मानते है। उनका कहना है कि बिना उपमा के किसी भी अलकार की अलकारिता सभव नही। दन्डी ने सभी अलङ्कारो के मूल मे श्लेष को माना है।[2] भामह को स्वभावोक्ति का अलकारत्व मान्य नही है, इसका विवेचन आगे इसी अध्याय मे 'वक्रोक्ति' के प्रसग मे किया जायगा। वे सब अलकारो के लिये अतिशयोक्ति की अपेक्षा मानते है। भामह ने 'अतिशयोक्ति' और 'वक्रोक्ति' को प्राय: एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है। 'वक्रोक्ति' को अलकारो का मूल आधार मानने के कारण ही उन्होने सूक्ष्म, हेतु और श्लेश को अलकार नही माना है। भामह को 'वक्रोक्ति-शून्यता से 'सर्वालंकाराभाव' ही अभिप्रेत है। कुन्तक ने तो 'वक्रोक्ति' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ लिया है। उन्होने अलकार ही नही सारे काव्य की आधार-भूमि ही 'वक्रोक्ति' मान ली है। उनके 'वार्ता' को काव्य मानने का कारण भी यही है। 'वक्रोक्ति' शब्द का तात्पर्य उक्ति-वैचित्र्य के रूप मे सस्कृत आचार्यो को मान्य हो गया और इस रूप मे 'वक्रोक्ति' को सभी ने अलकार-मात्र की आधार-भूमि मान लिया है। इसका विशद विवेचन आगे किया जायगा।

सस्कृत मे समीक्षा-शास्त्र के प्राचीनतम उदाहरण अलकार-निरूपण के रूप मे ही प्राप्त होते है।[3] सभी आचार्यो ने इस विषय पर थोडा विचार तो किया ही है। भेदो और उपभेदो की कल्पना करते जाना सस्कृत-आचार्यो की प्रधान विशेषता रही है। अलकारों की सख्या-वृद्धि का भी यही कारण है। ईसा की १२ वी शताब्दी तक यह संख्या १०३ तक पहुँच गई थी और पडितराज के समय मे यह सख्या भी बढकर १९३ हो गई। विश्व-साहित्य मे अलकारो का इतना सूक्ष्म विभाजन अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो। अलकारो की सख्या-वृद्धि की दृष्टि से ईसा की आठवी

---

१. 'काव्य-प्रकाश', बालबोधिनी पृष्ठ ४७०-७१।

२ श्लेष: सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।

३. काव्य-विचार

शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का समय स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इस काल मे सस्कृत-आचार्यो का ध्यान प्रधानत इसी तत्व पर रहा। प्रधान अलकारवादी इसी काल मे हुए है। वैसे तो आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि भी इसी काल के आचार्य है, इसलिए इन शताब्दियो को अलकार ही नही, सस्कृत समीक्षा-शास्त्र के विकास का ही स्वर्ण-युग कहना चाहिए। इसके अनन्तर इस क्षेत्र मे अधिक प्रतिभा अवतीर्ण नही हुई। जो मौलिक उद्भावनाएँ इस काल मे हो चुकी थी, उन्हीकी विशद व्याख्या अथवा साधारण परिमार्जन परवर्ती काल मे होता रहा। 'रस गगाधर' सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र की सबसे प्रौढ और प्रामाणिक रचना है, पर इसके मूलभूत सिद्धान्तों की उद्भावना नवी शताब्दी तथा उनसे कुछ परवर्ती काल मे हो चुकी थी। सस्कृत-समीक्षा के सभी सम्प्रदाय इस दसवी शताब्दी के पूर्व ही बन चुके थे। आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि आचार्य प्राय समकालीन ही है। मम्मट भी प्राय इनके समकालीन ही है। इन आचार्यो ने अन्य तत्वो के साथ ही अलकारो पर भी विशद विवेचन किया है। इनका ध्यान भी इन भेदोपभेदो की ओर गया है। प्रत्येक आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के अलकार-निरूपण का उपयोग किया है। उनकी सख्या और परिभाषा मे बहुत-कुछ परिवर्तन होता रहा है। अलकारों की सख्या भी सस्कृत-साहित्य के अलकारिको के काल-निर्णय का एक आधार रहा है। एकावली, तद्गुण, पर्याय, परिकर, आदि का विवेचन भामह, दण्डी, भट्टी, उद्भट वामन ने नही किया है, और रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने इनका निरूपण किया है। कुछ अलकार इन्ही आचार्यो द्वारा आविष्कृत हुए हैं, और इस आधार पर भी ये आचार्य भामह, दडी, वामन आदि से परवर्ती कहलाते है।

अलकार-विभाजन के कई आधार माने गए है। शब्दगत, अर्थगत और उभय-गत विभाजन तो सर्वमान्य ही है। भोज ने अलकारोंका एक नवीन विभाजन बाह्य आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर नाम से किया है। अलकार-विभाजन का सर्वप्रथम प्रयास रुद्रट के द्वारा हुआ है। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष ये पाँच अलंकार-विभाजन के आधार माने है। इसके बाद रुय्यक ने सात आधार मान लिए। 'प्रतापरुद्रीय' मे निम्नलिखित आधारो का उल्लेख है—साधर्म्य, अध्यवसाय, विरोध, वाक्य-न्याय, लोक-व्यवहार, तर्क-न्याय, शृङ्खला-वैचित्र्य, अपह्नव और विशेष वैचित्र्य। इसमे भी 'साधर्म्य' के कई उपभेद और मान लिये। भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेद, साधारण। ये आधार विभिन्न समयो मे निरन्तर बदलते रहे है। अलकारों का निरन्तर विकास होता रहा। उक्ति-वैचित्र्य के विभिन्न प्रकारो की उद्भावना आलकारिक करते रहे। इससे विभाजन का कोई भी आधार हमेशा के लिए पर्याप्त और सर्वमान्य नही रह सका।

काव्य मे अलकारो के महत्व के सम्बन्ध मे भी आचार्यो का पर्याप्त मतभेद रहा

है, भारतीय आचार्य-परम्परा मे अलकारो को काव्य के आवश्यक तत्व मानने मे किसी को आपत्ति नही है। लेकिन इसके महत्व पर एकमत्य नही हुआ। काव्य की आत्मा का गौरव—रस, अलकार, रीति आदि सभी प्रधान तत्वो को प्राप्त हुआ है। आत्मा के विचार से ही अन्य तत्वो के महत्व का तारतम्य भी प्रतिपादित हुआ। भामह, दण्डी आदि ने रस का भी अलकारो मे ही समावेश कर लिया। इस प्रकार वे तो काव्य के लिए अलकार-विशिष्टता को नितान्त अनिवार्य मानकर ही चले। रस और ध्वनि वालो ने इसे रस का उपकारक मानकर इसे गौण स्थान दिया। काव्य-क्षेत्र मे आनन्दवर्द्धन के प्रदेश के साथ काव्य के विभिन्न तत्वो मे एक विशेष व्यवस्था स्थापित हो गई थी। काव्य की आत्मा के अनुसधान मे इनके पूर्ववर्त्ती आचार्य भी सलग्न थे। ध्वनिकार ने इस कार्य को पूरा किया। उनके समय मे ही 'रस' काव्य की आत्मा का गौरव प्राय. सर्वसम्मति से प्राप्त कर चुका था और इस प्रकार रस की दृष्टि से काव्य के अन्य सब तत्वो मे एक व्यवस्था स्थापित हो गई थी। इसी व्यवस्था अथवा समन्वय के सिद्धान्त का अनुसरण करने के कारण मम्मट आदि परवर्त्ती आचार्यो का समन्वयवादी कहा गया है। लेकिन इस समन्वय के बाद भी अलकार का महत्व घटा नही था। काव्य का प्राण चमत्कार माना जाता था और उसका एक हेतु अलकार भी माना गया। अलकार शब्द का व्यापक अर्थ लिया गया और उसकी उपस्थिति भी अनिवार्य हो गई। निरलकार-स्थलो को काव्य मानने मे मम्मट को आपत्ति है, इसका विवेचन पीछे 'काव्य-लक्षण' पर विचार करते समय किया गया है। इससे स्पष्ट है कि अलंकार उक्ति-वैचित्र्य के सामान्य स्वरूप मे काव्य मे रहेगा ही, चाहे उसके किसी विशेष रूप का विवेचन न हो सके। इससे अलंकारत्व काव्य का लक्षणघटक सिद्ध हो गया। काव्य मे अलकारो के स्थान के सम्बन्ध मे कुछ विचार इसी अध्याय मे उनकी बहिरगता पर लिखते समय भी किया गया है। उन्हे काव्य-शरीर का अभिन्न अग कहा गया है। ध्वनिकार ने अलकार-ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर तो अलकारो का महत्व और भी बढा दिया है। आनन्दवर्द्धन अलकारो को काव्य के अगभूत तो सर्वत्र ही मानते है, इस प्रकार उनका प्रयोग काव्य मे अपरिहार्य है। जयदेव-जैसे कपितय ऐसे आचार्य भी हुए है,[1] जिन्होने निरलकार काव्य मानना 'अनुष्ण अग्नि' कहने से भिन्न नही माना।[2] इस विवेचन से काव्य मे अलकार की

१ शब्द प्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदु ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्त्वेन व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ।।
'भट्टनायक'

२ अगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलकृती ।।
असौ न मन्येते कस्मादनुष्णमनलकृतीः ।। 'चन्द्रालोक'

उपस्थिति अनिवार्य सिद्ध होती है। इसका यह तात्पर्य नही है कि अलकारो के विशेष प्रकार भी काव्य मे रहने आवश्यक है। उक्ति-वैचित्र्य के अभाव मे काव्य की कल्पना नही हो सकती, यही सस्कृत-आचार्यो को अभिप्रेत है। सस्कृत मे अलकार उक्ति-वैचित्र्य, भगिभणिति आदि अर्थो मे ग्रहण हुआ है।

वक्रोक्ति—अत्यन्त प्राचीन काल मे ही कवियो और आचार्यो की यह दृढ धारणा बन गई थी कि काव्य मे शब्द और अर्थ के एक विशेष सम्बन्ध का ही महत्व है। भट्टनायक ने शास्त्र को शब्द-प्रधान, आख्यान को अर्थप्रधान और काव्य को इनसे पृथक् दोनो गुणो-सहित व्यापार-प्रधान कहा है। 'अग्नि-पुराण' मे भी यही कहा गया है।[1] काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो का ही महत्व कम है, इनके विशेष सम्बन्ध, इन दोनो के समन्वय मे ही काव्य है। आचार्यो द्वारा काव्य-सामान्य के लिए साहित्य शब्द का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है और इनके मूल मे समन्वय की भावना है। कवि-कुल-शिरोमणि कालिदास ने भी "वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये" से इसी समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। कवि नीलकठ ने काव्य के लिए विशेष विन्यास-भव्यता को आवश्यक माना है। राजशेखर ने इसी को 'उक्ति-विशेष' के नाम से अभिहित किया है। काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल और शास्त्र की भाषा से भिन्न होती है। उसमे विन्यास की भव्यता, शब्द और अर्थ का वैचित्र्य, और उनका समन्वय रहता है। इसीको प्राचीन आचार्यो ने 'उक्ति' कहा है। यह शब्द काव्य की भाषा के अर्थ मे रूढ हो गया है। राजशेखर की स्त्री अवन्तीसुन्दरी ने इसी को "विदग्ध-भणितिभगि" कहा है। उक्ति के इसी स्वरूप मे भामह और कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति के बीज उपलब्ध होते है। इन दोनो आचार्यो ने भी 'वक्रोक्ति' की व्याख्या मे अवन्तीसुन्दरी द्वारा प्रयुक्त पदावली का ही प्रयोग किया है। 'वक्रोक्ति' का मूल भट्टनायक की विचार-धारा मे उपलब्ध होता है। भामह और कुन्तक के समय मे इसका स्वरूप निश्चित हो गया।

सस्कृत-साहित्य मे वक्रोक्ति शब्द दो पृथक् अर्थो मे प्रयुक्त होता है। 'अग्नि पुराण' मे वक्रोक्ति को एक शब्दालकार माना गया है और उसके 'काकु' तथा श्लेष दो भेद भी किये गये है। इसके अनन्तर रुद्रट ने भी इसे शब्दालकार ही कहा है। रुद्रट ने इसे उदाहरणो द्वारा अधिक स्पष्ट कर दिया है। परवर्ती आचार्यो को वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे यही मत अधिक मान्य है। भोज, मम्मट, आदि ने भी उसे शब्दालकार ही माना है। आचार्य विश्वनाथ ने तो इसे एक अलकार-मात्र मानकर

---

१. शास्त्रे शब्दप्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठाता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं ताभ्यां विभिद्यते ॥ अग्निपुराण ॥

कुन्तक के काव्य-लक्षण का खडन ही किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सस्कृत-साहित्य मे वक्रोक्ति का यह अर्थ अधिक मान्य हुआ है। वामन ने 'वक्रोक्ति शब्द का सबसे भिन्न अर्थ किया है। वे इसे एक अर्थालकार मानते है। उन्होने इसका लक्षण "सादृश्यलक्षणा वक्रोक्ति" दिया है। यह अर्थ सस्कृत-साहित्य के किसी भी अन्य आचार्य को मान्य नही है। मम्मट ने इसी 'सादृश्यलक्षणा' को अतिशयोक्ति का एक भेद कहा है।

भामह, कुन्तक आदि आचार्यो ने इन दोनो अर्थों से भिन्न एक तीसरा अर्थ लिया है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को अलकार सामान्य की आधार-भूमि कहा है। उनके मतानुसार 'वक्रोक्ति' के अभाव मे काव्य की भी कल्पना नही की जा सकती है। काव्य अभिव्यजना का वैचित्र्य ही है। साधारणउक्ति मे काव्यत्व नही है। यही कारण है कि भामह ने 'वार्ता' को काव्य नही माना है। भामह ने 'वार्ता' का उदाहरण देकर उसके काव्यत्व को अस्वीकार किया है।[1] वैचित्र्य के अभाव के कारण ही भामह स्वभावोक्ति को अलकार नही मानते है। स्वभावोक्ति के अलकारत्व पर उनके परवर्ती सभी आचार्यो ने विचार किया है। उनमे से अधिकाश व्यक्ति इसे अलकार मानने के पक्ष मे है। दडी ने स्वभावोक्ति को आदि अलकार कहा है।[2] दडी इसमे भी साधारण चमत्कार मानते है, इसीलिए उन्होने उसे अलकार माना है। वे अलकारो के दो प्रधान भेद मानते है, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति।[3] दडी ने भी रस और भाव का समावेश वक्रोक्ति ही मे किया है, क्योकि ये दोनो आचार्य अलकार-वादी है और उनके मतानुसार वक्रोक्ति अलकारत्व का सामान्य धरातल है। भोज ने रस की पृथक सत्ता स्वीकार कर ली है और उसको वक्रोक्ति की अपेक्षा स्वभावोक्ति रस के अधिक निकट मान्य है। उन्होने काव्य की अभिव्यजना के तीन विभाग किये है रसोक्ति, स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। भोज ने वक्रोक्ति को दो अर्थो मे प्रयुक्त किया है—अलकार सामान्य तथा उपमा रूपक आदि की आधार-भूमि। वक्रोक्ति को अलकार सामान्य का लक्षण मानते हुये भी भोज ने इस अर्थ मे इसका प्रयोग बहुत कम किया है। इसके लिए उन्होने अलकार शब्द का प्रयोग ही उचित समझा है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि वक्रोक्ति के दो भिन्न अर्थो का साथ साथ विकास

१ गतोऽस्तमर्को भातीन्दु यान्ति वासाय पक्षिण ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेना प्रचक्षते ।। काव्यालंकार ।।

२ नानावस्थं पदार्थानां रूप साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याधा सालंकृतिर्यथा ।। काव्यादर्श २।८ ।।

३ श्लेष. सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तश्चेति वाङ्मयम् ।। काव्यादर्श १।३६२।।

हुआ है। स्वभावोक्ति के विकास ने वक्रोक्ति अथवा अलंकार सामान्य के स्पष्टीकरण मे पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। मम्मट ने 'वक्रोक्ति' को एक शब्दालंकार मात्र माना है, पर वे भी वक्रता को अलंकार सामान्य की आधार भूमि मानते है। उसके बाद अलंकारो के लक्षण मे रस की अपेक्षा से विचार होने लगा था। उनमे चमत्कार की प्रधानता मानी जाने लगी। चमत्कार तत्व भी पंडितराज के समय तक आते-आते 'रमणीयता' के व्यापक रूप मे विलीन हो गया। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने अलंकार-सामान्य को 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित तो नही किया है, पर चमत्कार, वैचित्र्य आदि उसी वक्रोक्ति के विकसित रूप मात्र है। इस प्रकार वक्रोक्ति के दोनो अर्थ ही भारतीय साहित्य शास्त्र की स्थायी सम्पत्ति हे। उन दोनो का पर्याप्त विकास हुआ है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वामन के द्वारा मान्य अर्थ सस्कृत के अन्य किसी भी आचार्य को मान्य नही है, इसलिए उसका विकास भी नही हुआ है।

ऊपर उक्ति के सम्बन्ध मे भट्टनायक का जो मत उद्धृत किया गया है, उसी मे वक्रोक्ति के व्यापक अर्थ के बीज निहित है, यह पहले कहा जा चुका है। भट्टनायक ने वैचित्र्य, भव्यता आदि गुणो का निर्देश किया है। ये ही तत्व भामह के 'काव्यालंकार' मे विशेष स्पष्ट और विकसित रूप मे मिलते है। भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है। वे अतिशयोक्ति को लोकातिक्रान्त कहते है।[1] उसीको उन्होने 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति रमणीयार्थो विभाव्यते' कहकर वक्रोक्ति कह दिया है। "क. अलंकार अनया विना" से इसको अलंकार सामान्य की आधार भूमि भी कहा गया है।[2] यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वे वक्रोक्ति को ही काव्य मानते है। दडी भी अतिशयोक्ति के अर्थ मे भामह से सहमत है। उन्होने 'लोकातिक्रान्त' के स्थान पर 'लोकसीमातिवर्त्तिनी' कहा है।[3] इन दोनो शब्दो के अर्थ मे कोई अन्तर नही है। भामह की तरह दडी ने भी वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। 'श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्राय वक्रोक्तिषु श्रियम्' इसकी व्याख्या मे यह और भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वक्रोक्ति से उपमादि अलंकारो का ग्रहण हो जाता है।[4] वक्रोक्ति का यह अर्थ आनन्दवर्द्धन और अभिनव

---

१ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तिगोचरम्।
मन्यते अतिशयोक्ति तामलंकारतया मया ॥ काव्यालंकार २। ८४॥

२ वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।

३ विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्त्तिनी
असावतिशियोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥ काव्यादर्श २॥२१४॥

४ वाङ्मयस्य द्वैविध्य दर्शयति भिन्नमिति। स्वभावोक्ति आद्यलंकार. वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्ण-पर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते। काव्यालंकार २।३६२॥

गुप्त को भी मान्य है। वे भी वक्रता के अभाव में अलकारत्व नही मानते है। उनका ध्वनि सिद्धान्त इतना व्यापक और समीचीन है कि उसके आधार पर सब तत्वो मे एक सामंजस्य स्थापित हो सका है। अभिनव गुप्त ने अपनी लोचन व्याख्या मे 'वक्रो-वितशून्यशब्देन-सर्वालकाराभावश्च उक्त' कहा है। महिमभट्ट ने अपनी पुस्तक 'व्यक्ति विवेक' मे भी यही मत स्वीकार किया है। वे भी सभी अलकारो को 'वक्रोक्ति' का ही भेद मानते है। "भगिभणिति-भेदानामेव अलकारत्वोपगमात्" से यह स्पष्ट है। आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त ने सौदर्य या चारुत्व को अलकार ही नही काव्य का भी मूल माना है। उन्होने कई-एक स्थानों पर यहा तक कह दिया कि बिना चारुत्व के 'ध्वनि' भी स्वीकृत नही की जा सकती। "चारुत्वप्रतीतस्पर्हि काव्यस्य आत्म स्यात् इति, तदगीकुर्म एव","गुणालकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थ-शरीरस्य सति ध्वन्यात्मनि आत्मनि काव्यरूपता व्यवहार:","विविध विशिष्टवाच्यवाचकरचना प्रपच चारुता काव्यस्य" अभिनव गुप्त और आनन्दवर्द्धन के इन वाक्यों से काव्य मे सौदर्य के स्थान के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। अभिनवगुप्त ने यही बात अलकार-निरूपण के अवसर पर कही है। वे चारुत्व को अलकार-सामान्य का लक्षण मानते है; इन आधारो पर इन दोनो ध्वनिवादी आचार्यों का वक्रोक्ति अथवा वक्रता को अलकारो का आवश्यक तत्व मानना स्पष्ट है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति शब्द का वह अर्थ लिया है जो भामह को मान्य रहा है। उन्होने वक्रोक्ति को "लोकोत्तरचमत्कारकारि", "वाग्वैदग्ध्य", "भगिभणिति" आदि पदो से स्पष्ट किया है। भामह कवि-प्रतिभा के सम्बन्ध में मौन है, पर कुन्तक ने कवि-कर्म-कौशल को इसका प्रधान सत्य माना है। कवि-प्रतिभा के बिना, वक्रोक्ति नही हो सकती है।[1] कुन्तक वक्रोक्ति को केवल अलकार सामान्य ही नहीं मानते है; अपितु ध्वनि, गुण आदि सभी तत्वों का समावेश इसी मे कर देते है। उन्होंने वक्रोक्ति के ६ भेद किये है और इन्ही मे काव्य के सब तत्वों का अन्तर्भाव कर दिया है। अलकार सामान्य के अर्थ में तो वक्रोक्ति का ग्रहण कुन्तक के पूर्व ही हो चुका था, परन्तु कुन्तक के इस प्रयास से उसे स्थायित्व मिल गया। अगर कुन्तक 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' को इतना महत्व न देते, तो सम्भवत: वक्रोक्ति का अलकार-सामान्य वाला अर्थ भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाता। वक्रोक्ति के अर्थ-प्रसार मे आचार्यों का पूरा सहयोग रहा है। इसलिये इस अर्थ में यह भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करती है। कुन्तक ने, वक्रोक्ति को भी काव्य का प्राण कहा है। 'वक्रोक्ति: काव्य-जीवितम्' का सिद्धान्त तो परवर्ती आचार्यों को मान्य नही रहा, परन्तु कुन्तक ने अपने

---

१. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौड़ेषुशब्दाडम्बर: ॥

इस विवेचन द्वारा भारतीय समीक्षा-शास्त्र को महत्वपूर्ण और चिर स्थायी तत्व प्रदान किये है। उन्होने साहित्य-समन्वय या सामजस्य या कवि-कर्म-कौशल, लोकोत्तर आह्लादकादि अनेक मौलिक सत्य प्रदान किये है। रीति का कवि के व्यक्तित्व से सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय भी कुन्तक को ही है। इनमे से अनेक तत्वों पर हम काव्य की परिभाषा के प्रसग मे विचार कर चुके हैं। प्रसंगानुसार कुन्तक की अन्य मौलिक देनो पर भी विचार किया जायगा।

रीति:—मानव के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि की तरह काव्य की अभिव्य जना के प्रकारो मे भी प्रादेशिक प्रभाव पाया जाता है। भरत मुनि ने 'देशगत' भेदो का अध्ययन 'प्रवृत्ति' के नाम से किया है। भरत ने प्रवृत्ति की व्याख्या निम्नलिखित दी है—पृथिव्यां नाना देश वेश भाषाचारा वार्ता: ख्यापयतीति वृति: प्रवृत्तिश्च निवेदते"।[1] इससे स्पष्ट है कि प्रकृति मे वेष भाषा, एव आचार—तीनो पर विचार हुआ है, पर रीति का सम्बन्ध केवल काव्य की भाषा, अभिव्यंजना रीति तथा शैली से है। के बीज 'प्रवृत्ति' तत्व मे अन्तर्हित है। कविवर बाण ने भी काव्य की चार प्रकार की शैलियो का निर्देश किया है।[2] इस विभाजन का आधार प्रादेशिक ही है। पर इस विभाजन मे वेष-भूषा और आचार पर विचार नही हुआ है। इसका आधार केवल भाषा और अभिव्यजना है, अत: यहां पर रीति ने प्रकृति से अपना पृथक अस्तित्व धारण कर लिया है। यह विभाजन बाण द्वारा नही किया गया, अपितु तत्कालीन समाज में यह धारणा बनी हुई थी कि दाक्षिणात्यो की अभिव्यंजना-शैली विशेष कोमल और सुन्दर है तथा गौड देश के व्यक्तियो मे अक्षराडम्बर का बाहुल्य है। इसी प्रचलित धारणा का उल्लेख बाण ने किया है। बाण ने यह भी कहा है कि सभी शैलियों में अपना एक विशेष सौंदर्य है जिसका आधार विषयौचित्य है। अपनी सीमा के बाहर निकल जाने पर तो दाक्षिणात्य शैली की कोमलता भी काव्य के लिये भार-स्वरूप हो जाती है। भामह के समय तक धीरे-धीरे इन चार शैलियो मे केवल दो ही जीवित रह पाई थी। शेष दो तो काल के मुख में अन्तर्हित हो गई थी। इन दो शैलियों के बारे मे उनकी विशेषताओ के आलोचक-समाज एक को अच्छा तथा दूसरे को बुरा कहने लगा था, पर उस समय तो वह चिन्तन अपने शैशव मे था : यही कारण है कि बाण का दृष्टि-कोण इस विचार-धारा से प्रभावित नही होता है और उसने इन चारों शैलियों के समन्वय की ही सलाह दी है, यद्यपि इसकी सम्भावना को भी कवि ने स्वीकार कर

---

१. नाट्य शास्त्र १३/३७

२. श्लेष प्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु गौड़ेषुशब्दाडम्बर॥

लिया है।[1] बाण द्वारा निर्दिष्ट गौडी शैली तो अपने गुण, और नाम सहित ज्यों-की-त्यों बनी रही और दाक्षिणात्य ने वैदर्भी का नाम धारण कर लिया था। भामह के ग्रन्थ मे उन गुणों का निर्देश है जो वैदर्भी और गौडी रीति मे माने जाते हैं। 'काव्यालंकार' से यह भी पता चलता है कि सामान्य धारणा के अनुसार वैदर्भी सुन्दर, कोमल और ग्राह्य शैली मानी जाती थी तथा गौडी असुन्दर, कठोर और अग्राह्य। भामह ने अपने ग्रन्थ में इसका विरोध करके एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। भामह ने काव्य सामान्य का प्राण वक्रोक्ति ही को माना है, इसलिये उनकी दृष्टि से वक्रोक्ति के अभाव में तो वैदर्भी रीति भी सुन्दर नही मानी जा सकती और वक्रोक्ति तथा काव्य के सामान्य गुणो के प्रयोग से गौड़ी का भी सुन्दर प्रयोग सम्भव है। काव्य की उत्कृष्टता गुणो पर निर्भर है, रीति पर नहीं। रीति का सौदर्य भी इन गुणो से ही है। भामह ने विशेष रीति का किन्ही विशेष गुणो से नित्य संबन्ध नही माना है। उन्होने रीतियो के प्रादेशिक आधार को भी अस्वीकार किया है। भामह के अनुसार भामह ने इस प्रकार इस क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। रूढिवादी आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विरोध करके उसने रीति का भी वह स्वरूप साहित्य-संसार के सम्मुख रखा है जिसमें एक प्रकार से, समीचीन और सम्पूर्ण मापदण्ड होने की क्षमता थी। यद्यपि उस समय तक रीतियों से प्रादेशिकता का रग पूर्णतः छूट नहीं पाया था, क्योंकि उसके बाद के दण्डी मे भी इसके लक्षण कुछ स्पष्ट दृष्टिगत होते है। पर भामह के विवेचन मे इस प्रादेशिकता की गन्ध नहीं है। भामह के द्वारा विवेचित दोनो रीतिया अपनी देशगत सीमाओ मे बंधी हुई नही प्रतीत होती है। बाण ने रीति के सौंदर्य के आधार गुण माने, पर इसका अस्पष्ट सकेत मात्र है। दण्डी सबसे पहले आचार्य है जिन्होने गुणो का रीति के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होने वैदर्भी और गौडी इन्ही दो रीतियो को स्वीकार किया है, पर उनके मत मे गौड़ी की अपेक्षा वैदर्भी उत्कृष्ट है। वैदर्भी में श्लेप, प्रसाद आदि दन्डी द्वारा काव्य दस गुण रहते है तथा गौडी में इनका वैपरीत्य। इसका यह तात्पर्य नही है कि गौडी मे दोष रहते है, तब तो इस रीति के स्थल काव्यत्य शून्य हो जायेंगे। यह दण्डी को मान्य नही है। इसलिये जहा वैदर्भी मे श्लेष, प्रसाद, समता आदि है वहा गौडी मे व्युत्पत्ति दीप्ति आदि है। गौडी पाण्डित्य प्रदर्शक क्लिष्ट शैली है। दण्डी के अनुसार उसमे भी काव्योपयोगी गुण है। अर्थ व्यक्ति औदार्य एव समार्द्य को तो दण्डी मान्य के दोनों भागो के लिये अपरिहार्य मानते है। दण्डी ने 'नीति' का सम्बन्ध कवि से

---

१. नयोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्ट स्फुटो रसः।
विकटाक्षर बन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

माना है। प्रत्येक कवि की अपनी एक रीति होती है। मोटे तौर पर रीति के ये दो भेद है। कवि के व्यक्तित्व की छाप से इन्ही के अनेक भेद हो जाते है।[1]

इसके बाद वामन का समय आता है। ये गुण और रीति-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य माने जाते है। वामन ने वैदर्भी और गौडी के अतिरिक्त 'पाचाली' नाम से एक और रीति को स्वीकार किया है। उन्होने गौडी अथवा पाचाली को हेय नही माना है। कुछ गुणो को छोडकर उनमे वैदर्भी के सभी गुण विद्यमान है। उसमे माधुर्य और सौकुमार्य की अपेक्षा ओज और कान्ति की प्रचुरता है। पाचाली मे केवल ओज और कान्ति को छोडकर वैदर्भी के शेष सभी गुण है। इस प्रकार वामन के मत मे भी वैदर्भी ही सर्वश्रेष्ठ रीति मानी गई है। रुद्रट ने इन तीनो मे 'लाटी' नामक रीति से सख्या मे अभिवृद्धि कर दी। रीतियो के नामकरण मे प्रदेशो के नामो का ही उपयोग हो रहा था। इससे यह पता चलता है कि रीतिया अभी तक अपने प्रादेशिक रग से पूर्णत. मुक्त नही हो पाई थी। भोजराज ने इनकी सख्या ६ करदी। भोजराज के ही प्राय: समकालीन कुन्तक हुये है। अन्य विषयो की तरह रीति के सम्बन्ध मे भी उनके विचार अत्यधिक क्रान्तिकारी और मौलिक कहे जा सकते है। इस क्षेत्र मे उन्होने भामह एव अन्य पूर्ववर्त्ती आचार्यो की अपेक्षा अधिक मौलिकता का परिचय दिया है, इस पर हम आगे विचार करेंगे। उन्होंने रीति का कवि के स्वभाव एव व्यापार के साथ सम्बन्ध स्थापित करके इसमे प्रादेशिक रग हटा दिया है। कुन्तक ने सुकुमार और विचित्र इन दो मार्गो का निर्देश किया है। ये दोनो मार्ग क्रमश. भामह की वैदर्भी और गौडी रीति ही है। इस विभाजन का आधार वक्रोक्ति ही है। यद्यपि रीतियो के चार भेद आचार्यो को विशेष मान्य हुये, लेकिन वास्तव मे मूलत. तो दो ही भेद अधिक तर्क-सम्मत माने गए। प्राय: सभी देशो के साहित्य मे मधुर और कठोर अथवा अन्य किन्ही दो नामो से दो ही शैलिया मानी गई हैं। अरस्तू ने भी ऐसा ही माना है। शेष दो तो इन पहली दो के सांकर्य के परिणाम-मात्र है। वैसे शैली के इतने भेदो की कल्पना हो सकती है कि उनके नामकरण की आवश्यकता भी नही और सभव भी नही है। शैली अथवा रीति के सम्बन्ध मे इस दृष्टिकोण के संकेत दण्डी मे तथा स्पष्ट दर्शन कुन्तक मे होते है। 'काव्य-प्रकाशकार' के पहले तक प्राय. यही उपयुक्त दृष्टिकोण ही आचार्य-परम्परा को मान्य था। पर 'काव्य-प्रकाशकार' ने रीति के स्थान पर वृति शब्द का प्रयोग किया है।[1] इस समय तक वृति और रीति, जो पहले भिन्न

१. इति मार्गद्वयं भिन्न तत्स्वरूप निरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिकविस्थिता: ॥ काव्यादर्श १-१०१।

१ एतास्तिस्रो वृत्तय (उपनागरिका, परुषा, कोमला च) वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ी पाञ्चाल्याख्या रीतय: उच्यन्ते। 'काव्य प्रकाश'

तत्वो के रूप मे विकसित हो रही थी, एक दूसरे के अत्यधिक सन्निकट आ गई थी। इस प्रकार इनका कही-कही समान अर्थ मे भी प्रयोग भी हुआ है। फिर भी वैदर्भी और गौडी रीति अपनी सहायिका वृत्तियो के साथ सस्कृत-साहित्य की रीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली कही जा सकती है और आज भी इनको यह सम्मान प्राप्त है। धीरे-धीरे इन रीतियों ने अपने प्रादेशिक महत्व को खो दिया। ये रीति के सामान्य भेदो के नाम मात्र हो गये और उनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से मान लिया गया। बाद मे तो यह भी मान्य हो गया कि एक ही कवि अपने काव्य के विभिन्न स्थलो पर विषय और रस के औचित्य की दृष्टि से इन सब प्रकार की रीतियो का प्रयोग कर सकता है। वास्तव मे कवियो ने ऐसा किया भी है और यह आवश्यक और समीचीन भी है।

प्रारम्भ काल से ही रीतियो का गुणो से अभिन्न सम्बन्ध रहा। वास्तव में रीतियो का पारस्परिक भेद गुणो पर ही अधिष्ठित था और उनके विभाजन का मुख्य आधार ही गुण रहे। बाण ने चारो प्रकार की रीतियो की विशेषताओ का उल्लेख किया है। यह पहले उद्धृत श्लोक से एकदम स्पष्ट है। उनके परवर्ती काल मे वैदर्भी और गौडी की विशेषताओ का परिचय हमे भामह के 'काव्यालकार' मे मिलता है। उस समय विद्वान् 'वैदर्भी' को कोमलत्व, आर्जव, प्रसाद, श्रुतिपेशलत्व, अनतिपोष और अनतिवक्रोक्ति गुणो से विभूषित समझते थे। इसी प्रकार गौडी रीति के गुणो का भी निर्देश उसी मे मिलता है। स्वय भामह ने भी रीति के लिए कुछ गुणों का निर्धारण किया है जिन्हे वे रीति मे सौन्दर्योत्पादक समझते है और इस प्रकार उनकी दृष्टि से वे आवश्यक भी है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को काव्य मे अत्यधिक प्रधानता दी है। वे रीति मे भी वक्रोक्ति को ही उसका प्राण कहते है। वे अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्यायत्व, अनाकुलत्व और अलकारत्व नामक गुणो को प्रत्येक रचना के लिए आवश्यक समझते हैं। दडी ने तो वैदर्भी को इसीलिए श्रेष्ठ कहा है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट सभी गुण उनमे विद्यमान है। गौडी की निन्दा का कारण भी उन गुणो का अभाव ही है। वामन और रुद्रट ने भी माधुर्य, सौकुमार्य, ओज कान्ति आदि गुणो के कारण ही रीतियो के पारस्परिक भेदो का निरूपण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुणो का रीतियो से कितना अभिन्न सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त दडी ने रीतियो से शब्दालकारो का सम्बन्ध स्थापित किया है। वर्ण और समास का विवेचन भी हुआ है। 'अनाकुल' आदि गुणो का सकेत समास की ओर ही है। राजशेखर ने तीनो रीतियो की विशेषताओ का विचार करते हुए वैदर्भी को असमास और अनुप्रास-सहित कहा है। गौडी मे समास और अनुप्रास तथा पाचाली मे ईषद्समास और ईषदनुप्रास की उपस्थिति आवश्यक मानी है। रीतियो मे अनुप्रास अथवा वर्ण आदि का विचार वृत्ति के उस स्वरूप का प्रभाव है जिसमे

तत्वों के रूप मे विकसित हो रही थी, एक दूसरे के अत्यधिक सन्निकट आ गई थी। इस प्रकार इनका कहीं-कहीं समान अर्थ मे ही प्रयोग भी हुआ है। फिर भी वैदर्भी और गौडी रीति अपनी सहायिका वृत्तियों के साथ संस्कृत-साहित्य की रीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली कही जा सकती है और आज भी इनको यह सम्मान प्राप्त है। धीरे-धीरे इन रीतियों ने अपने प्रादेशिक महत्व को खो दिया। ये रीति के सामान्य भेदों के नाम मात्र हो गये और उनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से मान लिया गया। बाद मे तो यह भी मान्य हो गया कि एक ही कवि अपने काव्य के विभिन्न स्थलों पर विषय और रस के औचित्य की दृष्टि से इन सब प्रकार की रीतियों का प्रयोग कर सकता है। वास्तव मे कवियों ने ऐसा किया भी है और यह आवश्यक और समीचीन भी है।

प्रारम्भ काल से ही रीतियों का गुणों से अभिन्न सम्बन्ध रहा। वास्तव में रीतियों का पारस्परिक भेद गुणो पर ही अधिष्ठित था और उनके विभाजन का मुख्य आधार ही गुण रहे। बाण ने चारो प्रकार की रीतियों की विशेषताओं का उल्लेख किया है। यह पहले उद्धृत श्लोक से एकदम स्पष्ट है। उनके परवर्ती काल मे वैदर्भी और गौडी की विशेषताओं का परिचय हमे भामह के 'काव्यालकार' मे मिलता है। उस समय विद्वान् 'वैदर्भी' को कोमलत्व, आर्जव, प्रसाद, श्रुतिपेशलत्व, अनतिपोष और अनतिवक्रोक्ति गुणो से विभूषित समझते थे। इसी प्रकार गौडी रीति के गुणो का भी निर्देश उसी मे मिलता है। स्वय भामह ने भी रीति के लिए कुछ गुणों का निर्धारण किया है जिन्हे वे रीति मे सौन्दर्योत्पादक समझते है और इस प्रकार उनकी दृष्टि मे वे आवश्यक भी है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को काव्य मे अत्यधिक प्रधानता दी है। वे रीति मे भी वक्रोक्ति को ही उसका प्राण कहते है। वे अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्यायत्व, अनाकुलत्व और अलकारत्व नामक गुणों को प्रत्येक रचना के लिए आवश्यक समझते हैं। दडी ने तो वैदर्भी को इसीलिए श्रेष्ठ कहा है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट सभी गुण उनमे विद्यमान है। गौडी की निन्दा का कारण भी उन गुणों का अभाव ही है। वामन और रुद्रट ने भी माधुर्य, सौकुमार्य, ओज कान्ति आदि गुणो के कारण ही रीतियो के पारस्परिक भेदो का निरूपण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुणो का रीतियो से कितना अभिन्न सम्बन्ध रहा है। इसके अतिरिक्त दडी ने रीतियो से शब्दालकारो का सम्बन्ध स्थापित किया है। वर्ण और समास का विवेचन भी हुआ है। 'अनाकुल' आदि गुणो का सकेत समास की ओर ही है। राजशेखर ने तीनो रीतियों की विशेषताओं का विचार करते हुए वैदर्भी को असमास और अनुप्रास-सहित कहा है। गौडी मे समास और अनुप्रास तथा पाचाली मे ईषद्समास और ईषदनुप्रास की उपस्थिति आवश्यक मानी है। रीतियो मे अनुप्रास अथवा वर्ण आदि का विचार वृत्ति के उस स्वरूप का प्रभाव है जिसमे

कोमला, उपनागरिका और परुषा का विवेचन है। गुण, समास और वर्णों के अतिरिक्त रीतियो का सम्बन्ध विषय और रस से भी प्रायः प्रत्येक आचार्य ने माना है। वैदर्भी और गौडी को क्रमशः मधुर और कठोर कहने मे ही यह भी सन्निहित है कि ये दोनो दो विशेष प्रकार के विषयो के लिए उपयुक्त है। इस प्रकार इनके साथ विषयौचित्य का विचार भी हुआ है और विभिन्न रीतियाँ, विभिन्न रसों के उपयुक्त समझी गईं। जब इन रीतियो से प्रादेशिकता का प्रभाव हट गया, उस समय कवि अपने काव्यो के विभिन्न स्थलो मे विषय के अनुसार विभिन्न रीतियो का प्रयोग करने लग गए।

सस्कृत-साहित्य में रीति के ही कुछ अनुरूप एक और साहित्य-तत्व का विकास हुआ है, और वह है वृत्ति। वृत्ति का इतिहास रीति की अपेक्षा कुछ प्राचीन प्रतीत होता है। भरत मुनि ने वृत्तियो का विचार अपने 'नाट्य-शास्त्र' मे किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट भारती-वृत्ति श्रव्य-काव्य-क्षेत्र की वस्तु है। वास्तव मे कुछ विद्वानों का तो कहना है कि वृत्तियां ही समय की गति के साथ रीतियों में परिणत हो गई। यह सिद्धान्त तो विवादास्पद है। रीतियो और वृत्तियों के विकास को प्रायः समानान्तर कहना अधिक ठीक है। काव्य-प्रकाशकार और पडितराज ने रीतियों को वृत्ति कहा है, इस प्रकार अभिन्नता सिद्ध होती है, लेकिन यह इनके उद्भव के चिरकाल बाद की बात है और फिर भी रीतियों का पृथक् अस्तित्व विद्वत्समाज मान रहा था, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस विकास को समानान्तर कहना ही समीचीन है। वृत्तियों का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही काव्य के विषय से रहा है। यह विभाजन विषय की दृष्टि से ही किया गया था। प्रेम, ज्योत्स्ना, सध्या आदि कोमल प्रसंग कैशिकी तथा युद्ध आदि कठोर तथा भयावह प्रसंग आरम्भ से ही आरभटी वृत्ति के विषय हैं। वृत्ति' शब्द अपने एक और अर्थ में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रयुक्त हो रहा था और उसी अर्थ में उसके कोमला, उपनागरिका और परुषा नाम से तीन भेद आचार्य-परम्परा को मान्य हो गए। इस प्रकार ह-म देखते हैं कि संस्कृत-साहित्य में रीति और वृति के नाम से ही दो पृथक् साहित्य-तत्व मान्य हुए। लेकिन जैसा हम पहले देख चुके है कि रीतियो का आधार गुण थे और गुणो मे अर्थ-गुण, शब्द-गुण दोनों ही थे। इससे रीतियो का सम्बन्ध स्पष्टतः तो एक विशेष प्रकार के शब्द-व्यवहार से ही था। विशेष प्रकार की पद-सघटना को ही, जिसमे अनुप्रास और समास का विशिष्ट प्रयोग था, रीति कहा जाता था। पर परोक्ष रूप में उनका सम्बन्ध अर्थो और विषयों से भी मान्य हो गया था। उनके प्रति मृदुलता अथवा कठोरता की भावना बद्धमूल होती जा रही थी। इस प्रकार रीति के उद्भव-काल में ही काव्य-विषय के साथ उसके सम्बन्ध की कल्पना अनिवार्य रूप मे ग्रथित थी। पर रीति के इस तत्व का विकास वृत्तियों के

साहचर्य से हुआ। धीरे-धीरे आचार्यों ने वैदर्भी और गौडी रीति का गठबन्धन क्रमश: कैशिकी और आरभटी वृत्ति से कर दिया। इस प्रकार एक रीति एक विशेष विषय और रस के लिए ही उपयुक्त समझी जाने लगी। उसमे भी विषयौचित्य का तत्व प्रविष्ट हो गया। 'वृत्ति' का दूसरा स्वरूप भी, जिसमे कोमला, उपनागरिका और परुषा भेदों का विचार हुआ है, रीतियों के साथ ग्रथित हो गया। इस प्रकार वैदर्भी रीति, कैशिकी वृत्ति, शृगार रस, करुणा आदि कोमल प्रसंग और कोमल उपनागरिका वृत्ति तथा गौडी रीति, आरभटी वृति, रौद्र आदि भयानक रस कठोर काव्य-प्रसंग और परुषा वृत्ति का अनिवार्य साहचर्य आचार्यों को मान्य हो गया। जैसे हमने देखा कि कुछ साकर्य के फलस्वरूप रीति-क्षेत्र में पाचाली और लाटी रीतियो का प्रवेश हो गया था और इन दोनो ने अपना सम्बन्ध क्रमश. वैदर्भी और गौड़ी से कर लिया था, उसी प्रकार वृत्ति-क्षेत्र मे भी दो और वृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई थीं। भरत मुनि द्वारा विवेचित अन्य दो वृत्तियाँ भारती और सात्वती भी अपना स्वरूप बदलकर काव्य के क्षेत्र मे पदार्पण कर गई थी और उन्होने भी अपनी अग्रजा दो वृत्तियो से अपना सन्निकट का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इस प्रकार जिस रीति का स्वरूप पहले केवल पद-सघटना-मात्र समझा जाता था, उसमे वृत्ति के साहचर्य के कारण रस और अर्थ के तत्व भी प्रविष्ट हो गए थे और उसे आचार्य 'रसोचित शब्द-व्यवहार' कहने लगे थे। वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होने इसे 'रसोचितार्थ व्यवहार' कहा है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है उसी प्रकार वृत्ति और रीति का भी अभिन्न सम्बन्ध हो गया और इस नवीन रूप के लिए रीति शब्द का व्यवहार होने लगा।

गुणो का इतिहास भी विकासपूर्ण रहा है। प्राचीन आचार्यो में गुणो की सख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है। भरत ने दस गुण माने है। 'अग्नि पुराण' में शब्दगत, अर्थगत तथा उभयगत इन, तीनो भेदो में उन्नीस गुण माने गए है। सख्या की दृष्टि से दडी ने भरत का ही अनुसरण किया है। कतिपय गुणों की परिभाषा तथा नाम मे अवश्य कुछ अन्तर कर दिया है। वामन ने दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण माने है। वामन रीति और गुण-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य माने जाते है। परवर्ती आचार्यो ने प्राचीन मत में इन्ही का मत उद्धृत किया है। 'काव्य-प्रकाश' और 'रस गंगाधर' मे इन्ही के द्वारा मान्य गुणो का विवेचन तथा खडन है। इस प्रकार वामन प्राचीन मत का प्रतिनिधित्व करने वाले समझे गए हैं। भोजराज ने इनके द्वारा प्रतिपादित शब्द-गुणो मे चौदह और बढ़ा दिए और इस प्रकार उनकी संख्या चौबीस कर दी। भरत से लेकर भोजराज तक के समय में भामह को छोड़कर शेष सभी आचार्य स्थूल रूप से 'दशगुणवाद' के आचार्य कहे जा सकते है। इस काल मे गुणों की सख्या की अभिवृद्धि होती रही। इसके बाद बहुत दिनों तक आचार्य

लोग गुणो में अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के मार्ग का अनुसरण करते रहे। इन आचार्यों मे केवल पीयूष-वर्षन् ही ऐसे आचार्य हैं, जिन्होने कुछ मौलिकता का परिचय दिया है। उनकी दृष्टि मे अर्थ-व्यक्ति और कान्ति क्रमशः प्रसाद गुण और शृंगार-रस मे समादिष्ट है, इस प्रकार भरत द्वारा मान्य दस गुणो में केवल आठ का ही उल्लेख उन्होने किया है। इन प्राचीन आचार्यों मे भामह ने केवल तीन ही गुण माने है—प्रसाद, माधुर्य और ओज। काव्य-प्रकाशकार ने भी इसी मत का समर्थन किया है। उन्होने प्राचीनो द्वारा मान्य अन्य गुणो का खडन भी बहुत सुन्दर ढग से किया है।

भरत ने गुणो को दोषो के विपरीत वस्तु कहा है।[1] 'अग्नि पुराण' के अनुसार काव्य मे शोभा लाने वाली वस्तु ही गुण है।[2] दडी ने विशिष्ट रचना के प्राण ही को गुण कहा है। वामन ने तो गुणो को काव्य के लिए आवश्यक ही मान लिया है। उनकी दृष्टि मे काव्यत्व ही गुणो पर अधिष्ठित है। काव्य मे शोभा करने वाले धर्म ही गुण है। इस प्रकार इन प्राचीनो ने उस वस्तु को गुण माना जो शब्द और अर्थ मे से किसी एक अथवा दोनो को उत्कृष्ट करने वाली है। गुण और अलकार में भेद स्पष्ट करते हुए दडी ने गुणो को काव्य के प्राण तथा अलंकारो को काव्य मे शोभा उत्पन्न करने वाला कह दिया। वामन ने अलंकारो को काव्य की शोभा मे वृद्धि लाने वाला बताया। काव्य के शोभाकारक धर्म तो उनकी दृष्टि मे गुण ही रहे। वास्तव मे आचार्य मम्मट के पहले गुणों की सख्या और स्वरूप दोनो मे एक प्रकार से अनिश्चितता ही विशेष दृष्टिगत होती है। काव्य-प्रकाशकार को यह अराजकता खटकी और उन्होने इस क्षेत्र मे एक विशेष व्यवस्था लाने की चेष्टा की। उन्होंने गुणो को काव्यत्व का कारण नही माना। उनकी दृष्टि से जो कि ध्वनिकार के बाद प्रायः सर्वमान्य मत हो गया था, रस ही काव्य के प्राण है और गुण रस को उत्कृष्ट करने वाले धर्म है।[3] अगर रस के अभाव मे भी काव्य माना जायगा तब तो पहाड में बड़ी आग जल रही है, बहुत धूम निकल रहा है—इस उक्ति मे भी (जिसमे रस तो नही परन्तु ओज गुण है) काव्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार उन्होने प्राचीन आचार्यो के इस मत का खण्डन कर दिया। आचार्य मम्मट ने गुण और अलंकार का भेद अत्यन्त स्पष्ट कर दिया। उन्होने गुण को काव्य की आत्मा का नित्य धर्म माना, पर उनके अनुसार अलकारों का रस से ऐसा कोई नित्य सम्बन्ध नही। जिस प्रकार शूरता आदि आत्मा के नित्य धर्म है उसी प्रकार ओज आदि रस के धर्म है।

---

१. गुणविपर्ययात्मनो दोषः। (भरत)

२. यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णत्यसौ गुणः ॥अग्नि पुराण॥

३. ये रसस्यांगिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः।

नित्य और स्थिर धर्म होने के कारण इन तीनो गुणो का विभिन्न रसों से सम्बन्ध है। अलकारों का ऐसा कोई नित्य सम्बन्ध नही माना जा सकता। अलकारो का प्रयोग किसी भी रस के साथ किया जा सकता है। इससे गुणो की तरह अलकार अनिवार्यत: रस के शोभादायक धर्म नही है। कभी-कभी तो वे रस के लिए भार-स्वरूप भी हैं। यह विवेचन पहले ही किया जा चुका है। गुणों का यही स्वरूप आचार्य विश्वनाथ और पडितराज को भी मान्य हुआ है। आचार्य मम्मट ने गुणो पर अत्यन्त गम्भीर मौलिक तथा विवेचनात्मक दृष्टि डाली। विभिन्न रसो के आस्वाद के फलस्वरूप चित्त की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। शृगार, करुण और शान्त रस के आस्वाद से चित्त द्रवीभूत हो जाता है। वीर, रौद्र आदि रस चित्त को दीप्त कर देते है। सभी रसो का सामान्यतया तथा शात, भक्ति तथा वात्सल्य का विशेषतया चित्त पर प्रशस्तिकरण का प्रभाव पडता है। मम्मट ने माधुर्य, ओज और प्रसाद मे क्रमश: चित्त की इन्ही तीन अवस्थाओ के दर्शन किये है। उनकी दृष्टि से इन्ही तीन अवस्थाओ के नाम गुण है। माधुर्यादि गुण चित्त की इन अवस्थाओ को उत्पन्न करने का कारण है। रस के धर्म होने के कारण माधुर्य आदि गुणो का निर्वचन रचना के सम्बन्ध मे करना केवल औपचारिक है। पडितराज ने भी रस मे रहने वाली प्रयोजकता को, जो द्रुति आदि चित्त-वृत्तियो को उत्पन्न करने का कारण है, माधुर्य आदि गुणो से अभिहित किया है। इस प्रयोजकता के कारण ही रसो को मधुर आदि कहते है। वास्तव मे दूसरे शब्दो मे चित्त-वृत्तिया ही अपनी प्रयोजकता के स्वरूप मे माधुर्य आदि गुणो के नाम से अभिहित हो जाती है। इसका तात्पर्य भी वास्तव में यही है कि शृंगारादि ही उन गुणो के प्रयोजक है। काव्य-प्रकाशकार की अपेक्षा यह विचार कुछ विशेष सूक्ष्म और प्रौढ हो गया है। वैसे कथन के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नही है। पडित-राज ने यह भी माना कि शब्द और अर्थ मे भी यह प्रयोजकता रहती है। इसलिए माधुर्य आदि गुणो को रचना मे मानना भी समीचीन ही है। आचार्यों ने माधुर्य आदि गुणो के व्यजक वर्णो और शब्दो का भी निर्धारण किया है। पर वास्तव मे रस के साथी होने से शब्दो के साथ इनका सम्बन्ध केवल औपचारिक ही है। इस प्रकार के वर्णों का प्रयोग इन चित्त-वृत्तियो मे वृद्धि का कारण अवश्य होता है, पर जब कभी-कभी उपयुक्त वर्णो के अभाव मे भी रसो की व्यजना होती है और वहा पर गुणों की स्थिति मानना भी आवश्यक है तो वर्णो और शब्दो के ये गुण धर्म नही माने जा सकते। यह केवल औपचारिक प्रयोग ही कहा जायगा। इस प्रकार गुणो का रीति से सम्बन्ध पूर्णत स्पष्ट हो गया। डॉ० राघवन ने बहुत सतुलित पदावली

में गुण, रीति और वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है ।[1]

रीति के सम्बन्ध मे वर्तमान आलोचक की धारणा प्राय: यह बनी हुई है कि यह पश्चिमी विद्वानो द्वारा मान्य शैली (स्टाइल) से नितान्त भिन्न कोई वस्तु है। डॉ० दे ने भी अपना यही मत स्थिर किया है ।[2] इस विचार के मानने वालो का कहना है कि रीति का सम्बन्ध केवल कतिपय गुणो से है तथा पश्चिम मे शैली के लिए इस प्रकार कोई निश्चित गुण-तालिका नही मानी गई । दूसरे जब कि रीति का सम्बन्ध केवल विवेच्य विषय से ही है, वहा पर पश्चिम के विद्वान शैली को कवि के व्यक्तित्व से सम्बद्ध समझते है । यही कारण है कि सस्कृत की तरह उनके शैली के केवल कुछ गिने हुए भेद नही है, पर कवि के व्यक्तित्व के साथ उसके भेदो की अनन्तता है । उन लोगो का कहना है कि सस्कृत-साहित्य मे रीति का यह व्यापक स्वरूप दृष्टि मे नही रखा गया, इसलिए शैली (स्टाइल) से उसकी किसी प्रकार भी तुलना नही की जा सकती । वास्तव मे गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति का यह स्वरूप केवल आशिक है । कुछ आचार्यों ने रीति के इस विशद स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है जिससे रीति को शैली के समकक्ष रख सकते है और उन्होने उसका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से भी स्थापित किया है । पश्चिम मे शैली (स्टाइल) के जो तत्व माने जाते है प्राय. उन सभी तत्वो का निरूपण सस्कृत के रीति-विवेचन मे हो गया है । पश्चिम मे भी शैली का विभाजन हुआ है तथा वर्ण्य-विषय से उसका सम्बन्ध स्थिर किया गया है । इतना ही नही अरस्तू तथा उसके परवर्ती आचार्यो द्वारा किया गया विभाजन रीति-विभाजन से बहुत-कुछ समता रखता है । रीति और शैली के सामान्य सिद्धान्त प्राय: एक है, इस प्रकार इन दोनो को दो पृथक् वस्तु कहना केवल यही तक उचित है कि इन दोनों का दो पृथक् महाद्वीपों और समयो से सम्बन्ध है । दूसरे मूल तत्वो तक पहुँचने

---

1. Guna will be the nature of Rasa, Vriti the nature of Vastu or ideas or itivratta and Riti the nature of expression of the first and the second in suitable words.

1. It should be observed that the term Riti is hardly equivalent to the English word 'Style'. But at the same time the Riti is not like the style, the expression of poetic individuality as is generally understood by western criticism but it is merely outward presentation of its beauty called forth by a harmonious combination of more or less fixed literary excellences.

'Sanskrit Poetics' Page 115-116.

अथवा तत्व-निरूपण करने की पद्धति भिन्न-भिन्न है। पर जिन सिद्धान्तो और निर्णयो पर दोनों देशो के विचारक पहुँचे है, वे अपने बाह्य आवरण मे असमान होते हुए भी उनके आन्तरिक स्वरूप मे अभिन्न ही है।

जैसा मैने अभी कहा कि शैली (स्टाइल) का सम्बन्ध भी वर्ण्य-विषयो तथा रचना-सम्बन्धी गुणो से है। इस सम्बन्ध के आधार पर अंग्रेजी साहित्य मे शैली का विभाजन भी हुआ है। अरस्तू ने भावो के अनुसार शैली में परिवर्तन माना है। उनका कहना है कि उग्र मनोभावो को व्यक्त करने वाली शैली मे समासान्त पदो का प्रयोग हो जाता है। यह शैली ओज-प्रधान और समास-भूयिष्ठ रीति के अतिरिक्त और क्या है। पश्चिम के कई आचार्यो ने माना है कि विशेष विषयो के लिए कुछ विशेष शैलियाँ ही उपयुक्त है। 'युद्ध' आदि के वर्णन मे 'डेमेट्रियस' ने ओज-प्रधान शैली को ठीक समझा है। उन्होंने कतिपय अक्षरो को भी ओज-वृद्धि का साधन कहा है। डा० राघवन ने इसकी समता आनन्दवर्द्धन की वर्ण-ध्वनि से की है। युद्ध आदि के लिए ओज-प्रधान तथा कोमल प्रसंगों के लिए माधुर्य और प्रसाद-गुण-सम्पन्न शैली को उपयुक्त मानने मे स्पष्टतः संस्कृत-आचार्यों को कैशिकी आदि वृत्ति तथा वैदर्भी आदि रीतियों की प्रतिच्छाया दृष्टिगत होती है। एम० मुरे ने अपनी पुस्तिका 'प्रोब्लम आफ स्टाइल' मे शैली का विवेचन करते हुए लिखा है :

"In the course of the approach, I examined two qualities of style which are not infrequently put forward as essential, namely, the musical suggestion of the rhythm and the visual suggestion of the imaginary and I tried to show that these were subordinate On the positive side, I tried to show that the essential quality of style was precision was not intellectual not a precision of definition, put of emotional suggestion"

डा० राघवन ने मुरे के विचारों की तुलना संस्कृत के प्राचीन आचार्यो द्वारा मान्य शब्द-गुण, अर्थ-गुण, रसौचित्य आदि रीति-तत्वो से की है। उन्होने स्टीवैन्सन द्वारा स्पष्ट किये गए विचारो को भी संस्कृत-आचार्यों के समता, प्रसाद विस्मय आदि नामो से अभिहित किया है। 'शोपेनहार' ने शैली के दो स्थल-विभाजन किये है और उनका नाम केवल Good and bad ही रखा है। 'बेकिन' ने इन दो शैलियो के जिन गुणों और तत्त्वों का विवेचन किया है वे हमारे प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य वैदर्भी और गौडी रीतियो के तत्त्वो से भिन्न नही है। इस विवेचन मे दीप्ति, अत्युक्ति आदि गुण, जो दण्डी ने माने है, अपने पर्यायो मे स्पष्टतः दृष्टिगत होते है। शोपेनहार ने शैली की सरलना, प्रसाद-गुण-संपन्नता तथा उसकी सक्षिप्तता को विशेष महत्व दिया है, पर उस मे उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन तीनो

गुणो का उपयोग काव्य-वस्तु की स्पष्टता के लिये है। अगर सक्षिप्तता विचारो मे अस्पष्टता का कारण है तो वह गुण की अपेक्षा दोष ही अधिक है। इसके विरूद्ध अगर शब्दो का ऐसा आडम्बर कवि कर देता है कि उनके भाव और विचार उनके कारण धुँधले हो जाते है तो यह भी कवि की शैली का दोष ही है। ये विचार प्राचीन आचार्यो के मतो से बिल्कुल मिलते-जुलते है। वामन का 'प्रसाद' भी अर्थवैमल्य है। जिस दोष की ओर पश्चिम के इस विद्वान ने सकेत किया है, वह 'नेयार्थत्व' के अतिरिक्त और क्या है। इतना ही नही पश्चिमी विद्वानो द्वारा शैली का जो विवेचन हुआ है, उसमे सर्वत्र ही हम सस्कृत-आचार्यो की रीति के तत्वो के अनुरूप ही तत्व पाते है। इन दोनो विवेचनो मे प्रक्रिया-भेद के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नही है इस ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया कि पश्चिम के आलकारिको ने शैली का सम्बन्ध केवल वर्ण्य विषयो और मनोभावो से ही नही किया है, उसमे गुण, अलकार, समास, वर्ण आदि उन तत्वो का भी स्पष्ट विवेचन है जिन पर सस्कृत के रीतिकारो ने अत्यन्त विशद रूप मे विचार किया है। पश्चिम मे शैली का विभाजन हुआ है और उसके आधार भी ये ही तत्व है जिनका ऊपर सकेत किया गया है। वास्तव मे देखा जाये तो जिन तत्वो को दोनो देशो के आचार्यो ने नितान्त आवश्यक माना है, उनका विवेचन पूर्व मे ही अधिक स्पष्टता तथा प्रामाणिकता के साथ हुआ है। जिस बात को स्पष्ट करने के लिए पश्चिम के विद्वान को एक लम्बी-चौडी वाक्यावली का प्रयोग करना पडा है। उसको यहा के विद्वानो ने एक शब्द मे कह दिया है। उसका गुणो और रीतियो का विभाजन, उनका वर्ण्य-विषय, रस, भाव आदि से सम्बन्ध आदि विवेचन के सभी पक्ष इतने वैज्ञानिक है कि उनके निरूपण मे एक प्रकार की व्यवस्था और क्रम स्पष्ट लक्षित होता है। पश्चिम के विवेचन मे इस क्रम, व्यवस्था और वैज्ञानिकता का इतना सुन्दर रूप नही निखर पाया है।

रीति के इतिहास मे आचार्य कुन्तक का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उनके विवेचन मे इसमे अत्यधिक विशदता आ गई है। सबसे पहला कार्य आचार्य कुन्तक ने इनकी प्रादेशिकता का अन्त करने का किया है। उनका कहना है कि काव्य की रीतिया विवाह की रीतियो आदी की तरह देशगत नही मानी जा सकती है। उनका सम्बन्ध मुख्यत कवि के व्यक्तित्व से है। सस्कृत-साहित्य मे सभवत कुन्तक ही ऐसे आचार्य है जिन्होने रीतियो का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से इतनी स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादित किया है। आचार्य ने रीतियो के लिए केवल अर्थ गुणो को ही आवश्यक नही माना, अपितु अलकार, रस आदि के नियोजन के दृष्टिकोण पर भी जोर दिया है। यह भी एक प्रकार से कवि के व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध है। रीतियो के भौगोलिक नामो तथा प्राचीन आचार्यो द्वारा उनको उत्तम मध्यम और अधम मानने का विरोध करते हुए रीति का सम्बन्ध कवि की व्युत्पत्ति

और शक्ति से बताया है। उन्हे इन वैदर्भी आदि नामो मे नही अपितु इनके प्रादेशिकता के रग पर आपत्ति है। उन्होने इस बात को स्पष्टता पूर्वक स्वीकार किया है कि कवि-स्वभाव पर आधारित होने के कारण रीति के निश्चित भेद नही किये जा सकते, उनमे अनन्तता का आ जाना स्वाभाविक है। "यद्यपि कवि-स्वभाव-भेद-निबन्धतत्वाद् अनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्य" इस वाक्य से आचार्य कुन्तक का मत स्पष्ट है। अनादि वासना के कारण कविस्वभाव के अनन्त भेद है और कवि-स्वभाव उनकी व्युत्पत्ति और अभ्यास का नियन्त्रण करता है। आचार्य कुन्तक ने कई कवियो के उदाहरण लेकर उनकी शैली के गुण बताये है और इस प्रकार शैली के तीन प्रमुख भेद निश्चित किये है, पर वहा पर रीति के अनन्त भेदो की ओर भी सकेत किया है। "एव मार्गीत्रितयलक्षण दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम्। न पुनस्साकल्येन सत्कवि कौशल-प्रकाराणा केनचिदपि स्वरूपमभिधातु पार्यते॥" इस प्रकार आचार्य ने एक स्थान पर नही अपितु अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे अनेको स्थलो और प्रसगो मे इस दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है, जिससे इसमे कही भी सदेह के लिए स्थान नही है।

भारत और पश्चिमी देशो मे दोनो ही जगह यह बात सिद्धान्त रूप मे मान ली गई कि रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव या व्यक्तित्व से है और इसीलिए उसके अनेक भेद किये जा सकते है। पर फिर भी कुछ मौलिक तथा आधारभूत भेद मानने की आवश्यकता सभी ही ने समझी। जैसे हम पहले ही देख चुके हैं कि अरस्तू ने आधारभूत दो शैलियाँ मानी है, यद्यपि उनका कोई विशेष नाम वे न दे पाये, इसी लिए उन्हे good और bad कह गए। इस प्रकार शैली के दो भेदो की आवश्यकता अन्य पश्चिमी और पूर्वी विद्वानो में भी समझी है। विवेस्टर ने अपनी 'Some principles of literary criticism' मे शैली के सम्बन्ध मे लिखा है :

"But while individuality is not to be classified, it may be seen that there are in general, two opposite tendencies in personal expression. On the one hand to clearness and precision, on the other to largeness and profusion.....The one makes upon you the impression of greater delicacy, temperance and charm The other, the impression of greater mass, complexity and power".

इन पक्तियो मे विद्वान लेखक ने शैली की अनन्तता के साथ ही उसके दो प्रमुख एवं आधारभूत भेदो की सभावना तथा समीचीनता को स्वीकार किया है। सस्कृत के आचार्यो मे भी इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते है। भामह और दण्डी ने दो ही रीतिया मानी है। यद्यपि कुन्तक के जैसी स्पष्टता और विशदता के साथ तो नही, तथापि दण्डी ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि वैदर्भी और गौडी स्थूल भेद है और इनके भी कई सूक्ष्म भेद हो सकते है। जैसे मिठास

की दृष्टि से दूध, गन्ना आदि के एक होने पर भी उनकी मिठास में पारस्परिक भेद भी है, उसी प्रकार एक कवि की वैदर्भी दूसरे कवि की इसी रीति से भिन्न मानी जायगी।[1] आचार्य कुन्तक द्वारा मानी गई सुकुमार और विचित्र रीतियां, जिन्हें उन्होंने मार्ग का नाम दिया है, ठीक आधारभूत शैली कही जा सकती है। उन्होंने अपने मार्गों की विशेषताएं बताते हुए कहा है कि सुकुमार मार्ग, सहज शोभा, माधुर्य रसोक्ति और स्वभावोक्ति वाला तथा विचित्र आहार्यशोभा, और वक्रोक्ति का है। यद्यपि दोनों ही मार्ग अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त है, पर सुकुमार मार्ग स्वभावतः ही सबके द्वारा श्रेष्ठ माना गया है। विचेस्टर ने भामह के स्वर-मे-स्वर मिलाते हुए कहा है :

"We are not called upon to pronounce either manner obsolutely better than the other."

लेकिन उन्होंने अन्यत्र बाह्य सौन्दर्य के आडम्बर, भावुकता की अतिशयता और शाब्दिक जजाल की अपेक्षा सक्षिप्तता, गम्भीर अनुभूति की अभिव्यजना की क्षमता तथा भावों और शब्दो के सहज सौन्दर्य को विशेष महत्व देकर आचार्य कुन्तक की सुकुमार मार्ग की श्रेष्ठता और लोकप्रियता को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रीति और शैली अपने मूल तत्वों की दृष्टि से परस्पर अभिन्न और एक कही जा सकती है। पूर्व के विद्वानों ने रीति-विवेचन का कोई कोना अछूता नही छोडा है। उन्होंने रीति के सम्बन्ध मे अत्यधिक प्रौढ और व्यापक विचारो की मौलिक उद्भावना की है। उनको किसी प्रकार भी हीन समझना एक प्रकार से विवेक-शक्ति तथा सहृदयता के अभाव का परिचायक-मात्र है। भारतीय चिन्तन ज्ञान ने के जिस क्षेत्र को छुआ है, उसी मे असधारण मौलिकता और विवेचन-क्षमता का परिचय दिया है। साहित्य-क्षेत्र इस सत्य का अपवाद नही है। सभी अंगों का उनके द्वारा किया गया निरूपण इसका सजीव प्रमाण है। रीति-विवेचन के लिए भी इतना सब कहना किसी प्रकार की अत्युक्ति नही है।

रस—रस शब्द अपने विभिन्न अर्थों सहित भारतीय साहित्यकार तथा पाठक से

---

१. अस्त्यनेको गिरां मार्ग सूक्ष्म भेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ॥
इतिमार्गद्वयं भिन्न तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तु प्रतिकविस्थिताः॥
इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तर महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥ दण्डी॥

अत्यन्त प्राचीन काल से ही परिचित है। रस के बहुत से अर्थों का साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'रस' के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगत नही होता। हा, परोक्ष रूप में अथवा परम्परा-सम्बन्ध से उनके अर्थो का भी अदृश्य प्रभाव उस पर पडता रहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसका प्रयोग व्यापक चेतन सत्ता तथा 'आनन्द' इन दोनो ही अर्थो में हुआ है।[1] साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'रस' मूलत: आनन्द के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और उसमे उपनिषद् द्वारा विवक्षित दूसरे अर्थ का भी सकेत है। पर इसमे यह मान लेने में कोई प्रमाण नही है कि 'वैदिक साहित्य' में रस-सम्प्रदाय के बीज उपलब्ध होते है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि 'अलकार-शास्त्र' को सम्प्रदाय के रूप में रस किसकी देन है। भारतीय साहित्य के आदिकवि के मुख के प्रथम उद्गार मे ही विद्वत्समाज इसका उद्गम मानते है। इसमे सन्देह के लिए स्थान नही है कि 'मा निषाद' मे करुण रस का सुन्दर परिपाक हुआ है और "शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा" मे ऋषि का आलोचक रूप भी अत्यन्त स्पष्ट है, आनन्दवर्द्धनाचार्य ने आदिकवि के इन पक्षो के स्पष्टीकरण के साथ ही यह भी कह दिया है कि इसी श्लोक तथा कवि-कृत इसकी आलोचना मे ही वे तत्व है, जो आगे चलकर 'रस' के महान् सिद्धान्त के रूप मे विकसित हुए है। लेकिन आदिकवि की विचार-धारा मे जो प्रौढता है, उसे देखते हुए तथा विकास-सिद्धान्त को सत्य मान लेने पर 'रस' की परम्परा अपने अस्पष्ट रूप मे उनसे पहले भी प्रचलित रही है,यह मान लेने के लिए बुद्धि बाध्य होती है, यह परम्परा मौखिक रही, अथवा विद्वत्समाज के चिन्तन मे अलक्षित प्राय होकर मान्य रही, यह कहना कठिन है। फिर भी अन्य प्रमाणो के अभाव मे आदिकवि को ही इस तत्व का अनुसन्धानकर्त्ता मानना समीचीन है। वैसे प्रत्येक विचार-धारा अपने स्पष्ट और निश्चित रूप मे आने से पहले मानव की अवचेतन मन मे चिरकालपर्यन्त पनपती है और कभी-कभी उसका क्षीण अथवा अस्पष्ट आभास चेतन-मन को हो भी जाता है। लेकिन बुद्धि उसकी सत्ता की घोषणा तभी करती है जब उसका मूर्तिमान रूप अपनी यत्किंचित् इयत्ता, स्पष्टता और निश्चितता के साथ उसके सामने आपाता है। अस्तु, आदिकवि के उपरान्त भरत मुनि में इसका स्पष्ट और व्यवस्थित रूप हमारे सामने आता है। 'रस' के अब अग-प्रत्यग बन चुके थे, उसने अपनी पृथक् सत्ता और इकाई स्थापित कर ली थी। भरत मुनि ने उसके विभिन्न अगोका स्पष्ट निर्देश ही नही, अपितु विवेचन भी किया है। आदिकवि तथा भरत के समयों मे कितना अन्तर है, यह प्रश्न विवादास्पद है। पर इतना अवश्य स्पष्ट है कि इस अन्तरिम काल मे 'रस' का विकास हुआ है। भरत के पहले के ग्रन्थ तो उपलब्ध नही है, पर स्वय मुनि ने कुछ ग्रन्थो का नामोल्लेख कर दिया है। इस

---

१. रसो वै सः, रस ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति॥

विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि भरत मुनि के पहले भी 'रस' विकसित होता रहा होगा। 'नाट्य-सूत्र' का समय उनका शैशवकाल है इसके बाद आनन्द-वर्द्धनाचार्य तक यह अपने अगो का विकास करया रहा। प्राय सभी अलंकारिको ने इसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। भामह दडी आदि अलंकार को ही प्रधानता देने वाले आचार्यो ने इसे अलकारों मे अन्तर्हित माना। वामन ने भी, जो कि रीति और गुण को मुख्य मानते थे, रस का कान्ति नामक गुण मे समावेश किया। भामह ने 'रस' को 'रसवद्' अलकार के रूप मे ग्रहण किया है। उन्होने यह भी माना है कि नाटक में सभी रसो के समावेश की आवश्यकता है। उन्होंने इसे नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त साधन बताया है। दंडी का दृष्टिकोण भी भामह से भिन्न नही है। पर भामह की अपेक्षा उन्होने 'रस' का अधिक विस्तार से निरूपण किया है। 'रसो' के जो उदाहरण इनके ग्रन्थ मे दिये गए है, उनसे यह स्पष्ट है कि लेखक को रस की हृदय-स्पर्शिता तथा काव्य मे इस तत्व की उत्कृष्टता मान्य है। उन्हे स्थायी भाव और रस मे भेद भी अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है। एक स्थल पर तो उन्होने रस को काव्य का प्राण कहा है।[1] व मन ने 'दीप्तिरसत्व कान्तिः' कहकर काव्य-शैली के सौदर्य का कारण माना है। वामन ने दृश्य-काव्य को श्रव्य-काव्य की अपेक्षा इसलिये श्रेष्ठ माना है कि उसमें रस-परिपाक विशेष सफलता पूर्वक हो सकता है। उद्भट भी अलकार-सम्प्रदाय के ही आचार्य माने जाते है, पर उन्होने 'रस' पर अन्य आचार्यो की अपेक्षा विशेष मौलिकता के साथ विचार किया है। प्रेयस्, रसवद् और ऊर्जस्विन् इन तीनो अलकारो मे ही रस को सीमित माना है, पर इनकी व्याख्या मे यह बात भी पूर्णतः स्पष्ट हो गई है कि ये क्रमश. भाव, रस और आभास है। इन्होने भरत द्वारा मान्य आठ रसो के अतिरिक्त 'शान्त रस' को भी नवें रस के नाम से माना है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का ही निर्देश इन्होने किया है। रुद्रट ने विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान और करुण नाम से भेद भी माने है। रस-सिद्धान्त के विकास मे कालिदास, भवभूति, बाण आदि कवि भी आलकारिको को सहयोग दे रहे थे। इन लोगो ने भी 'रस' के विभिन्न पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये है। रस का प्राधान्य तो प्राय इन सभी प्राचीन कवियों को मान्य रहा है। इन्होने अपने काव्य-ग्रन्थो मे प्रसगवश 'रस' मे तादात्म्य-क्षमता, चित्त-वृत्ति आदि तत्वो पर भी अपने विचार प्रकट किये है। कुछ तत्व तो इनके अपने मौलिक ही प्रतीत होते हैं।

आदिकाल से लेकर आनन्दवर्द्धन तक रस के विभिन्न पक्षो का क्रमिक विकास हुआ है। उसके बहुत से पक्षो पर गम्भीर विवेचन हुआ। रस-निष्पत्ति, रस की

१. 'काव्य सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति।' काव्यादर्श, १,६२।

स्थिति," (पात्र, नट अथवा सहृदय में) आलम्बन, संचारी, स्थायी आदि में कौनसा रस-रूप मे परिपक्व होता है, आदि अनेको महत्वपूर्ण और गम्भीर विषयों पर पर्याप्त चिन्तन हुआ। लोल्लट, शकुक और भट्टनायक ने अपने अलग-अलग सप्रदायों का प्रतिपादन किया। इस प्रकार इसी काल मे रस का बहुमुखी विकास हुआ है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने इस बहुमुखी विकास को एक निश्चित धारा का स्वरूप प्रदान कर दिया। इन सभी तत्वों को एक स्थान पर एकत्र करके इनकी अत्यन्त विशद एवं स्पष्ट गम्भीर व्याख्या की। 'रस' का सम्बन्ध काव्य के अन्य विभिन्न मान्य तत्वों के साथ स्थापित किया। यह काल सामान्यतया काव्य के सभी तत्वों के विकास के लिये स्वर्ण युग रहा। इसमे आनन्दवर्द्धन के अतिरिक्त कुन्तक, भोज, अभिनवगुप्त-जैसी महान प्रतिउत्पन्न हुई। क्योकि इस काल मे समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास हुआ और भाये रस को काव्य की आत्मा का स्थान मिल गया, इसलिए 'रस' के विकास मे तो यह काल सबसे अधिक महत्व का है। 'लोचन' और 'अभिनव भारती' के प्रणेता अभिनव गुप्त ने रस-सिद्धान्त मे नवीन प्राण फूंक दिये, यद्यपि इन्हें अपनी चिन्तन-सामग्री विशेषतः आनन्दवर्द्धनाचार्य से प्राप्त हुई है। आज रस का जो स्वरूप मान्य है, उसे एक तरह से अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित ही कह सकते है। मम्मट और पण्डितराज ने भी इस पर विशद विवेचन किया है। इनमें उनकी मौलिकता और गम्भीर चिन्तन की स्पष्ट छाप भी है। उन्होने 'रस-स्वरूप' मे कुछ परिष्कार भी किये है और उसे अपने अंग-उपाग सहित परिपूर्णता के साथ प्रतिपादित भी किया है। पर कुछ परिष्कारों के अतिरिक्त, जो इस रस-विवेचन मे विशेष सूक्ष्मता तथा प्रौढ़ता लाने में सहायक हुये हैं, इन आधुनिक आचार्यो द्वारा विवेचित 'रस' अपना सारा स्वरूप आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के समय मे ही बना चुका था। इस प्रकार काव्य के इस महान् सिद्धान्त के विकास का यह सक्षिप्त इतिहास है जिसका प्रारम्भ किसी अज्ञात समय मे हुआ, जिसने अपनी गर्भावस्था का विकास आदि-कवि की बुद्धि मे पाया, जिसने अपना शैशव भरत-मुनि की गोद मे बिताया और भिन्न-भिन्न महानू आलकारिको तथा कवियो के बुद्धि-प्रागणो मे अपनी बाल-क्रीडा करता हुआ अन्त में आनन्दवर्द्धनाचार्य में अपने पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गया। इसने अभिनवगुप्त मे अपनी बुद्धि और शरीर की प्रौढता तथा सबलता प्राप्त की और मम्मट एव पंडितराज ने इसको सूक्ष्म विवेक-शक्ति और महानता प्रदान की।

जैसे हमने देखा कि भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व का अलंकार-शास्त्र पर कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है, यद्यपि उनके होने की साक्षी तो स्वयं भरत-मुनि ही दे रहे हैं। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है, उसका सर्व प्रथम व्यवस्थित रूप, जो अब तक उपलब्ध है, भरत-सूत्र में ही है। विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" की प्रौढ़ता भी इस बात का प्रमाण है कि इसके पहले भी रस

के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हो चुका था और यह सूत्र चिन्तन की उस अवस्था का परिचायक है, जिसमें कुछ परिपक्वता स्पष्ट है। भरत का यह सूत्र रस-सिद्धान्त के विकास मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमे पूर्ववर्त्ती गम्भीर और प्रौढ चिन्तन का आभास मिलता है और भावी विकास के लिये पर्याप्त प्रेरणा भी। पडितराज ने 'रस' के सम्बन्ध मे अनेको मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है। उनमे से कुछ मत विभाव, अनुभाव और सचारी को पृथक रूप से, अथवा सम्मिलित रूप से रस मानते है। कुछ आचार्यों ने कुछ विचार करने के बाद इस बात का प्रतिपादन भी किया कि आलम्बन के ही बार-बार अनुसंधान करने से आनन्द का अनुभव होता है, आलबन ही रस है। अतः उन्होने कहा 'भाव्यमानो विभाव एव रसः'। इसके बाद कुछ आचार्यो ने इस मत को असमीचीन समझा और आलम्बन के हाव-भाव और अग-चेष्टाओ को अर्थात् अनुभावो को रस कहने लगे। कुछ लोगों का ध्यान इस ओर भी गया कि हाव-भाव के मूल में जो चित्त-वृत्ति है, उसीके कारण तो अनुभाव आनन्ददायक होते हैं, उसके अभाव मे नट के लटके-मात्र तो केवल उपाहासास्पद-मात्र हैं। इसलिए उनके मत में व्यभिचारी-मात्र रस हुए। इन तीनो पूर्वोक्त मतो की आलोचना के फलस्वरूप आलकारिको का ध्यान इनके सम्मिलन स्वरूप की ओर भी गया और उन्होने 'त्रिषुय एव चमत्कारी स एव रसः अन्यथा तु त्रयोऽपिना' कहा। कुछ लोगो ने तो केवल इनके सम्मिलित रूप को ही रस कह दिया। पडितराज ने पूर्वोक्त इन पाँच तथा अन्य बहुत से मतों (शंकुक आदि के) को उद्धृत किया है। उन्होने इन सभी मतो के दृष्टिकोण से भरत-सूत्र की व्याख्या भी की है। लेकिन इन पाँच मतों मे से सबके साथ उस सूत्र का सम्बन्ध स्थापित न कर सके। केवल अन्तिम दो का सम्बन्ध बताया है और शेष तीनो मे सूत्र का अर्थ उन्हें भी संगत नही लगता है। वे इन तीनो मतों को स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानते है। वास्तव मे पण्डितराज ने इस विवेचन मे ऐतिहासिक अथवा चिन्तन-विकास के क्रम का ध्यान नही रखा। इस दृष्टि से केवल ये ही तीन मत नही, अपितु शेष दो भी भरत-सूत्र के पूर्ववर्ती चिन्तन के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ है, चाहे इन अवस्थाओ में सत्य का इतना अधिक अन्तर न हो। हाँ, शंकुक आदि आचार्यों का स्पष्टतः भरत-सूत्र से सम्बन्ध है, उनके मत इसी की व्याख्या है। इसलिए उन्हें तो हम परवर्ती मानते है। भरतमुनि ने अपने सूत्र मे 'स्थायी भाव' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, लेकिन उन्हें स्थायी भाव को रस मानना अभीप्सित है। मुनि ने अपने इस मन्तव्य को दो श्लोकों द्वारा स्पष्ट भी कर दिया है। उन्होने कहा है कि जैसे भात के रसज्ञ व्यक्ति बहुत से द्रव्यो तथा व्यजनों से युक्त भात को खाते हैं और उनका स्वाद लेते हैं, उसी प्रकार पडित लोग भावो और अभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों का मन से आस्वाद करते है।[1] इतना ही नही

१ यथा बहुद्रव्ययुतं व्यंञ्जनैर्बहुभिर्युतम। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्त

उन्होने इस सूत्र की व्याख्या में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि नाना भावो से मिश्रित स्थायी भाव ही रस हैं।[1] इस प्रकार मुनि को इस सूत्र के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव रस बनता है, यही मान्य है। आगे रस-सिद्धान्त का सारा विकास इसी सूत्र को आधार मानकर हुआ है। आचार्यों ने 'सयोग' और निष्पत्ति' इन्ही दो शब्दो पर विशेष विचार किया है। इन दो शब्दों के विभिन्न अर्थों के कारण ही कई-एक सम्प्रदाय खड़े हुए। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी विचार हुआ कि रस की स्थिति किसमें है; नट में, नायक मे अथवा सहृदय मे। इस पर भी आचार्यो का मतैक्य नही रहा। पर्याप्त वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना के बाद भारतीय आचार्यों को यह मान्य हुआ कि सहृदय मे ही रस की स्थिति है। कवि की आनन्दानुभूति पर इसी अध्याय मे विचार हो चुका है।

भरत मुनि के इस सूत्र के प्रधान व्याख्याता चार है। इन लोगों के मत विशेष सम्प्रदायो के नाम से प्रचलित है। अन्य आचार्यों ने तो इन सम्प्रदायों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है। इन व्याख्याताओं में सर्व प्रथम है आचार्य भट्ट लोल्लट। इन्होंने स्थायी भाव की स्थिति तो नायक-नायिका में ही मानी है, पर सहृदय पाठक जब नट को सुन्दर वेश-भूषा में नायक के हाव-भावो का अनुकरण करता हुआ देखता है तो उसको नायक समझ लेता है। उस पर नायक का आरोप कर लेता है। इस प्रकार वह अनुमान से रस का आस्वाद करता है। इस मत के अनुसार स्थायी भाव आलम्बन विभाव से उत्पन्न हो कर उद्दीपन विभाव द्वारा उद्दीप्त किया जाता है तथा अनुभावो द्वारा प्रतीति योग्य बना हुआ, व्यभिचारी भावो द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ पर सयोग शब्द से 'सम्बन्ध' अर्थ लिया गया है और निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। यह मत 'आरोपवाद' के नाम से प्रचलित है। आचार्य शंकुक को यह मत मान्य नही हुआ। उन्होने कहा कि यदि आरोप कर भी लिया जाय तो क्या हुआ। जब तक इसका सम्बन्ध सहृदय से नही होता तब तक इसमें आनन्द का कोई कारण नही माना जा सकता। नट पर आरोपित रस के ज्ञान-मात्र से आनन्द की उपलब्धि नही हो सकती। उन्होने स्थायी भाव को रस माना है। उनके मत मे मूलत. तो यह रस नायक मे रहता है, पर नट के कौशल से सहृदय को चित्र-ज्ञान की तरह नट मे नायक की प्रतीति होने लगती

विदोजना। भावाभिनय संबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।

२. यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावाः रसत्वमाप्नुवन्तीति॥

हैं । वह नट में नायक का अनुमान कर लेता है। यद्यपि नट मे यह सारा व्यापार कृत्रिम होता है, पर फिर भी सहृदय को वह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इस प्रकार उनके अनुसार रस की निष्पत्ति अनुमानजन्य है, यद्यपि लौकिक जीवन मे आनन्द का अनुभव अनुमान का विषय नही है, फिर भी स्थाई भाव, अनुभाव आदि तथा नट की कार्य-पटुता के कारण सहृदय इतना प्रभावित हो जाता है कि अनुमान से ही आनन्दित हो उठता है। प्रत्यक्ष दीखने वाले नट को वह दुष्यत ही समझता है। सूत्र के तृतीय व्याख्याता हुए हैं—आचार्य भट्ट नायक। उन्होने अपना नया दृष्टि-कोण रखा। जैसा कि स्पष्ट है कि आनन्द की अनुभूति में अनुमिति को कारण बताने मे केवल खीच-तान है। रस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। इसी विरोध के साथ ये आचार्य साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उन्होने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी है। अभिधा काव्य के अर्थ से अवगत कराती है। भावना काव्य के पात्रो तथा उनके भावो की वैयक्तिकता और विशेषता का परिहार करती है। इसके प्रभाव से उनका साधारणीकृत रूप ही पाठक के सामने आता है। अर्थात देश काल, पात्र, वय आदि सभी वस्तुओ का, जो रस की प्रतीति मे अगम्यता का भाव उत्पन्न करने के कारण प्रतिबन्धक है, परिहार हो जाता है, और उनका सामान्य स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। और इस प्रकार काव्य आस्वाद योग्य बन जाता है। तीसरी शक्ति है भोग। इसका स्वरूप ही आनन्द का आस्वाद है। "सत्वोद्रेक प्रकाशानन्द संविश्रान्ति" ही भोग है। इस प्रकार सत्वोद्रेक से उत्पन्न प्रकाश-स्वरूप आनन्द का ज्ञान ही भोग है। इस मत को भुक्तिवाद कहते है। इस सिद्धान्त में "संयोग" शब्द का अर्थ साधारणीकृत तथा "निष्पत्ति" शब्द का अर्थ भोग लिया गया। भट्ट नायक ने भावकत्व और भोजकत्व के द्वारा "साधारणीकरण" का एक महान् सिद्धान्त साहित्य-शास्त्र को दिया, जो सब कालों और देशों के काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की क्षमता रखता है। यह सिद्धान्त काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। अभिनव गुप्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी मतों की परीक्षा की है और उनके गुण-दोषों का विवेचन किया है। इन्हें भट्ट नायक का साधारणीकरण तो मान्य है। ये भी उन विशेषताओ को रस के प्रतिबन्धक मानते हैं। इस क्रिया को वे अलौकिक कहते हैं। विभावादि के विभावन-व्यापार द्वारा (जो अलौकिक कहा जाता है) रस की अभिव्यक्ति होती है। चैतन्य विभावादि मिश्रित रति को प्रकाशित करता है और इस प्रकार रस का आस्वाद होता है। उनका कहना है कि आनन्द तो पहले से ही वहां पर विद्यमान रहता है ही, उसका भोग क्या होगा। उसकी अभिव्यक्ति-मात्र होती है। भट्ट नायक से तो इनका इतना ही मतभेद है कि ये तीन शक्तियां नही मानना चाहते। वास्तव में भट्ट नायक की यह नवीन कल्पना-मात्र है। जब व्यंजना से ही काम चल जाता है तो नवीन शक्तियो को मानने की

आवश्यकता नही, केवल व्यर्थ का गौरव है। इनका कहना है कि "सयोग" शब्द से भरत मुनि का तात्पर्य ध्वनित होने से है। विभावादि द्वारा ध्वनित होने से आत्मानन्दयुक्त स्थायीभाव-रूप रस की निष्पत्ति होती है। अभिनव गुप्त का यह सिद्धान्त ही परवर्ती काल के सभी सस्कृत आचार्यो को मान्य रहा और आज भी मान्य है। आचार्य मम्मट को भी यही दृष्टिकोण मान्य है। "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः" द्वारा उसी बात का प्रतिपादन कर रहे है। वास्तव में पडितराज के पहले सभी आचार्यो को स्थायी भाव का रस-रूप मान्य रहा है। आनन्द रूप चैतन्य से युक्त स्थायी भाव ही रस है। यही अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा भट्ट नायक को मान्य है। पडितराज ने इसमे कुछ परिवर्तन कर दिया। उन्होंने स्थायी भाव से उपहित चैतन्य के आनन्दाश को रस कहा है।[1] वास्तव मे इन दोनो ही दृष्टिकोणों में कोई विशेष अन्तर नही है। एक में स्थायी भाव की प्रधानता है (वह विशेष्य है) और दूसरे मे आत्म चैतन्य की। अन्य बातो मे तो समानता ही है। पडितराज ने श्रुतियो का आश्रय लेकर यह कहा, क्योकि उपनिषदों मे आनन्द-मय आत्मा को रस-रूप कहा है 'रसो वै सः' ; इसलिए यहाँ भी चैतन्य की प्रधानता ही समीचीन है। इस विवेचन से "रस" का स्वरूप और भी स्पष्ट हो गया। कुछ विद्वानो ने इसी रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए रसानुभूति को भ्रान्ति कहा है उनका कहना है कि हृदय उस समय तमसावच्छिन्न हो जाता है, इसीलिए सीप मे रजत की तरह अन्त.करण मे स्थायी भावो की भ्रान्ति होती है। दूसरे कहते है कि पाठक अपने-आपको नायक समझने लगता है और स्थायी भाव का आस्वाद लेता है इसलिए यह भ्रान्ति है। पडितराज ने अन्य सभी मतो के साथ इनको भी 'उद्धृत किया है। पर इनका विस्तार पूर्वक प्रतिपादन तथा खडन दोनों ही व्यर्थ है; क्योकि ये निस्सार, तर्कहीन और सहृदय व्यक्तियो की अनुभूति के प्रतिकूल है। शास्त्र भी इसमें प्रमाण नही है। रसानुभूति स्वय भ्राति नही कही जा सकती। उसके लिए ऐसी कल्पना का उपयोग अवश्य किया जाता है जो अयथार्थ में यथार्थ का विश्वास पैदा कराती है और यथार्थ अनुभूति ही जागृत करने मे सफल होती है। इसी लिए आचार्यों ने उसे भ्राति नही अपितु अलौकिकता के नाम से पुकारा है। भ्रांति का उपयोग अवश्य है।

प्राचीन काल में रस के सम्बन्ध में अत्यन्त विशद विचार हुआ है। उसके सभी पक्षों पर आचार्यों ने पर्याप्त विवेचन किया है। रस का गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार आदि अन्य काव्य-तत्वों से क्या सम्बन्ध है, इस पर प्रसंगानुसार हम विचार करते आये है। रसो की सख्या, स्थायी, व्यभिचारी भाव आदि अनेकों प्रसगो पर शताब्दियों तक

---

१ रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावस्थाचिति आनन्दाशो रसः

चिन्तन करते रहे। भरत मुनि ने आठ रस तथा उनचास भाव माने। उनके परवर्ती आचार्यों ने रसो की सख्या आठ ही नही रखी अपितु उसे बढाते चले गये। शान्त रस पर तो भारतीय आचार्यों में बहुत मतभेद रहा। कुछ लोगो ने इसे काव्य और नाटक दोनों का, तथा कुछ ने केवल काव्य का ही रस माना। कुछ ने इसे रस मानना समीचीन नही समझा। बहुतो ने इसमे भरत मुनि का अनुसरण किया। कुछ लोगों का तर्क था कि शान्त रस का कोई स्थाई भाव नही हो सकता है, क्योकि उसमे चित्त के विकार का अभाव है। अन्तःकरण की विकृति ही भाव है और उसके अभाव मे रस की कल्पना नही की जा सकती।[1] कुछ लोगों ने इस आधार पर भी रस माना है कि भरत मुनि मे इसके लिये पर्याप्त प्रेरणा है। उनका कहना है कि वास्तव मे निर्वेद को भरत मुनि ने स्थायी और सचारी भावों की गणना के बीच मे इसी अभिप्राय से रखा है कि वे शान्त-रस को रस मान रहे है। इस मत के आचार्यो ने भरत मुनि के ग्रन्थ में इस स्थान पर पाठान्तर भी माना है और उसके अनुसार भरत मुनि भी नव रस मानते है। शान्त रस के स्थायी भावो को लेकर संस्कृत-साहित्य मे पर्याप्त मत-भेद रहा है। विभिन्न आचार्यो ने शान्त रस के विभिन्न स्थायी भाव माने है। 'अभि-नव भारती' मे इन सभी आचार्यों के दृष्टिकोणो की विशद व्याख्या है। डा० राघवन ने 'अभिनव भारती' में से शान्त रस-विवेचन का अश अपनी पुस्तक The Number of Rasas में ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है। शम, सम्यक्ज्ञान, तृष्णाक्षयसुख, धृति, निर्विशेष चित्त-वृति, निर्वेद, उत्साह आदि अनेकों स्थायी भावों की कल्पना की गई। इन विभिन्न स्थायी भावो को लेकर भी पर्याप्त आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। इससे एक यह सिद्धान्त मान्य हो गया कि एक स्थायी भाव एक से अधिक रसों का स्थायी हो सकता है। एक ही भाव की कई अवस्थाओं और भेदों की कल्पना कर ली गई और इस तरह वह एक ही भाव कई रसों का स्थायी माना जा सका। भरत मुनि ने ही यह माना कि हर एक भाव स्थायी, सचारी और सात्विक हो सकता है।[2] वास्तव में प्राचीन आचार्यों के मत में ये भाव चित्त की विशेष अवस्थाओं के नाम-मात्र है तथा प्रधान और गौण के भेद से इनको स्थायी (रस-दशा में परिणत होने वाले) और संचारी कहा गया है। जो भाव इस भाव का सहयोगी होकर आता है, व्यभिचारी कहलाता है और दूसरा स्थायी। इस सहयोग की कल्पना

१. विक्रियाजनका एव रसा इति अष्टौ रसाभरतमते। शान्तस्य निर्विकारत्वात् न शान्त मेनिरे इति शान्तस्य रसत्वाभावात् अष्टावेव रसाः संग्रहीताः।

२. जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन्मुनिः भावानां सर्वेषामेव स्थायित्व-संचारित्व चिन्तनात्सावत्य (चित्तत्व) अनुभावत्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दा-र्थसत्वाकरत्वानि सत्त्वानि। अभिनव भारती पृष्ठ ३३४

व्यभिचारियो मे भी की गई है। एक व्यभिचारी दूसरे का सहयोगी हो सकता है। इस प्रकार व्यभिचारियो में भी विशेष परिस्थितियो मे प्रधान और गौण का भेद किया जाता है। अभिनवगुप्त ने भरत के इस मत का खडन किया है और उन्होने स्थायी का व्यभिचारी होना माना है, पर व्यभिचारी का स्थायी नही। भरत मुनि के इस दृष्टिकोण ने ही परवर्ती आचार्यों को आठ से अधिक रस मानने की प्रेरणा दी। हरिपाल देव ने तेरह रस माने। धीरे-धीरे तो यह प्रवृत्ति हो गई कि जितने भाव थे उतने ही रस भी माने जाने लगे। पडितराज ने भी रसो की अनेकता स्वीकार की है, पर आचार्य-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उन्होने सख्या नौ तक ही सीमित रखी। इस विवेचन के कारण रस-प्रतिपादन मे रूढिवादिता का स्थान स्वतन्त्र चिन्तन ने ले लिया। रस के स्वरूप की विशद व्याख्या हो गई। कोई भी भाव जब विभावो और अनुभावों द्वारा प्राप्त सत्वाविष्ट अन्त करण की एक मात्र वृत्ति बनकर आनन्द स्वरूप चेतन के साथ आस्वाद्य हो जाता है, उसी अवस्था को रस कहते है और उसका नामकरण उन विशेष भाव के नाम पर हो जाता है। अभिनव गुप्त ने व्यभिचारी भावो के स्थायी बन जाने की सभावना को स्वीकार करके समस्या को सरलता पूर्वक हल कर दिया। इस प्रकार रसो की सख्या एक दम स्वतत्रता पूर्वक ही बढती रहती तो सभवतः रस-सिद्धान्त अपनी गम्भीरता ही खो बैठता। वस्तुस्थिति तो यह है कि भरत मुनि तथा कतिपय अन्य आचार्यो ने जिन स्थाई भावो की रस-रूप मे परिणत होने की संभावना स्वीकार की है, वे मानव की मूल भावनाएं है, वे अन्तःकरण की अपेक्षाकृत स्थायी वृत्तिया है, जो सस्कार रूप मे प्रायः प्रत्येक अन्तःकरण मे रहती है और उपयुक्त कारण को प्राप्त कर के सम्वेद्य हो जाती है। इसके विरुद्ध आचार्यो द्वारा माने गये व्यभिचारी और सात्विक भाव अत्यन्त क्षणिक होते है। किसी कारण अन्तःकरण उन भावों का रूप धारण कर लेता है, पर वे स्थायित्व नही ले पाते और अपने संस्कारो द्वारा अन्य किसी मूल भाव को ही पुष्ट करते है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यो का यह विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है। हाँ, केवल आठ ही ऐसे मूल भाव नही है। इनके अतिरिक्त, वात्सल्य, भक्ति आदि भावनाएं भी इसी श्रेणी की है और वे 'रति' से अपना पृथक् अस्तित्व भी रखती है। हमारे आचार्यो का ध्यान विवेच्य विषय के इस पक्ष पर भी गया है और उन्होने इसका भी सुन्दर विश्लेषण किया है। पडितराज में भी इस दृष्टिकोण के दर्शन होते है।[1] (अनुच्छेद परिवर्तन) सस्कृत के आचार्यो ने रस की अनेकता पर ही नही विचार किया है, अपितु उन्होंने इनमे समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की है। कई आचार्यों ने एक ही रस से अन्य

---

१. शब्दार्थबलात्कृष्टानि अनुजानाति। 'अभिनव भारती'

रसों की उत्पत्ति मानी है।[1] भवभूति के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध ही है कि वे 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्' से करुण को ही सब रसो की आधार-भूमि मानते है। वीर राघव नामक व्याख्याता ने इस दृष्टिकोण को और भी स्पष्ट कर दिया है। वे कहते है: "यद्यपि शृङ्गार एक एव रस इति शृङ्गारप्रकाशकारादिमतम्, तथापि प्राचुर्याद् रागिविरागि साधारण्यात् करुण एक एव रसः, अन्ये तु तद्विकृतयः।" सर्व प्रथम 'अग्नि पुराण' मे भी सब रसों की उत्पत्ति 'रति' से मानी गई है। उनका कहना है कि ज्ञानस्वरूप और प्रकाशमान चैतन्य मे आनन्द विद्यमान है और कभी-कभी उसकी अभिव्यक्ति हो जाया करती है। वही रस है। उसी का प्रथम विकार अहंकार है, उससे सर्वप्रथम अभिमान और रति की उत्पत्ति होती है। यह रति सब रसो को मूल है वही रति, राग, तीक्ष्णता, गर्व और सकोच से क्रमशः शृङ्गार, रौद्र, वीर और वीभत्स का रूप धारण कर लेती है-और फिर उनसे शेष चार रसो की उत्पत्ति होती है।[2] इसी प्रकार का विवेचन भोज मे भी मिलता है। उन्होंने अहंकार को आत्म-रति माना है और उसी से रस के रति आदि स्थायी भावो की उत्पत्ति भी। भोज भोज के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए डॉ० राघवन ने इसे 'अग्नि-पुराण' से भिन्न बताया है।[3] वैसे इन दोनों मे पर्याप्त साम्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि भोज अहंकार से अन्य भावों की उत्पत्ति मानते है, और 'अग्नि-पुराण' में अहकार से अभिमान या ममता और फिर रति। इस प्रकार यद्यपि रति से सब स्थायी भावो की उत्पत्ति मानी गई है पर वास्तव मे यह 'रति' भोज द्वारा मानी गई "आत्म-रति" से भिन्न नहीं है। वास्तव में विकास की कुछ अवस्थाएँ 'अग्नि पुराण' मे अधिक हैं। बस, यही अन्तर है। भोज ने सब भावो के अन्तरस्थल में प्रेमन् नामक भाव को माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक भाव अपनी पहली अवस्था मे अहंकार रूप में रहता है, फिर भाव बन जाता है और उसके बाद 'प्रेमन्' मे परिणत हो जाता है। इन तीन अवस्थाओं के बाद ही उसका रूप पूर्ण होता है। साहित्यदर्पणकार के किसी पूर्वज(नारायण नामक) ने सभी आनन्दो मे विस्मय का तत्व आवश्यक माना है। इसी आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने सब रसो का मूल अद्भुत रस माना

---

१. देखिये 'रस गंगाधर' का रस-विवेचन।

२. आनन्दः सहजस्तस्य व्यतेऽज्ज स कदाचन।
व्यक्तः स तस्य चैतन्यचमत्काररसा ह्यया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः
× × × ×
रागाद् भवति शृंङ्गारो रोद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते, ॥ अग्नि पुराण॥

३. 'दी नम्बर आफ रसाज' पेज संख्या १७०।

है ।[1] वास्तव मे इस समन्वय मे करुण आदि रसों के कारण व्याघात आता है। अभिनवगुप्त ने सभी रसो की आधार-भूमि शान्त को माना है। इसका स्थायी भाव आत्मन् ही अन्य चित्तवृत्तियो का रूप धारण करता है और वे भाव विभिन्न रसो के स्थायी माने जाते है ।[2] संस्कृत-साहित्य का यह समन्वयवाद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रौढता का परिचायक है।

भारतीय आचार्यों ने रस को एक ही माना है। इसके भिन्न-भिन्न नाम केवल बाह्य भेदो के कारण ही है। एक ही वस्तु विभिन्न विभावों, अनुभावो, और स्थायी भावो के कारण वीर आदि के रूप मे भासित होती है । रस अखंड आनन्दानुभूति है । अन्त.करण की सात्विक स्थिति ही इसके आस्वाद का कारण है और यह अनुभूति केवल कुछ वासना-रहित सहृदयो को होती है । 'रस' केवल चर्वणा रूप है । इसका विभावादि मे कार्य-कारण अथवा ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध नही है। यह पार्थिव जगत् की आनन्दानुभूति से भिन्न एक अलौकिक अनुभूति है जिसकी तुलना आचार्यो ने ब्रह्मानन्द से की है। यह वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है। इस प्रकार इसकी तुलना समाधि ज्ञान से की जा सकती है। रस की अवस्था निर्विकल्प समाधि से निम्न कोटि की है, क्योकि रस मे अहकार से उत्पन्न स्थायी भाव बने रहते है। विभावादि की पृथक् अनुभूति तो नही होती, पर उनकी अनुभूति का अभाव नही है। निर्विकल्प समाधि मे यह सब-कुछ नही रहता। वैसे रस दशा मे भी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद की प्रतीति नही रहती। पर आचार्यो ने भी इसे ब्रह्मानन्द से भिन्न ही माना है। शान्त और भक्ति रस में आलम्बन परब्रह्म है, इसलिए उसे कुछ लोग ब्रह्मानन्द की कोटि मे ही रखते है। रस मे आचार्यो ने आनन्द का तारतम्य भी माना है। समाधि मे आनन्द के तारतम्य की कल्पना नही है, कुछ रसों मे तो स्पष्टत: दु ख की अनुभूति स्वीकृत की गई है। भोज ने "रसा हि सुखदु:खावस्थारूपा" कहा है, 'नाट्य-दर्पण' मे भी "सुखदु:खात्मको रस" कहा गया है। फिर भी रस को आचार्यों ने एक स्वर से आनन्द रूप ही कहा है. उसमे तारतम्य अवश्य माना जाता है।[3] विभिन्न रसो मे आनन्दानुभूति के परिमाण का

१. रसं साराश्चमत्कार· सर्वत्राप्यनुभूतये ।
तच्चमत्कारसारित्व सर्वत्राप्यद्भुतो रस ।।
तत्स्माद्द्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।
।। साहित्य दर्पण,तृतीय परिच्छेद पेज सं० ७० ।।

२. भावा विकारारत्याथा, शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जात पुनस्त्रैव लायते ।। नाट्य-शास्त्र ।।

३. सत्वगुणस्य च सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वे अपि रजस्तमोऽश

भेद वास्तव मे कुछ स्थायी भावो के कठोर और लौकिक दु ख-रूप होने के कारण ही है । इतनी शताब्दियो के चिन्तन के बाद रस का जो स्वरूप मान्य हुआ, उसका प्रतिपादन एक श्लोक मे आचार्य विश्वनाथ ने किया है ।[1] रस का यही स्वरूप आचार्य अभिनव गुप्त तथा मम्मट को भी मान्य है । पडितराज ने इसमें थोड़ा सा परिवर्तन किया है । वे 'रस' को स्वय आनन्दस्वरूप चैतन्य मानते है, इस चैतन्य पर रति आदि भावो का आवरण रहता है । बस, इसीलिए इसका नाम रस है और यह ब्रह्मानन्द से भिन्न है । इस दृष्टिकोण को हम इसी अध्याय मे पहले स्पष्ट कर चुके है । यह व्याख्या विशेष सूक्ष्म और प्रौढ है । 'रस' का यही स्वरूप आज भी मान्य है ।

ध्वनि—ध्वनि काव्य के तत्व के रूप मे कब से मान्य हुई, यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता । इस पर सर्वप्रथम ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' ही है । आनन्द-वर्द्धनाचार्य ही इसके पहले आचार्य है । 'ध्वन्यालोक' मे कारिकाए है और उन पर आनन्दवर्द्धन की वृत्ति है । सभी इतिहासकार एक स्वर से ही आनन्दवर्द्धनाचार्य को वृत्तिकार मानते है, लेकिन कारिकाओ के रचयिता के सम्बन्ध मे मतभेद है । कीथ और दे ने कारिकाकार आनन्दवर्द्धन को नही माना है और उन्होने अपने इस मत के पक्ष मे अभिनवगुप्त की लोचन-व्याख्या का ही प्रमाण दिया है । पर कुछ विद्वान् इसी "लोचन" व्याख्या के आधार पर यह भी सिद्ध करते है कि ये दोनो एक ही है । अस्तु, फिर भी "ध्वनि-सम्प्रदाय" के आचार्य तो ध्वनिकार ही है । लेकिन इनके पहले भी साहित्य-ससार मे ध्वनि-सिद्धान्त मान्य था । स्वय ध्वनिकार ने ही अपने ग्रन्थ की प्रथम कारिका मे स मत का प्रतिपादन किया है । "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नात पूर्व." से यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ के पहले भी "ध्वनि" विद्वानों को मान्य थी । 'वृत्ति' मे इस सिद्धान्त को "परम्परा" से मान्य कहा है और 'लोचन' मे इसी की व्याख्या मे "अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेवुक्तम्" कहा है । अभिनवगुप्त ने इस सिद्धान्त पर 'ध्वन्यालोक' के पहले किसी पुस्तक का होना स्वीकार नही किया है, पर पुस्तक के अभाव मे सिद्धान्त-परम्परा मानी है । डॉ० दास गुप्ता और डा० दे ने अपने सस्कृत-साहित्य के इतिहास मे भी इस परम्परा को

मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्, अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्य सुखानुभव: ।
।। भक्ति रसायन ।।

२. सत्वोद्रेकादखंड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय: ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर: ।।
लोकोत्तर चमत्कार प्राण कैश्चित्प्रमातृभि: ।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रस: ।। साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद ।।

स्वीकार किया है। उनका कहना है कि कुछ आलकारिकों ने "ध्वनि" शब्द का एक शक्ति के रूप में प्रतिपादन किया है।[1] वामन और उद्भट आदि पूर्ववर्ती आलकारिकों को "ध्वनिकार" ने प्रामाणिक माना है। वामन की "वक्रोक्ति" में ध्वनि के तत्व स्पष्ट दृष्टिगत होते है। उन्होने यद्यपि स्पष्टता और निश्चयपूर्वक ध्वनि का प्रतिपादन नही किया है, परन्तु फिर भी उन्होने शब्द की अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा के नाम से अन्य शब्द-शक्ति को स्वीकार करके ध्वनि को मान लिया है। इन विचारो में ध्वनि अपनी अविकसित अवस्था मे विद्यमान थी, उसके बीज थे, जो बाद मे अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण करते गए।[2] किसी ग्रन्थ के रूप में ध्वनि का शृंखलाबद्ध और व्यवस्थित विवेचन न मिलने पर भी आनन्द-वर्द्धनाचार्य ने इसका इतना व्यवस्थित, गम्भीर तथा सुन्दर विवेचन किया है कि परवर्ती सभी आचार्यों को यह सिद्धान्त मान्य हो गया। इस विवेचन को ही प्रमाण मानकर उन लोगों ने रस और ध्वनि का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं, अलकार गुण, रीति आदि विभिन्न काव्य-तत्वो के सम्बन्ध में भी इन आचार्यों ने ध्वनिकार के ही मत का अनुसरण किया है। ध्वनि-सिद्धान्त को अपने प्रारम्भकाल मे ही अनेक विरोधों और आघातों का सामना करना पडा है। अलकार, गुण, रीति आदि को ही काव्य में प्रमुख स्थान देने वालो ने "ध्वनि" सिद्धान्त का विरोध किया। "प्रतिहारेन्दुराज" अलकार-सम्प्रदाय के थे। उन्होने काव्य मे ध्वनि-तत्व मानने का विरोध किया है। आनन्दवर्द्धन द्वारा उद्धृत उदाहरणो को ही लेकर उनमें अलकारों का निर्देश किया है। रस में अभिधेयार्थ का ही प्राधान्य उन्हे स्वीकृत है। भट्टनायक यद्यपि "रस" को ही काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य है, पर उन्होने भी स्थान-स्थान पर ध्वनि का खण्डन किया है। वे रस निष्पत्ति मे भावकत्व और भोजकत्व नामक दो शब्द-शक्तियों को कारण मानते है। अभिनवगुप्त ने इनके दृष्टिकोण की आलोचना की है। धनंजय और धनिक दोनो रस-सम्प्रदाय के है, पर उन्होने व्यजना के स्थान पर तात्पर्य शक्ति को स्वीकार किया है। उनके अनुसार रस में "व्यंज्यव्यंजकभाव" नही, अपितु "भाव्यभावक-सम्बन्ध" है। कुन्तक ने "वक्रोक्ति" की व्याख्या में शब्द के व्यंग्य अर्थ को स्वीकार किया है। उन्होने वस्तु अलकार और रस में तीन भेद भी माने हैं। अलकारो के दो भेद अभिधेय तथा व्यजित स्वीकार किये है। उपचारवक्रता अलंकारों मे एक विशिष्ट सौन्दर्य ला देता है। यह भी उन्हें मान्य है। उन्होंने "पद-ध्वनि' के उदाहरण में वही पद्य लिया

---

१. देखिये डा० दे—'दी हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर वोल्यूम फर्स्ट, पेज ६ और डा० संकरन—'रस और ध्वनि' पेज ६४।

२. वही, पृष्ठ ६४।

जो आनन्दवर्द्धन द्वारा दिया गया था। कुन्तक रस के भी विरोधी नही है। उनका ध्वनि के सामान्य स्वरूप से कोई विरोध नही प्रतीत होता है। बस, उन्होने स्पष्टतः उसको स्वीकार न करके काव्य के सभी तत्वो की तरह ध्वनि का समावेश भी "वक्रोक्ति" मे ही कर लिया है। महिमभट्ट ने कुन्तक और आनन्दवर्द्धन मे बहुत साम्य देखा है।[1] महिमभट्ट ने "ध्वनि" का स्पष्टतः विरोध किया है। उनका मत है कि अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यजना के नाम से शब्द की एक और शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नही है। उन्होने रसानुभूति को अनुमान का ही कार्य बताया है। 'काव्यानुभूति" को एक विशेष प्रकार का अनुमान माना है और उसे ही आनन्द का कारण बताया है। ध्वनि-सम्प्रदाय के ये सभी विरोधी उसे निर्मूल करने मे पूर्णत. असमर्थ हुए। इनमे से "वक्रोक्ति" ही केवल ऐसा सिद्धान्त था, जिसमें चिन्तन की कुछ प्रौढता थी। कुन्तक के बाद उसका प्रतिपादन करने वाला कोई आचार्य नही हुआ, इसलिए उसकी कोई परम्परा आगे तक बनी न रह सकी। "वक्रोक्ति" का स्पष्टत ध्वनि से कोई विरोध भी नही था। "वक्रोक्ति" की विचार-धारा का सस्कृत-साहित्य के अलकार-विवेचन पर पर्याप्त प्रभाव पडा है, जिसके स्पष्ट लक्षण हमे परवर्ती आचार्यों मे दिखाई पडते है। जैसा हम देख चुके है कि ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय चिन्तन की महान् देन रही है और यह आज तक भी मान्य है। इस सिद्धान्त ने काव्य-क्षेत्र के सभी तत्वो को नवीन प्राण दिये है।

ध्वनि शब्द का प्रयोग आलकारिको के पहले वैयाकरण कर चुके थे। महाभाष्य म 'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द उच्यते" लिखा है। ध्वनन से जिस अखण्ड शब्द की व्यजना होती है, वही स्फोट है और उसी को ध्वनि भी कहते है।[2] वर्णो द्वारा अभिव्यजित स्फोट को भी ध्वनि कहा गया और शब्दो या अर्थो द्वारा अभि-व्यजित अर्थ को भी ध्वनि ही। यह कहना तो असंभव है कि काव्य मे ध्वनि मानने की प्रेरणा व्याकरण के स्फोट से ही मिली अथवा स्वतन्त्र रूप मे ही इसका विकास हुआ। क्योकि सस्कृत-साहित्य मे ध्वनि की मान्यता अज्ञात समय से चली आ रही है। ध्वनिकार ने किसी मौलिक मत का प्रतिपादन नहीं किया है, अपितु चिर परम्परा मे आये हुए सिद्धान्त का विश्लेषण भर कर दिया है। फिर भी चाहे स्पष्टीकरण के लिए ही सही, आलकारिको ने व्याकरण के स्फोट का काव्य की 'ध्वनि' से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। स्वय मम्मटाचार्य 'ध्वनि' को समझाने

---

१. डॉ० संकरन—'रस और ध्वनि', पृष्ठ ९१।

२. य संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजायते।
स स्फोट: शब्दज शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधै:। वाक्यप्रदीप।

हुए 'स्फोट' का आश्रय लेते है।[1] 'काव्य-विचार' के लेखक दासगुप्ता ने तो स्पष्ट शब्दों मे ही इन दोनो का सम्बन्ध स्वीकार किया है।[2] शंकरन ने भी ऐसा ही कहा है।[3] 'ध्वनिकार' ने व्यग्यार्थ को ही काव्य का प्राण कहा है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था। इस प्रकार काव्य की आत्मा के साथ उसके शरीर की भी कल्पना आलंकारिक करने लगे थे। आचार्यों ने एक तत्व को काव्य की आत्मा तथा शेष को शरीर माना। इसी रूपक का आश्रय लेते हुए 'ध्वनिकार' ने भी ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट किया है। उन्होंने इसकी तुलना सुन्दरी के लावण्य से की है। जिस प्रकार लावण्य अंगों में विद्यमान अवश्य रहता है, पर उनसे भिन्न है, उसी प्रकार काव्य मे शब्द और अर्थ (अभिधा) से भिन्न एक और प्रतीयमान अर्थ होता है, वही काव्य की आत्मा है और उसीको ध्वनि कहते हैं।[4] जैसे लावण्य के अभाव में सुगठित अगों वाली तथा आभूषणो से विभूषित रमणी भी सुन्दर नही प्रतीत होती, वैसे ही प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि (रस) के अभाव में अलंकार आदि काव्य के शोभाधायक गुण नही कहे जा सकते है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त ने काव्य मे शब्द की व्यंजना-शक्ति का ही प्राधान्य प्रतिपादित कर दिया। जहां अभिधेयार्थ गौण होकर व्यग्यार्थ को प्रधान होने का अवसर देता है, वही ध्वनि कहलाती है।[5] ध्वनि में शब्द अपने अभिधेयार्थ को व्यग्यार्थ का सहायक कर देते हैं। 'ध्वनिकार' ने रस, अलकार और वस्तु तीनो की व्यंजना स्वीकार की है। पर क्योकि प्रधानत: रस ही काव्य की आत्मा है, इसलिये वस्तु अलंकार की व्यजना में गौण रूप मे काव्यत्व स्वीकार किया गया है, 'ध्वनि' को केवल सामान्य दृष्टि से काव्य की आत्मा कह दिया गया है।[6]

'ध्वनि' के बहुत से भेदो की कल्पना हुई। उसके विभाजन के कई आधार स्वीकृत हुये। इस प्रकार यह सख्या इक्यावन तक पहुँच गई। पहले "ध्वनि" के अभिधा

१. काव्य-प्रकाश १, १९। बाल बोधिनी।

२. काव्य-विचार।

३ 'रस एण्ड ध्वनि', पेज संख्या ९१।

४. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
तत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु। ध्वन्यालोक १, ४।

५. यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्त: काव्यविशेष: स: ध्वनिरिति सूरिभि: कथित:। ध्वन्यालोक १, १३।

६. तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलकार ध्वनि तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्यते इति वाच्यादुत्कृष्टौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनि. काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।
कुप्पु स्वामी, ध्वन्यालोक, लोचन-व्याख्या, पेज १५।

और लक्षणा के आधार पर दो भेद माने गये। फिर इनके क्रमशः दो-दो भेद असंलक्ष्यक्रम और सलक्ष्यक्रम तथा अर्थान्तर संक्रमिति और अत्यन्त तिरस्कृत हुये। इनके पद, वाच्य, वर्ण, रचना और प्रबन्ध के आधार पर अन्य भेद किये गये। शब्द-शक्ति और अर्थ-शक्ति को तथा दोनो को सम्मिलित रूप मे आधार मानकर भी भेद हुए। रस, वस्तु, अलकार के नाम से तीत भेद तो बहुत ही मौलिक रूप में स्वीकृत हुये। इसके बाद वस्तु से वस्तु-ध्वनि अथवा अलकार से वस्तु ध्वनि आदि पक्षो पर विचार करके भी ध्वनि के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार कई आधारो को ध्यान मे रखकर "ध्वनि" की एक पर्याप्त लम्बी सूची वाला विभाजन हो गया। ध्वनि के कुछ भेद काव्य-सामान्य के भेद के रूप मे सस्कृत-साहित्य के आचार्यों को मान्य हो गये थे। उन भेदो का स्पष्टीकरण इसी अध्याय के 'काव्य के भेद' नामक अनुच्छेद में कुछ विशदता के साथ किया गया है। "ध्वनि" के इन भेदों की विस्तृत सूची पडित रामदहिन मिश्र ने दी है।[1]

"ध्वनि" का काव्य में क्या स्थान है तथा इसका काव्य के अन्य तत्वो से क्या सम्बन्ध माना गया, इसे हम प्रसगानुसार कई स्थानों पर स्पष्ट कर चुके है। "ध्वनि" के द्वारा "रस" की प्रधानता तो निरपवाद रूप से मान्य हो गई। सभी लोगो ने "रस" को काव्य की आत्मा मान लिया। दास गुप्ता[2] ने तो यह भी कहा है कि "ध्वनि"-सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद ही "रस" को काव्य की आत्मा के स्थान पर सर्व सम्मति से विभूषित किया गया। वे यह श्रेय ध्वनिकार को ही चाहते है। इस सिद्धान्त ने काव्य के सभी तत्वों में एक समन्वय स्थापित कर दिया और इस प्रकार उसके गौण-प्रधान के पारस्परिक झगड़ो का सदा के लिये अन्त हो गया। "ध्वनिकार" के बाद काव्य के सभी अंगो का विकास एक निश्चित दिशा मे व्यवस्थित रूप से हुआ, जिससे साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन में अतिशय प्रौढ़ता और गम्भीरता आ गई।

औचित्य:—"ध्वनि" तथा अन्य अनेकों शब्दो की तरह भारतीय अलकार-शास्त्र ने औचित्य को भी व्याकरण--शास्त्र से ही लिया है, ऐसा निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, यह विवादास्पद है। इसमें तो सन्देह नही है कि अलकार-शास्त्र से पहले इस शब्द का प्रयोग व्याकरण-शास्त्र में होने लगा था। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' मे इस शब्द का प्रयोग किया है।[3] लेकिन वहां से सीधा यह अलकार-शास्त्र मे नही आ

---

१. काव्यलोक: द्वितीय उद्योत, पेज २२० व २२१।

२. काव्य-विचार।

३. वाक्यात् प्रकरणाद् अर्थात् औचित्याद् देशकालत:।
शब्दार्था: प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥ २३,५ ॥

पाया । अलंकार-शास्त्र ने सहृदय समाज की उस परम्परा से ग्रहण किया है जो चिरकाल तक मौखिक चलती रही और जिसमें इस शब्द का धीरे-धीरे विकास होता रहा । अधिकाश पारिभाषिक-शब्द शास्त्र में अपने निश्चित अर्थ के साथ आने के पहले बहुत दिनों तक जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होते रहते है और इस प्रकार विचारों और भावो के एक सस्कार के साथ साहित्यिक भाषा मे प्रविष्ट होते है । साहित्य में इस शब्द का प्रयोग सभवत: प्रथम बार यशोवर्मन ने किया है । पर इसके पहले यह सहृदय समाज मे प्रयुक्त होता रहा है, इसका परिचय भी यह स्वयं ही दे रहा है । यशोवर्मन ने अपने 'रामाभ्युदय' मे नाटक मे क्या गुण होने चाहिएँ इसका निर्देश करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है । सर्व प्रथम उन्होने अभिव्यजना के औचित्य को गिनाया है ।[1] अलकार-शास्त्र मे तो इस शब्द का प्रयोग रुद्रट ने ही सर्वप्रथम किया है । पर जैसा हम देख चुके है कि रुद्रट द्वारा प्रयुक्त होने के पहले सहृदय-समाज मे यह अपने विशिष्ट अर्थ सहित समीक्षा के एक पारिभाषिक शब्द के रूप में पूर्णत: मान्य हो चुका था, भारतीय आलोचना मे 'औचित्य'-सिद्धान्त अपने व्यवस्थित रूप मे तो क्षेमेन्द्र अथवा कम-से-कम आनन्दवर्द्धन के पहले नही आ पाया था । क्षेमेन्द्र ही ऐसे प्रथम आचार्य है और सभवत: संस्कृत-साहित्य मे एक-मात्र आचार्य, जिन्होने इस सिद्धान्त पर एक स्वतत्र ग्रन्थ का निर्माण कर दिया है । इनके पहले इस सिद्धान्त पर कई शताब्दियो तक चिन्तन हो चुका था । औचित्य का जो विवेचन 'औचित्य विचार-चर्चा' में मिलता है, वह एक प्रकार से आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त द्वारा 'ध्वन्यालोक' और 'लोचन' मे प्रतिपादित सिद्धान्त से भिन्न नहीं कहा जा सकता । क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त पर उपलब्ध सामग्री को एकत्र करके एक ढंग से सजा दिया है । यह उनकी सस्कृत-साहित्य की एक महत्वपूर्ण सेवा है । आचार्य की मौलिकता तो इसी बात मे अधिक रही है कि उन्होने इस सिद्धान्त की बडी विशद और गम्भीर व्याख्या कर दी है जिसमें उनकी चिन्तन की प्रौढता का साक्षात्कार हुए बिना नही रहता । अभिनवगुप्त-जैसे महान् आलोचक शिष्य मे यह प्रौढ चिन्तन अत्यन्त स्वाभाविक भी है ।

भारतीय समीक्षा-शास्त्र के अन्य सभी तत्वो की तरह इस सिद्धान्त के बीज भी भरत के 'नाट्य-शास्त्र' मे विद्यमान है । मुनि ने वेश-भूषा और सभाषण को रस के उपयुक्त बनाने का आदेश दिया है । औचित्य के इस स्वरूप की ओर तो उन्होंने

---

१ औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगत सर्वत्रपात्रोचिता ।
पुष्टि स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रम: ।।
शुद्धि. प्रस्तुत सविधानकविधौ प्रौढ़िश्च शब्दार्थयो: ।
विद्वद्भि: परिभाव्यतामवहितै एतावदेवास्तु न: ।।शृङ्गार-प्रकाश: ।।

प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय पर विचार करते हुए ध्यान आकृष्ट किया है। वे 'रस-प्रयोग' को, जिसको दूसरे शब्दो मे "रसौचित्य" कह सकते है, सर्वत्र आवश्यक समझते है। उनकी दृष्टि मे इस औचित्य का उल्लघन ही काव्य-दोष है। उन्होने इस दृष्टिकोण को आभूषणो के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।[1] जिस प्रकार एक स्थान के उपयुक्त आभूषण जब दूसरी जगह धारण किये जाने पर केवल हास्य का ही कारण होते है, उसी प्रकार एक भाव अथवा रस के उपयुक्त वेश-भूषा अथवा भाषा अन्य विरोधी भाव या रस के साथ प्रयुक्त होने पर हास्यास्पद हो जाती है।

भरत के इस श्लोक तथा अन्य स्थानो के विवेचन. मे स्पष्टत: औचित्य शब्द का प्रयोग तो नही हुआ, परन्तु औचित्य के प्राय: सभी तत्व अपने बीज रूप मे विद्यमान है। समीचीनता (Propriety) अनुगुणता (appropriateness) आनुकूल्य (adoptation) इस श्लोक मे ये तीनो ही तत्व है। आभूषणो को उपयुक्त स्थान पर धारण करने से ही वे शोभाकारक है। इस प्रकार उपयुक्तता का निर्देश है। माघ कवि ने राजा के लिए अवसर के उपयुक्त कार्य करने की आवश्यकता बताते हुए रस और गुण के औचित्य के सम्बन्ध की ओर निर्देश किया है।[2] यह गुणौचित्य है। भामह और दडी ने गुणो और दोषो पर विचार करते हुए औचित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया है। उनका कहना है कि कोई भी दोष सर्वत्र दोष नही होता है। उपयुक्त अवसर पर यह गुण भी कहा जा सकता है। भामह ने कान्ता के नेत्रो के अजन का उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि अतिशय हर्ष, शोक अथवा भय के समय मे पुनरुक्ति भी गुण हो जाती है। ठीक वही दृष्टिकोण दोषों के सम्बन्ध मे दंडी का भी है। उन्होंने यथार्थ को उन्नत व्यक्ति के सभाषण मे गुण कहा है। वास्तव मे दोषत्व और गुणत्व का निर्णय स्थान, भाव, पात्र आदि की दृष्टि से होता है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्थलो पर गुण या दोष हो सकती है। भोज ने भी गुणो और दोषो पर इस दृष्टि से विचार किया है। उन्होने ऐसे गुणो को, जो कही दोष भी हो जाते है, वैशेषिक अथवा दोष गुण के नाम से पुकारा है। इसलिये आनन्दवर्द्धन तथा अनेको अन्य आचार्यो ने दोषो को अनित्य कहा है। लोल्लट ने महाकाव्य अथवा नाटक के प्रत्येक अंग का (कथा-वर्णन अथवा भाव) प्रधान वस्तु अथवा रस की दृष्टि से सतुलित होना आवश्यक समझा है। किसी भी वर्णन का अथवा कथा-भाग का अनावश्यक विस्तार उनके विचार मे रस-दृष्टि से दूषण है।

---

१. अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ नाट्य-शास्त्र॥

२. तेज. क्षमा वा नैकान्त कालज्ञस्य महीपते:।
नैकभोज. प्रसादो वा रसभावविद. कवे:॥

नाटक मे पताका, प्रकरी और मध्यगो में रसौचित्य ही कलात्मकता और सौदर्य है। रुद्रट ने (जिन्होने सर्वप्रथम अलकार-शास्त्र में "औचित्य" शब्द का प्रयोग किया है) अलकार-नियोजन में रसौचित्य का मानदण्ड स्वीकार किया है। रुद्रट के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अनुकरण की उपयुक्तता सब दोषो को गुणों मे परिवर्तित कर देती है। हास्य या व्यग मे न्यूनोपमा और अधिकोपमा भी गुण हो जाते हैं। रुद्रट ने अर्थदोष का आधार भी अनौचित्य ही माना है। यहा तक औचित्य-सिद्धान्त-का निरूपण करने वाले उन आचार्यों और कवियो पर विचार किया गया है, जिनमें से बहुतो ने औचित्य का विवेचन अज्ञात रूप से कर दिया है। उन्होने अपने विचारों की समीचीनता को तो समझा है, पर इनको वे औचित्य के नाम पर नहीं रख सके है। वास्तव मे अब तक बहुतो को तो इस नाम से परिचय भी नही था। यह अदृष्ट विचार-धारा स्पष्टत नाम और रूप के निश्चित आवरण को धारण करके मृत नही हो पाई थी। रुद्रट-जैसे एक-आध विद्वानो ने इसे अपने इस रूप में पहचान भी लिया हो तो क्या है ? वे भी औचित्य का ऐसा विशद और गम्भीर विवेचन नहीं कर पाये थे, जिससे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त कहा जा सके, इसे एक स्वतन्त्र सिद्धान्त का रूप देने का श्रेय तो आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त और क्षेमेन्द्र के सम्मिलित और उत्तरोत्तर प्रयास को ही है। यह सिद्धान्त भरत के 'नाट्य-शास्त्र' मे बीज रूप से अपनी अमूर्तावस्थामे विद्यमान था, यशोवर्मन तक आते-आते सहृदय समाज की विचार-वारि-धारा ने इसे अ कुरित कर दिया था। रुद्रट ने तो इसका रूप स्पष्टत: गोचरगम्य भर कर दिया था। लेकिन अब तक इसका पूर्ण सस्कार नही हो पाया था। यह साहित्य-क्षेत्र मे अपना पृथक अस्तित्व स्थापित नही कर पाया था। यह कार्य आनन्दवर्द्धन से शुरू होकर क्षेमेन्द्र मे पूरा होता है।

आनन्दवर्द्धन ने औचित्य के सभी अगों का विश्लेषण किया है। इनकी काव्य-समीक्षा-पद्धति रस और ध्वनि पर ही आश्रित है। अलकार, रीत्ति, वृति आदि सभी काव्य-तत्वो की उपादेयता आनन्दवर्द्धन ने 'रस' को व्यजित करने में ही मानी है। जो तत्व रस की इस व्यजना मे बाधक होता है, उसीको आचार्य ने काव्य के लिये अनुपयुक्त कह दिया है। इस व्यजना का जो आधार आनन्दवर्द्धन ने माना है, उसी को दूसरे शब्दो मे औचित्य कहा जा सकता है। इसी विचार को अभिव्यक्त करने के लिए कुन्तक ने 'वक्रता' शब्द का प्रयोग किया है और ध्वनिकार ने कही-कही 'ध्वनि' शब्द का। ध्वनिकार ने अनेको स्थानो पर औचित्य शब्द का भी प्रयोग किया है और उनके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी विभिन्न 'ध्वनिया' विभिन्न औचित्य-प्रकारो का ही स्पष्टीकरण कर रही है, इसलिए उन्हें उनका पर्यायवाची कहना असंगत नही है। कुन्तक के विचार भी 'वक्रता' के आवरण मे औचित्य-सिद्धान्त का समर्थन कर रहे है। यह तो हम पहले (ध्वनि-प्रसग में) देख आये है कि कुन्तक

ने वक्रता के नाम से प्राय: वे ही विचार रखे है जो ध्वनिकार 'ध्वनि' के आवरण में रख चुके थे। इस प्रकार महिमभट्ट का 'वक्रोक्ति' को प्रच्छन्न ध्वनि-सिद्धान्त कहना सर्वथा उचित है।[1] यहा पर यह कह देना भी ठीक है कि वक्रोक्तिकार को रस-सिद्धान्त भी मान्य है। उनकी विच्छित्ति, भगी-भणिति-वैचित्र्य, लोकोत्तर चमत्कारिता आदि सभी तत्वो के अन्तस्तल मे औचित्य की धारा बह रही है। उसकी सारी चिन्तन-धारा उसी को आधार लेकर चल रही है। इतना सब कहना असमीचीन नही है। कुन्तक को यह सब मान्य है। अस्तु, प्रस्तुत विषय यह है कि आनन्दवर्द्धन ने औचित्य-सिद्धान्त का बहुत विशद विवेचन किया है। उनके रस और ध्वनि इन दोनो सिद्धान्तो मे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य औचित्य का है। काव्य के विभिन्न तत्व भी औचित्य के आधार पर ही विकास और सतुलन को प्राप्त होते है। आनन्दवर्द्धन ने अलकार का औचित्य रस की अपेक्षा से माना है। वास्तव मे अलकारो के लिये ही नही, सभी तत्वो के लिये ही, सभी आचार्यों ने 'रस' को ही औचित्य का मापदण्ड स्वीकार किया है। "ध्वनिकार" ने गुणौचित्य और सघटनौचित्य की ही बात नही कही अपितु उन्होने इस दृष्टि से शब्द, वर्ण, वाक्य विन्यास आदि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो के सौन्दर्य अथवा उपादेयता को जाँचा है। "प्रबन्ध-ध्वनि" मे आचार्य ने काव्य की वस्तु पर विचार किया है। सारी कथा अथवा वस्तु का निर्माण रस की व्यजकता की दृष्टि से किया जाना चाहिये। इसलिए वस्तु के स्वरूप और परिणाम का औचित्य भी अपेक्षित है जिससे 'रस' की समीचीन अभिव्यक्ति हो सकती है। अनेको घटनाओ मे से उस घटना का निर्वाचन ही कवि को करना है जो रस और भाव के उपयुक्त हैं। रसानुकूल कथा-परिवर्तन को कुन्तक ने 'प्रकरणवक्रता' का नाम दिया है। मुख्य और गौण घटना मे एक प्रकार के सतुलन की आवश्यकता है। गौण घटना अथवा भाव का इतना अधिक विस्तार न हो जाने पाए जिससे या तो वह प्रधान वस्तु के बाधक का कार्य करने लगे अथवा अलग ही लटकते हुए की तरह दूषण का हेतु-मात्र हो। इस प्रकार अग और अंगों के सम्बन्ध मे अनुपात का औचित्य रखने की आवश्यकता पर आनन्दवर्द्धन ने बहुत जोर दिया है। इतना ही नही रसो मे प्रधान और गौण के ऐसे भेद होने पर भी औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है। गौण रस प्रधान का सहायक होकर ही रहे और वह अपने अनावश्यक विस्तार से प्रधान रस की अनुभूति मे बाधा उत्पन्न न करे। सहकारी और विरोधी रसों का विभाजन तो केवल औचित्य के आधार पर ही हो पाया है। भरत ने जिस प्रकृत्यौचित्य का विवेचन किया है, उसको आनन्दवर्द्धन ने भावौचित्य के नाम से कहा है। इसमें उन्होने

---

१ डा० सुशीलकुमार दे, 'वक्रोक्ति जीवितम' की भूमिका।

वेभाव, अनुभाव, सचारी आदि के औचित्य का विवेचन किया है। आनन्दवर्द्धन रस और ध्वनि के सम्बन्ध की कल्पना ही औचित्य बिना नही कर पाये है। उन्होने काव्य की आत्मा "रस-ध्वनि" मानी और उसके भग होने का एक-मात्र कारण अनौचित्य ही माना।[1] रस-भग के अन्य जितने भी कारण माने जाते है वे वास्तव में अनौचित्य के ही कारण है। उनको अनौचित्य के ही प्रकार कहना चाहिये। 'ध्वनिकार" ने कवियो और आलोचको को लम्बा निर्मित विधान देने की अपेक्षा औचित्य का मापदण्ड देना अधिक उचित समझा है। उनका कहना है कि कथावस्तु की प्रत्येक घटना का रस और अगी से सम्बन्ध स्थापित करने मे भरत-मुनि के आदेशो पर इतना अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नही है जितना रस-व्यजकता पर। दूसरे शब्दो मे आचार्य औचित्य के व्यापक मापदड को देकर कवि और सहृदय को रूढियो से छुटकारा दिलाता है। उन्हें प्रतिभा-विकास की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रहा है। इस प्रकार हम देखते है कि आनन्दवर्द्धन ने "औचित्य" पर सभी दृष्टियों से विचार किया है; उसके सभी अग-प्रत्यगो का निरूपण अत्यधिक प्रामाणिकता के साथ किया है। वास्तव मे "औचित्य" 'ध्वन्यालोक' मे काव्य का प्राण माना जा चुका है, यद्यपि इस प्रकार का स्पष्ट निर्देश तो कही भी नही है। पर सारा विश्लेषण पाठक को इस निर्णय पर पहुँचने के लिए बाध्य करता है।

अभिनवगुप्त ध्वनिकार के व्याख्याता तथा क्षेमेन्द्र के गुरु है। इस प्रकार उनका औचित्य-सिद्धान्त से घनिष्टतम सम्बन्ध है। 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत की व्याख्या करते समय उन्हें औचित्य पर विचार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। उन्होने अपनी काव्य-समीक्षा-पद्धति के रस, ध्वनि और औचित्य—ये तीन ही आधार माने है। आनन्दवर्द्धन की तरह वे अन्य सभी वस्तुओ को इन्ही के सम्बन्ध से देखते है। इन्होने उन आलोचको का विरोध करते हुए, जो औचित्य को मानते है लेकिन रस को नही, इस दृष्टिकोण को एकदम स्पष्ट कर दिया है कि औचित्य के लिए 'रस' की नितान्त आवश्यकता है।[2] जहा हम यह देखते है अमुक वस्तु उचित है, उसके पहले उस वस्तु को, जिसकी अपेक्षा इसका उचित होना स्वीकृत है, अपने ध्यान मे रखते हैं। इसके बिना तो उचित कहने का कोई अर्थ ही नही है। इसीलिए

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ ध्वन्यालोक ३, १५॥

२. उचितशब्देनविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रस-ध्वनि जीवितत्वं सूचयति तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रउद्घोष्यत इति भावः। पृष्ठ १३। औचित्यनिबन्धनम् रसभावादि मुक्त्वानान्यत् किंचिदस्तीति
॥ लोचन, पृष्ठ १८०॥

औचित्य के साथ 'रस-सिद्धान्त' को तथा 'रस' का व्यंग होने के कारण "ध्वनि सिद्धान्त" को मानना पडा और इन तीनों सिद्धान्तो का अटूट गठबन्धन भी सभी आचार्यो को स्वीकृत हुआ। अभिनवगुप्त ने कहा है कि अलंकार की उपादेयता तो अलकार्य के अलकरण मे ही है। यही अलंकार का औचित्य है। अचेतन शरीर पर कटक कुण्डल आदि आभूषण सुशोभित नही होते।[1], इतना ही नही अभिनवगुप्त ने औचित्य के अभाव मे काव्य को काव्याभास कहा है। इस प्रकार वे ही औचित्य को काव्य का प्राण मान चुके थे। उनके शिष्य ने उन्ही के विचारो को लेकर एक नवीन ग्रन्थ का प्रणयन करके "औचित्य" सिद्धान्त को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त का रूप भर दे दिया है। अभिनवगुप्त को स्वतन्त्र रूप से औचित्य के सिद्धान्त पर कुछ लिखने का अवसर नही मिला है, लोचन व्याख्या मे उन्होने जो-कुछ लिखा है, उससे पूर्णतः स्पष्ट है कि वे औचित्य-सिद्धान्त के कितने बडे समर्थक हैं। उन्होने इस सिद्धान्त का बहुत ही विशद और समीचीन विश्लेषण कर दिया है।

अभिनव गुप्त के प्राय: समकालीन ही कुन्तक, भोज और महिम भट्ट हुए है। इनके समय मे औचित्य-सिद्धान्त की चर्चा आलकारिको के चिन्तन का प्रधान विषय रही है, इसलिए ये लोग भी उस प्रभाव से अछूते नही रहे है। कुन्तक के बारे मे तो हमने पहले प्रसगवश कुछ कह दिया है। उससे यह स्पष्ट भी हो गया कि इस सम्बन्ध मे उनका आनन्दवर्द्धन से कोई मतभेद नही है। कुन्तक ने ध्वनिकार की तरह वृत्ति, भाव, रस, वाच्य, पद आदि सभी तत्वो के औचित्य का निर्देश किया है। 'अर्थपारमार्थ्य' अर्थौचित्य के अतिरिक्त कुछ नही है। जैसा हमने देखा कि आनन्दवर्द्धन से इस सम्बन्ध मे विचारो का मतभेद नही है। हाँ, पारिभाषिक शब्दों का अवश्य अन्तर है। लेकिन विषय-प्रतिपादन का कोई अन्तर नही। अलंकार के औचित्य मे तो कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन का श्लोक ही उद्धृत किया है। उनका कहना है कि अलकार स्वाभाविक होना चाहिए। वह भावो की अभिव्यक्ति मे अपने-आप ही आना चाहिए। कुन्तक ने काव्य के बहिरग को ही विशेष देखा है। 'वक्रोक्ति' का सम्बन्ध अभिव्यजना की वक्रता, विलक्षणता अथवा उन्ही के शब्दो मे भगी-भणिति से ही है, इसलिए उसको बहिरंग दृष्टिकोण कहा जा सकता है। यही कारण है कि कुन्तक ने औचित्य की व्याख्या "उचितास्यान" ही की है। इस प्रकार उपयुक्त और समीचीन अभिव्यक्ति को ही वे औचित्य मानते है। भोज ने भी औचित्य को एक व्यापक और महान् सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत किया है। इसको वे काव्य के सभी अगो मे आवश्यकता अनुभव करते है। उन्होने दोषो के प्रसग मे इस सिद्धान्त का विवेचन किया है। अलकारो मे औचित्य की आवश्यकता भोज ने भी मानी है।

---

२ लोचन, पृष्ठ ७३।

उन्होने देश और पात्र की दृष्टि से भी औचित्य को दृष्टि में रखना आवश्यक बताया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भोज भी इस सिद्धान्त को मानते है। महिमभट्ट ने 'रस' को स्वीकार किया है। उनका मतभेद तो रस-निष्पत्ति पर है। वे रस के लिए व्यंजना-जैसी अन्य शब्द-शक्ति को मानने की आवश्यकता नही समझते। वे उसका कार्य अनुमिति से ही चला लेना चाहते है। इस प्रकार उनका विरोध केवल ध्वनि-सिद्धान्त से ही है, रस और औचित्य से नही है। वे रस, भाव, वस्तु और अभिव्यजना का औचित्य स्वीकार करते है, रस और औचित्य पर उनका आनन्द-वर्द्धन से मतैक्य था। वे ध्वनिकार की तरह रस-बाधक को ही दोष मानते है। नीरस शब्द को ही सबसे बडा दोष 'अपशब्द' कहा है। इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुचते है कि औचित्य के जिन तत्वो की विवेचना, जिस व्यापक स्वरूप का प्रतिपादन आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त ने कर दिया था वह सर्वमान्य हो गया था और आज भी वे जहाँ-का-तहाँ मान्य है। इनका विरोध करने वाले आचार्यो ने भी औचित्य का कही भी विरोध नही किया है।

क्षेमेन्द्र ने "औचित्य" पर उपलब्ध तत्वों को व्यवस्थित कर दिया। बस, इसी कारण उन्हे इस सिद्धान्त का प्रतिपादक कहा जाता है। अन्यथा तो इसका प्रतिपादन तो पूर्णत आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त का ही किया हुआ है। उन्हीके विचारो को लेकर इन्होने "औचित्य-विचार-चर्चा" लिख डाली है। इन्होने "आत्मा" और "जीवभूत" मे अन्तर मान लिया है। वैसे औचित्य को काव्य का जीवभूत तो अभिनवगुप्त भी मान चुके थे। पर इन्होने इनका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए "रस" को काव्य की आत्मा तथा औचित्य को उसका प्राण कह दिया है। "औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्" द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है। औचित्य की सफलता रस की व्यजना मे ही है। कोई भी शब्द अथवा वस्तु-चित्रण इसलिए आनन्ददायक है कि उसमे औचित्य है, अर्थात् उसमे रस-व्यजना है। इस प्रकार ये तीनो सिद्धान्त एक ही वस्तु के तीन पक्ष है। वस्तुत: ये बिलकुल भिन्न नही है, इनकी अभिन्नता अभिनव गुप्त स्वीकार कर चुके थे।

औचित्य सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह विश्व के आलोचना-साहित्य को भारत की महान् देन है। यह इतना विशद है कि इसमे काव्य के सभी तत्वो का समावेश हो जाता है। सब विरोधाभासो का सामजस्य इसमे होता है। भारत के ही नही प्रत्युत सभी देशो की काव्य-समीक्षा मे औचित्य का सिद्धान्त सन्निहित है। सस्कृत मे इस पर अत्यत व्यापक और सर्वांगीण विचार हुआ है। "रस" तो वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारो ओर काव्य के सभी तत्व घूम रहे है। यह वृत्त, जिस पर ये सब तत्व परिभ्रमण करते है, औचित्य का ही है। जैसे आत्मा-प्राण-शक्ति के द्वारा शरीर पर नियन्त्रण करती है, उसी प्रकार औचित्य के द्वारा रस काव्य-

शरीर को शिथिल होने से बचाता है। औचित्य के अभाव में इसकी कल्पना नही हो सकती। इसीलिए अनौचित्य को ही रसाभास कहा है। सभी तत्व इसीलिए ग्राह्य है कि उनमे औचित्य उनको सौन्दर्य प्रदान करने वाला है।[1] यह सिद्धान्त "रस" का विभिन्न तत्वों से सम्बन्ध निश्चित करता है। उनमें एक सतुलन, सामजस्य, आनुपातिक तारतम्य, देश, काल, वस्तु, भाव आदि की दृष्टि से समीचीनता तथा उपयुक्तता लाने का एक-मात्र साधन औचित्य है। सस्कृत के औचित्य शब्द मे ऊपर के शब्दो द्वारा व्यजित सभी भावनाएँ अन्तर्निहित है। वे भी विचार, जो अग्रेजी के 'appropriateness' 'propriety' 'adaptation' 'harmony' sympathy आदि पारिभाषिक शब्दो से व्यक्त होते है, इस एक शब्द मे समाविष्ट है। इस प्रकार इस सिद्धान्त की व्यापकता और विशदता अत्यन्त स्पष्ट है। यही कारण है कि भारतीय आलंकारिको मे तत्वो पर पर्याप्त मत-भेद रहा, परन्तु इस सिद्धान्त को तो सभी ने एक स्वर से ही स्वीकार कर लिया। यद्यपि सभी आचार्यो ने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे एक ही शब्दावली का प्रयोग नही किया है, पर उस शब्दावली की भिन्नता मे भी चिन्तन की अभिन्नता एकदम स्पष्ट है। सभी व्यक्तियो ने इस सिद्धान्त को अपने चिन्तन से पुष्ट ही किया है। औचित्य का जो व्यापक और विशद स्वरूप हमे आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा क्षेमेन्द्र के सम्मिलित विवेचन में मिलता है, उसका प्रत्यक्ष श्रेय इन्ही तीनो आचार्यो को है, पर हमे यह भी निर्विवाद स्वीकार करना पडता है कि इस स्वरूप की प्रतिष्ठा मे सस्कृत-साहित्य के सभी आचार्यो का पर्याप्त सहयोग रहा। औचित्य का जो स्वरूप हमे आज प्राप्त है, जिसे हम अभिनवगुप्त अथवा क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित मानते है, वास्तव मे वह भारतीय चिन्तन के सम्मिलित प्रयास का ही फल है।

ऊपर अलकार, रस, रीति आदि जिन तत्वो पर विचार किया गया है, वे भारतीय अलकार-शास्त्र के सभी आचार्यो को मान्य है। भरत-मुनि से लेकर पडितराज तक के सभी आचार्यो ने इन तत्वो पर चिन्तन किया है और इनके निर्माण में सहयोग दिया है। इन तत्वो पर इन चिन्तको ने अनेको दृष्टियो से विचार किया है, यही कारण है एक आचार्य ने रसो को अलकारो मे रखा, तो दूसरे ने इसकी पृथक् सत्ता स्वीकार की है। दण्डी ने अलकारो को इतना व्यापक कर दिया कि उसमे गुणो का भी समावेश हो सका। एक आचार्य ने एक गुण माना, दूसरे ने उसके स्थान पर कई माने। वामन के श्लेष, समाधि और उदार को मम्मट ने "ओज" मे समाविष्ट कर लिया। इस प्रकार इन आचार्यों में पारस्परिक पर्याप्त मत-भेद

---

१. उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादव्यता नित्य भवत्येव गुणा गुणाः॥ क्षेमेन्द्र॥

है। पर इसी आधार पर इन तत्वो के नाम पर विभिन्न सम्प्रदायों का नामकरण करना ठीक नही है। कोई भी ऐसा आचार्य नही है जिसने केवल अलकार को ही काव्य का सर्वस्व माना हो। सभी ने किसी-न-किसी रूप मे रस, गुण आदि को भी स्वीकार कर ही लिया है। फिर जैसा कि हमने देखा रस और औचित्य को तो एक भी आचार्य ने अस्वीकार नही किया है। प्रत्येक आचार्य ने एक-एक तत्व को प्रधानता देते हुए भी उनमे औचित्य की तो आवश्यकता स्वीकार कर ही ली है। फिर औचित्य के साथ उन्हें किसी-न-किसी रूप मे रस, भाव, या वस्तु को भी अगीकार करना पडा है जिसकी दृष्टि से उचित अथवा अनुचित का निरूपण किया जाता है। डॉ० दास गुप्ता ने तो अपनी 'दी हिस्टरी आफ सस्कृत-लिटरेचर' मे इस सम्प्रदाय-विभाजन को केवल पाश्चात्य प्रभाव कहा है। उनका कहना है कि भारतीय-साहित्य-शास्त्र की चिन्तन-धारा का ऐसा कोई भी विभाजन समीचीन नहीं। "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहने वाले बहुत आचार्य नही हुए है। इन सभी मत-मतान्तरो के अन्तःस्तल मे एक ही विचार-धारा प्रवाहित हो रही है। उसमे एक प्रकार की अन्विती परिलक्षित होती है। एक सामजस्य स्थापित करने की भावना ही कार्य कर रही है और अन्त मे भारतीय चिन्तक उस प्राप्तव्य पर पहुँचा भी है। आनन्दवर्द्धन और अभिनव-गुप्त ने समीक्षा-शास्त्र के इसी स्वरूप का निरूपण किया है। उनके परवर्त्ती मम्मट प्रभृति सभी आचार्यो ने इसी सैद्धान्तिक सामजस्य का ही प्रतिपादन किया है। इसमे रस, ध्वनि, अलकार आदि सभी तत्वो के अपने विशिष्ट स्थान है, उनके पारस्परिक सम्बन्ध है। भारतीय काव्य मे सामजस्य की इस प्रवृत्ति ने इतना अधिक प्रभाव प्राप्त कर लिया कि इन सभी तत्वों से निर्मित एक पूर्ण काव्य-पुरुष की कल्पना कर ली गई। रस से उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि इन सभी वस्तुओं की काव्य-पुरुष की पूर्णता के लिए नितान्त आवश्यकता है। इनमे से एक का भी अभाव उसे विकलाग करने का कारण है। फिर भी जैसे मानव-शरीर के कुछ अवयवों के अभाव में भी वह मानव रहता है और कुछ का अभाव उसके मानवत्व का अभाव है, बस ठीक वैसा ही आपेक्षिक महत्व इन काव्य-तत्वों मे मान लिया गया। इसी प्रकार कुछ तत्वों के अभाव से 'काव्यत्व की हानि है और कुछ तत्वो का अभाव अथवा दुरुपयोग काव्य को विकलाग करने के हेतु है। यह तो भारतीय विकास की अन्तिम अवस्था का चित्रण है। पर पहले सभी आचार्यों का चिन्तन भी इसी सामजस्य की ओर अग्रसर होता-सा प्रतीत होता है। जब भारतीय समीक्षक के सामने "काव्य क्या है" का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसने उस पर गम्भीरतापूर्वक सोचना शुरू किया। प्रारम्भ से ही उसमे उसके अन्तरतम तक, वास्तविक रहस्य तक पहुँच जाने की आकाक्षा परिलक्षित होने लगी थी। वास्तविक स्वरूप को समझ लेने की आकाँक्षा

और तज्जनित गूढ चिन्तन की विभिन्न अवस्थाओ मे भारतीय विचारको ने अलकार गुण आदि इन विभिन्न तत्वो का साक्षात्कार किया है। इस प्रकार वे उसके चिन्तन की विशेष अवस्थाओ के प्रतीक-मात्र है। स्वभावत: ही उसकी दृष्टि काव्य के बहिरग पर ही जाती थी। इसलिये उसने शब्द और अर्थ के समन्वय को ही साहित्य कहा। काव्य की सर्व प्रथम परिभाषा उसने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" ही दी। फिर धीरे-धीरे "विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्" या "इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली" कहने लगे। भारतीय आचार्यों ने इसी 'विशिष्ट' और 'इष्टार्थ' पर चिन्तन प्रारम्भ किया है। इस प्रकार उसने पहले 'अलकरण' मे इस विशिष्टता को देखा। फिर उसका ध्यान गुणो पर गया। प्रारम्भ से ही उसका ध्यान सौदर्य और आनन्द पर तो था ही। उसने शोभा का कारण गुणो को मानते हुये "काव्य शोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा:" कहा। इस प्रकार अलकार और गुण मे भेद करने का आवश्यकता प्रतीत हुई और अलंकारों की अपेक्षा उसने गुणो को अन्तरग मान लिया। भारतीय चिन्तन का काव्य के बहिरग से अन्तरग की ओर बढना भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास का इतिहास है। "चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्य आत्मा स्यात्" से वह सौदर्य के उस स्वरूप को, जिसमे एक प्रकार का चमत्कार है, आनन्द है, काव्य परिभाषा के लिये एक आवश्यक मापदण्ड मानकर चला। काव्य का कौन-सा तत्व उसमें इस प्रकार चारुत्व ला सकता था, यही वह सोच रहा था। वास्तविक आनन्द या चारुत्व का कारण अलकार है, या गुण। वामन ने रीति को आत्मा इसी दृष्टिकोण से कहा था। 'आत्मा' शब्द के व्यवहार के साथ भारतीय चिन्तक ने काव्य के दो भेद स्वीकार कर लिये थे, एक शरीर और दूसरा शरीरी। उसी के अनुसन्धान मे वह लगा हुआ था और उसी कार्य मे वह धीरे-धीरे सफल होता चला गया। उसकी सफलता की पूर्णता रस ध्वनि और औचित्य के समन्वित सिद्धान्त में है, जिसके दर्शन उसके पूर्ण रूप मे तो अभिनवगुप्त मे ही होते है। विकास-मार्ग की विभिन्न अवस्थाए ही भामह, दडी, वामन आचार्यो के सिद्धान्तो के रूप मे निर्दिष्ट है। इन्ही अवस्थाओ को हम अलकार, गुण, रीति आदि सम्प्रदायो के नाम से अभिहित करते है, वास्तव मे ये कोई पृथक सम्प्रदाय नही है। भारतीय चिन्तक काव्य के बहिरग पक्ष से अन्तरग की ओर बढा है और अपने पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का पूरा उपयोग करके उसी मार्ग पर आगे बढ़ा है। यही कारण है कि मम्मट की काव्य-परिभाषा मे काव्य के बहिरंग और अन्तरंग दोनो पक्षो का सामंजस्य मिल रहा है। पडितराज की काव्य-परिभाषा पिछली शताब्दियो के सारे विकास को साथ लेकर चल रही है। 'शब्द' के द्वारा उन्होने काव्य के बहिरंग तथा उसके आवश्यक सभी तत्वों का निर्देश कर दिया है और उनका रमणीयार्थ काव्य के सारे अन्तरग का परिचय दे रहा है। उसमें सौदर्य, चमत्कार, चारुत्व, आनन्द आदि तत्व निहित है।

'रमणीयता' मे लोकोत्तर आह्लाद-व्यजकता है, जो स्पष्टतः रस, ध्वनि और औचित्य के रूप-मात्र है। इतना ही नही मम्मट, विश्वनाथ, पडितराज आदि आचार्यो के ग्रन्थों मे, जिन्हें डॉ० दे समन्वयवादी सम्प्रदाय के आचार्य मानते है[1], पूर्ववर्त्ती आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रस, ध्वनि, अलकार, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति आदि सभी तत्वो का विश्लेषण है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय साहित्य चिन्तन सम्प्रदायो मे नही बटा है, अपितु निरन्तर एक धारा मे बहता हुआ विकास करता गया है। उसमे अलकार आदि के नाम पर सम्प्रदायवाद को देखना केवल पाश्चात्य चिन्तन का अनुकरण-मात्र है।

भारतीय काव्य-शास्त्र मे एक और तत्व का विशद विवेचन हुआ है और वह है दोष। निर्दुष्ट रचना को काव्य मानने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। साहित्य मे शब्द और अर्थ के जिस समन्वय की आवश्यकता आलोचको ने समझी है, उसके लिये प्रथम तत्व तो निर्दोषिता ही है। काव्य के क्षेत्र मे जो चार समन्वय अथवा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध मे माने गये है, उनमे से प्रथम दोष हीन है।[2] मम्मट की परिभाषा मे 'अदोषौ' शब्द से यह सिद्ध होता है कि वे दोषाभाव को कितना महत्व देते है। यही नही उन्ही के अनुरूप काव्य-परिभाषा देने वाले अन्य आलंकारिको ने भी इस तत्व पर बहुत जोर दिया है। भोज ने भी अपनी परिभाषा मे इस तत्व का उल्लेख किया है। यह तो उन आचार्यो की बात हुई जिन्होने स्पष्टतः इस तत्व का उल्लेख कर दिया है। पर अन्य सभी आचार्यो के दृष्टिकोण मे यह तत्व अन्तर्हित है। यह बात केवल भारतीय आचार्यो के लिये ही नही अपितु सभी देशो के आलोचको तथा काव्य-सिद्धान्तो के बारे मे निशक कही जा सकती है। वैसे तो प्रत्येक रचना के लिये, चाहे उसका क्षेत्र काव्य है अथवा शास्त्र, उसका निर्दुष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। पर काव्य के लिये तो यह तत्व और भी अधिक महत्वपूर्ण है। उसमे शब्द और अर्थ का एक विशिष्ट सम्बन्ध है। उसमे न केवल शब्द का और न केवल अर्थ का महत्व है, अपितु इन दोनो के सामजस्य का और उनसे व्यंजित किसी तीसरी वस्तु का महत्व है, वही साहित्य की आत्मा है। काव्य मे केवल शब्द और अर्थ ही निर्दुष्ट नही होने चाहिये अपितु उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी। इन तीनो के दोष रहित होने पर ही 'साहित्य की सृष्टि सभव है। इस प्रकार काव्य मे 'दोषतत्व' का बडा भारी महत्व है। इसलिये साहित्य ही मे 'दोष' का विवेचन अत्यन्त अनिवार्य है। भारतीय समीक्षा-शास्त्रज्ञों ने इसे पहचाना है।

'दोष' की परिभाषा आचार्यो ने भिन्न-भिन्न की है। वामन ने गुणो के विरोधी

---

१. डा०दे—'संस्कृत पोयटिक्स' वौल्यूम सेकिण्ड।

२. डा० राघवन—'शृङ्गार-प्रकाश'पेज ९४।

को दोष कहा है ।[1] चमत्कार की तत्काल प्रतीति मे बाधक दोष है ।[2] 'अग्नि पुराण' के अनुसार काव्य-स्वाद मे उद्वेग के कारण ही दोष है ।[3] 'साहित्य-दर्पण' मे इसे रस-प्रतीति का अपकर्षक बताया है ।[4] काव्य-प्रकाशकार ने मुख्यार्थ को नष्ट करने अथवा बाधा के कारण को दोष कहा है ।[5] इनके व्याख्याता वामनाचार्य उद्देश्य की प्रतीति मे प्रतिबन्ध के कारण को ही दोष मानते है ।[6] इस प्रकार हम देखते है कि दोष के सम्बन्ध मे आचार्यो का आपातत. मतभेद ही परिलक्षित हो रहा है । आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त की दृष्टि से रस-व्यजना के बाधक कारण का नाम दोष है । उनके विचार से अनौचित्य ही सबसे बडा दोष है । काव्य के जितने भी दोष है उनके मूल मे यही औचित्य-भग है । औचित्य के कारण तो दोष भी गुण हो जाता है । ऐसा ध्वनिकार और अभिनवगुप्त ने ही नही माना है, अपितु दडी आदि आलकारिको का भी यही मत है । इसका विवेचन हम औचित्य-प्रसग मे कर चुके है । वस्तुत दोष एक दृष्टि से अनौचित्य का पर्यायवाची-सा हो गया है । उपर्युक्त सभी परिभाषाओ ने एक मूल तत्व की ओर निर्देश किया है । काव्य की मूल वस्तु की, जो रस, चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द है, समीचीन अभिव्यक्ति अथवा उसकी अनुभूति मे जो बाधक हो, वही दोष है । इस प्रकार आपातत परिलक्षित होने वाले पारस्परिक मतभेद का पर्यवसान औचित्य-सिद्धान्त मे हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध केवल विरोधाभास है ।

दोषो के विभाजन के कई आधार स्वीकृत हुए । मूलत शब्दगत, अर्थगत और रसगत दोष ही माने गए । काव्यास्वाद मे अवरोध, विलम्ब और विनाश करने वालो की दृष्टि मे भी दोष के तीन स्वरूप स्वीकृत हुए । इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के दोष (जैसे प्रबन्धगत आदि) भी स्वीकृत हुए । क्योकि दोष अनौचित्य के सारे क्षेत्र को व्याप्त किये है, इसलिए इसके भेदो की कोई इयत्ता नही मानी जा सकती । अनौचित्य के अनेको कारण हो सकते है । रीति, गुण, अलकार, वर्ण, समास, शब्द, कथा, रस, भाव आदि सभी तत्वो की दृष्टि मे अनौचित्य का विवेचन हो सकता है । इन तत्वो की उपयुक्तता, समीचीनता, अनुपात, सतुलन आदि सभी दृष्टियो पर हमने औचित्य प्रसग मे सकेत किया है । इनका अभाव ही अनौचित्य है और उसे ही एक

---

१ **गुण विपर्ययात्मनो दोष.** ।

२ **नीरसत्वविलंबित चमत्कारि वाक्यार्थप्रतीति विघातका एवं हेया.** ।

३ **उद्वेगजनको दोष:** ।

४ **दोषास्तस्यापकर्षका:** ।

५ **मुख्यार्थहतिर्दोषो** ।

६ **दोषत्वं उद्देश्य प्रतीति प्रतिबन्धकत्वं** ।

प्रकार से दोष कहना चाहिए । उपर्युक्त स्थूल विभाजन के बहुत से सूक्ष्म विभाजन हुए है। विषय-विस्तार के भय से हम उसे यहा नही दे रहे हैं।

दोषो के विभाजन मे यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म भेद स्वीकृत हो गए हैं, लेकिन काव्यत्व की हानि तो उन्ही प्रधान दोषो से माननी चाहिए जो रस-निष्पत्ति अथवा उद्देश्य प्रतीति के विनाशक अथवा प्रबल बाधक है। यह बात आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषा से एकदम स्पष्ट है। मम्मट तथा उनके व्याख्याताओ ने भी काव्य की परिभाषा पर विचार करते हुए इस बात को स्पष्ट कर दिया है। सभी आलकारिको के सामान्य दृष्टिकोण के आधार पर भी यह निश्शंक कहा जा सकता है।

साहित्य-समीक्षा का मान—साहित्य-दर्शन के सिद्धान्त ही समीक्षा के मान की आधार-भूमि है। जिस साहित्य मे जितना व्यापक सैद्धान्तिक निरूपण है, उसकी समीक्षा का मान भी उतना ही प्रौढ और सार्वदेशीय होता है। संस्कृत-साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन की प्रौढता और व्यापकता ऊपर के विवेचन से पूर्णत: स्पष्ट हो गई है। उसको रूढिवादी कहना ठीक नही। सस्कृत के आचार्य प्रारम्भ से ही काव्य की आत्मा के अनुसधान मे सलग्न रहे है। वे काव्य के बहिरग से आभ्यन्तर की ओर बढे है। काव्य-लक्षण के प्रसग मे हम सैद्धान्तिक निरूपण के इस क्रमिक विकास का विशद विवेचन कर चुके है। उसी के साथ भारतीय आचार्य की समीक्षा-सम्बन्धी धारणा भी व्यापक होती गई। पहले वह काव्य मे अलकारो के सौष्ठव का ही अनुसधान करता था। रस आदि सभी को अलकार मे ही अन्तर्निहित मानता था। वक्रोक्ति सिद्धान्त ने भी काव्य के बहिरग को ही प्रधान माना है। उसका ध्यान भी उक्ति-वैचित्र्य पर ही गया। उसने अलकार-अलकार्य का भेद स्वीकार कर लिया, लेकिन उसमे अलकार्य भी उक्ति ही था, इसलिए काव्य की आत्मा की ओर चिन्तन का विकास अधिक नही हुआ। "रीतिरात्मा काव्यस्य" ही सभवत आत्मा के अनुसधान का प्रथम प्रयास था। अलकारो की अपेक्षा गुण काव्य के अधिक आभ्यान्तर तत्त्व थे। बाद मे तो गुण रस के नित्य धर्म ही मान लिये गए। चित्त की अवस्थाओ के नाम गुण हो गए। शब्द और अर्थ के साथ भी उनका गौण सम्बन्ध मान्य हुआ। रस,ध्वनि और औचित्य ने काव्य की आत्मा का पूर्ण प्रकाशन तथा बहिरग तत्वो के साथ उसका सामजस्य भी स्थापित कर दिया। इस प्रकार भारतीय आचार्य बाह्य और आभ्यान्तर के सामजस्य की ओर अग्रसर हुए है। विभिन्न सम्प्रदाय इसी प्रगति की मजिल है; यह हम पहले कह चुके है। यहाँ पर इसकी पुन:स्मृति दिलाने का एक-मात्र उद्देश्य समीक्षा-सम्बन्धी धारणा के विकास का स्पष्टीकरण है। भारतीय आचार्य बाह्य सौष्ठव से आभ्यान्तर सौष्ठव की ओर अग्रसर हुआ है। उसने भावोत्कर्ष और लोकोत्तर आह्लाद को ही काव्य की आत्मा कहा है, यह रस के विवेचन में स्पष्ट कर दिया गया है। पण्डितराज ने तो रमणीयता के सिद्धान्त द्वारा

इस विकास को चरम अवस्था पर पहुँचा दिया। इसमे रस, अलकार आदि सभी काव्य-तत्वो का समावेश है। ये सभी काव्य मे रमणीयार्थ के हेतु है और यही इन सबकी उपादेयता का मानदड है। मानव ज्यो-ज्यो काव्य का अनुशीलन करता है त्यो-त्यो वह उसे नवीनतर और आह्लादकारक लगता है। उसके अन्तरतम मे प्रविष्ट करना मानो लोकोत्तर आह्लाद की गहराई मे पैठना है। इस प्रकार रमणीयता के सिद्धान्त ने केवल काव्य के बहिरग और आभ्यन्तर, आह्लाद और नैतिकता, कलापक्ष और भावपक्ष के सामजस्य को ही विकास की चरम कोटि पर नही पहुँचाया है, अपितु उनसे भी अतिक्रान्त अवस्था का आभास दिया है। ध्वनिकार ने जिस ओर पैर बढाया था, उसी दिशा मे आगे बढते हुए पडितराज अन्तिम मजिल को पहुँच गए है। वे सारे शास्त्रानुमोदित काव्य-तत्वो का आकलन करते हुए भी उनसे अतिक्रान्त अवस्था का निर्देश करने के कारण रूढिवादी नही है। उनमे रूढि और स्वच्छन्दता का पूर्ण सामजस्य है, इसीलिए भारतीय साहित्य-शास्त्र का यह प्रतिनिधि सिद्धान्त समीक्षा के व्यापक और सार्वदेशीय मान की प्रतिष्ठा करता है।

रस, ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त के त्रिकोण पर भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त का सामजस्यवाद अधिष्ठित है। कुप्पुस्वामी और राघवन ने इस सामंजस्य को दो वृत्तो तथा दो त्रिकोणो के चित्र द्वारा स्पष्ट किया है। औचित्य के बृहद् वृत्त मे रस, ध्वनि और अनुभूति का त्रिकोण तथा अलकार और रीति सहित वक्रोक्ति का छोटा वृत्त चित्रित हुआ है। चित्र का तात्पर्य यह है कि काव्य के सभी तत्व (अलकारादि) औचित्य के मार्ग का अवलम्बन करके ध्वनि अथवा अनुभूति के माध्यम से रस की पुष्टि के लिए क्रियाशील है। प्रत्येक तत्व मे रस की दृष्टि से औचित्य देखना भारतीय समीक्षक और कवि का प्रधान कर्तव्य है। रस अभिधेय वस्तु नही है। काव्य शब्द की अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यजना-शक्ति का अधिक उपयोग करता है। उसका उद्देश्य कवि की अनुभूति के समान ही पाठक मे अनुभूति जागृत करना है। यह कार्य व्यजना-शक्ति के अतिरिक्त और कोई नही कर सकता। इसलिए व्यजना-शक्ति ही काव्य की प्राण है। वक्रोक्ति ही अलकार, रीति आदि बाह्य तत्वो का आधार है और इस चित्र मे इनका काव्य के आभ्यन्तर रस से सामजस्य दिखाया गया है। काव्य मे अनुभूति और अभिव्यक्ति का पूर्ण सामजस्य भारतीय आचार्य को मान्य है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को स्पष्टत पृथक् देखने की प्रवृत्ति बिलकुल नही है। कवि की अनुभूति ही कविता बन जाती है। यह सिद्धान्त तो सस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि ही प्रतिपादित कर चुके थे। "शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा" की व्याख्या मे हम इसे पहले भी स्पष्ट कर चुके है। अलकार, रीति आदि काव्य का बाह्य अर्थात् अभिव्यक्ति पक्ष है और रस आभ्यन्तर। इन दोनो का सामजस्य ही आचार्यो को अभिप्रेत है। काव्य-शरीर के अलंकार, गुण, रीति

आदि सभी तत्वों का पारस्परिक सामंजस्य वक्रोक्ति-सिद्धान्त तथा काव्य की आत्मा के साथ उनका सामंजस्य औचित्य और व्यंजना द्वारा हो जाता है। इस प्रकार काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर, शरीर और आत्मा मे पूर्ण सामजस्य हो जाता है। इसका आधार व्यंजना है। वस्तुत गूढ दृष्टि से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वक्रोक्ति भी व्यजना के अतिरिक्त कुछ नही है।

संस्कृत में साहित्य शब्द का प्रयोग ही यह स्पष्ट करता है कि भारतीय आचार्य को पूर्ण सामजस्य मान्य है। "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" तथा "वागर्थाविव सपृक्तौ" मे शब्द और अर्थ का सामजस्य निहित है और इसी मे सब प्रकार के सामजस्य का अन्तर्भाव है। प्राचीन आचार्य को अलंकार, गुण, रीति आदि के नियमोपनियमो का ऐसा कठोर नियन्त्रण मान्य नही है। वह कवि-प्रतिभा को पूर्णतः स्वतन्त्र मानता है। अलकार-शास्त्र के नियमों में जकडा हुआ कवि उन्ही निर्देशो पर चलकर उत्कृष्ट काव्य का सृजन नही कर सकता है। पर वह "निरंकुशा कवय" कहता हुआ भी उसकी उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहन नही देता। रस अथवा रमणीयता का एक सिद्धान्त ऐसा है, जिसका उस पर भी नियत्रण है। वह उसे दिशा-निर्देश करता है। इस प्रकार भारत का आचार्य शास्त्र-विधि का नियत्रण मानते हुए भी कवि को स्वातन्त्र्य प्रदान करता है। इसीको सामजस्य कहते है। यहाँ का आलोचक अगर पश्चिम के क्लासिकल आलोचक की तरह विधि-विधान के जटिल नियत्रण को मानकर नही चलता तो वह प्रभाववादी की तरह काव्य-शास्त्र के नियमो की नितान्त अवहेलना भी नही करता है। उसके स्वरूप मे दोनों का सामजस्य ही है और यही सस्कृत की विश्व को देन है। भारतीय आचार्य अलकार, गुण आदि का सौन्दर्य और उपादेयता, काव्य को आत्मा की दृष्टि से मानता है। इसके नियम कवि के आदेश नही है अपितु साहित्य-दर्शन के गम्भीर मन्थन के परिणाम-मात्र है। कवि-प्रतिभा के नियन्त्रण के लिए जड नियम नही है। कवि भाव और शैली के जिन तत्वों का उपयोग स्वाभाविक रूप से करता है, उन्हीको इन नामो से अभिहित किया गया है। इनके लिए प्रयास अपेक्षित नही है। रस-चारुत्व अथवा रमणीयता कविता के प्राण है। प्राण-विहीन प्रयास-साध्य रचना के लिए काव्य शब्द का प्रयोग केवल औपचारिक है। चारुत्व के विभिन्न साधनों को ही आलकार और गुण कहा गया है। "द्विविध चारुत्व स्वरूपमात्रनिष्ठ सघटनाश्रित च। तत्र शब्दानां स्वरूप मात्रकृत चारुत्व शब्दालकारेभ्य. सघटनाश्रित तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्व स्वरूपमात्रनिष्ठामुपमादिभ्य संघटनापर्यवसित तु अर्थगुणेभ्य"।[1]

काव्य मे रस, रमणीयता, चारुत्व अथवा अलौकिक आह्लाद की प्रतिष्ठा शास्त्रीय नियमो के निर्वाह-मात्र से सम्भव नही है। इसके लिए कवि-प्रतिभा और मौलिक

---

१ लोचन, पृष्ठ ४।

अनुभूति अपेक्षित है। रस-निष्पत्ति के लिए माध्यम रूप मे अपेक्षित तत्वों का निर्देश सस्कृत-आचार्य को अभिप्रेत है। इस पद्धति के आलोचक का उद्देश्य काव्य की आत्मा का (रस का) अनुसन्धान तथा अलकारादि तत्वो का निर्जीव सकेत-मात्र आलोचना नही है। सस्कृत-अलकार-शास्त्र द्वारा अनुमोदित आलोचक केवल शास्त्रीय और वैधानिक तत्वो का स्पष्टीकरण नही करता, वह स्वय रसास्वाद करता है और अपने विवेचन से पाठको के रसास्वाद मे सहायक होता है। इस प्रकार इस दृष्टि-कोण मे रूढि और मौलिकता एव विधि और स्वातन्त्र्य का सामजस्य है।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध मे पाश्चात्य देशो मे पर्याप्त वाद-विवाद रहा है और अब भी उसका अन्त नही हुआ है। इसीके आधार पर पश्चिम मे "कला-कला के लिए", "कला-जीवन के लिए" आदि अनेक मत-मतान्तर बन गए है। कुछ कला का उद्देश्य एक-मात्र सौन्दर्य-सृजन ही मानते है। उनकी दृष्टि से कला-सौन्दर्य स्वय ही एक उपयोगिता है, उसमे किसी बाह्य और नैतिक उपयोगिता का ढूढना व्यर्थ ही नही अपितु कला को हीन करना है। पर दूसरा दल साहित्य को जीवन की व्याख्या कहता है तथा उसमे जीवन के लिए नैतिक उपदेश देखने का इच्छुक है। उसकी दृष्टि से साहित्य का जीवन से अपना कोई पृथक् महत्व नही है। उसका महत्व जीवन की उपयोगिता की दृष्टि से ही आका जा सकता है। लेकिन भारतीय आचार्य ने इतनी स्थूल दृष्टि से कभी नही देखा। उसे सुन्दर और मगल का सामजस्य मान्य है। रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहकर उन्होने परम मगल और सौन्दर्य का सामजस्य कर दिया है। बाह्य आवरण मे आपाततः अश्लील प्रतीत होते हुए भी अगर वह रस-निष्पत्ति का हेतु है तो भारतीय आचार्य उस स्थल को अश्लील कहकर उपेक्षा नही करेगा। वह 'अनैतिक' कहकर उसका बहिष्कार नही करता। नैतिकता का स्थूल और रूढिवादी रूप उसे मान्य नही है। रस चित की सात्विक अवस्था मे ही अनुभूत होता है, इसलिए बाह्यतः अश्लील और आपाततः अनैतिक होते हुए भी वह प्रभाव मे श्लील और नैतिक ही है। वह तो परम मगल मे एकाकार हो जाता है, इसलिए अश्लील और अनैतिक कहा ही नही जा सकता। भारतीय आचार्य रस के औचित्य और अनौचित्य के मानदण्ड से ही आकता है, स्थूल नैतिकता से नही। वह काव्य का उद्देश्य तो "रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्" ही मानता है। पर कवि धर्म-शास्त्र का उपदेशक नही है। उसका उपदेश भी कान्ता की तरह होता है। उसमे वह व्यजना का उपयोग करता है। आपाततः अश्लील प्रतीत होने वाली वस्तु भी साधन रूप से प्रयुक्त होकर रस मे मगल रूप हो जाती है। इस प्रकार भारतीय आचार्य का दृष्टिकोण नैतिक होते हुए भी स्थूल उपयोगिता-वादी नही है। यही कारण है कि आनन्दवर्द्धनाचार्य कालिदास के शकर-पार्वती के सयोग शृंगार को अनुचित मानते हुए भी कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कवियो मे स्थान

देते है। "शून्य वासगृहे" आदि आपातत: नग्न और अश्लील होते हुए भी श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण माने गए है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय आचार्य ने सकुचित दृष्टिकोण से विचार नही किया है। वे काव्य में सौन्दर्य और मगल का सामजस्य मानते है। वस्तुत: जिसमे रस व्यग्य है, वह काव्य हृदय को सत्वाविष्ट करता है, इसलिए कभी अमगलकारक नही हो सकता, वह अश्लील भी नही हो सकता। यहां पर भी उन्होने सामजस्यवादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। यही कारण है कि यहा पर काव्य के उद्देश्य के नाम पर वाद-विवाद खडे नही हुए। भारत में काव्य को नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि के सिद्धान्तो पर मापने के प्रयत्न के भी दर्शन नही होते। साहित्य को विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से देखना और उसका मूल्यांकन करना ही यहा के आचार्यो को अभीप्सित रहा है, इसीलिए भारतीय प्राचीन आलोचक ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक आलोचक नही है। यह विशुद्ध साहित्य-समालोचक-मात्र है। उसे चाहें तो सौष्ठववादी कह सकते है। हिन्दी मे भी सौष्ठव-वादी समीक्षा का दृष्टिकोण मान्य हुआ है और इसी का विकास हो रहा है। हिन्दी का भी वाद-विवादों के अधिक झझट में न पडने का सस्कार ही है।

सस्कृत के आचार्यो ने आलोचक के स्वरूप पर भी विचार किया है। उन्होने पश्चिम की तरह कवि और आलोचक को पारस्परिक विरोधी नही माना है। एक ही प्रतिभा के दो स्वरूपो की प्रतिष्ठा कवि और आलोचक मे होती है। "सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।···· भाव कस्योपकुर्वाणा भाव-यित्री। सा हि कवे: श्रममभिप्राय च भावयति।··· ·· क पुनरयोर्भेदो यत्कविभाव-यति भावकश्च कवि।[1] इससे यह सिद्ध हुआ कि आलोचक के लिये भी प्रतिभावान् होना आवश्यक है। कवि जो-कुछ सृजन करता है, भावक भी अपनी प्रतिभा द्वारा उसको प्रत्यक्ष करके उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका रसास्वाद करने की क्षमता ही भावक की प्रधान योग्यता है। कवि-कल्पना को पूर्णत आत्मसात् कर लेना, उसके तात्पर्य एव शब्द-गुम्फन के रहस्य को समझना तथा रसास्वाद करना ही भावक का कार्य है[2] राजशेखर ने कवि की सूक्तियो तथा अभिव्यजना का आनन्द लेना ही भावक का प्रधान कार्य बताया है। उनकी दृष्टि से आलोचक कवि की प्रशसा ही नही करता है, अपितु उसके दोषो का निवारण भी करता है। वह कवि को यह भी बतलाता है कि अमुक भाव को इस प्रकार व्यजित करना चाहिये।

---

१. 'काव्य-मीमांसा', चतुर्थ अध्याय, राजशेखर।

२. शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभि·।
सान्द्रं लढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च य ॥
'काव्य-मीमांसा', चतुर्थ अध्याय।

कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत-साहित्य मे आलोचक के स्वरूप की धारणा हमेशा ही कवि की अनुगामी बनने की नही अपितु कभी-कभी वह कवि का पथ-निर्देशक भी बन जाता है। सहृदयता उसका प्रधान गुण है। उसे पथ-निर्देश भी काव्य-सौष्ठव रमणीयता, रस और औचित्य की दृष्टि से ही करना है, अन्य किसी दृष्टि से नही। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत मे भावक के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि समालोचक के रूपो की कल्पना नही रही। वह रसास्वाद और विशुद्ध साहित्यक दृष्टि से विचार करने वाला सहृदय है, इसलिए वह सौष्ठववादी समालोचक ही कहा जा सकता है। उसे प्रभाववादी कहना भी कुछ सीमा तक ठीक है। इन पाश्चात्य विभाजनो मे से हम उसको कही भी ठीक-ठीक नही रख सकते। उसमे प्रभाववादी और वैधानिक समालोचक का सामजस्य हो जाता है। काव्य के वर्ण्य विषय मे पूर्णत. तन्मय हो जाना ही इस भावक का मापदण्ड है। संस्कृत का आचार्य सामान्य जन को भावक की कोटि मे नही रखता। भावयित्री प्रतिभा-सम्पन्न सहृदय होना उसका प्रधान गुण है। उसकी वैयक्तिक रुचि भी इतनी परिष्कृत होती है कि उसका विद्वत्रुचि से कोई विरोध सभव ही नही। इसीलिए वह प्रभाववादी होते हुये भी वैधानिक आलोचक कहा जा सकता है। तन्मयता के लिये अभ्यास और काव्य-शास्त्र के अनुशीलन की आवश्यकता है। इससे उसका मन-मुकुर स्वच्छ और विशद हो जाता है और तभी उसमे कवि के सभी वर्ण्य विषयो का पूरा-पूरा प्रतिविम्ब स्पष्ट पड सकता है। अपनी पूर्व वासना के कारण उसमे वर्ण्य-विषय के साथ तादात्म्य की क्षमता भी आ जाती है। सहृदय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त अपनी लोचन व्याख्या मे कहते है "येषा काव्यानुशीलनाभ्यावशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवन-योग्यता ते स्वहृदयसवादभाजः सहृदय ' काव्य और शास्त्र का अनुशीलन केवल उसके हृदय को अधिक स्वच्छ करने के लिए ही है, इस अध्ययन से प्राप्त तत्वो का काव्य पर आरोप करके निर्णय देने के लिए नही। भारतीय आलोचना निर्णयात्मक नही है, लेकिन यहाँ भावक का शास्त्रीय तत्वो से परिचित होना अनिवार्य माना गया है। अलकार-शास्त्र और साहित्य का अध्ययन उस के हृदय का परिमार्जन करता है। यह अनुशीलन भावो की गहराई मे पैठकर अमूल्य रत्नो के उद्घाटन मे सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति भावक कोटि मे नही आता। इसके लिए वैयक्तिक रुचि का विद्वत्रुचि के समान परिष्कृत हो जाना आवश्यक है और यह केवल शास्त्रो के ज्ञान द्वारा ही सभव है। इसीलिए भारत का आचार्य तो सहृदयता के साथ ही शास्त्र-ज्ञता को भी भावक का अपेक्षित गुण मानता है। राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमासा' नामक ग्रन्थ मे कवि और भावक की पारस तथा कसौटी से तुलना की है। इस प्रकार उन्होने थोडे मे बहुत अधिक कह दिया है। जैसे पारस पत्थर लोहे को स्पर्श-मात्र से सोना बना देता है, सर्वथा उसी से सापेक्ष कवि

वर्तन करके एक नई वस्तु उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार कवि की कारयित्री प्रतिभा से लौकिक वर्ण्य विषय अलौकिक आह्लाद के कारण बन जाते हैं। कसौटी का पत्थर सोने की लकीर अपने हृदय पर धारण करता है। उसके गुण-दोषों को तटस्थता और निष्पक्षता पूर्वक धारण कर लेता है; लेकिन उसमें एक योग्यता है, जो प्रत्येक पत्थर मे नही है। स्वयं मौन रहते हुए भी दर्शक को सोने की उत्कृष्टता स्पष्ट बतला देता है। उसी प्रकार सहृदय साधारण व्यक्ति से भिन्न है। उसमें काव्य-सौष्ठव और दूषण को सामान्य जन से अधिक ग्रहण करने की क्षमता है। लेकिन वह तटस्थ होकर इन प्रभावो को ग्रहण करता है। वह काव्यके वर्ण्य-विषय और अपने विवेचन द्वारा दूसरो के रसास्वाद मे सहायक होता है और स्वयं भी आह्लादित होता है। उसके विवेचन का अभिप्राय रस-निष्पत्ति के सहायक और वैधानिक तत्वो को स्पष्ट करने मे है। वह काव्य के वर्ण्य विषय से तन्मय होकर उसकी उत्कृष्टता का मूल्याकन करता है। काव्य पर बाह्य मूल्यों का आरोप करके उसकी निन्दा-स्तुति करने एव निर्णायक और शास्त्रज्ञ बनने का दम भरना भारतीय आलोचक का गुण नही है। इस एक छोटे उदाहरण ने ही सहृदयो के स्वरूप और योग्यता को स्पष्ट कर दिया है। भारतीय आलोचक निर्णायक नहीं, अपितु सौन्दर्य से तन्मय होकर आह्लाद प्राप्त करने वाला है। शास्त्राभ्यास उसमें कसौटि के गुणों की अभिवृद्धि कर देता है।

राजशेखर ने आलोचक के भेदो का निरूपण किया है। मगल नामक आचार्य के नाम से उन्होंने 'आरोचक' और 'सतृणाभ्यवहारी' दो भेद उदधृत किये हैं। फिर उन्हीं के दो और उपभेद करके, इस प्रकार चार भेद दिये हैं। आरोचक भी दो प्रकार के हो सकते है। एक तो स्वभावत: कवि-कृति के प्रति अरुचि रखने वाला तथा दूसरा, जो विवेक और विश्लेषण के कारण कृति को अरुचिकर कहता है। इसी प्रकार "सतृणाभ्यवहारी" के भी दो भेद होगे। एक तो वह जो वस्तु को बिना नीर-क्षीर-विवेक के जैसे-का-तैसा ग्रहण अथवा त्याग करने वाला है तथा दूसरा वह जो उसके ग्रहण अथवा त्याग के लिये विवेक और विश्लेषण का उपयोग करता है। दूसरे प्रकार का तत्वाभिनिवेशी ही वास्तविक समीक्षक कहा जा सकता है। आलोचक का यह विभाजन मनोवृत्तियों के आधार पर हुआ है। आलोचक को ग्रहण और त्याग करना पड़ता है। उसमे जो विवेक का उपयोग करता है, वही आदर्श समालोचक है। इस प्रकार राजशेखर समालोचक के मानसिक विकास की अवस्थाओ का उपयोग करते है। पूर्णत: मत्सरी आरोचिकी अथवा मत्सरी सतृणाभ्यवहारी व्यक्ति प्राय: असभव-सा है। प्रत्येक व्यक्ति मे सभी मनोवृत्तियाँ होती हैं। प्राधान्य के आधार पर उनका ऐसा नामकरण हुआ है। पूर्णत: आरोचिकी तो आलोचक ही नहीं हो सकता है। जब तक वह विवेक द्वारा सार का ग्रहण और

असार का परित्याग न करे तब तक आलोचक कैसा। इससे इस विवेचन को आलोचकों के विभाजन की अपेक्षा उनकी मनोवृत्ति अथवा मानसिक विकास की अवस्थाओं का विभाग मानना अधिक ठीक है। इसके अतिरिक्त राजशेखर विभिन्न दृष्टियो से आलोचना करने वाले आलोचको के कई भेदो का भी निरूपण करते है।[1] कुछ आलोचक तो केवल वाणी की ही आलोचना करते है और कुछ काव्य के हृदय, भाव, रस आदि का भी विवेचन करते है। यहा पर राजशेखर में काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष के नाम से दो पक्ष स्पष्टतः स्वीकार किये है। उन्होने आलोचक के रुचि-वैचित्र्य की ओर भी सकेत किया है। यह रुचि की वैचित्र्य का परिणाम है कि कुछ का ध्यान अभिव्यक्ति पक्ष की ओर तथा कुछ का भाव-पक्ष की ओर अधिक जाता है। कुछ लोग भावपक्ष मे भी रुचि वैचित्र्य के कारण साहित्यिक भाव, अनुभाव आदि में से किसी एक का ही निरूपण करते है। कुछ लोग गुण दोषो को भी साथ ही अलग-अलग करते चलते है और कुछ ऐसा नही कर पाते। काव्य के विभिन्न तत्वो के विश्लेषण की प्रवृत्ति के आधार पर आलोचक के भेदों का निरूपण करने का तात्पर्य उसकी अनेकता का दिग्दर्शन तथा प्रवृत्ति-भेद की स्वाभाविकता का निरूपण मात्र है। आचार्य भेदोपभेदों को गिनाकर अनावश्यक विस्तार नही करना चाहते है। इस श्लोक के "वाग्भावको" और "हृदयभावको" पदो का एक दूसरा अर्थ भी कुछ लोगों को मान्य है। वे "हृदयभावक" पद द्वारा उस भाव की ओर सकेत मानते है जो काव्य-सौष्ठव का अनुभव तो करता है, पर उसे वह हृदय मे ही रखता है, वाणी से अभिव्यक्त नही करता। पर 'वाग्भावक' अनुभव भी करता है तथा अपने अनुभव को वाणी द्वारा दूसरों पर प्रकट भी करता है। इस अर्थ को मान लेने मे भी कोई आपत्ति नही है। इससे भावक के ही दो स्वरूपो का निर्देश हो जाता है। कुछ लोग सहृदय होते है, और वे काव्य-सौष्ठव का रसास्वाद कर सकते है, पर उनमें अनुभूति को पाठक तक पहुँचाने की क्षमता नही होती है। ऐसे व्यक्ति भावक होते हुए भी आलोचक नही है। इससे इस तथ्य की ओर भी पुष्टि हो जाती है कि आलोचक के लिए सहृदय होना नितान्त आवश्यक और अपरिहार्य है और रसास्वाद करना भी उसका एक प्रधान कार्य है।

इतना प्रौढ सैद्धान्तिक निरूपण होते हुए भी संस्कृत-साहित्य मे आलोचना का

---

१. **वाग्भावको भवेत्कश्चित् कंचित हृदय भावकः।**
सात्विकैरांगकैः कंश्चिदनुभावैश्च भावकः॥
गुणादान परः कश्चिद्दोषादान परोऽपरः।
गुणदोषापहृति त्याग परः कश्चन भावकः। काव्य-मीमांसा', पृष्ठ ५३॥

प्रयोगात्मक रूप इतना कम क्यो उपलब्ध है, यह प्रश्न कुछ विचारणीय है। पश्चिम मे प्रयोगात्मक आलोचना का उनके सैद्धान्तिक निरूपण की अपेक्षा अधिक विकास हुआ है। प्रयोगात्मक आलोचना कलाकार और कला-कृति के महत्व के मूल्यांकन का वैयक्तिक प्रयास है। उसमे आलोचक की यह आकांक्षा और आशा अवश्य अन्तर्हित होती है कि मेरे विचारो से दूसरे भी सहमत होगे। इसीलिए वह आलोचना मे यथा सभव ऐसी शैली और मानदड का उपयोग अवश्य करता है, जिससे दूसरे सहृदय भी उससे सहमत हो सके। इस दृष्टि से प्रयोगात्मक आलोचना को साधारण पाठक के लिए कला-कृति के सौन्दर्य का उद्घाटन भी कह सकते हैं। इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य पाठको को कृति के सौन्दर्य का आस्वाद कराना तथा उसके महत्व का मूल्याकन करना है। फिर भी ये प्रयास व्यक्तिगत ही होते हैं, यही कारण है कि दो आलोचको की एक ही कवि की आलोचना कितनी भिन्न हो जाती है। दूसरे ये प्रयोगात्मक आलोचनाएँ साहित्य-सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों तक पहुंचाने के मार्ग भी हैं। साहित्य-समीक्षा के कई प्रयोगो के निगमन से कुछ ऐसे सिद्धान्त स्थिर हो जाते है जो साहित्य-क्षेत्र की अपेक्षाकृत स्थायी वस्तु है। प्रयोग वैयक्तिक, सामयिक और साधन रूप होने के कारण कालान्तर मे अपना महत्व खो देते हैं तथा स्वभावत: शीघ्र नष्ट हो जाते है, पर सिद्धान्त सार्वजनिक, सार्वकालिक और साध्य होने के कारण अधिक जीवित रहते है। उनमे अपेक्षाकृत प्राण-शक्ति अधिक होती है, साहित्य सिद्धान्त भी प्रयोगात्मक आलोचना के मन्थन के परिणाम है, वे उसके सारभूत अंश के होने के कारण घृत तुल्य माने जा सकते है। दूध की अपेक्षा घृत में प्राण-शक्ति अधिक है, वह अधिक दिन तक उपयोगी रह सकता है। साहित्य-दर्शन साहित्य का केन्द्र-बिन्दु है। साहित्य का सार-तत्व उसमे सकलित होता रहता है और वह साहित्य का कुछ नियन्त्रण भी करता रहता है। दिशा-निर्देश करना और प्रेरणा देना भी इसका कार्य है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रयोगात्मक आलोचना का एक प्रधान उद्देश्य सिद्धान्तो को स्थिर करते जाना भी है। प्रत्येक प्रकार की आलोचना साहित्य-दर्शन की प्रगति मे सहायक भी होती है और साहित्य-दर्शन के द्वारा नियन्त्रित भी। आलोचना के इन दोनों स्वरूपो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भारतीय चिन्तन-धारा की एक प्रधान विशेषता यह है कि उसमे वस्तु की आत्मा के अनुसन्धान की प्रवृत्ति अधिक है। यह उस तत्व का साक्षात्कार करती है जिसके कारण वस्तु, वस्तु है। इस अनुसधान-कार्य में जिन साधनों और मार्गों का वह अवलम्बन करती है, उनका बहुत अधिक लेखा-जोखा रखना भारतीय प्रकृति के विरुद्ध है। यही क्रम साहित्य-दर्शन के विकास में रहा प्रतीत होता है। साहित्यिक कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन विद्यार्थियो और जन-समाज में होता रहा होगा, उनसे समीक्षा-तत्वों का निरूपण भी हुआ होगा। पर यह प्रक्रिया प्राय: मौखिक ही रही होगी।

विद्यार्थियो को समझाने के लिए भी आलोचनात्मक विवेचन होते रहे होगे, पर ऐसे प्रयासो का लिखित रूप या तो रहा ही न हो, अथवा कुछ साधारण-सा रहा भी हो तो आज वह अनुपलब्ध हो गया है। आज की तरह प्राचीन काल में कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक तथा उसकी प्रवृत्तियो के ऐतिहासिक अध्ययन की प्रवृत्ति नही थी। ऐसी समीक्षा-पद्धतियो मे काव्य-ग्रन्थ और कवियों पर पृथक् पुस्तकाकार रचना अधिक हो सकती है और वे ही अपेक्षाकृत स्थायी भी होती है। इन्ही सब कारणो से सस्कृत-साहित्य मे प्रयोगात्मक आलोचना का रूप बहुत कम मिलता है।

भारतीय प्राचीन साहित्य मे आलोचना का प्रधान रूप टीका ही है। सिद्धान्त-ग्रन्थो पर भाष्य भी लिखे गए। इस प्रकार आलोचना की प्रवृत्ति थी, पर आधुनिक रूप से सर्वथा भिन्न रूप मे। टीका मे प्रत्येक श्लोक को पृथक् देखने की प्रवृत्ति ही अधिक है। टीकाकारो का ध्यान इस ओर बहुत कम गया है कि आलोच्य श्लोक का प्रबन्ध की धारा मे क्या स्थान है। सारे ग्रन्थ पर सामूहिक रूप मे अथवा कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विचार करने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। कुछ सूक्तियो के रूप मे इस प्रकार की प्रवृत्ति के दर्शन अवश्य होते है। ऐसी कतिपय सूक्तियो पर विचार किया जायगा। यहाँ पर हमारा उद्देश्य टीका-पद्धति की आलोचना के सम्बन्ध में विचार कर लेना है। टीका मे भाषा-सम्बन्धी व्याख्या और आलोचना के अतिरिक्त अलंकार, गुण, रीति आदि शास्त्रीय तत्वो का भी निर्देश होता है। आलोच्य वस्तु के निगूढ अर्थो का उद्घाटन भी किया जाता है। टीकाकार उससे सम्बद्ध और बहुत सी अन्य बातो का भी विचार कर लेते है। शास्त्रीय तत्वो के निर्देश के अतिरिक्त स्थल-स्थल की रमणीयता को भी स्पष्ट करते है। उनसे आह्लादित होकर अनुभूतिव्यजक वाक्यो का प्रयोग भी होता रहा है, जो पाठक को भी उस स्थल से आह्लादित होने का अवसर प्रदान करते हैं। ऐसे स्थल कभी-कभी प्रशंसात्मक वाक्यो का रूप भी धारण कर जाते है। सस्कृत के टीकाकारो ने रस और औचित्य की दृष्टि से काव्य का विचार किया है। प्रसगानुसार शास्त्र के उद्धरण भी देते चले हैं। कही-कही उन्होने सिद्धान्तों की सूक्ष्म व्याख्या कर दी है। कहने का तात्पर्य यह है कि टीका-पद्धति में आलोचक के प्रौढ रूप के दर्शन होते है। मल्लिनाथ-जैसे व्यक्ति किसी भी समालोचक के समकक्ष माने जा सकते है।

सभी आचार्य अपने सिद्धान्त-ग्रन्थों मे श्लोकों, ग्रन्थों और कवियो की प्रसगानुसार पर्याप्त आलोचना करते रहे है। श्लोकों को उत्तम, मध्यम आदि भेदो में स्थान देते समय वे काव्य की आत्मा की ओर संकेत करते है तथा अपने पक्ष के समर्थन में प्रौढ़ तर्क उपस्थित करते हैं। इस प्रकार उनमें प्रौढ और सूक्ष्म आलोचक के रूप बिल्कुल स्पष्ट हैं। जहां वे आचार्य अलकार, गुण, रीति, ध्वनि आदि तत्वों का विवेचन और निर्देश करते हैं, वहा तो उनकी तलस्पर्शिता और सूक्ष्म विश्लेषण-

शक्ति आश्चर्य-चकित करने वाली है। एक ही श्लोक की भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की है। उन्होने तरह-तरह से उसके भावोत्कर्ष और अभिव्यजना-सौष्ठव को देखने का प्रयत्न किया है। इन आलकारिकों ने कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा वर्ण्य विषय के औचित्य पर भी विचार किया है। आनन्द-वर्द्धनाचार्य ने महाभारत को 'शान्त रस' का महाकाव्य माना है। वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास को ही वास्तविक कवि मानना चाहते है।[1] कालिदास के शकर-पार्वती के सभोग शृंगार के वर्णन को अनुचित बतलाकर उन्होने काव्य के वर्ण्य विषय पर औचित्य और नैतिकता की दृष्टि से विचार किया है।[2] इसके अतिरिक्त वे कई स्थानो पर कवियो के पथ-निर्देशक भी है और इस प्रकार वे आलोचक के उत्तरदायित्व का पूर्णतः निर्वाह कर रहे है। आनन्दवर्द्धनाचार्य की सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि से महाकवियो के दोष भी नही छिप सके है। कालिदास को महाकवि स्वीकार करते हुए भी उनके दोषो का सकेत करना ध्वनिकार की निष्पक्षता और सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का पुष्ट प्रमाण है।

सस्कृत का आलोचक शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग अधिक करता है। इसलिए उसकी शैली अनुभूति-व्यजक नही प्रतीत होती है। आज का पाठक उस आलोचना को वैधानिक, निर्णयात्मक और परम्परायुक्त ही मानना चाहता है। यह आलोचना भी विशिष्ट एव सुसस्कृत पाठक के लिए ही होती है। जब तक पाठक अलकार-शास्त्र के तत्वो तथा पारिभाषिक शब्दो के अर्थ से पूर्णतः परिचित नही होता तब तक उसे समझ भी नही पाता। इसलिए यह समीक्षा उसे रूढिग्रस्त भी प्रतीत होती है। इसमे भी कोई सन्देह नही है कि अनुभूतिव्यजक शैली को न अपनाने के कारण यह आलोचना नीरस और रूढ़िगत सी प्रतीत होती है। पर इसमे आधुनिक समालोचना की अपेक्षा बहुत अधिक यथार्थता और स्पष्टता होती है। आलोचक जो कुछ कहना चाहता है, उसे उन्ही शब्दो मे कहता है जिनके अर्थ निश्चित है। अस्पष्ट और अनिश्चित पदावली के प्रयोग की वह आवश्यकता नही समझता। आधुनिक समालोचक वस्तु की गहराई मे बैठकर 'कानी कौडी' निकालने का प्रयत्न करने लगता है। इस प्रयास मे वह बहुत से अस्पष्ट और अनिश्चित अर्थ वाले शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग कर जाता है। उनकी इस रहस्यमयी शैली से आलोच्य वस्तु की रमणीयता से अभिभूत होने की अपेक्षा पाठक शैली की गूढता से आश्चर्य-चकित अधिक होता है। फिर भी यह मानना पडता है कि सस्कृत की आलोचना व्यक्तित्वशून्य अवश्य है। उसमे आज की-सी सजीवता और वैयक्तिकता के दर्शन

१. ध्वन्यालोक, तृतीय उल्लास।
२. ध्वन्यालोक, पृष्ठ २७।

नही होते। आलोचक हमेशा ही अपने भावों को शास्त्रीय शब्दावली में नही प्रकट करना चाहता है। इससे उसको अभिव्यक्ति का क्षेत्र सीमित प्रतीत होता है। आलोचक की प्रतिभा पारिभाषिक शब्दो के बन्धन में कुण्ठित हो जाती है। पर फिर भी उसके तात्पर्य की स्पष्टता और यथार्थता के लिए शास्त्रीय पदावली आवश्यक है। पारिभाषिक पदावली की बहुलता से सस्कृत-साहित्य के सैद्धान्तिक निरूपण की प्रौढता का ही परिचय मिलता है। औपचारिक वक्रता, मानवीकरण, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान आदि अभिव्यजना की विशेषताओ के विभिन्न स्परूपो को स्पष्ट करने के लिए आज का समालोचक बहुत लम्बा वाग्जाल करता है। पर इन्ही विशेषताओ के लिए सस्कृत मे गुण, अलकार आदि के विशेष नाम है। "कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युमिषन्ति च" मे कमल और कुमुद पर जो मानव-चेष्टाओ का आरोप है, तथा प्रस्तुत के द्वारा जिस अप्रस्तुत की व्यजना हो रही है, उसको स्पष्ट करने के लिए आधुनिक आलोचको को बहुत से वाक्य लिखने पडते है। पर सस्कृत का आलोचक इसमे 'समाधिगुण' का निर्देश करके इसके सौन्दर्य को व्यक्त कर देता है। छायावाद ने शैली के जिन विभिन्न प्रकारो का प्रयोग किया है, उसका अन्तर्भाव हमारे यहा के समासोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों, समाधि आदि गुण, वक्रता के अनेक प्रकारो तथा शब्द-शक्तियो के सूक्ष्म भेदो में हो जाता है। इससे संस्कृत के सैद्धान्तिक निरूषण की प्रौढता और पूर्णता स्पष्ट होती है। निश्चित अर्थ वाली प्रचुर पारिभाषिक पदावली के कारण आलोचना अनिश्चित नही होती। हिन्दी-समीक्षा के लिए इस पदावली का उपयोग अपेक्षित है। इस पदावली का अनुभूति-व्यंजक शैली मे उपयोग करने से आलोचक की प्रतिभा की अपेक्षित स्वतन्त्रता का अपहरण भी नही होता है। हिन्दी-समीक्षा के लिये इस सामंजस्य को अपनाना श्रेयष्कर है।

संस्कृत की प्रचलित समीक्षात्मक सूक्तियो से उसकी गुण-दोष-विवेचन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। ये वाक्य शास्त्रीय तत्वो पर आश्रित है, इसलिए वैधानिक, तुलनात्मक और निर्णयात्मक आलोचना के तत्व इनमे स्पष्ट है। "उपमा कालिदासस्य"[1] आदि उक्तियों में कवियों की विशेषताओ का उल्लेख शास्त्रीय पदावली मे किया गया है। इसके साथ ही इनकी पारस्परिक तुलना भी है। इन सूक्तियों में हमेशा ही एक कवि को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन कहने की प्रवृत्ति नही है। कौन सी पुस्तक

---

१. **नैषधे पद-लालित्यं किराते त्वर्थगौरवम्।**
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥
उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थं गौरवम्।
दंडिनःपद लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

का कौन सा अंग पुष्ट और रोचक है, यह भी बतलाया गया है। इन आलोचनाओं मे वर्ण्य विषय, भाषा, शैली, रचना-कौशल आदि का विचार होता है। "नवसर्ग गते माघे नवशब्द न लभ्यते" इसमे आलोच्य रचना को शब्दो का भडार कहा गया है। उसमे इतने शब्दो का प्रयोग है कि एक भी नवीन शब्द नही मिलता। ये सूक्तियां कभी कभी गम्भीर अध्ययन और सूक्ष्म विवेचन की परिचायक होती हैं, इनके निर्णय भी कभी २ वैयक्तिक रुचि की अपेक्षा तर्क पर अधिक अधिष्ठित रहते हैं। पर कभी-कभी अनुप्रास के लोभ में ही अथवा यो ही, किसी उक्ति पर मुग्ध होकर भी कह दी गई है। ऐसे वाक्यो मे समीक्षक की प्रौढ़ता की अपेक्षा निन्दा-स्तुति की ही प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

संस्कृत ने समीक्षा का बहुत ही प्रौढ एव व्यापक मानदण्ड दिया है। उन्होंने काव्य के सब पक्षो पर इतना विस्तृत और बहुमुखी विचार किया है कि उसके आधार पर किसी भी भाव, भाषा, शैली आदि की विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से सफल आलोचना हो सकती है। इसके मान मे सार्वकालिक, सार्वदेशिक और चिरन्तन तत्व है। व्यर्थ के मत-मतान्तरो और वाद-विवाद की प्रवृत्ति न होने के कारण भारत का आचार्य काव्य की आत्मा का ठीक-ठीक निरूपण कर सका है। सहृदय और भावक के विवेचन मे भारतीय आचार्य ने आलोचक और आलोचना के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की है, वह विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र की वस्तु होने के कारण सर्वमान्य सी है। समीक्षा की आधुनिक प्रगति इसी ओर अग्रसर हो रही है। स्पिन्गर्न आलोचक और आलोचना के जिस समन्वयवादी रूप की ओर सकेत करते है, उसके विकसित और प्रौढ रूप की प्रतिष्ठा तो भारतीय आचार्य 'भावक' और 'सहृदय' की व्याख्या में कई शताब्दियो पूर्व ही कर चुका था। इतनी प्रौढ धारणाओं के होते हुये भी संस्कृत में प्रयोगात्मक आलोचना की विभिन्न शैलियो और सरणियो का विकास नही हुआ। सभवत: सैद्धान्तिक निरूपण की अपेक्षा समीक्षा के प्रयोगात्मक रूप को उन्होने बहुत कम महत्व की वस्तु समझा है। इसमे कोई सन्देह नही है कि प्रयोगात्मक आलोचना अपेक्षाकृत अल्पजीवी होती है। उसका महत्व भी दूसरो की अपेक्षा रखता है।

प्राचीन समीक्षा-पद्धति और सैद्धान्तिक निरूपण अत्यन्त प्रौढ और समृद्ध रहा है। यह भारतीय चिन्तको का शताब्दियों का श्रम है। आज के भारतीय साहित्य के लिए यह पैतृक सम्पत्ति है। उसे यह विकसित परम्परा प्राप्त हुई है। भारतीय पाठक के मस्तिष्क मे यह चिन्तन-धारा सस्कार के रूप मे विद्यमान है। भारतीय समीक्षा के भावी विकास का मूलाधार यही हो सकती है। भारत इस पद्धति का अनुसरण करके, इन तत्वों का उपयोग करके ही विश्व के ज्ञान के इस विशेष क्षेत्र में अमूल्य वृद्धि कर सकता है। हिन्दी-साहित्य को इस पद्धति ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। रीति काल का सारा विवेचन तो इसकी पुनरावृत्ति-मात्र ही है। आधुनिक

समीक्षा की भी यह चिरन्तन आधारशिला है। पाश्चात्य तत्वों का उपयोग भी हुआ है और भावी विकास के लिये यह अपेक्षित भी है। प्राचीन भारत का यह चिन्तन आज की हिन्दी तथा सभी प्रान्तीय भाषाओं की समीक्षा के व्यक्तित्व का विशिष्ट अश है। यह वह अश अथवा आधारशिला है जिस पर बाह्य प्रभावो के संस्कार बनते है। जो तत्व इसके अनुकूल बनाकर ग्रहण किए जायेंगे, वे ही हमारी समीक्षा के स्थायी अंश हो सकते है और विकास मे सहायक हो सकते है, शेष नही। आज तक की हिन्दी समीक्षा के लिए स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है। उसके लिए भारतीय चिन्तन आधारभूमि का कार्य कर रहा है। रीतिकाल तो इसकी उद्धरणी-मात्र ही है। आधुनिक समीक्षा का सैद्धान्तिक रूप तथा मान भी इससे बहुत अधिक प्रभावित है। अब तक प्राय: इसी को आधार-भूमि मानकर पाश्चात्य तत्वो को समन्वय की भावना से ग्रहण करने की प्रवृत्ति है। इसी में हिन्दी समीक्षा के स्वस्थ विकास की सभावना है। यही कारण है कि प्रस्तुत निबन्ध में सस्कृत-समीक्षा पर इतना सब-कुछ लिखने की आवश्यकता हुई है। हिन्दी-समीक्षा को अच्छी तरह समझने के लिए इस पृष्ठभूमि का ज्ञान अनिवार्य है।

: ३ :

हिन्दी में रीति-ग्रन्थ और साहित्य-समीक्षा

पूर्वपीठिका.—हिन्दी के जन्म के कई शताब्दियो पूर्व से ही सस्कृत मे रीति-ग्रन्थो का प्रणयन हो रहा था। अनेको आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे, जिनमें विषय का सूक्ष्म विवेचन अत्यन्त प्रौढ और तर्कपूर्ण प्रणाली में हुआ। अनेको शताब्दियो तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होने के बाद धीरे-धीरे यह धारा अत्यन्त क्षीण होती गई। विषय का प्रौढ चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन और तर्कपूर्ण प्रतिपादन सस्कृत से भी विदा होने लगा। आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि आचार्यों की विश्लेषण-प्रणाली का स्थान जयदेव की वस्तु-परिचय की सक्षिप्त शैली ने ले लिया। पण्डितराज इसके अपवाद है। पर पडितराज ने भी अपने सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण में स्वनिर्मित उदाहरणो का उपयोग किया है। इस प्रकार संस्कृत में ही आचार्य और कवि के सम्मिलित व्यक्तित्व के दर्शन होते है। 'चन्द्रालोक' मे एक ही श्लोक मे अलंकार का लक्षण और उदाहरण दोनो है। इसमे प्राचीन प्रौढ विवेचन का अभाव है। हिन्दी के साहित्यिक एव प्रौढ रूप के विकसित होने एवं लक्षण ग्रन्थो के लिए उपयुक्त क्षमता प्राप्त करने से पूर्व ही गम्भीर चिन्तन प्रणाली तथा प्रौढ विवेचन परम्परा का ह्रास होने लगा था। मौलिक चिन्तन का तो कोई प्रश्न ही अब नही रह गया था। प्राचीन आचार्य जो कुछ कह चुके थे उसी का पिष्टपेषण अब हो रहा था। पर प्रायः उसमे भी गम्भीरता का अभाव ही था। वस्तु का अधूरा प्रतिपादन ही हो पाता था। संस्कृत के आचार्यो का उद्देश्य भी काव्य-रीति के साधारण परिचय-मात्र मे ही सीमित हो गया था। अब वे अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि की तरह सूक्ष्म तर्कों के द्वारा विषय के आभ्यन्तर में प्रविष्ट होना नही चाहते थे। उसकी बाह्य परीक्षा भी क्या, सिंहावलोकन-मात्र से ही उन्हे सन्तोष था। मौलिकता और गूढ विश्लेषण के अभाव मे सस्कृत-समीक्षा-सिद्धान्तो की यह शव-परीक्षा मात्र अवशिष्ट रह गई थी। सस्कृत की इसी निर्जीव शैली का अनुकरण प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषाओ में भी हुआ और इसी का अनुकरण हिन्दी के मध्य-कालीन रीतिकारों ने किया। यद्यपि हिन्दी प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषा की

कई विकास-अवस्थाओ को पार करने के बाद का रूप है। भाषा की दृष्टि से उसका सीधा नही, अपितु परम्परागत सम्बन्ध ही सस्कृत से है। उस पर इन सभी विकास की अवस्थाओ की अमिट छाप है; लेकिन फिर भी हिन्दी-भाषा ने साहित्यिक रूप धारण करके सस्कृत से जितनी प्रचुर मात्रा मे पदावली ली है उससे भी कही अधिक उसकी (सस्कृत की) साहित्यिक परम्पराओ एव मान्यताओ को अक्षुण्ण रूप मे ग्रहण करना पडा है। हिन्दी अत्यन्त प्राचीन काल से अर्थात अपने साहित्यिक रूप के उद्भवकाल से सस्कृत से पदावली और साहित्यिक परम्परा दोनो ही ले रही है। विद्यापति ठाकुर की कविता जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के आदर्श पर चली है। भाषा की दृष्टि से विद्यापति की कविता सन्धि-काल की है। यह वह काल है जिस समय हिन्दी अपभ्रश से विकसित होकर अपना निश्चित रूप धारण कर रही थी। एक ही अपभ्रश से कई आधुनिक भारतीय भाषाओ का विकास हुआ है, इसलिए आज से कुछ समय पूर्व तक साहित्यिक क्षेत्र मे यह विवाद भी चलता रहा है कि विद्यापति बगाल के कवि हैं अथवा हिन्दी के। इसी वाद-विवाद से उनका सन्धि-काल मे होना प्रमाणित है। विद्यापति की यह परम्परा आगे सूर और रीति-कवियो मे भी चली। इसकी धारा अन्तस्तल मे चलती ही रही है। यह विद्यापति पर जयदेव का व्यक्तिगत प्रभाव-मात्र का परिणाम नही था। यह तो संस्कृत-काव्य की एक विशेष धारा ही भाषा मे आ गई थी। हाँ, तो कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-भाषा विकास की दृष्टि मे सस्कृत से कई विकास अवस्थाओ के द्वारा दूर होते हुए भी साहित्यिक परम्पराओ को ग्रहण करने मे अत्यन्त सन्निकट रही है। उसकी रीति-परम्परा अपभ्रंश-प्राकृत आदि के मार्गों को पार करती हुई इतनी नही आई, जितनी सीधी सस्कृत से आई। सस्कृत-समीक्षा का विकास हिन्दी के रीति-काल तक पहुँच जाता है, पण्डितराज हिन्दी रीतिकाल के सम सामयिक है, पर दोनो के चिन्तन-स्तर मे बहुत ही अन्तर है। दूसरे, भाषा के इतने विकास के बाद भी विद्वत्समाज मे सस्कृत का ही प्रचार अधिक था; अब भी है और भविष्य मे भी यही सभावना है। लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण विद्वत्समाज ही करता है। हिन्दी मे भी पहले-पहल उन्ही व्यक्तियो ने लक्षण-ग्रन्थ लिखे है जिन्हें सस्कृत का गम्भीर ज्ञान रहा है। केशव के घर के दास भी सस्कृत बोलते थे। इसलिए यह स्वाभाविक था कि आचार्य संस्कृत की शैलियो का ही अनुकरण करते और अपने विषय-प्रतिपादन के लिए संस्कृत के ग्रन्थो को ही उपजीव्य बनाते, उन्होने ऐसा किया भी। दूसरे समीक्षा-शास्त्र अपभ्रश भाषाओ में इतना विकसित भी नहीं हो पाया। उन भाषाओ ने भारतीय समीक्षा-पद्धति के विकास मे सहयोग तो अवश्य दिया, लेकिन बहुत कम। इस क्षेत्र में भी सस्कृत की निधि ही अमूल्य है। इसमे भी भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली यही भाषा है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थो की परम्परा सीधी

सस्कृत के अनुकरण से आई और यह अनुकरण भी विशेषत: पतन-काल की शैली का ही हुआ। ऐसा प्राय. सभी भाषाओ के साहित्य में होता है, समृद्ध साहित्य की भाषा ही सबसे अधिक प्रभावित करती है। बगला का प्रभाव हिन्दी पर अधिक है, बिहारी का बहुत कम। अग्रेजी ने भी साहित्य और समीक्षा की परम्परा ग्रीक, लैटिन आदि से ली है, कैल्टिक से नही।

पालि, अपभ्रश आदि भाषाएं कई शताब्दियों तक देश के जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा रही है। उनमे साहित्य-सृजन भी पर्याप्त मात्रा मे हुआ है, उनके साहित्य की प्रौढता, सौष्ठव और लोकप्रियता इसीसे सिद्ध है कि सस्कृत के अनेक आचार्यों ने अपने लक्षण-ग्रन्थो मे उनकी गाथाओ और पद्यो का उपयोग किया है। उसमे से अनेक उत्तम काव्य के उदाहरण माने गए है। इतनी साहित्यिक प्रौढता होने पर भी यह कहना बहुत कठिन है कि ये भाषाए कभी जन-साधारण की शिक्षा का माध्यम रही है या नही। इनमें प्रधानत: धर्म-ग्रन्थो का ही प्रणयन होता था। ये धर्म-प्रचार का साधन रही है। कलात्मक मनोरजन बौद्ध दृष्टि से तो वर्जित ही था। सभवत: पालि मे इसी कारण से कविता, नाटक आदि का अपेक्षाकृत अभाव रहा है। यही अपभ्रंश के सम्बन्ध मे भी सत्य हो सकता है। अपभ्रश का सस्कृत के नाटककार उपयोग अवश्य करते रहे है। इन्ही सब कारणो से इन भाषाओ मे अलकार-शास्त्र के प्रणयन की आवश्यकता नही हुई होगी। आज भी हमारी विभाषाओ का साहित्य कई दृष्टियो से समृद्ध कहा जा सकता है, पर उनमे भी अलकार-ग्रन्थो के प्रणयन की आवश्यकता नही हुई है। इन विभाषाओ के साहित्यकार एव कवि भी काव्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए हिन्दी, सस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा के मुखापेक्षी है। सम्भवत: यही अवस्था इन भाषाओ की भी रही है। इन भाषाओ मे अलकार-शास्त्र के विशद और मौलिक विवेचन का तो कोई प्रमाण नही मिलता। पर फिर भी इसका नितान्त अभाव भी नही रहा है। पालि और अपभ्रश मे ऐसे एक-आध ग्रन्थ रहे है, ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। इन ग्रन्थो मे सस्कृत के लक्षण-ग्रन्थो का अनुकरण-मात्र था। कही-कही कुछ साधारण भेद भी रहा है, पर कोई विशेष महत्वपूर्ण नही है। अपभ्रश ने इस विवेचन मे बहुत साधारण-सा सहयोग भी दिया है। शान्त रस के स्थायी भाव का विवेचन अपभ्रश के 'अनुयोगदारसुत' मे मिलता है।[1] इस पर जैन-

१. निद्दोसमणसमाहाणसंभवो जो पसंतभावेण।
अविकारलक्खणो सो रसो पसततोत्ति णायव्वो॥
सब्भावनिव्विगारं उवसतयसतसोमदिट्ठीअम्।
ही जेह मुनिणो सोहइ मुहकमल पीवरसिरीअम्॥

धर्म के सिद्धान्तों की छाप भी स्पष्ट है। इस विवेचन की साधारण मौलिकता की एक कारण धार्मिक मान्यताएँ भी है। लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र की विकास-परम्परा मे उन भाषाओ ने महत्वपूर्ण कार्य नही किया है। इनकी कोई स्थायी और मौलिक देन नही है। हिन्दी-भाषा ने अपने रीति-ग्रन्थो मे इनसे कुछ भी ग्रहण नही किया है। इनका हिन्दी-रीति-ग्रथो से सीधा सम्बन्ध न होने के कारण इन भाषाओ के काव्य-शास्त्र के निरूपण का इतना-सा परिचय देना ही पर्याप्त है।

मध्यकालीन हिन्दी मे रीति शब्द का अर्थ काव्य-रचना के नियम और सिद्धान्त रहा है। सस्कृत की वैदर्भी, गौडी आदि रीतियो के अर्थ मे भी आज यह शब्द प्रयुक्त होता है। उस समय भी होता था, पर उस समय यह शब्द विशेषत. प्रथम अर्थ मे रूढ हो गया था।[2] रीति काल के कवियो ने इसका यही अर्थ लिया है। हिन्दी के इस काव्य का नामकरण भी इसी विशेष अर्थ के कारण हुआ है। इस काल मे लक्षण ग्रन्थ अधिक लिखे गए, इसलिए ऐतिहासिको ने इसी विशिष्ट नाम से इस काल का अभिहित किया है। प्रत्येक भाषा मे जब लक्ष्य ग्रन्थ का बाहुल्य हो जाता है और भाषा मे सूक्ष्म विवेचन के उपयुक्त पर्याप्त प्रौढता आ जाती है तभी उसमे लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण होता है। हिन्दी भी रीति-परम्परा के पूर्व ही पर्याप्त प्रौढ़ हो चुकी थी। अनेको कवियो द्वारा परिमार्जित होकर उसने अपना एक साहित्यिक रूप निश्चित कर लिया था। उस समय तक विद्यापति ठाकुर की सरस पदावली, चन्द के ओजस्वी कवित्तो, जायसी की प्रेमगाथाओ, कबीर की रहस्यमयी वाणी, तुलसी के भक्तिपूर्ण अनुपम उद्गारो और सुस्निग्ध पीयूष-धारा से अभिसिचित करने वाले सूर के पदो मे हिन्दी की साहित्य-निधि मे अतुलनीय वृद्धि हो चुकी थी। अब हिन्दी-भाषा-भाषी के पास अनेको अमूल्य रत्न थे, जिनकी वह परीक्षा करके उनमे स्वर्गीय आभा देखकर आह्लादित हो सकता था। भाषा भी अत्यन्त प्रौढ और सबल हो गई थी। मुसलमानो के अत्याचारो का भी प्राय. अभाव-सा ही हो गया था।

(राघवन—The Number of Rasas से उद्धृत)

२. काव्य की रीति लिखी सुकवीन सों,
देखी सुनी बहु लोक की बाते

दास—'काव्य-निर्णय'

× × ×

कवित्त-रीति कछ कहत हूँ
व्यग अर्थ चित लाय

प्रतापसाहि—'व्यगार्थ कौमुदी'

वे भी शान्ति पूर्वक राज्य-वैभव का उपभोग करना चाहते थे, इसलिए धीरे-धीरे विलासी हो गए थे। विलासिता की एक धारा हिन्दी-क्षेत्र मे सर्वव्यापी-सी हो गई थी। यह शान्ति-काल हिन्दी-कलाकारो के लिए अपनी निधि के परीक्षण का काल सिद्ध हुआ। उन्हें इस कार्य के लिए सिद्धान्तो और मानदण्डो का अभाव-सा प्रतीत होने लगा था। वे कवि-कर्म का विधान तैयार करना चाहते थे। उनके सामने सस्कृत-समीक्षा की अपार रत्न-राशि थी। ऐसी अवस्था मे यह स्वाभाविक ही था कि उनका ध्यान उस राशि की ओर जाता। उन्होने उस रत्न-राशि मे से कुछ थोडा-सा उधार ले लिया था। उस रत्न-भडार का द्वार सबके लिए उन्मुक्त था, पर हिन्दी का रीतिकार उनमे से अमूल्य रत्न नही ले पाया। उसने तो अपने लिए साधारण कोटि के जवाहिरात ही चुने। स्वर्गीय आभा से देदीप्यमान हीरो ने उनकी आँखों मे चकाचौध उत्पन्न कर दी थी। उस तेज को उनकी क्षीण आँखें सहन नही कर सकी। हिन्दी का रीतिकार विशेषत जयदेव और भानुदत्त के मार्ग पर ही चल सका, मम्मट आदि के मार्ग पर नही। कही अगर गया भी तो थोडी दूर जाकर लौट आया। आगे बढने का सभवत. साहस नही था। उसके पास इतने लम्बे मार्ग के उपयुक्त पाथेय भी नही था। हिन्दी के रीतिकार ने अपने ही साहित्य का विश्लेषण करके अपने लक्ष्य ग्रन्थो का अध्ययन करके लक्षण-ग्रन्थो का प्रणयन बहुत कम किया है। उनके आधारभूत मौलिक सिद्धान्तो की उद्भावना प्राय नही के बराबर हुई। उन्होने कवि-रीति के अभाव की पूर्ति सस्कृत-साहित्य के अलकार-ग्रन्थो के पतन-काल की परम्परा का अनुकरण करके ही की है। विलासिता और बुद्धि-शैथिल्य के काल मे यही सभव भी था। रीति-निरूपण भी एक प्रकार से मनो-विनोद भी था।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, हिन्दी के रीतिकारो ने सस्कृत-ग्रन्थो का अनुकरण किया है। वे उस अनुकरण मे भी विशेष सफल नही हुए, इसलिए वे विषय का गम्भीर विवेचन नही कर सके। इसके कई कारण थे। पहले तो हिन्दी मे गद्य इतना विकसित नही था जिसमे इतना सूक्ष्म विवेचन हो पाता। दूसरे इस काल मे कवि और आचार्य दोनो बनने का मोह उनसे छूटता नही था। इन रीतिकारो मे बहुत कम ऐसे व्यक्ति थे जिनमे आचार्यत्व के उपयुक्त सूक्ष्म विवेचन की क्षमता थी। विशेषत. इनमे कवि ही अधिक थे। लेकिन समय के प्रवाह के कारण इन्हें तो आचार्यत्व का बाना पहनना पडा। उससे वे आचार्य तो हो नही सके, उनके काव्य-सृजन मे भी बाधा ही पडी। अनेको रीतिकार यदि केवल काव्य-सृजन मे ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करते तो साहित्य का उनसे अधिक उपकार होता। भूषण और मतिराम-जैसे व्यक्ति स्वभावत: कवि ही थे। उन पर अगर समय का प्रभाव आचार्यत्व का बोझ न लादता तो उनके कवि का अधिक स्वच्छन्द विकास होता। दास, कुलपति, केशव-जैसे कतिपय व्यक्तियो को

छोडकर, जिनमें प्राचीन आचार्यों की-सी सूक्ष्म विवेचन और तर्कपूर्ण शैली के दर्शन होते है, शेष सभी रीतिकार साधारण कोटि के है। उन्होने विषय का गम्भीर अध्ययन भी नही किया था। उनके लक्षण प्राय: अधूरे और अपरिपक्व अवस्था के द्योतक हैं। शुक्ल जी के शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने मे असमर्थ है। 'देव'-जैसे कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियो मे कवि और आचार्य दोनो का सुन्दर सामजस्य भी मिलता है, पर ऐसे व्यक्ति बहुत नहीं हुए। फिर सूक्ष्म विवेचन, तर्कपूर्ण खण्डन और मौलिक उद्भावनाओ की कमी तो इस काल की प्रधान विशेषतायें कही जा सकती है। पद्य मे रचना करने के कारण प्रौढ विवेचन सभव भी नही था। फिर भी अगर गद्य का सम्यक् विकास भी हो जाता तब भी इस काल के रीतिकारो मे आचार्यत्व के उपयुक्त प्रतिभा का विकास नहीं हो पाया था। वे सस्कृत की अमूल्य निधि का तो पूरा उपयोग कर ही नही पाये थे, साथ ही वे हिन्दी की प्रकृति का भी ध्यान नही रख सके। इसीलिए अनेको स्थानो पर वे सस्कृत का अनुसधानुकरण कर गए है और हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध अलकारो का भी विवेचन हो गया है। इसमे सस्कृत की तरह रस, अलकार, वक्रोक्ति ध्वनि आदि के सम्प्रदाय नही बन सके। ध्वनि और शब्द-शक्ति पर लिखने वाले आचार्यों का तो प्राय: अभाव-सा ही रहा। अलकार और रस पर ही अधिकाश व्यक्तियो ने लेखनी चलाई है। पर रस के क्षेत्र मे तो वे शृङ्गार तक ही सीमित हो गये है। अलकारो का स्थान अथवा अलकारो की आधार-भूमि, उनका अलकारत्व, रस की दृष्टि से उनका औचित्य आदि सूक्ष्म विषयों के विवेचन का प्राय: अभाव ही है। काव्य मे साधारणीकरण, रस-निष्पत्ति के विभिन्न सम्प्रदाय आदि पर तो अधिकांश आचार्यो ने लेखनी ही नही उठाई है। काव्य के दृश्य-भेद के विवेचन का भी अभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी के रीति-काल मे सस्कृत के अनुरूप प्रौढता नही आ पाई, उन्होने विषय की बाह्य-सीमाओ का ही स्पर्श किया है। उसके अन्तरतम की गूढता मे उनका प्रवेश नही है। इसका यह तात्पर्य नही है कि सस्कृत समीक्षा-शास्त्र के विभिन्न पक्षो का नितान्त अभाव ही है। अपवाद स्वरूप ऐसे आचार्य भी हुए है जिन्होने मम्मट की प्रणाली को अपनाया है। एक-आध पक्तियों द्वारा सस्कृत-समीक्षा के अधिकाश पक्षो का निर्देश हो गया है। यह हम आगे इसी अध्याय मे देखेगे। वास्तव मे अभाव तो सूक्ष्म विश्लेषण और मौलिक प्रतिभा का है। यह बात सारे रीति-काल के लिये सामान्यतया कही जा सकती है। इतना भी हमें इसलिए कहना पडता है कि हिन्दी-रीतिकारो के समक्ष सस्कृत की अमूल्य रत्न-राशि थी, उसका पूरा उपभोग उनसे नही हो पाया। उन रत्नो के उज्जवल प्रकाश में उनके कार्यों का झीना प्रकाश धूमिल सा लगता है। अन्यथा उनका प्रकाश स्तुत्य है। हम यह देख चुके है कि प्राकृत आदि भाषाओं मे भी अलंकार-शास्त्र पर कुछ साहित्य

रचा गया था। जब धीरे-धीरे संस्कृत बहुत कम बोधगम्य रह गई तो कवियों की भाषा मे रीति-ग्रन्थो की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इसी के फलस्वरूप लोक-भाषाओ मे भी इस शास्त्र का सृजन होने लगा। इस सृजन का स्वरूप तो प्रायः सस्कृत के ग्रन्थो का अनुवाद अथवा अनुकरण-मात्र ही रहा। इसमें मौलिकता का अभाव ही था। हिन्दी मे रीति-ग्रन्थो की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से ही मिलती है पर उसकी अक्षुण्ण धारा प्रवाहित नही रह सकी। पुष्य नामक किसी कवि ने अलकार-शास्त्र पर भाषा मे एक ग्रन्थ का प्रणयन किया था—ऐसी कुछ विद्वानों की धारणा है। वह ग्रन्थ तो अभी तक कही उपलब्ध हुआ नही है, शुक्ल जी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे इसके सम्बन्ध में लिखते है. "जनश्रुति सम्वत् ७७० मे भोज के पूर्व पुरुष राजा भान के सभासद् पुष्य नामक किसी बन्दीजन का दोहो मे एक अलकार-ग्रन्थ लिखना बताते है, पर इसका कही कोई प्रमाण उपलब्ध नही हैं।" 'शिवसिह सरोज' मे भी इस ग्रन्थ का उल्लेख है। शिवसिह सरोज के आधार पर ही अन्य लेखक भी पुष्य का अलकार-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखना मानते है। पुष्य का राजा भोज से पहले होना माना गया है, अतः यह स्पष्ट है कि उस समय तक हिन्दी का अपभ्रश से पूर्णतः विकास नही हो पाया था। पुरानी हिन्दी के नाम से हिन्दी के साहित्यिक रूप के स्पष्ट दर्शन शुक्ल जी के मत से सवत् १०५० के लगभग ही होते है, इसलिए पुष्य का समय तो प्राय. सन्धि-काल कहा जा सकता है। तब प्राकृताभास हिन्दी का जन्म हो रहा था और यह अपभ्रश से अपना पृथक् अस्तित्व स्थिर कर रही थी। इस प्रकार यदि पुष्य नामक कवि ने कोई अलकार-ग्रन्थ लिखा भी हो तो उससे तो केवल इतना ही सिद्ध होता है कि रीति-ग्रन्थो की परम्परा के दर्शन हिन्दी के उद्भव-काल मे हो जाते है। सभवत. उस समय अपभ्रंश मे भी अलकार-ग्रन्थो का प्रणयन होता रहा हो, जिससे पुष्य को प्रेरणा मिली। पर हिन्दी को अपने उद्भव-काल से आगे कई शताब्दियो तक अनेकों विदेशी आक्रमणों, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक हलचलो का सामना करना पडा है। देश की इस अशान्त अवस्था मे रहकर यह कभी सभव नही था कि अलकार-शास्त्र जैसे गम्भीर विषय की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट होता। उस समय या तो विदेशी आक्रान्ताओ का विरोध करने वाले राजपूतो के यशोगान अथवा त्रस्त और भयभीत जनता मे धैर्य, उत्साह और वीरता का सचार करने का ही उपयुक्त अवसर था। बाद मे मुसलमानो के यहाँ राज्य स्थापित कर लेने पर दो जातियो मे पारस्परिक मैत्री और प्रेम-स्थापन की चेष्टा भी दोनो जातियो के कवियो ने की। निरवलम्ब हिन्दू जनता को राम और कृष्ण का आधार देकर अधीर जनता मे पुन आत्म-विश्वास उत्पन्न करने की भी चेष्टा की गई। लेकिन सूर और तुलसी के पूर्व तक न देश में पर्याप्त शान्ति स्थापित हो पाई थी और न हिन्दी का साहित्य ही

इतना प्रौढ हो पाया था कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता का ध्यान रीति-ग्रन्थों की ओर जाता। इसलिए पुष्य नामक किसी भाट ने अलकार-शास्त्र पर अगर कोई ग्रन्थ लिखा भी होगा तो यह परम्परा हिन्दी-साहित्य मे पूर्ण रूप से चल नही सकी और यही कारण है कि प्राय. आठ-नौ शताब्दी तक इस विषय पर ग्रन्थ रचना का कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नही होता है। किसी-किसी कवि ने अपने काव्य-ग्रन्थो मे ही अपने अलकार-शास्त्र के ज्ञान का परिचय कही-कही अवश्य दे दिया है। परिचय का आभास भी अत्यन्त स्पष्ट रूप मे तो सूर और तुलसी में ही मिलता है, जो विक्रम की १७ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हुए है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीति-ग्रन्थों की परम्परा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव-काल से लेकर १६ वी शताब्दी तक का काल अन्धकार-युग कहा जा सकता है। १६ वी शताब्दी के अन्त मे अथवा १७ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे एक-दो ग्रन्थों का प्रमाण मिलता है। पर वास्तविक अक्षुण्ण परम्परा तो इस शताब्दी के अन्त मे प्रारम्भ हुई थी जो किसी-न-किसी रूप में अब तक चल रही है। इस प्रकार हम हिन्दी मे रीति-ग्रन्थो की व्यक्त परम्परा को अपेक्षा कृत अत्यन्त अर्वाचीन कह सकते है। पर अन्तस्तल मे यह प्रवाह बहता ही रहा है। कवि लोग भी अपने ग्रन्थो मे इसका आभास देते रहे है। यद्यपि इसको उत्तराधिकार मे सस्कृत-साहित्य की अनेकों शताब्दियो ही चिन्तन-सम्पत्ति मिली है, पर इसका अपना मौलिक कार्य तो केवल पिछली दो शताब्दियों का ही कहा जा सकता है। इस काल मे भी इस अन्तिम शताब्दी का उत्तरार्ध की समीक्षा-शास्त्र के विकास का वास्तविक स्वर्ण-युग कहा जा सकता है, पिछली डेढ शताब्दी तो अधूरा और अप्रौढ अनुकरण का युग ही रहा है।

प्रत्येक चिन्तन-धारा पुष्ट, निश्चित और पृथक् स्वरूप धारण करने के पूर्व बहुत दिनो तक मानव-मस्तिष्क मे पनपती रहती है। उसकी मौखिक परम्परा चलती रहती है; साहित्य के अन्य स्वरूपो के साथ मिलकर विकसित और प्रौढ होती रहती है। यही बात साहित्य की स्वरूप-सम्बन्धी धारणाओं तथा काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में कही जा सकती है। हिन्दी को यह परम्परा सस्कृत से मिली है, इसलिए इसको बहुत दिन तक मौखिक अथवा अन्य स्वरूपो मे विकसित होने की आवश्यकता नही रही। फिर भी हिन्दी मे रीति की निश्चित परम्परा के प्रारम्भ होने के पूर्व ही काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी चेतना जागृत हो गई थी। प्रत्येक भाषा मे इस परम्परा का प्रारम्भिक रूप कवियों मे ही विकसित होता है। संस्कृत के रस, ध्वनि, वासना-रूप स्थायी भाव, सहृदयता आदि अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो के बीज वाल्मीकि और कालिदास मे उपलब्ध होते है। किसी भी भाषा मे साहित्य-शास्त्र के विकास में कवियों के परोक्ष सहयोग का महत्व अस्वीकार नही किया जा सकता। प्रत्येक कवि की साहित्यिक धारणाएँ होती हैं। जिनमे ये धारणाएँ सुस्पष्ट और प्रौढ़ हो जाती

है, वे स्वयं भी अपनी कविता अथवा काव्य-सामान्य के आलोचक बन जाते है। उनमें काव्य-शास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन भी मिलते है। उनका यह आलोचक-रूप कभी कभी अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। उनकी सारी कविता से उनकी साहित्यिक धारणाओं का अनुमान भी लगाया जा सकता है। लेकिन कभी-कभी आलोचक इस कार्य को बाल की खाल खीचने की प्रवृत्ति द्वारा उपहासास्पद बना देता है। साहित्य सम्बन्धी धारणा कवियो के सृजन का स्वरूप निर्धारण करने की एक महत्वपूर्ण शक्ति है। साहित्य-सम्बन्धी यह धारणा युग की भी वस्तु होती है। यह युग के सम्पूर्ण साहित्य स्वरूप की नियामक शक्ति है। दो युगो के साहित्य जिन कारणो से भिन्न होते हैं, उनमे से एक यह भी है। आगे इस पर इसी निबन्ध में कुछ विशदता से विचार किया गया है। सारे हिन्दी-साहित्य का इस दृष्टि से बड़ा ही मनोरंजक और उपयोगी अध्ययन हो सकता है। यहाँ पर विषयान्तर होने से हम लोभ सवरण कर रहे हैं।

हिन्दी में रीति-परम्परा के निश्चित प्रारम्भ के पूर्व कवियों और पाठकों में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ धारणाएं अवश्य रही है। उन्ही के अनुकूल कवियों में समीक्षात्मक दृष्टिकोण जाग्रत हो गया था। साहित्य में नायिका-भेद अथवा अन्य ऐसे विषयो का अवलम्बन, जिसका रसास्वाद काम-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के तत्वो से अपरिचित रहने पर नही हो पाता है, काव्य-शास्त्र के ज्ञान को साहित्य के सृजन और अनुशीलन की मूल प्रेरणा मानने के लिए बाध्य करता है। इससे यह भी अनुमान होता है कि काव्य-शास्त्र की ओर कवियो और पाठकों का ध्यान आकृष्ट हो गया था। काव्य-सम्बन्धी एक विशेष रुचि युग-व्यापी थी। कविता जब कवि के हृदय की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति होती है, उस समय भावक काव्य-शास्त्र से अपरिचित रहने पर भी रसास्वाद करता है। पर जब उसमें बाह्य-चमत्कार, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि का अधिक प्रयोग होने लगता है तो उसका कला-पक्ष अधिक प्रौढ हो जाता है, उस समय काव्य के आस्वाद के लिए भी काव्य-शास्त्र के नियमों के ज्ञान की आवश्यकता हो जाती है। ऐसे युग में काव्य-शास्त्र की चेतना प्रबल रहती है। हिन्दी जिन परिस्थितियो में अपभ्रंश से पृथक हुई है, उसे जो भी साहित्य-प्रेरणाएँ पैतृक सम्पत्ति मे मिली है, वे एक प्रकार से रीतिकालीन ही हैं। उस समय संस्कृत और अपभ्रंश में भी काव्य मनोरजन की सामग्री ही था। उसका कला-पक्ष ही अधिक प्रौढ़ था। उसमे बुद्धि-व्यापार की पर्याप्त आवश्यकता थी। काव्य की बारीकियों के लिए काव्य-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक-सा हो गया था। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य ने तो रीति-प्रणयन के उपयुक्त परिस्थितियों में ही जन्म लिया था। देश की परिस्थितियों ने उसकी धारा को वीरता और भक्ति के पथ का अवलम्बन करने के लिए बाध्य किया है।

हिन्दी के कुछ कवियो ने अपने काव्य-ग्रन्थों मे काव्य-शास्त्र के ज्ञान का स्पष्ट परिचय दिया है। उससे तत्कालीन चिन्तन-धारा का अनुमान होता है, जिसका विकसित रूप ही हिन्दी का रीति-काल है, यहा पर सभी प्रमुख कवियो की साहित्यिक धारणाओ पर विचार करने का अवसर नही है, लेकिन तुलसी और जायसी-जैसे प्रमुख कवियो की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओ पर विचार करना बहुत आवश्यक है। तुलसी ने काव्य-शास्त्र के प्रौढ़ सैद्धान्तिक ज्ञान का परिचय दिया है। इससे उनकी आलोचना-क्षमता स्पष्ट है। जायसी ने भी अपने काव्य मे कही-कही अपनी भावक-शक्ति का परिचय दिया है। काव्य के अन्त मे अपनी कथा के जिस रूपक का निर्देश जायसी ने किया है, वह भी एक प्रकार से उनके अपने ही काव्य की समीक्षा है। उसके रहस्यवादी स्वरूप को स्पष्ट करने की कुन्जी है। इसमें काव्य का आलोचक की तरह अनुशीलन और अनुशीलन का पथ-निर्देश दोनो है। इसके अतिरिक्त जायसी ने जहाँ सहृदय के स्वरूप का निर्देश किया है, वह भी उनके आलोचक के रूप को स्पष्ट कर रहा है। उन्होने 'अरसिक' की 'दादुर' से तथा 'रसिक' की 'भवर' और 'चाटा' से तुलना की है। इसीसे उनके विषय-ज्ञान की स्पष्टता और विवेचन की प्रौढता स्पष्ट है।

कवि विलास रस कंवला पूरी, दूरी सो नियरि नियरि सो दूरी।
नियरे दूर, फूल जस काटा, दूरि सो नियरे जस गुड चाँटा।
भंवर आह बन खड सन, लेइ कंवल के वास।
दादुर वास न पावई, मलेहि जो आछे पास ॥[1]

तुलसी की कविता अलंकार-शास्त्र के ज्ञान का स्पष्ट परिचय देती है। प्रसंगवश उन्होने जो सैद्धान्तिक विवेचन किया है, वह अत्यन्त प्रौढ है। इन उक्तियों से यह स्पष्ट है कि कवि सिद्धान्त के गूढ रहस्यो का साक्षात्कार किये हुए हैं। संस्कृत-साहित्य के प्रौढ विद्वानो के लिए यह स्वाभाविक भी है। पडितराज-जैसे प्रौढ विद्वान् उसी काल मे इतनी उत्कृष्ट रचना कर सकते है तो हिन्दी कवि के लिए अलंकार-शास्त्र के गम्भीर ज्ञान में क्या बाधा हो सकती है। 'रामचरितमानस' के प्रारम्भ मे ही कवि ने अपनी रचना के प्रयोजन को स्पष्ट किया है। इसमे काव्य के "शिवेतरक्षतये" और "सद्यः परनिर्वृत्तये" दोनों प्रयोजनो का सुन्दर सामञ्जस्य है। "स्वान्तः सुखाय" होते हुए भी यह ग्रन्थ "नाना-प्राण-निगमागम-सम्मत"[2] है। इस प्रकार कवि ने अपने आनन्द के लिए ही इसे लिखा है पर इसमें सर्वसाधारण के द्वारा तादात्म्य की क्षमता का सिद्धान्त भी है। सर्व साधारण के उनके द्वारा कल्याण की

---

१. पद्मावत।

२. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥

भावना भी है। उनकी "रामादिवत् प्रवर्त्तितव्यम्" की कामना भी इसमें सन्निहित है।[1] तुलसी युग-चेतना का आदर करते हैं और भाषा में अपने ग्रन्थ का प्रणयन करते है। कवि अपनी रुचि और भावना का सर्वसामान्य मे तादात्म्य स्थापित करते हुए भी युग का यथार्थ द्रष्टा मात्र नही, अपितु युग-निर्माता है। काव्य सर्व-साधारण के लिए है, पर उसकी उत्कृष्टता के परीक्षक केवल विद्वान सहृदय ही हो सकते हैं। तुलसीदास जी काव्य मे कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के महत्व को स्पष्टत: समझा रहे है। वे काव्य की रसानुभूति का पूर्ण अधिकारी भावक को ही मानते हैं। काव्य के पूर्ण सौन्दर्य के दर्शन भावक को ही होते है। इस सिद्धान्त का उन्होंने बहुत ही स्पष्टता पूर्वक प्रतिपादन किया है। इतने सुन्दर उदाहरण का प्रयोग है कि वर्ण्य-विषय पाठक को पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है।[2] कवि को तो केवल रस के छीटो का अनुभव होता है, रस की सुधा-धारा से तो सहृदय ही अभिषिञ्चित हो सकता है। इसी बात को कवि ने गज-मुक्ता और मणिके उदाहरणो द्वारा कितना स्पष्ट कर दिया है। मुक्ता और मणि मे अपना एक विशिष्ट सौदर्य है, वे प्रत्येक स्थान पर सुन्दर ही है पर विशेष स्थानो पर उनका सौदर्य और भी बढ जाता है। मणि सर्प मे उतनी सुन्दर नही प्रतीत होती, जितनी तरुणा के तन पर, बस काव्यानन्द के बारे में भी यही सत्य है। वह कवि की अपेक्षा भावक के लिये अधिक स्पष्ट एवं मधुर हो जाता है। तुलसी ने भाव, रस, गुण, दोप आदि तत्वो के ज्ञान का भी परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त यह इनकी अनेकता और अनन्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करके काव्य-शास्त्र के अपने गूढ़ ज्ञान की मौलिकता का आभास भी दे रहे हैं।[3] तुलसी ने कविता का छोटा सा लक्षण भी प्रस्तुत किया है। दोषराहित्य तथा गुणालकार सहित शब्दार्थ को काव्य कहा है। इसके लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है मानों तुलसी अर्थ युक्त शब्द को काव्य मानते हैं। इस काव्य लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी मम्मट के काव्य-लक्षण तथा उसकी परम्परा से परिचित हैं, और उसी को काव्य का ठीक लक्षण भी मानते है। इस लक्षण मे शब्द को विशेष्य तथा अर्थ को

---

१. जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो सम बादि बाल कवि करहीं।
कीरति भनति भूति भलि सोई। सुर-सरि सम सब कहं हित होई॥

२. मणि-माणिक मुकता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोहै न तैसी।
वय किसोर तरुणी तन पाई, लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहिं, उपजत अनत अनत छवि लहहिं।

३. भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥
गुननि अलंकारनि सहित, दूषन रहित जो होय।
शब्द अर्थजुत हैं जहां, कवित कहावत सोय॥

विशेषण बना दिया है, ऐसा भी आभास होता है। इससे यह अनुमान होता है कि तुलसी चिन्तन की उस परम्परा से भी परिचित रहे होगे जिसने पण्डितराज को स्पष्टतः 'शब्द' को काव्य मान लेने की प्रेरणा दी है। पर वैसे तुलसी 'शब्दार्थ' साहित्य के समर्थक हैं।

उन्होने शब्द और अर्थ की अभिव्यक्ति तथा सामंजस्य का प्रतिपादन किया है।[1] तुलसी ने काव्य-पुरुष की कल्पना भी की है। वह एक प्रकार से परम्परागत काव्य-पुरुष कल्पना से भिन्न है। कुछ अधिक गंभीर चिंतन से शायद उसमे काव्य तत्वो के नये सामंजस्य का संकेत मिल जाय। तुलसीदास ने पिंगल-ज्ञान का भी परिचय दिया है। उन्हें गुणो के शुभाशुभ फल भी अवगत है। प्रसगानुसार उन्होंने इसकी ओर निर्देश भी किया है। (इसके अतिरिक्त अन्य कवियो के काव्यो से भी यह स्पष्ट होता है कि वे अलकार-शास्त्र के सिद्धान्तो से पूर्णतः परिचित थे।) कवि को विधि से बडा कहना "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू." की प्राचीन उक्ति का स्मरण करा रहा है।[2] तुलसी की काव्य सम्बन्धी धारणा का निष्कर्ष यह है कि महान् कवि का 'स्वान्तः सुखाय' लोक मगल के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इसीसे उसकी अनुभूति सर्व साधारण की अनुभूति बन जाती है। यह रसवादी दृष्टिकोण है व्यक्ति वैचित्र्य एवं चमत्कार-वादी नही। तुलसी की काव्य सम्बन्धी यह धारणा वाल्मीकि की साहित्य सम्बन्धी धारणा की पुनरावृत्ति तथा प्राचीन भारतीय दृष्टि का नवीन रूप पुनरुत्थान है। तुलसी की मान्यतायें भक्ति कालीन साहित्य-दर्शन का बहुत कुछ प्रतिनिधित्व करती हैं। पर यह धारणा रीतिकाल मे नही रही। उसका कवि और पाठक दोनों ही चमत्कार एव व्यक्ति-वैचित्र्य की ओर झुके। ये ही दो तत्व रीतिकाल साहित्य-दर्शन के मूल आधार तत्व रहे। रीतिकाल का वाग्वैचित्र्य सम्पूर्ण युग का स्वर था। उसके पूर्वाभास भक्तिकाल मे दिखाई पड़ने लगे थे। उसके प्रभाव से तुलसी और सूर भी वंचित नही थे। 'बरवै-रामायण' और 'साहित्य-लहरी' इसके प्रमाण है। रीतिकाल का साहित्य एवं साहित्य-दर्शन जीवन को उत्तेजना एवं मनोरंजन देने वाले है। पर भक्तिकाल का साहित्य एवं उसका दर्शन जीवन को चेतना, पोषण, एवं शक्ति प्रदान करने वाला है। वह व्यक्ति और समष्टि दोनों को ही प्रगति के उपयुक्त जीवनी शक्ति प्रदान करता है। शुक्लजी ने तुलसी के साहित्य-

---

१. छन्द चरण भूषण हृदय, करमुख भाव अनुभाव।
चख थाई श्रुति सचरी, काव्य सुअंग सुभाव॥

२. विधि से कवि सब विधि बड़े, या में संशय नाहिं।
षट्रस विधि की सृष्टि में, नौ रस कवितन मांहि।
गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।

दर्शन के इस महत्व को समझा है। उनके साहित्य दर्शन के आधार तत्वों में भक्ति कालीन साहित्य दर्शन सबसे प्रमुख है। इस साहित्य-दर्शन ने आधुनिक साहित्य को जीवन की स्वस्थ प्रेरणा देने की क्षमता प्रदान की है। हिन्दी को साहित्य-दर्शन के निर्माण मे भक्तिकालीन धारणा का महत्वपूर्ण सहयोग होगा। उनके तत्वों के यत्र-तत्र अगुलि-निर्देश इस बात के परिचायक है कि कवि और पाठको में अलंकार-शास्त्र की चर्चा बराबर रहती थी और रीति- काल उसी का प्रौढ़, शृङ्खलापूर्ण और लिखित प्रयास है। साराश यह है कि जब एक विचार-धारा बहुत दिनो तक जनता के अन्तस्थल मे प्रवाहित हो लेती है, उसकी एक मौखिक परम्परा भी कुछ दिन तक चलती रहती है, इस प्रकार उसे कुछ-कुछ निश्चित स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब कही वह साहित्य मे लेखनी और कागज का आश्रय ग्रहण करती है।

पीछे यह सकेत किया जा चुका है कि हिन्दी का जन्म जिन परिस्थितियो में हुआ था, वे रीति-निरूपण के उपयुक्त थी। उस काल के संस्कृत-साहित्य मे यह भी प्रमुख धारा थी। हिन्दी को भी अपनी पूर्ववर्ती भाषाओ से यह परम्परा पैतृक सम्पत्ति के रूप मे उपलब्ध हुई थी। शिवसिह सेगर तथा शुक्लजी ने पुष्य नामक एक रीतिकार के होने का उल्लेख किया है। उसकी कृति अब उपलब्ध नही है, अतः उसके सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता है। फिर भी अगर यह मान लिया जाय कि ऐसा कोई व्यक्ति हुआ है तो यह भी मानना पडता है कि हिन्दी के जन्म-काल से ही उसके साहित्य की एक प्रमुख धारा रीति-निरूपण भी थी। इसका एक प्रमाण तुलसी, सूर-जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवियो का 'बरवै रामायण' एवं 'साहित्य-लहरी'-जैसी-कृतियो का सृजन भी है। साहित्यिक महत्व की अपेक्षा इन दोनों कृतियों का रीति-निरूपण-सम्बन्धी महत्व अधिक है। ये कृतिया यह भी प्रमाणित करती है कि परिस्थितियों ने इन कवियों को इस प्रकार की रचना करने के लिए बाध्य कर दिया था। इसके अतिरिक्त रीति-काल के प्रारम्भ होने के बहुत पहले से ही ऐसे आचार्य-कवियो के अस्तित्व के प्रमाण मिलते है जिन्होने अलकार, नायिका-भेद आदि का निरूपण किया है। चिन्तामणि से इस परम्परा का वास्तविक प्रारम्भ तो हमें दो कारणो से मानना पडता है। एक तो उनके पूर्व ऐसी किसी अक्षुण्ण परम्परा के दर्शन नही होते। दूसरे इनके पूर्व के आचार्यों ने सस्कृत-साहित्य के अत्यन्त प्राचीन आचार्यों के विचारो की छाया लेकर ग्रन्थों का सृजन किया। सस्कृत के प्रौढ़ और विकसित अलकार-शास्त्र की अवहेलना की है। विभिन्न आचार्यों ने संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों का आधार लिया। इस प्रकार वे किसी निश्चित परम्परा को जन्म नही दे सके। हिन्दी के अलंकार-शास्त्र के क्षेत्र में मौलिक चिन्तन करने वाली प्रतिभाओं का प्रायः अभाव रहा है। अतः यह संभव नही था कि भामह, उद्भट आदि की परम्परा लेकर उनके लिए वे उसका स्वतन्त्र विकास करते। इसीलिए उनके लिए

अपने साहित्य का अनुशीलन करने के लिए विकसित परम्परा का अपनाना और भी अधिक अपेक्षित था। इन्ही सब कारणों से हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो ने चिन्तामणि को ही प्रथम आचार्य कह दिया है। इस विवेचन से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि हिन्दी में चिन्तामणि से पूर्व भी रीति-निरूपण हुआ है। उसकी अक्षुण्ण परम्परा तो नही रही, पर वह परवर्ती परम्परा का पूर्वाभास अवश्य है और इसने प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूपो मे हिन्दी की परवर्ती रीति-परम्परा को प्रभावित भी किया है।

सं० १५९८ मे कृपाराम ने 'हित-तरंगिणी' नामक एक शृगार रस का ग्रन्थ रचा था। चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृङ्गार-सागर' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। करनेस ने भी, जो अकबर का दरबारी कवि था, 'कर्णभूषण' 'श्रुति भूषण' और 'भूप भूषण' नामक तीन अलकार-ग्रन्थ लिखे है।[1] कृपाराम ने अपनी 'हितत-रगिणी' में एक दोहा लिखा है जिससे यह स्पष्ट होता है कि अलकार-शास्त्र पर ग्रन्थ-रचना की परम्परा उस समय प्रचलित थी और बहुत से कवि विभिन्न छन्दो मे इस शास्त्र पर रचना कर रहे थे।[2] इनके कुछ ही काल उपरान्त केशवदास ने सस्कृत-साहित्य के विभिन्न अगो का पूर्ण परिचय देने वाले दो ग्रन्थ 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नाम से लिखे। इन ग्रन्थों का आधार सस्कृत की अत्यन्त प्राचीन विकास अवस्था के दंडी, उद्भट आदि आलकारिको के विवेचन है। परवर्ती मम्मट प्रवृत्ति आचार्यों के ग्रन्थो का उपयोग केशव ने नही किया गया है। केशव के पश्चात् प्रायः पचास वर्ष बाद चिन्तामणि ने रीति-परम्परा को जन्म दिया। उसके आधार-भूत ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'चन्द्रालोक' थे। हिन्दी-साहित्य में रीति की अक्षुण्ण परम्परा वास्तव में इसी पद्धति पर चली और इसलिए इस परम्परा के प्रथम आचार्य चिन्तामणी कहे जा सकते है। यद्यपि इनके पहले के कवि कृपाराम आदि के ग्रन्थ भी उपलब्ध है। 'हित-तरंगिणी' का रचना-काल संदिग्ध है।[3] उसके काव्यसूचक दोहे में पाठान्तर की कल्पना की गई है। इस पाठान्तर से इस पुस्तक का रचना-काल प्रायः दो शताब्दी बाद का मानना पडता है। अगर पाठान्तर की कल्पना न भी की जाय और मूल दोहे के अनुसार ही इसका रचना-काल मान लिया जाय, तब भी इससे अक्षुण्ण परम्परा नही चली। इसीलिए रीति-परम्परा का प्रारम्भ चिन्तामणि से ही मानना पड़ता है। इनके बाद हिन्दी-साहित्य

---

१. देखिए पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ०२३२।।

२. बरनत कवि शृङ्गार रस छन्द बड़ विस्तारि।
बरणों दोहानि बिच, याते सुघर विचारि।।'हित तरंगिणी'।।

३. देखिए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य'।

में इन रीति-ग्रन्थों की एक बाढ़-सी आ गई थी। प्रायः प्रत्येक कवि आचार्य का भी कार्य करता था। काव्य-सृजन की यह विशेष शैली ही बन गई थी। रीति काल का कवि पहले काव्यांगों का लक्षण देता था और बाद मे स्वरचित कविताओं को उदाहरण-स्वरूप रख देता था। उसके कवि का विकास और उसकी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन इन्ही उदाहरणो मे होता है। रीति काल में प्रबन्ध की धारा के लुप्त हो जाने तथा मुक्तक के विकास का यह भी एक कारण था। कुछ आचार्यों ने अपने काल के अन्य कवियों की कविताओं का भी उदाहरणों में उपयोग किया है। पर ऐसा बहुत कम हो सका है। इस काल में कवि और आचार्य का व्यक्तित्व एक हो गया था। इस कारण से जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आचार्यत्व और कवित्व दोनो के स्वच्छन्द विकास में बाधा रही। फिर भी इस काल में रीति-ग्रन्थों का प्रचुर मात्रा मे प्रणयन हुआ। सस्कृत के अनेको ग्रन्थों की छाया लेकर आचार्य लोग हिन्दी-क्षेत्र मे आये। उन्होंने प्रायः काव्य के सभी अगो पर स्थूल रूप से विचार प्रकट किये। सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र की कई शैलियो का भी अनुकरण हुआ है। कुछ वाद भी प्रचलित हुए, जिन पर हम आगे विचार करेंगे। पर इस सारे विवेचन में प्रायः मौलिकता, गूढ चिन्तन और सूक्ष्म विवेचन का अभाव ही रहा। सस्कृत से अनभिज्ञ कवियो के लिए काव्य-शास्त्र के ज्ञान के लिए साधारण कोटि की सामग्री ही उपस्थित हो सकी। रीतिकाल के अधिकांश रीतिकार कवि ही अधिक थे। वे आचार्यत्व की कोटि में कम ही आ सके। गूढ विवेचन के अभाव का एक प्रबल कारण गद्य की अविकसित अवस्था भी है। उस काल में गद्य-रचना की परम्परा ही न थी।

चिन्तामणि से जो रीति की परम्परा चली थी उसके पूर्व हिन्दी-साहित्य में 'रीति' का क्या स्वरूप था, इस पर पीछे थोडा सकेत किया गया है। यहाँ पर कुछ थोड़ा-सा विस्तार के साथ उस स्वरूप पर विचार कर लें। चिन्तामणि के पूर्व इस क्षेत्र मे बहुत कम कवि आये है। कृपाराम, करनेस, केशव आदि के अतिरिक्त कोई भी रीतिकार आचार्य की कोटि में नही आ सकता। पर फिर भी रीति-ग्रन्थों के प्रणयन की प्रवृत्ति जागृत हो चुकी थी और उसी प्रवृत्ति ने केशव को उत्पन्न किया था। केशव ने काव्यागो के लक्षण देकर उन्हें स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिये है। इसलिए उन्हे हमे मूलतः रीतिकार ही मानना पड़ता है। वैसे तो उस काल के तुलसीदास, सूरदास, रहीम आदि ने भी इस क्षेत्र मे पदार्पण किया है, यह हम देख चुके हैं। इनकी प्रतिभा के वास्तविक दर्शन सृजन के क्षेत्र में होते हैं। अलंकरा निरूपण का कार्य तो उनके लिए गौण ही था। पर केशव की वास्तविक प्रतिभा उनके आचार्य रूप मे ही प्रस्फुटित हुई है। उनके काव्य-सौन्दर्य का आधार भी चमत्कार एवं विद्वता ही है। इसके मूल में भी उनका आचार्यत्व ही है। अब्दुर्रहीम

खानखाना ने 'बरवै' छन्दो मे 'नायिका-भेद' लिखा है। तुलसीदास ने भी अपने इस मित्र के आग्रह पर अलकारों के उदाहरण के लिए 'बरवै रामायण' बनाई है। बरवै छन्दों मे एक बहुत छोटा-सा अवधी भाषा का ग्रन्थ है। इसमें भी जायसी की तरह ठेठ अवधी माधुर्य है। 'रामचरितमानस' के बाद काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नही रह जाता। इस ग्रन्थ में भाव-गत सौन्दर्य की अपेक्षा कवि का अलंकार-ज्ञान तथा उनका सुन्दर प्रयोग ही अधिक दर्शनीय है। इसमें उनके कलापक्ष की चमत्कारी मनोवृत्ति ही पर विशेष ध्यान जाता है। जैसा शुक्ल जी मानते है कि यह ग्रन्थ रहीम के आग्रह पर बनाया गया है।[1] यही कारण विशेष उचित जान पडता है कि अलकारो के उदाहरण प्रस्तुत करने की इच्छा से ही बनाया गया है। इसमे अलकारो का कोई विशेष क्रम नही प्रतीत होता है। एक अलकार कई छन्दो मे है। इसमे शब्दालकार और अर्थालकार दोनो ही का प्रयोग हुआ है। निदर्शना, व्यतिरेक, स्वभावोक्ति आदि कई अलकार तो कई छन्दों मे है। विशेष क्रम का अभाव तो है, पर कवि ने प्रचलित मुख्य सभी अलकारों का समावेश अपने इस ग्रन्थ में कर दिया है। उपमा, रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, प्रतीप, देहरी-दीपक, उन्मीलित, सूक्ष्म, उत्प्रेक्षा, व्याजस्तुति अपन्हुति, विभावना, तुल्ययोगिता, श्लेष, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास आदि प्राय सभी प्रचलित अलकार आ गए है। अलकारो के इन उदाहरणो से कवि के अलकार-ज्ञान की गम्भीरता और प्रौढ़ता का स्पष्ट पता चल जाता है। तुलसीदास ने अपने अलकार-शास्त्र के ज्ञान की गम्भीरता अन्यत्र भी कई स्थानो पर प्रकट की है। यह पहले देख चुके है। कवि का क्षेत्र व्यापक होता है। जीवन और ज्ञान का कोई ऐसा क्षेत्र नही जहां पर वह स्वच्छन्दता पूर्वक नही विचरता हो, वह अपने प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का उपयोग कर सकता है। कवि अपने ढंग से काव्य-रीति के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते आये हैं। पहले हम कालिदास, वाल्मीकि, बाण आदि कवियों के उदाहरण देख चुके है। ऐसे उदाहरणों का अभाव किसी भी देश और काल में नही है, क्योकि यह कवि की सहज प्रकृति के अनुकूल है।

केशव को हम हिन्दी-साहित्य का सर्वप्रथम आचार्य कह सकते है। उनसे पहले कुछ कवियों ने रीति-ग्रन्थों की ओर हाथ तो बढाया, पर वे आचार्य की कोटि में न आ सके। कुछ व्यक्तियों में लक्षणों का नितान्त अभाव ही रहा, वे केवल उदाहरण भर ही दे सके। कुछ कवियो ने लक्षण और उदाहरण दोनो ही दिये, पर संस्कृत का ज्ञान न होने के कारण उनका निरूपण अत्यन्त साधारण कोटि का ही रह गया। 'पुष्य', 'गोपा' आदि कतिपय कवियों की रचना आज उपलब्ध ही नही है, इसलिए

१. देखिए पं० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १६२।

उनके आचार्यत्व के सम्बन्ध मे तो एक शब्द भी नही कहा जा सकता । कृपाराम और करनेस की रचनाएं प्राथमिक प्रयास है और नायिका-भेद के ग्रन्थ है। इस प्रकार केशव ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनको हिन्दी के प्रथम आचार्य होने का सौभाग्य प्राप्त है। केशव सस्कृत-भाषा के प्रौढ विद्वान थे। उनके घर मे संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। प० विश्वनाथप्रसाद ने लिखा है कि उनके घर के दास भी संस्कृत जानते थे। संस्कृत के अच्छे विद्वान् होने के कारण वे अलंकार-शास्त्र का निरूपण हिन्दी मे करने में सफल हुए। उन्होने 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' में अलकार शास्त्र के प्राय: सभी विषयों का प्रतिपादन किया है। इनमे विभिन्न काव्यागों के लक्षणमात्र ही नही हैं, अपितु कही-कही कुछ सूक्ष्म विवेचन भी है। केशव की 'रामचन्द्रिका' को स्पष्टत: लक्षण-ग्रन्थ नही कह सकते, लेकिन डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि कतिपय आलोचकों की दृष्टि से यह भी एक प्रकार से लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा मे आ जाती है। उनका कहना है कि विभिन्न अलकारो तथा काव्यागो के उदाहरणो का सग्रह 'राम-चन्द्रिका' के नाम से कर दिया गया है। इसको सस्कृत-छन्दो के हिन्दी-उदाहरणों का सग्रह भी कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ के जितने स्वल्प समय में रचे जाने की बात हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारो मे प्रचलित है उससे भी यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने पहले काव्यांगों के उदाहरणो के रूप मे कुछ छन्द बना रखे थे, उन्हीका सग्रह उन्होने 'राम-चन्द्रिका' के नाम से कर दिया है। इसके बहुत से छन्द 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में भी मिलते है। कवि का यह ग्रन्थ केवल छन्दो, अलकारों और अन्य काव्यांगो के उदाहरणो का ही संग्रह नही कहा जा सकता, अपितु कवि ने इस रूप में प्रबन्ध काव्य के शास्त्रीय रूप का भी एक उदाहरण हिन्दी-साहित्य के सामने उपस्थित कर दिया है। संस्कृत मे प्रबन्ध काव्य की जो शास्त्रीय व्याख्या है, उसमें जिन नियमों का निर्वाह आवश्यक समझा गया है, उन सबका निर्वाह इसमें हुआ है। उस व्याख्या के अनुसार इसको प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार 'राम-चन्द्रिका' की प्रमुख प्रेरणा भक्ति न होकर रीति निरूपण ही है। नियम-निर्वाह के फलस्वरूप प्रबन्ध-काव्य का एक निर्जीव शरीर-मात्र खडा किया जा सकता है। यह इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'राम-चन्द्रिका' में काव्यगत विशेषताओं का नितान्त अभाव ही है। यह अपनी विशेषताओ से शून्य नही है। फिर भी हमे इस ग्रन्थ में केशव के कवि की अपेक्षा आचार्य के ही दर्शन अधिक होते हैं। 'रसिक-प्रिया' और 'कविप्रिया' तो काव्य-तत्वों के निरूपण के स्पष्ट उद्देश्य से ही रचे गए है।

सं० १६१५ के आस-पास 'राम-भूषण' और 'अलंकार-चन्द्रिका' नाम से गोपा ने दो अलंकार-ग्रन्थ लिखे। करनेस बन्दीजन ने 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रन्थ लिखे थे। पर इन ग्रन्थों के अप्राप्य होने के कारण

इनके विवेचन के सम्बन्ध में कुछ नही कहा जा सकता । ये कवि केशव से कुछ ही पूर्व हुए है, अतः शायद केशव पर इनका कुछ प्रभाव पडा हो । हिन्दी में 'अलंकारवाद' की जो प्रतिष्ठा केशव ने की है, शायद उसका पूर्व-रूप इन कवियो मे रहा हो । लेकिन केशव के पहले काव्यागो का विस्तृत विवेचन करने वाली कोई पुस्तक नही मिलती । केशव की 'कविप्रिया' ही ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमे काव्यांगो का विशद विवेचन है । इनकी 'रसिकप्रिया' का विषय 'रस' है । इसमे शृङ्गार को ही प्रधानता दी गई है । 'कविप्रिया' मे भी अलकार-निरूपण ही अधिक विस्तार के साथ किया गया है । लेकिन इसके साथ ही आचार्य ने काव्य-दोष, कवि-भेद और कवि-रीति पर भी कई अध्यायो मे विवेचन किया है । केशव ने अध्याय के स्थान पर 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग किया है । प्रथम चार प्रभावों मे से प्रथम कवि-वश, अपने आश्रयदाता तथा उसके दरबार की वेश्याओ की कुछ बाते लिखकर शेष भाग मे कवि-रीति, काव्य-दोष आदि पर विवेचन किया गया है । केशव ने अपने इस ग्रन्थ द्वारा अपने आश्रयदाता के अतिरिक्त उनके दरबार की कतिपय वेश्याओ—प्रवीणराय, तानातरग तथा पतिराम सुनार को अमर कर दिया है। 'प्रवीणराय' तो इनकी शिष्या ही थी, उसी के लिए इस ग्रन्थ की रचना हुई थी ।

केशव अलकारवादी थे, इसलिए उन्होने अपने ग्रन्थ का आधार—सस्कृत-साहित्य के प्राचीन आलकारिक दडी, राजानक, रुय्यक आदि के ग्रन्थो पर ही आधारित किया है । सस्कृत की चिन्तन-धारा मम्मट तक आते-आते अत्यन्त प्रौढ हो गई थी । पडितराज तो सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के अन्तिम आचार्य है । वे तो केशव के बाद के ही है, पर केशव के लिए आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ की बहुमूल्य चिन्तन-निधि तो उपलब्ध थी ही । केशव न अपने अलकार-निरूपण मे इनसे कोई सहायता नही ली है । केशव के इन ग्रन्थो मे इस बात का भी कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता कि उन्होने इन ग्रन्थो का अध्ययन भी किया था, या नही । अस्तु, केशव ने अपने अलकार-निरूपण मे 'दडी' के 'काव्यादर्श' को ही आधार माना है । इसके अतिरिक्त जैसा कि शुक्ल जी लिखते है कि बहुत सी बाते अमर-रचित 'काव्य-कल्प-लता-वृत्ति' तथा केशव मिश्र के 'अलकार-शास्त्र' से भी ली गई है । अलकार-निरूपण के अतिरिक्त आचार्य ने अपने ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध मे जो काव्य-दोष, कवि-भेद और कवि-रीति का विवेचन किया है उसके आधार के सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता । केशव ने यह सामग्री सस्कृत-साहित्य के अनेको ग्रन्थो से बटोरी होगी । इन्होने 'सामान्यालकार' पर भी जो-कुछ लिखा है, उसके आधार के विषय मे भी कुछ नही कहा जा सकता । लाला भगवानदीन ने 'प्रिया-प्रकाश' की भूमिका में लिखा है: "केशव ने यह ग्रन्थ किस ग्रन्थ के आधार पर लिखा है ? इसकी छान-बीन करते समय हमे यह पता चला है कि इनके प्रथम आठ प्रभाव तो केशव ने निज कल्पना

से लिखे हैं। अथवा ऐसे ग्रन्थ के आधार पर रचे हैं जिसका संस्कृत-साहित्य में अब अभाव-सा है।[1] प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इस कवि-शिक्षा के प्रसंग का आधार अमर-कृत 'काव्य-कल्प-लता-वृत्ति' मानते है।[2] शुक्ल जी भी अपने इतिहास में इस का सकेत करते है। सस्कृत मे कवि-रीति और काव्य-दोष का पर्याप्त प्रौढ़ विवेचन है। 'कवि-रीति' का विकास तो सस्कृत-साहित्य मे भी बहुत कुछ पीछे ही हुआ है। फिर भी प्राप्त ग्रन्थों का 'कवि-रीति' का निरूपण ऐसा शिथिल कही नही है जैसा केशव का है। इससे लाला भगवानदीन का विचार अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है कि या तो केशव ने यह सामग्री सस्कृत अथवा हिन्दी के साधारण कोटि के ग्रन्थों से संगृहीत की है जो प्रौढ चिन्तन और सूक्ष्म विवेचनपूर्ण शैली के अभाव के कारण अल्पजीवी रहे है अथवा यह केशव का ही मौलिक चिन्तन है। अस्तु, चाहे कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि इसमे प्रौढ चिन्तन का नितान्त अभाव है।

केशव ने दोष की कोई परिभाषा नही की है। दोष-भेदो का निरूपण करने से पूर्व यह आवश्यक था कि वे दोष का सामान्य परिचय दे देते, पर उन्होने ऐसा नही किया है। दीन जी ने अपनी 'प्रिया-प्रकाश' मे जिस मूल पाठ का शीर्षक 'दोष-लक्षण' दिया है, उसमें तो दोषों के नाम-भर गिना दिये गए है। दीन जी भी क्या करते ? केशव ने इन भेदों को गिनाकर ही दोष-सामान्य का लक्षण दिया है। लेकिन वास्तव में इसे लक्षण कहना ठीक नहीं। उन्होंने अन्ध, बधिर, पगु, नग्न और मृतक इन पाँच प्रकार के काव्यों को वर्जित कहा है। लेखक ने इन भेदों के भी उदाहरण-मात्र ही दिये है कोई परिभाषा नहीं दी है।[3] यद्यपि इनका विवेचन तो नहीं किया गया, पर 'अर्थहीन मृतक' 'अलकार हीन नग्न', आदि जिन कोष्ठको का प्रयोग दीन जी ने अपनी पुस्तक में किया है उनसे केशव के काव्य-सिद्धान्तों पर कुछ थोडा प्रकाश पडता है। ये कोष्ठक केशव की मान्यता के अनुकूल भी है। केशव अर्थहीन को मृतक काव्य मानकर काव्य में अर्थ की महत्ता को स्पष्ट स्वीकार कर रहे हैं। अर्थ की यह महत्ता प्राचीन आचार्यों के अनुरूप है। छन्दहीन को पगु तथा अलकारहीन को नग्न कहकर छन्द और अलकार के महत्व और सामान्य स्वरूप का कुछ निर्देश भर कर दिया है; छन्दहीन को पगु कहने में तत्कालीन विचारधारा की भी झलक है। तुलसी ने भी 'छन्द' को काव्य का प्राण माना है। अलकारवादी — होने के कारण 'अलकारो' को तो उन्होंने सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना ही है।

केशव ने इन पांच दोषों के अतिरिक्त तेरह दोष और माने है।

---

१. देखिये 'पद्माकर-पंचामृत', आमुख पृष्ठ ३३।
२. शुक्ल जी—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', केशव का विवेचन।
३. दीन जी—'प्रिया-प्रकाश', पृष्ठ २८ से ३२ तक।

इनके नाम इस प्रकार है—१. अगण, २. हीन रस, ३. यतिभग, ४. व्यर्थ, ५. यथार्थ, ६. हीनक्रम, ७. कर्णकटु, ८. पुनरुक्ति, ९. देश-विरोध, १०. काल-विरोध, ११. लोक-विरोध, १२ न्याय-विरोध, १३. आगम-विरोध।[1] इन सभी के उदाहरण दिए गए है। इसमे गुणो के शुभाशुभ फलो पर भी विचार किया गया है। कही-कही पर आचार्य दोष की सामान्य व्याख्या के अनुरूप उदाहरण नही दे पाये है। उनके लक्षणो मे विवेचन का अभाव तो है ही, इसके साथ ही जहा उपयुक्त उदाहरण भी नही दिए जा सके है, वहा पर तो विषय संदिग्ध और अपूर्ण ही रह गया है। 'हीन रस' का लक्षण एक रस मे उसकी विरोधी सामग्री का समावेश माना गया है, पर केशव ने जो उदाहरण दिया है वह इसके लक्षण के अनुकूल नही है। उनके द्वारा किए गए उदाहरण मे आलम्बन-विभाव का तो वर्णन है, पर अनुभाव और सचारी का अभाव है और इसी आधार पर उन्होने इसको 'हीनरस' का उदाहरण मान लिया है। यह उनके लक्षण के अनुरूप उदाहरण नही हो सका, क्योकि इस उदाहरण मे शृङ्गार-रस की विरोधी सामग्री नहीं है।[2] आलम्बन विभाव के वर्णन मात्र से भी भाव-व्यजना संभव है। ऐसा काव्य रस दशा तक नही पहुँचता, अगर केशव के हीन रस का यह तात्पर्य समझा जाय तो कुछ ठीक भी है। काव्य-दोष के सूक्ष्म विवेचन का अभाव तो अवश्य है, पर दोष-विभाजन का प्रमुख आधार औचित्य प्रतीत होता है। सस्कृत-साहित्य मे अनौचित्य ही दोष का मूल माना गया है। केशव की विचार-धारा भी इस सिद्धान्त से प्रभावित है, यह स्पष्ट है।[3] विभाजन मे रस, देशकाल, विषय, शास्त्र आदि अनेक तत्व के औचित्य का ध्यान अवश्य रखा गया है, पर विभाग मे ऐसे किसी क्रम का ध्यान नही है।

केशव ने वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कवि के तीन भेद किये—हरि-गुण-गान करने वाला उत्तम, मानव-चर्चा करने वाला मध्यम तथा परनिन्दा करने वाला अधम। कवि की तीन शैलियो का भी वर्णन है। पर वास्तव मे यह भी एक प्रकार से वर्ण्य-

---

१. **अगन न कीजै हीनरस, अरु केशव यतिभंग।**
व्यर्थ अपारथ कवि कुल तजौ प्रसंग॥ कवि प्रिया॥
वर्ण प्रयोग न कर्ण कटु, सुनहु सकल कविराज।
सर्व अर्थ पुनरुक्ति छांड़हु सिगरे साज॥
देश-विरोध न बरतिये काल-विरोध निहारि।
लोक न्याय आगमन के तजौ विरोध विचारि॥

२. **बरनत केशवदास रस, जहा निरस ह्वै जाय।**
ता कवित्त सों हीनरस, कहत सबै कविराय॥ कवि प्रिया॥

३. **देखिए बीन जी का 'प्रिया-प्रकाश', पृष्ठ ४१, ३६।**

विषय के ही भेद है। प्रथम शैली में कवि-परम्परा मे कुछ बाते लोक मे जिस रूप मे सत्य होती है उससे विरुद्ध वर्णित की जाती हैं। दूसरी मे कुछ असत्य बातों का सत्य रूप में वर्णन किया जाता है। तीसरी शैली मे वस्तु-वर्णन की भी एक कवि-परम्परा बन जाती है और प्राय: उसी के अनुकूल कवि वर्णन करता है। आचार्य का यह विवेचन न आज की दृष्टि से शैली का निरूपण कहा जा सकता है और न प्राचीन काल की रीति का। हा, यह तत्कालीन काव्य-परम्परा का समीक्षा तथा वर्ण्य-विषय की दृष्टि से कवि की उत्कृष्टता का निरूपण अवश्य है। भक्तिकालीन विचार-धारा से प्रभावित आचार्य रीतिकालीन काव्य के वर्ण्य-विषय की प्रकारान्तर से निन्दा कर रहा है। इसमे भी तत्कालीन समीक्षात्मक चेतना प्रतिविम्बित हो रही है। तुलसी ने भी 'कीन्हें प्राकृत गम गुणजाना सिरधुनि जागि गिरा पछिताना' कहा है। केशव की यह समीक्षा काव्य शैली पर लिखने वाले आचार्य के अनुरूप ही है। इसी प्रसग मे उन्होने कुछ कवि-परम्परागत वस्तुओ के वर्णन द्वारा अपने मन्तव्य को थोडा स्पष्ट भी कर दिया है।

केशव की 'कविप्रिया' का सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण स्थल है, अलंकार-विवेचन। जैसे हम पहले कह चुके है कि ये दडी आदि उन प्राचीन अलंकारवादी आचार्यों के अनुगामी है जिन्होंने रीति, गुण, रस आदि सभी काव्य तत्वो का समावेश अलकार मे कर लिया है। 'कविप्रिया' तथा केशव के अन्य सभी ग्रन्थो मे अलकारो की प्रमुखता तो स्वीकृत हुई है, पर अलकार शब्द की इतनी व्यापक व्याख्या नही हो सकी कि उसमे रीति आदि का भी समावेश हो सकता। रीति, गुण आदि का कही विवेचन भी नही हुआ है। यह कहना तो ठीक नही कि उन्हे काव्य के रस, ध्वनि, गुण आदि तत्वो से परिचय नही था। काव्य मे अलकार के महत्व का प्रतिपादन करते समय उन्होने इन तत्वो की तरफ संकेत किया है। "जदपि" वाले छन्द [1] का भावार्थ दीन जी ने इस प्रकार किया है—'यद्यपि कविता ध्वनिमय हो, सुस्पष्ट हो, सुलक्षणयुक्त हो, रसानुकूल हो, सुन्दर वर्णन भी उसमे हो, रस की पूर्ण सामग्री उसमें हो तथा सुन्दर छन्द में कही गई हो पर बिना अलकार के शोभित नही होती।" इस छन्द मे 'जाति' शब्द से आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि के द्वारा मान्य काव्य-विभाजन की ओर संकेत है, इसलिए दीनजी ने इसका अर्थ 'ध्वनिमय' किया है। यहां पर 'लक्षण' शब्द को उस शास्त्रीय अर्थ मे तो नही समझा जा सकता जिसको कुछ प्राचीन आचार्यों ने काव्य-शरीर का धर्म कहा है। जिसके सम्बन्ध मे अभिनव गुप्त ने अपने मतो

---

१. **जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।**
भूषन विनु न विराजई, कविता, बनिता, मित्त॥

'प्रिया प्रकाश' पंचम प्रभाव प्रथम छन्द॥

को अभिनव-भारती में उद्धृत किया है। कवि शब्द और अर्थ का चयन इस प्रकार करता है कि काव्य-शरीर में स्वाभाविक लावण्य आ जाता है। इस प्रकार लक्षण को गुण और अलंकार दोनो से भिन्न माना गया है।[1] केशव को सभवतः 'लक्षण' शब्द का यह अर्थ अभिप्रेत नही है, क्योकि इसका कोई सकेत नही है। फिर 'लक्षण' अपना पृथक् व्यक्तित्व बहुत पहले ही काव्य के अन्य तत्वो मे खो चुका था। इसका विवेचन इसी पुस्तक के 'सस्कृत-साहित्य मे समीक्षा का स्वरूप' वाले अध्याय मे हो चुका है। यहाँ पर 'लक्षण' द्वारा आचार्य गुण का अर्थ लेना चाहते है। यही मानना उचित है। अस्तु, यद्यपि इस छन्द मे रीतिकालीन अस्पष्टता तो है, पर फिर भी इतना तो अवश्य मानना पड़ेगा कि केशव को काव्य के रस, गुण, ध्वनि आदि तत्वो से पूर्ण परिचय था और उन्होने इनका सकेत भी किया है। पर इनके विवेचन की आवश्यकता उन्होने नही समझी। केशव के अलकार-निरूपण मे सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि उसमे अलकार और अलकार्य का भेद स्पष्ट नही हो पाया है और इसका कारण भी है। उन्होने सस्कृत-समीक्षा की उस प्राचीन परम्परा का अनुकरण किया है जिसमे सभी तत्वो का अलकार मे समावेश हो गया है। उस समय काव्य के शरीर और आत्मा का प्रश्न नही उठा था। काव्य-तत्वो के पृथक् व्यक्तित्व का पूर्णत निर्माण नही हो पाया था। इसीलिए केशव ने काव्य के वर्ण्य-विषय का समावेश भी अलकार मे ही कर लिया है और वे अलकार के दो मुख्य भेद मानकर चले है, सामान्य और विशेष। केशव के विशेषालकार ही वस्तुत. आज की परम्परा तथा सस्कृत-समीक्षा के अनुकूल अलकार कहे जा सकते है। आज का समालोचक केशव के सामान्यालकारो का वर्ण्य-विषय के नाम से अभिहित करना अधिक समीचीन समझेगा। सामान्यालकारो के आधार के सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। इस निरूपण के लिए उन्होने किसी ग्रन्थ का आश्रय लिया है अथवा यह उनकी मौलिक उद्भावना है, यह कहना भी कठिन है। विशेषालकारो का आधार तो सस्कृत के आचार्य दडी ही हैं। कही-कही पर इनमे भी कुछ मौलिकता का परिचय केशव ने दिया है, जिस पर आगे विचार किया जायगा। सामान्यालकार मुख्यतः चार प्रकार के माने गए है.—१. वर्ण, रग आदि २. वर्ण्य आकार, ३. भूमिश्रा-प्राकृतिक वस्तु, ४. राजश्री राज से सम्बद्ध वस्तु। केशव ने फिर इसके आवान्तर भेद किये है। यह भी निर्देश किया गया है कि कवि किस प्रसंग मे किन-किन वस्तुओं का वर्णन करे। केशव की 'कविप्रिया' में विशेषालकार को छोड़कर प्रायः कवि-शिक्षा ही अधिक है। कही-कही काव्य-सामान्य के तत्वो का निर्देश भर कर किया गया है,

1. Some concepts of Alankar Shastra (History of Laksana,) by Dr. Raghvan.

लेकिन मूल उद्देश्य कवि-शिक्षा का ही प्रतीत होता है।

केशव मे भी अन्य रीतिकारो की तरह काव्यागों के सूक्ष्म विवेचन का अभाव है। 'कविप्रिया' में विशेषालकारों का वर्णन करने के पहले अलकार-सामान्य की परिभाषा अथवा उसके आधार के सम्बन्ध में कुछ नही कहा गया है और अलंकारो के विभाजन मे किसी आधार का ध्यान भी नही रखा गया है। वास्तव मे यह विभाजन नही है, केवल नाम-मात्र गिना दिये है। वस्तुस्थिति तो यह है कि यह ग्रन्थ भी साधारण विद्यार्थी के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए ही लिखा गया है। इस रूप मे इस ग्रन्थ का हिन्दी-भाषा-भाषियों में पर्याप्त सम्मान भी हुआ है। कुछ दिनों तक इसके अध्ययन के बिना अलकार-ज्ञान ही अधूरा समझा जाता रहा। यह ग्रन्थ कवि शिक्षा के उद्देश्य से लिखा गया है, काव्यागो के सूक्ष्म विवेचन के लिए नही। काव्यागो के सूक्ष्म विवेचन का दृष्टिकोण तो हिन्दी-रीतिकारों मे बहुत ही कम मिलता है। अस्तु 'कविप्रिया' में मुख्य ३७ अलकारों का निरूपण है। कुछ आवान्तर भेद होने से सख्या ३७ तक ही सीमित नही है। इसमे पहले अलकार का लक्षण दे दिया गया है और फिर स्वरचित उदाहरण। रीतिकाल मे आगे तक यह परिपाटी चलती रही है। अन्य कवियों की रचनाओं को उदाहरणों के रूप मे प्रयोग करने की प्रणाली एक-दो आचार्यों ने ही कही कही अपनाई है। सस्कृत-समीक्षा के उत्तर काल की शैली के अनुकरण के कारण यह हुआ कि एक ही व्यक्ति कवि और आचार्य दोनों होने लग गया। केशव का अलंकार-निरूपण अत्यन्त प्रौढ नही कहा जा सकता। यह तो स्पष्ट है कि उन्होने दडी का अनुकरण किया है, पर कई स्थानो पर लक्षणो और उदाहरणो मे समीचीनता नहीं रह गई है। केशव के रूपक अलकार के निरूपण के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे लिखते है: "केशव ने रूपक के तीन भेद दण्डी से लिये हैं—अद्भुत-रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक-रूपक। इनमें से प्रथम का लक्षण भी स्वरूप व्यक्त नही करता और उदाहरण भी अधिकतः रूप्य-रूपक का हो गया है। विरुद्ध-रूपक भी दण्डी से नही मिलता और रूपकाति-शयोक्ति हो गया है।" शुक्ल जी का यह कथन बिलकुल ठीक है। 'अद्भुत-रूपक' के लक्षण से उसका स्वरूप बिलकुल स्पष्ट नही हैं। "सदा एक रस बरनिये, जाहि न और समान"; यही पक्ति अद्भुत रूपक का लक्षण है। दीनजी ने इसको विशेष स्पष्ट कर दिया हैं। 'मुख कमल' न कहकर उसमें कुछ विलक्षण गुण की कल्पना करना इस रूपक का लक्षण है। केशव ने इसका जो उदाहरण दिया है उसमें तो 'व्यतिरेक' की व्यंजना है, इसके अभाव मे केशव के इस भेद का उदाहरण ठीक नही हो सकता है [1] विरुद्ध-रूपक मे 'अनमिल शब्द का अर्थ ही स्पष्ट नही है। दीन जी

१. 'प्रिया प्रकाश', पृष्ठ ४२८।

ने इसका अर्थ "उपमान-मात्र का कथन" लिया है। इससे तो यह रूपकातिशयोक्ति हो जाता है। उदाहरण से यह स्पष्ट ही "रूपकातिशयोक्ति" है। "रूपक-रूपक" में उपमान और उपमेय का सनातन सम्बन्ध नही रहता। उसमे नवीन उपमानो की कल्पना होती है। केवल इसीके आधार पर एक रूपक की कल्पना कोई विशेषता नही रखती। कवि-प्रतिभा इस प्रकार की नवीन उद्भावना तो प्रायः सर्वत्र ही करती है। इस प्रकार उनके सब रूपक इसी भेद मे आ जायँगे। अलकारों के लक्षण एवं उनके भेदो का निरूपण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषो से मुक्त नही है। यह विषय का अत्यन्त प्रौढ और तर्क-सम्मत निरूपण नही कहा जा सकता है। इस विवेचन का अभाव केवल केशव मे ही नही, रीतिकाल के सभी आचार्यो मे न्यूनाधिक रूप से है। केशव मे इसका निर्देश दीन जी ने भी कई स्थानों पर किया है। सच बात तो यह भी है कि 'काव्यादर्श' के बाद सस्कृत के अलकार-निरूपण मे बहुत प्रौढता आ गई है। यहाँ तक की मम्मट आदि की अपेक्षा भी 'रस-गगाधर' का विषय-निरूपण अधिक तर्कसम्मत और समीचीन कहा जा सकता है। 'रस गगाधर' इसी काल की रचना है, पर नैयायिक की क्लिष्ट शैली मे लिखे होने के कारण हिन्दी-रीतिकारो ने इसको उपजीव्य नही बनाया।

हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकार रीति का प्रथम आचार्य चितामणि को मानते हैं। क्योकि उनसे रीति-ग्रन्थो की अविरल धारा दो शताब्दियो तक बहती रहा है और वह अब भी सूख नही गई है। हाँ, उसने अपना मार्ग अवश्य बदल लिया है। अब तो वह और भी विस्तीर्ण और गहरी हो गयी है। केशव ने जिस पद्धति के अनुकरण पर 'कविप्रिया' की रचना की है, वह सस्कृत के अत्यन्त प्राचीन काल का अनुकरण था। इसके बाद सस्कृत-समीक्षा का रूप बहुत विकसित हुआ। इसके विपरीत हिन्दी के रीति-ग्रन्थों को केशव के आधारभूत उद्भट, दडी आदि से नही, अपितु मम्मट आदि से प्रेरणा मिली है। दास,देव श्रीपति, कुलपति आदि ने मम्मट और विश्वनाथ का अनुकरण किया है। इस प्रकार यह कहना तो बिलकुल ठीक है कि हिन्दी के रीति-ग्रन्थो की धारा केशव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से नही चल सकी। उसने एकदम नवीन मार्ग अपनाया और उसके मार्ग के प्रथम पथिक है—चिन्तामणि। इस लिए ये हिन्दी-रीतिकारों के पथ-निर्देशक होने के नाते प्रथम आचार्य कहे जा सकते है। पर इससे केशव के आचार्यत्व में कोई कमी नही आती। वे आचार्य तो हैं ही। हिन्दी-साहित्य पर उनका प्रभाव भी कम नही पडा है। बहुत दिनों तक केशव की 'कविप्रिया' के ज्ञान के बिना अलकार-ज्ञान अधूरा ही समझा जाता रहा है। शैली की दृष्टि से केशव का निरूपण भी रीति-परम्परा मे ही है। रीतिकाल में वस्तु के सामान्य परिचय-मात्र को लक्षण नाम से अभिहित किया गया है। वस्तु के स्पष्टीकरण के स्वनिर्मित उदाहरण भी इस काल की प्रमुख विशेषता है। अलकार, शृङ्गार

रस तथा नायिका-भेद का निरूपण भी रीतिकाल की दो प्रधान धाराएँ है और इन दोनो के दर्शन केशव मे होते है,केशव ही नही अपितु कृपाराम और करनेस भी रीति-काल की ही परम्परा मे आते है। कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' जिस शैली में लिखी गई है उसका अनुकरण परवर्ती काल मे हुआ है। कृपाराम का यह ग्रन्थ नायिका-भेद का है। पर पहले इसमे शृंगार रस का बहुत ही सामान्य वर्णन है। उसमें आलम्बन और उद्दीपन का निर्देश है। यही परम्परा बाद में भी अपनाई गई। केशव की 'रसिकप्रिया' भी इसी परम्परा का ग्रन्थ है। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी केशव को रीति-परम्परा से अलग नही मानना चाहते।[1]

चिन्तामणि से हिन्दी-साहित्य मे जिस रीति परम्परा का प्रारम्भ माना जाता है, उसमे काव्य के लक्षण, उसके प्रयोजन, भेद आदि काव्य के सामान्य स्वरूप का आधार मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' तथा विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' है। 'साहित्य दर्पण' का आश्रय तो बहुत कम आचार्यों ने लिया है, प्रायः हिन्दी रीतिकारों ने 'काव्य-प्रकाश' से ही सामग्री एकत्र की है। लेकिन अलकार-निरूपण में जयदेव का 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द की परिपाटी का ही अनुकरण हुआ। 'रस तरंगिणी' और 'रस मंजरी' का आश्रय लेकर भी अनेको कवि चले है। इस प्रकार सस्कृत-साहित्य के विभिन्न आचार्यो का विषय और शैली में अनुकरण करने के कारण हिन्दी के रीतिकार भी प्रायः चार भागो मे बँट गए। उनमे भी हमे स्पष्टतः चार प्रकार की शैलियो के दर्शन होते है—१. 'काव्य-प्रकाश' की विवेचनात्मक शैली। इस शैली के आचार्यों ने प्रायः सभी काव्यांगो का विवेचन 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' के आधार पर किया है—२. 'शृंगार तिलक' और 'रस-मंजरी' के अनुकरण पर केवल शृंगार रस और नायिका-भेद के विवेचन वाली शैली। इस पद्धति के आचार्यो ने शृंगार रस को ही प्रधानता दी है, इसलिए उन्होने 'शृंगार रस' के साथ नायिका-भेद का भी विस्तृत विवेचन किया है। ३. अलंकार-निरूपण की संक्षिप्त शैली। इसमें 'चन्द्रालोक' का अनुकरण किया गया है। एक ही छन्द में अलकार का लक्षण और उदाहरण दोनों का समावेश कर देने की प्रक्रिया जयदेव ने अपनाई है और उसीका अनुकरण हिन्दी में भी हुआ है। इसी परम्परा मे आगे जाकर 'कुवलयानन्द' का भी अनुकरण हुआ है। इन प्राचीन शैलियो के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी साहित्यकार हुए है, जिनमें आचार्यत्व और कवित्व का एक नवीन प्रकार का मिश्रण हुआ है। इसमें आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के ही अधिक दर्शन होते हैं। वास्तव में तो ये कवि ही थे, पर रीतिकाल की परम्परा ने इनको रीति-परम्परा में सहयोग देने के लिए बाध्य किया है। ऐसे व्यक्तियों में भूषण और मतिराम प्रधान

१. 'हिमालय', सं० २००३ तीसरी पुस्तक

हैं। भूषण के ग्रन्थो में उनके अलकार-ज्ञान की प्रौढता नही झलकती। उनका यह निरूपण साधारण कोटि का ही है। कही-कही लक्षणो के अनुकूल उदाहरण भी नहीं हो पाए है। भूषण की अपेक्षा मतिराम इस कार्य मे अधिक सफल हुए है। भूषण ने सभी अलकारो के उदाहरण शिवाजी के जीवन पर रखे है, इस प्रकार विषय-सकोच के कारण भी उनको इस कार्य मे अधिक सफलता नही मिल पाई। भूषण के सम्बन्ध में यह धारणा कि उन्होने काव्य-रचना के उपरान्त अपने छन्दो को अलंकारों की दृष्टि से सगृहीत कर दिया है, विशेष समीचीन प्रतीत होती है। उनका महत्व रीतिकार की अपेक्षा कवि की दृष्टि से ही अधिक है। उनका रीतिकार होने का मोह तो उनके कवित्व-विकास मे बाधक रहा है। वैसे भूषण और मतिराम दोनो ने ही 'कुवलयानन्द' की शैली का अनुकरण किया है। इन दोनो ने प्राय: दोहो मे अलंकारो के लक्षण दिये है और बाद मे उनके उदाहरण विभिन्न छन्दो मे रखे है। इस प्रकार इनकी गणना भी सक्षिप्त अलकार-निरूपण-शैली मे ही की जायगी, पर इनमें आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व का अत्यधिक महत्व होने के कारण इस परम्परा के अन्य आचार्यों की अपेक्षा स्पष्टत: पृथक् प्रतीत होते है। शुक्ल जी अपने इतिहास में मतिराम के सम्बन्ध में लिखते है : 'ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बधी लीको पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलते जाते तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव विभूति दिखाते, इसमे कोई सदेह नही।" फिर भी मतिराम का अलकार-निरूपण अत्यन्त सूक्ष्म और प्रौढ है। रीति की इस परम्परा ने इस काल के सभी कवियो को प्रभावित किया है। बिहारी-जैसे कवियो ने अलंकार-निरूपण तो नही किया, पर उनकी सतसई पर चमत्कारवाद और रीति-परम्परा की अमिट छाप है। उनके दोहे विभिन्न काव्यांगों के सुन्दर उदाहरण है। उन्होने नायिका-भेद, सचारी-भाव, अनुभाव, अलंकार आदि प्राय: सभी काव्यांगो के बड़े प्रौढ़ उदाहरण दिये है। इनके इन उदाहरणो में रीतिकाल के अन्य आचार्यों की तरह शिथिलता नही है। उनके उदाहरण काव्यांगों के लक्षण के अनुरूप है। एक ही दोहा कई चीजो के उदाहरण रूप मे रखा जा सकता है और उन सभी दृष्टियो से ठीक बैठता है। अलकार, नायिका-भेद, अनुभाव और संचारी-भावो के उदाहरण की तो बिहारी में कमी नही है। कवि-प्रतिभा ने इन उदाहरणो में अत्यन्त सरसता और सजीवता का सचार कर दिया है। इनमें इतनी स्वाभाविकता होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि बिहारी का ध्यान लक्षणों पर नहीं था। उन्होंने इन उदाहरणों द्वारा परोक्ष रूप में रीति-परम्परा के विकास मे ही सहयोग दिया है। यह इनकी रचना से एकदम स्पष्ट है। शुक्ल जी ने भी इस बात को स्पष्ट किया है। शुक्ल जी का यह कथन बहुत-कुछ सत्य है

कि बिहारी का महत्व काव्यांगों के सूक्ष्म निरूपण में ही है।[1] बिहारी की इस शैली की परम्परा सूर की 'साहित्य-लहरी', रहीम आदि की रचना मे भी खोजी जा सकती है। तुलसी की 'बरवै रामायण' में इसी शैली का आश्रय लिया गया है, इसका दिग्दर्शन तो हो चुका है। पर 'साहित्य-लहरी' इसका अधिक उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। 'बिहारी की सतसई' इस दृष्टि से इसके विकसित रूप का उदाहरण है। सूर ने 'साहित्य-लहरी' में 'नायिका-भेद' अनुभाव, सचारी आदि के बड़े अच्छे उदाहरण दिये है। सूर की इस पद्धति में ही हिन्दी के रीतिकाल की परम्परा के बीज अन्तर्निहित है। सूर की इन प्रवृत्तियों का विकास जिस काल में भक्ति की निर्मल और स्वच्छ धारा से प्रबल होकर बहने लगा था, उसी काल को हम रीति-काल के नाम से पुकारते है। जिस नायिका-भेद और सयोग शृंगार की अबाध धारा इस काल मे बही है, उसके उदाहरणों का अभाव सूर मे नही है। इतना ही नही, इन उदाहरणों को हम विद्यापति, जयदेव और भागवत तक मे देख सकते हैं। रीतिकाल के अनेकों कवियों की रचना में सूर के समानान्तर उदाहरण रखे जा सकते है। बिहारी में भी इसका अभाव नहीं है। यहां पर रीति-परम्परा की दृष्टि से दो उदाहरण दिये जाते है।[2] रीतिकाल में इस शैली में लिखने वाले कवि बहुत कम ही हुए हैं। इसमें अत्यन्त उत्कृष्ट कवि-प्रतिभा की आवश्यकता है। केवल उदाहरणों के द्वारा ही काव्यांगों का इतना स्पष्ट और सूक्ष्म विवेचन कर देना साधारण बात नही है। रीति की परम्परा इस प्रकार के कवियों के कवित्व-विकास मे बाधक ही रही है। सूर में भंवर-गीत, वात्सल्य आदि के प्रसग जितने मर्मस्पर्शी हुए है, उतने ये नायिका-भेद वाले नहीं हो सके। चमत्कार प्रियता तथा रीति निरूपण के मोह के कारण 'साहित्य-लहरी' विशुद्ध काव्य की भावात्मक ऊंचाई एवं हृदय स्पर्शिता की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्यों में नही गिनी जा सकती। इसमें पाण्डित्य प्रदर्शन की आकांक्षा है। 'सूर-सागर' के समान सहृदय कवि के दर्शन इसमें दुर्लभ है। इसीलिए कुछ लोग इस रचना को सूर कृत मानने में हिचकते है। साहित्य लहरी के सूर-कृत होने में संदेह अवश्य है। परम्परा के बन्धन के अभाव में बिहारी की प्रतिभा भी संभवतः अधिक विकसित

---

१. देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २७९

२. आज हरि नैन उनींदे आये।
अंजन अधर ललाट महावर नैन तमोर खवाये॥ (सूर)

× × ×

पलक पीक अन्जन अधर लसत महावर माल।
आज मिले सु भली करी भले बने हौ लाल॥ (बिहारी)

हो पाती। रीति-ग्रन्थो की उपर्युक्त चार शैलियो के अतिरिक्त यह भी एक पाचवी और शैली मानी जा सकती है।

रीतिकाल मे काव्याँग-निरूपण की 'काव्य प्रकाश' एवं 'साहित्य दर्पण' की विवेचनात्मक शैली के अनुकरण करने वाले आचार्य बहुत अधिक नही हुए हैं। फिर भी चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि कुछ आचार्यों के नाम उल्लेखनीय है। इन लोगों ने सस्कृत-समीक्षा के अनुकरण पर काव्य-सामान्य के सभी अगो का विवेचन किया है। वस्तुतः तो इन सभी लोगो के ग्रन्थो का निर्माण सस्कृत-समीक्षा-ग्रन्थो की छाया लेकर ही हुआ है। उनमे काव्यागो का साधारण परिचय मात्र दिया गया है। 'काव्य-प्रकाश' आदि के गम्भीर विवेचन का प्रायः अभाव ही है। विकसित गद्य के अभाव मे गम्भीर तर्कपूर्ण प्रणाली मे कुछ भी लिखना सभव नही था। चिन्तामणि, दास, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि आदि कुछ आचार्यों ने गद्य का प्रयोग भी किया है, पर बहुत कम। प्रतापसाहि और रसिक गोविन्द, ने प्राचीन आचार्यों के मत भी उद्धृत किये है। प्रतापसाहि ने अपने 'काव्य-विलास' मे 'काव्य-प्रकाश', 'काव्य-प्रदीप', 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-गंगाधर' के मतो का भी उपयोग किया है।[1] दास ने भी 'काव्य-प्रकाश' और 'चन्द्रालोक' का उपयोग किया है।[2] उन्होने इन तीनो ग्रन्थो से लक्षण भी हिन्दी मे अनुदित किये है। लेकिन अन्य सभी आचार्यो ने भी जो कुछ लिखा है वह सब सस्कृत-ग्रन्थो की छाया-मात्र है। कोई मौलिक विवेचन नही है। 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' के अनुवाद भी हुए है। कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य' 'काव्य-प्रकाश' का छायानुवाद है। अलकारो को छोड़कर शेष सभी काव्यागो के लक्षण और उदाहरण दोनो मे मम्मट से लिये गये हैं। सस्कृत का अच्छा ज्ञान होने के कारण कुलपति और श्रीपति का विवेचन रीतिकाल के अन्य कई आचार्यो की अपेक्षा बहुत प्रौढ है। श्रीपति के 'काव्य-सरोज' मे सभी काव्याँगो का विशद विवेचन है। इस काल के प्रायः सभी आचार्यो में स्वरचित प द्यों को ही उदाहरण के रूप मे रखने थी प्रवृत्ति की जिससे आचार्यत्व के साथ ही उनके कवित्व का भी प्रदर्शन हो जाय; पर श्रीपति ने दोष-विवेचन मे केशव और सेनापति

---

१. मत लहि काव्य-प्रकाश को, काव्य-प्रदीप सजोई ॥
साहित्य दर्पण चित्त समुझि, रस गंगाधर सोई ॥
समुझि परे साहित्य को जाते परम प्रकाश।
सुकवि प्रताप विचारि चित्त, कीन्हों काव्य-विलास ॥
प्रतापसाहि—'काव्य-विलास' हस्तलिखित प्रति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

२. देखिये दास,—'काव्य-निर्णय' पृष्ठ २, ३।

के छन्दो का उपयोग किया है।[1] इनके अतिरिक्त अन्य कुछ आचार्यों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियो की कृतियों से उदाहरण लिये है।

ऊपर जिन तीन प्रधान शैलियो की बात कही गई है, उनके अनुसार रीतिकाल के आचार्यो का विभाजन नही हो सकता, अपितु उनके ग्रन्थों का ही हो सकता है। कुछ आचार्य अवश्य ऐसे है जिन्हें हम एक विशेष शैली का कह सकते हैं। प्रतापसाहि, दास, कुलपति, श्रीपति आदि कई-एक ऐसे आचार्य है जिन्हें हम प्रथम शैली का ही आचार्य मानते है। वास्तव मे इस शैली के प्रधान प्रतिनिधि ही चिन्तामणि, कुलपति, श्रीपति और दास कहे जा सकते है। कुछ ऐसे आचार्य भी है जिनकी गणना दो शैलियो में की जा सकती हैं। देव, मतिराम, केशव आदि इसी प्रकार के आचार्यो मे है। इस प्रकार उपयुक्त शैली-विभाजन कवियो की अपेक्षा ग्रन्थो का ही अधिक कहा जा सकता है। इस शैली मे लिखे गए प्रधान ग्रन्थ निम्न लिखित है—१. चिन्तामणि : कवि कुल-कलतरु, काव्य-विवेक। २. सेनापति : काव्य-कल्पद्रुम। ३. देव : शब्द-रसायन। ४. सूरत मिश्र : काव्य-सिद्धान्त। ५. कुलपति : रस रहस्य। ६ भिखारीदास : काव्य-निर्णय। ७. प्रतापसाहि : काव्य-विलास। ८. श्रीपति : काव्य-सरोज। ९ सोमनाथ : रस-पीयूष-निधि।

इस शैली के ग्रन्थो मे दृश्य-काव्य को छोडकर शेष सभी काव्यागो का वर्णन हुआ है। शब्द-शक्ति, काव्य की परिभाषा, काव्य के भेद, काव्य का प्रयोजन, काव्य का हेतु, सहृदय की परिभाषा, रस, भाव, भाव-भेद, रसाभास, गुण, रीति, वृत्ति, अलकार आदि आलोचना के प्राय: सारे तत्वो का विवेचन हुआ है। दृश्य-काव्य-निरूपण को रीतिकाल के सभी आचार्यो ने छोड दिया है, इसका प्रधान कारण सभवत: हिन्दी मे उस समय के नाटको का अभाव ही है। पर इसका एक कारण यह भी है कि रीतिकाल के उपजीव्य ग्रथो में साहित्य दर्पण को छोडकर अन्य किसी ग्रन्थ में दृश्य काव्य का निरूपण नही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रीतिकाल का यह सिद्धान्त-निरूपण प्राय: विषय का साधारण-ज्ञान कराने के लिए ही हुआ है। इसीलिए उसमे गम्भीर विवेचन का भी अभाव है और दृश्य-काव्य का तो निरूपण किया ही नही गया।

दूसरी शैली के ग्रन्थो में शृङ्गार-रस के वर्णन की प्रधानता है। अन्य रसो का तो कही-कही निर्देश-मात्र है। केशव ने अपनी 'रसिकप्रिया' मे मित्र और अमित्र दोनो प्रकार के रसो का समावेश शृङ्गार मे ही कर दिया है। देव ने वीर, करुण,

---

१. **लसत कुटज मयक पलास बन, फूली सब साखा जो हरति अति चित्त है सेनापति॥**

या में कुटज पद कलि-विरोधी है। श्रीपति

रौद्र और भयानक रसों के शृंगार-मिश्रित रूप का वर्णन किया है। मतिराम ने अन्य रसों की उपेक्षा की है। इस शैली के सभी आचार्यों का नायिका-भेद और शृङ्गार रस ही प्रधान वर्ण्य-विषय है, शृङ्गार में भी संयोग शृङ्गार के वर्णन की ही अधिकता है। इसका कारण स्पष्टतः तत्कालीन व्यापक विलासिता की भावना है। रीतिकाल की कविता राजाओं और बादशाहों के लिए मनोरंजन और उद्दीपन सामग्री भर रह गई थी। इस प्रकार वे अन्य साधनों की तरह कविता का उपयोग भी अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए ही करते थे। पर शृङ्गार रस और नायिका-भेद वर्णन एक प्रकार से सर्वांगीण कहा जा सकता है। वियोग शृङ्गार में वियोग की भी सभी अवस्थाओं का चित्रण हुआ है। पूर्वानुराग, मान, प्रवास, चित्र-दर्शन से प्रेम, प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रेम, मानमोचन, हाव, भाव, आदि शृङ्गार रस के सभी अंग प्रत्यंगों का विशद वर्णन हुआ है। शृङ्गार रीतिकाल का सबसे अधिक प्रिय विषय रहा है। इसी दृष्टि से शुक्ल जी ने इस काल को शृङ्गार-काल कहना अधिक समीचीन समझा है। इस काल के कवियों ने शृङ्गार-रस के विभिन्न पदों के इतने सुन्दर उदाहरण उपस्थित किए हैं कि अन्य भाषाओं में ऐसे हृदयस्पर्शी मुक्तकों का इतना बड़ा भंडार मिलना प्रायः असम्भव-सा है। रीतिकाल का कवि मानव-हृदय के इस पक्ष का कोना-कोना झांक आया है। इसका कोई भी स्वरूप उसकी सहृदयता और मार्मिकता से बच नहीं पाया है। इस शैली की विशेष उल्लेखनीय पुस्तकें निम्न लिखित हैं—

१. केशव : रसिक-प्रिया। २. देव : भाव-विलास, रस-विलास। ३. दास : रस-निर्णय। ४. पद्माकर : जगद्विनोद। ५. वेनी प्रवीन : नवरस-तरंग। ६. तोष : सुधानिधि।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि इस शैली की पुस्तकों का उद्देश्य केवल शृङ्गार-रस-निरूपण है। शेष रसों का तो उल्लेख-मात्र है। विषय के लक्षणों का तो साधारण निर्देश भर किया गया है। आचार्यों की प्रतिभा के दर्शन तो उदाहरणों में ही दृष्टिगत होते हैं। रस-निरूपण में तो यह कमी और भी अधिक अखरती है। इन आचार्यों ने एक-आध पंक्ति में लक्षण का निर्देश भर कर दिया है। मतिराम ने तो अपने 'रसराज' का अधिकांश भाग नायक-नायिका-भेद में ही व्यतीत कर दिया है; शृङ्गार रस के मूल विषय पर तो बहुत ही कम लिखा गया है, मतिराम और पद्माकर ने भी पहले नायिका-भेद ही का निरूपण किया है। देव ने भी अपने 'भाव विलास' का अधिक अंश इसी पर व्यय किया है। मतिराम ने विभाव, अनुभाव स्थायी, संचारी आदि रस के अंगों के लक्षण नहीं दिये। उन्होंने उद्दीपन[1] हाव, भाव

१. चन्द कमल चन्दन अगर, ऋतु वन बाग बिहार।
उद्दीपन शृङ्गार के जै उज्वल संभ मतिराम—'रसराज' २८४॥

आदि का नामोल्लेख भर कर दिया है। देव और पद्माकर इस विषय में कुछ अधिक चिन्तन-प्रधान कहे जा सकते हैं। देव ने अपने 'भाव विलास' में रस, भाव, स्थायी, सचारी, हाव-हेला आदि सभी के लक्षण दिए हैं। देव ने स्थायी भाव को 'रस' का अकुर माना है। इस प्रकार वे प्राचीन साहित्य-शास्त्र के वासना-सिद्धान्त की ओर निर्देश कर रहे हैं। उन्होने "रीति" और "शृङ्गार" के लक्षण भी दिए हैं।[1] देव ने सचारी भाव के दो भेद किए है। इन्होने सचारी भाव मे प्राचीन आचार्यो द्वारा निरूपित सात्विक भाव और सचारी दोनो का समावेश कर दिया है।[2] देव की अपेक्षा भी पद्माकर के रस-निरूपण में विशेष प्रौढता है। उन्होने रस की व्याख्या भी की है। अत्यन्त सक्षेप मे सस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य रस के स्वरूप का थोड़ा दिग्दर्शन भर करा दिया गया है। फिर भी रस के कुछ तत्वों का स्पष्ट निर्देश हो गया है। उन्होने स्थायी भाव का रस रूप मे परिणत हो जाना स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त 'जगद्विनोद' मे "रस" को ब्रह्मानन्द स्वरूप भी कह दिया गया है।[3] शृगार का लक्षण भी दिया गया है। यह लक्षण अत्यन्त साधारण कोटि का है। इसमे "देव" के लक्षणो से कोई विशेषता नही है। हां, पद्माकर ने शृङ्गार के आलम्बन, उद्दीपन आदि का भी परिगणन कर दिया है।[4] बेनीप्रवीन ने भी अपने 'नवरस तरग' मे शृगार का साधारण परिचय भर दिया है। शृंगार को रसराज तो माना गया, पर सस्कृत-साहित्य की तरह उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नही किया गया। केवल उसको रसराज कह भर दिया गया।[5]

'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर अलकार-निरूपण-शैली का प्रारम्भ तो बहुत पहले से ही हो चुका था। अकबर के दरबारी कवि करनेस ने इस विषय पर तीन ग्रन्थ

---

१. 'भाव-विलास' देव, पृष्ठ ६।

२. तं सारीर रु आंतर, विविध कहत भरतादि।
स्तभादिक सारीर अरु आन्तर निरवेदादि॥
'भाव-विलास', पृष्ठ २।

३. मिलि विभाव अनुभाव पुनि संचारिन के वृन्द।
परिपूरन थिर भाव सों सुख स्वरूप आनन्द॥
ज्यों पय पाय विकार कछु ह्वै ऋषि होत अनूप।
तैसे ही थिरभाव को बरनत कवि रस रूप॥
'पद्माकर-पवामृत' 'जगत्-विनोद' पृष्ठ ६०४, ६०५।

४. पद्माकर—'जगत्विनोद' पृष्ठ २००। देव—'भाव-विलास' पृष्ठ ५।

५. सबको केशवदास हरिनायक है सिंगार। 'रसिकप्रिया'॥
विमल शुद्ध सिंगार रस देव प्रकाश अनन्त।

लिखे थे, पर इस शैली की वास्तविक प्रतिष्ठा तो राजा 'जसवन्तसिंह' के द्वारा ही हुई। उन्होने जयदेव के 'चन्द्रालोक' की शैली में ही दोहो मे इस ग्रन्थ की रचना की है। एक ही दोहे की प्रथम पक्ति मे अलंकार का लक्षण है, तथा दूसरी पक्ति मे उसका उदाहरण। अलकार-निरूपण की दूसरी शैली है, जिसमे एक छन्द द्वारा उसका उदाहरण दिया गया है। यह शैली 'कुवलयानन्द' की शैली का अनुकरण कही जा सकती है। 'भाषा-भूषण' और 'चन्द्रालोक' की शैली अत्यन्त संश्लिष्ट है। लेकिन यह दूसरी शैली जिसमें लक्षण और उदाहरण अलग-अलग छन्दो में है, कवि और आचार्यों के लिए अधिक सरल है। इस शैली मे विवेचन की अधिक स्पष्टता और पूर्णता भी आ जाती है। रीतिकाल मे प्रायः इसी शैली मे अलंकार-निरूपण अधिक हुआ है। इसमे लक्षण और लक्ष्य दोनो की विशदता के लिए स्थान है। 'पद्माकर' ने अपने 'पद्माकर-भूषण' मे इसी शैली का अनुकरण किया है। 'भाषा-भूषण' की अपेक्षा इस ग्रन्थ का अलकार-निरूपण अधिक स्पष्ट और प्रौढ भी कहा जा सकता है। पर जसवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' रीतिकाल के अनेको आचार्यों के लिए आधारभूत ग्रन्थ बन गया था। इसमे यद्यपि उदाहरणो का सौन्दर्य नही है, पर एक ही पक्ति मे अलकारो के लक्षण अत्यन्त स्पष्ट है। पाठ्य-पुस्तक के रूप मे प्रयुक्त होने के उपयुक्त यह ग्रन्थ है। हरिहरनाथ ने अपने ग्रन्थ मे पहले कुछ छन्दो मे सब अलकारो के लक्षण दे दिए है और बाद मे उनके उदाहरण दिये है। जसवन्त-सिह के 'भाषा-भूषण' मे अत्यन्त सक्षेप मे सब अलकारो के लक्षण और उदाहरण याद करने के योग्य शैली मे लिखे गए है। इसका उद्देश्य अलंकारों का तर्कपूर्ण निरूपण नही था। रीतिकाल के कुछ आचार्यो मे यह प्रौढ और तर्कपूर्ण अलकार-विवेचन भी मिलता है। शम्भुनाथ ने गद्य मे वार्त्तिक भी लिखा है। वशीधर और दलपति ने भी अपने अलकार-निरूपण मे अपेक्षाकृत अधिक प्रौढता लाने के लिए गद्य का पर्याप्त प्रयोग किया है। पर उस समय तक गद्य का इतना विकास नही हो पाया था। इसलिए उन्हें इस कार्य में इतनी सफलता नही मिल सकी। वास्तव मे ब्रजभाषा में बहुत दिनो से पद्य-रचना की परम्परा ही चली आ रही थी, इसलिए वह पद्य के ही अधिक उपयुक्त हो चुकी थी। सिद्धान्त-निरूपण के लिए जिस सबलता और यथार्थ की निरूपण-क्षमता की आवश्यकता होती है उसका पद्य की भाषा में प्रायः अभाव ही रहता है। पद्य में काव्योपयोगी माधुर्य कोमलता और लचक अधिक रहती है। यही कारण है कि सस्कृत-आचार्यों को भी गद्य का पर्याप्त आश्रय लेना पड़ा है।

उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस न पावत अन्त ॥

× × ×

रसनि सार सिंगार रस प्रेम सार शृंगार। देव—'शब्द-रसायन'।

रीति काल के कुछ आचार्यो ने भी गद्य का प्रयोग किया और इस प्रकार उसमें निरूपण की प्रौढता भी आई, पर अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन नही हो सका। फिर भी दलपति, बशीधर आदि कुछ आचार्यों का विवेचन पर्याप्त प्रौढ है। उन्होने उदाहरणो के स्थान पर स्वरचित पद्यो के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के अनेक कवियो की रचनाओ का भी उपयोग किया है। इन्होने केशव, गग, बिहारी, मतिराम आदि के छन्दो के उदाहरण दिये है और अलकारयुक्त अशो का निर्देश कर दिया है। इस प्रकार ऐसे अंशो का निर्देश कर देना विवेचन की प्रौढता का स्पष्ट परिचायक है। रीतिकाल का सबसे प्रधान विषय अलकार और नायिका-भेद-निरूपण था। केवल अलकार का निरूपण करने वाले आचार्य भी नायिका-भेद को नही भूल पाए है। 'भाषा-भूषण' मे सर्वप्रथम थोडा-सा नायक-नायिका-भेद-निरूपण ही किया गया है। जिन आचार्यों ने सब काव्यांगों के साथ अलकार-निरूपण किया है, उन्होने भी अन्य काव्यांगो की अपेक्षा अलकार-निरूपण को ही अपने ग्रन्थ मे अधिक स्थान दिया है। यह बात हम केशव की 'कविप्रिया' मे देख चुके है।

इस शैली मे लिखी हुई निम्नलिखित पुस्तके विशेष उल्लेखनीय है—१. करनेसः श्रुति-भूषण। २. सूरति मिश्र : अलकार माला। ३. भूपति : कर्णभरण। ४. जसवन्त सिह . भाषा-भूषण।

रीतिकाल की यह प्रधान शैली थी, इसलिए इस शैली के ग्रन्थ-निर्माण में प्राय: सभी रीतिकालीन आचार्यो ने सहयोग दिया है। जैसा कि निर्देश हो चुका है कि इस काल के कुछ आचार्य वस्तुतः कवि ही थे। उनकी प्रतिभा का विकास काव्य-सृजन मे ही हुआ है। पर काल की परम्परा ने उन्हे आचार्य का भी कार्य करने के लिए बाध्य किया है। ऐसे आचार्यो मे मतिराम और भूषण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मतिराम का 'ललित-ललाम', भूषण का 'शिवराज-भूषण' दूलह का 'कविकुल कर्णाभरण', ग्वाल का रसिकानन्द', प्रतापसाहि का 'अलकार-चिन्तामणि' ये सब इसी शैली के कहे जा सकते हैं। वास्तव मे यह कोई विशेष भिन्न शैली तो नहीं कही जा सकती है। इसको भी हम 'कुवलयानन्द' की शैली के अनुकरण के अन्तर्गत ही ले सकते है। पर केवल अन्तर यही है कि इन्होने अलकार-निरूपण की दृष्टि से अपने ग्रन्थों की रचना नही की प्रतीत होती है। मुक्तक छन्दो की रचना के उपरान्त अलंकार-लक्षण का एक-एक छन्द लिखकर इन्होने उदाहरणों के रूप में अपने मुक्तको का सग्रह कर दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस परम्परा के कवि अलंकारो के लक्षण और उदाहरण दोनों की दृष्टि से इतने सफल नही हुए है। इन्होंने अलकारों के उदाहरण देने के लिए काव्य-रचना नही की थी, स्वाभाविक रूप में अलकार प्रयुक्त हो गए हैं। फिर भी मतिराम-जैसे एक-दो व्यक्तियो का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए उनका निरूपण भी अन्य कवियो की अपेक्षा कुछ

प्रौढ है ।

इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि रीतिकाल की समीक्षा सस्कृत का अनुकरण-मात्र है। प्राचीन आचार्यों ने जिन काव्यागो का निरूपण किया है, उन्ही का स्थूल निर्देश-मात्र इस काल के आचार्यों ने कर दिया है। सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन का अभाव तो अवश्य है, पर काव्य के प्राय: सभी अगो की झलक अवश्य आ गई है। इसलिए शुक्ल जी का इस काल के सिद्धान्त-निरूपण को सस्कृत-साहित्य की उद्धरणी कहना बिलकुल ठीक है। हमे यह देखना है कि काव्य के विभिन्न अगो के सम्बन्ध में रीतिकालीन आचार्यों का क्या दृष्टिकोण रहा है। काव्य की परिभाषा जैसे महत्वपूर्ण तथा गूढ विषय पर रीतिकाल के आचार्यों ने अपनी लेखनी का अपेक्षाकृत कुछ कम प्रयोग किया। सस्कृत मे इस विषय पर जितना विवेचन है, उसकी तरफ इन आचार्यों का ध्यान ही नही जा सका। एक प्रकार से काव्य का यह अग उपेक्षित-सा ही रहा। फिर भी रीतिकाल के आचार्यों ने यत्र-तत्र रस, ध्वनि, अलकार आदि पर जो विचार प्रकट किये हैं, जिस प्रकार का सामजस्य इन्हे मान्य हुआ है उससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हे काव्य के प्राय: वे ही तत्व मान्य है, जिनका उल्लेख मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' मे है। दास, देव, कुलपति आदि कुछ आचार्यों ने काव्य के प्रधान तत्व रस, शब्द, अर्थ, अलकार और दोषभाव माने हैं। वैसे ये तत्व सस्कृत-साहित्य के सभी आचार्यों को किसी-न-किसी रूप मे मान्य हो गए थे। पर क्योंकि मम्मट ने इनका कुछ थोडा स्पष्ट निर्देश कर दिया था और रीतिकाल के प्राय: सभी आचार्यों ने इस रीति मे मम्मट का ही अनुकरण किया, इस लिए रीतिकालीन 'काव्य-परिभाषा' पर भी उनका ही प्रभाव मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस काल के सभी आचार्यों ने 'रस को ही काव्य की आत्मा' कहा है। संस्कृत-साहित्य मे 'काव्य पुरुष' के रूपक का राजशेखर आदि आचार्यों ने निर्देश किया है। उसी की छाया इन आचार्यों में मिलती है। इनमे से केशव आदि एक-दो आचार्यों ने अलकार को विशेष महत्व दिया है, यद्यपि काव्य मे रस को इन्होने भी प्राण ही कहा है। शेष सभी आचार्यों ने 'काव्य-पुरुष' का वही प्राचीन रूपक लिया है और इस प्रकार काव्य के तत्वों मे वही परम्परा-प्राप्त समन्वय उन्हें मान्य है। समन्वय मे रीति-कालीन आचार्यों ने इसी के अनुरूप काव्य-स्वरूप का सकेत भर कर दिया है।[1] केशव ने 'सुबरण' और 'सुवृत्त' कहकर सुन्दर वर्ण और छन्दो का भी काव्य-स्वरूप मे समाहार कर लिया है।

---

१. ध्वंग जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह ।
गुनजुत भूषण भूषने दूषत दूषन देह ॥ 'रस-रहस्य', कुलपति ॥
रस कविता को अंग, भूषत है भूषण सकल ।

प्रौढ है ।

इस बात मे किसी प्रकार का सन्देह नही कि रीतिकाल की समीक्षा सस्कृत का अनुकरण-मात्र है । प्राचीन आचार्यों ने जिन काव्यागो का निरूपण किया है, उन्ही का स्थूल निर्देश-मात्र इस काल के आचार्यो ने कर दिया है । सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन का अभाव तो अवश्य है, पर काव्य के प्राय: सभी अगो की झलक अवश्य आ गई है । इसलिए शुक्ल जी का इस काल के सिद्धान्त-निरूपण को सस्कृत-साहित्य की उद्धरणी कहना बिलकुल ठीक है । हमे यह देखना है कि काव्य के विभिन्न अगो के सम्बन्ध मे रीतिकालीन आचार्यो का क्या दृष्टिकोण रहा है । काव्य की परिभाषा जैसे महत्वपूर्ण तथा गूढ विषय पर रीतिकाल के आचार्यो ने अपनी लेखनी का अपेक्षाकृत कुछ कम प्रयोग किया । सस्कृत मे इस विषय पर जितना विवेचन है, उसकी तरफ इन आचार्यो का ध्यान ही नही जा सका । एक प्रकार से काव्य का यह अग उपेक्षित-सा ही रहा । फिर भी रीतिकाल के आचार्यों ने यत्र-तत्र रस, ध्वनि, अलकार आदि पर जो विचार प्रकट किये है, जिस प्रकार का सामजस्य इन्हे मान्य हुआ है उससे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हे काव्य के प्राय: वे ही तत्व मान्य है, जिनका उल्लेख मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' मे है । दास, देव, कुलपति आदि कुछ आचार्यो ने काव्य के प्रधान तत्व रस, शब्द, अर्थ, अलंकार और दोषभाव माने है । वैसे ये तत्व सस्कृत-साहित्य के सभी आचार्यो को किसी-न-किसी रूप मे मान्य हो गए थे । पर क्योंकि मम्मट ने इनका कुछ थोडा स्पष्ट निर्देश कर दिया था और रीतिकाल के प्राय: सभी आचार्यो ने इस रीति में मम्मट का ही अनुकरण किया, इस लिए रीतिकालीन 'काव्य-परिभाषा' पर भी उनका ही प्रभाव मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है । इस काल के सभी आचार्यो ने 'रस को ही काव्य की आत्मा' कहा है । संस्कृत-साहित्य मे 'काव्य पुरुष' के रूपक का राजशेखर आदि आचार्यो ने निर्देश किया है । उसी की छाया इन आचार्यों मे मिलती है । इनमे से केशव आदि एक-दो आचार्यो ने अलकार को विशेष महत्व दिया है, यद्यपि काव्य मे रस को इन्होने भी प्राण ही कहा है । शेष सभी आचार्यों ने 'काव्य-पुरुष' का वही प्राचीन रूपक लिया है और इस प्रकार काव्य के तत्वों में वही परम्परा-प्राप्त समन्वय उन्हें मान्य है । समन्वय मे रीति-कालीन आचार्यों ने इसी के अनुरूप काव्य-स्वरूप का सकेत भर कर दिया है ।[1] केशव ने 'सुवरण' और 'सुवृत्त' कहकर सुन्दर वर्ण और छन्दो का भी काव्य-स्वरूप मे समाहार कर लिया है ।

---

१. व्यंग जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह ।
गुनजुत भूषण भूषने दूषत दूषन देह ॥ 'रस-रहस्य', कुलपति ॥
रस कविता को अंग, भूषत है भूषण सकल ।

रीतिकाल के सभी आचार्यों ने केवल काव्य-तत्वों के निर्देश द्वारा काव्य का लक्षण नहीं किया है। प्रतापसाहि ने अपने काव्य-लक्षण में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के लक्षणों के अनुवाद भी दिए हैं। ये छायानुवाद ही कहे जा सकते हैं। इनमें प्रायः उन आचार्यों के मत का सारांश ही आया है। कहीं-कहीं लक्षण में जो बात नहीं कही गई है, उसका भी समावेश प्रतापसाहि ने कर लिया है। साहित्यदर्पणकार के काव्य-लक्षण के नाम से जो लक्षण दिया गया है[1] वह 'साहित्य दर्पण' के लक्षण का अनुवाद नहीं है। पर जिन तत्वों का समावेश लेखक ने किया है, उनको आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से भी स्वीकार किया जा सकता है। इसी तरह उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण में रमणीय शब्द का प्रयोग किया है। यह मम्मट के मूल लक्षण में कहीं नहीं है।[2] 'काव्य-विलास' के लेखक ने 'काव्य-प्रदीप' का लक्षण भी दिया है।[3] इन तीनों लक्षणों में सामंजस्य स्थापित करके किसी एक निश्चय पर पहुँचने की प्रवृत्ति नहीं है। कुलपति ने काव्य-प्रकाशकार के मत के साथ ही अपना काव्य-लक्षण भी दिया है।[4] इस लक्षण में लेखक अनेक ग्रन्थों के मन्थन का संकेत कर रहा है। सोमनाथ ने 'रस-पीयूषनिधि' में अपने काव्य-लक्षण में कवि-कर्म और पिंगल-मत-अनुरूपता का भी उल्लेख किया है। काव्य के विभिन्न तत्वों की परिगणना से उसके स्वरूप का वर्णन-मात्र है।[5]

गुन स्वरूप श्री रंग, दूषन करे कुरूपता ।। काव्य-निर्णय ।।
कविता व न सभरी, सुन्दर सोई सुलाल ।
बिन भूषन नहीं भूषहीं, गहे जगत् की साल ।। उत्तमजन्द : अलंकार ।।
जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिना बिराजई कविता, बनिता मित्त ।। 'केशव' ।।

१. रसयुत व्यंग प्रधान शब्द अर्थ शुचि होई ।
उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावे सोई ।। प्रतापसाहि—'काव्य-विलास' ।।
पृष्ठ १ : २ हस्तलिखित प्रति । काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।

२. गुणयुत सब दूषन रहित काव्य-अर्थ रमणीय ।
स्वल्प अलंकारयुत काव्य को लक्षण कहि कमनीय ।। वही ।।

३. अद्भुत बातन ते जहां उपजत अद्भुत अर्थ ।
लोकोत्तर रचना जहां कहौं सुकाव्य समर्थ ।। वही ।।

४. दोष-रहित अरु गुण सहित कहुं अल्पालंकार ।
शब्द अरु अर्थ सों कवित्त है ताको करो विचार ।। कुलपति-'रस-रहस्य' ।।

५. सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध ।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कविता कहि शुद्ध ।।
सोमनाथ—'रस पीयूषनिधि' हस्तलिखित प्रति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।

रीतिकाल के सभी आचार्यों ने केवल काव्य-तत्वों के निर्देश द्वारा काव्य का लक्षण नहीं किया है। प्रतापसाहि ने अपने काव्य-लक्षण में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के लक्षणों के अनुवाद भी दिए हैं। ये छायानुवाद ही कहे जा सकते हैं। इनमें प्रायः उन आचार्यों के मत का सारांश ही आया है। कहीं-कहीं लक्षण में जो बात नहीं कही गई है, उसका भी समावेश प्रतापसाहि ने कर लिया है। साहित्यदर्पणकार के काव्य-लक्षण के नाम से जो लक्षण दिया गया है[1] वह 'साहित्य दर्पण' के लक्षण का अनुवाद नहीं है। पर जिन तत्वों का समावेश लेखक ने किया है, उनको आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से भी स्वीकार किया जा सकता है। इसी तरह उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण में रमणीय शब्द का प्रयोग किया है। यह मम्मट के मूल लक्षण में कहीं नहीं है।[2] 'काव्य-विलास' के लेखक ने 'काव्य-प्रदीप' का लक्षण भी दिया है।[3] इन तीनों लक्षणों में सामंजस्य स्थापित करके किसी एक निश्चय पर पहुँचने की प्रवृत्ति नहीं है। कुलपति ने काव्य-प्रकाशकार के मत के साथ ही अपना काव्य-लक्षण भी दिया है।[4] इस लक्षण में लेखक अनेक ग्रन्थों के मन्थन का संकेत कर रहा है। सोमनाथ ने 'रस-पीयूषनिधि' में अपने काव्य-लक्षण में कवि-कर्म और पिंगल-मत-अनुरूपता का भी उल्लेख किया है। काव्य के विभिन्न तत्वों की परिगणना से उसके स्वरूप का वर्णन-मात्र है।[5]

गुन स्वरूप श्री रंग, दूषन करै कुरूपता ।। काव्य-निर्णय ।।
कविता व न सभरी, सुन्दर सोई सुलाल ।
बिन भूषन नहीं भूषहीं, गहे जगत् की साल ।। उत्तमत्रय : अलंकार ।।
जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिना बिराजई कविता, बनिता मित्त ।।'केशव' ।।

१. रसयुत व्यंग प्रधान शब्द अर्थ शुचि होई ।
उक्ति युक्ति भूषण सहित काव्य कहावे सोई ।। प्रतापसाहि—'काव्य-विलास' ।।
पृष्ठ १ : २ हस्तलिखित प्रति । काशी नागरी प्रचारणी सभा ।

२. गुणयुत सब दूषन रहित काव्य-अर्थ रमणीय ।
स्वल्प अलंकारयुत काव्य को लक्षण कहि कमनीय ।। वही ।।

३. अद्भुत बातन ते जहां उपजत अद्भुत अर्थ ।
लोकोत्तर रचना जहां कहीं सुकाव्य समर्थ ।। वही ।।

४. दोष-रहित अरु गुण सहित कहुं अल्पालंकार ।
शब्द अरु अर्थ सों कवित्त है ताको करो विचार ।। कुलपति-'रस-रहस्य' ।।

५. सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत्त अविरुद्ध ।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कविता कहि शुद्ध ।।
सोमनाथ—'रस पीयूषनिधि' हस्तलिखित प्रति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।

दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' मे यश और अर्थ-प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन कहा है और तुलसी-जैसे महान् कवियो के लिए भी यश को ही काव्य का प्रयोजन माना है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुवर्ग की प्राप्ति ही को साधन कहने की परम्परा, रीतिकाल मे भी रही है। कुलपति अपने 'रस-रहस्य' में काव्य के उन्ही प्रयोजनो का सकेत कर रहे है जो मम्मट को मान्य है। पर वह प्रौढता और स्पष्टता नही है।[1] आचार्य भिखारीदास ने शक्ति, निपुणता, और अभ्यास तीनो को सम्मिलित रूप मे काव्य का हेतु कहा है।[2] उन्होने रथ के रूपक द्वारा अपने मन्तव्य को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। जैसे एक चक्र से रथ नही चलता, उसी प्रकार एक से काव्य-सृजन नही होता। काव्य के प्रधान प्रयोजन आनन्द पर भी विचार हुआ है और काव्य-सृजन और अनुशीलन दोनो ही मे आनन्द माना है।

काव्य मे रस को जो गौरव प्राप्त हो चुका था, उसमे रीतिकाल मे न्यूनता आ जाना सभव नही था और न कभी सभव होगा। रीतिकाल के आचार्यो ने भी रस का पर्याप्त विवेचन किया है। रसो की सख्या मे वृद्धि अथवा कमी तो इस काल के आचार्यो द्वारा नही हो सकी। यह काल मौलिक उद्भावना और प्रौढ विवेचन का काल तो था नही। इस काल की तथाकथित मौलिक उद्भावना पर आगे विचार किया जायगा। यहा पर तो हमे रीतिकालीन आचार्यो द्वारा रस-स्वरूप का जो प्रतिपादन हुआ है, इसी पर विचार करना है। रस की परिभाषा बहुत कम आचार्यो द्वारा दी गई है। इस काल तक "रस" शब्द अपने विशिष्ट अर्थ मे इतना रूढ हो गया था कि सभवत. आचार्य इसके स्वरूप-निरूपण को पिष्टपेषण समझने लगे थे। वस्तुत. ऐसे गम्भीर विषय पर लेखनी उठाना इस काल के आचार्य का काम भी नही था फिर भी कतिपय आचार्यों ने इस विषय का भी विवेचन किया है। यद्यपि यह कहने की भी कोई आवश्यकता नही है कि यह निरूपण भी सस्कृत-साहित्य की छाया-मात्र है। "रस" की परिभाषा के सम्बन्ध मे रीतिकालीन आचार्यों का क्या मत है, इसका कुछ थोडा-सा दिग्दर्शन इसी अध्याय मे पहले हो चुका है। रस की अनुभूति केवल सहृदय व्यक्ति को ही होती है, इसका सकेत दास ने अपने 'काव्य-निर्णय मे तथा देव ने 'शब्द- रसायन' मे किया है।[3]

---

१. **जस सपति आनन्द अति दुरितन डारे खोइ ॥ कुलपति–'रस-रहस्य' ॥**

२. **सक्ति कवित्त बनाइबे को जहि जन्म नक्षत्र में दीनी विधाते ।**
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों देखी-सुनी बहु लोक की बाते ।
दास है जामे एकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातै ॥
'काव्य-निर्णय' पृष्ठ ५ ॥

३. **काव्य-निर्णय (दास), पृष्ठ ४।**

देव ने रस के इस शास्त्रीय पक्ष की और भी विशद व्याख्या की है। इसको जन्मगत सस्कार तथा विधि-गत कृपा का फल कहा है। वृक्ष के रूपक का आश्रय लिया है। स्थायी सचारी आदि सभी तत्वो से परिपक्व होकर रस-रूपी फल कैसे टपकता है, देव ने इसे स्पष्ट कर दिया है।[1] इसमे शास्त्रीय प्रमाणिकता है। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' मे विभावों को रस को उत्पन्न करने वाले, अनुभावो को अनुभव कराने वाले तथा सात्विकों को रस झलकाने वाले कहा है। इस प्रकार रस का अपने इन हेतुओ से क्या सम्बन्ध है, यह भी उन्होने स्पष्ट कर दिया है।[2] देव ने स्थायी भाव का ही रस के रूप मे परिणित हो जाना स्वीकार किया है। उन्होने अपने 'शब्द-रसायन' मे "रति चढि होत सिगार रस" आदि लिखा है।[3] 'कवि-कुल-कल्पतरु' मे चिन्तामणि ने वासना-रूप स्थायी-भाव का ही रस-रूप मे अभिव्यक्त होना माना है।[4] कुलपति भी अपने 'रस-रहस्य' मे इस मत का समर्थन कर रहे है। वे कहते है कि विभाव,

---

१. चित थापित थिर बीज विधि होत अंकुरित भाव।
चितव दलित दल फूलि फल बरनत सरस सुभाव॥
खेत बीज अंकुर सलिल साखा दल फलफूल।
आठ अग रस अपर तरु चुवत अमीरस मूल॥
खेत पात्र प्रारब्ध विधि बाज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह भाव सुविटप छंद पात्र परिभोग॥
अलकार शब्दार्थ के फूल-फलनि आमोद।
मधुर सुजस रस अमर तरु अमी-रस मोद॥ देव–'शब्द रसायन', पृष्ठ २८॥

२. रस अंकुर थाई विभाव रस के उपजावन,
रस अनुभव अनुभाव सात्विकी रस झलकावन,
छिन-छिन नाना रूप रसनि सचारी उझकै,
पूरन रस संयोग विशद रस रग समुझकै,
ये होत नायकादीन में, रत्यादिक रसभाव षट,
उपजावत शृङ्गारादि रस गावत नाचत सुकवि नट॥
देव—'शब्द रसायन' पृष्ठ २९

६. रति चढ़ि होत सिंगार रस हाँसि चढ़ि कै हास।
करुण सोक चढ़ि ऐंउ रस, रिस चढ़ि करत प्रकास॥
देव— शब्द रसायन', पृष्ठ २९

४. थाई सो भाव यह कहिए बसत वासना रूप।
व्यक्ति विभावादिकनि मिलि रस ह्वै लसत अनूप॥

अनुभाव द्वारा अभिव्यक्त जो स्थायी भाव है, वही रस कहलाता है।[1] कुलपति का यह विवेचन प्राचीन आचार्यों के मत का अधिक प्रौढ और सूक्ष्म निरूपण है। गुलामनबी ने भी अपने 'रस प्रबोध' मे यही माना है।[2] प्रतापसाहि ने भी इसमत को उद्धृत करते हुए विभावादिक से अभिव्यक्त स्थायी भाव को ही रस कहा है।[3] रीतिकाल के आचार्यों ने मम्मट का मत ही अपनाया है। रसगगाधरकार के प्रौढ़ विवेचन की ओर उनका ध्यान नही गया है। रीतिकाल का आचार्य इस विवेचन में बहुत गहराई तक नही जा सका। वह यह प्रतिपादन नही कर पाया कि चैतन्य ही स्थायी भाव के आवरण से रस-रूप मे भासित होता है अथवा चैतन्य के आनन्द मे स्थायी भाव ही आनन्दरूप हो जाता है। रसिक गोविन्द ने रस-निरूपण मे विशेष चिन्तन और विश्लेषण का परिचय दिया है। इन्होने गद्य का प्रयोग किया है। उस समय गद्य का इतना विकास नही हो पाया था, इसलिए विषय-निरूपण की गम्भीरता के उपयुक्त भाषा मे सबलता और अभिव्यजना की सफलता तो नही आ पाई है। पर फिर भी रीतिकालीन अन्य आचार्यों की अपेक्षा इनका निरूपण पर्याप्त प्रौढ कहा जा सकता है। इन्होने अपने मत में भरत, मम्मट आदि के प्रमाणो का भी आश्रय लिया है, उनके मतो का निर्देश किया है, तथा अन्त में रस को विशुद्ध, अखण्ड, सत्वप्रकाश, वेद्यान्तर-सस्पर्श शून्य, ब्रह्मास्वाद तथा सहोदर आनन्द कहकर उसके परम्परा से मान्य प्रौढ एव वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है। रस का यह स्वरूप सस्कृत के सभी आचार्यों को मान्य है, 'साहित्य-दर्पण' के 'सत्वोद्रेकात्' की तो इसमे स्पष्ट छाया ही है।[4] रस के आनन्द-स्वरूप का निर्देश कुलपति

---

१. मिलि विभाव अनुभाव अरु संचारी सु अनूप।
व्यग कियो थिर भाव जो सोई रस सुख भूप॥

२ भावहिं ते रस होत है समुझि लेहि मन मांहि।

३. मिलि-मिलि विभाव-अनुभाव मिलि-मिलि संचारी भाव।
व्यंग्य होत थाई तहां रस कहि सो कवि राव॥
'काव्य विलास' हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा॥

४. अन्य ज्ञान रहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न : अन्य ज्ञान रहित आनन्द तो निद्रादि है। उत्तर : निद्रा जड़ है यह चेतन। भरत आचार्य सूत्र कर्ता का मत विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग में रस सिद्धि। अथ काव्य-प्रकाश को मत कारण काज सहायक है जे लोक मे; इन ही की नाट्य में काव्य मे विभाव सज्ञा है। अथ टीका कर्ता मत तथा साहित्य-दर्पण का मत सत्व, विशुद्ध, अखन्ड, स्वप्रकाश, आनन्द चित्त आत्मज्ञान ब्रह्मास्वाद सहोदर रस।
'रसिक गोविन्द', हस्तलीखित प्रति

भी करते है। उन्होने अभिनव गुप्त का रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी उद्धृत किया है। रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध मे सस्कृत मे कई सम्प्रदाय थे। उनमे चार तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है। रीतिकाल के आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे कही-कहीं उनका भी संकेत किया है। उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद भुक्तिवाद, और अभिव्यजना-वाद—इन चारो ही सम्प्रदायो का साधारण-सा परिचय मिल जाता है। सरदार कवि ने 'मानस-रहस्य' मे ये चारो मत उद्धृत किये है। वे इनके सम्बन्ध मे 'सभाप्रकाश' नामक सस्कृत-ग्रन्थ का मत उद्धृत करते है। गद्य में इन मतो का कुछ थोडा-सा आलोचनात्मक निरूपण तथा अनुमति आदि वादो का खडन भी है।[1] उपर्युक्त पुस्तक के लेखक ने अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को सर्वसम्मत कहा है। इससे वे भी इस मत का समर्थन करते प्रतीत होते है। रीतिकाल के आचार्यो ने स्पष्टत: किसी मत का अपने-आपको अनुयायी नहीं, कहा है। कुलपति, दास, चिन्तामणि, प्रतापसाहि आदि प्रथम शैली के प्राय: सभी आचार्य अभिनवगुप्त के सिद्धान्त को मानने वाले है। यद्यपि इन्होने स्पष्टत: इसको कही भी स्वीकार नही किया है, परन्तु उनका ध्वनि-सिद्धान्त का समर्थक होना ही इस अनुमान के लिए पर्याप्त कारण है। देव, भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद के समर्थक हैं। उन्होने विभावो को रस के 'उद्भावक' कहा है। देव ने विभावादिक नायिका आदि में रस की स्थिति मानी है। नट के अभिनय में कौशल से रस की उत्पत्ति होती है।[1] प्रतापसाहि द्वारा उद्धृत इस मत को हम पहले देख चुके है, वे भी अभिव्यजना के समर्थक प्रतीत होते है। लेखक ने अपने 'काव्य-विलास' मे इन वादो के नाम गिना दिये है।[3] रीतिकाल के प्राय: सभी आचार्यो को "नव रस" का ही सिद्धान्त मान्य हुआ है। पर कुछ आचार्यो ने भेदो और उपभेदो द्वारा इस संख्या को बढ़ाने की भी चेष्टा

---

१. तामें कोई कहत उत्पन्न होत है तहां कोई ऐसी उत्पत्ति होय तो लीला राम देखि फेर राम देखने की चाह नही चाही अरु रस दृश्य पदार्थ चाही याने अनुमान होत है, लीलाराम ते राम अनुमान भयो ऐसे ही विभाव आदि ते अनुमान है। तहां आन कही अनुमान ते कारज नाहीं होत जैसे पर्वत मे धूम देखि अग्नि अनुमान कीनो तहां पाकाविक्रीया नाहीं सिद्ध है। लीलाराम ते जो सादृश्य रूप हृदय में आव तो कारज होय है ऐसे ही रस जैसे स्वयंभू मनु को लीलाराम देखि राम प्राप्ति भये, वामे कोई कहे देखना कहां लखा तो गुसाईं लिखी "विधि हरिहर तप देखि अपारा·····:" 'मानस-रहस्य'

२. देव—'शब्द-रसायन', पृष्ठ २९

३. 'काव्य विलास' हस्तलिखित प्रति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ३३-३४।

की है। केशव ने अपनी 'रसिकप्रिया' में इसके दो मूल भेद माने हैं, प्रच्छन्न और प्रकाश। इन भेदो की दृष्टि से उन्होने भाव, नायक, नायिका आदि के भी उदाहरण दिये है। लेकिन केशव का यह विभाजन किसी प्रकार भी महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। परवर्ती किसी भी आचार्य ने इसका अनुकरण नही किया है। देव ने इसे अवश्य माना है।[2] देव मे रस के भेदोभेद मानने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। उन्होने प्रधान रस नाटक मे आठ, और काव्य मे नौ माने है।[3] पर इनके कई और भेद कर दिए है। "करुण रस" के पाँच भेद[4] तथा वीभत्स के दो भेद माने है।[5] 'भवानी विलास' मे उन्होने शान्त रस के भी भेद कर दिए है, शुद्ध शान्त और भक्ति शान्त। इससे भावो के स्वरूप का विश्लेषण करने तथा मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति स्पष्ट है।

सस्कृत-साहित्य मे अत्यन्त प्राचीन काल से ही एक रस को प्रधान तथा अन्य सभी को गौण मानने की प्रवृत्ति बहुत से आचार्यों मे रही है। इसका दिग्दर्शन पीछे हो चुका है। रीतिकाल के आचार्यों ने इसमे सस्कृत के आचार्यों का अनुकरण किया है। उसमे से अधिकाश ने शृगार को ही प्रधान माना है और उसीमे अन्य रसो का समावेश कर दिया है। सस्कृत मे तो शृगार के अतिरिक्त शान्त, करुण आदि रसो मे भी अन्य रसो की उत्पत्ति अथवा उन्ही मे पर्यवसान का प्रतिपादन हुआ है। पर रीतिकाल मे यह गौरव केवल शृगार को ही प्राप्त हो सका है। देव ने शृगार, वीर, रौद्र और वीभत्स ये चार प्रधान रस माने है और उन्ही से शेष चार रसो की उत्पत्ति मान ली है। उपयुक्त चार प्रधान रसो से क्रमश हास्य, करुण,

---

२ देव कहैं प्रच्छन्न सो, जाकी दूरि विलास।
जानत जाको सकल जन, बरनै ताहि प्रकास॥
शुभ संयोग वियोग पुनि, दोऊ शृंगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि, दोऊ द्वै-द्वै भाँति॥

३ यहि भाँति आठ विधि कहत कवि, नाटक मत भरतादि सब।
अस सात मतन मत काव्य के, लौकिक रस के भेद नव॥
देव—'भाव विलास', तृतीय विलास, पृष्ठ ६८
नाटक मत, आठ बिन सात, समै-समै भावनि ते निकसे।
देव—'शब्द-रसायन', पृ० २६।
करुना, अति करुना महा करुन लघुहेत।
एक कहत है पांच ये, दुख में सुखहि समेत॥ देव—'शब्द रसायन' पृ० ३८॥

५ निंद्य कर्म करि, निंद्य गति, सुनै कि देखे कोय।
तन संकोच मन सभ्रमन, द्विविधि जुगुपन होय॥ 'शब्द रसायन', पृष्ठ ४४

अद्‌भुत और भयानक की उत्पत्ति मानी है।[1] शान्त स्वतन्त्र है। बाद में तो इन नौ रसो मे से केवल तीन ही प्रधान रह गए, शृगार, वीर और शान्त तथा इन्ही में शेष रसो का समाहार कर लिया गया।[2] 'भवानी विलास' में तो वीर और शान्त रस का भी शृगार मे ही समावेश कर लिया गया है। 'शब्द रसायन' की दृष्टि से सयोग शृङ्गार मे हास्य, वीर और अद्‌भुत तथा शेष सभी का वियोग मे अन्तर्भाव है। वीभत्स और शान्त दोनों में आ सके हैं।[3] शृङ्गार के "रसराजत्व" को रीतिकाल के आचार्यो ने सस्कृत के आचार्यों से भी अधिक बढा दिया। वे "रसनिसार सिंगार रस" कहकर ही नही रह गये, अपितु उन्होने प्रकृति-पुरुष के शृगार मे सभी रसों का समावेश मान लिया।[4] देव ने शृङ्गार को आकाश तथा अन्य रसो को पक्षी कहा है। वे सब इसी मे आश्रय लेते है। बेनी प्रवीन भी इसे रसराज कहते है।[5] दास ने शृङ्गार रस के साथ वात्सल्य, मुनि-रति, देव-रति आदि का भी निरूपण किया

---

१. होत हास्य सिंगार ते, करुन रौद्र ते जानु।
वीर जनित अद्‌भुत कही, वीभत्स से भयानक ॥

२. तीनि मुख्य नव ही रसनि, द्वै-द्वै प्रथमनि लीन।
प्रथम मुख्य तिनन मे, दोऊ तेहि अधीन ॥
हाव भाव सिंगार रस, रुद्र करुन रस बीर।
अद्‌भुत अरु वीभत्स सग, सातों बरनत धीर ॥
देव—'शब्द रसायन', पेज ३१।

३. सो सयोग वियोग भेद, शृंगार दुविध कहु,
हास्य, वीर, अद्‌भुत सयोग के संग सग लहु,
अरु करुना, रौद्र, भयान भये, तीनों वियोग अंग।
रस वीभत्स एक सांत दोऊ दुहून सग,
यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिसके अनुभव सब रसनि।
नवहूं सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य शृङ्गारनि ॥
देव—'शब्द रसायन', पेज ५८।

४. प्रकृति-पुरुष-शृंगार में नौरस को संचार
जैसे यह आकाश मे घटत अकास प्रकास
जगत मुख्य शृंगार में नवरस झलकत यत्र
ज्यों ककन मनि कंकना को ताहि मे नवरत्न
बाहेर भीतर भाव ज्यों रसनि करत संचार।
त्यों ही रस भावना सहित सचारी सिंगार। देव—'शब्द-रसायन' पेज ५८।

५. देव—'शब्द-रसायन'। बेनी प्रवीन—'नवरस-तरग'।

है। पर प्राचीन आचार्यो की परम्परा के अनुकूल इनको भाव की कोटि मे ही रखा है, रस-कोटि मे नही। दास ने भी हास्य के स्मित आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य भेद नही दिये है। उन्होने अपने 'काव्य-निर्णय मे रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावशान्ति, भावोदय और भावशबलता पर भी विचार किया है। इनके सामान्य लक्षण तथा उदाहरण भर दे दिए गए है।[1] विवेचन का तो सर्वत्र अभाव है ही। दोषो के सम्बन्ध मे केशव ने जो-कुछ लिखा है, उसका निरूपण इसी अध्याय मे पहले हो चुका है। दोष की सामान्य व्याख्या नही हुई है। दास, देव आदि कतिपय आचार्यों ने "रस-दोष" पर भी विचार किया है। देव ने तो केवल कुछ दोषो के नाम गिनाकर उदाहरण दे दिए है।[2] दास ने अपने ग्रन्थ मे "रस-दोष" पर प्राचीन परम्परा के अनुकूल विचार किया है। उन दोषो के लक्षण भी दिये है। रस और भाव की शब्द-वाच्यता, विभाव, अनुभाव की क्लिष्ट कल्पना, भावादिक की रस की दृष्टि से प्रतिकूलता, अग का अगी की अपेक्षा अधिक वर्णन, असामयिक वर्णन, प्रकृति-विपर्यय आदि दोषो के सामान्य लक्षण तथा उदाहरण दिए है।[3] देव ने अपने 'शब्द-रसायन' मे मित्र और अमित्र रसो का भी विचार किया है।[4] रीतिकाल मे रसो के सभी अगो पर विशद विवेचन अवश्य हुआ है, पर रस की स्थिति, रस और स्थायी के सम्बन्ध का जो निरूपण सस्कृत-साहित्य मे हुआ है, उसके गम्भीर विवेचन की तरफ इन आचार्यो का ध्यान नही जा सका। यही कारण है कि 'भरत-सूत्र' के व्याख्याताओ के जो अनेक सम्प्रदाय बन गये थे उनकी झलक-मात्र ही आ सकी। "रस व्याख्या" मे 'भरत-सूत्र' का सकेत 'रसिक-गोविन्द' ने किया है। रस के उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति अथवा अभिव्यक्ति आदि किसी वाद का विश्लेषणात्मक समर्थन या खडन तो कही नही हुआ। साधारण संकेत भर है, इसका निरूपण पहले हो चुका है। रीतिकाल इतने गम्भीर विवेचन के लिए उपयुक्त काल नही था।

इस काल में स्थायी, संचारी, अनुभाव, हाव हेला आदि पर भी आचार्यों ने बहुत-कुछ लिखा है। कुछ आचार्यो ने भाव के लक्षण भी दिये हैं। चिन्तामणि ने स्थायी भाव को वासना रूप माना है।[5] सोमनाथ ने रसानुकूल विकार को भाव मानने

---

१. दास—'काव्य निर्णय', पेज ३१:४२।

२. सरस निरस सन्मुख विमुख स्वपर निष्ट पहिचानि
मीत अमीत उदास चित उचित सुचित बखानि। देव—'शब्द-रसायन' पेज ५०।

३. दास—'काव्य-निर्णय' पृष्ठ २७२:२८२।

४. देव—'शब्द-रसायन' पृष्ठ ४७।

५. थाई सो भाव यह बसत वासना रूप। चिंतामणि—'कविकुल कल्पतरु'॥

का कवि परम्परा का उल्लेख किया है।[1] संस्कृत के आचार्यों में शान्त के स्थायी भाव के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद भी रहा है। स्थायी और सचारी के सामान्य लक्षण का भी पर्याप्त गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण हुआ है। ये नौ ही स्थायी भाव क्यों माने जाये क्या सभी संचारी भाव स्थायी की कोटि में आकर रस-रूप मे परिणत नहीं हो सकते आदि अनेक मौलिक प्रश्नो पर विचार हुआ है। पंडितराज ने रसों की अनेकता स्वीकार भी की है। पर केवल आचार्य-परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए उनकी संख्या नौ ही रखी है। रीतिकाल के आचार्य समीक्षा की उसी परिपाटी को लेकर चले है, लेकिन इतने गम्भीर प्रश्नो की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जा सका। इसलिए इस काव्य मे स्थायी संचारी आदि पर बहुत साधारण-सा विवेचन हुआ है। उनका परिचय भर दे दिया गया है। संचारियो की सख्या ३३ मानी गई है। देव ने 'छल' को मानकर ३४ कर दी है। पर स्वयं देव ने ही अपने शब्द-रसायन मे यह सख्या ३३ ही रखी है। आचार्य शुक्ल भी उसे उचित नही समझते। छल का समावेश अवहित्थ में हो जाता है। देव वे सचारी के दो मूल भेद किये है, शारीर और आतर।[2] 'शारीर' से उनका सात्विक भावो से तात्पर्य है और आंतर संचारी वे ही परम्परागत सचारी भाव है। इनमे कोई नवीनता नही है, इनका आगे विवेचन किया जायगा।

अलकार और नायिका-भेद रीतिकाल के सबसे प्रिय विषय प्रतीत होते हैं। प्राय: सभी आचार्यों ने इन दो विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। इस काल में अलकार-निरूपण में शैली और सामग्री दोनो ही दृष्टियो से 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का अनुकरण हुआ है। केशव ने दडी को आधार मानकर अपनी 'कवि-प्रिया' की रचना की थी, लेकिन परवर्ती आचार्यो ने दडी के 'काव्यादर्श' की अपेक्षा जयदेव के 'चन्द्रालोक' को आधार बनाना अधिक समीचीन समझा। इसका यह तात्पर्य नही है कि रीतिकाल के आचार्यों ने सस्कृत का अक्षरश: अनुवाद कर दिया है। उन्होने प्राचीन ग्रन्थों की छायामात्र ली है। वैसे तो अगर ये आचार्य संस्कृत-ग्रन्थो का अनुवाद कर देते तो हिन्दी को अधिक प्रौढ़ समीक्षा-शैली प्रदान कर जाते। इस छाया मात्र के ग्रहण करने के कारण अपेक्षित गाम्भीर्य और प्रौढ़ता नही आ पाई है। केशव की 'कविप्रिया' के अलंकार-निरूपण के सम्बन्ध में हम पहले विचार कर चुके हैं। रीतिकाल के अलंकार-निरूपण केशव की 'कविप्रिया'

---

१. रस अनुकूल विकार जु होत तासौ भाव कहत कवि लोग। सोमनाथ—'रस-पीयूषनिधि'॥

२. ते सारीर रु आंतर, द्विविध कहत भरतादि।
स्तभादिक सारीर अरु, आंतर नरवेदादि॥ देव—'भाव विलास' २१॥

के आधार पर न होकर सीधा 'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर हुआ। यशवन्तसिंह का 'भाषा-भूषण' एक प्रकार से 'चन्द्रालोक' का अनुवाद ही है। आगे पद्माकर आदि ने 'भाषा-भूषण', 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' तीनो से ही सहायता ली है। भाषा-भूषण' के सम्पादक ने आलोचको के इस मत का खडन किया है कि उक्त ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' का अक्षरश: अनुवाद है। उनका यह कहना ठीक है कि 'भाषा-भूषण' के लेखक के सामने संस्कृत के और भी ग्रन्थ थे और उन्होने स्वतन्त्र चिन्तन से भी काम लिया है। जयदेव ने अपह्नुति के केवल चार भेद माने है और यशवतसिंह ने छै। कही-कही 'चन्द्रालोक' से साधारण-सा भेद तो है, पर प्राय: उसी की वस्तु और शैली का अनुकरण है। ब्रजरत्नदास ने जितने उदाहरण दिये है, उनमे वैषम्य की अपेक्षा साम्य ही अधिक है। भ्रातापह्नुति तथा पर्यस्तापह्नुति के लक्षणो से तो अनुवाद स्पष्ट ही है।[1] इनके उदाहरणो मे भी साम्य है।

अलकार शब्द के अर्थ मे आनन्दवर्द्धन तथा अभिनव गुप्त से पूर्व प्राय: एक अव्यवस्था-सी थी। उसका एक व्यापक अर्थ लिया जाता था। अलकार और अलकार्य मे कोई विशेष अन्तर नही समझा जाता रहा। बाद मे धीरे-धीरे अलकार और अलकार्य का भेद कुछ विशेष स्पष्ट भी होने लगा था, पर फिर भी अलकार शब्द में अर्थ की बहुत व्यापकता थी। भामह और कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही इनका आधार मानकर तथा वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानकर अलकार को बहुत विशद अर्थ दे दिया था। उसमे, गुण, रीति, वृत्ति यहाँ तक की रस तक का, समावेश हो गया था। ध्वनिकार और अभिनवगुप्त के प्रौढ विवेचन ने काव्य के अन्य तत्वो के साथ अलकार का भी काव्य मे एक विशिष्ट स्थान निश्चित कर दिया। रस, गुण, रीति आदि अलकार से निकलकर अपना पृथक् अस्तित्व बना चुके थे। पर फिर भी अलकार एक शैली विशिष्ट के रूप मे अवशिष्ट रह गया था। इस प्रकार उसके अर्थ मे पर्याप्त व्यापकता अब भी अवशिष्ट थी। लेकिन मम्मटाचार्य ने स्पष्टत: इसको "हारादिवत" कहकर इनके क्षेत्र को बहुत-कुछ सीमित कर दिया। गुणो और अलकारो का भेद मम्मट ने ही इतना अधिक स्पष्ट किया था। गुणो का रस से अभिन्न और नित्य सम्बन्ध है तथा अलकारो का केवश अनित्य और आकस्मिक। यह प्रतिपादन मम्मट ने ही इतनी स्पष्टता से किया है। इसी आधार पर अलकार काव्य-शरीर के बाह्य सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करने के साधन-मात्र रह गए थे। उनके बिना भी काम चल सकता है। यद्यपि मम्मट ने अलकार का व्यापक अर्थ भी ग्रहण

---

१. भ्रांत पह्नुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिर्णये।
शरीरे तव सोत्कर्ष ज्वर: किं न सखि स्मर:॥ चन्द्रालोक॥
भ्रांति अपह्नुति बचन सों भ्रम जब पर को जाइ।
ताप करत है ज्वर नहीं सखी मदन तप आइ॥ यशवन्तसिंह-भाषा-भूषण॥

किया है और काव्य के लिए एक प्रकार से अनिवार्य भी माना है।[1] पर समीक्षा-शास्त्र की परवर्ती परम्परा में मम्मट के इस कथन के अनुकरण पर अलंकारों का यहाँ 'हारादिवत्' रूप ही ग्रहण हुआ है। लेकिन संस्कृत के जयदेव आदि कुछ आचार्यों ने अलंकार की काव्य में एक बार पुनः अनिवार्यता की घोषणा कर दी थी। हिन्दी में जयदेव का ही अनुकरण हुआ, पर अलंकार के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने किया वह मम्मट का "हारादिवत्" वाला ही रूप है। 'भाषा भूषण', 'पद्माभरण', 'शिवराज भूषण'-जैसे 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलंकार-निरूपण-शैली में लिखे गए ग्रन्थों में अलंकार-सामान्य पर कोई विशेष विवेचन है ही नहीं। इसलिए जयदेव के अलंकारवादी दृष्टिकोण का निर्वाह अलंकार की परिभाषा में नहीं हो सका। केशव तो अत्यन्त प्राचीन दृष्टिकोण को लेकर चले थे, जब अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं था। उन्होंने अवश्य सब तत्वों को अलंकार के नामों से अभिहित किया है, पर उन्होंने भी अलंकार की ऐसी व्यापक व्याख्या नहीं की जिससे अलंकार ही काव्य का सर्वस्व सिद्ध हो जाता। तत्कालीन परिपाटी को ग्रहण करके वर्ण्य विषय को भी अलंकार कह दिया है। शेष सभी आचार्यों ने इस क्षेत्र में मम्मट के "हारादिवत्" वाले मत का ही अनुसरण किया है। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' में कविता को कामिनी कहा है और आभूषणों से उसके सौन्दर्य में वृद्धि मानी है।[2] दास ने काव्य में अलंकार, रस और गुण इन तीनों को आवश्यक कहा है। यह मम्मट का ही प्रभाव है।

अलंकारवादी परम्परा का अनुकरण करने वाले आचार्यों ने भी अलंकार के स्वरूप, आधार आदि पर विचार नहीं किया है। इससे उनके विवेचन में भी अलंकार के ऐसे व्यापक स्वरूप के दर्शन नहीं होते जिसमें सभी काव्यांगों का अन्तर्भाव हो पाता। प्रायः इन्होंने रीति, गुण आदि का तो निरूपण ही नहीं किया है और रस का पृथक् अस्तित्व माना है। उनका अलंकार में अन्तर्भाव नहीं किया गया है। आचार्य सोमनाथ 'रस पीयूषनिधि' में गुण और अलंकार का भेद-निरूपण करते हुए कहते हैं: "गुन सदा एक रस है और अलंकार कहुं रस को पोषक है, कहुँ उदास है, यह भेदु" (पृष्ठ ८९) वहाँ पर इनके उदाहरण भी दिये गए हैं। इसके अतिरिक्त लेखक रस के पोषक अलंकारों का भी संकेत करते हैं। पर गुणों से भेद करते हुए उनका निर्देश करना यह स्पष्ट करता है कि वे अलंकारों का अस्तित्व ही रस की अपेक्षा से मानते

---

१ इसी पुस्तक का दूसरा अध्याय 'संस्कृत साहित्य में समीक्षा का स्वरूप' 'काव्य प्रकाश' में बालबोधिनीटीका की 'काव्य-परिभाषा' तथा 'अलंकार-परिभाषा'।

२ कविता कामिनि सुखद-प्रद सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति। 'शब्द रसायन', पृष्ठ ४४।

हैं। यही रसवादी दृष्टिकोण है। हां 'मानस-रहस्य' में 'काव्य-कलाधर' से अलकार का लक्षण भी उद्धृत है।[1] इससे अलकार-लक्षण की प्रवृत्ति का थोडा आभास मिलता है।

दास ने रसवत, प्रेयस् आदि अलकारो को अपराग गुणीभूतव्यग मे रखा है, जो बिलकुल समीचीन है।[2] यह भी स्वभावतः मम्मट का ही प्रभाव है। लेकिन केशव, देव, पद्माकर आदि आचार्यों ने इन्ही को अलकारों मे रख दिया है। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' में इन अलकारों की कोई व्याख्या नही की है।[3] केवल नाम गिनाकर उदाहरण-भर दिये है। केशव तो अलकारवाद की अत्यन्त प्राचीन परम्परा का अनुकरण कर रहे हैं, इसलिए उन्होंने इन अलकारों का भी पर्याप्त वर्णन किया है। "रसवत" आदि के सभी रसो की दृष्टि से उदाहरण दिए है।[4] पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' में रसवत्, प्रेयस और ऊर्जस्वित् को अलकार कहा है। उनके लक्षण और उदाहरण दोनों ही दिए गए है। पद्माकर ने भावाभास, भावशबलता भावोदय, भावशान्ति आदि का भी अलकारों मे ही समावेश कर लिया है।[5] कुछ आचार्यों ने इन रसवत् आदि अलंकारों का निर्देश किया ही नही है। सोमनाथ आदि ने इनको असलक्ष्य-क्रम काव्य मे रखा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण काव्यांगो का वर्णन करने वाले आचार्यों ने अलकारो का "हारादिवत्" वाला दृष्टि-कोण ही रखा है। यह दृष्टिकोण सामान्यतः रीतिकालीन सभी आचार्यो का है, पर अलंकार-निरूपण में उन्होने चमत्कारवादी 'चन्द्रालोक' का अनुसरण किया है। रसवत आदि को गुणीभूतव्यग न मानकर अलंकार मानना अलकारवादी परम्परा का स्पष्ट अनुकरण है। अर्थात वे इनको अलंकार न मानकर रस और भाव में ही मानना चाहते हैं।[6]

संस्कृत के आचार्यों ने जैसे अलंकारो के विभिन्न आधारों का निरूपण किया है, वैसा विवेचन रीतिकाल के आचार्य नही कर सके। देव ने अपने 'शब्द-रसायन' मे उपमा और स्वभाव को अन्य अलंकारो की अपेक्षा प्रधानता दी है। इनका प्रभाव शेष

---

१. रस औरु विंग दुहुन ते नारो होय।
अर्थ चमत्कृत शब्दहि भूषण सोय॥

२. दास—'काव्य निर्णय' अवरांग-वर्णन, पृष्ठ ४३ और गुणीभूतव्यग-वर्णन, पृष्ठ ६४।

३. देव—'शब्द रसायन', पृष्ठ ११६।

४. केशव—'कवि प्रिया', ११वां प्रभाव।

५. पद्माकर—'पद्माभरण' पंचदश अलंकार प्रकरण

६. 'रसपीयूषनिधि' हस्तलिखित प्रति।

सभी अलकारो पर माना है । इसका अगर और भी विशद विश्लेषण किया जाता तो देव के सम्बन्ध मे यह अधिक निश्चय पूर्वक कहा जा सकता था कि उन्हें उपमा और स्वभाव अलकार-सामान्य के मूल आधार के रूप में मान्य है या नही। वामन की तरह भूषण ने भी उपमा को प्राधान्य दिया है। 'रस पीयूषनिधि' में अलकारो का एक विभाजन एव अर्थालंकारो का विवेचन उपमान और उपमेय के आश्रय पर ही हुआ है । एक दूसरा विभाजन शब्द, अर्थ और उभय के आधार पर भी है । इसके अतिरिक्त अर्थालकारो का भी एक विभाजन हो सकता है, पर इसके सुस्पष्ट विभाजन की ओर रीतिकालीन आचार्यो का ध्यान विशेष आकृष्ट नही हुआ । केशव ने अलकार के सामान्य और विशेष—दो प्रधान भेद किये । पर इस भेद को अलकारो का नही, अपितु अलकार और अलकार्य का भेद कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त बहुत से आचार्यो ने अलकार-निरूपण मे एक क्रम का ध्यान अवश्य रखा है । एक प्रकार के अलकारो का निरूपण एक साथ करने मे भी विभाजन की एक पद्धति का अनुसरण परोक्ष रूप मे हो गया है । दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' मे इस विषय मे एक विशेष व्यवस्था स्थापित कर देने का सफल प्रयास किया है । उन्होने उपमा, उत्प्रेक्षा, और अन्योक्ति आदि क्रम से अलकार-निरूपण किया है। प्रत्येक वर्ग मे साधारणतः समानता रखने वाले अलकारो का निरूपण हुआ है । दास की इस व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य आचार्यो के निरूपण मे किसी प्रकार का क्रम अथवा व्यवस्था नही है । दास ने अलकारो को वाच्य और व्यग दोनो कहा है ।[1]

रीतिकाल मे अलकार-निरूपण प्रधान विषय तो अवश्य रहा, पर इसमें भी आचार्यो का दृष्टिकोण केवल याद करने योग्य तथा व्यवहारोपयोगी लक्षणमात्र दे देना है । यही कारण है कि इस काल के अत्यन्त प्रिय विषय का आचार्योपयोगी प्रौढ़ विवेचन नही हुआ । 'चन्द्रालोक' का अलकार-निरूपण भी इसी दृष्टि से ही किया गया था। 'कुवलयानन्द' मे कुछ साधारण सी अधिक स्पष्टता कर दी गई थी, 'भाषा-भूषण, 'पद्माभरण' आदि सभी ग्रन्थ इसी कोटि के है । कई अलकारों की तो परिभाषा तक नही दी गई है, केवल यही कह दिया गया है कि ये अपने नाम से ही स्पष्ट है । दास ने भी सशय, भ्रम आदि अलंकारो में इस प्रणाली को अपनाया है ।[2] अन्य सभी अलकारों का भी परिचय-मात्र है । केशव मे प्रधानतः ३७ अलंकारों का उल्लेख है । प्रायः यही सख्या देव, दास, यशवतसिह आदि मे रही है । लेकिन इनके भेदोपभेदो तथा सभी गौण अलकारो को मिलाकर सख्या बहुत बढ़ जाती है ।

---

१. कहू बचन कहुं व्यंग मे परै अलकृत आई । 'काव्य-निर्णय', पृष्ठ २३

२. सुमिरन भ्रम सदेह को लच्छन प्रगटै नाम । दास—'काव्य-निर्णय', पेज ४४
सुमिरन भ्रम सदेह ए लच्छन नाम प्रकास । यशवंतसिंह—'भाषा-भूषण' पेज ८

देव ने इन प्रधान अलकारो का उल्लेख किया है। 'शब्द रसायन' में ४० प्रधान तथा ३० गौण अलकारो का निर्देश है। इनके अनेक भेदो की सम्भावना की भी स्वीकृति हुई है।[1] रीतिकाल मे भेदोपभेदो की वृद्धि में आचार्यों ने बहुत रुचि का परिचय दिया है। कही-कही तो अलकार अपना स्वाभाविक स्वरूप तक खो बैठा है। 'चन्द्रालोक' मे लुप्तोपमाओं के केवल आठ भेद स्वीकृत हुए है, पर हिन्दी वालो ने इनकी सख्या बढाकर १५ कर दी। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'पद्माकर पचामृत' की भूमिका मे इन भेदो की उपयुक्तता पर विचार किया है। यदि इन लुप्तोपमाओ का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि कई लुप्तोपमायें ऐसी है जिनमे किसी प्रकार का चमत्कार रह नही सकता, अलकार बने तो कैसे बने। जैसे 'उपमेयलुप्ता' उपमेयोपमानलुप्ता, धर्मोपमानोपमेयलुप्तोपमा, वाचकोपमेयोपमानलुप्ता, वाचकधर्मोपमेयलुप्ता।' इसी ग्रन्थ मे आगे इस विभाजन मे यह दोष भी बताया गया है कि उपमा-उपमेय वर्ण्य विषय होने के कारण लुप्त नही हो सकते। इस प्रकार की लुप्तोपमा की कल्पना करके आचार्यो मे अलकारो की प्रकृति तक का भी ध्यान नही रखा है। कही-कही अन्धानुकरण की प्रवृत्ति इतनी बढ गई है कि आचार्यो ने हिन्दी-भाषा की प्रकृति की भी उपेक्षा की है। हिन्दी-आलंकारिको ने कही-कही अलकारो के लक्षणो और उदाहरणो मे भी असावधानी की है। आचार्य केशव पर विचार करते समय इसका कुछ निर्देश किया जा चुका है। भूषण मे भी यह दोष कही-कही मिलता है। "विकल्प" अलकार का उदाहरण "निश्चय" का हो गया है, इसका निर्देश 'भूषण ग्रन्थावली' की भूमिका मे किया गया है। भूषण मे अलकार-ज्ञान की प्रौढता का अभाव तो था ही, इसके अतिरिक्त उन्होने सभी अलकारो के उदाहरण शिवाजी के जीवन पर ही, देने की चेष्टा की है। इससे भी उदाहरण कही अलकारो के लक्षणो के अनुरूप नही हो पाए है।

रस, अलंकार आदि काव्यांगो के अतिरिक्त गुण, दोष, रीति, शब्द-शक्ति आदि तत्वों पर भी विचार हुआ है। इन अंगों का वर्णन रीतिकालीन आचार्यो ने बहुत

---

१. **अलकार मुख उनतालीस है देव कहैं येई पुरातनि मुनि मतनि मे पाइये।**
आधुनिक कविन के सयत अनेक और, इनहीं के भेद और विविधि बताइये॥
देव—'भाव-विलास', पेज १४१।

मुख्य जौन विधि भेद है अर्थालंकार
मुख्य कहो चालीस विधि, जौन सुतीस प्रकार।
मुख्य जौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त॥
देव—'शब्द-रसायन', पृष्ठ ६४।

कम किया है। 'शब्द शक्ति' को तो दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि-जैसे आचार्यो को छोडकर किसी ने छुआ भी नही है। प्रतापसाहि, सोमनाथ और सरदार कवि ने शब्द-शक्ति का विशद वर्णन किया है। यह मम्मट के अनुवाद ही है। भेदो के लक्षण और उदाहरण दोनो है। दास ने शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यजना तीन शक्तियो का उल्लेख किया है।[1] देव ने इन तीन शब्द-शक्तियो के अतिरिक्त 'तात्पर्य शक्ति' को भी माना है। यह चतुर्थ शक्ति इन तीनो मे अन्तर्हित है। इन तीनो शब्द-शक्तियो के अवान्तर भेद भी किये गए है। इनमे भी 'काव्य प्रकाश' का अनुकरण-मात्र है। 'शब्द-शक्ति' को स्पष्ट करने के लिए साधारण लक्षण और उदाहरण दे दिये गये है। देव को प्रत्येक शब्द मे इन तीनो शक्तियो का विद्यमानता स्वीकृत है।[2] प्राचीन आचार्यो को केवल अभिधा और व्यजना की व्यापकता मान्य है। अभिधा-शक्ति तो सर्वथा रहती ही है। मम्मट ने व्यजकता की व्यापकता का उल्लेख किया है—"सर्वेषा प्रायणोऽर्थानाम् व्यजकतापयीप्यते।" लक्ष्यार्थ की सर्वत्र विद्यमानता नही निरूपित हुई है। देव ने ऐसा अवश्य किया है। तीनो शक्तियो को एक ही शब्द मे मानने के कारण देव को 'अभिधा मे अभिधा'—जैसे भेदो का उल्लेख भी करना पडा है।[3] देव ने जिस "तात्पर्य शक्ति" का निर्देश किया है, वह उनकी मौलिकता नही है, सस्कृत के प्राचीन आचार्यो को भी यह मान्य हुई। 'तात्पर्य शक्ति' को ही तीनो शब्द-शक्तियो के मूल मे मानने की प्रवृत्ति विश्लेषण की मौलिकता का आभास अवश्य देती है।

दास ने गुण के दोनो-प्राचीन और अर्वाचीन मतो का उल्लेख किया है।[4] प्राचीन आचार्य दस गुण मानते थे। 'काव्य-निर्णय' मे पहले इन्ही का निरूपण है। फिर इन सबका समावेश प्रसाद-माधुर्य और ओज मे कर दिया गया है। दास ने प्राचीन दस गुणो का इन अर्वाचीन तीन गुणो मे तर्कयुक्त विश्लेषण द्वारा समावेश नही दिखाया है, अपितु मम्मट का मत उद्धृत कर

१. दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ ७ : २२।

२. निज निज कारन शब्द इक तीन अर्थ तिहुँ भांति।
देव प्रकासत चित्त गति अपनी-अपनी भांति॥
॥ देव—'शब्द रसायन', पृष्ठ ३॥

३ देव—'शब्द-रसायन', द्वितीय प्रकाश, पृष्ठ १३: १९॥

४. दस विधि के गुन कहत हैं, पहले सुकवि सुजान।
पुनि तीनै गुन मनि रचौ, सब तिनके दरम्यान॥
॥ दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ १९१॥

दिया है।[1] प्राचीन मत के दस गुणो की परिभाषा मे वर्णों का विचार किया गया है। वर्णों की मधुरता और कठोरता के भेद पर ये गुण आश्रित है।[2] कुछ गुणो की व्यवस्था मे अर्थ के गाम्भीर्य, अर्थ की स्पष्टता तथा समास की विरलता अथवा बाहुल्य पर भी विचार किया गया है।[3] कौन से गुण किस रस के धर्म है, यह विवेचन भी हो गया है। पर सर्वत्र ही एक व्यवस्था का अभाव है। किसी गुण की परिभाषा केवल रस की दृष्टि से ही दी गई है, किसी की वर्ण और समासो की जटिलता अथवा सरलता के आधार पर, किसी-किसी गुण की पहचान मे केवल अर्थ की अभिव्यक्ति पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार एक क्रम का निर्वाह नही है। 'काव्य-प्रकाश' मे गुणो को चित्त की अवस्था कहा गया है। इन तीनो गुणो मे प्राचीन सभी गुणो का अन्तर्भाव है। दास ने मम्मट का अनुकरण किया है, पर वे न तो गुणो की परिभाषा मे चित्तवृत्तियो का निर्देश कर सके है और न दस गुणो का तीन मे तर्कपूर्ण अन्तर्भाव ही। दास ने श्लेष, समता और कान्ति का समावेश प्रसाद मे किया है तथा उसको शृङ्गार, हास्य और करुण के उपयुक्त कहा है। श्लेष, समाधि और उदारता का अन्तर्भाव ओज मे हो जाता है। यह सब मम्मट का ही अनुकरण है।[4] दास की परिभाषाओ और विवेचन मे यह स्पष्ट है कि वे मम्मट की तरह प्रौढता का निर्वाह नही कर सके है। प्रतापसाहि ने गुणो मे चित्त की अवस्थाओ

---

१. माधुर्योज प्रसाद के सब गुन हे आधीन।
ताते इनही को गन्यो, मम्मट सुकवि प्रवीन॥
॥ दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ १६६॥

२. अनुस्वारजुत वर्णजुत, सबै वर्ग अटवर्ग।
अक्षर जामै मृदु परै, सो माधुर्ज निसर्ग॥
॥ दास—'काव्य-निर्णय', १६२॥

३ जासु अर्थ अति ही प्रकट नहि समास अधिकाऊँ।
अर्थ व्यक्त गुन बात ज्यों बोलै सहज सुभाऊँ॥ काव्य-निर्णय, १४४॥
बहु शब्दन को एक कै कीजै जहां समास।
ता अधिकाई श्लेष गुन गुरु मध्यम लघुदास॥ काव्य-निर्णय, १६५॥

४. श्लेषों मध्य समास को समता कान्ति विचार।
लीन्हि गुन माधुर्य जुत करुना दास सिंगार॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ १४६॥
आह्लादकत्व माधुर्य शृङ्गारे द्रुतिकारण॥
॥ काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी, पृष्ठ ४७८॥
श्लेष समाधि उदारता सिथिल ओज गुन रीति।
रुद्र भयानक बीर अरु रस विभत्स सों प्रीति॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ १६७॥

का तथा समासादि अन्य तत्वों का निर्देश किया है। उन्होंने इन गुणों का रसों से संबंध भी बतलाया है।[1] दास ने उपनागरिका, कोमला और परुषा वृत्तियों का भी उल्लेख किया है।[2] देव ने कैशकी आरभटी, भारती और सात्वकी वृत्तियों का भी उल्लेख किया है और इनका रसो से सम्बन्ध भी बतलाया है। इनकी विशद व्याख्या नहीं है, केवल नाम गिना दिये गए है। प्रत्येक वृत्ति का तीन-तीन रसों से सम्बन्ध है।[3] देव ने गुण और रीति में कोई अन्तर नही माना है। वैदर्भी, गौडी के स्थान पर प्रसाद आदि का रीति के नाम से उल्लेख करते है। 'शब्द-रसायन' मे रीति को काव्य की अभिव्यजना का माध्यम कहा गया है। पण्डितराज की तरह शब्द और अर्थ दोनो मे गुणो की स्थिति मान ली गई है। यमक और अनुप्रास को भी गुणों में गणना है। प्रत्येक गुण के नागर और ग्राम्य नाम से दो भेद किये गए है। नागर में सुरुचि तथा ग्राम्य में रस की प्रधानता होती है। सुरुचि द्वारा काव्य-कलाविदो की रुचि की ओर सकेत किया गया है। जिस काव्य में काव्य-रीति और शास्त्रीय पद्धति के अनुकरण पर 'वचन-वक्रता' तथा अलकारो का नियोजन किया जाता है, एव जिसके अनुशीलन के लिए शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता होती है, ऐसे काव्य मे नागर गुणो की स्थिति मानी गई है। इसके विपरीत स्वाभाविक और साधारण शब्दो से ही जहा उत्कृष्ट भाव-व्यजना रस की स्थिति तक पहुच जाती है और कला की वह बारीकी नही होती जिसके लिये शास्त्रीय ज्ञान अपेक्षित है, ऐसा काव्य ग्राम्य गुणो से विभूषित माना गया है। देव के इस विवेचन पर कुन्तक के विचित्र और सुकुमार भाग का प्रभाव प्रतीत होता है। देव ने गुणो के विवेचन मे दंडी का ही अनुकरण किया प्रतीत ह ता है, कही-कही क्रम-परिवर्तन अवश्य है।

य श्लेषः यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधि. या च विकटत्व लक्षणा उदारता यश्चौजोमिश्रित शैथिल्यात्मा प्रसाद तेषामोजस्यतर्भाव ।

॥ काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी, पृष्ठ ४७६ ॥

१. प्रथम गनत माधुर्ज गुण, ओज प्रसाद बखानि ।
आश्लेषादिक दश गुने इनके अन्तर जानि ॥
द्रवत चित्त जाके सुनत आनन्द बढ़त अथाह ।
रस सिंगार माधुर्ज गुन करुणा सान्त रस माह ॥
उतवर्गा न नहिं रेफ युत ठ रगादि नहीं वर्ण ।
लघु समास पद वर्ण जँह गुण माधुर्ज सुकर्ण ॥

॥ प्रतापसाहि–'काव्य-विलास', पृष्ठ ७२ ॥

२. दास—'काव्य-निर्णय', पृष्ठ १९९ : १०० ।

३ देव—'शब्द-रसायन', पष्ठ ५५ : ५७ ।

समाधि गुण की परिभाषा तो 'काव्यादर्श' से अनूदित ही है। अन्य सभी गुणों के विवेचन पर भी दंडी का ही प्रभाव है। श्लेष में दंडी और देव दोनों ने ही शिथिल अक्षरबन्ध और शिष्टता का उल्लेख किया है। इस प्रकार रीतिकाल का विवेचन संस्कृत-अलंकार-शास्त्र की उद्धरणी बन गया है।

रीतिकाल में काव्य-भेद पर आचार्यों ने बहुत कम लिखा है। दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में व्यंजना के आधार पर प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य तीन भेदों का उल्लेख किया है। ध्वनि-काव्य को उत्तम, गुणीभूत व्यंग को मध्यम तथा चित्र-काव्य को अवर कहा है। इसी प्रसंग में दास ने अलंकार-ध्वनि तथा वस्तु-ध्वनि का भी विवेचन कर दिया है। इनके अवान्तर भेदों, अलंकार से वस्तु-ध्वनि आदि का उल्लेख कर दिया गया है।[1] गुणीभूत-व्यंग के आठ भेदों पर भी विचार हुआ है। चित्र-काव्य के भेदों—अर्थ-चित्र और वाक्य-चित्र अर्थात् शब्द-चित्र का भी निर्देश है।[2] दास ने काव्यांगों के निरूपण में 'काव्य प्रकाश' को ही आधार रखा है। बहुत से स्थानों पर तो उसका अविकल अनुवाद ही है। अपने 'काव्य-निर्णय' के प्रारम्भ में दास ने मम्मट तथा अन्य आचार्यों को अपने ग्रन्थ-निर्माण का आधार होना स्वीकार भी किया है। गुणीभूत-व्यंग के आठ भेद तो ठीक 'काव्य-प्रकाश' के ही हैं।[3] 'प्रकाश' शब्द द्वारा स्वयं दास भी इसका संकेत कर देते हैं। 'रसवद' आदि को प्राचीन दंडी आदि आचार्यों ने अलंकारों में ही रखा था, पर मम्मटाचार्य ने 'गुणीभूत-व्यंग' के भेद 'अपरांग' में इनका विवेचन किया है। दास ने यहां भी मम्मट का ही अनुकरण किया है। दास ने ध्वनि के विवक्षित और अविवक्षित भेद भी 'काव्य-प्रकाश' से ही लिए हैं। 'कवि-कुल-कलानिधि', 'मानस-रहस्य', 'काव्य विलास' और 'रस पीयूषनिधि' में भी ध्वनि के आधार पर काव्य-भेदों का निरूपण है। इनमें ध्वनि के अनेक भेदों का भी निरूपण है। इन्होंने भी मम्मट और ध्वनिकार के विवेचन को ही आधारभूत माना है। वस्तु में वस्तु-ध्वनि, अलंकार से वस्तु-ध्वनि आदि का उल्लेख है। गुणीभूत-व्यंग को मध्यम काव्य कहा गया है। उसके अपरांग आदि आठ भेदों का भी निरूपण है। ये भी दास की परम्परा के ही ग्रन्थ हैं। काव्य-भेद में ध्वनिकार और मम्मट दोनों

---

१ दास—'काव्य-निर्णय' पृष्ठ ४६ : ६६।

२ वचनारथ रचना जहां व्यंग न नेकु लखाई।
सरल जानि तिहि काव्य लो अमर कहे कविराई॥ काव्य-निर्णय, ६८।
देखिये— वाच्य चित्र और अर्थ चित्र के उदाहरण, पृ० ६६।

३ गन अगूढ़ अपरांग, तुल्य प्रधानों अस्फुटहिं।
काकु वाच्य सिद्धान्ग, संदिग्धोरु असुन्दरी॥
आठों भेद प्रकाश, गुणीभूतव्यंगहिं गने। काव्य-निर्णय, पृ० ६४।

मतो के मिले-जुले रूप का ग्रहण होने लगा था। यही परम्परा रीतिकाल में अपनाई गई।

रीतिकाल के आचार्यो ने काव्य के श्रव्य-भेद पर ही लिखा है। दृश्य-काव्य का जितना विशद विवेचन प्राचीन आचार्यो ने किया था, उसका उपयोग इस काल मे नही किया गया। इसका एक कारण स्पष्ट है कि रीतिकाल के आचार्यो ने काव्य-सिद्धान्तो का निरूपण केवल काव्यानुशीलन तथा काव्य-सृजन को अधिक सरल कर देने के लिये ही किया था, सस्कृत के आचार्यो की तरह गूढ चिन्तन द्वारा किसी विशेष सत्य के अनुसन्धान की आकाक्षा से नही। यही कारण है कि इस विवेचन मे साधारण ज्ञान के उपयुक्त सामग्री ही उपलब्ध है। रीतिकाल का आचार्य मौलिक उद्भावनाओ मे अधिक सफल नही हो सका। उस समय तक हिन्दी-गद्य का विकास नही हो पाया था। उसमे गद्य-रचना का प्राय अभाव ही था। कवियो और भक्तों का कुछ परिचय गद्य मे अवश्य दिया गया, पर उनका साहित्यिक महत्व बहुत कम रहा। उसको काव्य की मान्य विधाओ मे से किसी एक मे रखना सभव नही था। इस दृष्टि से विचार भी नही हुआ। उस काल के आचार्यो को इस प्रकार उन पर विचार करने की आवश्यकता ही नही हुई। नाटक का विकास तो हिन्दी मे बहुत बाद का है। इन सब कारणो से रीतिकाल के आचार्यो ने दृश्य काव्य पर कुछ नही लिखा। काव्य के उपर्युक्त भेदो के अतिरिक्त आख्यायिका, प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य आदि भेदो पर भी इस काल के आचार्यो ने नही लिखा।

सस्कृत-साहित्य मे काव्य के सभी प्रधान तत्वों के नाम पर एक-एक सम्प्रदाय का जन्म हो गया था। सैद्धान्तिक समीक्षा तथा सम्प्रदाय के विकास मे आनन्दवर्द्धन का 'ध्वन्यालोक' विभाजन की एक रेखा का कार्य करता है। इसलिये अलकार और रीति-सम्प्रदाय ध्वनि के पूर्व के है। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ऐतिहासिक दृष्टि से आनन्दवर्द्धन के समकालीन होते हुये भी ध्वनि के पूर्व का माना जायगा। पर रस और औचित्य के सम्प्रदायो को ध्वनि के उत्तर काल का माना जाना अधिक समीचीन होगा। औचित्य का सिद्धान्त तो स्पष्टत: ही उत्तर-कालीन है। इसकी विद्यमानता बीज रूप मे पहले से थी अवश्य, पर इसका स्पष्ट और निश्चित स्वरूप अभिनवगुप्त तथा विशेषत. राजशेखर द्वारा ही दिया गया है। रस-सम्प्रदाय ध्वनि के पूर्व का अवश्य है, पर इसका स्वरूप पूर्णता को बाद मे ही प्राप्त हुआ है। ध्वनि के पूर्व तथा उत्तर काल के रस-सम्प्रदाय मे पर्याप्त अन्तर होने के कारण वास्तविक रस-सम्प्रदाय, जो विश्वनाथ आदि आचार्यो का है, ध्वनि का उत्तर कालीन माना जाना चाहिये। इस सम्प्रदाय पर ध्वनि का पर्याप्त प्रभाव भी पडा है। वस्तुत: बिना ध्वनि-निरूपण के इसका विवेचन ही अधूरा समझा जायगा। वस्तुस्थिति तो यह है कि संस्कृत-समीक्षा के इतिहास में ध्वनि के पदार्पण ने क्रान्ति-

कारी परिवर्तन ला दिये थे। इसके कारण सभी काव्यागो के स्वरूप और परिभाषा भी निश्चित हो गई थी। काव्य के सभी तत्त्वों ने काव्य मे अपना स्थान निश्चित कर लिया था। इसलिये-रीति, वक्रोक्ति और अलकार-सम्प्रदाय ध्वनि के बाद स्वतंत्र सम्प्रदायो के रूप मे अधिक दिन जीवित नही रह सके। 'ध्वनि' सिद्धान्त ने उनके स्वरूप एव काव्य मे स्थान की एक नई व्याख्या कर दी। उनको ध्वनि-विवेचन ने प्रायः पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। अलकार-सम्प्रदाय मे प्राण-शक्ति अपेक्षाकृत अधिक थी, इसलिए वह बहुत दिनो तक जीवित रह सका। सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र के सध्याकाल मे जयदेव-जैसे आचार्यों ने उसकी प्रधानता की घोषणा कर दी थी। मम्मट-जैसे आचार्यो को भी अलकारो की प्रधानता रस और ध्वनि को छोडकर अन्य सभी तत्वों की अपेक्षा अधिक माननी पडी। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि ध्वनिकार के ही प्रयास के फलस्वरूप काव्यागो में एक सामंजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति जाग्रत ही नही हो गई थी पर यह आनन्दवर्द्धन के समन्वय मे ही बहुत-कुछ प्रबल भी हो चुकी थी। अभिनवगुप्त ने इस समन्वय स्थापन का बहुत ही स्पष्ट और सफल प्रयास किया है। मम्मट तो इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के प्रधान आचार्य ही है। उनके परवर्ती प्रायः सभी आचार्यो मे इसी का प्राधान्य पाया जाता है। काव्य के सभी सम्प्रदाय इस धारा मे विलीन होकर अपने पृथक् व्यक्तित्व को खो चुके थे। सस्कृत-साहित्य के विकास का यही रूप, जो 'रस गगाधर' मे अपनी प्रौढता की चरम सीमा तक पहुँच चुका था, रीतिकालीन आचार्यो को प्राचीन परम्परा से प्राप्त थाती के रूप मे मिला था। सस्कृत के सम्प्रदायों के इस विवेचन का तात्पर्य केवल यह दिखाना है कि जिस काल एवं परम्परा मे हिन्दी-रीति-ग्रन्थो के प्रणयन की अविरल धारा का प्रारम्भ हुआ था, वे सामजस्यवादी ही थे; इसलिए अन्य सम्प्रदायों के बनने के उपयुक्त परिस्थितियां नही थी। काव्य के सभी अंगों का निरूपण करने वाले प्रायः सभी आचार्यों ने मम्मट का ही अनुकरण किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यही रस-ध्वनिवादी दृष्टिकोण ही रीतिकालीन आचार्यों में भी प्रधान रहा। अलंकार-निरूपण में 'चन्द्रालोक' की शैली का अनुकरण तो अवश्य हुआ, पर अलकारों का काव्य मे जो स्थान उसने माना, उसके प्राधान्य की जो घोषणा की, उसके घोषणा के स्वर-मे रीतिकालीन आचार्य अपना नहीं स्वर मिला सके। इस शैली मे अलंकारो का निरूपण करने वाले आचार्यों ने अलकार-सामान्य का विवेचन नही किया है। इस लिए सम्प्रदाय की दृष्टि से उनके सम्बन्ध में कुछ भी नही कहा जा सकता। अलकार-सम्प्रदाय की परम्परा अक्षुण्ण बनाये रखने वाले प्रधान व्यक्ति केशव ही थे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि रीतिकाल को जो परम्परा सस्कृत से प्राप्त हुई थी, उसमे रीति और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अपने अस्तित्व को प्रायः पूर्णतः विलीन कर चुके थे। इसलिए इन सम्प्रदायों के दर्शन रीतिकाल में न होना कोई

विशेष आश्चर्य की बात नही है। गद्य के तथा प्रौढ़ और तर्कपूर्ण विवेचन की प्रवृत्ति के अभाव मे नवीन सम्प्रदायो का बनना प्रायः असभव ही था, परम्परा-प्राप्त सम्प्रदायों का भी प्रौढ रूप वही मिलता है। किसी भी आचार्य को किसी एक विशेष सम्प्रदाय का विशुद्ध अनुगामी नही कह सकते। दास, श्रीपति, कुलपति सोमनाथ आदि आचार्यों ने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' का अनुकरण किया है। उन्होने प्रायः सभी विषयों का उसीके अनुरूप निरूपण किया है। इसलिए इन सभी को रस-ध्वनिवादी कहा जा सकता है। देव मे ध्वनि को इतना प्राधान्य नही दिया गया है इसलिए उनका विशुद्ध रसवादी दृष्टिकोण भी माना जा सकता है। पर इनके काव्याग-निरूपण मे भी सम्प्रदाय की दृष्टि से अन्विति नही कही जा सकती। देव ने गुण-विवेचन मे ध्वनि-काल के पूर्ववर्ती दण्डी का आदर्श ग्रहण किया है। केशव भी रस की प्रधानता को अस्वीकृत नही कर सके है। रस और चमत्कार दोनो की समान रूप से प्रधानता होने के कारण रीतिकालीन आचार्य विशुद्ध रूप से न रस-वादी ही रह सके और न अलकारवादी। वास्तव मे रीतिकाल का निरूपण विषय के साधारण ज्ञान की दृष्टि से ही हुआ है। उसमे आचार्यो के उपयुक्त प्रौढता और गम्भीरता का अभाव है। इसलिए उनका विवेचन इस कोटि तक पहुंचता ही नही कि उनको किसी एक सम्प्रदाय का व्यक्ति कहा जा सके। आज जैसे विद्वान परीक्षोपयोगी पुस्तक मे रस-अलकार आदि तत्वो का गम्भीर विवेचन करता हुआ भी किसी सम्प्रदाय विशेष का नही माना जा सकता, उसी प्रकार रीतिकाल के आचार्य मे कही-कही मौलिक विवेचन की प्रौढता होने पर भी निरूपण मे सामान्यतया गम्भीरता का अभाव है। इसलिए उनमे भी सम्प्रदायो का वह प्रौढ रूप, जो सस्कृत-साहित्य मे मिलता है, देखना समीचीन नही। कौन-सा आचार्य किस सम्प्रदाय का है, इसका पता तो काव्य की परिभाषा, उसके सामान्य स्वरूप, उसकी आत्मा, उसके विभिन्न तत्वो मे सापेक्षिक प्रधानता की दृष्टि से क्रम-निरूपण आदि काव्य के मूलभूत पक्षो पर किये गए उसके विवेचन से लगता है। रीतिकाल मे काव्य-स्वरूप के इस पक्ष पर आचार्य प्रायः मौन ही रहे है। उनका उद्देश्य किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिनिधित्व न करके काव्य-रीति और काव्यागो के साधारण विश्लेषण से था। इस प्रकार यद्यपि सस्कृत-साहित्य के प्रौढ मानदड के आधार पर रीतिकालीन विवेचन सम्प्रदायो मे नही बाँटा जा सकता, फिर भी निरूपण-शैली तथा दृष्टिकोण का पारस्परिक अन्तर कई आचार्यो मे एकदम स्पष्ट है। इस दृष्टि से रीतिकालीन आचार्य तीन सम्प्रदायो मे बांटे जा सकते है और उनका क्रमश. प्रतिनिधित्व करने वाले है—केशव, दास और देव। अगर चाहें तो इनको हम क्रमशः अलंकार, रस-ध्वनि और रस-सम्प्रदाय के नाम से पुकार सकते है। इन सम्प्रदायों को उपर्युक्त आचार्यो के नाम से ही अभिहित करना अधिक

तर्क-सम्मत है, क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके है कि इनमे सस्कृत-साहित्य का-सा विशुद्ध और प्रौढ दृष्टिकोण उपलब्ध नही है। उस प्रतिमान (Standard) से तो ये सम्प्रदाय की कोटि मे आते ही नही। फिर भी विवेचन की अन्विति के लिए अलकार, रस, ध्वनि और रस-सम्प्रदाय का प्रयोग किया जायगा।

अलकार-सम्प्रदाय—आचार्य केशवदास इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। उन्होने अपनी 'कविप्रिया' मे अलकारो का ही विशद वर्णन किया है। केशव इस ग्रन्थ मे पूर्वध्वनि-काल की परम्परा का अनुकरण कर रहे है। यही कारण है कि वे अलकार और अलकार्य का भेद नही रख सके है। काव्य के वर्ण्य-विषयो को भी उन्होने अलकारो मे रख लिया है। 'कविप्रिया' मे पाचवे प्रभाव से लेकर आठवे प्रभाव तक सामान्यालकार का निरूपण है। इसमे ऋतु-वर्णन, वस्तु-वर्णन, स्थान-वर्णन, मानसिक अवस्थाओ का वर्णन आदि सभी वस्तुएँ अलकारो के अन्तर्गत मान ली गई है। "रसवत् अलकार" को केशव ने किसी एक रस का अन्य रस अथवा भाव का अग होना नही माना, अपितु रस-वर्णन को ही रसवत् अलकार कहा है।[1] केशव ने उदाहरण भी ठीक इसी दृष्टिकोण के अनुरूप दिये है। अलकार तथा अलकार्य मे भेद न करना और रसवत् आदि अलकारो की यह व्याख्या दोनो ही विशुद्ध अलकारवादी दृष्टिकोण है। केशव ने इसमे दण्डी का अनुकरण किया है। दण्डी ने भी अपने 'काव्यादर्श' मे रसवत् अलकार की परिभाषा करते हुए उसे "रस पेशलम्" कहा है। इस प्रकार वे काव्य-शरीर के सौन्दर्य का कारण जब रस होता है, तब उसे रसवत् अलकार कहते है।[2] केशव ने अलकारो का प्राधान्य काव्य के अन्य सभी तत्वो की अपेक्षा अधिक निरूपित कर दिया है। उन्होने अपने 'जदपि" वाले प्रसिद्ध छन्द मे कविता के सुजाति, सरस, सुवृत युक्त होते हुए भी अलकार से अधिक सुन्दर हो जाने की बात कही है।[3] यहा पर इन शब्दो द्वारा केशव ध्वनि और रस को भी काव्य-तत्व स्वीकृत कर रहे है। इनकी अपेक्षा अलकारो को अधिक महत्व दे देना ही उनका अलकारवादी होने का सफल प्रमाण है। आलोचको का कथन है कि केशव सस्कृत के बडे उच्च पडित थे। उन्हे काव्य के सभी तत्वो के सम्बन्ध मे पर्याप्त ज्ञान था। यह मानना तो उचित नही कि उन्हे सस्कृत के उत्तर-ध्वनिकालीन विकास

१. **रसमय होय सुजानिये, रसवत केशवदास।**
नवरस को सक्षप ही, समुझौ करत प्रकाश॥ प्रिया प्रकाश, पृष्ठ २७३॥

२ **प्रेय प्रियतराख्यान रसवद्रूपेशलम्।**
ऊर्जस्वि रूढ़ालकारमुक्तोत्कर्ष च तत् त्रयम्॥ काव्यादर्श, २।२७५॥

३. **जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।**
भूषण बिनु विराजई, कविता,वनिता, मित्त॥ प्रिय प्रकाश, पृष्ठ ५६॥

का ज्ञान न हो । ध्वनि, रस आदि सभी सिद्धान्तो का पूर्णतया ज्ञान होने पर भी उन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' को ही आधार माना है जो पूर्व-ध्वनिकालीन विकास की रचना है । इससे स्पष्ट है कि वे वस्तुत अलकारवादी ही है । अगर ऐसा न होता तो केशव जैसे विद्वान् के लिए मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' अथवा आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' को ही आधार मानकर ग्रन्थ-प्रणयन करना अधिक उपयुक्त था । इन्ही तर्को के आधार पर आज का आलोचक उन्हे विशुद्ध अलंकारवादी कहता है । इसमे कोई सन्देह नही है कि केशव को काव्य के क्षेत्र मे आलकारिक चमत्कार ही अधिक प्रिय है । इस तथ्य की पुष्टि उनके रीति-ग्रन्थ ही नही, अपितु उनके काव्य-ग्रन्थ भी कर रहे हैं । 'रामचन्द्रिका' मे उनकी प्रतिभा का प्रदर्शन बौद्धिक और अलकारिक चमत्कारपूर्ण स्थलो मे अधिक हुआ है । उनकी अलकार-योजना की प्रवृत्ति तो अत्यधिक बढी हुई है । कई स्थलो पर तो अलकार-नियोजन मे सुरुचि, पात्र तथा अवस्था की उपयुक्तता का भी ध्यान उन्हे नही रह पाता हैं । 'रामचन्द्रिका' के अधिकाश स्थलो का काव्यगत सौदर्य केवल इसी चमत्कार की प्रवृत्ति पर निर्भर है । इतना सब होते हुये भी हम केशव मे विशुद्ध अलकारवादी दृष्टिकोण के स्पष्ट दर्शन नही कर पाते है । उन्होने रसिक-प्रिया' मे रस का निरूपण किया है । उसमे कही भी यह स्पष्ट नही होता कि वे रस को अलकार का ही एक अग मानते है । रस को गौण और अलकार को प्रधान मानने की प्रवृति उस रीति-ग्रन्थ से तो कही सिद्ध भी नही हो पाती है । इसका कही निर्देश तक भी नही है । इसी ग्रन्थ मे केशव ने आरम्भ ही मे वृत्तियो का भी विवेचन किया है । देव ने अपना वृत्ति-निरूपण केशव से ही लिया है । केशव ने जैसे उनका रसो से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है, उसी को देव ने ग्रहण कर लिया है । केशव ने 'कविप्रिया' मे तो गुण रीति और वृत्ति का निरूपण किया ही नही । 'रसिकप्रिया' मे भी उन्होने अलकार के अन्तर्गत समाविष्ट करने की कोई चेष्टा नही की । केशव के समय तक तो अलकारवादी दृष्टिकोण का पर्याप्त विरोध हो चुका था । किसी भी अलकार-सम्प्रदाय के व्यक्ति को पूर्व पक्ष के रूप मे उन तर्को को रखकर अपने विषय का ठोस प्रतिपादन करना चाहिए था, ऐसा केशव ने ही नही, रीतिकाल के किसी भी आलकारिक ने नही किया है । जयदेव ने अलकारो की काव्य मे प्रधानता निरूपित करते हुये काव्य से उनका वही सम्बन्ध स्थापित किया है जो अग्नि का उष्णता से है । जिस प्रकार उष्णता और अग्नि का अभिन्न सम्बन्ध सर्वमान्य है, उसी प्रकार का काव्य और अलकार का सम्बन्ध जयदेव को मान्य था । जयदेव ने चाहे अपने दृष्टिकोण को तर्को द्वारा पुष्ट न किया हो, पर कम-से-कम इतनी लम्बी रस और ध्वनिवादी परम्परा को चुनौती तो दी । उन्होने अपना दृष्टिकोण पूर्णत. स्पष्ट कर दिया । केशव ऐसा भी न कर सके । उन्होने कविता-कविता वाले रूपक मे अलकारो को आभूषणो

वा ही स्थान दिया। वे कामिनी के नैसर्गिक सौदर्य के साथ उसकी समता नही कर सके, स्वाभाविक लावण्यमयी सुन्दरी की कमनीयता आभूषणो से बढ अवश्य जाती है, पर उनका अभाव उसके कमनीत्व की अस्वीकृति नही है। केशव इस रूपक को लेकर आगे नही बढे, अन्यथा तो उनके प्रतिपादन की असारता और भी स्पष्ट हो जाती, अगर कविता और कामिनी मे सुजाति, सरस और सुवृत्त का गुण नही है, तब भी क्या केवल आभूषण उसमे रमणीयता उत्पन्न कर सकते है ? क्या शव को आभूषणो से ढक देने अथवा कुरूपा को भी आभूषणो से लादने पर उसमे मगल और लावण्य की सृष्टि हो सकती है ? केशव को इनका निषेधात्मक उत्तर ही मान्य है। कविता का अनिवार्यत सुजाति और सरस होना ही उन्हे मान्य प्रतीत होते हैं। पर अलकार के अभाव मे वह सुशोभित नही होता। इससे केशव की अलकारो के प्रति विशेष रुचि और प्रेम का प्रदर्शन तो होता ही है, साथ ही अलकार को काव्य की शोभा-दायक अनिवार्य तत्व मानने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि उनका तात्पर्य काव्य के अन्य सभी तत्वो की अपेक्षा अलकार की प्रधानता प्रतिपादित करने मे तो है पर काव्य के सभी मान्य तत्वो का अलकार मे ही समावेश करने मे नही प्रतीत होता है। इन्होने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' का प्रणयन किसी विशेष सम्प्रदाय का समर्थन करने के लिये नही, अपितु अपनी शिष्या प्रवीणराय को काव्य-रीति और काव्य-तत्वो की शिक्षा भर देने के लिये कर दिया है। उनका प्रधान उद्देश्य तो कवि-रीति का निरूपण है। यही कारण है कि वे तात्विक विश्लेषण मे नही पडे, अपितु उन्होने वाग ऋतु, मानसिक अवस्था आदि के उदाहरण ही अधिक दिये है। रीतिकाल के सभी आचार्यों ने विषय के सामान्य ज्ञान के लिए व्यवहारोपयोगी पुस्तको का प्रणयन किया है, इसलिए उनको किसी भी सम्प्रदाय के विशुद्ध अनुयायी नही कह सकते है। रीतिकालीन अलकार-सम्प्रदाय के अन्य अनुयायियो के सम्बन्ध मे तो यह और भी अधिक सत्य है। यशवतसिंह ने अपने 'भाषा भूषण' मे अलकार-सामान्य पर कुछ लिखा ही नही है। रस, नायिका-भेद आदि का भी प्रारम्भ मे ही थोडा-सा निरूपण कर दिया है।[1] अलकार से कोई सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा उन्होने नही की। रसवत् आदि अलकारो का तो कही उल्लेख भी नही है। "रसवत्" की जो व्याख्या दडी और केशव मे हुई है, वह तो अल कार-सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता है, पर 'भाषा-भूषण' मे तो यह भी नही है। पद्माकर ने "रसवत्" आदि अल कारो की परिभाषा ही दूसरी की है। यह परिभाषा रस-ध्वनिवादी मम्मट के गुणीभूतव्यग के रसवत् से मिलती है, अल कारवादी दडी से नही। एक रस जब अन्य रस का अंग होकर आता है, तभी रस-

---

१ कविता, वनिता रसभरी सुन्दर सोई सुलाख।
बिन भूषन नहिं भूषही, गहै जगत की साख ॥ उत्तमचन्द

वत अलकार होता है। यह परिभाषा आज भी इसी रूप मे मान्य है। यह उत्तर-ध्वनि-काल की वस्तु है। दडी ने तो रसमय स्थल को ही रसवत् का उदाहरण मान लिया है। 'साहित्य-दर्पण' को भी रसवत् की प्रथम परिभाषा ही मान्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकाल के यशवंतसिह, पद्माकर, भूषण, मतिराम आदि प्रधान आलकारिक भी, जो प्रमुखत अलकार-सम्प्रदाय के माने जाते है विशुद्ध रूप मे उस सम्प्रदाय के अथवा किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी नही हैं। 'चद्रालोक' से अलकारो की परिभाषा ही ग्रहण की। उससे अलकार का सामान्य विवेचन तथा काव्य मे उसके स्थान वाला दृष्टिकोण ग्रहण नही कर सके। उनका अभिप्राय भी सम्प्रदाय का समर्थन नही, अपितु साधारण ज्ञान के उपयुक्त पुस्तके देना था। केशव की तरह उत्तमचन्द ने भी अपने अलकार-ग्रन्थ मे अलकारो की प्रधानता घोषित की है। यह भी केशव के उपर्युक्त छन्द का छायानुवाद ही है। इसमे भी उन्होने कामिनी और कविता का ही रूपक लिया है और अलकारो की आभूषणो से ही तुलना की है। इसमे वे भी "रस" का उल्लेख करना नही भूले है। कोई मौलिक दृष्टिकोण नही है। केशव के भाव की ही कुछ भिन्न शब्दो मे पुनरावृत्ति-मात्र है।[1] अलकार और आभूषण का प्राय यही रूपक देव मे भी मिलता है। केशव की तरह उन्होने "जदपि" के प्रयोग द्वारा अन्य तत्वो की गौणता प्रतिपादित नही की है।

रस सम्प्रदाय—सस्कृत-साहित्य मे अत्यन्त प्राचीन काल से ही रस का प्राधान्य हो गया था। अलकारवादी आचार्य भी रस का उल्लेख करना नही भूले है। मम्मट और विश्वनाथ के समय मे उसका प्राधान्य सर्वमान्य हो गया था। इसी प्रभाव के फलस्वरूप रीति काल म भी इस तत्व को कोई अस्वीकृत नही कर सका। सभी आचार्यो ने इसकी पृथक् सत्ता ही नही स्वीकार की है, अपितु सभी तत्वो मे इसकी प्रमुखता भी प्रतिपादित की है। इस काल के सभी कवियो तथा अधिकाश आचार्यों का झुकाव रस की ओर है। देव, मतिराम, बेनी प्रवीन, रसलीन आदि आचार्य कवियो को भी रस-सम्प्रदाय के समर्थक कह सकते है। इन सब मे देव ही प्रमुख है। उन्होने काव्य-तत्वो का सर्वांगीण विवेचन किया है। अन्य सभी या तो धानत कवि है अथवा उन्होने कुछ थोडा-सा रस-निरूपण कर दिया है। देव ने प्राय सभी पक्षो पर विचार किया है। उसने रस की उत्पत्ति पर जो विचार किया है उसका निर्देश हम इसी अध्याय मे पीछे कर चुके है। देव रस को ब्रह्मानन्द-

---

१. कविता, कामिनी, सुखद प्रद, सुबरन, सरस, सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अद्भुत रूप लखाति॥

शब्द-रसायन, पृष्ठ ९४।

सहोदर कहते हैं तथा इस आनन्द की अनुभूति कवि और पाठक दोनो मे मानते हैं ।[1] देव ने रस की प्रमुखता प्रतिपादित की है । इसी प्रमुखता के आधार पर उन्हें रस-वादी कहा जा सकता है । इन्होने रस को काव्य का सार कहा है । अन्य सभी तत्वो को उससे गौण मान लिया है ।[2] अलकारो के सम्बन्ध मे देव ने भी केशव के रूपक का ही आश्रय लिया है । लेकिन उसमे भी उनका रसवादी दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है । केशव ने 'जदपि' शब्द द्वारा काव्य के अन्य तत्वो को गौण करने का प्रयत्न किया है । पर देव ने केवल अलकारो को 'अद्भुत रूप' प्रदान करने का साधन-मात्र कहा है । इससे यहा पर भी इनका रसवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है । शब्दालकारो का अनावश्यक बोझ, जिससे अर्थ की स्पष्टता मे भी बाधा होती है, अधम काव्य का कारण है । देव यहा पर भी रस को काव्य मे आनन्द का कारण मानते है । उन्होने यहाँ पर "प्रवीन" शब्द का प्रयोग करके रस के प्रति अपना पक्षपात बिलकुल स्पष्ट कर दिया है ।[3] "सरस काव्य" को भगवत्प्रेम का कारण बताया है । देव का दृष्टि-कोण सर्वत्र ही रसवादी है । रसवत् आदि अलकारो का निरूपण न करके उन्होने उस रूप का निर्वाह किया है । सरस काव्य की अपेक्षा शब्द-चित्र' के प्रिय प्रतीत होने को देव ने वायस का चाम-चबाना कहा है ।[4] लेकिन देव भी प्राचीन रसवादी अलकारो की तरह काव्य के सभी तत्वो का विवेचन 'रस-सम्प्रदाय' की दृष्टि से नही कर सके है । गुणो का निरूपण तो अत्यन्त प्राचीन परम्परा के अनुरूप हुआ है । यह विश्लेषण रीतिवादी आचार्यों का अनुकरण है । उन्होंने रस को काव्य मे प्रमुख स्थान तो दिया है, पर रस को उसकी आत्मा कहकर उसकी सर्वप्रधानता की स्पष्ट घोषणा वे नही कर सके है । प्राचीन आचार्यों ने जो काव्य-पुरुष का रूपक दिया

---

१ कहत लहत उनहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति ।

वही पृष्ठ ७२ ।

२. काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यासार,
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार ।
ताते काव्य मुख्य रस जामें बरसत भाव ।
अलकार शब्दार्थ के, छन्द अनेक सुभाव ।। शब्द-रसायन, पृष्ठ १८ ।

३ अलकार जे शब्द के, ते कवि काव्य सुचित्र ।
अर्थ समर्थ न पाइयत, अक्षर बरन विचित्र ।।
अधम काव्य ताते कहत, कहि प्राचीन नवीन ।
सुन्दर छन्द अमन्द रस, होत प्रसन्न प्रवीन ।।

४ सरस काव्य पद अर्थ तजि, शब्द-चित्र समुहात ।
दधि घृत मधु पायस जमि, बायस चाम चबात ।। वही

था, उसका उपयोग देव ने नही किया है। ऐसा करने पर सभवत· उन्हे रस को काव्य की आत्मा कह कर अन्य सभी तत्वो का स्थान-निर्धारण करने का अवसर मिल जाता और फिर उनका विशुद्ध रसवादी रूप और भी निखर उठता। प्राय· सभी रसवादी आचार्यो ने "ध्वनि काव्य" को उत्तम कहा है तथा रस को व्यग ही माना है। पर देव ने रस को अभिधेय माना है।[1] देव ने 'शब्द-रसायन' में शब्द-शक्ति का निरूपण तो किया है पर सिद्धान्ततः रस को व्यग न मानने के कारण रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, और अलकार-ध्वनि का निरूपण नही हो पाया है। दास, श्रीपति, कुलपति आदि रीतिकालीन आचार्यो से देव का एक-मात्र विरोध रस व्यजना का है। वे रस को व्यग मानते हैं, पर देव नही। यही कारण है कि उनको रस-ध्वनिवादी कहना पडता है। देव और दास मे यह अन्तर होने के कारण ही रस और रस-ध्वनि नाम से दो वाद मानने पडते है। अन्यथा तो रस और ध्वनि दोनो का चिर सहयोग ही सस्कृत के आचार्यों को मान्य रहा है। देव ने "अमर तरु" के रूपक मे रस को उसका फल बताकर उसकी प्रधानता प्रतिपादित कर दी है। स्थायी भाव, जो बीज के समान है, वे ही रस रूपी फल मे परिणत हो जाते है। इसको अमीरस कहकर देव ने ब्रह्मानन्द की ओर सकेत किया है। इस रूपक मे काव्य के अन्य सभी तत्वो को रस से गौण तथा रस-परिपाक मे सहायक कहा गया है।[2]

रस-ध्वनि—जिन रीतिकालीन आचार्यों ने काव्य-तत्वो का सर्वांगीण तथा प्रौढ विवेचन किया है, उन्होने मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' को आधार माना है। इस काल मे 'काव्य-प्रकाश' के छायानुवाद तथा अविकल अनुवाद भी हुए है। सेवक ने 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' दोनो का ही अनुवाद किया है। चिन्तामणि, सेनापति, कुलपति, श्रीपति, दास आदि इस कोटि के सभी आचार्यों का प्रधान उपजीव्य 'काव्य-प्रकाश' ही है। मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' डॉ० सुनीतिकुमार के अनुसार समन्वयवादी सम्प्रदाय का कहा जा सकता है। समन्वयवाद का तात्पर्य है कि उन्होने रस और ध्वनि के आधार पर काव्य स्वरूप का निरूपण किया है। वे रस को व्यग मानते है और ध्वनि-काव्य को श्रेष्ठ। इसी दृष्टिकोण का अनुकरण करने के कारण दास श्रीपति, कुलपति, आदि रीतिकाल के प्रथम श्रेणी के आचार्य रस-ध्वनि-सम्प्रदाय के समर्थक माने जा सकते है। इस सम्प्रदाय के आचार्य काव्य के प्रत्येक तत्व को एक विशेष स्थान प्रदान कर देते हैं और इस प्रकार उनमे सामजस्य स्थापित हो जाता है। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है, व्यग उसमे जीवभूत है, गुण

---

१. शब्द-रसायन, पृष्ठ २८

२. वही पृष्ठ २८

उसके धर्म हैं, तथा अलकार आभूषण है ।[1] यह रूपक सस्कृत की अत्यन्त प्राचीन परम्परा से लिया गया है । कुलपति ने अपने पूर्वोक्त छन्द मे रस शब्द का प्रयोग तो नही किया है, परन्तु व्यग शब्द से उनको रस ही अभिप्रेत है । लेकिन दास ने इसे बिलकुल स्पष्ट ही कर दिया है । वे रस को ही काव्य का जीव कहते है, शेष सभी तत्वो के निरूपण मे ये दोनो आचार्य समान है ।[2] दोषो का देह से ही सम्बन्ध मान लिया है । मम्मट ने दोष की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार वह देह तक ही सीमित नही है । उद्देश्य-प्रतीति मे प्रतिबधक होना ही उसका लक्षण है और उसका सम्बन्ध काव्य के बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तर से ही अधिक है । दोषो की स्थिति देह मे मानने का कारण गम्भीर चिन्तन अभाव ही है । दास ने काव्य के भेद व्यजना के आधार पर ही किये है । रसवत्, प्रयस् आदि को अलकारवादियो ने अलकार माना है । पर रस और ध्वनि के आधार पर काव्य-स्वरूप का विशद विवेचन होने के बाद इनका अलकारत्व ही आचार्यों को मान्य नही हुआ, लेकिन आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि समन्वयवादी आचार्यों ने इनको गुणीभूतव्यग मे ही स्थान दे दिया था । यही समीचीन भी है । दास ने भी अपने 'काव्य निर्णय' मे इनका निरूपण "अपराग" मे ही किया है । 'काव्य-निर्णय' मे "ध्वनि काव्य" को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है ।[3] प्रतापसाहि भी अपनी 'व्यग्यार्थ कौमुदी' मे "व्यग जीव" वाले काव्य को उत्तम कहते है ।[4] लेकिन दास केवल रसमय स्थल को ही काव्य नही मानना चाहते हैं । उन्होने काव्य के रस-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि-भेदो का भी सकेत किया है । इतना ही नही मम्मट की तरह इन्होने रस-हीन अलकार-स्थल मे भी काव्यत्व की प्रतिष्ठा मानी है । रीतिकाल मे किसी भी तत्व का निरूपण अत्यन्त स्पष्टता तथा गम्भीरता के साथ नही हो पाया है । यही कारण है कि दास अपने मन्तव्य को पूर्णत: स्पष्ट नही कर पाए हैं । उन्होने रसहीन अलकार-काव्य का

---

१. काव्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह ।
गुन-गुन भूषन भूषनै दूषन दूषत देह ।। कुलपति 'रस-रहस्य' ।।

२. रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल ।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता ।। काव्य-निर्णय, पृष्ठ ५ ।।

३. वाच्य अर्थ ते व्यग में, चमत्कार अधिकाइ ।
ध्वनि ताही को कहत हैं, उत्तम काव्य विचार ।। वही पृष्ठ ४६ ।।

४. व्यंग जीव कवित्त में शब्द, अर्थ गति अंग ।
सोई उत्तम काव्य है बरनै व्यंग प्रसंग ।।

।। प्रतापसाहि—'व्यग्यार्थ कौमुदी' ।।

उदाहरण दिया है।[1] पर सैद्धान्तिक विवेचन मे अलकार का महत्व ही प्रतिष्ठित हो सका है। उन्होने अलकार के अभाव मे रस तथा रस की अनुपस्थिति मे अलकार हो सकता है, इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।[2] मम्मट की तरह अलकार द्वारा अत्यन्त व्यापक अर्थ का ग्रहण न करने के कारण वे काव्य मे अलकार के उस महत्व का प्रतिपादन नही कर सके, जो 'काव्य प्रकाश' मे हुआ।[3] दास ने उत्तम कविता की विशेषताओ का निर्देश करते हुए अलकार को भी उनमे समाविष्ट किया है। दास ने अपने 'काव्य-निर्णय' मे भाव, भावाभास, गुण, अलकार आदि काव्य-तत्वो का विशद विवेचन किया है, उनका काव्य मे स्थान और महत्व भी दिखा दिया गया है। पर उन सबको स्पष्टत गौण बता दिया गया है। उन सबकी उपादेयता रस-व्यजना मे ही है।[4] इस प्रकार इनका दृष्टिकोण स्पष्टत रस-ध्वनिवादी है। इस कोटि के सभी आचार्यो ने काव्य-तत्वो मे समन्वय स्थापित किया है। गुण और अलकारो के अन्तर का स्पष्टीकरण भी किया गया। रीति को भी काव्य मे एक स्थान दे दिया गया। इतने सारे विवेचन मे यह स्पष्ट है कि इन आचार्यों का दृष्टिकोण समन्वयवादी है और इस समन्वय का आधार है—रस और ध्वनि, इसीलिए इनको रस-ध्वनिवादी कहना भी समीचीन है। 'काव्य-प्रकाश' 'साहित्य दर्पण' आदि सस्कृत-साहित्य का प्रौढ तथा सर्वांगीण रचनाओ को उपजीव्य बनाने के कारण इन आचार्यों का विवेचन बहुत-कुछ आचार्यत्व की कोटि का कहा जा सकता है। इसीलिए रीतिकाल के अन्य आचार्यो की अपेक्षा सम्प्रदायवाद की दृष्टि से इनका विवेचन अधिक प्रौढ है। फिर भी इन आचार्यो का उद्देश्य भी काव्य-सिद्धान्तो का सामान्य ज्ञानमात्र करा देना है। वादो की प्रतिष्ठा तथा समर्थन के उपयुक्त प्रौढ और गम्भीर विवेचन इसमे भी नही है। यही कारण है कि दास-जैसे आचार्य भी गुण का निरूपण, अलकार और गुण का अन्तर रस-निष्पत्ति, रस-स्थिति, रसानन्द का स्वरूप आदि अत्यन्त प्रौढ विषयो का निरूपण गम्भीरता और प्रामाणिकता के साथ नही कर पाए है। इतना

१ **चोच रही गहि सारसी, सारस हीन मृनाल।**
प्रान जात जनु द्वार मे, दियो अरगला डाल॥
इसमें उत्प्रेक्षा अलकार है, रस नही है। काव्य-निर्णय, पृष्ठ २०४॥

२. **अलंकार बिनु रसहुँ है, रसौ अलंकृत छांडि।**
सुकवि वचन रचनान सों, देत दुहुन को भाडि॥ वही पृष्ठ २०५॥

३. **रुचिर हेतु रस बहुरि, अलंकारजुत होय।**
चमत्कार गुनजुक्त है, उत्तम कविता सोय॥ वही पृष्ठ ७०॥

४. **भिन्न-भिन्न यद्यपि सबल, रस भाव.दिक दास।**
रस व्यगि सबको कह्यौ, ध्वनि का जहां प्रकास॥ वही पृष्ठ ४३॥

प्रौढ विवेचन तो किसी भी आचार्य मे नही मिलता है। इसीलिए ये सभी विषय रीतिकालीन आचार्यों द्वारा प्राय अस्पष्ट ही है। फिर भी रीतिकाल के अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा रस-ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रतिपादन अधिक प्रौढ और प्रामाणिक है, इसमे कोई सन्देह नही है। दास के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य है—प्रतापसाहि, चिन्तामणि, कुलपति और सोमनाथ। प्रतापसाहि ने अपने 'काव्य विलास, मे अनुभाव, स्थायी, सचारी आदि सभी की ध्वनि पर विचार किया है। इनके ग्रन्थ मे "ध्वनि" की दृष्टि से अधिक विचार हुआ है। ये भी रस-ध्वनि के समन्वय के प्रतिपादक है। रीति काल के समन्वयवादी आचार्यों ने औचित्य का विचार नही किया है।

मौलिक उद्भावनाए—रीतिकाल के आचार्यो का बहुत-सा विवेचन मौलिक प्रतीत होता है, पर वास्तव मे उसमे से अधिकाश मौलिक नही है। आज के विद्वत्समाज मे सस्कृत-साहित्य के जिन ग्रन्थो का अधिक पठन होता है, रीतिकाल के आचार्यों ने उन ग्रन्थो के अतिरिक्त भी सस्कृत के अनेको ग्रन्थो से सहायता ली है। इन अपरिचित ग्रन्थो से जो सामग्री रीतिकाल के आचार्यों ने ग्रहण कर ली है आज का आलोचक प्राय उन वस्तुओ को मौलिक कह देता है। कुछ ऐसे सिद्धान्तो के और भेदो का भी प्रतिपादन हुआ है, जो नवीन अवश्य है। उनके आधार अज्ञात है। पर अत्यन्त गम्भीर विवेचन के अभाव मे वे सिद्धान्त न प्रामाणिक हो सके है और न इतने तर्क-सम्मत। आचार्य लोग उनमे चिरकाल तक जीवित रहने के उपयुक्त प्राणो की प्रतिष्ठा नही कर पाए है।

रीतिकालीन आचार्यों ने शृगार का रसराजत्व माना है। केशव, देव, मतिराम आदि सभी आचार्यो को यह मान्य है। रीतिकाल तो एक प्रकार से शृगार-काल ही कहा जा सकता है। शृगार का यह रसराजत्व किसी प्रकार भी नवीन और मौलिक नही है। इसके पहले सस्कृत के अनेको आचार्य यह कर चुके थे। 'अग्नि-पुराण', भोज का 'शृगार-प्रकाश', भानुदत्त की 'रस-तरगिणी' इस श्रेय को पहले ही प्राप्त कर चुके थे। उन्ही का प्रभाव इस काल के आचार्यों पर भी है। इस काल मे जीवन पर ही विलासिता का व्यापक प्रभाव था। कवियो को अपनी विलासिता की तृप्ति का अवसर इसी शृगार के बहाने मिल गया है। यही कारण है कि अन्य रसो का निरूपण रस की स्थिति तक नही पहुँच सका था। शृगार की इस प्रधानता का कारण उस काल के जीवन का दृष्टिकोण था। फिर भी सैद्धान्तिक जगत मे यह वस्तु मौलिक नही है। सस्कृत का आचार्य बहुत पहले "शृगारीचेत् कविः काव्य जात रसमय जगत्" की घोषणा कर चुका था। 'अग्नि-पुराण' मे शृगार मे ही सब रसो के पर्यवसान का उल्लेख हुआ है। रीतिकाल मे इनका प्रभाव पड़ा और इसी के अनुकरण पर उन्होने सभी रसो का समावेश शृगार मे

किया। पर वे प्राचीन आचार्यों की प्रौढता का निर्वाह नही कर सके। 'अग्नि-पुराण' मे 'रति' शब्द का व्यापक अर्थ लेकर विषद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा रति का ही विभिन्न अवस्थाओ और सम्मिश्रणो से सभी स्थायी भावो मे परिणत होना माना।[1] इतना तर्कपूर्ण निरूपण रीतिकाल का आचार्य नही कर सका। उसने तो सीधे-सीधे शब्दो मे अन्य रसो की गौणता का प्रतिपादन कर दिया है। इतना ही नही देव तो इस प्रवृत्ति मे और भी आगे बढे है, वे कुछ रसो को सयोग शृगार का और कुछ को वियोग शृ गार का उपभेद मानते है।[2] यह केवल नवीनता के लिये है। परवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य होने के उपयुक्त इसमे प्रौढता कुछ भी नही है। इसी प्रकार केशव का प्रच्छन्न और प्रकाश भेद भी नवीन अवश्य है, पर इसमे भी स्थायित्व का अभाव है। इसके द्वारा केशव ने 'रस-सिद्धान्त' के किसी नवीन पक्ष को स्पष्ट करके विकास मे सहायता नही दी है। देव ने 'भाव-विलास' मे रस के लौकिक और अलौकिक—दो भेद किये है। फिर अलौकिक के स्वाभाविक मनोरथिक और औपनायिक अवान्तर भेद माने है। साहित्य-शास्त्र द्वारा मान्य नवरस, लौकिक के भेद है। रसो का यह विभाजन देव को भानुदत्त से मिला है। यह 'रस तरगणी' का अनुकरण है।[3] देव ने प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद केशव से लिए है। प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम ये भक्ति-ग्रन्थो के है। इनको अन्तर्भाव शान्त रस मे करना भी उनका ही प्रभाव है। यह सस्कृत मे ही होने लगा था। देवकालीन रसो को प्रधान मानना और शेष का उन्ही मे समावेश करना कोई विशेष महत्व की बात नही। इससे रस-सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही होता, इसलिए यह परवर्ती विद्वानो द्वारा उपेक्षित ही रहा।

भाव के क्षेत्र मे भी कुछ नवीनता प्राप्त होती है। देव ने 'भाव-विलास' मे सचारो के दो भेद किये है—शारीर और आँतर। लेकिन स्वय देव ही इसे भरत आदि द्वारा मान्य कहते है, इसलिए यह भी उनकी मौलिकता नही है। देव ने छल' को एक और सचारी माना है। वे वितर्क के अवान्तर भेद कहते है, विप्रतिपत्ति, विचार-सशय और

---

१. देखिए इसी पुस्तक का दूसरा अध्याय।

२ देव—'शब्द-रसायन', पृ० ५८।

३. लौकिक और अलौकिकादि, द्वै विधि कहत बखानि।
कहत अलौकिक तीनि विधि, प्रथम स्वापनिक भानु।
मनोरथ कवि देव अस, औपनायक बखानु॥
"स च रसो द्विविध लौकिकोऽलौकिकश्चेति।
औकिक रसस्त्रिधा स्वाप्निको मनोराथिको औपनायकश्चेति।"
॥ भानुदत्त—'रस-तरगिणी', तरग ६॥

अध्यवसान ।[1] इनमे से एक भी वस्तु देव की नही है। ये भानुदत्त के अनुकरण-मात्र है। आचार्य शुक्ल इसका अवहित्थ मे अन्तर्भाव करते है "देव कवि का संचारियो के बीच छल बढा देना कुछ लोगो को नई सूझ समझ पडी है। उन्हे समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बाते संस्कृत की 'रस-तरगणी' से ली है वैसे ही यह छल भी। सच पूछिये तो छल का अन्तर्भाव अवहित्थ मे हो जाता है।" दास ने हावो की सख्या मे दस और बढा दिये है। इसमे वे भी विश्वनाथ के आभारी है। रीतिकाल के लम्बे नायिका-भेद-निरूपण का श्रेय भी विश्वनाथ और भानुदत्त को ही है। यह प्रेरणा उन्ही से मिली है।

अल कारो मे भी मौलिकता के दर्शन होते है। केशव के अल कार-निरूपण पर विचार हो चुका है। भूषण ने भाविक छवि और सामान्य-विशेष नामक दो नवीन अल कारो की उद्भावना की है। भाविक का आधार समय की दूरी है, इसी के अनुकरण पर स्थान की दूरी को आधार मानकर भूषण ने भाविक-छवि की उद्भावना की है। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इसका भाविक मे ही अन्तर्भाव मानते है। भूषण का दूसरा अल कार अप्रस्तुत प्रशसा मे अतर्भूत हो जाता है।

रीतिकाल मे मौलिक उद्भावना की प्रवृत्ति नो है, पर गूढ चिन्तन और विषय के शास्त्रीय एव यथार्थ ज्ञान के अभाव मे ये उद्भावनाएँ प्राचीन आचार्यो से मतभेद प्रकट करने के मोह अथवा विषय की अनभिज्ञता के परिणाम-मात्र है। इसी लिए यह समीक्षा के विकास मे कोई सहायता नही देते। दास-जैसे एक-दो आचार्यों ने हिन्दी की प्रकृति का ध्यान रखकर भी नवीन अल कारो की उद्भावना की है, जैसे अन्त्यानुप्रास और तुक। दास ने अल कारो मे एक व्यवस्था स्थापित की है पर वे भी विभाजन की नवीन पद्धति मे सफल नही हुए। प्रत्यक्षाल कार मे सभी इन्द्रियो के उदाहरण देना भी उनकी मौलिकता है।

सस्कृत-साहित्य मे प्रयोगात्मक समीक्षा के तीन प्रधान रूपो के दर्शन होते है—१ स्फुट छन्दो मे कवि की विशेषताओ का वर्णन, २ सिद्धान्त-ग्रन्थो मे कवियो और काव्य-ग्रन्थो की प्रसंगवश आलोचना, और ३ टीका पद्धति। ऊपर का विवेचन यह स्पष्ट करता है कि रीतिकाल का सारा विवेचन सस्कृत-समीक्षा की सक्षिप्त उद्धरणी-मात्र है, जिसमे प्रधानत सामान्य परिचय का दृष्टिकोण ही प्रबल रहा है। रीति काल की प्रयोगात्मक आलोचना के भी प्रधानत. ये तीन ही रूप है। आलोचनात्मक सूक्तियो का आधार शास्त्रीय मान की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि ही अधिक रहती है। फिर भी उनमे कवियो की विशेषताएँ शास्त्रीय तत्वो के आवरण मे ही रखी जाती है। रीतिकाल मे इस प्रकार की सूक्तियो का प्रचार रहा है। ये सूक्तियाँ

---

१. **भाव-विलास**, पृष्ठ ५७

प्राय. अज्ञातकुल-जन्मा होती है। इसलिए इनका निर्माण-काल अनिश्चित है। इनमे तुलनात्मक दृष्टिकोण की ही प्राय: प्रधानता है। यह तुलना किन्ही गम्भीर शास्त्रीय आधारो पर नही होती है। प्राय वैयक्तिक रुचि के कारण अथवा किसी एक शास्त्रीय तत्व की दृष्टि से ही एक कवि को दूसरे से ऊचा अथवा नीचा बता दिया जाता है। "सूर सूर तुलसी शशि" के वास्तविक आधार के सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। विभिन्न विद्वानो ने इसके विभिन्न आधारो की कल्पना की है। इस उक्ति के अभिप्राय को गम्भीरता पूर्वक समझने का प्रयत्न हुआ है। आधुनिक विद्वानो के विवेचन का यह आधार भी रहा है। पर इस उक्ति की प्रेरणा इसमे भी अनुप्रास-प्रेम मे ही प्रतीत होती है।

"सार-सार कबीरा कहिगो, सूरा कहीं अनूठी।
रही सही कठमलिया कहिगो, और कही सब जूठी॥"

इसमे आलोचक ने अपनी वैयक्तिक रुचि को ही प्रतिमान बनाया है। इसमे भी कोई प्रौढ और तर्कपूर्ण आधार की कल्पना नही प्रतीत होती है। लेखक सार-वस्तु किसे मानता है—इसका स्पष्टीकरण ही नही हो पा रहा है।

रीतिकाल के आचार्यो ने अपने समकालीन हिन्दी के कवियो पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। काव्य के विभिन्न प्रयोजनो का सम्बन्ध उन्होने तुलसी, केशव और भूषण से स्थापित किया है।[1] दास ने तुलसी और गग कवि की कविता मे अनेको भाषाओ के मिलने की भी बात कही है।[2] अपने काल के अन्य कवियो का भी ब्रजभाषा के प्रसग मे उल्लेख किया है।[3] भाषा-सम्बन्धी विचारो से दास मे आलोचना की क्षमता का परिचय मिलता है। दास ने अन्त्यानुप्रास तथा हिन्दी मे विभिन्न बोलियो

---

१ **एक लहैं तपपुञ्जन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाई।**
एक लहे बहु सम्पति केशव, भूषन ज्यों बरबीर बडाई।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन, है रसखानि रहीम की नाईं॥
॥ काव्य-निर्णय, पृष्ठ ४॥

२. **तुलसी गग दुओ भये, सुकविन्ह के सरदार।**
इनकी काव्यन्ह में मिली, भाषा विविध प्रकार॥ पृष्ठ ६॥

३ **सूर कंसी मडन बिहारी कालिदास ब्रह्म,**
चिन्तामणि मतिराम भूषण से जानिये।
लीलाधर सेनापति निपट नेवाज निधि,
नीलकंठ सुकदेव देव मानिये॥
आलम, रहीम, रसखानि रसलीन, और
सुन्दर सुमति भये कहाँ लौ बखानिये।

के शब्दो की उपस्थिति[4] की बात कहकर अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का प्रदर्शन किया है। आलोचना की इस प्रवृत्ति के दर्शन उन आचार्यों मे भी होते है जिन्होने अलकार के उदाहरण अपने ही समकालीन कवियो से दिये है। दलपतिराय और बसीधर ने अपने 'अलकार रत्नाकर' मे भी अन्य कवियो के उदाहरण दिये हैं। और उनमे घटाकर अलकारो को समझाया है। केशव के छन्दो के दोषो को उदाहरण स्वरूप रखने का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

टीकाओ का अर्थ मूल पाठ का अर्थ स्पष्ट करना है, इसलिए व्यापक अर्थ मे ही यह आलोचना मानी जा सकती है। सस्कृत-साहित्य मे टीका भी आलोचना का स्वरूप था। हिन्दी मे इसका भी अभाव नही है। अनेको ग्रन्थो पर ऐसी टीकाएँ रीतिकाल मे भी लिखी गई। आधुनिक काल के प्रारम्भ से तो अन्य क्षेत्रो की तरह इसमे भी पर्याप्त विकास हो रहा है। आलोचना अपने इस स्वरूप मे भी प्रौढता को प्राप्त हो चुकी है। लेकिन इसका अभाव रीतिकाल मे भी नही था। राजस्थान की महान् कृति 'क्रिसन रुक्मणि री बेलि' की कई टीकाएँ लिखी गई है। इनमे से कई तो इस दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट और प्रौढ कही जा सकती है। इनमे से कुछ राजस्थानी गद्य मे भी है। इसमे कई स्थानो पर अलकार-निर्देश तथा काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण भी है। सस्कृत मे शब्दो के भाषा-विज्ञान और व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन की विशेष आवश्यकता थी। इसलिए इन टीकाओ मे आलोचना के अन्य स्वरूपो के साथ ही इसका भी पर्याप्त विकास हुआ है। लेकिन हिन्दी और राजस्थानी की अवस्था अपेक्षाकृत कुछ भिन्न थी, इसीलिए आलोचना के अन्य स्वरूप ही अधिक विकसित हुए है। पर अलकार, गुण, भाव-सौन्दर्य, रस-निष्पत्ति आदि विशेषताओ के आधार पर की जाने वाली आलोचना की दृष्टि से ये टीकाएँ सस्कृत-टीकाओ के समकक्ष रखी जा सकती है। इसमे कोई सन्देह नही कि आलोचना का यह प्रकार और उसका प्रतिमान एकदम शास्त्रीय है। इनमे भी सस्कृत के प्रतिमानो का ही ग्रहण हुआ है। सस्कृत-टीकाओ मे कही-कही सिद्धान्त-निरूपण आदि होता है और सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टि से इनका महत्व कम नही है। हिन्दी-साहित्य के टीकाकारो मे इस मनोवृत्ति के दर्शन प्राय नही होते हैं। बहुत सी टीकाएँ पद्य-बद्ध है। इनकी

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानों,
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानिहू से जानिये ॥ वही पृष्ठ ६ ॥

४ **भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुकवि सब कोइ ।**
मिलै सस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होई ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जवन भाषानी ।
सहज पारसीहू मिलै षट् विधि कविता बखानी ॥ वही पृष्ठ ६ ॥

विशेषता आलोच्य वस्तु के अर्थ का स्पष्टीकरण ही अधिक है। इनमे काव्यगत सौन्दर्य का निर्देश सफलता पूर्वक नही हो पाता। ऐसी टीकाओ की विशेषता कभी-कभी आलोचना की अपेक्षा स्वतन्त्र काव्य-सौन्दर्य मे अधिक दिखाई पडती है। आलोच्य वस्तु के भाव को पल्लवित करते समय स्वय टीकाकार का कवि मुखर हो उठता है। जहाँ कही ऐसे काव्य-सौन्दर्य के दर्शन होते है, वहाँ पर कहीं-कही तो ऊबा देने वाला पिष्टपेषण अथवा "मधवापाठ बिडौजा-टीका" की जटिलता तथा नीरसता का कटु स्वाद भी चखना पडता है। टीका के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त है। पद्य मे यह कार्य विशेष सफलता पूर्वक सम्पादित नहीं हो पाता है। पद्य-शैली की असुविधाओ के कारण भी इसका स्वरूप गद्य की अपेक्षा कम प्रौढ है।

हिन्दी मे रीति की अक्षुण्ण परम्परा के अविकल रूप से प्रवाहित होने के पूर्व ही भक्तो के जीवन, विचार, भक्ति और शक्ति से परिचित कराने वाले ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। ये वार्ता-साहित्य के नाम से हिन्दी मे विख्यात है। इनमे भक्ति आदि के अतिरिक्त उनकी कविता के सम्बन्ध मे भी कही-कही विचार हुआ है। वैसे तो भक्त कवियो के जीवन, विचार आदि सभी वस्तुओ का आलोचना की दृष्टि से महत्व है, पर कविता पर विचार करने वाले स्थल तो स्पष्टत आलोचना के उदाहरण हैं। कही-कही ये विचार बहुत ही गम्भीर और प्रौढ है। इनमे काव्य के वर्ण्य-विषय और शैली-सम्बन्धी विशेषताओ के अतिरिक्त काव्य का जन-साधारण पर पडने वाले प्रभाव का भी विवेचन हुआ है। इनमे भी वैयक्तिक रुचि के दर्शन होते हैं। इनमे प्रशसात्मक दृष्टिकोण को ही प्रधानता है। 'भक्तमाल' मे सूर के सम्बन्ध मे जो विचार हुआ है, वह इस पद्धति का प्रौढ उदाहरण है।[1] भक्त कवियो की भक्ति-पद्धति और दार्शनिक विचार-धारा भी इन कवियो की आलोचना ही है। इस काल मे ये प्रयास बहुत विशद नही हुए हैं। इन ग्रन्थो के लेखको का ध्यान भक्तो के जीवन-चरित्र, उनके सम्बन्ध मे प्रचलित चमत्कारपूर्ण किम्वदन्तियो की ओर ही अधिक गया है। वस्तुत ये आलोचनात्मक दृष्टिकोण से नही लिखे गए। उस समय इस प्रकार की आलोचनात्मक चेतना इतनी स्पष्ट और विकसित नही हो पाई थी कि इसी दृष्टिकोण को प्रमुख रखकर किसी ग्रन्थ की रचना होती। फिर भी इसके आलोचनात्मक महत्व की उपेक्षा नही की जा सकती।

सस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ आलोचनात्मक सम्मति के लिए प्रसिद्ध

---

१ उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुण रूप रसना पर कासी॥ भक्तमाल, पृष्ठ १६१॥

आचार्यों और कवियो के पास भेजे जाते थे, इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध है। लोक-रुचि के साथ ही समीक्षा मे विद्वत्रुचि का भी महत्व स्वीकृत था। पुस्तक के महत्व को विद्वत्समाज द्वारा स्वीकृति लेखक के लिए सम्मान की वस्तु समझी जाति थी। यह प्रणाली उन युगो के साहित्यिक पाठको की समीक्षा-चेतना की परिचायक है। मुद्रण के अभाव मे पुस्तक-प्रचार का यह बहुत बडा साधन था। फिर साहित्य-सृष्टा पर एक नियन्त्रण भी था। कवियो के लिए यह आलोचक-समाज प्रेरणा और प्रोत्साहन का कार्य करता था। जनसाधारण मे भी आलोचनात्मक चेतना (Critical Consciousness) और विद्वानो की सम्मति का मान था। ऐसी प्रथा वाल्मीकि और भरत के समय मे थी। भरत के पास नाटककारो की कृतिया अभिनय के लिए आती थी। यह उनकी अभिनेयता और रस-निष्पत्ति-क्षमता की परीक्षा थी। पुस्तके साहित्यिक उत्कर्ष को जाचने और मूल्याकन के लिए ही भेजी जाती थी। इस परम्परा के दर्शन हिन्दी-साहित्य के रीति-काल मे भी होते है। जब आलोचक-समाज का क्षेत्र ऋषियो के आश्रमो से हटकर राज-दरबार मे आ गया था। राज-दरबार के कवि और विद्वान लोग विभिन्न कृतियो की उत्कृष्टता पर अपनी सम्मति प्रकट किया करते थे। 'बेलि क्रिसन रुकमणिरी' की तुलना 'रुक्मिणी हरण' से अकबर के दरबार मे हुई, और दरबार ने बेलि की अपेक्षा हरण को अच्छा बताया, ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है। यह किंवदन्ती असत्य ही प्रतीत होती है, क्योकि बेलि की साहित्यिक उत्कृष्टता मे किसी को कोई सन्देह नही है। यह निर्विवाद रूप से माहेरा से श्रेष्ठ है। पर इससे इतना अवश्य पता चलता है कि राज-दरबारो मे इस प्रकार की आलोचनाए हुआ करती थी। कवियो की कविता पर पुरस्कार प्रदान करना भी इसका दूसरा प्रमाण है। भक्त कवियो का राज-दरबार से कुछ सम्पर्क नही था, इसलिए उनकी कृतिया उस क्षेत्र की प्रशसात्मक अथवा निन्दात्मक आलोचना से मुक्त रही है। लेकिन ये लोग जब परस्पर मिलते थे, उस समय इस प्रकार की चर्चा प्राय हुआ करती थी। वयोवृद्ध कवि अपने से छोटो को कविता के गुण-दोषो का निर्देश उन्हे प्रोत्साहन देने की शुभेच्छा से किया करते थे। इस प्रकार के निर्देश प्राय. भक्ति-सम्बन्धी ही हुआ करते थे। स्वय वल्लभाचार्य ने सूर की प्रारम्भिक विनय-प्रधान रचनाओ को घिघियाना कहकर उन्हे कृष्ण की प्रेम-लीला गाने का प्रोत्साहन दिया है। यह आलोचना के विशुद्ध क्षेत्र की वस्तु नही है। दर्शन और भक्ति से ही इनका सीधा सम्बन्ध है। पर फिर भी सूर की कविता की दार्शनिक व्याख्या तो कही जा सकती है। वल्लभाचार्य ने सूर की भक्ति और कविता पर प्रसगवश जो कुछ कहा है, उसमे आलोचना के तत्व निहित है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। इस काल के कवि अपने समकालीन कवियो की कविता का अध्ययन आलोचनात्मक दृष्टि से किया करते थे और तत्पश्चात् उनके साहित्यिक सौष्ठव पर अपनी सम्मति देते थे।

इसके भी कुछ प्रमाण मिल जाते है। 'बेलि' के सौष्ठव पर उसी काल के कवियो ने विचार किया है।[1]

'बेलि' को पचम वेद और उन्नीसवा पुराण कहा है,[2] एक दूसरे राजस्थानी कवि ने निम्नलिखित रूपक से प्रशसा की है। इसमे ग्रन्थ के शीर्षक की सार्थकता का विवेचन हुआ है। 'बेलि' के रूपक के आश्रय से आलोचक ने इसके महत्व का प्रतिपादन किया है।[3]

सरदार कवि-कृत 'मानस-रहस्य' मे सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनो प्रकार की आलोचनाओ का बहुत ही सुन्दर मिश्रण है, इस ग्रन्थ मे लेखक ने 'काव्य-विलास' 'रस-रहस्य', 'सभा प्रकाश' आदि अनेक सिद्धान्त-ग्रन्थो का उपयोग किया है। काव्यागो के लक्षण इन ग्रन्थो से उद्धृत किए गए है, और उन लक्षणो के अनुसार 'मानस' की व्याख्या की गई है। लक्षणो के उदाहरण 'मानस' से दिए है और बाद मे उन स्थलो की गद्य मे व्याख्या भी कर दी गई है। लेखक ने 'मानस' के स्थल उद्धृत करके उनमे काव्यागो का निर्देश किया है, सूक्ष्म विवेचन नही है।

"निज कर भूषन राम बनाए,
सीता हि पहिराए प्रभु सादर।

"यहा राम जानकी परस्पर आलबन विभाव कटाक्षादि अनुभाव हर्ष सचारी रति स्थायी यामे शृगार है," (पृष्ट ८) काव्यागो के निरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वांगीण है, इसमे काव्य-लक्षण, काव्य का प्रयोजन, शब्द-शक्ति, रस, वस्तु और अलकार-व्यजना के आधार पर काव्य-भेद, रस के सम्प्रदाय, अलकारो के पारस्परिक भेद आदि गम्भीर विषयो पर विचार हुआ है। लेखक ने इन प्रसगो पर अनेक प्रसिद्ध आचार्यों के मत उद्धृत किये है। कहीं-कहीं गद्य मे भी विवेचन

---

१. बेलि कृष्ण रुकमणी री' की भूमिका, पृ० ४६।

२ रुकमणि गुण लखण गुण रचावण
बेलि तासु कुण करै बखान,
पांचमो बेद भाख्यो पीथल,
पुनियो उणीसवों पुराण,

३ वेद बीज जल विमल सकति जित रोपी सद्दर,
पत्र दोहा गुण पुहुप, वास लोभी लखमीवर,
विसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरी आडम्बर,
जिके शुद्ध मन जमे तेउ फल पामे अम्मर,
वस्तार कीध जुग-जुग विमल धन्य कृष्ण कहनार धन,
अमत बेलि पीथल अचल, तै रोपी कल्याण तन,

है, जहा पर लेखक ने किसी अन्य आचार्य का नाम-निर्देश नही किया है वह लेखक का अपना है, इन लक्षणो मे भी कही-कही पर्याप्त स्पष्टता है, "अर्थ और रस मिली रहै हो अर्थान्तर सक्रमित और जहा विग (व्यग्य) अधिकाई लहिवे को वाचक अपनो अर्थ छोडि देय अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।" (पृष्ठ ४)। लक्षण के अनन्तर उसी आधार पर मानस की पक्ति की शास्त्रीय व्याख्या करने मे इसी शैली का निर्वाह लेखक ने सर्वत्र किया है, "रस अनुकूल विकार को भाव कहत कविराज" यथा "ककण किकिणि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि," "इहा धुनि सुनि मे सिगार अनुकूल विकार उपजो" 'अभोज अबक अब उमग सुअग पुलकावली छाई, इहा अनुप्रास को चमत्कार है, "नमामि भक्तवत्सलम" आमं अर्थ चमत्कृत है, "दीपक दीपका-वृद्धि प्रति वस्तूपमा मे भेद, दीपक मे हक धर्म नाही दीपका वृत्ति मे नेम नाही प्रति-वस्तु उपमा मे दोई है", "भलो भलाई लहै लहै निचाई नीच" प्रति वस्तूपमा का उदाहरण है।'

'मानस-रहस्य' रीतिकालीन समीक्षा के आदर्श के अनुकूल शास्त्रीय आलोचना का प्रौढ उदाहरण है। सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर आलोच्य वस्तु का विश्लेषण आधुनिक समीक्षा की एक प्रधान विशेषता है, वर्तमान समीक्षा सूत्र रूप मे केवल सामान्य निर्देश-मात्र तक सीमित न रहकर विशद विवेचन और विश्लेषण-शैली को अपनाती है। रीतिकाल का यह ग्रन्थ सूत्र-शैली मे लिखा गया है। रीतिकाल मे विश्लेषण-शैली का विकास नही हो पाया था। इसमे सिद्धान्त-निरूपण और प्रयोगात्मक आलोचना दोनो अभिप्राय सिद्ध हो रहे है। इसमे युग की आलोचनात्मक चेतना अत्यन्त स्पष्ट है। रीतिकाल और आधुनिक काल की शास्त्रीय समीक्षा मे शैली का अन्तर होते हुए भी निर्मित मानदड का उपयोग दोनो मे होता है, इसी आधार पर यह मानना समीचीन प्रतीत होता है कि रीतिकालीन आलोचनात्मक चेतना ही आधुनिक समीक्षा-पद्धति के नवीन रूप मे विकसित हो रही है। यह चेतना आधुनिक काल की चेतना मे ही अन्तर्भूत हो गई है, 'मानस-रहस्य' रीतिकालीन आदर्श की वस्तु-निर्देशात्मक (क्लासिकल क्रिटीसिज्म) शैली का अच्छा उदाहरण है।

रीतिकाल का विवेचन 'सस्कृत-समीक्षा-शास्त्र' की प्रौढता की तुलना मे अत्यन्त सामान्य है। इसमे विषय-प्रतिपादन की गम्भीरता का अभाव है। इसके कई कारण थे। गद्य की अविकसित अवस्था और युग-व्यापी बुद्धि-शैथिल्य के कारण सस्कृत की सी प्रौढता सम्भव नही थी। रीति काल का विवेचन भी क्रमश. प्रौढ होता गया है। केशव और चिन्तामणि की अपेक्षा सोमनाथ, प्रतापसाहि, सरदार कवि और गोविन्दानन्द घन का विवेचन अधिक गम्भीर और प्रौढ है। इनमे सूक्ष्म विवेचन तथा विषय

के अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ निरूपण की क्षमता है। इन लेखकों ने काव्य के गम्भीर विषयों का विवेचन किया है। अपने काल के ग्रन्थों की आलोचना भी वर्द्धमान समीक्षा-शक्ति का प्रमाण है। इस काल मे 'मानस-रहस्य'-जैसे प्रौढ़ प्रयास हुए, जिनमें शास्त्रीय तत्वों के अतिरिक्त चरित्र-वस्तु आदि के औचित्य का भी विवेचन हुआ, यह प्रयास आधुनिक और रीतिकाल की सन्धि में हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि रीतिकाल की आलोचनात्मक चेतना ही विकसित होकर नवीन रूप धारण कर गई। इस चेतना ने आधुनिक समीक्षा के विकास में सहयोग और प्रेरणा प्रदान की है, यह भी स्वीकार करना पड़ता है, इसके इस स्वरूप पर आगे विशद विचार किया जायगा।

: ४ :

आधुनिक समीक्षा-पद्धति का प्रारम्भ

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन करते हुये विक्रम की १८ वी शताब्दी को रीतिकाल माना है। यद्यपि रीति की परम्परा इसके प्राय सौ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी, कृपाराम ने सम्वत् १५१८ मे ही रीति-ग्रन्थ का प्रणयन कर दिया था। इसका विवेचन हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। यहा पर तत्कालीन जीवन और साहित्य का केवल सिंहावलोकन-मात्र करना है। इतिहास की दृष्टि से यह काल उत्तर भारत के लिये शांति-काल था। पश्चिमोत्तर प्रदेश के आक्रमण प्राय बन्द हो गये थे। मुगल बादशाहो को भी अपने राज्य-स्थापन और उसमे सुख-शान्ति बनाये रखने के लिये अपेक्षाकृत कम युद्ध करने पड रहे थे। वे राज्य का उपभोग करने लगे और धीरे-धीरे विलासी हो गये। जनता तथा हिन्दू-राजा भी उनके साथ विलासिता की धारा मे बह चले। जीवन मे एक शैथिल्य था। इन परिस्थितियो ने साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया। वह भी विलासिता और कुतूहल-तृप्ति का एक साधन-मात्र हो गया। साहित्य मे बाह्य अलंकारो-आडम्बरो का बाहुल्य, बाल की खाल खीचने मे सूक्ष्म कल्पनाओ और चमत्कार- प्रियता का प्राधान्य हो गया। रीति-विवेचन को भी उस काल के लोगो ने एक प्रकार का फैशन और अवकाश-काल के बौद्धिक व्यायाम के रूप मे ग्रहण किया। इसलिए उनमे सूक्ष्म विवेचन का प्रायः अभाव है। यह बुद्धि-शैथिल्य का काल था, इसलिए इसमे समीक्षा की प्रौढ और सूक्ष्म तर्क-प्रधान शैली का जन्म सम्भव नही था। इस काल मे केवल परम्परा-मुक्त निरूपण ही होता रहा।

अग्रेजो के राज्य-प्रसार और मुगल बादशाहो के अध पतन ने सोये हुए देश को जगा दिया। सब एक परिवर्तन का अनुभव करने लगे। नये राज्य और नई विचार-धारा ने भारतीय जनता पर एक व्यापक प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया। वह अपने-आपको एक नवीन वातावरण मे अनुभव करने लगी। चिरकाल की परिचित जीवन-प्रणाली, धर्म और समाज की परम्परागत रूढ धारणाओ की नीव हिल गई।

भारतीय जनता भी अपने अतीत और रूढ़िवादिता की रक्षा के लिए उद्यत हो गई। उसने सम्मिलित होकर इस विदेशी विचार-धारा को उखाड़कर फेंकने मे अपनी पूरी शक्ति लगा दी। सिपाही -विद्रोह के स्वातन्त्र्य-सग्राम के साथ ही पाश्चात्य अनुकरण पर आधारित नवीन विचार-धारा के विरुद्ध प्राचीनता का भी विद्रोह था। सिपाही-विद्रोह के परिणाम ने भारतीयो को हतप्रभ कर दिया। इसकी विफलता भारतीय विचार-धारा का पाश्चात्य चिंतन के समक्ष आत्म-समर्पण था। राजा राममोहनराय-जैसे व्यक्तियो ने पाश्चात्य विचारो का स्वागत किया। देश मे नवीन शिक्षा-प्रणाली का प्रसार प्रारम्भ हो गया। अग्रेज भारतीयो को राजनीतिक परतन्त्रता के साथ बौद्धिक दासता का भी पाठ पढाना चाहते थे। ये नवीन विद्यालय इसी उद्देश्य से खोले गए थे। इस कार्य मे उनको सफलता भी मिली। इन शिक्षण सस्थाओ से निकला हुआ स्नातक अग्रेजियत का भारतीय सस्करण-मात्र था और आज भी उसमे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है। पाश्चात्य शिक्षा और अग्रेजों के सम्पर्क ने भारत मे नवीन बौद्धिक जागृति ला दी और उन्हे समाज-सुधार तथा देश की सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिए प्रेरित किया। भारतीय भी अपने जीवन और साहित्य पर नवीन दृष्टि से विचार करने लगा। उसे मूल्याकन का नवीन मापदण्ड प्राप्त हो गया था। इसी से वह अपनी प्रत्येक वस्तु और प्रयत्नो का मूल्याकन करने लगा। इसके कुछ दुष्परिणाम भी अवश्य हुये, पर उसमे चिंतन की प्रवृत्ति जाग गई। वह अपने साहित्य, कला आदि को पश्चिम से प्राप्त नए प्रकाश मे देखने लगा। भारतीय भाषाओ का साहित्य अग्रेजी की अपेक्षा कम विकसित था। अपने साहित्य की इस हीनता की प्रतीति ने कुछ लोगो को अतीत की ओर तथा कुछ को पश्चिम के अन्धानुकरण की ओर आकृष्ट किया। इन दोनो प्रवृत्तियो मे सामजस्य भी स्थापित हुआ, जो भारतीय साहित्य-चिन्तन और जीवन के लिए श्रेयष्कर सिद्ध हुआ। आज भी इसी मे भारत का कल्याण है। इन सब कारणो से भारत मे पुनः बौद्धिक जागृति का युग आ गया। शताब्दियो की घोर निन्द्रा के उपरान्त वह जाग उठा और युद्ध के क्षेत्र मे बडी तेजी से आगे बढने लगा। पश्चिम के अनुकरण पर उसमे साहित्य और कला की नवीन शैलियो और विज्ञान की नवीन सरणियो का अवलबन प्रारम्भ हो गया। अब भारतीय अपने साहित्य का भी मूल्याकन करने लगा। हिन्दी मे भी काव्य की नवीन विधाओ के प्रयोग प्रारम्भ हो गए। उसमे पाश्चात्य शैली की नवीन आलोचना भी आरम्भ हो गई। हिन्दी-भाषा भाषी भी अपने साहित्य और साहित्यकारो का नवीन शैली पर अध्ययन करने लगे। पाश्चात्य समीक्षा से उसको इस कार्य के लिए पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हो रही थी। अग्रेजी साहित्य की तुलना मे अपनी भाषा की साहित्य-समीक्षा उसे निम्न कोटि की प्रतीत हुई। इससे प्रेरित होकर उसने नवीन प्रयोग प्रारम्भ कर दिए। बौद्धिक

जागृति और पाश्चात्य अनुकरण के वातावरण मे आधुनिक समीक्षा-पद्धति का जन्म और विकास हुआ है। इसमें नवीन शैली पर काव्य-सिद्धान्तो का निरूपण और समीक्षा की नवीन पाश्चात्य प्रणालियो का ग्रहण हुआ। आधुनिक हिन्दी-साहित्य-समीक्षा की यह प्रधान विशेषताएँ है, जिनके दर्शन भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ से ही होते है। इस काल मे इन प्रवृत्तियो मे विकास भी हुआ है। इसी विकास का अध्ययन इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली मे प्रारम्भ से ही कई विषयो को पाठ्य-क्रम मे स्थान मिला था। इनमे से एक विषय हिन्दी भी थी। हिन्दी-उर्दू के बहुत गहरे सघर्ष और विरोध के होते हुए भी कई कारणो से हिन्दी पाठ्य-क्रम मे अपना स्थान बनाये रख सकी। वस्तुत यह भारत के जन-साधारण की भाषा थी, इसीलिए राजनीतिक चालो भी उसको अपदस्थ नही कर सकी। विरोधो ने उसे अधिक शक्तिशाली बना दिया। फोर्ट विलियम कालेज मे ही हिन्दी के अध्यापक नियुक्त किये गए। उन्हे गद्य मे पुस्तके लिखने की प्रेरणा मिली और इस प्रकार धीरे-धीरे गद्य का विकास हुआ। इसकी एक निश्चित शैली बन गई और विभिन्न विषयो की पाठ्य पुस्तकें भी लिखी जाने लगी। गद्य का विकास भी आधुनिक समीक्षा-प्रणाली के उद्भव और विकास का सहायक कारण हुआ। आधुनिक समीक्षा के उद्भव के प्रधान कारणो पर ऊपर विचार हो चुका है। पाश्चात्य साहित्य का सम्पर्क और बौद्धिक जागृति ही इसके प्रधान कारण है। कालेजो मे अग्रेजी और हिन्दी दोनो साथ-साथ पढाई जाती थी। हिन्दी के अध्यापको और साहित्यकारो को समीक्षा का अभाव खटकता था। अग्रेजी मे यह साहित्य बहुत समृद्ध था, इसलिए इन साहित्यकारो का ध्यान अपनी हीनता की अनुभूति के कारण भी साहित्य-समीक्षा की ओर आकृष्ट हो गया। भारतेन्दु और द्विवेदी-काल के लेखको ने अपने साहित्य की अग्रेजी से तुलना करते हुए कई बार इस हीनता को स्वीकार किया है। यह भी आधुनिक समीक्षा के कारणो मे से एक है। इसने भी साहित्यकारो को समीक्षा की पर्याप्त प्रेरणा दी है। हिन्दी का साहित्यकार भी अपनी भाषा मे प्रौढ प्रयोगात्मक आलोचना का दर्शन करना चाहता था। इसके लिए पश्चिम ही उसके समक्ष आदर्श था। इसलिए उसने पश्चिम का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। उसने समीक्षा की शैली और सिद्धान्त दोनो ही अपनाये। इसके लक्षण भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ से ही स्पष्ट दिखाई पडते है। शैली तो पूर्णत. पाश्चात्य ही रही, लेकिन सिद्धान्त अधिकतर भारतीय ही अपनाने पड़े। हिन्दी के पास काव्य-सिद्धान्तो की अमूल्य निधि थी। फिर भी हिन्दी के साहित्यकारो ने पश्चिम के काव्य-सिद्धान्तो को बहुत कुछ आत्मसात् किया है। यह प्रयत्न भी भारतेन्दु-काल से ही प्रारम्भ हो गया। लेखक हिन्दी मे अग्रेजी के समीक्षा-सिद्धान्तो का अविकल अनुवाद करने लगे थे।

यह अनुकरण का ही परिणाम था कि 'नागरी-प्रचारणी-पत्रिका' मे पोप के 'ऐसे ऑन क्रीटिसिज्म' का पद्य-बद्ध अनुवाद प्रकाशित हुआ था ।[1] गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने पत्रिका के प्रथम अङ्क मे समालोचना के सम्बन्ध मे जो-कुछ लिखा था, वह भी पश्चिम का अनुकरण ही था । ये दोनो लेख कुछ बाद की रचनाएँ है। इनके पूर्व साहित्य-समीक्षा के जो प्रयास हुए, वे भी अनुकरण के प्रभाव से वंचित नही है । कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक समीक्षा के प्रारम्भ मे पाश्चात्य अनुकरण भी इसके विकास की प्रधान शक्तियो मे से एक था ।

साहित्य के सर्वतोमुखी विकास की प्रेरणा मे ही समाचार-पत्रो का प्रकाशन भी अन्तर्हित है । गत ईसवी शताब्दी के पिछले वर्षों मे हिन्दी मे भी समाचार-पत्रो का प्रकाशन आरम्भ हो गया था । मुद्रण-कला के विकास और राजनीतिक जागृति के साथ ही समाचार-पत्रो का प्रकाशन भी अनिवार्य था । मुद्रण के वैज्ञानिक साधनो के सुलभ हो जाने पर पुस्तको का प्रकाशन भी प्रचुर मात्रा मे होने लगा । जनता तक इन पुस्तको को पहुँचाने के लिए विज्ञापन की आवश्यकता अनुभव होने लगी । समाचार-पत्र इनके प्रधान साधनो मे से थे । पुस्तको के विज्ञापन मे पाठको मे रुचि उत्पन्न करने के लिए उनके बाह्य रूप, आकार, प्रकार और मुद्रण के सौदर्य के साथ ही वर्ण्य-विषय की चित्ताकर्षकता और सजीवता पर भी विचार होता था । इस प्रकार इन विज्ञापनो मे पश्चिम के 'बुक-रिव्यू' का अनुकरण प्रारम्भ हो गया । इन विज्ञापनो मे हिन्दी का लेखक ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से आधुनिक नवीन समीक्षा-प्रणाली के बीज बो रहा था । विकास-क्रम की दृष्टि से नवीन समीक्षा-पद्धति का यह प्रारम्भिक उदाहरण है । इस प्रकार मुद्रण-कला के विकास और समाचार-पत्रो के प्रकाशन ने भी आधुनिक समीक्षा-पद्धति के विकास मे सहयोग दिया है । समाचार-पत्रो मे 'बुक-रिव्यू' का एक पृथक् स्तम्भ भारतेन्दु-काल से ही है । इसमे भी समालोचना का विकास हुआ है ।

मुद्रण-कला और साहित्य-सृजन की नवीन प्रेरणा के फल-स्वरूप हिन्दी मे भी पुस्तको की आशातीत वृद्धि प्रारम्भ हो गई । एक-एक विषय पर अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें प्रकाशित होने लगी । उपन्यास, कविता, कहानी, निबन्ध आदि की भरमार हो गई । जनता के पास इन सब पुस्तको को पढने और खरीदने के लिए पर्याप्त समय और अर्थ का अभाव था । इसी कारण से स्वभावत. उसमे ग्रहण और त्याग की प्रवृत्ति जाग गई थी । न तो वह सब-कुछ ग्रहण कर सकती थी और न सबका त्याग ही उसके लिए सम्भव था । पाठक मे पुस्तको की उपादेयता को आकने की आकाँक्षा प्रबल हो उठी । यह आकाक्षा भी समीक्षा के लिए प्रेरक शक्ति का कार्य

---

१. यह अनुवाद रत्नाकर जी द्वारा किया गया था ।

करने लगी। उपादेय वस्तु का ग्रहण और निरर्थक का त्याग उसे आवश्यक प्रतीत होने लगा। साहित्य की निर्बाध वृद्धि से कहीं साहित्य का क्षेत्र कूड़े-करकट से अवरुद्ध न हो जाय; अमूल्य रत्न उनमें दबकर उपेक्षित न हो जाय—साहित्यकारों और जन-साधारण की यह चिन्ता बढ़ती चली जा रही थी। इसके फल-स्वरूप आलोचना की प्रवृत्ति का जागना और तीव्र होना स्वाभाविक था। ऐसे भी आलोचनात्मक चेतना इस काल की प्रधान विशेषता है। साहित्य को कूड़े-करकट से मुक्त करने की आकांक्षा से कभी-कभी आलोचक को कटु आक्षेपों का भी आश्रय लेना पड़ा है। आलोचना के प्रारम्भ-काल में निन्दा-स्तुति की अधिकता होती है। भारतेन्दु-काल की आलोचना में यही हुआ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सारे देश की परिस्थिति के साथ ही हिन्दी-क्षेत्र की अवस्थाओं में भी आमूल परिवर्तन हो गया था। इन परिवर्तनों के कारण नवीन बौद्धिक जागृति आई और आधुनिक समीक्षा-प्रणाली के उपयुक्त वातावरण तैयार हो गया। यह पद्धति हिन्दी के लिये ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारत की भाषाओं के लिए नई थी। प्रयोगात्मक आलोचना की इस प्रवृत्ति का विकास भारत में पहले नहीं हुआ था। यह यूरोप की वस्तु है और भारत ने इसकी प्रेरणा वहीं से ली है। संस्कृत के आचार्यों का ध्यान सिद्धान्त-निरूपण की ओर ही अधिक गया। प्रयोगात्मक आलोचना के दर्शन तो टीकाओं सूक्तियों तथा लक्षण-ग्रन्थों में यत्र-तत्र ही होते हैं। सार्वदेशिक और चिरन्तन मानदण्ड के उपयुक्त सिद्धान्तों और प्रौढ़ आलोचनात्मक चेतना के विकसित होने पर भी प्रयोगात्मक आलोचना की इस आधुनिक शैली का जन्म नहीं हो पाया था। साहित्य अथवा कलाकार की विशेषताओं का निरूपण पृथक पुस्तक में उस समय नहीं होता था। यह आधुनिक शैली है। उस समय समालोचक फुटकर छन्दों के सौंदर्य का ही अधिक विवेचन करता था, सम्पूर्ण ग्रन्थ और लेखक पर समष्टि-रूप से बहुत कम। कलाकार के व्यक्तित्व का विशद विवेचन आधुनिक समीक्षा की प्रधान विशेषता है। हिन्दी में भी उस शैली का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। रीतिकाल तो संस्कृत की अलंकार-परम्परा की उद्धरणी-मात्र रहा है। रीतिकाल में तो संस्कृत का-सा प्रौढ़ विवेचन मिलता भी नहीं, संस्कृत के आलोचकों ने तो कहीं-कहीं पर प्रसंगवश कवि के व्यक्तित्व, काव्य की उपादेयता, नैतिकता आदि गम्भीर विषयों पर भी विचार किया है। रीतिकाल में तो इनका भी प्रायः अभाव ही रहा। 'मानस-रहस्य'-जैसे ग्रन्थों में एक काव्य-ग्रन्थ की आलोचना मिलती है। यह 'मानस' की आलोचना है, पर इसमें भी लेखक सैद्धान्तिक निरूपण ही अधिक करता है। इनमें भी आधुनिक आलोचना-शैली के दर्शन नहीं होते। संस्कृत के प्रौढ़ विवेचन की छाया ग्रहण करके रीतिकाल में जो कुछ प्रयास हुये, उन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य तक संस्कृत के

सिद्धान्तो को पहुँचाने भर का कार्य किया है। आधुनिक विद्वानो का ध्यान सस्कृत-अलकार-ग्रन्थो की तरफ बहुत अधिक गया है, इसका कुछ श्रेय रीतिकाल को भी है। पाश्चात्य अनुकरण से आलोचना को पर्याप्त प्रौढ़ शैली प्राप्त हुई है। वह 'मानस-रहस्य' की तरह शास्त्रीय और सकेतात्मक-मात्र नही है, उसमे विश्लेषण की प्रधानता है। आज की आलोचना मे कला-कृति पर जीवन की दृष्टि से विचार होता है। तत्कालीन परिस्थितियो का कला-कृति पर प्रभाव, कलाकार के व्यक्तित्व से उसका सम्बन्ध, जीवन-धारा के स्वाभाविक प्रवाह मे सहयोग आदि गूढ प्रश्नो पर विचार होता है। अग्रेजी विद्वान पश्चिम की नई-नई आलोचना-शैलियो से परिचित होकर उनका प्रयोग अपनी भाषा मे भी करना चाहता है। इसके फलस्वरूप हिन्दी मे भी आलोचना की अनेक शैलिया बन गई। जिनको अंग्रेजी का पूरा ज्ञान नही था और इसलिए जो समीक्षा की शैलिया सीधी पश्चिम से नही ले पाते थे, उनको भी युग मे चेतना मिली और उन्होने भी पाश्चात्य शैलियो का उपयोग किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे भारत के प्राचीन अलकार-ग्रन्थो का नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन हुआ। पाश्चात्य समीक्षा-तत्वो के साथ-साथ उनका सामजस्य भी स्थापित हुआ और इस प्रकार एक नवीन प्रौढ शैली का जन्म हो गया। प्राचीन और नवीन शैलियो के तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करने का तात्पर्य नवीन शैली के महत्व को स्पष्ट करता है। भारतेन्दु-काल मे समीक्षा का इतना प्रौढ रूप नही मिल पाया। उसमे इतनी शैलियो का विकास भी नही हुआ है। लेकिन इतना तो निश्चय है कि इस नवीन समीक्षा के बीज भारतेन्दु-काल मे थे, भावी विकास का पूर्वाभास इसी काल मे मिलने लगा। यही भारतेन्दु-काल का महत्व है। इस काल के कुछ आलोचनात्मक प्रयास महत्वपूर्ण विकास की क्षमता का आभास देते है। स्पष्ट रूप से इस काल की आलोचना सामान्य परिचय के ही स्तर की है।

भारतेन्दु-काल मे आलोचना के आधुनिक रूप का विकास किस प्रकार हुआ और उसका क्या स्वरूप रहा, इन सब बातो का निरूपण करने के पूर्व कुछ पुस्तको की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। ये पुस्तकें भारतेन्दु जी मे बहुत पुरानी नही है। इन्हे उनके समकालीन कहना भी अनुचित नही है। लेकिन समीक्षा-शैली की दृष्टि से इनको भारतेन्दु-काल के पूर्व की विकास-अवस्था की मानना पडता है। श्री मानसीनन्दन पाठककृत 'मानस सकावली,' श्री शिवलाल पाठक द्वारा सम्पादित 'मानस-मयक' तथा श्री शिवरामसिह-कृत 'मानस तत्व प्रबोधिनी'—इन तीनो पुस्तको की ओर मैं ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। विस्तृत अर्थ मे ये तीनो पुस्तके टीका कही जा सकती हैं। इनमें शंका-समाधान वाली शैली का अनुकरण हुआ है। 'मानस सकावली' इस शैली का प्रधान ग्रन्थ है। 'मानस-मयक' पद्य-बद्ध

टीका है। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए इन्द्रनाथ ने एक 'तिलक' लिखा है। सारे ग्रन्थ पर क्रमिक टीका नही है। अपितु कुछ विशेष स्थलो पर ही है। टीका मूल से कही अधिक क्लिष्ट है, "मघवा मूल विडोजा टीका" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। टीका मे बहुत दूर की गम्भीर बातो को मूल से निकालने की चेष्टा की गई है। इन ग्रन्थो मे कवि की दार्शनिक विचार-धारा तथा उनकी भक्ति-पद्धति के निरूपण का प्रयास है। यह प्रयास फुटकर छन्दो के आधार पर ही हुआ है। इन लेखको का उद्देश्य छन्दो-के अर्थ को स्पष्ट करने की अपेक्षा उनकी आलोचना करने का ही है। 'मानस-मयंक' मे भी विश्लेषण की प्रवृत्ति अधिक है। कवि के दार्शनिक विचार और भक्ति-पद्धति के आधार पर विभिन्न स्थलो की व्याख्या की गई है। लेखक ने दशरथ की मुक्ति न होने का कारण उनका भक्त होना बताया है। इस तथ्य का निर्देश करके लेखक तुलसी की भक्ति-परम्परा के ज्ञान और उसके निर्वाह का विवेचन कर रहा है। 'मानस-मयंक' मे भी इस प्रकार के विचारो का बाहुल्य है। इस ग्रन्थ के भूमिका-लेखक ने भी इसका उल्लेख किया है। इन ग्रन्थो मे प्रधान रस का भी विवेचन हुआ।[1] वात्सल्य की प्रधानता मानकर लेखक ने बाल की खाल निकालने का प्रयत्न किया है। उक्तियो मे ईर्ष्या आदि भावो की व्यञ्जना का निर्देश हुआ है। इन ग्रन्थो के लेखको ने कवियो की विचार-धारा, भावोत्कर्ष का रूढियो से मुक्त सहृदयतापूर्ण विवेचन, कथा-भाग और उक्तियो का चरित्र आदि की दृष्टि से औचित्य-जैसे गूढ प्रसगो का निरूपण किया है। कवियो की भक्ति पर तो रीति काल के पूर्व भी विचार होता रहा है। पर आलोचना के ऐसे गूढ प्रश्नो पर पहले कभी विचार नही हुआ। इस गम्भीरता मे आधुनिक काल की समीक्षा का पूर्वाभास मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्राचीन शैली मे नवीन विषयो पर विचार हुआ है। इन ग्रन्थो पर पाश्चात्य प्रभाव के लक्षण नही है। इस प्रभाव के अभाव मे भी इन गूढ प्रश्नो का भी विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि आधुनिक समीक्षा-पद्धति केवल पश्चिम का अनुकरण-मात्र नही है। यह युग की चेतना ही थी जिसके अनुकरण ने मार्ग-निर्देश कर दिया। यही कारण है कि सन्धि-काल के टीकाकारो ने इन गूढ प्रश्नो पर विचार किया है। इस युग की आलोचनात्मक चेतना का जो

1. The word "Mayank" literally means "the moon" and it substantially throws a charming light in explaining the dogmas of the "Ram Charit Manas" and is specially intended for the solution of "Manas Theology." The "Mayank" explains the real and it has decided with unquestionable arguments that the system of "Bhakti" is superior to all.

आभास इन ग्रन्थो मे मिलता है उससे स्पष्ट है कि नवीन समीक्षा-पद्धति के सूक्ष्म तन्तु पहले से ही विद्यमान थे। बौद्धिक जागृति के साथ-साथ साहित्य-समीक्षा की आकाक्षा भी प्रबल होती गई। आधुनिक शिक्षा ने इस प्रवृत्ति के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिया। आलोचक का मस्तिष्क नवीन समीक्षा-शैली को ग्रहण करने के लिए तैयार था। साहित्य की धाराओ का विकास क्रमिक होता है। कोई भी साहित्यिक धारा अपने पूर्वकाल की धाराओ से पूर्णत असम्बद्ध नही होती। नवीन परिस्थितियो मे उसका स्वरूप नवीन हो जाता है। लेकिन अन्तस्तल मे प्रवाहित धारा एक तथा अक्षुण्ण रहती है। यह सिद्धान्त आधुनिक नवीन समीक्षा-पद्धति के लिए ही पूर्णत सत्य है।

साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति का निरन्तर विकास होता रहता है, लेकिन थोडे काल मे इसका स्पष्ट रूप नही दृष्टिगत होता। क्षीण आभास भर भले ही स्पष्ट हो जाय। साहित्य का विकास वर्षो मे नही युगो मे आका जाता है। भारतेन्दु-काल भी साहित्य की लम्बी परम्परा की दृष्टि से एक छोटा सा काल है। इसमे समीक्षा का विकास तो हुआ है लेकिन उसको स्पष्ट अवस्थाओ मे नही बाटा जा सकता। सारे काल की समीक्षा विकास की एक अवस्था मे ही अन्तर्भूत हो जाती है। साहित्य के युगो का विभाजन इसी आधार पर होता है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इस छोटे से काल को हिन्दी के इतिहासकारो ने जिन युगो मे बाट दिया है उसकी आधार-भित्ति यही है। इस निबन्ध मे भी शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट युगो की काल-सीमाओ को ज्यो-का-त्यो ही अपनाने की चेष्टा की गई है। भारतेन्दु-काल की समीक्षा को यद्यपि विकास की कई-एक अवस्थाओ मे नही बाट सकते है लेकिन उसमे क्रमिक विकास को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। विज्ञापन की हल्की समालोचना से लेकर कला-कृति के काव्य-सौष्ठव, कलाकार के व्यक्तित्व तथा उसकी परिस्थितियो के गम्भीर विवेचन वाली समीक्षा-पद्धति तक के दर्शन इसमे होते है। इसमे कुछ विकास क्रम भी स्पष्ट है। पुस्तको के विज्ञापन और परिचय मे उनके गुण-दोषो की चर्चा अनिवार्य थी। पुस्तक की उत्कृष्टता के साथ समीक्षक का गम्भीर होना भी स्वाभाविक ही था। धीरे-धीरे विज्ञापनो ने निष्पक्ष आलोचना का रूप धारण कर लिया। प्रेमघन जी और भट्ट जी ने अपनी पत्रिकाओ मे पुस्तको की जो आलोचनाए की थी उनका दृष्टिकोण विज्ञापन का नही अपितु विशुद्ध साहित्य-समीक्षा का ही था। 'श्री वेकटेश्वर समाचार' मे भागवत का विज्ञापन निम्न प्रकार से प्रकाशित हुआ था "इस पुस्तक मे श्लोक के साथ विस्तार पूर्वक सरल और साधु भाषा मे अनुवाद लिखने के सिवाय उचित और आवश्यक स्थलो पर सुन्दर, मनोरजक और हृदय-द्रावक ५६० से अधिक दृष्टान्त दिये गए है।" विज्ञापन देते हुए भी इसमे आलोचना की

प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते है। लेकिन 'सयोगिता स्वयम्बर की आलोचना'[1] का-सा विशुद्ध समीक्षात्मक दृष्टिकोण नही है, इसीलिये वैसी प्रौढता का भी अभाव है। इसमे आलोच्य पुस्तक के दोषो की ओर भी दृष्टि गई है। कही-कही लेखक कटु व्यगो का आश्रय भी लेता है। लेकिन इसमे साहित्य की सुरुचि-प्रचार की सद्भावना है। आलोचक के कठोर कर्त्तव्य के निर्वाह के लिये ऐसा करना पडा है। उपर्युक्त विज्ञापन और इस आलोचना का अन्तर विकास के क्रम को स्पष्ट कर देना है। विज्ञापन मे विद्यमान आलोचना के क्षीण तन्तु ही इस आलोचना मे प्रौढ हो गये है। पुस्तक-परिचय के अतिरिक्त प्राचीन कवियो और आचार्यो के परिचय भी प्रकाशित हुये। उनमे जीवन-सम्बन्धी तथ्यो का उल्लेख तथा उनके साहित्य के उत्कर्ष पर विचार भी हुआ है। प्राचीन अलकार आदि तत्वो के निर्देश भी हुये तथा काव्य-सौदर्य को प्रकट करने वाली सहृदयता का आश्रय ग्रहण करके प्रभावात्मक शैली का भी उपयोग हुआ है। इसी काल मे कवियो और कलाकारो की भाषा, चमत्कार-प्रियता और स्वाभाविक उक्तियो के प्रयोग की प्रवृत्ति, जन-साधारण का प्रेय, चरित्र-चित्रण आदि कई एक दृष्टियो से विचार आरम्भ हो गया। शास्त्रीय विश्लेषण तो कम ही हुआ। इस काल की आलोचना मे निर्णयात्मक तत्व की प्रधानता रही है। काव्य की पाश्चात्य और भारतीय दोनो प्रकार की समीक्षाओ के तत्वो का उपयोग हुआ है। उनमे साधारण सामजस्य स्थापित करने की प्रवृत्ति भी रही है। कलाकार के व्यक्तित्व पर भी सामान्य विचार हुआ है। काव्य के आधार पर तत्कालीन जीवन का अनुमान भी कुछ आलोचको ने किया है। यह सब आगे उद्धरणो से स्पष्ट हो जायगा। सूर की कविता मे आलोचक ने भारत के जातीय जीवन के दर्शन किये है। आलोचक के कर्तव्य तथा तत्कालीन आलोचना के स्वरूप का विश्लेषण भी प्रारम्भ हो गया था। इस काल का आलोचक भी साहित्य के चिरतन स्वरूप के दर्शन का इच्छुक है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल की समीक्षा मे क्रमिक विकास हुआ है और वह उस अवस्था तक पहुँच गई है जिसमे आधुनिक समीक्षा के प्रधान तत्व स्पष्ट हो गये है। जिस दिशा मे इस समीक्षा का विकास हुआ है, उसका पूर्वाभास भारतेन्दु-काल मे ही मिल जाता है। यही इस काल का महत्व है।

भारतेन्दु-युग से हिन्दी-साहित्य मे क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हो गए। हिन्दी को विगत युग के साहित्य से ही सामग्री नही मिल रही थी, अपितु वर्तमान प्रान्तीय भाषाओ के साहित्य से भी उसने पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। पाश्चात्य साहित्य तो इस काल की प्रधान प्रेरणा ही रहा है। इस प्रकार आधुनिक साहित्य कई शक्तियो से प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी के विगत युगो के साहित्य मे पर्याप्त रूप मे भिन्न हो

१. देखिए, इसी अध्याय में 'सच्ची समालोचना' का उद्धरण।

गया। ऐतिहासिक परिस्थितियो ने हिन्दी को नवीन दिशा का अवलम्बन करने को बाध्य कर दिया। जीवन के दृष्टिकोण के साथ ही साहित्य की धारणाओ मे भी आमूल परिवर्तन हो गया। रीतिकाल की तरह अब साहित्य-सृजन मनोविनोद की वस्तु नही रहा। साहित्य का उद्देश्य जीवन का यथार्थ चित्रण तथा उसको मगल की ओर अग्रसर करना माना जाने लगा। साहित्य मे नग्न विलासिता का तीव्र विरोध प्रारम्भ हो गया। सुरुचि और नैतिकता साहित्य की मूल प्रेरणा हो गई। साहित्य राज-दरबारो से निकलकर जन-साधारण के क्षेत्रो की वस्तु बन गया। शब्दाडम्बर और अलकारिक चमत्कार का स्थान रागात्मक तत्व ने ले लिया। जीवन की व्याख्या के रूप मे काव्य का लक्षण प्राय सर्वमान्य हो गया। इस प्रकार उसमे बौद्धिक तत्व की भी प्रधानता हो गई। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग के अन्तस्तल मे साहित्य की यही धारणा प्रवाहित हो रही है। सुरुचि, नैतिकता और बौद्धिकता इस काल की प्रधान प्रेरणाये है। भारतेन्दु-काल के प्रारम्भ मे ही साहित्य-सम्बन्धी यह धारणा बन गई थी जिसके उपर्युक्त तीन तत्व है। साहित्यिक धारणा काव्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है, इसलिए इसको भी आलोचना के अन्तर्गत ही माना गया है। साहित्य का पथ-निर्देश करने वाली आलोचनात्मक चेतना के उपर्युक्त-तत्व भारतेन्दु काल मे भी उपलब्ध होते है। सुरुचि और नैतिकता उस काल से ही आलोचना के मूलभूत आधार हो गए। आलोचक साहित्य मे स्वाभाविकता और रागात्मकता को महत्व देने लगा, चमत्कार को नही। साहित्य-सम्बन्धी इस धारणा ने भारतेन्दु-काल के सृजन और भावन—दोनो को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। श्रेष्ठ काव्य की यही कसौटी ग्रहण कर ली गई। जो काव्य इस कसौटी पर खरे नही उतरे, उनकी निन्दा हुई। इस काल की दोषोद्भावनापूर्ण आलोचना की मूल प्रेरणा भी सुरुचि ही थी, व्यक्तिगत राग-द्वेष नही। परवर्ती काल मे जो यह आलोचना व्यक्तिगत कटु व्यग्यो का रूप धारण कर गई। भारतेन्दु-काल से ही राष्ट्र-प्रेम, समाज-सुधार आदि वर्ण्य-विषयो का उपयोग प्रारम्भ होने का मूल कारण भी यही साहित्यिक धारणा है। इस प्रकार इसका आलोचनात्मक महत्व स्पष्ट है।

पुस्तक-परिचय वाली शैली ही समसामयिक पुस्तको की विस्तृत आलोचनाओ के रूप मे विकसित हुई है। 'आनन्द-कादम्बिनी' की 'सयोगिता-स्वयवर' और 'बग-विजेता' तथा 'हिन्दी-प्रदीप' की 'सच्ची समालोचना' इसी शैली के प्रौढ उदाहरण है। इसमे पुस्तक-परिचय का हल्कापन नही है। इनमे सत्-साहित्य को प्रोत्साहन तथा असत् के बहिष्कार की सदिच्छा ही प्रधान है, इसलिए ये समीक्षाए गम्भीर और विश्लेषणात्मक है। कुछ कटूक्तिया भी है, जो समीक्षा की गरिमा के लिए अनुपयुक्त और अशोभनकारी है। फिर भी सदिच्छा के कारण ये क्षम्य है। 'आनन्द-कादम्बिनी' मे 'बग-विजेता' के सब परिच्छेदो पर क्रमश विशद आलोचना हुई है।

लेकिन विभिन्न स्थलो पर फुटकर विचार ही हुआ है, पुस्तक के समष्टि रूप पर नही। इतनी विस्तृत और पूर्ण समालोचना उस काल मे दूसरी नही प्रकाशित हुई है। 'सयोगिता-स्वयवर' की आलोचना मे दोषोद्भावना ही अधिक है। इन दोनो नाटको पर आलोचक ने कथानक, चरित्र-चित्रण, उक्तिया, ऐतिहासिक नाटको की प्रकृति आदि अनेको दृष्टियो से विचार किया है। लेखक का ध्यान प्रधानत स्वाभाविकता और औचित्य पर ही है। ऐतिहासिक नाटक की क्या विशेषताएँ है, पात्रो के व्यक्तित्व का चित्रण प्रभावोत्पादक कैसे हो, कौन से चरित्र स्वाभाविक होते है आदि अनेको सिद्धान्तो पर विवेचन किया गया है और उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर नाटक की परीक्षा हुई है। कुछ आक्षेपो और विश्लेषण के स्थान पर सकेतात्मक शैली के अधिक प्रयोग के कारण आलोचना के ये प्रमाण प्रारम्भिक ही माने जायेगे, पर इनमे समीक्षा के प्रौढ तत्व गर्भित है। यह निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट है "सयोगिता-स्वयवर' दिल्ली-निवासी लाला श्रीनिवासदास-रचित एक ऐतिहासिक नाटक है। लाला जी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे पूछे, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेगे, क्या केवल किसी पुराने समय की ऐतिहासिक पुनरावृत्ति की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया .... किसी समय के लोगो के हृदय की क्या दशा थी, उनके आभ्यन्तरिक भाव किस पहलू पर ढलके हुए थे अर्थात् उस समय-मात्र के भाव (स्प्रिट ऑफ दी टाइम्स) क्या थे, इन सब बातो को ऐतिहासिक रीति से पहले समझ लीजिये तब उसके दर्शाने का भी यत्न नाटको द्वारा कीजिये। केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने ही से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र—वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रो को नही दे सकते। बल्कि मनुष्य के बदले आपके नाटक के पात्रो को नीरस रूखे-से-रूखे अर्थान्तरन्यास गढने की कल कहे तो अनुचित न होगा...यहा तक कि सयोगिता बिचारी भी अपना पाडित्य ही प्रकाश करने के यत्न मे हैरान...कविता के मीठे रस के बदले नैयायिको के सदृश कोरा तर्क-वितर्क करना भाव का गला घोटना है ..... पृथ्वीराज सयोगिता से क्यो अलग हुआ, क्योंकि नीति-शास्त्र मे लिखा है। राजा जयचन्द और पृथ्वीराज मे क्यो मेल-मिलाप हो गया? केवल इस इसी कारण से कि अन्त को पछताके किसी तरह जयचन्द के मन मे महाभारत के घोर युद्ध का कारण बन गया। अहा, अहा तनिक और ज्यादा धस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पडता...हमने जहा तक नाटक देखे, उनमे पात्रो के व्यक्ति के भिन्न-भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखी, पर आपके पात्र सब-के-सब एक ही रस मे सम, उपदेश देने मे लथर-पथर पाये गए हैं ....नाटक मे पाडित्य नही वरन् मनुष्य के हृदय से आपक कितना गाढा परिचय है, यह दर्शाना चाहिए। .. कृपा करके बिचरी निरपराधिनी

कवित्व-शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजियेगा... लालाजी आपने कभी इस बात पर भी ध्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमे होती है .."[1] इस विवेचन मे ऐतिहासिक नाटको के स्वरूप का प्रौढ निरूपण है। इसमे आलोच्य पुस्तक के गुण-दोष का ही विवेचन नही, अपितु स्वस्थ एव प्रौढ साहित्य के स्वरूप निर्देश के द्वारा सत-साहित्य के निर्माण का मार्ग-निर्देशन तथा प्रेरणा भी है। यही बात 'आनद-कादम्बिनी' की 'बग-विजेता' की आलोचना के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। उसमे चरित्र आदि के सम्बन्ध मे विचार हुआ है। आलोचक त्रुटियो की ओर भी निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त इसमे आलोचक कलाकार का पथप्रदर्शक बनकर भी आता है। समीक्षा की दृष्ट से यह महत्वपूर्ण बात है। समीक्षा के इस स्वरूप का विकास हिन्दी-साहित्य मे अभी तक भी बहुत नही हो पाया है। समालोचक साहित्य का मार्ग निर्देशक भी होता है, इसके हिन्दी-समीक्षा मे पर्याप्त उदाहरण नही है। पर उपर्युक्त आलोचना मे इसका आभास अवश्य है। उद्धरण मे उपर्युक्त बाते स्पष्ट है। ये आलोचनाये भावी विकास की आशाओ का स्पष्ट आभास देती है। 'बग-विजेता' की समीक्षा मे प्रेमघन जी ने चरित्र, कथानक आदि उपन्यास के तत्वो की दृष्टि से सभी परिच्छेदो की व्याख्या की है। इसके पूर्व ऐसी सर्वांगीण समीक्षा हिन्दी-साहित्य मे नही हुई थी। कथा-भाग मे साधारण परिवर्तन का निर्देश करके आलोचक ने अपनी प्रौढ सहृदयता और विवेचन-शक्ति का परिचय दिया है 'यह हिन्दी मे मनोहर और अनूठा उपन्यास बना और इसमे कोई सदेह नही कि यह ग्रन्थ उपन्यास के समग्र गुणो से युक्त है, विशेषता यह है कि आर्य-भाषा मे होकर भी अग्रेजी प्रबन्ध और प्रणाली से युक्त है...(प्रथम परिच्छेद मे) जो वग देश का इतिहास लिखा गया है, वह हमारी जान यहा पर न लिखा जाना चाहिए, क्योकि उपन्यास का कोई अग नही है, यह ऐतिहासिक विज्ञप्ति भूमिका मे प्रकाशनीय है। ...चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है, विशेषत सरला और अमला-सी साचे की ढली नवेली ललनाओ की स्वाभाविक अरसीली और भोली-भाली बाते। इन्द्रनाथ का प्रवेश और सच्चे सरल स्नेही स्नेह-भाजन और प्रेमी का स्वाभाविक मर्यादा-सम्पन्न शुद्ध प्रीति-दर्शन और परस्पर सुमधुर प्रेमालाप और सभ्य वियोग सूचना अत्यंत उत्तम रीति से वर्णित है।...कुटिल और दुष्टो की मनोवृत्ति अच्छी दिखाई गई है।"[2]

ऊपर पुस्तको की आलोचना के जो उद्धरण दिये गए है वे विज्ञापन की शैली

---

१. 'हिन्दी-प्रदीप'

२. 'आनन्द-कादम्बिनी, श्रावण स० १९४२

के विकास है। विज्ञापनों के रूप मे पुस्तक-परिचय (रिव्यू) मे ही समीक्षा का विशुद्ध रूप स्पष्ट होने लगा था। इनमे प्रशसा के अतिरिक्त दोष भी दिखाये जाने लगे थे, जो निष्पक्ष समीक्षा और सत्साहित्य के प्रोत्साहन के लिए आवश्यक था। 'कन्या-विलाप' का 'आनन्द-कादम्बिनि' मे प्रकाशित पुस्तक-परिचय इसका स्पष्ट प्रमाण है. 'पुस्तक का वर्णनीय विषय अवश्य उत्तम है अर्थात् दो बहिनो का प्रचलित विवाह की रीति पर शोक और विलाप, परन्तु उसका अश अच्छी तरह नही लिखा गया। यदि कही ग्रन्थकार उदार भाव मे उचित स्थान पर करुण रस का प्रचार कर देता तो ग्रन्थ उत्तम होता। (चैत्र स० १०४२) इसके अतिरिक्त प्राचीन आचार्यो और कवियो के आलोचनात्मक परिचय भी प्रकाशित होते रहे है। 'हिन्दी-प्रदीप' मे तो इसका एक स्थायी स्तम्भ ही था। कवियो की जीवनी के अतिरिक्त इन लेखो मे उनके विचार तथा काव्य-सौन्दर्य पर भी विचार होता था। 'हिन्दी-प्रदीप' के एक लेख मे उनकी कविता के आधार पर ही कबीर के ईश्वर और भक्ति-सम्बन्धी विचारो का निरूपण है। कही-कही पर कवियो की मान्यताओ का भी निरूपण हुआ है। आलोचक उनकी कविता मे ही देश की तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति का अनुमान कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये लेख यद्यपि सामान्य परिचय की दृष्टि से ही लिखे गए है और उनकी आलोचना का स्तर भी वही है, तथापि इनमे भी भारतेन्दु-काल की समीक्षा के तत्व और शैलिया अन्तर्हित है। समीक्षा की जिन शैलियो के बीज भारतेन्दु-काल की आलोचना की प्रधान विशेषताएँ है, उनका अभाव इनमे भी नही है। इनमे यह रूप अपेक्षाकृत कम विकसित अवश्य माना जा सकता है --कबीर' नामक लेख से यह स्पष्ट है। उनके शब्द, साखी इत्यादि कविता मे प्रसाद गुण अधिक है। उन्होने रमैनी, शब्द, कहरा बेली इत्यादि बहुत-सी पुस्तके बनाई है, जो सब मिलकर कबीरदास का बीजक कहलाती है। उनके बाज-बाज पदो की कविता बडी ही उत्तम और मनोहारिणी है और बाज की बडी भद्दी, इस बात मे मेरा अनुमान है कि कबीर नाम के कई-एक साधु हुए...कबीर साहब ने सब बाते अनुभवसिद्ध लिखी है .. मालूम होता है कि कबीर अवतारवाद के पक्षपाती न थे (सतो आय जाये सो माया के आधार पर) उनका मत ऐसा मालूम होता है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई वह नाशवान जरूर है और जिसका नाश हो, वह ईश्वर नही। .. ..हम ऊपर लिख आए है, कबीर भक्ति-पक्ष के अनुयायी है, अतएव वे रोजा-नमाज, पूजा-व्रत की कुछ भी परवाह नही करते थे। अहिंसा-धर्म की ओर उनको बहुत ज्यादा खयाल था। बलि-प्रदान मे हिंसा के कारण कबीर जी ने ब्राह्मणो को बहुत-कुछ कुवाक्य कहे है। मालूम होता है, उस जमाने मे ब्राह्मण लोग बहुत ज्यादा पशु-यज्ञ करते थे।"[1]

१. हिन्दी-प्रदीप'

इस युग के प्रारम्भ से ही साहित्य के इतिहास और विकास के अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई थी। अतीत के साहित्य के ग्रन्थो का अनुसधान प्रारम्भ हो गया। 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की स्थापना तथा पत्रिका का प्रकाशन तो प्रमुखत इसी उद्देश्य से हुआ था। परवर्ती काल मे इस प्रवृत्ति का पर्याप्त विकास हुआ है। आज भी इस अनुसन्धान-कार्य तथा साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। 'शिवसिह-सरोज' से कवियो को काल-क्रम से रखने का प्रयास माना जाता है। पर इसके पूर्व भी हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ। स्वय शिवसिह ने ऐसी कुछ सामग्री का उल्लेख किया है। भारतेन्दु जी ने भी ऐसी एक पुस्तक देखने का उल्लेख किया है जिसमे इस प्रकार का अत्यत प्रारम्भिक प्रयास था। शिवसिह के उपरान्त ग्रियर्सन ने अपनी The Modern Vernacular Literature Of Hindustan नामक पुस्तक लिखी। इसमे कवियो का थोडा-सा आलोचनात्मक परिचय है। भारतेन्दु जी और प्रेमघन अपनी कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'आनन्द-कादम्बिनी' मे बराबर ऐसे लेख प्रकाशित करते रहे है जिनमे हिन्दी-साहित्य के विकास का अध्ययन हुआ है। सूर आदि पर जयदेव आदि पूर्ववर्ती कवियो के प्रभाव देखने की चेष्टाएँ हुई है। इस प्रकार विकास की एक परम्परा के अध्ययन का प्रयत्न स्पष्ट है। इन लेखो मे प्रधानत भाषा के आधार पर ही विकास देखने की पद्धति है। ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय भाषाओ के विकास का विस्तृत अध्ययन प्रकाशित किया है। इससे हिन्दी-साहित्य तथा कवियो के काल-क्रम का अध्ययन भाषा-विज्ञान की सहायता से होने लगा था। 'कवि-वचन-सुधा' के 'हिन्दी-कविता' तथा 'आनन्द-कादम्बिनी' मे प्रकाशित 'शब्द-योजना' नामक निबन्धो मे हिन्दी-साहित्य के अध्ययन का यह प्रधान आधार है। भाषा विज्ञान के सिद्धातो के आधार पर विकास के अध्ययन के अतिरिक्त इन निबन्धो मे कतिपय कवियो के काव्य-सौष्ठव पर भी विचार हुआ है। शैली की स्वाभाविकता तथा आलकारिकता की ओर आलोचको का ध्यान गया है। पृथक् कवियो की अभिव्यजना-शैली के साथ ही भारतेन्दुजी, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी ने युग की शैली का भी विवेचन किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय भी आलोचको मे साहित्य की एक धारा के रूप मे देखने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई थी। वे साहित्य का केवल व्यक्ति से ही नही, अपितु युग से भी सम्बन्ध मानते थे। पर उनका ध्यान काव्य के अत्यन्त बाह्य और स्थूल रूप पर ही था। वे काव्य के आभ्यन्तर भाव-जगत् मे प्रविष्ट होकर विश्लेषण नही कर पाए है। भाषा, अलकार, चमत्कार और स्वभावोक्ति तक ही सीमित रहे है। भावो की हृदयस्पर्शिता को मधुर आदि प्रभावाभिव्यजक शब्दो मे व्यक्त कर पाए हैं। भाषा-सम्बन्धी आलोचना प्रशसात्मक

और आत्मप्रधान ही अधिक है। भारतीय अलकार-शास्त्र अथवा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सिद्धान्तो का उपयोग प्राय: कम नही हुआ । 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' मे एक स्थान पर कालिदास की कविता को कन्द मे सना हुआ मक्खन का लड्डू कहा है।[1] राष्ट्र-प्रेम इस काल के साहित्य की प्रधान विशेषताओ मे है । आलो-

१. ऐसा विचार है कि हिन्दी-कविता प्राकृत भाषा से बिगड़ती हुई बनी होगी, परन्तु इसमे कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है । केवल हिन्दी-कविता मे बहुत से प्राकृत शब्द मिलते हैं, इससे निश्चय हो सकता है, जैसे किति कान्ह कव्य इत्यादि । चन्द की कविता प्राकृत भाषा की-सी है । ' परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी ने जो 'पदमावत' बनाई है वह कविता उस काल के पीछे की कविता कही जा सकती है । यह कविता मीठी और सीधी बनी है .. इस काल तक (अर्थात् कबीर तक) कविता की कोई बधी भाषा नहीं थी, सब लोग सीधी बोली मे कविता करते थे । उस समय मे हिन्दी-कविता मे ब्रज-भाषा मिल गई थी, परन्तु ब्रज-भाषा मे कविता करने का नियम सूरदासजी ने बांधा है .. ये भाषा के कवियो के मुकटमणि और महाराज थे; प्राय नये कवियो की कविता मे वही उपमा और वही युक्तियाँ मिलती हैं जो सूरदास जी प्रदान कर गए हैं ।'' '' सूरदासजी ने तो स्वभावोक्ति बहुत कही हैं, पर और भाषा के कवियो का ध्यान इधर न रहा और मुसलमानी राज्य के ठीक समय मे होने के कारण उन लोगो ने बडी लम्बी-लम्बी उपमा और अक्षर-मैत्री और बड़े-बड़े शब्द कविता मे भर दिये ।'''' ब्रज-भाषा ही कविता की मुख्य भाषा रही और 'काव्यादर्श इत्यादि ग्रथों का मत लेकर हिन्दी-कविता के शास्त्र भी बने, परन्तु जैसा कवियों ने अलकार और नायिका-भेद मे जो लगाया वैसे व्याकरण की ओर न झुके और यही कारण है कि मनमानी भाषा और मनमाने शब्द कविता मे मिल गए । '' इस समय (रीतिकाल का पराद्ध) के कवियो का चित्त स्वाभावोक्ति पर तनिक नहीं जाता था, केवल बड़े-बड़े शब्दाडम्बर करते थे और इन शब्दाडम्बर वालो का पद्माकर राजा है और इसने वर्ण-मैत्री के हेतु अनेक व्यर्थ शब्द अपने काव्य मे भर दिए और फारसी के भी बहुत शब्द मिला दिए हैं और इसकी देखा-देखी और कवि भी ऐसा करने लगे । केशवदास ने तब भी कविता की मर्यादा बाधी और उसकी मर्यादा को बहुत लोग अब तक मानते हैं । उस समय वृन्दाबन में अनेक अच्छे कवि हुए हैं और उनकी कविता सीधी स्वभावोक्ति के लिए और रस-भरी होती थी जिनमें नागरीदास जी बड़े अच्छे हुए हैं ।

'''इस काल में नाटक एक-दो बने, जिनमें एक 'हास्यार्णव' था । यद्यपि

चनाओं मे भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' जुलाई-अगस्त सन् १८९८ ई० में एक उपन्यास की आलोचना करते समय आलोचक ने हिन्दू-मुस्लिम-समस्या की दृष्टि से विचार किया है। वे दोनो जातियो के पारस्परिक मेल का समर्थन करते हैं। "वह महादोष यह है—मुसलमानो के चरित्र का ऐसा चित्र खीचना कि जिससे यह भान होने लगे कि ससार की मनुष्य जाति-भर मे सबसे नीच, दुष्ट, अत्याचारी, विश्वास-घातक ये ही होते हैं।" "हिन्दू-मुसलमानो का मेल कराना तो दूर रहा, इस प्रकार दिन-दिन दोनो मे परस्पर घृणा और द्वेष बढाया जा रहा है। (पृ० १९)" इसी युग मे साहित्य को सुरुचि और सुनीति के प्रचार का प्रधान साधन मानने की प्रवृत्ति के दर्शन होते है। साहित्य मानव का चारित्रिक उत्थान करता है। उपर्युक्त उपन्यास की आलोचना मे घोर पापी को सच्चरित्र बनाने की बात कही गई है। युग और व्यक्ति दोनो की दृष्टि से साहित्य की उपयोगिता पर बहुत ही सामान्य विचार हुआ है। इन तत्वो का निर्देश करने का तात्पर्य भावी विकास के तत्वो का स्पष्टीकरण-मात्र है। इस काल की आलोचना केवल प्रारम्भिक प्रयास-पात्र है, यह कई बार कहा जा चुका है। पर आलोचक की चेतना जागृत होने लगी थी, इसमे सन्देह नही है।

भारतेन्दु से पूर्व का युग रीतिकाल सैद्धान्तिक निरूपण का काल था। इसलिये भारतेन्दु-काल मे इस धारा का अचानक बन्द हो जाना कभी सभव ही नही था। रीति-निरूपण की यह परम्परा कुछ अब भी चल रही है। भारतेन्दु-काल मे भी इस निरूपण के स्पष्ट दर्शन होते है। भारतेन्दु जी तथा बालकृष्ण भट्ट आदि अपनी पत्रिकाओं मे कभी-कभी नाटक, कविता आदि का सैद्धान्तिक निरूपण भी करते थे। इन पत्रिकाओं मे प्राय: इन तत्वो का विवेचन किसी कवि अथवा कृति की आलोचना करते हुए हुआ करता था। इस प्रकार सिद्धान्त-निरूपण और प्रयोगात्मक आलोचना का सम्मिश्रण एक ही लेख मे हुआ है। परवर्ती आलोचना में तो इन दोनो का सुन्दर सामञ्जस्य भी स्थापित हुआ है। भारतेन्दु-काल में तो ये दोनो तत्व एक-दूसरे से कुछ पृथक भी रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण हुआ उसी को आलोचना का आधार बनाना अथवा प्रयोगात्मक आलोचना से सिद्धान्त-निगमन की प्रवृत्ति के दर्शन नही होते। यह तो बहुत बाद की विकास-अवस्था है। भारतेन्दु-काल मे तो आलोचना के अन्य तत्वो की तरह उसके सैद्धान्तिक और प्रयो-

---

यह शुद्ध नाटक की चाल से नहीं है, तथापि कुछ नाटक की चाल छूकर बना है पर बहुत असभ्य शब्दों से भरा है। इसीसे कवि ने उसमें अपना नाम नहीं रखा है, पर अनुमान होता है कि रघुनाथ कवि का नाम है।"—'कवि वचन सुधा', अगस्त १८८२।

गात्मक रूप का मिश्रण केवल प्रारम्भिक ही रहा। फिर भी प्राचीन अलकार-शास्त्र के तत्वो का निरूपण विश्लेषणात्मक ढङ्ग से प्रारम्भ हो गया था। इसके बहुत से फुटकर प्रमाण भी मिलते है। 'कवि-वचन-सुधा' मे वीभत्स रस पर विचार करते हुये लेखक लिखते है "स्थायी उसे कहते है जो मूल रूप से रस मे रहे, इस वीभत्स का स्थायी घिन है। रसो मे आलम्बन और उद्दीपन भी होते है, आलम्बन मे जो रस का अवलम्ब होता हो, वैसे ही उद्दीपन वह जो रस जगावे ···हमारे इस परम पवित्र नगर की जो गलिया है, वह वीभत्स रस की आलम्बन और उद्दीपन दोनो है।" इसी पत्रिका मे नाटक के तत्वो पर भी विचार हुआ है. "जगत्-विख्यात बात का वर्णन होय और पाचो सन्धि होय,·· · पाच से दस तक अङ्क होय, दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य तीनो मे से कोई नायक प्रतापी गुणवान धारोदात्त होय, शृङ्गार वीर दो रस मे एक अङ्गी होय और सब रस अङ्ग होय और कार्य के निर्वाह मे अद्भुत होय।" इसके अतिरिक्त पृथक रीति-ग्रन्थो के प्रणयन की परम्परा भी मन्द गति से अग्रसर हो रही थी। 'रस-कुसुमाकर', 'काव्य प्रभाकर' आदि इसी काल की रचना कही जा सकती है। भानुकवि ने प्राचीन अलकार-शास्त्र के विभिन्न तत्वो का सामान्य परिचय देते हुए एक छोटी-सी भूमिका भी लिखी है। उन्होने सस्कृत-पदावली के समानार्थक अग्रेजी शब्द भी दिए है। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तो के सामञ्जस्य मे सहयोग प्रदान किया है। उन्होने सस्कृत के श्लोक भी उद्धृत किए हैं गद्य मे थोडा विवेचन भी है। श्रव्य और दृश्य दोनो पर ही विचार हुआ है। नायक-नायिका का निरूपण भी है। इस प्रकार यह ग्रन्थ विषय की दृष्टि से तो रीति-कालीन है पर इसमे विवेचनात्मक प्रवृत्ति के भी स्पष्ट दर्शन होते है। भारतीय अलङ्कार-शास्त्र के आधुनिक निरूपण का पूर्वाभास भी इसमे मिल रहा है। यह रीति-काल और आधुनिक काल के सन्धि-काल का ग्रन्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु-काल मे सैद्धान्तिक निरूपण भी आधुनिकता का परिचायक हो गया था।

भारतेन्दु-काल की आलोचना को जो स्वरूप प्राप्त हुआ है उसको प्रेरणा पश्चिम से मिली है। अग्रेजी विद्वानो ने भारतीय साहित्य पर आलोचनात्मक दृष्टि डालकर समीक्षा के विकास मे प्रत्यक्ष सहयोग भी दिया है। उन्होने प्रधानत तुलसी के काव्य-सौष्ठव पर विचार किया है। उसमे भाषण-शैली, कथानक, चरित्र आदि पर विचार हुआ है। इन आलोचको ने कवियो की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओ का भी उल्लेख किया है। इनमे साहित्य की युग-धाराओ के विकास और कवियो के कवित्व पर भी विचार है। इनकी आलोचना-शैली मे कही-कही तुलनात्मक तत्व भी उपलब्ध होते है। भारतेन्दुकाल की आलोचना की अपेक्षा इन अग्रेज-आलोचको की आलोचना प्रौढ़ है। इन आलोचनाओ से भारतीयो ने विचार और शैली दोनो

ही ग्रहण किये है । पर इनका अधिक महत्व तो हिन्दी-समीक्षा के विकास को शक्ति प्रदान करना है । इन लेखको न भारतीय विद्वानो का ध्यान हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट किया है । इन आलोचनाओ का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए कुछ उद्धरण दिये जाते है .[1]

---

[1] Vidyapati's influence on the history of the literature of Eastern Hindustan has been immense. He was a perfect master of the art of writing those religious love sonnets which have since become in a much degraded form—Regarding Surdas's place in literature I can only add that he justly holds a high one. He excelled in all styles. He could, if occassion required be more obscure than he shyn and in the next verse be clear as a ray of light. Other poets have equalled him in particular quality but he combined the best qualities of all.....The religion he (Tulsi) preached was simple and sublime, a perfect faith in the name of God... Regarding Tulsi Das's style, he was a master of all varieties, from the simplest flowing narrative to the most complex imblemative verse. He wrote always in old Baiswari dialect. It is a book of prayers, often of the most elevated description, but its difficulties are very dissatisfactorily elucidated. His Characters live and move with all the dignity of a heroic age. For sustained and varied dramatic interest I suppose that Ramayan is his best work, but there are fine passages in his other poems What can be more charming than the description of Rama's boyhood and boyhood in the commencement of the Gitabali or the dainty touches of colour given to the conversation of the village women as they watch Ram ....We can hear the cracking of the flames and the crash of the falling houses, the turmoil and confusion amongst the men, and the cries of the helpless women as they shriek for water.....Still even Tulsi Das was not able to rise altogether superior to the dense cloud which fashion had imposed upon Indian poetry. I must confess that his battle descriptions are often luridly repulsive and sometimes overstap the border which separates the tragic from the ludicrous." Grierson : The Modern Vernacular Litreature of Hindustan.

इस काल मे पुस्तक-परिचय तथा अन्य समीक्षात्मक निबन्धो के लेखक के रूप मे ही हमे आलोचक के दर्शन मिलते है । ऐसे कई-एक विद्वान् थे। काशीनाथ आदि का नाम 'कवि-वचनसुधा' मे बहुत बार आया है । पर प्रधान समालोचक तीन ही है—भारतेन्दुजी, बदरीनारायणजी चौधरी और बालकृष्ण भट्ट । य तीन तो इस युग के प्रधान पुरुष और युग निर्माता हैं । साधारणत हिन्दी-विद्वानो की यह धारणा बनी हुई है कि प्रेमघनजी ही हिन्दी के सर्व प्रथम समालोचक है । इसमे इतनी ही समीचीनता है कि पुस्तक के गुण-दोषो का जैसा तटस्थ और साहित्यिक विश्लेषण उन्होने किया है वैसा उनके पूर्व तथा उनके युग मे भी हिन्दी का समालोचक न कर सका । पर जैसे साहित्य के अन्य क्षेत्रो मे भारतेन्दु ही नवीन

There can, of course be no compaison between the polished phraseology of classical Sanskrit and the rough colloquial idioms of Tulsi Das Vernacular.....It is also less wordy and diffuse than the Sanskrit original and probably in consequence of its modern date is less disfigured by wearisome interpolations and repetitions, while, if it never soars so high as Valmiki in some of his best passages, it maintains a more equable level of poetic diction and seldom sinks with him into such dreary depths of unmitigated prose. (Intro P. I.)..... His theological and metaphysical views are pantheistic in character, being best for the most part on the teaching of the later Vedantists as formulated in Vedant-Sar and more elaborate expounded in Bhagwat Gita . .. The whole of Tulsi Das Ramayan is a passionate protest against the vertual atheism of philosophical Hindu theology (Page—13) The sentiments that the poet depicts and the figures that he employs to illustrate them, appear with irresistible force to the Hindu imagination and if for no other reason than this, they would be interesting to the English student for the insight they afford into traditional sympathies and antipathies of the people The constant repetition to a few stereotyped phrases such as 'lotus feet, streaming eyes quivering frame" are irritating to modern European taste (Page—19) Inspite of all drawbacks the Hindi Ramayan has many passages that are instinct with a genuine poetic feeling, which appeals to Universal humanity..... The characters also of the principle actors in the Drama are clearly and consistently drawn. (Page—20)

F. S. Crouse Ramayan of Tulsi Das (Introduction)

क्रान्ति के अग्रदूत है, वैसे ही हमे उन्हे इस क्षेत्र की जागृति का श्रेय भी देना पडता है। भारतेन्दु जी की आलोचनाओ से पहले उदाहरण उद्धृत किये गये हैं। उनसे यह पूर्णत स्पष्ट है कि वहा जिन विशेषताओं का परिचय दिया गया है, वे सारी युग और समीक्षा की तत्कालीन अवस्था की द्योतक है, ये प्रवृत्तियाँ तो इस युग के सभी समालोचको मे मिलेगी। इसके अतिरिक्त इन तीनो महापुरुषो की वैयक्तिक विशेषताओ पर विचार हो सकता है।

भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तो के आधार पर हिन्दी-साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति भारतेन्दुजी मे अपेक्षाकृत अधिक है। वे इस शैली मे साहित्य के बाह्य सौष्ठव तथा उसकी जीवन-सम्बन्धी उपादेयता और चिरन्तनता पर भी विचार कर लेते हैं। गुणो और अलकार-नियोजन की प्रवृत्ति का विवेचन भी उनकी प्रधान विशेषता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दुजी का ध्यान अपने सम-सामयिक साहित्य की किसी पुस्तक की आलोचना की अपेक्षा साहित्य के प्राचीन विकास के अध्ययन की ओर अधिक गया है। वे साहित्य को विकास शील रूप मे देखते हुए भी उनके चिरन्तन स्वरूप की खोज मे है। उन्होने कई एक स्थानो पर सैद्धान्तिक निरूपण भी किया है। पर प्रेमघन जी और भट्ट जी न सैद्धान्तिक विवेचन का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना मे ही किया है। वे रचना के समीक्षा के मान-दण्ड का उल्लेख इन सिद्धान्तो के रूप मे पहले कर देते है और फिर उसी आधार पर कृति का मूल्याकन करते है। भट्ट जी की 'सच्ची समालोचना' इनका सुन्दर उदाहरण है। समालोचना की इसी पद्धति के विकसित रूप के दर्शन शुक्ल जी मे होते है। हिन्दी मे इस पद्धति की धारा बराबर प्रवाहित हो रही है। द्विवेदी जी और मिश्र बन्धुओ की आलोचनाओ मे यह कही-कही तिरोहित अवश्य हो गई है। प्रेमघनजी भी भारतेन्दु जी की शैली पर साहित्य के विकास का अध्ययन करते है। उसमे उन्होंने भी भाषा, गुण और अभिव्यक्ति के विकास पर ही विचार किया है।[1] लेकिन

---

[1] "कुछ दिन पहले हमारी हिन्दी की स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसका विचार क्षेत्र में अग्रसर होना कठिन दीख पड़ता था। बने-बनाए समास, जिनका व्यवहार हजारो-वर्ष पहले हो चुका था, लाकर भाषा अलकृत की जाती थी। किसी परिचित वस्तु के लिए जो-जो विशेषण बहुत काल से स्थिर थे, उनके अतिरिक्त कोई और लाना मानों भारत-भूमि के बाहर पैर बढ़ाना था। यहा तक उपमाएं भी स्थिर थीं · यह भाषा की स्तब्धता है, विचारों की शिथिलता है और जाति की मानसिक अवनति का चिन्ह है। · इस प्रकार अनुप्रास टँकी हुई शब्दों की लम्बी-लम्बी लड़ी इस बात को सूचित करती हैं कि लेखक का ध्यान विचारो की अपेक्षा शब्दों की ध्वनि की ओर अधिक है "आज सैकड़ा पीछे कितने आदमी मतिराम, भूषण, श्रीपति

पुस्तको की विषद और मार्मिक आलोचना का सूत्रपात करने का श्रेय उन्ही को है। इन आलोचनाओ मे कथानक, चरित्र-चित्रण साहित्य-सौष्ठव आदि कई दृष्टियो से विचार हुआ है। भट्टजी कबीर आदि के परिचय मे तो तटस्थ, सयत, गम्भीर और विश्लेषणात्मक है, पर पुस्तको की आलोचना मे कही-कही मीठी चुटकिया भी ले लेते है। पर इन व्यङ्गो के अन्तस्थल मे वही सुरुचि-प्रचार की कामना कार्य कर रही है। भट्ट जी की आलोचना भी सभी दृष्टियो से उत्कृष्ट कही जा सकती है। आलोचक के कठोर रूप के दर्शन तो इन दोनो मे ही होते है। भट्ट जी की शैली व्यङ्ग-प्रधान है। आलोचना की यह व्यङ्गात्मक शैली द्विवेदी जी और मिश्र-बन्धुओ के समय मे तो कटु और व्यक्तिगत आक्षेपो मे ही परिणत हो गई "याज्ञिक जी महाराज उधर तो आपने व्यर्थ ही सर उठाया। वह आपकी समझ से बहुत दूर की बात है। वहा आपके लिए अगूर खट्टे है।''' शाबाश पट्ठे शाबाश! आखिरकार श्रीमती एलोपैथीजी के पेट मे एक बच्चा तो ऐसा निकला जिसने जरा चे-चे करना शुरू किया।"[1] ऊपर का कथन इस उद्धरण मे पुष्ट होता है। वे लोग भट्ट जी का-सा सयम नही रख सके है। शिष्ट परिहास और व्यग तो भट्ट जी की ही प्रधान विशेषता है।

भारतेन्दु-काल मे आधुनिक समीक्षा पद्धति का प्रारम्भ ही हुआ था। प्राय उसमे प्रशसा और परिचय का हल्कापन ही है, आलोचना की गम्भीरता और प्रौढता के दर्शन तो यत्र-तत्र ही जाते है। विश्लेषणात्मक समीक्षा-शैली का विकास तो बहुत बाद की वस्तु है, इस काल मे तो उसका आभास-मात्र मिलता है। भारतेन्दु-काल की समीक्षा का महत्व समीक्षा की प्रौढ शैली के कारण नही, अपितु उन तत्वो के कारण है, जो भावी विकास का स्वर्णिम और उज्जवल सदेश लेकर आए है।

और सुजान के कवित्तों को अनुराग से पढ़ते तथा उनके द्वारा किसी आवेग मे होते हैं। पर वही सूर, तुलसी, केशव, रहीम और विहारी आदि की कविता हमारे जातीय जीवन के साथ हो गई है। उनकी एक २ बात हमारे किसी काम में होने का, न होने का कारण होती है," उपमा का कार्य सादृश्य दिखलाना, भावना को तीव्र करना है। '''जब भाषा का यह हाल है तब फिर इस प्रकार की आर्थिक भावनाओं का क्या कहना है, उनका अनुभव तो हम पार्थिव पदार्थों के ही गुण और व्यापार के अनुसार करते हैं। ('आनन्द कादम्बिनी' संवत् १९६४)

१. 'साहित्य समालोचक' संवत् १९८३ हेमन्त-अक।

: ५ :

द्विवेदी-काल में आलोचना का स्वरूप

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ उस समय से होता है जब भारत की जनता एक नवीन जागृति का अनुभव करने लगती है। इस जागृति के कारणो पर पिछले अध्याय मे विचार हो चुका है। उस समय दासता ने भारतीय जनता के चिरकाल से सोये हुए स्वाभिमान और विवेक को जगा दिया था। इसके फलस्वरूप जाति अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के विश्वासो और कार्यों की आलोचना करने लग गई। थी। नवीनता की आकाक्षा ने प्राचीन अन्धविश्वासो और रूढियो के विरुद्ध प्रतिक्रियात्मक असन्तोष और क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। सदाचार, नीति, कर्तव्य आदि की प्राचीन रूढिगत धारणाओ की आलोचना नवीन मान-दण्डो से होने लगी थी। रीतिकालीन साहित्य तथा साहित्यिक रूढियो और परम्पराओ के विरुद्ध इसलिए हिन्दी-क्षेत्र मे व्यापक प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। काट-छाट, विश्लेषण और आलोचना तो इस युग की मूलभूल प्रेरणा है। भारत का मानव धीरे-धीरे मध्यकालीन भावुकता से आधुनिक बुद्धिवाद की ओर बढ रहा है। जीवन के सभी क्षेत्रो में बुद्धिवाद की प्रधानता होती जा रही है। उसका दृष्टिकोण धीरे-धीरे उपयोगितावादी हो रहा है। वह जीवन के सभी प्रत्ययो को इसी उपयोगितावाद की कसौटी पर कसना चाहता है। साहित्य भी केवल भाव और कल्पना का क्षेत्र नही रह गया है, वह अब बुद्धि और यथार्थ के अधिक सन्निकट आ रहा है। भक्ति-काल के साहित्य मे भाव की प्रधानता रही। रीति-काल मे उसका स्थान कल्पना ने ले लिया, पर आधुनिक काल में तो साहित्य भी बुद्धि-प्रधान होता जा रहा है। शेष तीनों तत्व तो उसके सहायक-मात्र रह गए है। जीवन की व्याख्या के रूप मे साहित्य का स्वरूप प्रायः स्वीकृत हो चुका है। साहित्य-समीक्षा के अन्य वाद तो इसका विरोध करके इस धारणा को और भी दृढ कर रहे हैं। "कला कला के लिए" वाला वाद तो रीति-काल की मान्य धारणा कही जा सकती है। छायावादी कवियो मे तो इसके विदा होते हुए रूप के दर्शन होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन के सभी क्षेत्रो की तरह साहित्य मे भी सहृदय पाठक का दृष्टिकोण मूलत: समीक्षात्मक ही हो गया है। आधुनिक काव्य-धारणाओ का मार्ग-

प्रदर्शन आलोचनात्मक प्रवृत्ति ही कर रही है। आलोचना इस युग की मूल प्रेरणा है। साहित्य-समालोचना की प्रवृत्ति जनसाधारण मे जाग्रत हो गई है। पिछले अध्याय मे यह स्पष्ट हो चुका है कि साहित्य की वृद्धि के साथ-साथ समीक्षा की आवश्यकता का अधिक अनुभव होने लगा था।

भारतेन्दु-काल मे हिन्दी-आलोचना का जो प्रारम्भ हुआ था, उसका मूल उद्देश्य साहित्य मे सुरुचि की प्रतिष्ठा थी। उस काल की आलोचना का उद्देश्य सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना तथा असत्साहित्य के प्रचार का अवरोध था। उस काल का आलोचक इस कार्य मे कुछ सफल भी हुआ। इस काल मे आलोचना की कतिपय प्रवृत्तिया भी स्पष्ट हो गई थी : भाषा के विकास के आधार पर साहित्य के विकास और उसकी मूल धाराओ का सामान्य परिचय, नैतिक उपयोगिता की दृष्टि से विचार, शास्त्रीय तत्वो के आधार पर सामान्य ऊपरी स्तर का परिचयात्मक विश्लेषण तथा सहृदय की रुचि से मूल्याकन, आलोचना की ये ही मूल प्रवृत्तिया थी, जो उस समय बहुत ही अविकसित अवस्था मे थी। लेकिन हिन्दी-समीक्षा के विकास की दिशा का निर्देश करने के लिए पर्याप्त थी। इस काल के प्रयास प्रारम्भिक ही थे। धीरे-धीरे काव्य-ग्रन्थ की अपेक्षा कवि का व्यक्तित्व ही आलोचना का विषय बनता गया। उसमे भी सद्भावना का स्थान वैयक्तिक राग-द्वेष और कटु प्रहारो ने ले लिया। आलोचना का तात्पर्य निन्दा-स्तुति हो गया। भारतेन्दु-काल की साहित्यिक गोष्ठी साहित्यिको को काव्य-प्रेरणा प्रदान करती थी, उनका दिशा-निर्देश करती थी। पर यही जब कवि-सम्मेलनो का वृहद् स्वरूप धारण कर गई तो इसका आलोचनात्मक महत्व नही रह गया। आज कवि-सम्मेलन मनोरजन के साधन ही अधिक है। कवियो ने इनको आत्म-श्लाघा और आत्म-प्रचार का साधन बना लिया। आलोचना के प्रहार उनकी सुकुमार मति सह नही सकती थी। आलोचक भी तटस्थ रहकर स्वस्थ आलोचना कम करने लगा। उसने व्यगो को ही आलोचना समझ लिया। पक्षपात-शून्य आलोचना की जगह दोषोद्भावना ने ले ली। कुछ लोग तो आलोचना को साहित्य की स्वच्छन्द प्रगति मे बाधक ही समझने लगे। द्विवेदीजी की आलोचना का भी पहले-पहल इसी कारण बहुत विरोध हुआ। 'कालिदास की निरकुशता' पर अपना मत प्रकट करते हुए एक लेखक ने अपने पत्र मे इसको साहित्य के मार्ग मे बाधक बताया है।

दोषोद्भावना की प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण जीवित और अतीत दोनो ही कवियो की आलोचना असह्य हो गई। प्राचीन कवियो के प्रति जो श्रद्धा थी वह उनके दोषो की आलोचना मे बाधक थी। इस कारण भी द्विवेदी जी को कई कटु

"Your criticism will after all become a great obstacle in the way of our dear literature."

प्रहार सहने पड़े। इन प्रहारों के भय से बहुत से व्यक्ति आलोचना के क्षेत्र में आये ही नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास जी का द्विवेदी जी को लिखा गया पत्र तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश डाल रहा है : "लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है, अप्रसन्न करने में विलम्ब नहीं लगता। समालोचनाओं को यथार्थ रूप में ग्रहण करने से हम किसी को सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा करने से लाभ होगा। फिर मेरा यह विश्वास है कि हमारे समाज में गिनती के ही दो-एक लोग हैं जो निरपेक्षता पूर्वक आलोचना कर सकें। इन सब बातों का विचार करके हम लोगों ने अभी आरम्भ नहीं किया—परन्तु इसकी आवश्यकता जरूर स्वीकार करते हैं और एक स्वतन्त्र पत्र निकाल कर इस अभाव की पूर्ति का विचार रखते हैं।" पत्र का यह अंश तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डाल रहा है। हिन्दी की निधि में विगत युग का ही साहित्य अधिक था। कुछ अनुवादों और साधारण मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त आधुनिक युग के साहित्य में कुछ नहीं था। दोषोद्भावना की प्रवृत्ति के कारण विगत युग के साहित्य की आलोचना भी भय से मुक्त नहीं थी। आलोचना युग की चेतना अवश्य थी, पर वह भस्मावृत हो गई थी। उसको बुझाने की शक्तियां भी प्रबल हो रही थीं।

ऊपर के शब्दों से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी ने जिस समय साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया वह समय समालोचना के उपयुक्त तो था। वह तो युग की मूल प्रेरणा ही थी, पर कतिपय रूढ़िवादी धारणाएं, अन्ध-विश्वास और साहित्यिक क्षेत्र का व्यक्तिगत राग-द्वेष उसके स्वच्छन्द विकास का अवरोध कर रहे थे। समीक्षा की ऐसी प्रणाली और मानदण्ड भी साहित्यिक जगत् के समक्ष नहीं थे जिनका विकास हो सकता। इसलिए जन-साधारण की भावना प्रतिकूल और विरोधी तत्वों के नीचे दब-सी रही थी। इन सभी प्रतिकूल वस्तुओं को आलोचना के स्वच्छन्द विकास के मार्ग से हटा देने का कार्य आचार्य द्विवेदी ने किया है। इनकी स्पष्टवादिता और निडरता के कारण सभी विरोधी तत्व शान्त हो गए। अनेक विद्वानों को इस क्षेत्र में पदार्पण करने का प्रोत्साहन भी मिला। जनता और साहित्यकारों में सुरुचि-उत्पादन, तथा साहित्य-समीक्षा की एक निश्चित पद्धति चलाने के अतिरिक्त द्विवेदी जी का यह कार्य भी महान था। इसके अभाव में तो उपर्युक्त दोनों ही बातें सम्भव ही न थीं। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि आलोचना का आरम्भ तो भारतेन्दु-काल में ही हो गया था। बदरीनारायण चौधरी और बालकृष्ण भट्ट इस काल के प्रधान आलोचक थे। पर इस काल की आलोचना केवल पुस्तक-परिचय और दोषोद्भावना तक ही सीमित थी। द्विवेदी-युग में भी यह प्रणाली चलती रही। पर 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती' और 'समालोचक' के प्रकाशन से इस क्षेत्र में नवीन

जागृति आ गई।

द्विवेदी से पूर्व बदरीनारायण चौधरी तथा बालकृष्ण भट्ट ने गुण-दोष दिखाने वाली आलोचना का आरम्भ किया था। द्विवेदी-काल मे भी आलोचना की मूल भित्ति तो यही रही, पर उसका पर्याप्त विकास हुआ। उसमे प्रौढता आई। अपने पूर्ववर्ती आलोचको की तरह द्विवेदी जी ने पुस्तको के साधारण परिचय-मात्र से सतोष नही किया अपितु उन्होने सामयिक लेखको को कवि-कर्म का आदेश देना भी प्रारम्भ कर दिया। वे उनके काव्य-सम्बन्धी दोषो का निर्देश करने के अतिरिक्त उनको कवित्व के विकास का मार्ग-प्रदर्शन भी करते रहते थे। उन्होने अपने काल में हिन्दी-साहित्य के एक सजग और कठोर निरीक्षक का कार्य किया है। वे साहित्य मे सुरुचि के पक्षपाती थे, इसलिए वे किसी भी कला को जनसाधारण की अभिरुचि को दूषित करने की स्वतन्त्रता प्रदान नही कर सकते थे। कलाकारो और समालोचको की साधारण सी भूल पर वे अपनी समीक्षा का कठोर प्रहार कर देते थे, जिससे भविष्य मे किसी को भी ऐसी भूल करने का साहस नही होता था। इससे सब लोग सजग रहते थे। उन्होने कवियो और जनता दोनो मे ही सुरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न किया और वे इस कार्य मे पर्याप्त रूप से सफल भी हुए। द्विवेदी जैसे कठोर निरीक्षक के अभाव मे रीति-काल का गन्दा नाला अब तक बहकर सारे साहित्य को आप्लावित कर देता। इस प्रकार द्विवेदी जी की आलोचना की मूल प्रेरणा सुरुचि और सत्साहित्य का निर्माण है। उनकी कटु आलोचना मे भी उनका विध्वंसक रूप नही अपितु विधायक रूप ही झाक रहा है। द्विवेदी जी के आदर्श का स्पष्टीकरण वाजपेयी जी इस प्रकार करते है· "यही कारण है कि द्विवेदी जी अपनी आलोचनाओं मे स्थान-स्थान पर कवियो को आदेश देते रहते है। यह आदेश केवल शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करके कवि-कर्म तक ही सीमित नही रहता, अपितु इसमे काव्य के वर्ण्य विषय, छन्दो, भाषा आदि के चुनाव तथा स्वरूप का निर्देश भी है।' द्विवेदी जी गद्य और पद्य की भाषा को एक कर देने, हिन्दी मे अतुकान्त कविता के प्रारम्भ आदि कई-एक नवीन आन्दोलनो के जन्मदाता है। हिन्दी मे पुस्तकाकार आलोचना का सूत्रपात करने वाले प्रथम व्यक्ति द्विवेदी जी ही हैं। काव्यागो का पाश्चात्य शैली पर पृथक् निबन्धो के रूप मे निरूपण भी द्विवेदी जी ने ही प्रारम्भ किया है।

द्विवेदी जी ने कविता का उद्देश्य तो मनोरजन माना है, पर द्विवेदी के इस शब्द मे भी आनन्द की गम्भीरता सन्निहित है। 'भारतीय चित्र कला' नामक निबन्ध मे उन्होने आनन्द को ही कला का उद्देश्य कहा है[1] वे काव्य मे सरलता, स्पष्टता और

१. देखिए 'विक्रम-चरित्र-चर्चा', पृष्ठ ५६ और 'आलोचनांजलि' प्रथम निबन्ध।

सरसता को महत्व दे देते है। रस ही कविता का सबसे बडा गुण है।[1] अपने मनोनीत अर्थ को इस प्रकार व्यक्त करना चाहिये कि पद्य को पढते-पढते ही उसे तत्क्षण हृदयगम कर सके, क्लिष्ट कल्पना अथवा सोच-विचार करने की आवश्यकता न पडे।[2] उन्होने काव्य मे चमत्कार की भी आवश्यकता मानी है। कविता मे दुरूहता और जटिलता के कारण बुद्धि को पर्याप्त प्रयास करना पडता है और इससे उसकी आह्लादकता का ह्रास होता है, इसलिए द्विवेदी जी ने उसमे सरलता और स्पष्टता पर बहुत जोर दिया। चमत्कार और सरसता भी आनन्द तत्व की ओर ही सकेत कर रहे है। पर द्विवेदी जी मनोरजन या आह्लाद के लिए भी सुरुचि का परित्याग सहन नहीं कर सकते है इसीलिए उन्होने ऐसे श्लोक उद्धृत नही किए है और अगर किए है, तो उनका अर्थ नही दिया। कुत्सित वर्ण्य-विषयो मे आह्लाद की क्षमता तो उन्हे मान्य ही नही, पर निम्न स्तर के व्यक्तियो के मनोरजन के लिए भी वे काव्य-जगत् मे कुरुचिपूर्ण और कुत्सित वर्ण्य-विषयो को अपनाने की स्वतन्त्रता कवि-समाज को नही देना चाहते। काव्य के वर्ण्य-विषय पर लिखते हुए उन्होने अपनी विचार-धारा स्पष्ट कर दी है।[3] उन्होने कवि का कार्य उच्च-आदर्श का निर्माण माना है। और उनके मत मे यह कार्य तभी हो सकता है जब उसके वर्ण्य-विषय मे जीवन की उच्चता और गम्भीरता हो। द्विवेदी जी को 'कला-कला के लिये' का सिद्धान्त मान्य नही है, उन्होने कवि को अवतार माना है। वे उसको इस प्रकार ईश्वर के समकक्ष रखकर मगल-विधायक के रूप मे देखना चाहते है। ईश्वर का अवतार भी धर्म की स्थापना के लिए होता है, और कवि भी इसीलिए उत्पन्न होता है "स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार से अवतार है ·· पहुँचे हुए पडितो का कथन है कि कवि भी 'धर्म-सस्थापनार्थाय' उत्पन्न होते है।" इस प्रकार मनोरजन भी द्विवेदी जी को काव्य का गौण प्रयोजन ही मान्य है। काव्य का प्रधान उद्देश्य तो वे धर्म अथवा मगल विधान ही मानते है। मगल-विधान को काव्य का प्रयोजन मानना—यह विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण है। सुरुचि और नीति का प्रचार भी इसी का स्थूल रूप है। भारतेन्दु काल मे इसी स्थूल रूप के दर्शन होते है। शुक्ल जी ने स्वभावत लोक-मगल को काव्य का प्रयोजन कहा है। छायावादी एव मार्क्सवादी समीक्षा मे से लोक-मगल के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। पर उसके

१. 'रसज्ञ-रञ्जन' पृ० ११।

२. वही, पृष्ठ ६।

३ कविता का विषय मनोरजन और उपदेशजनक होना चाहिए। लेकिन कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका है। न परकीया पर प्रबन्ध लिखने की आवश्यकता है और न स्वकीयाओ की गतागत की पहेली बुझाने की। वही पृ० १५

स्वरूप मे बराबर विकास हुआ है। आगे इसी विकास पर विचार हुआ है। द्विवेदी जी का मगल सम्बन्धी दृष्टिकोण भारतेन्दु एव शुक्ल-युग के काल की कडी है। उसमे रीति के आदेशो का स्थूल रूप भी सुरक्षित है। साथ ही मगल के अधिक सूक्ष्म एव व्यापक रूप के दर्शन की आकाक्षा भी है, यही आकाक्षा शुक्ल जी के लोक मगल के सिद्धान्त मे साकार हुई है।

काव्य मे सरलता और स्पष्टता के समर्थक होने के कारण द्विवेदी जी अलकारो के बहुत अधिक प्रयोग का विरोध करते है। अलकारो मे सौदर्य की वृद्धि होती है इस बात को तो वे अस्वीकार नही करते, परन्तु यह निर्देश करना भी नही भूलते कि स्वभावोक्ति मे हृदय को आह्लादित और चमत्कृत करने की अधिक क्षमता है। उन्होने शब्दालकारो को काव्य का अनिवार्य तत्व नही माना है. "अनुप्रासादि शब्दालकारो मे कुछ आनन्द मिलता है, यह सत्य है, परन्तु सहृदयता-व्यजक और सरस स्वाभाविकोक्तियो मे जितना चित्त प्रसन्न और चमत्कृत होता है, उतना इन बाह्य आडम्बरो मे कदापि नही होता।..... अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नही है, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय या उसमे कोई अपरिमेय हानि पहुचे।" सरलता, स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता के लिए काव्य का जीवन से घनिष्ट सम्बध होना आवश्यक है, कवि को अपने वर्ण्य-विषय का पर्याप्त और निकटतम ज्ञान होना चाहिए। तीव्र अनुभूति काव्य के प्राण है, उसके अभाव मे काव्य मे अर्थ-गौरव नही आ सकता। अर्थ-सौरस्य के लिए विषय मे कवि के तादात्म्य की अनिवार्यता पर विचार करते हुए द्विवेदी जी लिखते है "कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय मे उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नही आ सकता। विलाप-वर्णन करने मे कवि के मन मे यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वय विलाप कर रहा है ... प्राकृतिक वर्णन लिखने के समय उसके अन्तःकरण मे यह दृढ सस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत अथवा वन के सम्मुख वह स्वय उपस्थित होकर उनकी शोभा देख रहा है।"[1] द्विवेदी जी कलाकार को कल्पना का उपयोग करने की उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते है जितनी वर्ण्य-विषय को मनोरम बनाने के लिए आवश्यक है। वे कल्पना के महत्व को स्वीकार करते हुए कहते है कि "इसीकी बदौलत वह भूत और भविष्य को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नही। इसीकी कृपा से वह सासारिक बातो को एक अजब निराले ढग से बयान करता है जिसे सुनकर सुनने

---

१ कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए। केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है—'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ १५

वाले के हृदयोदधि मे नाना प्रकार के सुख-दुःख-आश्चर्य आदि विकारो की लहरे उठने लगती है।"[1] उन्हे कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्रता मान्य है। उनका काव्य मे स्वाभाविकता से तात्पर्य मानव-जीवन की सभवनीयता से ही है, वे काव्य को इतिहास बनाने के पक्षपाती नही "असलियत से मतलब यह नही कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात मे सचाई का खयाल रखा जाय।..... असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमे जो उक्ति, हो वह मानवी मनोविकारो और प्राकृतिक नियमो के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव छूटा न हो।"[2] द्विवेदी जी सादगी, असलियत और जोश को उत्तम काव्य के गुण मानते है। इन तीनो की उपस्थिति काव्य को आदर्श रूप प्रदान कर देती है, यह मिल्टन को मान्य है। द्विवेदी जी ने मिल्टन के Simple, sensuous, impassionate को ही सादगी, असलियत और जोश कहा है। द्विवेदी जी को मिल्टन का यह दृष्टिकोण पूर्णतः मान्य है। उनके मत मे भी आदर्श कविता की यह ही विशेषता है। पर प्राय इनमे से किसी-न-किसी गुण का अभाव रह ही जाता है। भाव, भाषा, शब्द चयन, छन्द, कथा विस्तार आदि के औचित्य को ही द्विवेदीजी काव्य का सर्वस्व मानते है। औचित्य-सम्बन्धी यह विचार-धारा द्विवेदी जी के साहित्य मे बिखरी हुई है। उनके 'कवि और कविता' नामक निबन्ध मे प्रसगवश कई स्थानो पर इस विवेचन के दर्शन होते है।

द्विवेदी जी ने आलोचना मे सहृदयता की आवश्यकता पर जोर दिया है। उन्होने भावुक की सहृदयता के सम्बन्ध मे विचार करते हुए एक स्थान पर उसकी सौन्दर्यानुभूति की क्षमता कवि से भी अधिक बता दी है। कालिदास के एक श्लोक की आलोचना करते हुए उन्होने अपना यह मत स्पष्ट किया है। यक्ष के द्वारा अपनी प्रेयसी के चित्र बनाने मे गेरू के प्रयोग की सार्थकता और सौन्दर्य का विवेचन करते हुए एक आलोचक का मत उद्धृत किया है। क्रोध अथवा वियोग दोनो ही अवस्थाओ मे मुखाकृति का अरुण हो जाना स्वाभाविक ही है। इसी कल्पना मे कलात्मक सौन्दर्य है। द्विवेदी जी कहते है कि सभवत यक्ष द्वारा गेरू का प्रयोग कराते समय कालिदास की दृष्टि भी इतनी तीक्ष्ण नही रही होगी। उन्हे भी इस सौन्दर्य का ध्यान नही रहा होगा, कवि वर्ण्य विषय मे पूर्णतया तन्मय होकर ही काव्य-सृष्टि करता है। उस समय सौन्दर्य के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप के लिए वह सजग नही रह पाता है, इसके लिए जितनी पैनी दृष्टि और बौद्धिक तटस्थता आवश्यक है, उनकी सर्जन के समय कवि से आशा नही की

१ 'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ ४१

२ वही, पृष्ठ ४६

जा सकती है। द्विवेदी जी का तात्पर्य इस विवेचन मे कवि और भावुक की प्रतिभा की तुलना करके कवि को आलोचक से हीन करने मे नही था। वे केवल यही प्रतिपादित करना चाहते हैं कि भावुक की दृष्टि इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह आलोच्य वस्तु के अन्तरतम तक पहुँच कर उन गुण-दोषो का विवेचन कर सके, जिनकी ओर काव्य -सृजन के समय कवि का भी ध्यान न रह पाया हो। इस प्रकार उन्होने भावुक और आलोचक की एकता प्रतिपादित कर दी है और काव्य के बहिरग की अपेक्षा अन्तरग की परीक्षा को अधिक महत्व दिया है। भावुक मे सौदर्यानुभूति की क्षमता का ही सबसे अधिक महत्व है। द्विवेदी जी ने आलोचक की तुलना निष्पक्ष न्यायधीश से की है। आलोचना मे व्यक्तिगत राग- द्वेष,आलोचक के अपने हृदय की आकाक्षाओ और भावनाओ को देखने की चेष्टा को वे अनुचित कहते है।[1]

द्विवेदी जी ने सस्कृत और हिन्दी दोनो ही के ग्रन्थो और कलाकारो की आलोचना की है। पर इन दोनो मे उनके दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। वे हिन्दी के परम भक्त और सच्चे सेवक थे। उनके हृदय मे हिन्दी साहित्य के उत्कर्ष की तीव्र और सच्ची आकाक्षा थी। वे इसमे सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना चाहते थे। इसीलिए द्विवेदी जी ने अपने सम्पादक-कार्य के प्रथम वर्ष मे ही दुर्दशा के चित्र प्रकाशित किय। साहित्य-सभा, शूर-समालोचक, नायिका-भेद का पुरस्कार, कला-सर्वज्ञ आदि इन सबमे व्यग और कटाक्षपूर्ण समालोचनाएँ थी, जिनका उद्देश्य साहित्य का पथ-प्रदर्शन ही था। बाद मे भी 'सरस्वती' मे जो पुस्तक परिचय प्रकाशित होते रहे उनमे भी आलोचक की विधायक आकाँक्षा स्पष्ट होती रही। काव्य के वर्ण्य-विषय मे सुरुचि होने पर वे उस पुस्तक की प्रशसा करते थे। द्विवेदी जी सस्कृत-ग्रन्थो का परिचय हिन्दी के पाठको से कराना चाहते थे, उनमे उनका उद्देश्य प्राचीन साहित्य के प्रति प्रेम ही उत्पन्न कराना था, इसीलिए उन्होने 'नैषध-चरित्-चर्चा' और 'विक्रमाक देव चरित्-चर्चा' मे उनके गुणो का दिग्दर्शन कराते हुए प्रशसा भी की है। उनमे भी यत्र-तत्र दोषो का सकेत है, पर बहुत कम, प्राय नगण्य। इन ग्रन्थो की काव्य-वस्तु से हिन्दी के पाठको का परिचय भी वे उसमे उनके प्रति प्रेम उत्पन्न कराने के लिए ही कराते है। इन ग्रन्थो का अनुवाद कार्य भी एक विशेष महत्व का है। अनुवाद की असफलता से पाठक के हृदय मे मूल ग्रन्थ के प्रति भी अरुचि उत्पन्न होती है। वस्तुत अनुवाद का उद्देश्य मूल वस्तु को स्पष्ट करने तथा उसके सौन्दर्य द्वारा मूल वस्तु के अध्ययन के लिये पाठक की रुचि उत्पन्न करना है। द्विवेदी जी के सम्मुख भी यही उद्देश्य था। इस लिए उन्होने लाला सीताराम बी० ए० के अनुवादो की इतनी कटु आलोचना की थी। अनुवादो २ सम्बन्ध मे द्विवेदी जी अपना मन्तव्य भी

१ 'सरस्वती' सन् १९११।

एक स्थान पर स्पष्ट कर देते है, "एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा मे अनुवाद करने वालो को यह बात स्मरण रखनी चाहिए—बुरा अनुवाद करना मूल कवि का अपमान करना है, क्योंकि अनुवाद के द्वारा उसके गुणो का ठीक ठीक परिचय न होने के कारण पढने वालो की दृष्टि मे वह हीन हो जाता है। इसीलिए किसी पुस्तक का अनुवाद करने से पहले अनुवादक को अपनी योग्यता का विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है। सच तो यह है कि जो अच्छा कवि है, वही अच्छा अनुवाद करने मे समर्थ हो सकता है।"[1] 'विक्रमाकदेव-चरित् चर्चा' की भूमिका मे उन्होने सस्कृत कवियो की आलोचना का अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है। उनका उद्देश्य दोष-दर्शन एव पाठको के हृदय मे उनके प्रति अरुचि उत्पन्न करने का नही है अपितु उन कवियो का परिचय देकर उनके प्रति अनुराग उत्पन्न करने का ही है। द्विवेदी जी यही चाहते थे कि पाठक उस साधारण परिचय को पढकर स्वय उन ग्रन्थो का अध्ययन करें। "किसी की रचना की आलोचना करने मे समालोचक यदि शुद्ध हृदय से अपनी सम्मति प्रकट करे तो उससे उसकी अप्रतिष्ठा नही होती। विल्हण की अप्रतिष्ठा या निन्दा करने का विचार तो दूर रहा, उल्टा हमने उनका परिचय हिन्दी जानने वालो से करा कर उनकी ख्याति बढाने का प्रयत्न किया है।"[2]

द्विवेजी के पूर्व दोष-दर्शन ही आलोचना की प्रमुख विशेषता मानी जाने लगी थी। यही प्रवृति द्विवेदीजी की आलोचनाओ मे दीख पडती है। उनकी आलोचना मे आलोच्य वस्तु के गुणो की तरफ भी ध्यान गया है। उन्होने उसमे साहित्यिक सौदर्य भी देखा है। वे लिखते है 'इसमे सन्देह नही की विल्हण की कविता बहुत सरस है और सरस होकर सरल भी।' उन्होने कालिदास की उपमाओ के सौदर्य का विशद विवेचन भी किया है और उस सौदर्य को हृदयंगम कराने की चेष्टा भी की "उपमालकार मे कोई कवि कालिदास की बराबरी नही कर सकता। कालिदास ने अपनी उपमाओ मे उपमान और उपमेय का ऐसा सादृश्य दिखलाया जैसा और किसी की उपमाओ मे नही पाया जाता। इनकी उपमाओ मे लिंग और वचन-सम्बन्धी भेद प्राय. कही नही देखा जाता। उपमा से इनकी वर्ण्य वस्तु इतनी विशद भाव से हृदय मे अकित हो जाती है कि इनकी कविता का रसास्वाद कई गुना अधिक आनन्ददायक हो उठता है।"[3] इस काल का आलोचक कवि और कलाकार का पथ-प्रदर्शन करना चाहता था। यह कार्य तो प्रत्येक युग और

---

१ 'रसज्ञ रजन', पृष्ठ १४।

२. विक्रमांकदेव-चरित्र-चर्चा' भूमिका।

३ 'कालिदास की निरकुशता'।

साहित्य का कलाकार करता है, पर इस काल का आलोचक इसमे आदेशात्मक शैली को ही अपनाकर चला है। इसलिए द्विवेदी जी ने 'कवि-कर्म' के विवेचन में 'कवि को यह करना चाहिए और यह नही करना चाहिये' की ही बातें अधिक कही है। वे दोषो का निर्देश करके कलाकार को उनसे बचाना चाहते हैं। दोष दिखाने की इस प्रवृत्ति मे सुरुचि उत्पन्न करने के साथ ही कवि को कतिपय जड नियमो मे बाध देने की प्रवृत्ति भी है। इस दोषोद्भावना का आधार वैयक्तिक रुचि नही अपितु शास्त्रीयता, सहृदयता और उपयोगिता है। इनकी आलोचना का आधार शास्त्रीय है। उन्होने सस्कृत-ग्रन्थो की आलोचना मे अलकार, रीति, रस और प्रबन्ध के औचित्य की दृष्टि से विचार किया है। इसकी प्रेरणा उन्हे प्राचीन आलकारिको और आलोचको से ही मिली है। 'कालिदास की निरकुशता' मे उन्होने जिन दोषो की उद्भावना की है, उनका निर्देश उनके पूर्व ही बहुत से प्राचीन तथा अन्य भाषाओ के अर्वाचीन विद्वान कर चुके थे। एक प्रकार से यह सारा ग्रन्थ इन्ही के विचारो का सारांश-मात्र है। 'मनसाराम' तथा कतिपय अन्य आलोचको द्वारा द्विवेदी जी की उपयुक्त पुस्तक की कटु आलोचना होने पर उन्होने स्वपक्ष-समर्थन करने के लिए 'प्राचीन कवियो की दोषोद्भावना' नामक विस्तृत लेख लिखा था। उसमे उन्होने यह स्वीकार किया है कि उनके द्वारा बताए गए दोषो का निर्देश उनके पूर्ववर्ती विद्वान कर चुके हैं। महाकाव्य पर दण्डी के मत का आश्रय लेते हुये उन्होने 'नैषध-चरित' के सर्गों को बहुत विस्तृत बताया है। प्रबन्ध के अनौचित्य की दृष्टि से भी कई काव्यो का विवेचन है। वे विल्हण-रचित 'विक्रमाक देव-चरित-चर्चा के चौदहवे सर्ग के शरद्-वर्णन को प्रबन्ध की धारा की दृष्टि से अनुचित बताते है "चौदहवे सर्ग मे कहा तो विक्रम जयसिंह की शत्रुता का विचार करके युद्ध रोकने का प्रयत्न कर रहा था, कहा बीच मे विल्हण ने शरद् लाकर खडी कर दी और उसी का आम वर्णन करने लगे। ऐसे अवसर मे इस प्रकार का वर्णन अनुचित जान पडता है।"[1] द्विवेदी जी का मत है कि उस काल मे अगर कवि प्रबन्ध के औचित्य का ध्यान रखता तो इतने सर्गों के लिखने की आवश्यकता ही न थी। नायक के चरित्र की अपेक्षा, जो ग्रन्थ का प्रधान वर्ण्य विषय है, लेखक ने अन्य वस्तुओ को अधिक विस्तार दिया है। उनको द्विवेदी जी व्यर्थ मानते है: "इस काव्य मे १८ सर्ग है, उनमे यदि कवि अप्रासगिक बातो का वर्णन न करता तो आठ-नौ सर्ग मे पुस्तक समाप्त हो गई होती। सातवे से तेरहवे सर्ग तक की कोई आवश्यकता न थी, उनके न होने से विक्रमाक के चरित्र-वर्णन मे कुछ भी न्यूनता नही आती।" यहा पर द्विवेदी जी का दृष्टिकोण अत्यधिक उपयोगितावादी हो गया है। प्रकृति के विस्तृत आलकारिक वर्णन को अप्रासगिक

१ विक्रमांकदेव चरित चर्चा' पृष्ठ ६५।

कहने का भी यही तात्पर्य है। केवल चरित्र से सम्बद्ध बातें तो इतिहास का क्षेत्र है। उक्त ग्रन्थ की शैली अथवा रीति पर विचार करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि 'बिल्हण ने विक्रमाकदेव चरित को वैदर्भी रीति में लिखा है।"[1] 'कालिदास की निरकुशता' नामक ग्रन्थ में जिन दोषों की उद्भावना की गई है उन सबका आधार तो स्पष्टत औचित्य है, पर अन्य ग्रन्थों की आलोचना में भी उनका ध्यान इसी ओर अधिक रहा है। यह बात ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। 'कालिदास की निरकुशता' के बहुत से स्थल तो क्षेमेन्द्र की 'औचित्य-विचार-चर्चा' से हैं, इसीलिए उसमें औचित्य के नाम से ही सब-कुछ लिखा गया है। उद्वेगजनक उक्ति कहकर जिस प्रसग की आलोचना द्विवेदी जी ने की है, वह वस्तुत औचित्य की ही दृष्टि है। इस प्रकार द्विवेदी जी की सम्पूर्ण आलोचना का आधार सरसता, औचित्य और सरलता है। उन्होंने अपने सम्मुख अलकार-शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों को ही रखा है। इस प्रकार उनकी आलोचना कुछ शास्त्रीय आलोचना की परिधि में आ जाती है।

शास्त्रीय आलोचना में आलोचक के व्यक्तित्व अथवा उसकी सहृदयता के परिचय का अवसर नहीं है। कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करके उसके प्रति अपने हृदय की अनिसवेदना पाठक तक पहुँचाने की स्वतन्त्रता तो प्रभाववादी आलोचक ही अधिक ले पाता है। कहीं-कहीं द्विवेदी जी का यह रूप भी दिखाई पड़ता है, पर अत्यन्त क्षीण और अस्पष्ट ही। उन्होंने अपने हृदय के प्रभाव को कवि-कृत्ति से उत्पन्न भाव-समवेदना को स्वाभाविक, सरल, सरस आदि शब्दों द्वारा व्यक्त कर दिया है, इसलिए उनके इस स्वरूप में भी पाठक को तन्मय कर देने की क्षमता नहीं रही। यह आलोचना भी एक प्रकार से शास्त्रीय शब्दावली की जडता की प्रतिछाया में निर्णय-मात्र ही प्रतीत होती है। "अस्वाभाविक वर्णन का कहीं नाम तक नहीं। समस्त काव्य सरस, सरल और नैसर्गिक है।" द्विवेदी जी में कहीं-कहीं तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक समालोचना के क्षीण तत्व भी दिखलाई पड़ जाते हैं। कवियों और कलाकारों के अन्त साक्ष्य पर उनके जीवन-चरित लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी में भी आ गई थी। पुस्तकों का अनुसन्धान और अन्वेषण-कार्य प्रारम्भ हो चुका था। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अनेक विद्वान इस खोज में लग चुके थे। 'पृथ्वीराजरासो' की प्रामाणिकता को लेकर अनेक पुरातत्ववेत्ताओं में भी पारस्परिक वाद-विवाद चलने लगा था। ग्रन्थों के काल-निर्णय तथा उन्हें एक विशेष परम्परा में रखने की प्रणाली चल गई थी।

---

१ वही, पृष्ठ ७४, च्युत सस्कृति दोष की ओर निर्देश, परिशिष्ट पृष्ठ १ 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा।

इसमे ही कवि-वर्णनो से ही तत्कालीन परिस्थितियो के अनुमान की भी प्रवृत्ति थी। द्विवेदीजी अपनी समसामयिक विचार-धारा से वचित नही रह सके और उनकी आलोचनाओ मे भी इसके दर्शन हो जाते है। पर द्विवेदी जी का प्रधान लक्ष्य अनुसन्धान-कार्य नही था। यह तो अन्य विद्वानो का उत्तरदायित्व था। 'विक्रमाकदेव चरित चर्चा' के वर्णन के आधार पर द्विवेदी जी ने उस काल के राजाओ के साथ युद्ध मे उनके अन्त पुर के साथ जाने की प्रथा का अनुमान किया है। समुद्र-वर्णन के आधार पर कवि के गौड-प्रदेश जाने का अनुमान है। "समुद्र-वर्णन और गौडेश्वर की प्रशस्ति-रचना से अनुमान होता है कि श्री हर्ष कान्यकुब्जनरेश के यहा से गौड देश को गये होगे। क्योकि वहा गये बिना वहा के राजा और समुद्र का वर्णन युक्तिसगत नही कहा जा सकता। गौड जाने पर ही समुद्र के दर्शन हुए होगे और दर्शन होने ही पर उसका वर्णन लिखने की इच्छा श्रीहर्ष को हुई होगी।" (नैषध-चरित चर्चा)। इस प्रकार के अनुमान मे ऐतिहासिक समालोचना के क्षीण तन्तुओ के दर्शन हो जाते है। द्विवेदी जी ने दो कवियो की तुलना नही की है, पर कही-कही एक कवि की आलोचना करते हुए दूसरे कवि की कतिपय विशेषताओ का निर्देश कर दिया है।[1] 'नैषध चरित चर्चा' मे कालिदास की कतिपय विशेषताओ का भी निर्देश है। यह परोक्ष रूप मे तुलना ही है। कही-कही पर एक से दूसरे की किसी विशेष दृष्टिकोण से श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी हुआ है। ऐसा प्राचीन प्रचलित वाक्यो की समीक्षा करते हुये किया गया है। 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ क्व भारवि' के आधार पर 'किरात' और 'शिशुपाल-वध' से नैषध की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। ऊपर के सारे विवेचन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि निकटस्थ परवर्ती काल मे जिस आलोचना पद्धति और शैली का विकास होने वाला था, उसके कुछ बीजाकुर उनकी आलोचना मे भी यत्र-तत्र बिखरे हुए अविकसित, अप्रौढ और अस्पष्ट दशा मे मिल जाते है।

सस्कृत-ग्रन्थो की आलोचना करते हुये द्विवेदी जी ने उनके सुन्दर श्लोको के बहुत-से उद्धरण दिए है। उनकी यह प्रतिक्रिया अपने विचारो की पुष्टि मे श्लोको को उद्धृत करने की नही है। ग्रन्थ के अन्त मे कतिपय चुने हुये सुन्दर श्लोको की व्याख्या दी गई है, जिससे पाठक स्वयं उस ग्रन्थ के काव्यात्मक सौदर्य का रसास्वाद कर सके। इसमे द्विवेदी जी ने प्राचीन टीका-पद्धति का अनुसरण किया है। अर्थ के स्पष्टीकरण के साथ ही उन्होने अलकार, रस अथवा अन्य प्रकार के काव्य-सौदर्य का निर्देश भी कर दिया है। इन टीकाओ मे द्विवेदी जी को स्वभावत कुछ अधिक प्रभाववादी हो जाना पडा है। "मदेक पुत्रा जननी जरातुरा"-जैसे सुन्दर श्लोक की बडी विशद व्याख्या हुई है। उसमे अलकार और काव्यात्मक सौदर्य का निर्देश इतनी

१. देखिए 'नैषध-चरित चर्चा,' पृष्ठ ६६

सजीवता से किया गया है कि पाठक इस श्लोक के सौदर्य से अभिभूत हो जाता है, वह भी आनन्द-विभोर हो उठता है।[1] यही प्रभाववादी की सफलता भी है।

द्विवेदीजी की प्रमुख साहित्यिक देन है—खडी बोली को व्यवस्थित और व्याकरण-सम्पन्न करना। यह कार्य उन्होने अपनी समालोचना द्वारा ही किया है। उनकी 'सरस्वती' मे भाषा-सम्बन्धी लेख और वाद-विवाद बराबर छपते रहते थे। 'भाषा-विज्ञान' और व्याकरण का तो एक विशेष स्तम्भ ही था। यही कारण है कि प्राय कोई-न-कोई ऐसा लेख अवश्य रहता था जिसमे भाषा के किसी स्वरूप पर विचार होता था। इस प्रकार के लेखो का एक यह भी कारण था कि उस काल के विद्वानो मे भाषा-सम्बन्धी वाद-विवाद छिडते रहते थे और इस कार्य मे प्राय सभी प्रमुख साहित्य-सेवी भाग लेते थे। 'भाषा और व्याकरण' नामक निबन्ध ऐसे ही वाद-विवाद के सिलसिले मे लिखा गया है। इसमे बालमुकुन्द गुप्त के प्रतिवादो का तर्कयुक्त खडन है। 'अनस्थिरता' शब्द पर भी पर्याप्त वाद-विवाद रहा। द्विवेदीजी की भाषा-सम्बन्धी कटु आलोचना से लोग क्षुब्ध हो उठते थे और इससे वैयक्तिक प्रहार करने लगते थे। कभी-कभी अनेक शब्दो को लेकर भी चुनौती दिया करते थे। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी 'मनसाराम' ने कालिदास की निरकुशता की प्रत्यालोचना करते समय ऐसा ही किया था। वे लिखते है—"जब तक मै इधर दूसरा लेख तैयार करु तब तक द्विवेदी जी महाराज आप कृपा करके 'बूँद' और 'रामायण' को पुल्लिग सिद्ध कर दे।"[2] इस प्रकार हिन्दी मे यह मल्ल-युद्ध बहुत दिनो तक चलता रहा। विभक्ति को हटाकर लिखना चाहिए अथवा सटाकर, यह भी बहुत वाद-विवाद का विषय रहा। इन्ही सघर्षों के कारण भाषा मे एक व्यवस्था भी आ सकी।

द्विवेदी जी ने भाषा मे व्यवस्था लाने का कार्य पुस्तको, मासिक-पत्रो द्वारा भी किया। उसमे भाषा-सम्बन्धी भूलो का निर्देश करके भविष्य मे उन भूलो का मार्ग अवरुद्ध कर देने की उनकी इच्छा थी। 'पुस्तक-परिचय' तो 'सरस्वती' की प्रत्येक प्रति मे रहता था। यह स्तम्भ हिन्दी के सभी पत्र-पत्रिकाओ मे रहता है। लेकिन अब वह पहले जितना महत्वपूर्ण नही रह गया है। पर फिर भी इस स्तम्भ मे कभी कभी बहुत प्रौढ एव गम्भीर समालोचनाये निकलती है। भारतेन्दु-काल और द्विवेदी-काल के प्रारम्भिक वर्षों मे 'पुस्तक परिचय' आलोचना का प्रधान स्वरूप था, इसलिए पत्र-पत्रिकाओ मे इस स्तम्भ का पर्याप्त महत्व भी था। द्विवेदीजी ने मिश्र-बन्धुओ के 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना को पर्याप्त स्थान दिया है। उन्होने

---

१ वही पृष्ठ ७७

२. 'निरंकुशता-निदर्शन', पृष्ठ ६।

लेखको की अशुद्धियो का निर्देश करने हुए नायिका-भेद के स्थान पर नायिका-भेद तथा 'अनुमति' का 'सम्मति' के अर्थ मे प्रयोग करने के लिए खेद प्रकट किया है।[1] 'हिन्दी कालिदास' और 'कालिदास की निरकुशता' मे भी कवि की भाषा पर ही अधिक लिखा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदीजी की आलोचना की यह भी एक प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी का रीति-काल तो प्रधानत सिद्धान्त-निरूपण का ही काल था। काव्य के सिद्धान्तो का विवेचन प्रत्येक कवि का एक विशेष कार्य हो गया था। यह सैद्धान्तिक विवेचन हिन्दी के आधुनिक काल मे भी चलता रहा, पर इसके आदर्श और प्रणाली मे परिवर्तन होते रहे। गद्य के विकास तथा अग्रेजी साहित्य के अध्ययन के प्रभाव से इस विवेचन ने एक नवीन रूप धारण कर लिया था। सक्षेप मे सूत्रो का निर्देश करके उनकी व्याख्या अथवा उद्धरणो द्वारा स्पष्टीकरण की प्रणाली अब प्राय लुप्त-सी हो रही थी। इसी शैली मे लिखा हुआ जगन्नाथप्रसाद 'भानु-कवि' का 'काव्य-प्रभाकर' बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ है। इसमे काव्य के सभी अगो का विशुद्ध विवेचन है। भारतीय अलकार-शास्त्र के कतिपय शब्दो का अग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है। इससे लेखक अग्रेजी पढे-लिखे व्यक्तियो के लिए भी अपने ग्रन्थ को बोधगम्य करना चाहते है, पर इस अनुवाद के अतिरिक्त इस दिशा मे उन्होने और कोई प्रयत्न नही किया है। ग्रन्थ-रचना की यह अत्यन्त प्राचीन शैली है। हिन्दी मे स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना मे इस शैली का उपयोग धीरे-धीरे कम होता गया और आज तो प्राय इसका नितान्त अभाव ही है। केवल प्राचीन ग्रन्थो की टीका के लिए इस रूप का आज भी उपयोग होता है। यह ग्रन्थ भारतेन्दु और द्विवेदी-काल की सन्धि-काल की रचना है।[2] साहित्य-सिद्धान्तो के विवेचन के लिए विश्लेषण की शैली अपनाई गई थी। इसी शैली मे सब प्रकार की समालोचना और वैज्ञानिक साहित्य का भी सृजन हुआ है। इन विषयो के लिए यही सर्वमान्य शैली है। भारतेन्दु काल मे 'कवि-कर्म' और काव्यागो पर पृथक् रूप में बहुत ही कम लिखा गया। 'पुस्तक-परिचय' अथवा अन्य निबन्धो मे प्रासगिक रूप मे काव्य का सैद्धान्तिक निरूपण भी कही-कही हो गया है। इस प्रकार इस काल की नवीन सैद्धान्तिक समालोचना का प्रारम्भ भी द्विवेदीजी से होता है। कवि-कर्म और कविता-सम्बन्धी कतिपय निबन्ध तथा 'नाट्य-शास्त्र' नामक छोटी-सी पुस्तिका तक ही यह साहित्य सीमित है।

द्विवेदी जी के कुछ लेख तो ऐसे है जिनमे किसी प्राचीन आचार्य के मत का ही अपने शब्दो मे स्पष्टीकरण-मात्र किया गया है, जैसे 'कवि बनने के

---

१. 'समालोचना-समुच्चय' पृष्ठ २२२, २२४, २३५, २३६, २३९, २४१ आदि।
२. सन् १९०३ में इसका प्रकाशन हुआ है।

लिए सापेक्ष साधन'।[1] लेकिन अधिकाश ऐसे है जिनके तात्विक विवेचन पर पाश्चात्य और पूर्वी दोनो परम्पराओ का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार के लेखो मे लेखक के स्वतन्त्र चिन्तन का भी महत्व है। यह दूसरे प्रकार का विवेचन ही आधुनिक सैद्धान्तिक निरूपण-शैली का प्रतिनिधि है। द्विवेदी जी के परवर्ती-काल मे आज तक इसी शैली का विकास हुआ है। प्रत्येक लेखक का मौलिक और स्वतन्त्र रूप से लिखते समय अपने हर प्रकार के सस्कार का उपयोग स्वाभाविक है। द्विवेदी जी के विवेचन पर किन पूर्वी और पाश्चात्य समालोचको का प्रभाव पडा है, यह स्पष्ट नही है। कही-कही उन्होने कुछ व्यक्तियो के नामो के निर्देश भी कर दिये है उनके उद्धरण भी दिये है। शेष स्थानो पर उन चिन्तको से जो कुछ भी द्विवेदीजी ने लिया है, उसे उन्होने ऐसा आत्मसात् कर लिया है कि उस पर उनकी निरूपण-शैली और व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। दण्डी, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि कतिपय भारतीय आचार्यों के वे ऋणी है, इसमे कोई सन्देह नही है। उन्होने अपने 'कवि और कविता' नामक निबन्ध मे काव्य के कारणो पर विचार करते हुए आचार्य दण्डी और मम्मट को उद्धृत किया है। इसी प्रसग मे वे हाली का मत भी उद्धृत करते है। वस्तुत यह लेख मस्स-उल-उलमा हाली के 'मुकद्दमा' नामक लेख के आधार पर ही लिखा हुआ है पर इसमे द्विवेदीजी की मौलिकता का अभाव नही है। द्विवेदी जी का समर्थन प्राप्त होने ही के कारण इस लेख का विचार द्विवेदी जी का ही दृष्टिकोण माना जायगा अन्यथा द्विवेदी-जैसा निर्भीक व्यक्ति जब कालिदास की खबर ले सकता है तब हाली किस खेत की मूली है। वे उनके विचारो का अवश्य खण्डन कर देते। अग्रेजी समालोचको के नाम और उद्धरण तो द्विवेदीजी के लेखो मे नही मिलते, पर उनके विवेचन पर अग्रेजी लेखको का 'प्रभाव स्पष्ट' है। मिल्टन के नाम से तो उन्होने कविता के सादगी, असलियत और जोश नामक तीन गुणो का विवेचन ही किया है।[2] शेष कई-एक स्थानो पर भी यह प्रभाव स्पष्ट है। द्विवेदीजी ने कविता और गद्य की भाषा को एक कर देने का जो आन्दोलन चलाया था उसकी प्रेरणा उन्हे वर्डस्वर्थ के विचारो से मिली है। इतना ही नही उनके कविता-सम्बन्धी भाषा के विचार बहुत-कुछ वर्डस्वर्थ से मिलते-जुलते है। यद्यपि वर्डस्वर्थ ने बाद मे अपनी भूल मे सशोधन भी कर लिया था, पर द्विवेदीजी को ऐसा अवसर नही मिला। वस्तुत द्विवेदीजी का काव्य-सम्बन्धी अपना कोई विशेष सम्प्रदाय अथवा मत तो था नही, जिसमे काल-क्रम से संशोधन और परिवर्तन होते। वे तो साहित्य के विद्यार्थियो की ज्ञान-वृद्धि के लिए परिचयात्मक लेख लिखते थे। इनमे कुछ विचारो

---

१. यह लेख 'क्षेमेन्द्र' के विचारो का स्पष्टीकरण है।

२. ये तीन शब्द क्रमश Simple, Sincere. Impassionate का अनुवाद हैं।

को द्विवेदीजी की स्वीकृति और समर्थन भी प्राप्त हो जाता था। द्विवेदीजी ने अनुभूति, कल्पना आदि तत्वो का जो विवेचन किया है, वे स्पष्टत., पश्चिम की ही देन है। उन्होने कविता और पद्य के अन्तर को समझाने के लिए Poetry और Verse शब्दो का आश्रय लिया है।[1] सभ्यता और कविता के सम्बन्ध की कल्पना भी पश्चिमी विचार-धारा की ही देन है। इस प्रकार द्विवेदी जी के बहुत-से विचारो और निरूपण-शैली पर पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है। यही बात उनकी आलोचना के मानदड के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। उसमे दोनो का सम्मिश्रण है। अलकार, काव्य-भेद आदि के निरूपण के अतिरिक्त, जो स्पष्टत. भारतीय परम्परा की वस्तुये है, कवि के व्यक्तित्व, उसके राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार के विचारो का विवेचन आदि कई-एक मान पश्चिम से ही आये है। जीवन की व्याख्या के रूप मे साहित्य का ग्रहण पाश्चात्य प्रभाव है और द्विवेदी जी का साहित्य-समीक्षा पर इसका प्रभाव भी स्पष्ट है। पर उनकी व्याख्या की प्रणाली और मान भारतीय हैं।

द्विवेदी का सैद्धान्तिक विवेचन कवि-कर्म-निरूपण की कोटि मे ही आता है। उसमे विश्लेषण और तर्क द्वारा किसी तथ्य पर पहुँचने की प्रवृत्ति कम है, अपितु कुछ मान्य सिद्धान्तो और तथ्यो का कवियो को आदेश अधिक। यही कारण है कि द्विवेदी जी का निरूपण प्राय सर्वत्र ही 'यह चाहिए, अथवा यह नही चाहिए' की शैली को ही अपनाता है। इसका तात्पर्य उनकी निरूपण की गम्भीरता का निषेध करना कदापि नही है, उनमे काव्य के वर्ण्य-विषयो और अभिव्यजना के प्रकारो की गणना-मात्र नही है। वे कवि को कविता की मूल प्रकृति से परिचित कराना चाहते है, इसी लिए वे इस शैली मे भी कविता के व्यापक सिद्धान्तो का निरूपण करने मे समर्थ हुए है। उन्होने यह आदेश नही दिया कि कवि को अमुक छन्दो का प्रयोग करना चाहिए, वे तो छन्द और विषय की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता पर विचार करते हैं तब कवि को विषयानुकुल छन्द-प्रयोग की सम्मति प्रदान करते है।[2] इसी प्रकार काव्य की भाषा, विषय आदि की मूल प्रकृति का विवेचन करते है। भाषा की स्वाभाविकता, सरलता और विषयानुकूल अर्थ के सौरस्य तथा गम्भीरता एव विषय की उपयोगिता और मनोरजकता पर विचार किया गया है। यही कारण है कि कवि-कर्म-निर्देशक शैली मे भी द्विवेदीजी की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओ और उनके

---

१. 'रसज्ञ रंजन', 'कवि और कविता' पृष्ठ ३६

२ जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करे, उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियो को विषय के अनुकूल छन्दोयोजना करनी चाहिए। 'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ २।

प्रतिपादन की गम्भीरता का परिचय मिल जाता है। द्विवेदीजी की बुद्धि सैद्धान्तिक निरूपण मे ही अधिक रमती हुई प्रतीत होती है, पर कुछ तो तत्कालीन प्रचलित शैली होने तथा कुछ लेखक-निर्माण-कार्य करते-करते अपनी ही प्रकृति के आदेशात्मक हो जाने के कारण द्विवेदीजी का विवेचन कुछ ही विषयो तक सीमित रहा है और उसका स्वरूप भी परिचयात्मक ही है।

द्विवेदी जी का सैद्धान्तिक निरूपण सामान्य परिचय से आगे नही बढ पाता। उस पर अधिक गम्भीरता से विचार करने पर ये सिद्धान्त तर्क के सम्मुख लडखडाने लगते है। द्विवेदीजी ने काव्य की वर्ण्य-वस्तु के साथ कवि के व्यक्तित्व का इतना तादात्म्य माना है कि कवि को वह वस्तु अपनी ही प्रतीत होने लगे। यहा पर लेखक यह भूल जाते है कि काव्य के अत्यधिक वैयक्तिक, कवि के ही सुख-दु ख, राग-द्वेष, योग-क्षेम का वर्णन होने से वह काव्य पद का अधिकारी ही नही रह जाता है। काव्य मे पाठक कवि की रीति, प्रेम, ईर्ष्या, करुणा को देखने का इच्छुक नही है वह तो उसमे मानव-समाज के भावो का आनन्द लेना चाहता है। इसलिए जिस वैयक्तिकता का समर्थन द्विवेदीजी अपने अतिशयोक्तिपूर्ण शैली तथा जोश के कारण कर जाते है, वह काव्य के लिए अग्राह्य है। यही बात द्विवेदीजी के भाषा-सम्बन्धी मत के लिए भी कही जा सकती है। उनका तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि काव्य की भाषा ब्रज और गद्य की खडी बोली होने से साहित्य का समुचित और सर्वांगीण विकास नही हो सकता, इसलिए दोनो के लिए एक ही भाषा हो। पर वे जोश मे साधारण व्यवहार तथा काव्य की भाषा के अन्तर को ही मिटा देना चाहते है। वे काव्य के लिए भी ऐसी भाषा के समर्थक बन जाते है जो जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा है।[1] यहा पर भी काव्य की मूल प्रकृति की ही अवहेलना हो गई है। बोल-चाल की भाषा का प्रायः उद्देश्य अर्थबोध होता है, बिम्बग्रहण की प्रवृत्ति तो बहुत ही कम होती है, इसीलिए उस भाषा मे अभिधेयार्थ की प्रधानता होती है। पर काव्य की भाषा मे व्यग्यार्थ का ही महत्व है। वस्तुत काव्य और साधारण जीवन का अन्तर ही व्यजना पर आश्रित है। काव्य की भाषा का प्राण व्यजना है। इसलिए कविता और गद्य (निबन्ध, विज्ञान आदि) की भाषा मे भी एक अन्तर मानना पडता है। कविता की भाषा मे एक विशेष ध्वनि और

---

१. **मतलब यह कि भाषा बोल-चाल की हो, क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है, जिसे खास और आम सब बोल लेते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही जिसे काम में लेते हैं।**

'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ ४८।

लय की अपेक्षा है जिसकी गद्य मे अवहेलना की जा सकती है। वर्डस्वर्थ ने इसीलिए अपना मत बाद मे बदल दिया था। सभवत द्विवेदी जी का तात्पर्य इतनी गहराई से सोचने का नही था। सैद्धान्तिक समालोचना के निबन्ध भी पाठकों की ज्ञान-वृद्धि अथवा कवि-कर्म के लिए ही लिखे गए है, किसी विशेष सिद्धान्त के तात्विक विश्लेषण की दृष्टि से नही। उनका विवेचन युग की आवश्यकता के अनुकूल है। द्विवेदी जी के सिद्धान्त-निरूपण-सम्बन्धी लेख वाह्य प्रेरणाओ के फल है। इनमे से अधिकाश निबन्ध मराठी, सस्कृत उर्दू आदि भाषाओ के लेखो के आधार पर लिखे गए है। इससे उनको मौलिक चिन्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता नही मिल सकी। यही कारण है कि एक ही तत्व का निरूपण इन्हे कई स्थानो पर करना पडा है और उनके बौद्धिक स्तर मे पर्याप्त अन्तर है। कवि की अनुभूति अथवा काव्य के वर्ण्य-विषय से कवि का तादात्म्य तथा कविता की परिभाषा, इन दोनो विषयो पर द्विवेदी जी को कई बार लिखने की आवश्यकता हुई है और इनमे चिन्तन स्तर का अन्तर भी स्पष्ट है। अनुभूति के सबन्ध मे इसी लेख मे प्रसगवश हमे कई बार लिखना पडा है। एक और उदाहरण देने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है।[1] यह पहले उद्धरण की अपेक्षा अधिक समीचीन और तर्कसम्मत है। यह अन्तर कविता की परिभाषा से तो और भी स्पष्ट हो जाता है।[2] इन दोनो परिभाषाओ मे से दूसरी परिभाषा मे कला के उद्गार का प्रौढ निरूपण है। पहली परिभाषा अत्यन्त शिथिल है। गाम्भीर्य का अन्तर स्पष्ट है। इसमे कतिपय आलोचक द्विवेदी जी की मौलिकता और गूढ चिन्तन की क्षमता मे भी सन्देह कर सकते है, पर यह अनुपयुक्त है। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि लेखक ने सत्य के अल्पाश को भी पूर्ण रूप सत्य के रूप मे ही ग्रहण किया है। उन्हे निरपेक्ष सत्य-निरूपण का आग्रह नही। काव्य-सिद्धान्त मे इस प्रकार की निरपेक्षता की कल्पना नही की जा सकती। सत्य के आपेक्षिक रूप

---

१ **कवियो का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा जिस वस्तु का वर्णन करते ह, उसका रस अपने अन्त:करण मे लेकर उसे ऐसा शब्द-स्वरूप देते हैं कि उन शब्दो के सुनने से वह रस सुनने वाले के हृदय मे जागृत हो उठता है।** 'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ ५३।

२ **किसी प्रभावोत्पादक और मनोरजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है।** 'रसज्ञ-रजन' पृष्ठ ३६।

अन्त करण की वृत्तियो के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारो के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन मे नहीं समाते तब वे आप-ही मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् वे मनोभाव शब्दो का स्वरूप धारण करते हैं। वह कविता है।

का ग्रहण ही सभव है। वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति का महत्व होने के कारण गणित के सिद्धातो का-सा ऐक्य और जडता काव्य मे नही मिल सकती। कविता की अनेक परिभाषाओ का होना और उनमे सभी सत्याश की स्वीकृति इसी बात का अनुमोदन कर रही है। काव्य की कोई भी परिभाषा पूर्ण नही है। उसकी पूर्णता केवल सापेक्षिक और तारतम्यिक होती है। इस तारतम्य मे द्विवेदी जी के लेखो की कुछ पक्तिया पडितराज जगन्नाथ के निरूपण की उच्चता को छूती हुई-सी प्रतीत होती है। कविता को सुखपूर्ण भ्रान्ति और विस्मृति कहकर लेखक पडितराज के स्वर-मे स्वर मिलाता हुआ प्रतीत होता है।[1]

द्विवेदी जी ने युगान्तरकारी व्यक्तित्व के साथ हिन्दी-साहित्य मे प्रवेश किया है। नवोत्थान, पुनर्जागरण के चिह्न तो भारतेन्दु-काल मे ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। पर उस समय का प्रधान शैशव-काल का ही रहा। भारतेन्दु जी ने यह कार्य प्रारम्भ करके निर्माण का सूत्र द्विवेदी जी के हाथ मे दे दिया और उसको पूर्ण यौवन के विकास तक पहुँचा देने का श्रेय द्विवेदी जी को है। उन्होने इस मार्ग को इतना प्रशस्त कर दिया था कि परवर्ती कलाकारो को इस मार्ग का अवलम्बन करके साहित्य और जीवन मे नूतन प्राण फूँक देने मे पूर्ण सफलता मिली। भारतेन्दु जी से लेकर आज तक का सारा काल हिन्दी-साहित्य का पुनरुत्थान-काल कहा जायगा। इसमे शताब्दियो से सोई हुई भारतीय आत्मा नवीन प्रगति के लिए जाग गई है। द्विवेदी जी ने शख-ध्वनि से ही उसे जगाया है। उसके नेत्र अलसाये हुए थे। पर द्विवेदी जी के पैंतीस-चालीस वर्ष के अथक परिश्रम और निर्बाध शख-ध्वनि ने इसे फिर से सोने नही दिया। हिन्दी-साहित्य को बाध्य होकर जागना और नवीन जीवन-प्रवाह मे अपने-आपको डालना पडा। द्विवेदी जी तथा उनके समसामयिक अन्य साहित्यकारो को, जो जागृति का सदेश लेकर आये थे, पर्याप्त विरोध का सामना करना पडा। इनको अपनी शक्ति का अधिकाश तो केवल भाषा-निर्माण मे ही लगा देना पडा। अपनी शेष शक्ति का उपयोग उन्होने काव्य के वर्ण्य विषय और शैली के नवीन सस्करण मे किया।

भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कविता और गद्य की भाषा को एक करने के वृहत् आन्दोलन को जन्म दिया। भारतेन्दु जी उत्थान के इस पथ का अवलम्बन नही कर पाए थे, इसलिए इस कार्य-क्षेत्र मे द्विवेदी जी की मौलिकता का एकाधिपत्य है। किसी भी देश के साहित्य मे गद्य और पद्य मे दो भिन्न भाषाओ का प्रयोग नही होता है, यह केवल हिन्दी का ही वैचित्र्य था। इस बात की ओर द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य-समाज का ध्यान कई

---

१. देखिये 'रसज्ञ-रजन' पृष्ठ ५८।

र आकृष्ट किया।[1] द्विवेदी जी को अपने इस आन्दोलन मे पूर्ण सफलता मिली। ताब्दियो से काव्य के लिए गृहीत ब्रज-भाषा को कुछ ही वर्षों मे अपदस्थ कर या गया।

यह युग की आकाक्षा थी और द्विवेदी जी थे इसकी पूर्ति के माध्यम। युग चेतना को पहचानना ही आलोचक की योग्यता है। द्विवेदी जी की सफलता कुजी यही है, अन्यथा रत्नाकर जी-जैसे प्रतिभाशाली कवियो की मधुर, रमार्जित और भाव सौन्दर्य-समन्वित ब्रजभाषा के समक्ष नीरस, कठोर और ल कथा-प्रभाव को लेकर चलने वाली खडी बोली के स्वागत की कल्पना नही की जा सकती थी। इसमे कोई संन्देह नही कि द्विवेदी जी ने अपने सामयिको के सहयोग से खडी बोली को काव्य की भाषा बना देने का आन्दोलन स समय प्रारम्भ किया था उस समय खडी बोली मे काव्योपयोगी गुणो का अभाव था। ब्रजभाषा-जैसी मधुरता और कोमलता तो उसमे थी ही नही। जीवन के भिन्न स्वरूपो के चित्रण के उपयुक्त शब्द-कोष का भी अभाव ही था। ऐसी अवस्था मे ा-जैसी भाषा को चुनौती देना एक आश्चर्य की ही बात थी। पर युग की परिवर्तन-ल आकाक्षा के सम्मुख ब्रजभाषा न ठहर सकी। प० नन्ददुलारे वाजपेयी का यह थन बिलकुल समीचीन है "रत्नाकर की मधुर बीन के सामने द्विवेदी जी के समय कवियो का शखनाद कर्कश अवश्य था, किन्तु स्वागत उसीका किया गया। नया वन-प्रवाह उसी मे पाया गया। ब्रजभाषा मँजकर कोमल, मधुर और शृङ्गार-ान भावो के उपयुक्त हो गई थी, पर उसमे जीवन की गम्भीरता, कटुता और द्धिकता के उपयुक्त कठोरता और प्रौढता नही आ पाई थी। उसमे प्रौढ विचारो अभिव्यक्त करने की क्षमता का अभाव था। यही कारण है कि इतनी शताब्दियो भी उसका गद्य अविकसित ही रहा और जीवन की नवीन बौद्धिक आवश्यकताओ लिए खडी बोली को अपनाना पडा।"

---

१ **गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य मे एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो, उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।** —'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ ७।

.. ..

बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। जो लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य-साहित्य की सेवा करते हैं उनके पद्य मे ब्रजभाषा का आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। —'रसज्ञ-रजन', पृष्ठ ८।

द्विवेदी जी की भाषा-सम्बन्धी यह विचार-धारा साहित्य-विकास के प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। भाषा का विकास इन्हीं नियमों पर होता है। जब एक भाषा जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है, उसके साहित्य मे भी जब एक कृत्रिमता आ जाती है, तब स्वभावत ही वह अपदस्थ होने लगती है और उसका स्थान जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा ले लेती है। जिस भाषा मे जीवन की यथार्थता नही रह जाती, वह सकुचित होकर मरने लगती है। ब्रज-साहित्य ने आधुनिक युग की भावनाओं से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, इसलिए ब्रज प्राचीन युग की भाषा बनकर धीरे-धीरे साहित्य-क्षेत्र से लुप्तप्राय-सी हो गई है। द्विवेदी जी के इन विचारो का प्रत्येक देश का इतिहास समर्थन कर रहा था। भारत मे प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं का विभिन्न समयों मे साहित्य की मान्य भाषा होकर लुप्त हो जाने का इतिहास द्विवेदी जी की शख-ध्वनि मे स्वर मिला रहा है। इनके खडहर प्रत्येक भाषा को सचेत कर रहे है। जो इनके मूक सन्देश से शिक्षा ग्रहण करके समय के अनुरूप विकास नही कर पाती उनकी भी यही गति होती है। ब्रजभाषा ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया था।

द्विवेदी जी के समालोचना-क्षेत्र का दूसरा आन्दोलन था—काव्य के वर्ण्य विषयो मे आमूल परिवर्तन। कवियो का क्षेत्र नायिका-भेद, हाव-भाव, रसकेलि, अभिसार आदि तक ही सीमित है, ऐसा द्विवेदी जी नही मानते है। इन विषयो पर पर्याप्त रचना हो चुकी थी, इसलिये इन विषयो को छोडकर जीवन के अन्य क्षेत्रो की ओर वे कवि-समाज का ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे।[1] काव्य के नवीन वर्ण्य विषय को अपनाना युग-धर्म था। इसलिये प्राय प्रत्येक कलाकार और आलोचक का इसी ओर झुकाव हो गया था। लेकिन द्विवेदी जी तो इस आन्दोलन के प्रमुख नेताओं मे से थे। द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन-काल के प्रथम वर्षो मे हिन्दी-साहित्य की दुर्दशा पर कुछ व्यग-चित्र प्रकाशित किये थे। इन चित्रो से साहित्य-क्षेत्र मे एक क्राति-सी आ गई और प्राचीन ढग के आलोचक और कवि क्षुब्ध हो उठे थे। बाद मे इस व्यापक क्षोभ और विरोध

१ **यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत-अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परिकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के "गतागत" की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, अनन्त आकाश अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है।'' फिर क्या कारण है कि इन विषयो को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता समझते हैं।**

—'रसज्ञ-रजन' पृष्ठ ११।

के कारण उन्हे व्यग-चित्रावली बन्द भी करनी पडी। द्विवेदी जी इसे उपादेय समझते थे। वस्तुत इसने साहित्य मे खलबली मचा दी थी। समस्या-पूर्ति करने वाले नायिका-भेद, अलकार आदि पर लिखने वाले कवियो का द्विवेदी जी ने घोर विरोध किया। द्विवेदी जी के प्रयत्न से ही मुक्तको का स्थान प्रबन्ध-काव्य ने ले लिया। प्राय शताब्दियो से अवरुद्ध प्रबन्ध की धारा फिर से प्रवाहित हो उठी। काव्य के सर्वतोमुखी विकास के लिये रीतिकालीन काव्य-धारा का विरोध आवश्यक था। उसकी भाषा-शैली, वर्ण्य-विषय आदि सभी वस्तुओ को काव्य-क्षेत्र से निकाल कर फेक देने की आवश्यकता थी और यही कार्य द्विवेदी जी ने किया था। रत्नाकरजी-जैसे मध्यकालीन प्रवृत्तियो और शैली मे सृजन करने वाले व्यक्तियो पर भी इस क्रान्ति का पर्याप्त प्रभाव पडा था। उन्होने भक्तिकालीन वर्ण्य विषयो को ही अपना क्षेत्र बनाया। उन्होने अपनी भाषा को भी रीतिकालीन कृत्रिमता से मुक्त कर दिया था। उसमे लाक्षणिकता, वैचित्र्य, चमत्कार-प्रियता आदि तो रहे, पर भक्तिकालीन सरसता और भाव-व्यजकता ने उन सबमे स्वाभाविकता ला दी थी[1]। कहने का तात्पर्य यह है कि इस आन्दोलन का कवि, पाठक और आलोचक, सभी पर व्यापक प्रभाव पडा है। यही कारण है कि इस युग को "पुनरुत्थान काल" कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी ने रीतिकालीन सोरठा, कवित्त आदि कतिपय छन्दो के स्थान पर कई अन्य छन्दो के प्रयोग की प्रेरणा दी। उन्होने सस्कृत और उर्दू के वृत्तो के प्रयोग का तो जोरदार शब्दो मे समर्थन किया।[1] द्विवेदी जी ने अतुकान्त छन्दो मे कविता करने के लिए तो एक आन्दोलन को ही जन्म दे दिया था। इसके फलस्वरूप हिन्दी-कविता अपने सीमित क्षेत्र मे निकलकर उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण मे आ गई थी। प्रबन्ध, मुक्त, और गीति-काव्य के सर्वांगीण विकास के लिए इस बात की बहुत अधिक आवश्यकता थी। द्विवेदी जी अपने काव्य-सम्बन्धी विचारो मे पूर्णत स्वच्छदतावादी थे। वे प्रतिभा को नियमो मे जकड देने के विरोधी थे।[2] आधुनिक काल मे जो स्वच्छन्दतावादी धारा आई, उसके प्रारम्भिक विकास के स्पष्ट लक्षण द्विवेदी जी मे मिलते है। कविता और पद्य के अभिन्न सम्बन्ध की बद्धमूल धारणा को द्विवेदी जी ने उखाडकर फेक दिया था। उनके द्वारा गद्य-काव्य को भी काव्य माने जाने की स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार साहित्य का क्षेत्र कतिपय गीतो तक ही सीमित नही रहा। प्रत्युत उसमे अनेक विधाओ की सम्भावना स्वीकार कर ली गई। उन्होने गद्य-काव्य के कवित्व को मुक्त-कण्ठ से उद्घोषित कर दिया। इस गद्य-पद्य के कृत्रिम

---

१ **देखिए 'रसज्ञ-रजन' पृष्ठ ३-५।**

२ **देखिए 'समालोचना-समुच्चय' में "हिंदी-नवरत्न" नामक निबन्ध।**

भेद के लुप्त हो जाने पर उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि को भी स्वीकृति प्राप्त हो गई थी। आज तो विधाओं का कोई महत्व ही नहीं रहा, कवि-प्रतिभा उनमें बँधकर नहीं चल सकती। द्विवेदी जी ने भी कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता स्वीकार की है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे कवि को देश-काल के प्रभाव से भी सर्वथा मुक्त समझते थे। देश-काल का महत्व स्वीकार करते हुए उन्होंने प्रत्येक काल के कवि के लिए आलोचना के भिन्न-भिन्न मान-दण्डों को स्वीकार किया है। देव, मतिराम आदि का सामयिक महत्व ही है, इसलिये उनकी आलोचना करते समय तत्कालीन परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक है। लेकिन तुलसीदास जी का चिरतन महत्व भी द्विवेदी जी को स्वीकृत है।

द्विवेदी जी युग-प्रवर्तक थे। वे इस नवीन युग के आदि पुरुष हुए हैं, इसलिए वे सब क्षेत्रों में नवीनता के समर्थक थे। वाजपेयी जी द्विवेदी जी के बारे में लिखते हैं "द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मूलतः सुधारक और प्रवर्तक व्यक्तित्व है। उन्होंने समस्त प्राचीन को ताक पर रखकर नवीन अभ्यास और नए अनुभवों का रास्ता पकड़ा। हिन्दी की किसी भी प्राचीन परम्परा के वे कायल न थे। संस्कृत से उनका प्रेम अवश्य था, पर वह भी उतना ही, जितना नवीन हिन्दी को स्वरूप देने के लिये आवश्यक था। इसीलिए द्विवेदी जी की शैली में सम्पूर्णतः नवीनता के दर्शन होते हैं।[1] इस प्रकार द्विवेदी जी को आधुनिक स्वच्छन्दतावादी युग के आदि-प्रवर्तक मानने के पर्याप्त कारण हैं।

ऊपर द्विवेदी जी की समीक्षा सम्बन्धी धारणाओं और मानों का विवेचन हुआ। उनकी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक समालोचनाओं की कतिपय विशेषताओं का भी उल्लेख हो गया है। समष्टि रूप में इन आलोचनाओं का स्वरूप केवल परिचयात्मक या वर्णनात्मक ही है। उनमें गूढ़ चिन्तन का नितान्त अभाव है। यद्यपि द्विवेदी जी की आलोचना-सम्बन्धी धारणाएं अत्यन्त प्रौढ़, समीचीन और समयानुकूल थीं, उनमें विकास के बीज भी सन्निहित हैं, पर द्विवेदी जी उनका व्यावहारिक प्रयोग उतनी ही सफलता से नहीं कर सके हैं। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उनका उद्देश्य साहित्य-निर्माण की ओर ही अधिक रहा है। इसलिये उन्होंने अपना ध्यान भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों को ठीक करने में ही अधिक लगाया। उन्होंने मिश्रबन्धु-कृत 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना करते हुए उन दृष्टियों का उल्लेख किया है कि जिनसे तुलसी की समालोचना हो सकती थी।[2] वे तो प्रौढ़ समालोचना-शैली की विशेषताएं हैं, पर उन दृष्टियों का उपयोग तो लेखक ने अन्यत्र कहीं भी

---

१. **हिन्दी साहित्य बीसवीं सदी'**, भूमिका पृष्ठ ६।

२ **तुलसीदास की विशेषता, तुलसीदास की उपमाएं, तुलसीदास का चरित्र-चित्रण,**

नही किया है। उसी लेख मे तुलसी का समर्थन करते हुए इस प्रौढ शैली की आलोचना का तात्पर्य उस काल तक भी केवल दोष-दर्शन मे ही अधिक रहा प्रतीत होता है, इसलिए 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना मे लेखक ने ग्रन्थ के गुणो का बहुत सूक्ष्म रूप से सकेत किया है। 'अकबर के राजत्व-काल मे हिन्दी' नामक निबन्ध मे लेखक ने साहित्य-विकास के कारणो पर विचार किया है। उसकी आलोचना करते हुये द्विवेदी जी ने कवि और काल के सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया। वे सूर और तुलसी की उस काल मे उत्पत्ति एक आकस्मिक घटना मानते हैं। स्वय द्विवेदी जी काल और कवि का सम्बन्ध मानते थे, पर यहा पर उन्होने अस्वीकार कर दिया। वस्तुत इस काल मे आलोचना का एक आवेश होता था और उसमे कभी-कभी सत्य वस्तु का ध्यान भी नही रह पाता था। प्राय आलोचना-प्रत्यालोचना मे तो इस आवेश के दर्शन हो ही जाते थे। प्रत्यालोचना की शैली भी आलोच्य वस्तु की-सी होती थी। 'कालिदास की निरकुशता' की प्रत्यालोचना करते हुए मनसाराम ने यही किया है। स्वय द्विवेदी जी भी ऐसा कर सकते थे। इस काल की आलोचना मे व्यग, वैयक्तिक आक्षेपो का अभाव नही। यह तो एक प्रकार से काल की शैली का एक तत्व ही प्रतीत होता है। आलोचक से न्यायाधीश की तुलना तो द्विवेदी जी ने कर दी, पर उसका सर्वत्र निर्वाह नही है।

सामयिक प्रचलित शैली के कारण कुछ साधारण कमिया उपेक्षणीय है। द्विवेदी जी ने इस क्षेत्र मे महान् कार्य किया है। उनकी आलोचना-सम्बन्धी धारणाये इस युग की प्रतिनिधि हैं। प्रयोगात्मक आलोचनाओ की अपेक्षा उनके द्वारा किए गये साहित्यिक आन्दोलन अधिक महत्वपूर्ण है। इन आन्दोलनो का युगान्तरकारी प्रभाव पडा है। सारा आधुनिक साहित्य इन्ही का परिणाम है। साहित्य पर इतना प्रभाव अन्य किसी का नही पडा। द्विवेदी जी के आलोचक का यही सबसे महत्वपूर्ण अश है, जिसकी समता हिन्दी का अन्य कोई आलोचक नही कर पाता। अग्रदूत होने के कारण उनका महत्व अधिक है। उन्होने 'सरस्वती' द्वारा आलोचना का विस्तृत क्षेत्र तैयार कर दिया : तत्कालीन आलोचनाओ मे तुलनात्मक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, स्वच्छन्दतावादी कतिपय विभिन्न आलोचनाओ के बीज निहित है, जिनका काल-क्रम से बाद मे विकास हुआ है। द्विवेदी जी का महत्व तो स्वरचित साहित्य के लिए ही नही अपितु अपने काल के सारे साहित्य के लिए है। इस सारे साहित्य मे द्विवेदी जी की मूल प्रेरणा ही कार्य कर रही है। काव्य-क्षेत्र मे तो द्विवेदी जी ने इतिवृत्तात्मक

तुलसीदास के प्राकृतिक दृश्य, तुलसी की राजनीति, तुलसीदास की साधारण रीति, तुलसीदास की वर्णित देश-भक्ति, पितृ-भक्ति और पति-भक्ति आदि पर लिखने की बहुत सामग्री है।

नाम से एक नवीन काव्य-शैली को ही जन्म दे दिया था, पर आलोचना मे उन्होने सुरुचि के द्वारा आदर्शवादी, एवं नीतिवादी प्रवृत्ति की जड जमा दी, जो शुक्ल जी तक तो स्पष्ट विकसित होती रही और परवर्त्ती काल के लेखक और आलोचक भी उसको आसानी से उखाडकर फेक नही सके है। आलोचक कलात्मकता के महत्व को स्वीकार करता हुआ भी इस नीतिवाद की नितात अवहेलना नही कर सकता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इस प्रवृत्ति मे चिरन्तन तत्व है, अथवा कम-से-कम इस युग की तो मान्य धारणा है ही। यही कारण है कि बख्शी जी द्विवेदी जी का महत्व उसके काल के सारे साहित्य के कारण समझते है। वे कहते है—"यदि कोई मुझ से पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मै उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्ही की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते है जिनकी रचना पर ही महत्ता निर्भर है। कुछ ऐसे होते है, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओ मे कही अधिक महत्वपूर्ण है। द्विवेदी जी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओ से कही अधिक महत्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पडा है। मेघ की तरह उन्होने विश्व से ज्ञान-राशि सचित करके और उसकी वर्षा करके समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्तमान साहित्य उन्ही की साधना का सुफल है।"

द्विवेदी-युग का आदर्श बतलाते हुए वाजपेयी जी लिखते है "द्विवेदी जी और उनके अनुयायियो का आदर्श, यदि सक्षेप मे कहा जाय तो समाज मे एक सात्विक भाव की ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृङ्गार के विलास-वैभव का निषेध, ये सब द्विवेदी-युग के आदर्श है।"

भारतेन्दु-काल से ही हिन्दी मे पत्र-पत्रिकाओ द्वारा समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि प्रारम्भ हो गई थी। आज भी पत्र-पत्रिकाओ द्वारा हिन्दी की यह सेवा हो रही है। भारतेन्दु और द्विवेदी-काल की सन्धि मे भी ऐसी पत्रिकाये थी, जिनका प्रधान कार्य-क्षेत्र समालोचना ही था। जैसे 'समालोचक', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'साहित्य-समालोचक' आदि। हिन्दी पर अङ्गरेजी बगला, मराठी आदि साहित्यो का प्रभाव भी पड रहा था। हिन्दी इतनी तीव्र गति से उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही है कि उसमे काल-क्रम का निरूपण प्राय असम्भव सा हो गया है। द्विवेदी जी के समसामयिक कतिपय लेखक थे जिनकी आलोचना मे कुछ गम्भीरता के दर्शन प्रारम्भ हो चुके थे। द्विवेदी जी की आलोचना मे जहा परिचयात्मकता ही अधिक है, वहा पर उन कतिपय आलोचको की शैली विश्लेषणात्मक होती जा रही थी। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व मे इतना विकास नही हुआ, पर इस काल मे अन्य बहुत से लेखक इस क्षेत्र मे पर्याप्त आगे बढ चुके थे। बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी द्विवेदी के समसामयिक है, पर इनकी आलोचना विश्लेषण-पथ को लेकर काफी आगे बढ गई।

विकास की दृष्टि से दोनों समालोचनायें एक अवस्था की नहीं कही जा सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि विकासशील और प्रगतिमय साहित्य में एक ही समय में साहित्य-विधाओं के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के दर्शन होते हैं। इसका कारण केवल प्रतिभाओं की अनेकता है। यही कारण है कि 'सरस्वती' में जब पुस्तक-परिचय के स्तर की अनेक आलोचनायें प्रकाशित होती रहीं, उसी समय 'नागरी प्रचारिणी' ने ऐतिहासिक शोध का कार्य अपने हाथ में लिया था। उसमें कई प्रकार की आलोचनायें प्रकाशित होती रहीं। द्विवेदी जी के कई आलोचनात्मक निबन्ध भी उसी में प्रकाशित होते थे। बाबू राधाकृष्ण, श्यामसुन्दरदास, ग्रीव्स आदि भी अपना अनुसंधान-कार्य उसी पत्रिका द्वारा कर रहे थे। 'सरस्वती' में भी सूर्यनारायण दीक्षित ने शेक्सपियर आदि पर जो कुछ लिखा है, अङ्गरेजी प्रभाव से उसमें पर्याप्त गम्भीरता है। चारित्रिक विश्लेषण, काव्य-सौन्दर्य आदि का अध्ययन विश्लेषणात्मक और प्रौढ़ है। हिन्दी-कालिदास की प्रत्यालोचना में जिन विद्वानों ने लिखा है उनमें से कुछ विवेचन बहुत कुछ संयत, तर्कपूर्ण और गम्भीर भी है। 'गुलेरीजी' ने मिश्रबन्धु और द्विवेदी जी दोनों की ही आलोचना की है, पर शैली की दृष्टि से यह नितान्त भिन्न है। इसमें वैयक्तिक आक्षेप व्यंग्य और सारहीन तर्कों का आश्रय नहीं लिया गया, जैसा कि उपर्युक्त दोनों आलोचकों की आलोचनाओं में मिलता है। गुलेरीजी के पास अपने मत के प्रतिपादन के लिए गम्भीर तर्क और प्रौढ़ शैली है। उनमें अपने ही मत को ठीक मानने का दुराग्रह भी नहीं है। स्वतन्त्र चिन्तन का वे सदा ही स्वागत करते हुए प्रतीत होते हैं। काल-क्रम से यह आलोचना द्विवेदी जी की आलोचनाओं की अपेक्षा बहुत ही आधुनिक है। इसके अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में जो समालोचनाएं प्रकाशित होती रहीं, वे पूर्णतः भिन्न दिशा में प्रगति कर रही थीं। उनका प्रधान उद्देश्य तो ऐतिहासिक अनुसंधान था। कवि की काल तथा जन्म-संबंधी घटनाओं का निर्णय करना ही उनकी समालोचनाओं की प्रधान विशेषता थी। पर काव्य-सौन्दर्य और कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण भी पर्याप्त प्रौढ़ है। आलोचना के इस स्वरूप का विकास, जिसके कुछ चिह्न, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की प्रारम्भिक प्रतियों में भी मिल जाते हैं, शुक्ल जी के समय में ही हुआ और इसका बहुत-कुछ श्रेय भी शुक्ल जी को ही है। अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर जीवन-चरित-सम्बन्धी ऐतिहासिक अनुसन्धान, तो इन सभी निबन्धों की सामान्य विशेषता है।[1] लेकिन कवि के व्यक्तित्व, जीवन और दर्शन का दृष्टिकोण, काव्य में नाटकीयता आदि तत्वों पर भी कतिपय लेखकों ने उसी समय विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। ये तत्व परवर्ती काल में ही अधिक विकसित हुए। इस शताब्दी के

१ देखिए 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' १८९८ ई०, श्री नागरीदासजी का जीवन-चरित्र।

प्रथम दशक तक तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो इनका केवल आकस्मिक संकेत-मात्र है, पर बाद में धीरे-धीरे ये तत्व आलोचना के मानो का स्वरूप धारण कर गए थे। इस समीचीन शैली के ठीक दर्शन तो शुक्लजी में ही होते हैं।

द्विवेदी जी ने गुण दोष-विवेचन की परिचयात्मक शैली को अपनाया था, जिसमें वे तर्क के साथ कभी-कभी कटाक्ष और व्यंग्य भी करते थे। व्यंग्य और कटाक्ष उस काल की प्रमुख विशेषता रही है। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे यह प्राय सभी मे मिलती है। द्विवेदी जी ने भी 'भाषा और व्याकरण' वाले लेख की प्रत्यालोचना मे इसका पर्याप्त प्रयोग किया है। ऐसी कटाक्षपूर्ण शैली मे दोष-दर्शन कराने वाली आलोचनाओ मे प्रौढता का अभाव है, इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। पर द्विवेदी जी की आलोचना विकासशील रही है। 'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना मे अनेक स्थानों पर उनकी प्रौढ, गम्भीर और तर्कपूर्ण शैली के भी दर्शन हो जाते है। यह साधारण परिचयात्मक कोटि की आलोचना नही है, अपितु कुछ विश्लेषणात्मक हो गई है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हिन्दी साहित्य का विकास अब परिचयात्मक आलोचनओ से प्रौढ विश्लेणनात्मक शैली को और बढा रहा था और द्विवेदी जी यहा पर सन्धि की कडी-सी प्रतीत होते हैं। तुलसीदास और मतिराम को एक कोटि मे रख देने के कारण द्विवेदी जी का भारतीय सस्कृति और मानव के उच्च आदर्शों का प्रेम यह आघात प्राप्त करके जाग गया था। इसने उनको गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने के लिए बाध्य कर दिया था और यही कारण है कि वे इस आलोचना मे इतने गम्भीर हो गए है। यह निबन्ध उनके विकासमान व्यक्तित्व का परिचायक है। इसमे उनके प्रौढ आलोचनात्मक दृष्टिकोण का व्यावहारिक उपयोग हुआ है, पर यह प्रत्यालोचना-मात्र है। इसीलिए उन्हे स्वतन्त्रतापूर्वक आलोच्य कवियो की विशेषताओ के निर्देश का अवसर नही मिल पाया। यहा भी उनका ध्यान भाषा-सम्बन्धी आलोचना अथवा पुस्तक और लेखक के बाह्य आकार प्रकार की प्रशसा पर ही अधिक रहा। इससे उनके सामान्य आलोचक स्वरूप मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। आलोचना मे जो अभाव खटकता रहा, उसकी पूर्णत. पूर्ति नही होती।

'हिन्दी कालीदास की आलोचना' हिन्दी मे आलोचना-साहित्य की प्रथम पुस्तक मानी जाती है।[1] पर इसका तात्पर्य यह नही है कि इससे पूर्व कवियो और ग्रन्थो की काव्य-सम्बन्धी विशेषताओ का आलोचनात्मक अध्ययन हुआ ही नहीं था। ग्रियर्सन की आलोचना पर हम पहले विचार कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त रासो की प्रामाणिकता पर मोहनलाल विष्णुलाल पड्या आदि पहले ही लिख चुके थे। ये सन् १८८६ और १८८७ में ग्रन्थाकार भी प्रकाशित हुए। इनके पूर्व भी कुछ

१. देखिए शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ५८३।

आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे।[1] द्विवेदी जी का उपर्युक्त ग्रन्थ सन् १९०१ मे लिखा गया था। पर कवि पर अपेक्षाकृत सर्वाङ्गीण विचार करने वाली प्रथम पुस्तक के रूप मे यह हमेशा मान्य रहेगी।

वैयक्तिक कटु आक्षेपो की आलोचनाओ के कारण इस काल मे आलोचना की गति अवरुद्ध रही। पर उसमे विकास की शक्तिया अन्तर्हित थी। यह द्विवेदी जी के साहित्य-आन्दोलनो से अत्यन्त स्पष्ट है। सुरुचि, भाषा, कवि-स्वातन्त्र्य तथा नवीन वर्ण्य-विषयो और शैली को अपनाने के आन्दोलनो के अन्तस्तल मे आलोचनात्मक चेतना ही प्रवाहित हो रही थी। इस आन्दोलन मे तत्कालीन सभी आलोचको ने सहयोग दिया है। इसमे उस काल की समालोचना की गति-विधि समालोचक की प्रवृत्तियो तथा सत्समालोचक के गुणो पर गम्भीर विचारात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। उन लेखो मे साहित्य की जघन्य, निन्दित, सारहीन और अहितकारी पुस्तको तथा लेखो के कूडे-कर्कट को दूर करने के लिये समालोचना की आवश्यकता पर विचार हुआ है। साहित्य की प्रगति और समस्याओ पर विचार होता था। ब्रजभाषा और खडी बोली का पारस्परिक विवाद पद्य की भाषा, उपन्यास और नाटक के विकास आदि सामयिक प्रश्नो पर लेख होते थे। सत्साहित्य के प्रचार के लिये समालोचना का तटस्थ, निष्पक्ष और सुरुचिपूर्ण होना नितान्त आवश्यक था। इसके लिये समालोचको की कुछ सभाए स्थापित हुई थी। इस समिति मे द्विवेदी जी और प्रेमघन जी आदि भी थे। 'समालोचक' मे ऐसी कई-एक समितियो का उल्लेख है। आरा मे भी ऐसी एक समिति थी। इन समितियो की आलोचनाए वैयक्तिक राग-द्वेष से शून्य होती थी, पर ये शास्त्रीय जडता से आक्रान्त भी रहती थी। आलोचना का एक बँधा हुआ ढाँचा था, उसमे सब कृतियो को ढालने का प्रयत्न होता था। इसमे प्रसादादि गुण, अनुबन्ध चतुष्टय आदि का ही निर्देश होता था। सुरुचि तो इस काल की आलोचना की आधार-भित्ति थी ही, इस पत्र ने ऐयारी उपन्यासो का इसीलिये तीव्र विरोध किया है। सारे साहित्य का जातीय जीवन से दृढ सम्बन्ध स्थापित करने का आन्दोलन भी इस पत्र का प्रधान उद्देश्य रहा है। इसीलिये इसमे जीवन की नैतिक उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य पर विचार होता था। वैयक्तिक राग-द्वेष की भावना के साहित्य-क्षेत्र से निष्कासन के अतिरिक्त इस पत्र ने अग्रेजी-समीक्षा-शास्त्र से बहुत-कुछ ग्रहण करके हिन्दी-समीक्षा के विकास मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। सैद्धान्तिक निरूपण मे भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा के तत्वो का विवेचन रहता था। काव्य-शास्त्र के विभिन्न अगो पर मौलिक ढग से चिन्तन करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पाश्चात्य साहित्य

---

१ डा० माताप्रसाद गुप्त—'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य', पृष्ठ ३४४।

के 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' के विवेचन का आभास है। 'एक पंडित के मत से काव्य का प्रधान उद्देश्य सौंदर्य की अवतारणा द्वारा चित्त-विनोदन है। लोक-शिक्षा और समाज में सुनीति-स्थापना इत्यादि भी काव्य का अभिप्रेत है, लेकिन यह गौण है। काव्य द्वारा मनोवृत्तियों की कोमलता सम्पादित होती है।'[1] इस कथन में पाश्चात्य प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। पर मौलिक रूप में चिन्तन करने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट है। इस लेख में "सौंदर्य" आदि काव्य-तत्वों की मौलिक चिन्तन से उद्भावना की गई है। इस प्रकार के सैद्धान्तिक विवेचन के गवेषणात्मक निबन्ध इस पत्र में प्रचुर मात्रा में रहे हैं। द्विवेदी जी के सैद्धान्तिक निरूपण में जो कवि-शिक्षा की प्रधानता थी, वह प्रवृत्ति तो कुछ कम-सी हो गई। धीरे-धीरे आलोचना विश्लेषणात्मक और तथ्य-निरूपणात्मक हो रही थी, पर इस काल में अन्तस्तल में कवि-शिक्षा की प्रेरणा अन्त तक स्पष्ट दृष्टि-गोचर होती थी। हिन्दी का सैद्धान्तिक निरूपण कवि-शिक्षा से तथ्य-निरूपण की ओर बढ़ा इन लेखों में इन दोनों का सम्मिश्रण है। पर विवेचन विकासोन्मुख है, यह भी स्पष्ट है।

---

१. 'समालोचक' सितम्बर सं० १९०२

: ६ :

मिश्रबन्धुओं की समीक्षा-पद्धति

विशुद्ध आलोचनात्मक दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्धो और पुस्तको मे अपेक्षित प्रौढता का अभाव है । वे प्रारम्भिक युग की साधारण परिचयात्मक रचनाएँ है, जिनका उद्देश्य विश्लेषण के द्वारा आलोच्य वस्तु का साहित्यिक सौन्दर्य अथवा वर्तमान जीवन के लिए उन रचनाओ के महत्व का प्रतिपादन करने की अपेक्षा उनका सामान्य परिचय-मात्र दे देना था । साहित्यिक सौन्दर्य का निर्देश भी उस काल का लेखक केवल जनता मे उस रचना के अध्ययन की रुचि जाग्रत करने के लिए ही करता था । दोषो की ओर अधिक ध्यान जाने का कारण भी केवल साहित्य को अपने विशुद्ध रूप मे विकास कर देने का अवसर प्रदान करना और यथा सभव प्रोत्साहन देना था । लेकिन द्विवेदीजी ने साहित्य-समालोचना की जिस शैली और जिन मापदडो को अपनाया था, उनमे स्थायित्व है । इसमे वे अपने युग का प्रतिनिधित्व करते है । वस्तुत द्विवेदीजी तो अपने काल की भावनाओ और विचारो का मूर्तिमान रूप थे । वे अपने काल के पथ-प्रदर्शक रहे । इसीलिए सुरुचि, जीवन की अनुभूति, उसकी यथार्थ एव गहराई, रस, अलकार आदि के मानदड तथा कवियो के जीवन-सम्बन्धी अनुसन्धान, तत्कालीन स्थिति पर विचार, तुलना, साहित्यिक सौन्दर्य पर साधारण-सा प्रकाश डालने वाली परिचयात्मक शैली—इन दोनो ही का तत्कालीन आलोचको ने स्वागत किया । यद्यपि धीरे-धीरे हिन्दी का आलोचक परिचय के सामान्य धरातल से उठकर गम्भीर और सूक्ष्म विश्लेषण के उच्च स्तर की ओर बढ रहा है। आलोचक अपने व्यक्तित्व को भी धीरे-धीरे निरपेक्ष और तटस्थ कर रहा है । वह एक तरफ पहले की अपेक्षा अधिक कुछ प्रभाववादी तो हो गया है, सभवत होता जा रहा है, पर वह अपनी अनुभूति, आनन्द और रचना का जीवनगत मूल्य जनता तक पहुँचाता है । पाठक को स्वच्छन्दता पूर्वक उस आनन्द का आस्वाद लेने और कवि की विचार-धारा का जीवन-सम्बन्धी महत्व आकने का पूर्ण अवसर प्रदान करता है, वह उसमे सहायक होता है । अपने निर्णय को

पाठक पर थोप नहीं देना चाहता है। यह सारा विकास क्रमश हुआ है और द्विवेदीजी इसके विकास की प्रथम कड़ी है। परवर्ती आलोचक उनकी सुरुचि आदि को लेकर बढ़ा है, उसमे परिमार्जन अवश्य करता गया है। इसी विकास की दूसरी अवस्था के प्रतिनिधि मिश्रबन्धु हैं। इनकी आलोचना मे साहित्यिक, सौन्दर्य कवि का जीवन-दर्शन आदि गम्भीर वस्तुओ का बहुत-कुछ प्रौढ विवेचन है। दोषो की अपेक्षा कवि के गुणो को देखने की प्रवृत्ति अधिक है। इस प्रकार इनका प्रयास स्पष्टत. ही द्विवेदी जी की अपेक्षा प्रौढतर है।

हिन्दी-साहित्य मे मिश्रबन्धुओ के नाम से रचना करने वाले व्यक्ति एक नही है, यह तो इस नाम से ही स्पष्ट है। पहले ये तीनो भाई—प० गणेशबिहारी, राय-बहादुर प० श्यामबिहारी और रायबहादुर प० शुकदेवबिहारी मिश्रबन्धुओ के नाम से साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए थे। इन तीनो द्वारा हिन्दी-साहित्य को 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक दो आलोचना-ग्रन्थ प्राप्त हुए। अपने काल मे ये ग्रन्थ अपने क्षेत्र के अद्वितीय थे। आज भी उस दृष्टि से इनका महत्व कम नही है। इन मिश्रबन्धुओ मे से ज्येष्ठ भ्राता के निधन के उपरान्त भी ये हिन्दी-क्षेत्र मे कार्य करते रहे। 'साहित्य-पारिजात' के लेखकद्वय मे तो प्रारम्भ के तीनो मे से केवल एक ही भाई रह गया है। पर मिश्र-बन्धु' का नाम इन प्रथम रचनाओ से इतना विख्यात हो गया था कि वे प्राय. अपनी सभी रचनाओ मे इसी नाम से हिन्दी-ससार मे प्रसिद्ध हो गए है। कुछ निरूपण-शैली मे एक विशेषता है, जो इन परिवर्तनो के उपरान्त भी अपने पिछले स्वरूप को बनाए हुए है। यद्यपि इनके विवेचन मे विकास हुआ है, पर फिर भी यह मानने का पर्याप्त कारण है कि 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' इनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण और पद्धति, दोनो का प्रतिनिधित्व करते है। मिश्रबन्धु द्विवेदीजी के समसामयिक है। द्विवेदीजी ने जिस परिचयात्मक और निर्णयात्मक आलोचना-शैली को जन्म दिया था, उसीका अनुसरण करके मिश्रबन्धुओ ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थो का निर्माण किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका अपने गवेषणात्मक लेखो द्वारा कवियो के जीवन का प्रामाणिक और ऐतिहासिक विवरण उपस्थित कर रही थी। यह निरूपण शैली की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ और बाह्य तथा अन्त दोनो साक्ष्यो पर अधिष्ठित थी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ने कतिपय लेखो द्वारा कवि के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण, दार्शनिकता, कला और भावगत सौन्दर्य आदि का निरूपण करने वाली प्रौढ शैली का भी सूत्रपात कर दिया था, इस प्रकार जब मिश्रबन्धुओ ने अपनी आलोचना प्रारम्भ की थी, उस समय दो स्पष्ट शैलिया प्रचलित थी। एक द्विवेदी जी की प्रमुखत दोषान्वेषिणी परिचयात्मक तथा दूसरी नागरी प्रचारिणी की ऐतिहासिक और साधारण विश्लेषणात्मक। मिश्र-बन्धुओ मे इन दोनो परम्पराओ

का स्पष्ट सम्मिश्रण मिलता है। प्रौढ और गम्भीर विश्लेषणात्मक शैली के विकास के उपयुक्त अवसर मे ऐतिहासिक दृष्टि से कतिपय वर्षों की देर थी। पर द्विवेदी जी की दोषान्वेषिणी प्रवृत्ति से भी हिन्दी के पाठक, कवि और आलोचक तीनो ही ऊब से गये थे। इस शैली के विकास मे हिन्दी आलोचना का स्वर्णिम भविष्य अन्धकारमय हो जाने की पूरी सम्भावना थी। 'समालोचक' के लेखो से यह स्पष्ट हो गया है। मिश्र-बन्धुओ ने द्विवेदी जी की आलोचना से तुलना, सुरुचि आदि की प्रवृत्ति तो ग्रहण कर ली थी, पर दोष-दर्शन को तो उन्होने प्राय समालोचना-क्षेत्र से मानो खदेड ही दिया। उसके स्थान पर उलटी प्रशसात्मक प्रणाली अपना ली गई थी। अगर यह दोष-दर्शन की प्रवृत्ति द्विवेदी-युग तक ही सीमित न रहती तो हिन्दी आलोचना के विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता। दूसरे मिश्र-बन्धुओ मे कवि की कला, भाव, भाषा और विचार-धारा पर कुछ तटस्थ और आलोचनात्मक दृष्टि डालने की प्रवृत्ति के भी दर्शन होने लगे। इनका द्विवेदी जी की आलोचना मे प्राय अभाव ही था। द्विवेदी जी ने साहित्य-समालोचना के मानदण्ड का निरूपण करने मे स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के प्राथमिक स्वरूप को अपनाया है, पर वे इनका व्यवहार मे निर्वाह नही कर सके। मिश्र-बन्धुओ की आलोचना के व्यावहारिक पक्ष मे भी कही-कही इस रूप के अस्पष्ट दर्शन हो जाते है, इसका विवेचन यथावसर आगे किया जायेगा। हिन्दी-समालोचना क्रमश प्रौढ, गम्भीर, विश्लेषणात्मक और स्वच्छन्दतावादी होती गई है और इसमे इनकी आलोचना विकास की दूसरी सीढी मानी जा सकती है।

मिश्र-बन्धुओ का दृष्टिकोण भी प्राय. गुण-दोष-निरूपण का ही रहा। उन्होने इसको आलोचना का विशेष गुण माना है। "फिर भी कवियो की योग्यतानुसार लेखो मे उनके गुण-दोष दिखलाने का यथासाध्य प्रयत्न किया गया है। वर्तमान समय के लेखको की रचनाओ पर समालोचना लिखने का कुछ भी प्रयत्न नही किया गया। उनके ग्रन्थो के नाम और मोटी रीति से दो एक अति प्रकट गुण–दोष लिखने पर ही हमने सन्तोष किया है।" इन शब्दो से उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। फिर भी उन्होने इस विवेचन का आधार केवल शास्त्रीय ही नही माना। काव्य की विशेषताओ का निरूपण प्रधानत· रस, अलकार, गुण, छन्द आदि परम्परागत शास्त्रीय मानदण्डो के आधार पर ही किया गया है। देव तथा अन्य बहुत से कवियो के छन्दो की विस्तृत आलोचना इसी आधार पर हुई है। पर उन्होने अपनी आलोचना के मानो का विवेचन करते हुए यह भी कह दिया है कि समालोचक को रस, ध्वनि, गुण, अलकार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातो का भी विचार करना पडता है। आलोचक शील एव 'भारी' वर्णनो के सम्मिलित प्रभाव की दृष्टि से भी आलोच्य वस्तु को देखता है।[1] 'हिन्दी-नवरत्न' के कवियो की आलोचना मे

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', भूमिका पृ० १३।

उन्होने इसी दृष्टिकोण से विचार किया है। उन्होने कवि के सदेश और उनकी अभिव्यक्ति के सौष्ठव को भी आलोचना का आधार माना है। इस प्रकार साहित्य समीक्षा के आधार काफी व्यापक हैं। मिश्र-बन्धुओ के पूर्व हिन्दी मे इतनी व्यापक दृष्टि से कवियो पर किसी ने विचार नही किया था।

इनकी आलोचना की सब से बडी विशेषता है—श्रेणी-विभाजन। 'हिन्दी-नवरत्न' का मूल आधार यही है। इस ग्रन्थ मे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियो पर इसी दृष्टि से आलोचना हुई है। इन कवियो को इस ग्रन्थ मे काल-क्रम से स्थान नही मिला है, पर काव्योत्कर्ष के आधार पर इन कवियो मे ऊच-नीच का भेद कर लिया गया है।"[1] लेखको मे बृहत्त्रयी और मध्यत्रयी और लघुत्रयी की कल्पना की है और प्रत्येक श्रेणी मे तीन-तीन कवियो को स्थान दिया गया है, जैसा कि इस नामो से ही स्पष्ट है। प्रथम मे सूर, तुलसी और देव, दूसरी मे बिहारी, भूषण और केशव तथा तीसरी मे मतिराम और हरिश्चन्द्र है। लेखको की दृष्टि से मध्यत्रयी और लघुत्रयी मे जिस क्रम मे कवियो के नाम दिये है, उसी क्रम से उन मे काव्योत्कर्ष और श्रेष्ठता भी है। पर बृहत्त्रयी के तीनो कवि समान ही है। ये तीनो काव्य के विभिन्न गुणो मे एक दूसरे से बढकर है, पर कुल मिलाकर इन तीनो मे कोई छोटा-बडा नही है, सब बराबर है। बृहत्त्रयी के कवियो मे भी श्रेणी और उत्कर्षापकर्ष निश्चित करने का प्रयत्न लेखको ने कई बार किया है, और इसमे हर बार उनका मत बराबर बदलता गया। पहले ये लोग देव को ही काव्य-गुणो की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मानते रहे, पर बाद मे उन्होने यह विचार छोड दिया। अन्त मे उनका विश्वास तुलसी सूर और देव को इसी क्रम से श्रेष्ठ मानने मे जागा।[2] इन्हे देव को तुलसी और सूर से उत्कृष्ट, कवि मानने मे हिचकिचाहट का अनुभव होने लगा।[3] बाद मे उन्होने स्पष्टत तुलसी को हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट कवि घोषित किया।[4]

कवियो के श्रेणी-विभाजन के कारणो का निर्देश हुआ है। मिश्रबन्धु स्वय इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके पूर्ववर्ती 'शिवसिह सरोज' आदि इतिहासकारों ने बिना किसी प्रकार के श्रेणी-विभाजन के ही कवियो की प्रशसा की है। इस प्रकार श्रेणी-सम्बन्धी यह प्रयास उनका अपना मौलिक है। कवि के गुण-दोषो के विषद विवेचन से बचने के लिये उन्होने ऐसा किया है। प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधि काव्य-गुणो का निर्देश कर देने के उपरान्त उन्होने उस श्रेणी के शेष कवियो के

१. 'हिन्दी नवरत्न', भूमिका पृ० ३४।
२. वही, भूमिका पृ० ३४।
३. वही पृष्ठ ३०५।
४. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २४६।

सम्बन्ध मे अधिक कहने की आवश्यकता नही समझी है। विशेष श्रेणी मे होने के कारण उन सब बातो का ग्रहण श्रेणी के प्रत्येक कवि के लिए हो जाता है। 'हिन्दी नवरत्न' के त्रयी निर्माण और उसमे कवियो को स्थान देने मे लेखको को बहुत ऊहापोह करनी पडी है। उन्हे समय-समय पर कई कवियो मे काव्योत्कर्ष प्रतीत होता जा रहा है। लेखको ने अपनी मानसिक ऊहापोह का निर्देश 'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका मे स्वय कर दिया है। पहले वे मतिराम को भूषण से अच्छा समझते रहे। बाद मे उनके इस मत मे परिवर्तन हो गया। भूषण और विहारी की तुलना करने पर उन्हे भूषण की बिहारी की अपेक्षा प्रौढता मे सन्देह होने लगा। फिर तो उनको बिहारी की श्रेष्ठता मे पूरा विश्वास हो गया। कुछ दिनो तक जायसी की कविता मे उन्हे सौदर्य प्रतीत होता रहा, पर बाद मे बहुत अधिक अनुशीलन करने के बाद उन्हे जायसी का कवित्व फीका प्रतीत होने लगा। उन्हे जायसी 'तोष' की श्रेणी के उपयुक्त प्रतीत हुए। इसके बाद तो कवियो की अन्तिम श्रणी 'हीन' ही आती है। सेनापति का काव्य-सौदर्य भी मतिराम की अपेक्षा हल्का प्रतीत हुआ। इसलिए उन्हे नवरत्नो मे स्थान नही दिया जा सका।[1] 'हिन्दी नवरत्न' मे जिन कवियो को स्थान नही दिया जा सका, उन कवियो को 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे कुछ श्रेणियो मे बाट दिया गया है। इनमे पहले दो मुख्य श्रेणी मान ली गई और फिर उनके अवातर भेदो का उल्लेख किया गया। कथा-प्रसग वाले कवियो को उन्होने लाल, छत्र और मधुसूदन नामक तीन श्रेणियो मे बाट दिया और कथा-प्रसग से सम्बन्ध न रखने वालो को १ सेनापति २. दास ३ पद्माकर ४ तोष ५. साधारण और ६. हीन। इस प्रकार मिश्रबन्धुओ ने अपने दोनो ग्रन्थो मे श्रेणी-विभाजन को ही मूल उद्देश्य समझा है। कवियो की सारी विशेषताओ का अनुशीलन कर लेने के बाद उस कवि को किसी श्रेणी मे रख देने मे ही इनकी आलोचना की पूर्णता प्रतीत होती है। जैसा कि कई स्थानो पर मिश्रबन्धुओ ने निर्देश किया है कि यह श्रेणी-विभाजन एक प्रकार का निर्वाचन अथवा परीक्षण-प्रणाली-सी है। दो कवियो के एक छन्द की उत्कृष्टता और हीनता पर लेखको ने विचार किया है और जिसके अधिक उत्कृष्ट छन्द हुए उसको ऊची श्रेणी मे स्थान मिल गया। उन्होने यह निर्देश किया है कि किस प्रकार छन्दो की तुलना और श्रेष्ठ छन्दो की गणना से उन्होने भूषण को मतिराम और केशव की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है।[2]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि श्रेणी-विभाजन का मूल तुलना ही है। इस प्रकार कवियो को विभिन्न श्रेणियो मे रख कर तुलनात्मक प्रणाली से उनका

---

१. वही, पृष्ठ ३३।

२. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ३२।

पारस्परिक अन्तर और श्रेष्ठता समझने मे ही इन आलोचको का तात्पर्य है। तुलना भी इनकी आलोचन-पद्धति की प्रधान विशेषताओ मे से एक है। इन्होने श्रेणी-विभाजन के लिए जो तुलना की है और उसके आधार पर जिस निर्णय पर पहुँचे है, वह तो उनके मन तक ही सीमित है। उस सारी प्रक्रिया का नही अपितु परिणाम का ही उल्लेख लेखको ने किया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका मे देव, बिहारी, तुलसी, के कतिपय छन्दो की विस्तृत आलोचना है। शास्त्रीय ढग की यह बहुत ही प्रौढ विशद एक विद्वत्तापूर्ण आलोचना है। पर तीनो कवियो की श्रेष्ठता और श्रेणी विभाजन मे उन गुणो का उल्लेख नही हुआ है जिनके कारण देव अथवा तुलसी को बिहारी और अन्य कवियो से ऊचा स्थान मिला हो। उन्होने केवल इतना ही निर्देश किया है कि हमने यह प्रणाली अपनाई है, पर इस प्रणाली के आधार पर यह निष्कर्ष कैसे निकल आया जिस पर मिश्रबन्धु पहुँचे है। इन सब बातो मे मिश्रबन्धु मौन है।[1] इसके अतिरिक्त भी इनकी आलोचना मे तुलना की प्रवृत्ति कई स्थानो पर स्पष्ट है। उन्होने हिन्दी के कवियो की अग्रेजी कवियो से, तथा हिन्दी साहित्य के विशेष काल की अग्रेजी के विशेष काल से तुलना की है। हिन्दी कविता के भक्ति-काल के लेखको ने अग्रेजी के रिनासा और रिफार्मेसन काल के कवियो से तुलना की है। रीति-काल को 'आगस्टन एज' कहा है। चन्द और चासर की एव शेक्सपीयर और तुलसी की तुलना हुई है। तुलसी और शेक्सपीयर की तुलना मे इन दोनो कवियो पर कई दृष्टियो से विचार हुआ है। यहा पर भी लेखक तुलसी को शेक्सपीयर से ऊँचा कहकर श्रेणी-विभाग के लोभ का सवरण नही कर सके है। "विटर्सटेल" के प्रेम की, सीता के प्रेम-वर्णन से, आयागो की धूर्त्तता की भानुप्रताप कथान्तर्गत कपटी मुनि से, कार्नीलिया के पितृ-प्रेम एव गानरिल और रोगन की चालाकी की क्रमश श्रीराम के पितृ-प्रेम और केकैयी की कुटिलता से तुलना हुई है। इस प्रकार के अनेक कई समानान्तर प्रसगो का उल्लेख दोनो कवियो की कृतियो से कर दिया गया है।[2] तुलसी द्वारा वर्णित प्रसगो को अधिक सुन्दर कह दिया गया है, पर कारणो का निर्देश नही है।

निसर्ग, मानवीय प्रकृति, भाव, रस आदि की दृष्टि से तुलसी और शेक्सपीयर की जो तुलनात्मक आलोचना कुछ पक्तियो मे हुई है, वह पर्याप्त गम्भीर है। इस प्रसग मे तुलनात्मक आलोचना के समीचीन स्वरूप के कुछ दर्शन होते

१. 'मिश्रबन्धु- विनोद', भूमिका पृष्ठ ३८-५५।
२. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ११४।

है।[1] इन पंक्तियों में भी इन दोनों कवियों में से एक को ऊँचा और दूसरे को हीन बनाने की प्रवृत्ति है। अलग-अलग दृष्टि से दोनों को ऊँचा कहा गया है। अगर उसका अभाव होता तो ये पंक्तियाँ तुलनात्मक आलोचना के अच्छे और सुन्दर उदाहरणों में गिनी जा सकती थीं। इनमें दोनों कवियों की मौलिक विशेषताओं का अच्छा निरूपण हुआ है। इन पंक्तियों में आलोचक की गम्भीरता और सूक्ष्म दृष्टि के स्पष्ट दर्शन होते हैं। शेक्सपीयर पर भी रसादि की दृष्टि से विचार हुआ है। आलोचक यह अवश्य भूल जाते हैं कि ये दोनों कलाकार दो भिन्न संस्कृतियों की देन हैं, इसलिए इनमें ऊँचे-नीचे का निरूपण करना अनधिकार और अनुपयुक्त चेष्टा-मात्र है। ऐसे कवियों की तुलना तो उनकी विशेषताओं का निर्देश करके उनके अन्तर को स्पष्ट कर देने-भर में है। मिश्र-बंधुओं द्वारा दी गई अन्य बहुत-सी तुलनाओं से यह अधिक गम्भीर, प्रौढ़ और तर्क-सम्मत कही जा सकती है। इनके आलोचनात्मक महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। केशव और मिल्टन की तथा पद्माकर और स्काट की पारस्परिक तुलना का कोई पुष्ट आधार ही नहीं है। मिल्टन को लैटिन अधिक प्रिय थी और केशव को संस्कृत, केवल इतनी-सी बात को तुलना का आधार मानना ठीक नहीं।[2] स्काट और पद्माकर एक ही समय में मरे थे, दोनों की भाषा उर्दू हुई है, इसलिए इनकी परस्पर तुलना हुई है।'

मिश्रबन्धुओं ने श्रेणी-विभाजन का आधार काव्योत्कर्ष माना है। इसमें लेखकों ने काव्यांगों की दृष्टि से विभिन्न कवियों के कतिपय छन्दों की तात्विक समीक्षा की है। रस, अलंकार आदि के निर्देश की परम्परा इस देश में अत्यन्त प्राचीन है। आज की टीकाओं और आलोचनाओं में इस पद्धति का थोड़ा-बहुत अनुसरण होता ही है। इन लेखकों ने इस पद्धति पर कतिपय छन्दों की बहुत विशद व्याख्या की है। यह व्याख्या टीकाओं की श्रेणी में तो नहीं रखी जा सकती, क्योंकि लेखकों का अभिप्राय छन्द के अर्थ-स्पष्टीकरण में नहीं अपितु काव्य-सौष्ठव के निर्देश में है। यह शास्त्रीय आलोचना का बहुत अच्छा उदाहरण है। द्विवेदी जी ने भी "मदेक पुत्रा जननी जरातुरा" आदि कतिपय छन्दों में काव्यांगों के निर्देश द्वारा उन छन्दों के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन किया है। पर वहाँ पर इन काव्यांगों का निरूपण तर्क और विवेचन-पूर्ण है। द्विवेदी जी ने छन्दों के अर्थ तथा प्रभाववादी आलोचना के द्वारा उनके सौन्दर्य की अनुभूति पाठक में जाग्रत की है। इसलिए वह विवेचन पूर्णतः शास्त्रीय नहीं है। पर मिश्रबन्धुओं की यह आलोचना विशुद्ध

१ 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ११७।

२. 'मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ १४०।

शास्त्रीय समीक्षा का प्रौढतर उदाहरण मानी जा सकती है। इसमे छन्द, रस, अलकार, नायक-नायिका, सचारी, हाव, भाव, अनुभाव, दोष आदि सभी दृष्टियो से समीक्षा हुई है। यह इस पद्धति की सर्वाङ्गीण आलोचना है। छन्द, भाव अलकार-सम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म गुण-दोषो और विशेषताओ पर लेखक का ध्यान गया है। इनका निरूपण भी अत्यन्त तर्क-सम्मत है।[1] ये मिश्रबन्धुओ द्वारा मान्य श्रेष्ठ काव्य के उदाहरण है। इन आलोचको ने इन छन्दो के उत्तम काव्यत्व के कारणो पर प्रकाश डाला है। ये छन्द समान नही, अपितु भिन्न कारणो से उत्तम कहे गए है। इस प्रकार की सर्वाङ्गीण आलोचना-पद्धति का अनुसरण इन आलोचको ने अपने दोनो आलोच्य ग्रन्थो मे सर्वत्र नही किया है। केवल बिहारी, देव और तुलसी के कतिपय छन्दो की आलोचना इस पद्धति पर हुई है। सर्वत्र इसका अनुसरण सभव नही था। काव्याग-निरूपण की यह पद्धति फुटकर छन्दो की समीक्षा के ही अधिक उपयुक्त है। इन्ही तत्वो के आधार पर कवियो के समष्टिगत काव्य-सौष्ठव का निर्देश भी होता है। शुक्ल जी तथा अन्य परवर्ती आलोचको ने अलकारादि के सम्बन्ध मे कवियो की सामान्य प्रवृत्तियो का विवेचन किया है। मिश्रबन्धुओ ने भी अपने 'हिन्दी नवरत्न' के कवियो के काव्य-सौष्ठव का विवेचन फुटकर छन्दो मे ही

---

१. यह रूप घनाक्षरी छन्द है, जिसमें ३२ वर्ण होते है और प्रथम यति सोलहवे वर्ण पर रहती है। 'एक चरन को बरन जहँ दुतिय चरन मे लीन। सो यति भग कवित्त है, करै न सुकवि प्रवीन'। यहाँ 'रिसानी' शब्द का 'रि' अक्षर प्रथम चरण मे है और 'सानो' दूसरे मे। इस हेतु छन्द मे यतिभग दूषण है। '...को जाने री बीर' मे कई गुरू वर्ण साथ-साथ एक स्थान पर आ गए हैं जिनमें जिह्वा को क्लेश होने से प्रबन्ध-योजना अच्छी नही है। यहाँ 'गुरु सोच' से गुरुजनो सम्बन्ध से रखने वाला शोक नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक तो शब्द गुरुजनो को प्रकट नहीं करते और दूसरे उनके सम्मुख गात्र-स्पर्श आदि बाह्य रीति-सम्बन्धिनी भी कोई क्रियाएँ नहीं हो सकतीं।...थोड़ा ही-सा गात छूने से क्रोध करने का भाव नायिका का मुग्धात्व प्रकट करता है।...यहां 'सुभाय' एव 'मुस्काय' शब्द जुगुप्सा को बचाते हैं, क्योंकि यदि नायक अप्रसन्न होकर उठता तो वीभत्स रस का सचार हो जाता, जो शृंगार-विरोधी है। निशि खोने एव प्रात पाने में रूढ़ि लक्षणा है। 'गोरी गोरी मुख आज औरों सो बिलानो जात' गौणी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा एव पूर्णोपमालंकार है। 'भरि भरि गोरो गोरो...' वीप्सित पद है। वीप्सा का अच्छा चमत्कार है। इस छन्द में पूर्ण शृंगार रस है। 'नेकु छुयो जात' में रति स्थाई भाव है।

काव्यांग-निर्देश करके नहीं किया है, अपितु इस सबन्ध मे उनकी सामान्य प्रवत्ति की ओर भी उनका ध्यान गया है। सयोग शृगार मे रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो के, तथा वियोग मे समासोक्ति के प्रयोग की अतिशयता पर इनका ध्यान गया है। पर कवियो के काव्य-सौष्ठव का गम्भीर, प्रौढ और तर्कपूर्ण विवेचन नही है। केवल साधारण निर्देश-मात्र है, जिसमे शास्त्रीय प्रमाणिकता की अपेक्षा वैयक्तिक रुचि का प्रधान्य है। अगर उन पुटकर छन्दो की आलोचना के समान गम्भीर, और सूक्ष्म विवेचन का निर्वाह सर्वत्र हो सकता तो मिश्रबन्धुओं की रचनाए शास्त्रीय पद्धति की प्रौढ आलोचना के उत्कृष्ट उदाहरण हो जाती। पर ऐसा हुआ नही। काव्यागो की दृष्टि से बिहारी, देव, मतिराम आदि रीतिकालीन कवियो की बहुत ही सुन्दर आलोचना हो सकती थी। रीतिकालीन कवियो के लिए यह शास्त्रीय मानदन्ड ही सबसे उपयुक्त है। मिश्रबन्धुओ ने प्रबन्ध शैली के लिए सस्कृत कवियो की अलकारिक शैली और तुलसीदास जी की मुख्य कथा कहने की सर्वांगीण शैली—ये दो प्रधान भेद माने है। इनमे से दूसरी उन्हे अधिक सुन्दर लगती है।[1] तुलसीदास जी ने प्रबन्ध-रचना मे विभिन्न छन्दो का प्रयोग नही किया है। इसलिए उनकी यह शैली अरुचिकर प्रतीत होती है। केशव ने विभिन्न छन्दो के उपयोग से शैली को अधिक हृदयस्पर्शी बना दिया है।[2] इस प्रकार के ये दोनो निर्णय केवल व्यक्तिगत रुचि के ही परिचायक है। इसमे काव्य की आत्मा 'रस' की भी स्पष्ट अवहेलना है। छन्दो की विभिन्नता के कारण पाठक का जी ऊबता नही, इस स्थूल और जड नियम को मानकर यह आलोचना हुई है। पद-पद पर छन्दो के बदलने से भी जी ऊब जाता है। न काव्य मे प्रवाह आ पाता है और न पाठक को रस धारा मे अवगाहन करने का ही अवसर मिलता है। एक वस्तु के रसास्वादन के पूर्व ही दूसरी सामने आ जाती है, इस प्रकार एक का भी आनन्द नही आता। ऐसे विचारो मे तर्क की प्रौढता का अभाव है।

संस्कृत और हिन्दी के रीति-ग्रन्थ हिन्दी जनता से कुछ दूर होते जाते है। भानु-कवि ने आधुनिक काल मे उसका पुनरुद्धार भी किया था। मिश्रबन्धुओ ने भी भाव रस, गुण, दोष अलकार, पिगल, गणागण, शब्द-शक्ति आदि काव्य-तत्वो का बहुत सक्षिप्त-सा परिचय 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका मे दिया है। यह विवेचन केवल नाम गणना की कोटि का ही है। स्थानाभाव से वे इसका सूक्ष्म निरूपण नही कर सके है।[3] उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे रस को ही काव्य की आत्मा मानने के

१ 'हिन्दी नवरत्न', ४०२, ४०३।

२. 'हिन्दी नवरत्न', ४०२।

३ देखिए 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ठ ५६ : ६५।

पक्ष मे हैं।[1] इस सम्बन्ध मे इन लेखको को अपनी कोई निश्चित धारणा बनाने की आवश्यकता नही प्रतीत हुई है। प्राचीन आचार्यों द्वारा व्यग को जीव माने जाने पर भी उन्हे कोई विशेष विरोध नही है। विहारी के दोहे की आलोचना मे उन्होने 'दोहे' की उत्तमता का आधार 'व्यग' ही माना है।[2] इसके पहले देव के छन्द की आलोचना मे वाचक की प्रधानता के कारण उसे उत्तम काव्य कह दिया है।[3] इस प्रकार उनकी आलोचना की कोई निश्चित धारणा नही प्रतीत होती है, विभिन्न स्थलो पर उन्होने विभिन्न तत्वो को जीव कहना उचित समझा है। काव्याग-निरूपण मे उन्होने आचार्यो के विभिन्न मतो का सहारा लिया है। वहा पर भी केवल उनकी व्यक्तिगत रुचि ही है, स्पष्ट मत नही। 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे काव्य की विभिन्न परिभाषाओ पर सक्षेप मे विचार हुआ है। इसमे मम्मट, पडितराज, विश्वनाथ, कुलपति, रत्नाकर, अम्बिकादत्त, देव आदि कतिपय आचार्यों के मतो का निरूपण हुआ है। इन लक्षणो का स्पष्टीकरण-मात्र है। मिश्रबन्धुओ को कौन-सा मान्य है, इनका उल्लेख नही। इसकी सम्भवत आवश्यकता भी नही थी।

सभवत मिश्रबन्धुओ ने गुण, अलकार, रस आदि के विवेचन मे रीति-ग्रन्थ का ही आश्रय अधिक लिया है और उन्ही के समानान्तर सस्कृत मतो के उद्धरण भी कही-कही दिए है। काव्यागो की परिभाषा मे उन्होने रीतिकालीन आचार्यो के मत ही अधिक उद्धृत किये है। 'साहित्य-पारिजात' मे अलकारो के उदाहरण तथा कही-कही काव्यागो के लक्षण भी रीतिकालीन आचार्यो से लिए गए है। यह ग्रन्थ प० शुकदेवबिहारी मिश्र (मिश्रबन्धुओ मे से एक) तथा प्रतापनारायण मिश्र का लिखा हुआ है। ये दोनो व्यक्ति एक ही परिवार के है और शैली भी वही मिश्रबन्धुओ वाली ही है, इसलिए इसका यहा पर निर्देश किया गया है। इसमे प्राचीन सम्प्रदायो की ओर भी सकेत है।

रमणीय शब्द की व्याख्या करते हुए लेखको ने उसका सम्बन्ध एक सामान्य अव्यक्ति से नही, अपितु विज्ञ पुरुषो से माना है। लोकोत्तरता की तरफ भी थोड़ा ओरुख है। इस लक्षण मे उन्होने कुछ दोष देखे है। इन दोषो का निर्देश सस्कृत के है। ार्य भी कर चुके थे। "शब्द" और वाक्य का भेद मानकर दोष देखा गया है अभिव-राज का "शब्द" और "वाक्य" के अन्तर मे तात्पर्य नही है। मिश्रबन्धु कहते पर मि०

देव और प मत में व्यग को जीव मानना सर्व सम्मत नहीं है। यदि वाक्य को देह कह
कवि अर्थ को मस्तिष्क और रस को जीव बतलाता तो उसके कथन
१. 'हिन्दी द सर्वसम्मति की मात्रा बढ़ जाती।
२. वही, ए 'मिश्रबन्धु विनोद' पृ० ४७। और सदर्भ स० ११ (यही अध्याय)
३ वही, 'श्रबन्धु विनोद', पृष्ठ १९३ : २००।

है कि इस परिभाषा से चित्र-काव्य अकाव्य हो जाता है। मिश्रबन्धुओ ने गद्य-पद्य दोनो को काव्य माना है। गद्य मे विचारो को (फीलिंग्स) भाव की अपेक्षा प्रधानता तथा पद्य मे प्राय दोनो ही समभाव होने का भी उल्लेख है। इस विवेचन मे विशेष स्पष्टता नही है। इस पर पाश्चात्य प्रभाव प्रतीत होता है। काव्य-सम्बन्धी इन विचारो का मूल ग्रन्थ की विचार-धारा से कोई विशेष सम्बन्ध भी नही है। केवल आनुषगिक ही प्रतीत होता है।[1] शैली और काव्य-सौष्ठव-सम्बन्धी आधुनिक गुणो का प्राचीन काव्यागो से सामजस्य स्थापित कर देने से आधुनिक हिन्दी-समालोचना-पद्धति को अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप मिलेगा। कुछ शैली-सम्बन्धी अनिश्चित अर्थ वाली पदावली के प्रयोग से समालोचना मे बहुत कुछ शिथिलता रह जाती है। आलोचना जब तक विचारो की निश्चित सरणी का आश्रय लेकर नही बढेगी तब तक उसका विकास-मार्ग बहुत-कुछ अवरुद्ध रहेगा। हिन्दी-आलोचना के भावी विकास के लिये पाश्चात्य और प्राचीन भारतीय शैली के भावी सामञ्जस्य की नितान्त आवश्यकता है। पर मिश्रबन्धुओ के समय तक हिन्दी-साहित्य का कलाकार और आलोचक चिन्तन की इस प्रौढता को नही प्राप्त कर पाया था कि उसका ध्यान सामजस्य की ओर जाता। उस समय तो वह प्राय. अन्धकार मे ही अपना मार्ग खोज रहा था। अनेक मार्गों को अपनाकर कही पहुँच जाने की प्रवृत्ति थी। कहा पहुँच जाना है, यह भी वह निश्चय नही कर पाया था। यही कारण है कि मिश्रबन्धु इस सामजस्य का बहुत ही अस्पष्ट निर्देश कर पाये है। यह विचार-धारा उनके समय तक शैशव मे ही थी।

'मिश्रबन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' मे आलोचना-पद्धति के आधुनिक स्वरूप के भी स्पष्ट दर्शन होते है। सदेश और उसकी सफल अभिव्यक्ति को तो इन लेखको ने आलोचना का प्रधान आधार माना है।[2] इसलिए उन्होने 'हिन्दी नवरत्न' मे समाविष्ट प्राय. सभी कवियो के सदेश का निर्देश किया है।[3] सूर, तुलसी, कबीर और भूषण के सदेश का अच्छा निरूपण है। भूषण की कविता मे लेखक ने जातीयत' और राष्ट्रीयता के दर्शन किए हैं।[4] कुछ कवियो की आलोचना मे लेखको ने तत्कालीन

१. 'मिश्रबन्धु विनोद', पृ० १९३-२००।

२. देखिए 'हिन्दी नवरत्न', पृ० २३ २४।

३ वही, पृष्ठ २३ : २६।

४ भूषण ने जातीयता का सदेश दिया···आपकी जातीयता मे भारतीयता क कम आता है, हिन्दूपन का विशेष। फिर भी यह कहना पड़ता है कि उस हिन्दूपन का ही सन्देश एक प्रकार से भारतीयता का सन्देश था, मुसलमान बहुत करके विदेशी थे। 'वही', पृष्ठ २५ भूमिका।

परिस्थितियों का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है और इस प्रकार कवि पर अपने समय के प्रभाव अथवा कवि के सुधारवादी रूप का भी विवेचन हो गया है। तुलसीदास जी के पूर्व तथा उनके समय तक भारत की धार्मिक और सामाजिक अवस्था तथा उन परिस्थितियों में तुलसी के धार्मिक मतभेदों को दूर करने के श्रेयस्कर कार्य का संक्षेप में विवेचन हुआ है। "कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के वैमनस्य को दूर करने के लिए एकेश्वरवाद का आधार लिया था, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को मान्य हुआ। "लेकिन तुलसीदास जी ने इन दोनों भिन्न धर्मावलम्बी जातियों में पारस्परिक गठबन्धन कराने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की कटुता को दूर कर उनमें मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस कार्य में उनको पर्याप्त सफलता भी मिली। इसी प्रसंग में लेखकों को तुलसी के दार्शनिक विचारों पर भी कुछ कह देने का अवसर मिल गया है।[1] 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' में बहुत से कवियों के जीवन-सम्बन्धी अथवा दार्शनिक विचारों का सूक्ष्म निर्देश है। पर इस पद्धति की आलोचना का अवसर इन लेखकों को कबीर पर लिखते समय अधिक मिला है। वस्तुतः कबीर की आलोचना में इसी का विशेष महत्व भी है। कबीर में मिश्रबन्धुओं के शब्दों में अभिव्यक्ति की कलात्मकता की अपेक्षा संदेश की गम्भीरता और प्रौढ़ता ही अधिक महत्वपूर्ण है इसलिए आलोचक का ध्यान उस ओर अधिक आकृष्ट होना स्वाभाविक ही है।[2] मिश्रबन्धुओं ने कबीर के ईश्वर, माया, गुरु, अवतार आदि से सम्बद्ध विचारों का निरूपण और विवेचन उन्हीं की कविता के बहुत से उदाहरण देकर किया है।[3] उनके सूफी मत में होने का प्रमाण उन्हीं की रचनाओं से मिलता है। परमात्मा और जीवात्मा का जो दाम्पत्य-सम्बन्ध कबीर को स्वीकृत था उसका भी लेखकों ने निरूपण किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि के संदेश और जीवन-सम्बन्धी विचारों की आलोचना करने की प्रवृत्ति इन लेखकों में सर्वत्र ही पाई जाती है, पर अन्य कवियों की अपेक्षा इस कवि की आलोचना में इनको अधिक स्थान मिला है और यह विवेचन अपेक्षाकृत प्रौढ़ भी है। इसके कारण का हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। बहुत से कवियों का तो कोई विशेष संदेश होता ही नहीं है, उनका महत्व, उनकी अभिव्यंजना-शैली के सौन्दर्य में ही है। ऐसे कवियों के संदेश की बात ही निरर्थक है, पर मिश्रबन्धु तो संदेश खोजने के लोभ का संवरण वहां भी नहीं कर सके हैं। देव और बिहारी के संदेश को गौण कहते हुए भी आचार्यत्व और भाषा का संदेश

१. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ २४।
२. वही, पृष्ठ ५०८ : ५०९ 'कबीर का विवेचन'।
३. वही, पृष्ठ २५।

मानने की प्रवृत्ति है ही। ऐसी एक-आध अत्युक्ति के अतिरिक्त इनका यह विवेचन तर्कपूर्ण और प्रौढ कहा जा सकता है। लेखक राधाकृष्ण के नाम आ जाने से रीति-कालीन कवियो मे भक्ति का सदेश मानने के लिए तैयार नही। केशव मे भक्ति का सदेश खोजने का भी उन्होने विरोध किया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति ने भारतीय भाषाओ के आलोचको को भी अपने साहित्य और कलाकारो का ऐतिहासिक विवेचन करने की प्रेरणा प्रदान कर दी थी। इतिहास लिखने की परम्परा पहले नही थी। कभी-कभी कोई आचार्य अपने पूर्ववर्त्ती वादो का साधारण निर्देश कर दिया करता था, पर वह कोई सर्वमान्य पद्धति नही थी। दूसरे उसमे विशद विचार भी नही होता था। ये विचार तो आनुषगिक और आकस्मिक ही हुआ करते थे। ऐतिहासिक विवेचन पृथक् विचार-पद्धति के रूप मे आधुनिक काल मे ही प्रारम्भ हुआ है। इनके ग्रथो मे हिन्दी-साहित्य के विभिन्न काव्यो का अच्छा विवेचन हुआ है। लेखको ने तत्कालीन परिस्थितियो, साहित्यिक विशेषताओ तथा भाषा और कवियो का सक्षेप मे अच्छा परिचय दिया है। विभिन्न कालो मे कविता तथा उसकी भाषा के स्वरूप मे किस प्रकार विकास हुआ है, इसका थोडे मे परिचय दिया गया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' मे तो प्रारम्भ मे ही 'सक्षिप्त इतिहास प्रकरण' मे इस विकास का अध्ययन हुआ है। उसके बाद प्रत्येक काल के प्रारम्भ मे भी उस काल की विशेषताओ का निरूपण हुआ है। 'हिन्दी नवरत्न' का सम्बन्ध भी ऐतिहासिक विकास से है, इसलिए लेखको ने इसकी भूमिका मे सक्षिप्त इतिहास दे दिया है। इसमे तो उन्होने कवियो के नाम अधिक गिनाए है, पर कही-कही परिस्थितियों और साहित्य-परम्पराओ का निरूपण भी है। इस विवेचन के द्वारा लेखक ने अपने आलोच्य कवियो को तत्कालीन परिस्थिति मे रखकर देखने की चेष्टा की है, जिससे उनकी विशेषताओ और महत्व के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय। इन कवियो की साहित्यिक विशेषताओ और पारस्परिक अन्तर को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है। आज का आलोचक कवि को उसके काल से पृथक् करके नही देखना चाहता। इस ऐतिहासिक अनुसधान की प्रणाली के साथ ही कवियो की जीवनी तथा उनके विचारो का विवेचन अन्तःसाक्ष्य के आधार पर करने की प्रवृत्ति भी जाग गई थी। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की मुखपत्रिका ने इसका सूत्रपात बहुत पहले ही कर दिया था। मिश्रबन्धुओ ने कवियो की जीवनी का बाह्य और अन्त साक्ष्य के आधार पर ही निरूपण किया है, तुलसीदास जी के बाहु-मूल मे पीडा होना, फिर उसका ठीक हो जाना, सूकर-क्षेत्र मे राम-कथा सुनना आदि अनेक घटनाओ का उल्लेख अन्त साक्ष्य के आधार पर हुआ है। अन्तः-साक्ष्य के आधार पर ही यह विवेचन भी हुआ है कि तुलसी स्मार्त वैष्णव थे अथवा शैव वैष्णव। मिश्रबन्धुओ ने कवियो की जीवनी मे दोनो साक्ष्यो से जो बात

ठीक प्रतीत होती है, उसी को ग्रहण किया है ।

द्विवेदी जी की भाषा-सम्बन्धी आलोचना की विशेषता अशुद्धियो का निर्देश करने मे थी । कही-कही ओज आदि गुणो का सकेत भी कर दिया जाता था । पर वस्तुत व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियो का निर्देश करना आलोचना का बहुत ही गौण कार्य है । भाषा और भाव मे कवि कितना सामजस्य स्थापित कर सका है, उसके वर्ण्य विषय को अभिव्यजना-शैली और भाषा ने मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक बनाने मे कितनी सहायता दी है, भाषा की साहित्यिक प्रौढता किस कोटि की है, लेखक का व्यक्तित्व उसकी भाषा मे कितना प्रतिबिम्बित हो सका है आदि प्रश्नो पर विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचार करना भाषा सम्बन्धी आलोचक का कार्य है । प्रसगवश अगर उसे भाषा की अशुद्धियो का निर्देश करना पडे तो कोई आपत्ति नही है । साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था मे भाषा भी अपना स्वरूप निश्चित करती है, इसलिए आलोचक का कर्तव्य उसमे यथा सम्भव सहायता प्रदान करना है । लेकिन भाषा के साहित्यिक रूप के निश्चित हो जाने पर उस पर व्याकरण-शास्त्र का अनावश्यक नियन्त्रण रखने से उसकी स्वच्छन्द गति और उन्मुक्त विकास मे बाधा होती है । भाषा का निर्माण साहित्यकार और जन-समाज करता है । वह विकासशील है । वैयाकरण का कार्य तो केवल थोडी व्यवस्था भर कर देना है । द्विवेदी-काल में भाषा-सम्बन्धी कई वाद-विवाद खडे हुए थे । उसमे उस काल के प्राय सभी विद्वानो ने भाग लिया । इस वाद विवाद मे मिश्रबन्धुओ ने भी अपने भाषा सम्बन्धी विचार प्रकट किए है । उनके विचार अधिक प्रगतिशील है । वे भाषा के स्वच्छन्द विकास को ही साहित्य के लिए श्रेयस्कर समझते है । द्विवेदी जी भी भाषा के स्वच्छन्द विकास के विरोधी नही थे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है । पर उन्हे व्याकरण के नियत्रण का अभाव सह्य नही था । मिश्रबन्धु भाषा की अव्यवस्था के पक्षपाती नही है । वे भाषा मे "मनमानी" और "घर जानी" नही देखना चाहते । इससे तो वे साहित्य का विकास ही सम्भव नही मानते । भाषा की प्रकृति स्थिर हो जाने पर और एक विशेष दिशा अपना लेने पर ही साहित्य का विकास होता है । पर मिश्रबन्धु उसे व्याकरण के नियमो मे जकडना भी नही चाहते है । अगर मात्र-भाषा भी दस-पाच वर्ष तक व्याकरण पढे बिना नही लिखी जा सकती तो वह मात्र-भाषा न रहकर विद्वत्भाषा ही बन जाती है । मिश्रबन्धु हिन्दी को विद्वत्भाषा बनाने के पक्ष मे नही थे । वे हिन्दी लेखको की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे । उन्होने स्वय "नायिका" के स्थान पर "नायका" का प्रयोग किया है । बाद मे "नायिका" प्रयोग भी करने लगे थे । "नायिका" के स्थान पर "नायका" का प्रयोग कोई बहुत सुन्दर और हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नही है, पर केवल सस्कृत से हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा-भर कर देने मे इसका महत्व है । मिश्रबन्धुओ का यह कहना अत्यन्त

तर्क-सम्मत है कि अगर हिन्दी पर सस्कृत व्याकरण का नियन्त्रण रखने की चेष्टा की जायगी तो यह हिन्दी न रहकर सस्कृत हो जायगी । फिर "गच्छति" और "करोति" के प्रयोग-भर की देर रहेगी। 'हरिऔध' की भाषा ने 'प्रिय प्रवास' मे कई स्थानो पर यह रूप ग्रहण कर लिया है । मिश्रबन्धु "मधुरा भाषा" लिखने के पक्षपाती नही है। सभा को 'प्रचारक' ही कहना चाहते है, "प्रचारिणी' नही। प्रशसनीय के आधार पर सराहनीय को भी शुद्ध साहित्यिक रूप मान लेने की स्वतन्त्रता से हिन्दी को वचित कर देना उन्हे अभीप्सित नही है। हिन्दी-भाषा की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का यह दृष्टिकोण बहुत ही ममीचीन है ।[1] भाषा और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का यह दृष्टिकोण द्विवेदी जी के दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील कहा जा सकता है ।

मिश्रबन्धु द्विवेदी जी की तरह कवियो की भाषा मे व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियो को ढूढ निकालने के फेर मे नही पडे है । हर कवि को इसी दृष्टि से देखना तो वे आलोचना की "छीछालेदार" मानते है । मिश्रबन्धुओ ने भाषा-सौष्ठव और उसकी भाव-वर्ण्य-विषय आदि से अनुरूपता पर ही विचार किया है। कवियो के द्वारा प्रयुक्त विभिन्न भाषाओ के शब्दो का संकेत है। बिहारी की भाषा मे लेखक ने प्रातीय और इतर भाषाओ के प्रयोगो के बहुत उदाहरण दिए है। उन्होने बहुत-से शब्दो को तोडने-मरोडने की प्रवृत्ति की ओर भी पाठको का ध्यान आकृष्ट किया है । बिहारी ने "चिलक" क्षब्द का प्रयोग "चमक" के अर्थ मे किया है। पर यह शब्द कई एक स्थानो पर दर्द के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। मिश्रबन्धु ऐसे प्रयोग अनुचित और अशिष्ट मानते हैं। शब्दो की तोड मरोड, प्रान्तीय एव फारसी आदि विदेशी भाषाओ के प्रयोगों तथा दूषण के बहुत से उदाहरण मिश्रबन्धुओ ने इकट्ठे किये है। कई-एक स्थानो पर आलोशना क्षेत्र के वाद-विवाद का सकेत भी हुआ है। स्वयं मिश्रबन्धु भी कई जगह वाद-विवाद में पडे है। बिहारी की भाषा-सम्बन्धी आलोचना बाला भी एक ऐसा ही स्थल है। मिश्रबन्धुओ का ध्यान कवि के गुणो पर भी गया है। उन्होने बिहारी के भाषा-सम्बन्धी व्यापक ज्ञान की प्रशसा की है। यमक और पद-मैत्री के कारण भाषा में जो सौदर्य आ गया है, उसकी उपेक्षा मिश्रबन्धुओ ने नही की ।[2] बिहारी की भाषा की सजीवता पर भी आलोचक का थोडा ध्यान गया है। "जगमगात"

---

१ देखिये 'मिश्रबन्धु विनोद', पृष्ट ६६:७५ 'हिन्दी नवरत्न', २१:२३ ।

२. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ३४८ ।

३. 'वही', ३४३ : ३५२ ।

४. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ ३५३ ।

"झलमलात" आदि शब्दो मे सजीवता के दर्शन आलोचको को भी हुए हैं।[1] बिहारी के शब्द और अर्थ का चमत्कार, अर्थ-गाम्भीर्य, व्यग्य, एक ही दोहे में सारी रस-सामग्री को एकत्र कर देने की क्षमता के कारण भाषा की प्रौढता, एक साथ कई-एक अलकारो का प्रयोग आदि बहुत-सी प्रमुख विशेषताओ की ओर इन आलोचको का ध्यान नही जा सका। यह केवल वैयक्तिक रुचि का ही परिचायक है। इनकी दृष्टि बिहारी के काव्य-सौष्ठव की परख मे कुण्ठित हो गई। भाषा के गुणो और अलकारो का निर्देश प्राय सभी कवियो की आलोचना मे हुआ है। मम्मट द्वारा मान्य माधुर्य, ओज और प्रसाद तक ही ये सीमित नही रहे हैं। अपितु पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा मान्य समता, समाधि अर्थ-व्यक्ति, उदारता आदि का भी इन्होने सकेत किया है।[2] कवियो की यमक, अनुप्रास आदि रखने की प्रवृत्ति का निर्देश तो बहुत जगह हुआ है। तुकान्त के लिए निरर्थक शब्दो के प्रयोग की ओर भी इनका ध्यान गया है। भाषा के सामान्य सौदर्य को "ललित" "मधुर" आदि शब्दो द्वारा कई स्थानो पर व्यक्त किया गया है। इन आलोचको का ध्यान इस ओर भी गया है कि अलकार के मोह से कवि अपने भाव के निर्वाह मे कही असफल तो नही हुआ है।[3] इस प्रकार मिश्रबन्धुओ मे भाषा-सम्बन्धी प्रौढ और गम्भीर आलोचना के कई उदाहरण मिलते है। ये उदाहरण बिखरे हुए है। मिश्रबन्धु एक अग को लेकर अपना मन्तव्य एक ही स्थान पर व्यक्त नही कर देते है इसलिए कुछ बिखरा हुआ रहता है। उसमे सश्लिष्टता का अभाव खटकता है।

---

१ वही, पृष्ठ ३५४।

२. प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-व्यक्ति, समाधि, कांति और उदारता नामक गुण देव की रचना में पाये जाते हैं। कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है। पर्यायोक्ति, सुधर्मिता, सुशब्दता, सक्षिप्तता, प्रसन्नता आदि गुणों की आपकी रचना में बहार है। कहीं-कहीं अर्थ-काठिन्य भी प्रस्तुत है। वही पृष्ठ २९४।

३. इनकी भाषा में अनुप्रास और यमक भरे पड़े हैं। आप जो शब्द उठाते थे, प्राय: उसी प्रकार के कई और शब्द उसके पीछे रखते चले जाते थे और जब वह श्रेणी छोड़ते थे, तब उसीके शब्दों का कोई और अक्षर-क्रम उठाकर उसकी समता के शब्द रखने लगते थे, इस प्रकार एक साथ आप कई भांति के अनुप्रास रख जाते थे। पर ये गुण लाने के वास्ते इनको निरर्थक पदों का व्यवहार नहीं करना पड़ा और प्राय: कही भी अपना भाव नहीं बिगाड़ना पड़ा। ऐसे बढ़िया भाव लाकर भी अनुप्रास की सर्वोत्कृष्ट प्रधानता रखने में केवल देव ही कृतकार्य हो सके हैं।

मिश्रबन्धुओ की आलोचना मे कवियो की विशेषताओ और गुण-दोष-निरूपण मे विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्बन तो अवश्य हुआ है, पर फिर भी इनके ग्रन्थो की प्रमुख विशेषता परिचय ही है। हिन्दी-कवियो का अध्ययन अभी इतना व्यापक नही हुआ था कि आलोचना परिचय की परिधि से बाहर निकल जाती। 'हिन्दी नवरत्न' मे तुलसी, सूर, देव आदि सभी कवियो के ग्रन्थो का आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। उनकी काव्यगत विशेषताओ से पाठक को परिचित कराने के लिए लेखको मे विश्लेषण की गम्भीरता के दर्शन कही-कही अवश्य हो जाते हैं। पर इसका सर्वत्र निर्वाह नही हुआ है। आलोचको का मुख्य उद्देश्य तो कवियो की विशेषताओ का सामान्य परिचय तथा उनको किसी विशेष श्रेणी मे रखना है। यही कारण है कि इनकी आलोचना की गूढ और विश्लेषणात्मक उक्तियो मे सर्वत्र सश्लिष्टता नही पाई जाती। बीच-बीच मे प्रौढ विचार-धारा के दर्शन हो जाते है। इनकी आलोचना की दूसरी प्रधान विशेषता निर्णयात्मक है। कवियो की भाव और कला-सम्बन्धी विशेषताओ के अन्तस्तल मे भी श्रेणी-विभाग की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। आलोचक उनके गुण-दोषो का विवेचन करते हुए यह कहना कभी नही भूलता है कि ये गुण अन्यत्र कही नही मिलते है, इसलिए यह कवि सर्वोत्कृष्ट है। 'हिन्दी नवरत्न' का निर्माण तो श्रेणी-विभाग के आदर्श को अपने सम्मुख रखकर हुआ ही है। इस ग्रन्थ मे तुलसी, सूर और देव को परस्पर एक दूसरे से ऊँचा बताने की प्रवृत्ति भी छिपी नही रहती। इस सम्बन्ध मे मिश्रबन्धुओ ने अपना मत कई बार बदला है। 'मिश्रबन्धु विनोद' इतिहास-ग्रन्थ है। उसमे इस प्रकार के श्रेणी-विभाग के लिए न कोई स्थान था और न आवश्यकता ही। पर फिर भी लेखकों ने कवियों पर विचार प्रकट करने मे इस शैली का अनुसरण किया है। श्रेणी-विभाजन के लिए जो तुलनात्मक अध्ययन कवियो का हुआ है उसमे विश्लेषण, तर्क और प्रौढ विवेचन का अभाव है। लेखको ने तुलसी, देव, बिहारी आदि के कुछ छन्दो की शास्त्रीय आलोचना की है, उसमे गम्भीरता भी है, इसमे कोई सन्देह नही। पर यह आलोचना तो केवल नमूने का कार्य कर रही है। लेखको ने यह कह तो दिया है—हमने इसी पद्धति का अनुसरण करके इन कवियो के स्थान का निर्णय किया है। पर उनकी पुस्तको मे इस विवेचन के कही दर्शन नही होते। यह श्रेणी-विभाग तो लेखको ने अपने मन मे कर लिया था और उस क्रम से कवियो को इस ग्रन्थ मे रख दिया गया है। बीच-बीच मे इन कवियो की प्रशसा मे सर्वोत्कृष्ट शब्द का प्रयोग करते गए है। जिस शास्त्रीय पद्धति और शैली का अवलम्बन मिश्रबन्धुओ ने किया है, वह स्फुट छन्दो की आलोचना के उपयुक्त मानदड है। उसका उपयोग कवियों की समष्टिगत विशेषताओं और रस-अलकार-सम्बन्धी प्रवृत्तियो के निरूपण मे भी किया जा सकता है, मिश्रबन्धुओ ने भी इस आधार पर कवियो

की सामान्य विशेषताओ का विवेचन किया है, पर वे इसके तुलनात्मक रूप का निर्वाह नही कर सके। शास्त्रीय आधार की तुलना का मापदण्ड बनाने से पूर्व काव्यागो के महत्व मे भी श्रेणी-विभाग की आवश्यकता होती है। रस, ध्वनि, अलकार आदि मे से किसी एक को काव्य की आत्मा का स्थान देना पडता है और फिर उसीके आधार पर कवियो का श्रेणी-विभाग हो सकता है। यह श्रेणी-विभाग भी अत्यन्त स्थूल और जड आधार पर ही आश्रित कहा जाता है, पर मिश्रबन्धुओ ने तो यह भी नही किया। उन्होने रस, अलकार आदि सभी तत्वो को अपने ध्यान मे रखा। सैद्धान्तिक रूप से इनका तारतम्य स्वीकार करते हुए भी व्यवहार मे उनका निर्वाह नही किया है। मिश्रबन्धु देव के शब्द-चमत्कार, और उक्ति-वैचित्र्य के चकाचौध से तुलसी, सूर, कबीर आदि के साहित्यिक महत्व का निर्णय नही कर सके। बाह्याडम्बर की सज-धज और तडक-भडक से मुग्ध होकर वे काव्य की वास्तविक आत्मा की परख ही खो बैठे। सूर और तुलसी के काव्य मे जीवन के चिरन्तन-स्वरूप को देखने और उसके मूल्य परखने की क्षमता इन लेखको मे नही रह गई। बाद मे उन्होने इन दोनो कवियो मे जीवन का स्थायित्व देखा तो सही। पर वह तो साधारण और स्पष्ट झलक-मात्र थी। उसमे देव के प्रति उत्पन्न मोह को भग करने की प्रखरता का अभाव था। यही कारण है कि इस निर्णय का प्रभाव उनकी आलोचना पर कुछ भी नही हुआ। इस सारे विभाजन के पीछे केवल व्यक्तिगत रुचि ही कार्य कर रही है। पुष्ट आधार का नितान्त अभाव है। किन्ही व्यक्तिगत कारणो से मिश्रबन्धुओ को देव की कविता अत्यन्त प्रिय है, किसी दूसरे को मतिराम की हो सकती है, पर आलोचना के क्षेत्र मे इस वैयक्तिक रुचि का कोई विशेष महत्व नही है। दो भिन्न कालो और परम्पराओ की कविता की पारस्परिक तुलना का कोई महत्व नही है, पन्त और चन्द बरदाई की तुलना आलोचना के विकास मे क्या सहयोग प्रदान कर सकती है? देव और तुलसी की तुलना द्वारा भी किसी विशेष प्रगति की सभावना नही थी। यदि शास्त्रीय आधार लेकर कुछ प्रौढ विवेचन किया जाता तो दोनो कवियो की विशेषताओ और महत्व को समझने के लिये एक सुन्दर प्रयास के रूप मे साहित्य-क्षेत्र मे इनका पर्याप्त सम्मान होता। मिश्रबन्धुओ की आलोचना का जितना आज सम्मान है उससे कही अधिक हो सकता था। मिश्रबन्धुओ ने कई स्थानो पर तो वैयक्तिक रुचि और तुलना के आवेश मे आकर असहृदयता का भी परिचय दे दिया है। तुलसीदास जी द्वारा बारम्बार राम के ईश्वरत्व का स्मरण कराते रहने मे राम के अलौकिक और सर्वशक्तिमान रूप का चित्रण हुआ है। भक्ति की यह महत्ता मिश्रबन्धुओ के ध्यान मे नही आ सकी। राधा और गोपियो के मुख से सूर ने सुन्दर उपालम्भ दिलाकर जिस भक्ति और शृगार का रस प्रवाहित किया है, उसे मिश्रबन्धु कृष्ण के कार्यों की निन्दा मानते है। "सूरदास प्रभु के अति खोटे, यह उनहूँ ते अति

ही खोटी" और "सूरदास सरबसु जो दीजै कारो कृतहि न मानै" मे कृष्ण निंदा मानना असहृदयता और विचित्र वैयक्तिक रुचि के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। सूर की भाषा को क्लिष्ट बताना भी ऐसी विचित्र वैयक्तिक रुचि का ही उदाहरण है। किसी एक कूट पद के आधार पर कवि के सम्पूर्ण काव्य की भाषा पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। दूसरे स्वय मिश्रबन्धु सूर की भाषा को मधुर और ललित भी कह चुके हैं। "सूरदास की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है····· परन्तु इनकी भाषा ऐसी ललित और श्रुति-मधुर है कि वैसी इनके पीछे वाले कवियो तक मे बहुत कम पाई जाती है।···आपने महलात का भी प्रयोग किया है। इनकी कविता मे मिश्रित वर्ण बहुत कम आते है। उनमे माधुर्य और प्रसाद गुण प्रधान है। ओज की मात्रा इनकी कविता मे बहुत कम है। कही यमक आदि के लिए इन्होने अपना भाव नही बिगाडा। इनके पद ललित और अर्थ-गम्भीरता से भरे हुए है।" इस प्रकार के वदतोव्याघात का एक कारण यह भी है कि ये बृहदकाय ग्रन्थ तीन व्यक्तियो द्वारा रचे गए है।

इतने कवियो की काव्यगत विशेषताओ का विशद परिचय देने का यह प्रथम प्रयास है। इतिहास के क्षेत्र मे तो बहुत दिनो तक 'मिश्रबन्धु विनोद' के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रथ ही नही था। हिंदी-साहित्य के विभिन्न कालो मे सामान्य विशेषताओ का आलोचनात्मक परिचय देने वाला हिन्दी का यह प्रथम बृहद्काय ग्रन्थ है। 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना का प्रमुख उद्देश्य कवियो की विभिन्न श्रेणिया बनाना ही रहा है। इसके आवरण मे कवियो के वर्ण्य-विषय, भाव, दर्शन, भक्ति, निसर्ग और मानव-प्रकृति का चित्रण, कला, अलकार, भाषा, शैली आदि अनेक पक्षो पर इतना विशद विचार करने का अवसर भी मिल गया है। तत्कालीन विकास को ध्यान मे रखकर इसके विवेचन की प्रौढता को अस्वीकार नही किया जा सकता। सूर और कबीर दोनो सखा भाव के भक्त माने गए है। सूर मे जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम का निरूपण गौण और शृङ्गार को प्रधान माना गया है। इस प्रकार के विचारो मे चिन्तन की प्रौढता और सूक्ष्म विवेचन का अभाव ही कहा जा सकता है। भक्ति और रहस्यवाद के सूक्ष्म अन्तर को समझ लेने के बाद मिश्रबन्धुओ के निरूपण मे इतनी शिथिलता के लिए स्थान नही था। पर सदेश खोज निकालने के मोह ने ऐसा नही होने दिया। प्रत्येक कवियो की आलोचना दूसरे से स्वतत्र एक भिन्न मानदड के आधार पर हुई है। कबीर, देव, बिहारी आदि की काव्यगत विशेषताओ का निरूपण एक ही दृष्टि से नही हुआ है। कबीर मे दार्शनिक विवेचन ही अधिक है। देव और बिहारी के भाषा, भाव और अलकार के सौष्ठव पर अधिक विचार हुआ है। द्विवेदी, जी के समसामयिक आलोचको मे जो व्यक्तिगत राग-द्वेष का प्राधान्य हो गया था जिससे आलोचक अपने प्रकृत मार्ग से पथ-भ्रष्ट हो गए थे। मिश्रबन्धुओ के इन ग्रन्थो

ने आलोचको को इन व्यक्तिगत राग-द्वेष और आक्षेपो से ऊपर उठाकर साहित्य की प्रगति पर गम्भीरता पूर्वक सोचने के लिए बाध्य कर दिया था। अब आलोचना का रूप केवल वाद-विवाद नही रह गया था। पर आलोचक इसे गम्भीर चिन्तन और पर्याप्त उत्तरदायित्व का कार्य समझने लगे थे। आलोचना को वास्तविक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय इन्ही को है। यही कारण है कि प्रसिद्ध अङ्गरेजी मासिक पत्रिका 'माडर्न रिव्यू' ने 'हिन्दी नवरत्न' को (Epoch of marking) नवीन युग का प्रवर्त्तक कहा है। 'माडर्न रिव्यू' का यह मत पूर्णत सत्य है। इन ग्रन्थो की आलोचना वैयक्तिक, निर्णयात्मक, रूढिगत और अत्युक्तिपूर्ण प्रशसात्मक ही मानी जायगी। कवि की विशेषताओ का कई दृष्टियो से निरूपण होने पर भी उसमे अपेक्षित विश्लेषणात्मक प्रौढता का अभाव है। पर इतना अवश्य मानना पडता है कि इन ग्रन्थो के आकार और गम्भीरता ने तत्कालीन वाद-विवाद का सदा के लिए अन्त कर दिया। इससे आलोचना की प्रौढ पद्धति के विकास का मार्ग खुल गया। इसी दृष्टि से यह आयोजन प्राचीन युग का प्रवर्तक है। 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' इस विकास के सोपान है। इनमे आलोचना के स्वरूप-विकास के लक्षण स्पष्ट दिखाई पडते हैं। तुलनात्मक आलोचना हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे कतिपय वर्षों तक विद्वत्समाज के विवेचन का केन्द्र-बिन्दु रही है। इसका सूत्रपात तो मिश्रबन्धुओ से ही हो गया था। द्विवेदी जी मे इसकी कही-कही अस्पष्ट झलक-मात्र मिलती है। पर यह मिश्रबन्धुओ की आलोचना की प्रधान विशेषताओ मे से है। मिश्रबन्धु तुलना की किसी निश्चित और व्यवस्थित प्रणाली को नही अपना सके थे। इसका श्रेय परवर्त्ती आलोचको का भाग्य है। पर इसका सूत्रपात इन्ही से मानना चाहिये। तुलना और निर्णय तो इनकी आलोचना की प्रधान विशेषताएं है, पर इन्होने साहित्यकारो के व्यक्तित्व, दर्शन, विचार तथा उनकी तत्कालीन परिस्थितियो पर भी विचार किया है। तुलसी और कबीर के व्यक्तित्व तथा सदेश के सम्बन्ध मे विचार करते हुए मिश्रबन्धुओ ने बहुत प्रौढ आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया। इसमे मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक समीक्षा के तत्व भी अन्तर्हित है।

: ७ :

तुलनात्मक समालोचना

किसी भी वस्तु के सम्यक् अध्ययन और परीक्षण मे तुलनात्मक दृष्टि के महत्व को अस्वीकृत नही किया जा सकता। वस्तु के स्वरूप और महत्व का यथार्थ ज्ञान तो तभी होता है, जब उसकी कुछ समानधर्मी वस्तुओ के साथ समानता तथा असमानता का पूर्णतया विवेचन हो जाय। दो असमान वस्तुओ के साम्य और विरोध का निरूपण भी वस्तु के स्वरूप-ज्ञान के लिए आवश्यक है। वस्तुओ के या प्रत्ययो के आपेक्षिक महत्व और श्रेष्ठता का तो मूल आधार ही तुलना है। महत्व-ज्ञान आपेक्षिक है। जब तक किसी प्रत्यय को शेष ससार के विभिन्न विरोधी और समानधर्मी प्रत्ययो के समकक्ष रखकर, उसकी उपादेयता, महत्व तथा सौन्दर्य आदि पर पूर्णतया विचार नही कर लिया जाता, तब तक उसके मूल्य के सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ भी कहना समीचीन नही। वस्तु के सामान्य परिचय की अपेक्षा विवेचनात्मक ज्ञान के लिए तुलनात्मक प्रणाली अधिक उपयोगी है। कुछ दर्शन तो ज्ञान-मात्र को ही सापेक्षिक और तुलनात्मक मानते है। आलोचना मे कला-कृति की विशेषताओ का गम्भीर अध्ययन होता है। आलोच्य वस्तु का मूल्याकन और उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान, दोनो ही आलोचना के विषय है। साहित्य और कला मे बुद्धि की अपेक्षा हृदय का ही अधिक उपयोग है। वह चिन्तन से अधिक अनुभूति का क्षेत्र है। इसलिए कला और साहित्य की आलोचना आलोच्य वस्तु के बौद्धिक विश्लेषण के अतिरिक्त उसकी मार्मिकता और हृदयस्पर्शिता पर भी विचार करती है, आज का आलोचक तो अपनी आलोच्य वस्तु के गूढ तथ्यो के निरूपण की अपेक्षा पाठक मे कवि द्वारा अभिप्रेत अनुभूति जाग्रत करने का अधिक प्रयत्न करता है। यह उसका एक प्रधान लक्ष्य है। तुलनात्मक प्रणाली मूल्याकन की तरह इस कार्य मे भी आलोचक की सहायिका है। दो कवियो अथवा दो उक्तियो का तुलनात्मक अध्ययन पाठक की उक्ति के अन्तरतम मे प्रविष्ट होकर उनके कलागत सौन्दर्य की यथार्थ अनुभूति मे सहायक होता है। यह प्रक्रिया महत्व-सम्बन्धी भ्रान्ति के निवारण का प्रधान

साधन है। साहित्य-समीक्षा मे तुलनात्मक प्रणाली के समीचीन उपयोग की उपेक्षा नही की जा सकती। सूक्तिया आलोचना की अत्यन्त प्राचीन उदाहरण हैं। इनमे से अधिकाश मे एक कवि की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ कहा गया है। कही-कही दो कवियो की दो भिन्न-भिन्न विशेषताओ का उल्लेख है। इस प्रकार इनका मूल आधार तुलना ही है। माघ के पूर्व तक ही भारवि का यश था, बाद मे तो उसका यश माघ की धूप की तरह धूमिल हो गया।[1] पद-लालित्य, अर्थ-गौरव और उपमा की दृष्टि मे माघ सर्वश्रेष्ठ कवि है क्योकि अन्य कवियो मे इनमे से किसी एक ही गुण का सौन्दर्य है और माघ मे ये तीनो है।[2] हिन्दी के प्रसिद्ध प्रवाद-वाक्यो मे भी तुलनात्मक आलोचना के स्पष्ट दर्शन होते है। सूर को सूर और तुलसी को चन्द्रमा कहना तुलना के अतिरिक्त और क्या है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य-समीक्षा मे तुलनात्मक पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। आलोचना मे प्रयुक्त प्रमुख प्रक्रियाओ मे से तुलना भी एक है, इसलिए समीक्षा मे यह तत्व ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे विद्यमान रहता ही है। आपातत तुलनात्मक न प्रतीत होने वाली समीक्षा के अन्तस्थल मे भी तुलनात्मक प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। एक कवि को अन्य से अलग करते समय अथवा उसकी विशेषताओ का निर्देश करते समय आलोचक का अचेतन अथवा सचेतन मन इस प्रक्रिया का आश्रय लेता है। चाहे उसकी आलोचना के कलेवर मे इसके दर्शन न होते हो, पर उस कलेवर की आधार-भूमि का एक तत्व तो यह है ही। अभिप्राय केवल इतना ही है कि आलोचना के विशद रूप का एक तत्व तुलना भी है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के प्रादुर्भाव-काल मे ही इसके दर्शन होते है। द्विवेदी जी ने इस पद्धति का अनुसरण कई स्थानो पर किया है, इसका निर्देश उनके प्रसग मे हो चुका है। प्रारम्भिक पत्र-पत्रिकाओ मे जो अप्रौढ समीक्षा उपलब्ध है, उसका आधार भी कही-कही तुलना ही रहा है, इसे भी हम देख चुके है। मिश्रबन्धु भी इसी श्रेणी-विभाजन की भित्ति पर खडे है। उनके प्राण तो तुलना ही है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता। जिस प्रक्रिया से आलोचक श्रेणी-विभाग मे समर्थ हुआ है, वह भी तुलना ही है और उनकी इस आलोचना का मूल अभिप्राय भी तुलना ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य पद्मसिह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि के पूर्व भी

---

१. **तावद् भा भारवेः भाति यावन्माघस्य नोदय।**
उदिते तु माघे भारवे भारवेरिव॥

२ **दंडिन पद्-लालित्य भारवे त्वर्थगौरवम्।**
उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणा॥

३ **सूर-सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।**
अब के कवि खद्योत सम, जहं-तहं करत प्रकास॥

यह तुलनात्मक प्रणाली हिन्दी-साहित्य में अपने बीज रूप मे ही विद्यमान ही नही थी, अपितु धीरे-धीरे विकसित होने लगी थी ।

हिन्दी साहित्य मे व्यवस्थित और प्रौढ तुलनात्मक पद्धति का प्रवर्तन तो आचार्य पद्मसिह शर्मा की 'बिहारी-सतसई' नामक पुस्तक मे हुआ । उनकी यह पुस्तक 'बिहारी-सतसई' के भाष्य की भूमिका है । इसमे उस साहित्यिक परम्परा और शैली का निरूपण हुआ है जिसका अनुसरण बिहारी ने किया है । सातवाहन द्वारा सगृहीत प्राकृत की 'गाथा-सप्तशती' और गोवर्धनाचार्य द्वारा प्रणीत 'आर्या-सप्तशती' (सस्कृत मे) ये दो ग्रन्थ साहित्य-ससार के प्रसिद्ध रत्न है । सस्कृत-साहित्य-शास्त्र के प्राय सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने रस, अलकार, व्यग्य आदि के निरूपण मे इन दोनो ग्रन्थो से स्थल उद्धृत किये है और उनमे से कई स्थनो को उत्तम काव्य (ध्वनि-काव्य) कहा है । इनके कई-एक छन्द तो ऐसे है जिनका उपयोग आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज—सभी ने अपने ग्रन्थो मे किया है । इससे इन ग्रन्थो की साहित्यिक प्रौढता और प्रसिद्धि मे कोई सन्देह नही रह जाता है । ये दोनो ग्रन्थ विषय और शैली की दृष्टि से 'बिहारी-सतसई' के अनुरूप ही है । वस्तुत बात तो यह है कि अपनी सतसई के प्रणयन के समय बिहारी के समक्ष ये दोनो ग्रन्थ आदर्श के रूप में थे और उसने इन्ही की मुक्तक शैली मे शृङ्गार प्रधान काव्य रचा है । बिहारी के अधिकाश दोहे भाव और निरूपण-शैली मे इन ग्रन्थो के छन्दो से साम्य रखते है । अनेक स्थानो पर तो भावापहरण-सा प्रतीत होता है जिसके आधार पर हिन्दी के कतिपय समालोचक बिहारी पर चोरी का आरोप लगाने मे भी नही चूकते । आचार्य ने इन्ही ग्रथो की शैली को समक्ष रखकर 'बिहारी सतसई' का अध्ययन किया है । इन ग्रन्थो के छन्दो का तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होने बिहारी को चोरी के आरोप से मुक्त किया है और अनेक स्थानो पर तो इन ग्रथो से भी बिहारी की श्रेष्टता प्रतिपादित की है । वे कितने निरपेक्ष और पक्षपात-शून्य दृष्टि से विचार कर सके है इसका निरूपण तो हम यथावसर करेंगे । यहा पर तो हमारा अभिप्राय यह दिखाने का है कि आचार्य ने बिहारी की जिन कवियो और ग्रन्थो से तुलना की है उस तुलना मे एक व्यवस्था है । भाव, विषय और शैली की दृष्टि से किंचित से साम्य के अभाव मे भी केवल तुलना की धुन मे आकर तुलना नही कर दी गई है । मिश्रबधुओ ने देव की साहित्यिक परम्परा का ध्यान नही रखा था । देव जिस शृङ्गार-प्रधान मुक्तक शैली को लेकर साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए थे उसको ध्यान मे रख कर उसी शैली के अन्य कवियो से उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन समीचीन था । जायसी, तुलसी, कबीर आदि की देव और बिहारी के साथ तुलना से हिन्दी-साहित्य का कोई उपकार होने वाला नही था । आचार्य पद्मसिह ने अपने इस तुलनात्मक अध्ययन मे इन अव्यवस्थाओ को स्थान

नही दिया है, नाम साम्य के कारण 'दुर्गा सप्तशती, से 'बिहारी सतसई' की तुलना करने वे नही बैठे हैं। हिन्दी के भी जिन अन्य कवियो की रचनाओ की तुलना बिहारी के दोहो से की गई है, उसमे भी आचार्य ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है।

आचार्य ने मौलिकता के सम्बन्ध मे फैली हुई भ्रान्ति का निवारण किया है। आचार्य का मत है कि एकदम नवीन वस्तु के उत्पादन मे ही मौलिकता नही है। चिर-परिचित और कवि-परम्परा से प्राप्त तथ्य को उक्ति-वैचित्र्य के साथ रख देना भी मौलिकता है। अगर नूतन भाव और वस्तु की कल्पना ही को मौलिकता माना जाय तब तो शायद ही कोई कवि पूर्णत मौलिक कहा जा सकता है। कवि कुल-गुरू कालिदास तक अपने पूर्ववर्ती कवियो के ऋणी है। आचार्य छायामयपहरति कवि' को स्वीकार करते है।[1] लेखक ने अपने मत की पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए प्राचीन आचार्यो के मत उद्धृत किए है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कवियो की मौलिकता का स्पष्टीकरण मधुमास की प्रकृति के नवीन रूप के रूपक से किया है।[2] इसी रूपक का आश्रय लेकर आचार्य ने भी अपने मत का निरूपण किया है। उन्होने इस रूपक के बिभिन्न अगो की कल्पना की है, वृक्ष के रस, फल, पुष्प आदि की काव्य के रस, ध्वनि, अलकार आदि से समता करके इसका रूपक सर्वांगीण कर दिया है।[3] किसी भी कवि का अन्य कवियो के सादृश्य से बचे रहना नितान्त असभव है। राजशेखर और आनन्दवर्द्धनाचार्य ने मौलिकता नवीन वस्तु की कल्पना मे नही अपितु केवल भावो के चमत्कार मे ही मानी है। राजशेखर ने तो यहा तक कह दिया है कि वणिक और कवि चोरी करे बिना नही रह सकते।[4] कभी-कभी एक भाव दो कवियो को स्वतन्त्र रूप से सूझ जाता है। यह सादृश्य केवल आकस्मिक है। ऐसी अवस्था मे इनमे से किसी भी कवि पर मौलिकता के अभाव अथवा अन्य कवियो के भावो के अपहरण का दोष लगाना अन्याय है।[5] इस विवेचन से लेखक के काव्य तथा वर्ण्य-

१. 'बिहारी की सतसई' पृष्ठ २६।
२ वही, पृष्ठ २६।
३ वही, पृष्ठ २८—२६।
४. दृष्टपूर्वा अपि ह्यूर्मा. काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वे नवाइवा भान्ति मधुमासे इव द्रुमा॥
पद्मसिंह शर्मा 'बिहारी की सतसई' पृष्ठ २७॥
५. कवि भी प्रकृति-वाटिका का विकसिक बसन्त है। वह प्रकृति के उन्हीं नीरस रूखे-सूखे ठूंठ रूखो में अपनी प्रतिभा-शक्ति से अलौकिक रस का सचार करके कुछ-से-कुछ कर दिखाता है। कवि वसन्त किसी पुरानी कविता-

विषय के प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान का पता चलता है। सस्कृत के गम्भीर ज्ञान का परिचय तो इनकी आलोचना की एक प्रधान विशेषता ही है।

आचार्य ने महाकवि पद के अधिकारी होने के लिए बहुत लम्बे-चौडे पोथे की रचना आवश्यक नही समझी। इस पर भी उन्होने सस्कृत के प्राचीन आचार्यों के प्रमाण दिये है। "जिन कवियो मे सरस और प्रतीयमान अर्थपूर्ण कविता करने की क्षमता हो, वही महाकवि है।" 'प्रतीयमान अर्थ' मे लेखक सब प्रकार के शब्द और अर्थ के चमत्कारो और उक्ति-वैचित्र्य का ग्रहण कर रहा है। बिहारी को उनकी सरस एव केवल चमत्कारपूर्ण उक्तियो दोनो ही स्वतन्त्र रूप से महाकवि के पद पर विभूषित कर देने मे समर्थ है। आचार्य जी के इस दृष्टिकोण का आधार भी 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका है। इस कारिका तथा उसकी लोचन टीका को उद्धृत किया गया है।[3] आनन्दवर्द्धनाचार्य ने महाकवियो की उक्ति मे अभिधेयार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ की आवश्यकता मानी है। उन्ही के व्याख्याता अभिनव गुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रतीयमानार्थ के नियोजन की क्षमता रखने वाले कवि को महाकवि कह दिया है। यहाँ पर इन आचार्यों का अभिप्राय इसमे नही है कि मुक्तक रचना करने वाला भी महाकवि हो सकता है। इन दोनो आचार्यो ने तो काव्य मे ध्वनि और रस की प्रधानता का प्रतिपादन भर किया है। उसका तात्पर्य तो केवल इतने मे ही प्रतीत होता है कि केवल शास्त्रीय नियमो के निर्वाह-मात्र से कोई 'महाकवि पद का अधिकारी नही हो सकता। उसे अपने काव्य मे 'प्रतीयमानार्थ' की, जो इन दोनो आचार्यों की दृष्टि से काव्य की आत्मा है, प्रतिष्ठा करने की भी नितान्त आवश्यकता है। ध्वनिकार और अभिनव गुप्त ने महाकवि होने के लिए प्रबन्ध-काव्य की रचना आवश्यक नही मानी है। पर यह तो कवित्व-शक्ति का सामान्य परिचय है। इसलिए यह भी नही कहा जा सकता कि उनको यह भेद मान्य नही। यह भी हो सकता है कि ऐसा भेद परवर्तीकाल मे अधिक

द्रुम मे रस-ध्वनि के मधुर फल, किसी मे अलकार-ध्वनि के मनोहर पुष्प, और किसी में वस्तु-ध्वनि के सुन्दर रूप-रग का समावेश करके सूखते हुए और निर्जीव को सजीव बना देता है। किसी को शब्द-शक्ति के और किसी को अर्थ-शक्ति के सहारे ऊपर उठा देता है। किसी को अर्थालङ्कार के वैचित्र्य से आंखो में खुबने और चित्त में चुभने वाला कर दिखाता है।

वही, पृष्ठ २७।

३ प्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुण प्रतिभाभाजनत्व नैव महाकवि व्यपदेशो भवतीति भाव.। (ध्वन्यालोक की पचम कारिका की लोचन टीका)

वही, पृष्ठ २१

मान्य रहा हो और यही परम्परा हिन्दी मे मान्य हो गई हो। पर इस रूढिवादिता का खडन समयानुकूल ही था। आचार्य पद्मसिह की इस धारणा के पीछे युग की धारणा है। कुछ दिन पूर्व चाहे उसे सूर को भी महाकवि कहने मे हिचकिचाहट का अनुभव होता रहा हो। पर पन्त, निराला आदि को महाकवि पद से अलकृत करने के मोह का सवरण आज का आलोचक नही कर पा रहा है। सस्कृत के कुछ आचार्यों ने चाहे महाकवि शब्द को कुछ नियमो मे जकड दिया हो, पर जन-साधारण तथा कतिपय प्रगति प्रिय आचार्यो को यह कैद कभी स्वीकृत नही रही है। अपने प्रिय कवियो को महाकवि कहने के अधिकार को उन्होने कभी नही छोडा। 'गीत गोविन्द' 'अमरु शतक', 'आर्यासप्तशती', 'गाथा सप्तशती' जैसी रचनाओ के प्रणेता प्रबन्धकार न होते हुए भी महाकवि माने जाते रहे होगे। रीति-काल मे यह भेद व्यवहार मे स्वीकृत नही हुआ है। आधुनिक युग भी इस भेद को मानकर नही चल सकता है। इस प्रकार आचार्य पद्मसिह जो की यह धारणा युग की प्रेरणा का प्रतिनिधित्व करने वाली है। इतना ही नही बिहारी तथा अन्य मुक्तक काव्य के रचयिताओ का सम्यक् अध्ययन और महत्व-दर्शन के लिए ऐसी धारणा नितात आवश्यक भी थी। मुक्तक और प्रबन्ध के आधार पर फैली हुई इस भ्रात धारणा का निवारण करके आचार्य ने आलोचक रूप की महत्ता का परिचय दिया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य बहुत-कुछ रीतिकालीन काव्य-परम्पराओ की प्रतिक्रियाओ का परिणाम है। रीति-काल मे शृगार-रस के चित्रण की नग्नता और अतिशयता के प्रति आज के समाज मे एक तीव्र अरुचि जागृत हो गई थी। लोग उसको कविता को अश्लील कहकर उससे नाक-भौं सिकोडने लगे थे। बिहारी की कविता के सम्बन्ध मे आलोचको की जो धारणा बन गई थी, उनके काव्य-सौष्ठव का मूल्य इन आलोचको की दृष्टि मे कम हो गया था, इसका एक कारण अभिसार रति आदि के वर्णन को अश्लील मानना भी था। बिहारी की कविता के वास्तविक महत्व को समझने के लिये शृंगार-सम्बन्धी इस भ्रान्त धारणा का निवारण करना भी बहुत आवश्यक था। इसी उद्देश्य से आचार्य ने शृगार-रस के महत्व का भी प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि इस विश्व मे शृगार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होती है और कवि उसकी ओर से आख बन्द नही कर सकता है। इस तथाकथित अश्लीलता का वर्णन वेदो तक मे मिलता है। इस सम्बन्ध मे पडितजी ने राजशेखर को प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है।[1] शर्माजी को परकीयादि के चित्रण अश्लील तो प्रतीत होते है, पर यदि कवि का उद्देश्य पाठक को ऐसे वर्णनो द्वारा नीति-भ्रष्ट करना न होकर इन धूर्त्त लीलाओ से उन्हे परिचित कराके सभ्य समाज

१ 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ६।

की इन दुर्गुणो से रक्षा करना हो तो उसे भी श्लील मानते हैं। शर्मा जी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए भी रुद्रट के काव्यालकार के मत का आश्रय लिया है।[1]

बिहारी के काव्य-सौष्ठव के सम्बन्ध मे मिश्रबन्धुओ की आलोचना ने कतिपय भ्रान्त धारणाओ को प्रोत्साहन दे दिया था। ऐसी धारणाओ का उच्छेदन करना किसी भी सच्चे समालोचक का कार्य था। बिहारी के मान, गौरव, प्रतिष्ठा और यश की दृष्टि से नही, अपितु साहित्य-जगत् की अमूल्य निधि के सरक्षण तथा सहृदय पाठको को बिहारी के कला-सौदर्य से परिचित कराकर शर्माजी ने आलोचना-क्षेत्र का एक महान कार्य किया है। कतिपय कटु, पक्षपात और असहृदयतापूर्ण आलोचना के घटाटोप को हटाने के लिये पवन वेग की आवश्यकता थी और इसकी पूर्ति आचार्य ने कर दी है। उनके इस प्रयास से बिहारी के चन्द्र का सहृदयो को सुधा-पान का अवसर पुन प्राप्त हो गया था। इस कार्य के लिये साहित्य की कतिपय सामान्य भ्रान्त धारणाओ का उन्मूलन भी बहुत आवश्यक था, इसीलिये मौलिकता, महाकवि और शृगार रस की उपादेयता के सम्बन्ध मे विशद और बहुत-कुछ प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाने के लिये शर्माजी बाध्य हुए थे।

जैसा कि ऊपर निर्देश हो चुका है, तुलनात्मक समालोचना की एक शास्त्रीय पद्धति को जन्म देने का श्रेय शर्माजी को है। मौलिकता के वास्तविक अर्थ के स्पष्टीकरण के अनन्तर दो कवियो के विभिन्न स्वरूपो का शास्त्रीय आधार पर विभाग करना अपेक्षित था। कवियो के भाव-साम्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद हमारे प्राचीन आचार्य का उसके स्वरूप, भेद, उपभेद आदि का शास्त्रीय निरूपण न करना और पडितजी-जैसे प्रकाड विद्वान का उस विश्लेषण से अपरिचित रह जाना कभी सभव ही नही था। पडित जी ने यहा पर भी अपना उपजीव्य प्राचीन अलकार-शास्त्र को ही बनाया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अर्थापहरण के तीन भेदो की कल्पना की है—१ प्रतिबिम्बित २ आलेख्यन् ३ तुल्यदेहित। राजशेखर ने इनमे "परपुर-प्रवेशप्रतिम्' नामक एक भेद और बढा दिया है। इन भेदो की उपादेयता और हेयता पर भी विचार हुआ है। शर्माजी ने बिहारी के दोहो की 'गाथा-सप्तसती' आदि के छन्दो से तुलना करते समय इन भेदो का उल्लेख किया है। बिहारी का दोहा 'मैं मिसही सोयो समुझि मुह चूम्यो ढिग जाय' अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक 'शून्य वासगृहे विलोक्य' का तुल्यदेहितुल्य है।[2]

पडित जी का उद्देश्य बिहारी की अन्य कवियो से श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है। हिन्दी के अन्य कवियो से बिहारी भाव-सौदर्य मे कही अधिक बढे हुए है, इसमे

---

१ **वही**, पृ० ७।

२ **'बिहारी सतसई'** पृ० ६३।

तो लेखक को कही सदेह ही नही है। उन्होने सस्कृत कवियो से भी बिहारी को बढा-चढा ही बताया है। पडितजी ने बिहारी और सस्कृत-कवियो के सम्बन्ध को उपमान और उपमेय का सम्बन्ध बताया है।[1] उनका कहना है कि सस्कृत के इन महाकवियो से बिहारी का भाव साम्य ही उसके काव्योत्कर्ष का परिचायक है। ऊपर जिस उपमेयोपमान के सम्बन्ध का निर्देश हुआ है, उससे स्पष्ट है कि सस्कृत के कवियो मे बिहारी से कही अधिक सौदर्य है। अधिक सुन्दर वस्तु से साम्य का निरूपण करने का उद्देश्य बिहारी के भाव-सौदर्य की अतिशयता प्रकट करने का ही है, पर वस्तुत पडितजी को तो 'व्यतिरेक' सम्बन्ध ही अभीप्सित है, इसमे 'मतिभ्रम' हो सकता है, पर पक्षपात नही।[2] सभव है कि पडितजी का यह दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण न हो, पर उन्हे तो यह मतिभ्रम-मूलक भी नही प्रतीत होता है। बिहारी के श्रेष्ठत्व को वे हृदय से अनुभव करते हुए प्रतीत होते है। व्यतिरेक मे उपमान का अपकर्ष भी कल्पित होता है पर उसका उद्देश्य केवल उपमेय के सदौर्य की अतिशयता का प्रतिपादनमात्र रहता है। लेकिन सस्कृत कवियो की दीनता तो पडित जी अनुभव करते हुए प्रतीत होते है। इस प्रकार इनके इस विवेचन मे व्यतिरेक के साथ प्रतीप की ध्वनि भी मिश्रित प्रतीय होती है। उन्होने कही भी सस्कृत-कवियो मे बिहारी से उत्कृष्टता नही देखी है। इस सारे ग्रन्थ मे उन्होने जितने भी साम्य के उदाहरण दिये है उन सभी मे बिहारी की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित हुई है। इतना ही नही, दोहा छन्द के निर्वाचन ने तो पण्डित जी की धारणा मे बिहारी को और भी ऊचे स्थान पर बैठा दिया है। उनका कहना है कि भाव-गगा शिव-जटा की तरह बिहारी के दोहो मे तो समाई रहती है, पर उससे निकलने के उपरात उसके प्रवाह को एक स्थान पर रोके रख देने की क्षमता किसी मे भी नही है। शिव जटा के साथ बिहारी के दोहो[3] की तुलना का यही अभिप्राय है। बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य होने के कारण इसको हम निर्णयात्मक आलोचना मानते है। इनमे वाह-वाही और प्रशसा का स्वर भी स्पष्ट है। यही इस आलोचना की मुख्य भित्ति है। आलोचना की अन्य पद्धतियो का उपयोग हुआ है, पर उन सब का उद्देश्य भी निर्णय ही है।

रीति-काल मे काव्य की मूल प्रेरणा शब्द चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना की सजीवता थी। वैसे रीतिकालीन आचार्यो ने प्राय सभी काव्यागो का निरूपण किया है और सस्कत-आचार्यों द्वारा मान्य मतो का समर्थन करते हुए रस को ही

---

१ वही, पृ० २७३।

२ वही, पृ० २७३।

३ 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ३१-३२।

काव्य की आत्मा भी कहा है, पर रस, भाव, जीवन-दर्शन आदि युग की प्रेरणा नहीं थे। कवि लोग रसोक्ति और स्वभावोक्ति को केवल काव्य-परम्परा से बाध्य होकर ही काव्य कहते थे। वस्तुत उनके हृदय अतिशयोक्ति की श्रेष्टता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर चुके थे। कवि के समक्ष यही आदर्श था। सहृदय समाज मे इन वक्रोक्तिपूर्ण कविताओ का ही आदर था। बिहारी के आदर का भी मूल कारण यही था। रीतिकालीन काव्य-धारणा का आदर्श रूप बिहारी मे उपलब्ध होता है। उनके समान उक्ति-वैचित्र्य, अहोक्तिपूर्ण कल्पना और विशेषन. इन्ही से पुट भाव-सौदर्य अन्यत्र दुर्लभ है। ये ही बिहारी की श्रेष्ठता के कारण है। बिहारी के आलोचक पण्डित पद्मसिह जी ने भी युग की इस सामान्य विशेषत की अवहेलना नही की है। वे एक युग के मानदण्डो के आधार पर अन्य युगो की कला-कृतियो की आलोचना के पक्ष मे नही थे। यही कारण है कि उन्होने स्वभावोक्ति के मानदण्ड से बिहारी के काव्य की आलोचना करना अनुपयुक्त समझा है। पण्डितजी आचार्य भामह के शब्दो मे अपने मानदण्ड का स्पष्टीकरण कर रहे है। वे सब अलकारो के प्राण अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को ही मानते है। उन्होंने भामह के इस मत का प्रतिपादन करने वाला प्रसिद्ध श्लोक भी उद्धृत किया है। अपनी काव्य-धारणा का उन्होने केवल सैद्धान्तिक निरूपण ही नही किया है, परन्तु व्यवहार मे इसका पूरा निर्वाह भी किया है। बिहारी की अन्य कवियो मे श्रेष्ठता स्थापित करते समय उनकी दृष्टि मे काव्य का यही स्वरूप है। उन्होंने बिहारी के जिन दोहो की विशद

१ आजकल सम्भ्रांत शिक्षित समाज कोरी स्वभावोक्ति पर फिदा है। अन्य अलकारो की सत्ता इसकी परिष्कृत रुचि की आखो मे काटा-सी खटकती है, और विशेषकर अतिशयोक्ति से तो उसे कुछ चिढ सी है। प्राचीन साहित्य-विधाताओ के मत मे जो चीज कविता-कामिनी के लिए नितात उपादेय थी, वही इसके मत मे सर्वथा हेय है। यह भी एक रुचि-वैचित्र्य का दौरात्म्य है। जो कुछ भी हो, प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि के आदर्शपर नहीं रचे गये। उन्हे इस नए गज से नापना चाहिए प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ मे आ सकती है। सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिसमे अतिशयोक्ति-शून्य अलकार चमत्कार-रहित माना गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, पर्याय और निदर्शना आदि अलकार अतिशयोक्ति से अनुप्राणित होकर ही जीवन-लाभ करते हैं अतिशयोक्ति ही उन्हे जिलाकर चमकाती है, मनमोहक बनाती है उनमे चारुता लाती है, यह न हो तो वे कुछ भी ....।

२ 'बिहारी सतसई', पृष्ठ २१७-२१८।

व्याख्या की है, वे सभी किसी-न-किसी प्रकार के चमत्कार से अनुप्राणित है। आलोचक जिस पदावली का प्रयोग अपने आलोच्य की प्रशसा मे करते है, उससे भी उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है । 'मजमून छीन लिया' आदि वाक्यो का यही अभिप्राय है ।

बिहारी के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन करने के लिए लेखक ने आलोच्य कवि के इन दोहो को चुना है और भाव तथा वर्ण्य विषय की दृष्टि से साम्य रखने वाले 'गाथा-सप्तशती' 'आर्या-सप्तशती' 'विक्ट-नितम्बा' आदि के मुक्तक छन्दो से उनकी तुलना की है। कवि अपने उद्देश्य मे कितना सफल हुआ है। उसी भाव तथा वस्तु को सहृदय पाठको के समक्ष उपस्थित करने मे बिहारी ने क्या विशेषता ला दी है ? उसमे अभिव्यञ्जना का कौन-सा सौदर्य है ? शब्द-प्रयोग का क्या चमत्कार और बारीकी है ? कल्पना की क्या सजीवता है, जिनके कारण उनकी रचना अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियो की रचनाओ से इतनी बढ गई है ? बिहारी के काव्य-सौष्ठव का प्रतिपादन लेखक ने इन्ही प्रश्नो का उत्तर देते हुए किया है। इस प्रकार पण्डितजी के लिये सहृदयता ही आलोचना का एक-मात्र मानदण्ड है । अभिव्यजना की सूक्ष्म बातो और कल्पना की बारीकी पर ध्यान जाने के लिए साधारण प्रतिभा और सहृदयता से काम नही चल पाता है । फिर पडितजी के समक्ष प्राचीन लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थो के वे उत्कृष्ट छन्द थे जिनके काव्य-सौदर्य की उत्कृष्टता के प्रमाण-पत्र सस्कृत के आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट आदि आचार्यो द्वारा मिल चुके थे। अनेक छन्द आज से कई शताब्दी पूर्व ही उत्तम-काव्य के उदाहरण घोषित हो गए थे। इनके छन्दो की श्रेष्ठता की गहरी छाप सहृदय समाज पर लग गई थी। सहृदय-समाज चिर काल से इन छन्दो को भाव-विभोर होकर गुनगुनाता और इनका रसास्वाद लेता चला आ रहा था। ऐसे छन्दो की तुलना मे भाषा के दोहो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर देना कोई साधारण कार्य नही है । इस कार्य मे असाधारण पाडित्य के अतिरिक्त उच्चकोटि की सहृदयता भी अपेक्षित है । छन्द के भाव-सौदर्य, उसके अन्त स्तल मे प्रवाहित रस-धारा वर्ण्य-विषय तथा भाव के अनुरूप शैली, शब्दार्थ के विलक्षण चमत्कार और अर्थ-गाम्भीर्य का साक्षात्कार करने वाला आलोचक ही इस सूक्ष्म अन्तर को समझ सकता है। शर्मा जी मे हमे ऐसी ही प्रतिभा और सहृदयता के दर्शन होते हैं। पडितजी इस सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट अनुभव करते हुए प्रतीत होते है । अन्य पाठको के लिए इसी अन्तर का स्पष्ट कर देना उनकी आलोचना का उद्देश्य है । इस प्रकार सहृदयता ही उनकी आलोचना का प्रधान मानदण्ड है । पडितजी के आलोचक स्वरूप को अमरीका के प्रसिद्ध आलोचक जे० ई० स्पिनगार्न के शब्दो मे स्पष्ट किया जा सकता है । वे प्रभाववादी आलोचक के कार्य को बतलाते हुए कहते है "To have sensations in the presence of a work of art and to express them,

that is the function of criticism for the impressionist critic ''

पडित जी अपनी आलोच्य रचनाओ के सौदर्य से आनन्द-विभोर होकर उनकी प्रशसा करने लगते है । 'वाह उस्ताद क्या कहने है', 'कितना माधुर्य है' आदि वाक्य उनकी आनन्दानुभूति को स्पष्ट कर रहे है । इस प्रकार के वाक्यो का प्रयोग उनकी आलोचना मे सर्वत्र ही मिलता है । ये वाक्य निर्णयात्मक और केवल दाद देने वाले से प्रतीत होते है । प्राय आलोचक इस प्रकार की आलोचना को इतना महत्व नही देते । वे इसे केवल दाद देने वाली कह देते है । पर प्रभाववादी समालोलक का आनन्द इस प्रकार के शब्दो मे प्रकट हुये बिना रहता नही है । उसका आनन्द ही निर्णय बन जाता है । और यही पडितजी मे हुआ है ।

"To read it is for me to experience a thrill of pleasure My delight in it is itself a judgement, What better judgement is it a possible for me to give· All that I Can do is to tell how it affects me, what sensations it give me ' इन शब्दो मे पडित जी की आलोचना की मूल प्रकृति की व्याख्या हुई है । अगर लेखक ने तुलनात्मक प्रणाली को न अपनाया होता तो उसे बिहारी के काव्य-सौष्ठव का विशद विश्लेषण करने का अवसर प्राप्त होता । उसकी आलोचना इस प्रकार की प्रभाववादी आलोचना का अच्छा उत्कृष्ट उदाहरण बन जाती है । मिश्रबन्धुओ की आलोचना का निर्णय-तत्व तो शास्त्रीय विशेषताओ की जटता का आधार लिए हुए है । वहा पर सहृदयता की सजीवता के दर्शन नही होते है । पर पडित जी ने बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते समय कवियो को अपनी सहृदयता की कसौटी पर कसा है । जिस कवि ने उनको अधिक आनन्द-विभोर कर दिया, उसीको उन्होने श्रेष्ठ माना है । यही उनकी आलोचना को निर्णायक स्वरूप प्रदान कर रहा है । पर इतने पर भी उनकी आलोचना का प्रभाववादी स्वरूप स्पष्ट है ।

कवि अपने उद्देश्य मे कितना सफल हुआ है उसकी अभिव्यजना मे क्या सौदर्य है, इन प्रश्नो को ध्यान मे रखते हुए लेखक ने आलोच्य रचना के सम्बन्ध मे केवल अपना ही निर्णय नही दिया है । उसने इन विशेषताओ का ऐसा विश्लेषण किया है कि सहृदय पाठक स्वय भी उनका महत्व समझ सके । लेखक का उद्देश्य महत्व-निर्णय की अपेक्षा पाठक मे काव्य-सौष्ठव की अनुभूति जागृत करना अधिक है । "नहि पराग नहि मधुर मधु, नहि विकास इहि काल" इस दोहे के द्वारा कवि अपने आश्रयदाता को उपदेश देना चाहता है । यह उसकी हित-चिता की दृष्टि से लिखा गया है । इस कार्य को मार्मिकता, भाव-सौदर्य और चमत्कारपूर्ण शैली मे सम्पन्न करना ही कवि की सफलता है । 'गाथा सप्तसती', 'आर्या सप्तसती' आदि के उदाहरणो की अपेक्षा यह दोहा अपने कार्य मे अधिक सफल हुआ है । इस सौष्ठव का चित्रण जिन शब्दो

मे किया गया है उनसे सहृदय मे अनुभूति जागृत करने की क्षमता है। "इन सबकी अपेक्षा भौरे के लिए बिहारी की हित-चिन्ता बहुत ही गम्भीर, मधुर और हृदयस्पर्शी है। न इसमे तटस्थता की झलक है, न रस-पात का प्रचारोपदेश है। न एक अधखिली कली को छोडकर खिली क्यारियो मे खुले खेलने की छुट्टी है। वाह!" "विषयासक्त मित्र के भावी अनर्थ की चिन्ता से व्याकुल सुहृज्जन की चिन्तोक्ति का क्या ही सुन्दर चित्र है। कहने वाले की एकान्तहितैषिता परिणामदर्शिता, विषयासक्त मित्र के उद्धार की गम्भीर चिन्ता के भाव इससे अच्छे ढङ्ग पर किसी प्रकार प्रकट नही किये जा सकते।"[1] इन पक्तियो मे साहित्यिक सौन्दर्य का विश्लेषण प्रभावाभिव्यजक और निर्णयात्मक दोनो प्रकारो से हुआ है। इन दोनो का सामजस्य शर्मा जी की समालोचना की प्रमुख विशेषता है। पण्डित जी ने अनेक स्थानो पर अपनी उत्कृष्ट सहृदयता का बडा अच्छा परिचय दिया है। उनके विवेचन मे भी बहुत बारीकी है। 'गाथा सप्तशती' की एक गाथा मे नायिका का प्रवासी पति आकर फिर विदेश जाने की सोच रहा है। इसी प्रसग मे कवि ने सयोग-काल की अत्यल्पता प्रदर्शित करने के लिए नायिका के केशो की 'गुलझट' के अभी सीधे न होने का वर्णन किया है। लेकिन बिहारी ने इसी प्रसग मे नायिका के स्वाभाविक रग के वापिस न आने का वर्णन किया है।[2] इस व्यापार के चुनाव मे अधिक कलात्मकता है। शरीर और मुख के रंग का स्वाभाविक होना अत्यन्त वाँछनीय और अल्पकाल की क्रिया है। "गई हुई कान्ति का मुख पर फिर मे आ जाना तो प्रिय-दर्शन का तात्कालिक प्रभाव है।" पण्डितजी ने इस दोहे की प्रशसा करके प्रौढ सहृदयता का परिचय दिया है।[3] पण्डित जी ने भाव और कल्पना के औचित्य का ही निरूपण नही किया है अपितु उन्होने दो शब्दो अथवा पदावलियो के सौष्ठव के तुलनात्मक अध्ययन मे भी सहृदयता का परिचय दिया है। सस्कृत के पदो की अपेक्षा बिहारी द्वारा प्रयुक्त शब्दो मे अर्थाभिव्यक्ति की अधिक क्षमता का प्रतिपादन किया गया है।[4] इससे उनके सूक्ष्म

---

१ 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ३६-३७।

२. अव्वो दुष्करकारक, पुनरपि चिन्ता करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरगिणश्चिकुराः।
अजौ न आये सहज अ ग, बिरह बूडरे गात।
अब ही कहा चलाइयत, ललन चालन की बात॥

३ 'बिहारी सतसई' पृष्ठ ४०।

४. उनमे पर्याप्त व्यापारों का बड़ा ही मनोहर शब्द खिचा गया है। फिर दोहे की शब्द-स्थापना पर ध्यान दीजिए, कितना गढ़कर दृढ़ता से सन्धि मिलाकर शब्दों

विश्लेषण और कवि-हृदय का परिचय मिलता है। छोटे-छोटे पदो की बडी ही विशद व्याख्या हुई है। बिहारी के "सैननि बरज्यौ" की व्याख्या करते हुए पण्डित जी लिखते है "वह 'सैननि बरजति' आखो के इशारे मे निषेध करती है। वह इस प्रपच प्रसग मे सम्मिलित होने इतना भय खाती है कि शब्दो मे मना करते भी डरती है धीरे-धीरे बोल, यह भी इशारे से समझाती है, सखी द्वारा इस प्रस्तुत प्रसंग मे किसी प्रकार सहमत होना तो दूर रहा कण्ठ द्वारा निषेध करते भी उसे सकोच है। धीरे से बोलने का इशारा भी इसलिए नही कर रही है कि वह चुपके से सुनना चाहती है, किन्तु कदाचित इसका कारण कि कोई और सुनकर इस बेतुकी बात पर सखी का उपहास न करे।" इन शब्दो से शर्मा जी की सहृदयता अत्यन्त स्पष्ट है। एक छोटी सी पदावली मे जो गूढार्थ छिपा हुआ है, उससे दोहा कितना अधिक मर्म-स्पर्शी हो जाता है। सहृदय पाठक को उसका सौन्दर्य द्विगणित प्रतीत होने लगता है। यही शर्मा जी की आलोचना की विशेषता है। शर्माजी को इस कार्य मे सर्वत्र सफलता मिली है। उनका उद्देश्य अपनी आलोचना द्वारा बिहारी के काव्य सौष्ठव की अनुभूति पाठक को करा देना है। इस प्रकार से वे अपने अनुरूप ही पाठक को भी बिहारी का प्रशसक बना लेते है। पण्डित जी का आलोचक रूप पाठक को कवि के गूढ अभिप्राय के साक्षात्कार द्वारा आनन्दित कर रहा है।

सस्कृत के आचार्यो ने काव्यागो और काव्य-सौन्दर्य का इतना विशद तथा व्यापक निरूपण किया है कि सस्कृत का प्रभाववादी समालोचक भी अपने पर पडे हुए प्रभावो को व्यक्त करने के लिए शास्त्रीय पदावली का प्रयोग करने मे सुविधा का अनुभव करता है। यही कारण है कि आधुनिक दृष्टिकोण से यह आलोचना भी तन्त्रवादी ही प्रतीत होती है। पण्डित जी की आलोचना का मूल आधार सहृदयता और प्रभावाभिव्यजकता ही है। पर बिहारी के सौष्ठव का प्रतिपादन करते हुए उन्होने प्राचीन आचार्यो द्वारा मान्य काव्यागो का निरूपण भी अनेक स्थानो पर किया है। पण्डितजी ने बिहारी के बहुत-से दोहो को ध्वनि-काव्य अथवा उत्तम-काव्य के उदाहरण माना है। 'छनछनाय छवि जाय' से वियोग सन्ताप का अधिक व्यग्य है। इस प्रकार वाच्यातिशयी व्यग्य होने से यह दोहा ध्वनि-काव्य का उत्तम उदाहरण है।[1] 'यह दोहा अप्रस्तुत प्रशसा या समासोक्ति के रूप मे कवि की कविता पर भी पूर्णतया सघटित होता है,'''-व्यतिरेक' और 'भेदकातिशयोक्ति' की हृदयगम यथार्थता

को बिठलाया है कि जरा भी कही शिथिलता का नाम नही, एक मात्रा भी इधर-उधर नहीं हो सकती "हस्यौ, खिसानी, गर गसौ, रही गरे लपटाय" अगूठी पर नगीने से जड़ दिये हैं। पृष्ठ ६३।

१. 'बिहारी सतसई', पृष्ठ ६२।

समझ मे आ सकती है'।[1] अनेक स्थानो पर हाव-भाव आदि का भी उल्लेख है।

पण्डितजी ने बिहारी के कतिपय दोहो की आलोचना की है। बिहारी की सामान्य प्रवृत्तियो, वर्ण्य-विषय अथवा कवित्व-शक्ति पर कहने का उन्हे बहुत कम अवसर मिला है। एक-आध स्थान पर केवल कुछ वाक्यो मे इसका सकेत-भर हो सका है। बिहारी की रचना परिमाण मे अल्प होते हुए भी उसका सहृदय-समाज मे पर्याप्त आदर हुआ है और आज भी वैसा ही हो रहा है। इससे बिहारी की कवित्व-शक्ति की प्रौढता अत्यन्त स्पष्ट है। इसके कारणो का निर्देश करते हुए पडित जी कहते है—"बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी है उतनी ही, गहरी गूढ और गम्भीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहारिता का प्रभाव इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदली, पर वर्तमान समय के सुरुचि-सम्पन्न कविता-प्रेमियो का अनुराग उसपर आज भी वैसा ही बना है। जैसे पहले पुराने खयालके 'खूसट' उनपर लट्टू थे, आज नई रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौ जान से फिदा है।[2] पडित जी बिहारी के वर्ण्य-विषय तथा उनकी प्रतिपादन-शैली के सौन्दर्य पर भी प्रकाश डालते है। वे कहते है "बिहारी की शृङ्गारमयी कविता है। यद्यपि इसमे नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहो का भी सर्वथा अभाव नही है। इस रग मे बिहारी ने जो-कुछ कहा है वह परिमाण मे थोडा होने पर भी भाव-गाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणो मे सबसे बढा-चढा है। ऐसे वर्णनो को पढकर-सुनकर बडे-बडे नीति-धुरन्धर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गए है, फिर 'बिहारी सतसई' का मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमे दूसरे रसो की चाशनी मुँह का मजा बदलने के लिए है।"[3] इन कुछ वाक्यो के अतिरिक्त पडितजी ने बिहारी की सामान्य प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन नही कराया है। वस्तुत. आलोचना के इस स्वरूप का विकास इस समय तक हो नही पाया था। मिश्रबन्धुओ ने अपनी आलोचना मे उस प्रवृत्ति का कुछ थोडा-सा आभास दिया था। पर जीवन-चरित के विशद निरूपण के अतिरिक्त कवियो की सामान्य विशेषताओ पर उन्होने भी बहुत कम लिखा है। हाँ, कबीर की समालोचना मे उन्होने इस शैली को अवश्य अपनाया है। उसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि कबीर की कविता का विषय-विभाजन ही कुछ इस प्रकार हुआ है कि उसकी सामान्य प्रवृत्तियो का चित्रण आवश्यक हो गया। अस्तु, अभी तक आलोचना की इस पद्धति का समुचित विकास हुआ ही नही था। आचार्य शुक्ल

---

१ वही पृष्ठ ४२।

२. वही पृष्ट १०।

३. वही पृष्ठ १०।

के पूर्व तक इस पद्धति के सश्लिष्ट और प्रौढ रूप के दर्शन नही होते। शुक्लजी ने भी पडित जी की आलोचना के इस अभाव की ओर सकेत किया है। दूसरे शृङ्गारी कवियो से अलग करने वाली बिहारी की विशेषताओ के अन्वेषण और अन्त-प्रवृतियो के उद्घाटन का (जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है।) प्रयत्न इसमे नही हुआ है।[1] यह अभाव अब तक के सभी समालोचको मे सामान्य रूप से पाया जाता है।

पडितजी ने सस्कृत-आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्यागो के आधार पर कही-कही बिहारी के फुटकर छन्दो की आलोचना की है, पर उसमे भी शर्मा जी के हृदय पर पडे हुए प्रभाव का ही प्राधान्य है। उसमे अनेक स्थानो पर प्रौढ साहित्यिकत और सहृदयता का परिचय दिया गया है और पाठक मे वैसी अनुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न भी हुआ है, पर वे अपना निर्णय पाठको पर लादने की प्रवृत्ति भी दबा नही सके है। इस प्रवृति के कारण सारी आलोचना मुशायरे मे दाद देने वाली-सी हो गई है। इसमे उन्हे अनेक स्थानो पर व्यगात्मक शैली को अपनाना पडा है। कही-कही तो इससे पुस्तक मे सजीवता और मनोरजकता आ गई है। पर इसके अत्यधिक प्रयोग ने पुस्तक की गम्भीरता को भी नष्ट कर दिया है। अत्यधिक व्यग्य और वाह-वाह पूर्ण शैली कुछ विनोदपूर्ण लेख लिखने के उपयुक्त तो होती है, पर समालोचनाओ मे उनका यत्र-तत्र प्रयोग ही पर्याप्त है। फिर सारी समालोचना भी व्यगात्मक शैली मे लिखी जा सकती थी, पर समालोचक को यह भी अभिप्रेत न था। इस प्रकार इस शैली का प्रयोग उनके लिये सर्वत्र ही शोभा का हेतु नही हुआ है। शुक्लजी ने इस शैली को अनुपयुक्त कहा है। वे कहते है कि "एक खटकने वाली बात यह है कि बिना जरूरत के जगह-जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज।"[2] ऊपर इनकी आलोचना की विशेषताओ का निरूपण स्पिन्गार्न के शब्दो मे किया गया है। अगर पडित जी इस चुहलबाजी, शाबाशी और अपने वैयक्तिक निर्णय को इतना अधिक प्राधान्य न देकर अपनी आलोच्य रचना के प्रभावो को कलापूर्ण शब्दो मे और विशद रूप मे व्यक्त कर देते तो इनकी कृति प्रभावाभिव्यजक आलोचना के आधुनिक रूप का उत्कृष्ट उदाहरण बन जाती और स्पिन्गार्न की परि- भाषा के अनुरूप खरी उतरती। कही-कही बिहारी के प्रति आलोचक ने अनुचित पक्षपात भी प्रदर्शित कर दिया है। इस कारण मे भी इसमे निर्णयात्मक आलोचना के तत्व अधिक प्रधान हो गये है। इसी निर्णयात्मक तत्व की प्रधानता तथा काव्यागो के निर्देश-मात्र के कारण शुक्ल जी इस आलोचना

---

१ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५८७।

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५२७।

को भी रूढिगत ही कहना चाहते है। फिर भी इस आलोचना मे प्रभाववादी तत्व भी अत्यन्त स्पष्ट है।

बिहारी के महत्व को सहृदय समाज के मस्तिष्क और हृदय द्वारा फिर से अंगीकृत कराने के लिए पडितजी को कही-कही बिहारी के प्रति पक्षपात-प्रदर्शन के लिए बाध्य होना पडा है। इसी महत्व-प्रतिपादन के लोभ मे पडितजी ने कतिपय साधारण कवियो से बिहारी की तुलना करके ग्रथ के कलेवर को बढा दिया है। घासीराम आदि कवियो से बिहारी की तुलना का कोई विशेष महत्व नही है। 'शून्य वासगृहे विलोक्य' और "त्व मुग्धाक्षी विनयैव कचुलिकया धत्से मनोहारिणी" 'आर्या सप्तशती' के इन दोनो श्लोको को प्राचीन आचार्यो ने काव्य के सुन्दर उदाहरणो मे माना है। पडितजी ने इनमे से प्रथम मे शब्द-दारिद्रय और दूसरे मे सखी-समाज के सम्मुख रति-क्रीडा की हाथापाई तथा सभ्यता की सीमा का उल्लघन कहकर दोष दिखाया है। पडितजी ने इनके समकक्ष बिहारी के जो दोहे उद्धृत किए है, उनके सौष्ठव को तो कोई भी अस्वीकार नही करेगा। पर उनके महत्व-प्रतिपादन के लिए इन श्लोको के सौन्दर्य की हत्या आवश्यक नही है। इनके काव्य-सौंदर्य का रसास्वादन भी सहृदय-सापेक्ष है। पडितराज ने "शून्य वासगृहे" वाले श्लोक मे कही-कही उच्चारण की क्लिष्टता के कारण वैदर्भी रीति की दृष्टि से साधारण दोष का सकेत किया है। पर इतने से इसका साहित्यक सौष्ठव कम नही हो गया। इसमे रस-व्यजना तो है ही और यह उत्तम काव्य का उदाहरण भी है। "त्व मुग्धाक्षि विनयैव कचुलिकया धत्से मनोहारिणी" "लक्ष्मीमित्यभिधायनी प्रियतमे तद्वीटिका मस्पृशी" इन पक्तियो द्वारा रतिक्रीडा का जो चित्र सहृदय पाठक के नेत्रो के समक्ष आता है, इनमे हृदय को रसाक्षिप्त करने की कितनी क्षमता है, उतनी 'पति-रति की बतिया मे नही है, कविता सूचना तो है नही। बिहारी की यह पदावली बहुत-कुछ अर्थ-ग्रहण का ही उदाहरण हो गया है। इस प्रकार के स्थलो मे बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाकर आलोचक ने सहृदयता का पूर्ण सदुपयोग नही किया है। उपर्युक्त दोनो दोहे तो अनुवाद-मात्र है। स्वय पडितजी फूलो की बहार और शीशी के इत्र के रूपक द्वारा इनके सौष्ठव का अन्तर स्पष्ट कर रहे है, पर साहित्य मे उपवन के फूलो की ही छटा का अधिक महत्व है, जो नेत्र, नासिका और मन, सबको अभिराम सौन्दर्य का आनन्द प्रदान करने वाले है न कि शीशी-बन्द इत्र का। डा० रसाल ने अपनी 'आलोचनादर्श' नामक पुस्तक मे (पृष्ठ १११) पडितजी की पक्षपातपूर्ण आलोचना की ओर सहृदय पाठको का ध्यान आकृष्ट किया है। वे लिखते है : "सस्कृत के भी उन श्लोको एव उनके रचयिताओ से बिहारी के उन दोहो को, जो उन्हीके आधार पर या उन्हीके भावो को लेकर एक प्रकार से अनुवाद के रूप मे लिखे गए है और मूल श्लोको से कही घटकर है, विशेषता दी गई है।"

तुलनात्मक समालोचना-पद्धति के साथ ही मिश्रबन्धुओं ने बिहारी और देव के झगड़े को भी जन्म दे दिया था। उन्होंने देव को सर्वश्रेष्ठ कवि के पद पर आसीन करके तथा बिहारी की कुछ त्रुटियों का संकेत करके हिन्दी के आलोचकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर दिया। बिहारी के यश के संरक्षण के लिए कई विद्वानों को कटिबद्ध होना पड़ा, 'बिहारी की सतसई' नामक पुस्तक इसी यश-संरक्षण का परिणाम थी, इस प्रकार से हिन्दी-साहित्य में बिहारी और देव की श्रेष्ठता प्रतिपादन का एक अखाड़ा तैयार हो गया था। इसी वाद-विवाद के प्रसंग में प० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ प० पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी की सतसई' की पद्धति पर ही लिखा गया था। इसमें देव की प्रधानता बिहारी से तथा अन्य बहुत से कवियों से तुलना की गई है। इस तुलना का तात्पर्य भी देव को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने में ही है। यह ग्रन्थ 'बिहारी की सतसई' के प्रत्युत्तर की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, फिर भी यथावसर बिहारी के प्रति किए गए पक्षपातों का भी साधारण खण्डन कर दिया गया है। शर्माजी की तरह प० कृष्णबिहारी मिश्र ने भी कवियों के पारस्परिक भाव-सादृश्य की अनिवार्यता स्वीकार की है। उनकी मान्यता है कि बड़े-बड़े कवि भी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों का उपयोग करते हैं। कालिदास, शेक्सपियर और गोस्वामी तुलसीदास-जैसे महान् कवियों ने भी अपने पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों को अपनाने को दोष नहीं माना है।[1] भारतीय आचार्य आनन्दवर्द्धन तथा पाश्चात्य आलोचक एमर्सन ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से भाव अपनाने को दोष नहीं माना है। कवि अगर अपने भाव में कुछ नूतन चमत्कार ला देता है तो उसका भावापहरण क्षम्य है।[2] लेखक ने अपने समकालीन आलोचकों को साधारण भाव-सादृश्य पर ही एक कवि को चोरी के कलंक से लांछित कर देने की तुच्छ प्रवृत्ति की निन्दा की है। उन्होंने भाव-सादृश्य के स्वरूप पर गम्भीर विचार किया है। वे भाव-सादृश्य पर विचार करते हुए उनकी तीन अवस्थाओं की कल्पना करते हैं। वस्तुत पूर्ववर्ती कवियों से भाव-ग्रहण करने के केवल तीन ही स्वरूप हो सकते हैं। ये इसके सौन्दर्य-सुधार सौन्दर्य-रक्षा, और सौन्दर्य-संहार—तीन रूपों का निरूपण करते हैं। पहले के दो स्वरूप तो क्षम्य हैं ही। सौन्दर्य-सुधार तो श्लाघ्य ही है। सौन्दर्य-संहार को लेखक साहित्यिक चोरी मानते हैं। वस्तुतः यह भी कवि की प्रतिभाहीनता का ही परिचायक है। पद्मसिंह जी ने संस्कृत आचार्यों द्वारा भावापहरण के मान्य प्रकारों का उल्लेख किया था, इस प्रकार के स्वतन्त्र चिन्तन को आश्रय नहीं दिया। फिर भी व्यावहारिक रूप में

१. 'देव और बिहारी,' पृष्ठ ८४।
२. वही, पृष्ठ ८४-८५।

उनको भी यह विभाग मान्य प्रतीत होता है। उन्होंने बिहारी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए सर्वत्र उनको सौन्दर्य-सुधारक ही माना है। 'देव और बिहारी' में कतिपय उदाहरणों द्वारा इस विचार-धारा को स्पष्ट किया गया है। जहां कहीं भी भाव-सादृश्य पर विचार हुआ है, वहाँ पर लेखक ने इसी सिद्धान्त का उपयोग किया है।

पंडितजी ने फुटकर छन्दों की तुलनात्मक आलोचना की थी। उसी परम्परा में यह पुस्तक भी लिखी गई है। इसमें भी देव और बिहारी के फुटकर छन्दों की समालोचना हुई है। आलोचना का आधार प्रायः सर्वत्र ही शास्त्रीय है। काव्य की उत्तमता की कसौटी पर विचार करते हुए उक्त लेखक कहते हैं "गुणाधिक्य, अलंकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव-चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए।"[1] 'बिहारी की सतसई' में काव्यांगों के निर्देश की अपेक्षा दाद देने, प्रशंसा करने और सहृदयता की दुहाई देने की प्रवृत्ति अधिक है। पर इस ग्रन्थ में लेखक ने काव्यांगों का निर्देश अधिक किया है। वे छन्द की नायिका, रस, अलंकार, गुण आदि सभी दृष्टियों से व्याख्या करते हैं।[2] बिहारी के एक ही छन्द में अनेक अलंकारों का निरूपण हुआ है।

मानहुँ तन छवि अच्छ को स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोछन को किये भूषण पायदाज॥

इस छन्द में परिकराकुर, अनुगुन, विभावना, तद्गुण, सम, लेश आदि १६ अलंकार दिखाये गए हैं।[3]

फुटकर छन्दों की आलोचना में लेखक ने उनका अर्थ देते हुए एक सजीव चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। लेखक कवि के वर्णित विषय के सौन्दर्य का भी अनुभव कर रहा है। कवि की अनुभूति के साथ इतना तादात्म्य होने के कारण ही मिश्रजी के वर्णनों में इतनी सजीवता आ सकी है। देव के ग्रीष्म-वर्णन की आलोचना करते हुए लेखक सजीव चित्र उपस्थित करते हैं "ग्रीष्म-निशा में चाँदनी की अनुपम बहार एवं वृषभानु-नन्दिनी के शृङ्गार-चमत्कार का आश्रय लेकर कवि का सरस उद्गार बड़ा ही मनोरम है। स्फटिक शिला-निर्मित सौध, उसमें समुज्ज्वल

---

१. वही, पृष्ठ २३६

२. 'देव और बिहारी' पृष्ठ १२४ १२७।

३ वर्ण्य विषय परकीया का भेदान्तर लक्षिता नायिका का है। अर्थ स्पष्टता, सुन्दर शब्दों का प्रयोग और वर्णन-शैली की उत्तमता से इसमें अर्थ-व्यक्त एवं प्रसाद गुण भी हैं। उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त शृंगारमय वर्णन होने के कारण इसमें कैशकी वृत्ति भी है। वही पृष्ठ १२३॥

फर्श-फर्श पर खडी तरुणिया, उनके अंगो की आभा और सबके बीच मे श्रीराधिका जी" उधर अम्बर मे "ज्योत्स्ना का समुज्ज्वल विस्तार, तारिका-मडली को झिल-मिलाहट और पूर्ण चन्द्र-मडल है .... देवजी का मन इस सादृश्य-मात्र दृश्य को देख कर लोट-पोट हो जाता है, वे इस सादृश्य का मान लेने लगते है। उनकी समुज्ज्वला उपमा प्रस्फुटित होती है।"[1] लेखक ने इन दोनो कवियो की काव्य-कला-कुशलता का विवेचन इसी शैली मे किया है। इन कवियो के भाव-सौन्दर्य से लेखक सर्वत्र ही अभिभूत प्रतीत होता है, और उसी दशा मे कुछ अनुभूतिव्यजक और प्रशसात्मक शब्द अपने-आप निकल जाते है।" अन्तिम पद का भाव कितना सयत और पवित्र है एव भाषा भी कैसी अनुप्रासपूर्ण और हृदय-द्राविणी है, मानो सोने की अगूठी मे हीरे का नग जड दिया हो अथवा पवित्र मन्दाकिनी मे निर्दोष नन्दिनी स्नान कर रही हो।[2] कुछ समय तक उसी प्रकार खडी रहने की स्वालिन के प्रति कवि की आज्ञा कितनी विदग्धतापूर्ण है, स्वभावोक्ति का सामञ्जस्य कितना सुखद है।[3] पडित कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना तन्त्र और सहृदयता दोनो पर ही आधारित है। कवि के काव्य-सौष्ठव से अभिभूत होकर मिश्र जी अपने मन के भावो को गद्य-काव्य की शैली मे लिखने लगते है। उस समय उनमे विश्लेषण की प्रवृत्ति की अपेक्षा भावुकता की प्रधानता हो जाती है। ऐसे स्थलो मे उनका प्रभावा-भिव्यंजक रूप अत्यन्त स्पष्ट रहता है। कही-कही उनकी आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति निर्णयात्मक वाक्यो मे भी प्रकट हो जाती है। पर पद्मसिह जी की अपेक्षा ऐसा कम हुआ है। ये अपने प्रभावो को शर्मा जी की अपेक्षा शास्त्रीय पदावली मे अधिक व्यक्त करते है। इनके विचार और भाव स्वभावत पारिभाषिक पदावली मे व्यक्त होते है। इससे स्पष्ट है कि इनमे रूढिवादी और प्रभावाभिव्यजक आलोचना का अपेक्षाकृत सुन्दर सामजस्य है। शर्माजी की आलोचना मे तन्त्र, प्रभाव और निर्णय के उतने सतुलित सामजस्य के दर्शन नही होते। समीक्षा के विकास के साथ इस समन्वय मे भी अधिक प्रौढता और सतुलन आता जाता है। जब वैयक्तिक और विद्वान रुचि मे कोई अन्तर नही रह जाता तो तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यजक समीक्षा-पद्धतियो का पारस्परिक समन्वय अपनी चरम अवस्था पर पहुँच जाता है। उस समय आलोचक को निर्णय की घोषणा नही करनी पडती है, अपितु वह स्वत व्यजित होता जाता है। शुक्लजी तथा सौष्ठववादी प० नन्ददुलारे वाजपेयी मे ऐसे समन्वय के कही-कही दर्शन होते है। ऊपर के निर्दिष्ट तन्त्र, प्रभाव और निर्णय तीनो तत्व ही इस काल

१ वही पृष्ठ १०६।
२. 'देव और बिहारी', पृष्ठ ११०।
३ वही, पृ० ११६।

की (शुक्ल जी के पूर्व की) आलोचना की प्रधान विशेषताएं है। इनके प्रौढ और समन्वित रूप के दर्शन कृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना मे होते है। स्पिनगार्न द्वारा प्रतिपादित इन शैलियो का सम्मिश्रण सर्वत्र नही है। बहुत कम स्थानो पर ऐसे मनुलित प्रौढ रूप के दर्शन होते है। प्राय उनकी आलोचना ने इन दोनो श्रेणियो का आश्रय पृथक्-पृथक् ही लिया है। ऊपर के उदाहरणो से यह स्पष्ट है।

'देव और बिहारी' नामक ग्रन्थ मे फुटकर छन्दो की तुलनात्मक आलोचना भी खूब हुई है। यह पद्धति उन्हे पूर्ववर्ती आलोचक शर्माजी से मिली। लेकिन इसमे भी मिश्रजी ने मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। उन्होने दोनो कवियो के विषय-साम्य वाले समान छन्दो का ही तुलनात्मक अध्ययन नही किया है प्रत्युत उनके विषम छन्दो की भी आलोचना करके इस पद्धति को सर्वाङ्गीण बनाने की चेष्टा की है। उन्होने इस प्रकार की विरोधी उक्तियो पर विचार कर लेना समीचीन समझा है। देव की सयोग शृगार की उक्तियो के समकक्ष बिहारी के वियोग शृगार के दोहो को रखने का एक कारण यह भी है कि इन दोनो कवियो की प्रतिभा क्रमश: इन दो भिन्न क्षेत्रो मे अधिक स्पष्ट हो पाई है। आलोचक ने उनकी रुचि के वर्ण्य विषय और प्रतिभा के अनुकूल सर्वोत्कृष्ट स्थलो को लेकर आलोचना करने का प्रयत्न किया है। फिर चाहे उन स्थलो मे भाव-सादृश्य है या नही, इसकी चिन्ता उन्होने नही की। कवि-प्रतिभा की गहराई जाचने के लिए यही आवश्यक भी था। विरोधी उक्तियो पर विचार करने के कारणो को स्पष्ट करते हुए लेखक कहते है—"सयोग दशा मे कवि के वर्णन करने के रग को देखकर पाठक यह बात बखूबी जान सकते है कि वियोग दशा मे उनकी वर्णन-शैली कैसी होगी। वियोग-कुशल कवि के वियोग-सम्बधी छन्द उद्धृत है तथा सयोग-कुशल के सयोग-सम्बधी।[1] फिर लेखक ने जिन स्थलो को चुना है उनमे प्राय भाव-सादृश्य भी है। दोनो कवियो के वर्णित-विषयो का चित्र उपस्थित करके आलोचक ने उनका तुलनात्मक अध्ययन किया है। लेखक ने यद्यपि सहृदय पाठको को उन स्थलो का रसास्वाद करने तथा उनकी विशेषताओ से परिचित होने का अवसर दिया है और उन्होने उन स्थलो की विशेषताओ का विश्लेषण कर दिया है। "एक ओर विरहिणी नायिका की ऐसी दुर्दशा देखने का प्रस्ताव है, तो दूसरी ओर इसी प्रकार चुपचाप झाककर वह चित्र देखने का आग्रह है, जो नेत्रो का जन्म सफल करने वाला है। एक ओर कृशागी, विरह-विधुरा और म्लान सुन्दरी का चित्र देखकर हृदय-सरिता सूखने लगती है, तो दूसरी ओर स्वस्थ, मधुर और विकसित यौवना नायिका की कदुक-क्रीडा दृष्टिगत होते ही हृदय-सरोवर लहराने लगता

१ 'देव और बिहारी', पृ० ३५

२ वही पृ० २३१

है।" "दाहिने हाथ से गेंद उछालते समय बाएं हाथ से नायिका को बाल, माला और आंचल सभालना पड रहा है एवं इसी कंदुक-क्रीडा के कारण सलोने मुख का झुकना एवं नेत्र-कारकों का सतत नृत्य कितना मनोरम है।"[1] इस प्रकार चित्र को सहृदयजनों के लिए मूर्तिमान और आस्वाद्य बनाकर उसकी सामान्य विशेषताओं का निर्देश कर देने के बाद लेखक ने इन कवियों के विरोधी अथवा एक दूसरे की पूरक उक्तियों का आलोचनात्मक परिचय भी दिया है। उन्होंने कवियों की विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है। "छोटे छन्द में आवश्यक बातें न छोडते हुए, उक्ति कैसे निभाई जाती है, यह चमत्कार बिहारी बात में है तथा बडे छन्द में, परन्तु भाव और भाषा के सौन्दर्य को बढाने वाले अनेक कथनों के साथ भाव कैसे विकास पाता है यह अपूर्वता देव की कविता में है।"[2]

केवल फुटकर छन्दों के साहित्यिक सौन्दर्य का तुलनात्मक परिचय दो कवियों की तुलना नहीं कही जा सकती। वास्तविक तुलना तो कवियों की विशेषताओं का निरूपण है। उनके साम्य और वैषम्य दोनों ही का विवेचन तुलना के लिए आवश्यक है। तुलना का उद्देश्य दोनों कवियों की उन विशेषताओं का वर्णन करना है, जिनसे उनकी काव्य-पद्धति का सर्वांगीण परिचय मिल सके। इन विशेषताओं के आधार पर दोनों कवियों का मौलिक अन्तर एकदम स्पष्ट हो जाना चाहिये। प० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की काव्य-पद्धति पर इस दृष्टि से भी विचार किया है। वे दोनों की प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। उन्होंने देव को रसवादी कवि माना है। केशव से उनकी भिन्नता बतलाते हुये वे कहते हैं--"साराश यह है कि केशवदास ने अलकार का प्रस्फुरण वास्तव में बडे ही मार्के का किया है। उधर देव कवि का काव्य रस-प्रधान है।"[3] उन्होंने केशव के आचार्यत्व की प्रशसा की है, पर केशव की अपेक्षा उन्हें देव में कवित्व-शक्ति अधिक लगती है।[4]

लेखक काव्य-शैली के 'स्वभावोक्ति' और 'अतिशयोक्ति' दो प्रधान भेद मानकर चलते हैं। पहले प्रकार की शैली में वर्ण्य विषय का सागोपाग विशद वर्णन होता है। उसमें कवि प्रायः सभी अलकारों का प्रयोग करता है, पर उसका उद्देश्य रस-निष्पत्ति होने के कारण, वह चमत्कार की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। अपने वर्णन को यथासम्भव स्वाभाविक बनाये रखने की अधिक चेष्टा करता है। लेखक ने अतिशयोक्ति का प्रयोग 'वक्रोक्ति' अथवा चमत्कार-प्रियता के अर्थ में किया है।

---

१ 'देव और बिहारी', पृष्ठ २३२

२ पृष्ठ २५६।

३ वही, पृष्ठ २६४।

४. वही, पृष्ठ २६३।

इस शैली का कवि अपने वर्णन को विशद करने की अपेक्षा उसमे इशारो से अधिक काम लेता है। वह शब्द की व्यजना-शक्ति का अधिक उपयोग करता है। अपनी ओर से स्पष्ट कहने की अपेक्षा पाठक को चिन्तन और कल्पना का अधिक अवसर प्रदान करता है। बिहारी की काव्य-शैली मिश्र जी ने दूसरे प्रकार की मानी है। उन्हे बिहारी की प्रकृति चमत्कार-प्रिय प्रतीत होती है। वे यह भी मानते है कि उन्हे इस शैली का प्रयोग दोहा छन्द के निर्वाचन के कारण भी करना पडा है। छोटे छन्द मे अधिक बात कहने के लिए यही शैली उपयुक्त भी है।[1] आलोचक को अतिशयोक्ति की अपेक्षा स्वाभावोक्ति शैली अधिक प्रिय है। उसे वे रस-निष्पत्ति के अधिक उपयुक्त समझते है। उनका मत बहुत-कुछ ठीक भी है। उन्होने अपने मत का समर्थन रस्किन की उक्ति द्वारा किया।[2] देव को बिहारी से अधिक ऊ चा स्थान देने का एक कारण यह भी है। रस की दृष्टि से विचार करने वाले आलोचक के लिए यह स्वाभाविक भी है। उन्होने दोनो कवियो की उक्तियो पर विचार करते हुए रस-निष्पत्ति वाले और सहृदय-जन द्वारा श्लाघ्य छन्दो की ही प्रशसा अधिक की है। देव के वर्णन उन्हे अधिक हृदय-स्पर्शी प्रतीत होते है।

बिहारी और देव के वर्ण्य विषयो की आलोचना करते हुए लेखक ने उन विषयो की प्रकृति पर विचार किया है। "देव ने अपने सभी ग्रन्थो मे प्रेम का वर्णन किया है। उन्होने अपनी 'प्रेम-चन्द्रिका' नामक पुस्तक मे प्रेम के लक्षण, स्वरूप, महात्म्य आदि पर भी विचार किया है। उनका प्रेम-वर्णन क्रमबद्ध है। उन्होने वासना और शुद्ध प्रेम मे अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है। प्रेम के सहायक तत्व मन, नेत्र आदि का भी विशद वर्णन है।"[3] देव के प्रेम-वर्णन का साधारण परिचय-भर ही नही दिया गया है अपितु बिहारी के प्रेम-वर्णन से उसकी भिन्नता और उत्कृष्टता का भी निरूपण हुआ है। देव मे परकीया का वर्णन हुआ तो है पर वे स्वकीया के प्रेम को ही अधिक महत्व देते है। बिहारी के प्रेम-वर्णन मे परकीया-प्रेम की प्रधानता है। वे प्रेम का क्रमबद्ध वर्णन भी नही कर सके है। बिहारी देव की तरह प्रेम और वासना के अन्तर को स्पष्ट करने मे सफल नही हुए है।[4] इस प्रकार आलोचक ने इन दोनो

---

१ 'देव और बिहारी', प्रतिभा-परीक्षा अध्याय पृष्ठ १४६-१५१।

२ वही, पृष्ठ १५२। "दोनो कवियो की कविताओ से तुलना कसौटी पर कसी जा कर निश्चय बिलाती है कि बिहारी देव की अपेक्षा अतिशयोक्ति के अधिक प्रेमी है एव देव स्वाभावोक्ति और उपमा का अधिक आदर करने वाले है।" वही, पृष्ठ २२७।

३ वही, पृष्ठ १५५।

४ बिहारीलाल की अपेक्षा देव ने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रमबद्ध किया है। उनका वर्णन शुद्ध प्रेम के स्फुरण में विशेष हुआ है। बिहारीलाल का वर्णन न तो

कवियो के वर्ण्य विषय के आधार पर भी उनकी उन विशेषताओ का निरूपण किया है, जिनसे इन दोनो कवियो का साम्य और वैषम्य दोनो ही अत्यन्त स्पष्ट है । इसके अतिरिक्त पं० कृष्णबिहारी मिश्र इन दोनो कवियो का सामान्य परिचय देते हुए उनकी जीवन एव काव्य-सम्बन्धी अन्य विशेयताओ का भी निरूपण करते हैं । इसमे इन कवियो के लिए रस, नायक-नायिका, छन्द निर्वाचन, ग्रन्थो की सख्या तथा उनकी लोकप्रियता आदि अनेक बातो का उल्लेख हुआ है । ऐसे प्रसगो मे मिश्रजी की शैली परिचयात्मक ही अधिक है । आलोचक ने 'मन' और 'नेत्र' के अध्यायो मे भी यत्र-तत्र दोनो कवियो की विशेषताओ का उल्लेख करके उनकी काव्य-शैली और वर्ण्य विषय के स्वरूप-सम्बन्धी अन्तर को स्पष्ट किया है । पर इन दोनो अध्यायो मे उद्धरणो द्वारा पाठको को उनके काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद लेने का ही अवसर अधिक दिया गया है ।

लेखक ने भाषा पर विचार करते हुए अर्थालकारो का निर्वचन तो अनेक स्थानो पर किया ही है । दोनो कवियो ने अनुप्रास का कितना सुन्दर प्रयोग किया है इनका निरूपण भी हुआ है । केशव और देव की भाषा के मौलिक अन्तर का भी स्पष्टीकरण हुआ है । देव की भाषा केशव की अपेक्षा इतनी अधिक मधुर क्यो है ? दोनो के शब्द-चुनाव का दृष्टिकोण क्या है ? इस प्रकार के कई-एक गम्भीर प्रश्नो पर विचार करते हुए लेखक ने दोनो कवियो की भाषा की मुख्य विशेषताओ का उल्लेख किया है । "मुख्यतया दोनो ही कवियो ने ब्रजभाषा मे कविता की है, पर केशव की भाषा मे सस्कृत एव बुन्देलखडी के शब्दो को विशेष आश्रय मिला है । सस्कृत-शब्दो की अधिकता से केशव की कविता मे ब्रजभाषा की सहज माधुरी न्यून हो गई है । सस्कृत मे मीलित वर्ण एव टवर्ग का प्रयोग विशेष अनुचित नही माना जाता, परन्तु ब्रजभाषा मे इनको श्रुति-कटु मानकर यथासाध्य इनका कम व्यवहार किया जाता है । केशवदास ने इस पाबन्दी पर विशेष ध्यान नही दिया है । इधर देव ने मीलित वर्ण टवर्ग एव रेफयुक्त वर्णो का व्यवहार बहुत कम किया है । सो जहा तक श्रुति-माधुर्य का सम्बन्ध है, देव की भाषा केशव की भाषा से अच्छी है । केशव की भाषा बहुत-कुछ विलष्ट भी है । ... शब्दो की तोड-मरोड कम करने तथा व्याकरण-सगत

क्रमबद्ध ही है, न उसमे विषय-जन्य और शुद्ध प्रेम मे बिलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है । देव ने परकीया का वर्णन किया है और अच्छा किया है, परन्तु परकीया-प्रेम की उन्होने निन्दा भी खूब की है और स्वकीया का वर्णन उससे भी बढकर किया है । मुग्धा स्वकीया के प्रेमानन्द मे देव मग्न दिखाई पडते है । पर बिहारी ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है ।

'देव और बिहारी', पृष्ठ १५५ ।

भाषा लिखने मे वह देव से अच्छे है ।'''देव की भाषा लिखने मे लोच, अलकार प्रस्फुरण की सरलता एव स्वाभाविकता अधिक है । हिन्दी-भाषा के मुहावरे एव लोकोक्तिया भी देव की भाषा मे सहज सुलभ है ।"[1]

भाषा सम्बन्धी तुलनात्मक आलोचना का यह अच्छा उदाहरण है । इसमे विश्लेषण एव तर्कपूर्ण विवेचन की गम्भीरता है । वैयाक्तिक रुचि के आधार पर दाद देने एव प्रशसा मात्र का हल्कापन नही । इससे स्पष्ट है कि हिन्दी की आलोचनात्मक चेतना धीरे-धारे विकसित होकर गम्भीरता और प्रौढता की ओर अभिमुख हुई है ।

कवियो की बहुज्ञता का दिग्दर्शन भी इस काल की आलोचना का एक विशेष अग हो गया था । पद्मसिह जी ने भी बिहारी के व्यापक पाडित्य पर विचार किया है । देव और बिहारी मे दोनो कवियो की बहुज्ञता का प्रतिपादन हुआ है । इसमे कवि के गणित आदि के सामान्य-ज्ञान का उल्लेख होता है । इनका कवि के जीवन-दर्शन और वर्ण्य विषय से प्राय कुछ भी सम्बन्ध नही होता । कही-कही अप्रस्तुत योजना मे उपयोगी होने के कारण आलोचना की दृष्टि से इस ज्ञान का बहुत साधारण-सा महत्व है । मिश्रजी ने ईश्वर, साकारोपासना आदि का विवेचन करके कवियो की जीवन-सम्बन्धी धारणाओ तथा युग-चेतनाओ की ओर भी सकेत कर दिया है, समीक्षा की दृष्टि से यह विवेचन महत्वपूर्ण है । पर आलोचक ने इन विषयो पर देव के कुछ छन्द उद्धृत कर दिए है और उन छन्दो पर प्रशसात्मक टिप्पणी भी दे दी है । कवि की विचार-धारा के स्पष्टीकरण के लिए विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता थी, उसका नितान्त अभाव है ।[2] इनमे आलोचना की प्रौढता नही आ पाई है । एक स्थान पर परकीया-चित्रण के आधार पर लेखक ने बिहारी की चारित्रिक विशेषताओ की ओर सकेत किया है ।[3] इनमे मनोवैज्ञानिक समालोचना के तत्वो का साधारण आभास मिलता है । विभिन्न समालोचना-पद्धतियो के अस्पष्ट तत्व द्विवेदी तथा मिश्रबन्धु आदि सभी मे मिलते है पर वे उनकी प्रधान विशेषताए नही मानी जा सकती ।

आलोच्य कवियो के भाव, शैली, भाषा, विचार-धारा आदि की मौलिक विशेषताओ का निरूपण करके लेखक ने आलोचना के समीचीन दृष्टिकोण को अपनाया है । यद्यपि देव की श्रेष्ठता उन्हे अभिप्रेत है, पर इसके लिये उन्होने बिहारी की निन्दा नही की है । बिहारी के काव्य-सौदर्य की नितान्त अवहेलना करना तुलना नही है । पद्मसिह जी ने अनेक प्राचीन श्लोक उद्धृत किये है, लेकिन उनके काव्य-

---

१ 'देव और बिहारी', पृष्ठ २८६ ।

२ वही, पृष्ठ ३००-३०२ ।

३ वही, पृष्ठ १६२ ।

सौष्ठव की ओर उनका ध्यान नही गया। इस ग्रन्थ मे लेखक ने देव की तुलना केशव और बिहारी दोनो से की है। दोनो की कमियो का निर्देश तो किया है, पर उनकी विशेषताओ की ओर से आख नही मीच ली है। लेखक ने कई स्थानो पर बिहारी की मुक्त कठ से प्रशसा की है। "अधर धरत हरि के परत" वाले दोहे के काव्य-सौष्ठव से अभिभूत होकर हठात् उनके मुख से निकल पडता है—"कैसा चमत्कारमय दोहा है। सब कवियो की सूझ इतनी विस्तृत कहा होती है।"[1] लेखक ने बिहारी के एक दोहे मे अनेक अलकारो का निर्देश किया है। उनकी चमत्कार और अतिशयोक्ति-पूर्ण उक्तियो की अनेक स्थानो पर प्रशसा की है। बिहारी का विरह-वर्णन लेखक के मत मे बहुत ही सुन्दर है, उसमे उन्होने मार्मिकता के दर्शन किये है। "बाला और बल्ली का कितना मनोहर रूपक है। घनश्याम का श्लिष्ट प्रयोग कैसा फबता है। कुम्हलाई हुई लता पर ईषत् जल पडने से वह जैसे लहलहा उठती है वैसे ही विफल विरहिणी का घनश्याम के वर्णन मे सब दु ख दूर हो जायगा। सखी यह बात नायिका से कैसी मार्मिकता के साथ कहती है। बिहारीलाल का विरह-निवेदन कितना समीचीन है।"

लेखक ने दोनो कवियो की विशेषताओ की प्रशसा की है, पर उन्हे देव मे बिहारी की अपेक्षा अधिक काव्य-सौदर्य प्रतीत होता है। देव रसवादी कवि हैं। उन्होने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार चमत्कार को अपने काव्य मे आश्रय दिया है, पर फिर भी उनकी वृत्ति रसोक्तियो मे अधिक रमी है। इस दृष्टि से वे प्रशसा के भाजन है। रसवादी दृष्टि को ही आलोचना का प्रधान आधार मानने मे मिश्रजी ने केवल काव्य की आत्मा को ही नही पहिचाना है, अपितु आधुनिक युगचेतना को भी समझा है। रीतिकाल की तरह द्विवेदी युग चमत्कारवादी युग नही था। उसमे रसवादी दृष्टिकोण का ही प्राधान्य होता गया है। देव के चमत्कार प्रयोग को तत्कालीन प्रभाव का परिणाम बताकर रीतिकालीन चेतना का निर्देश भी है। इसमे कवि के व्यक्तित्व एव युग चेतना दोनो का विवेचन हो गया है। बिहारी की अपेक्षा उन्हे श्रेष्ठ बताना विवादास्पद हो सकता है और किसी को देव को श्रेष्ठ बताने मे पक्षपात की गन्ध भी आने लगे तो कोई आश्चर्य नही। उन्होने भाषा-माधुरी, मानवीय प्रकृति के चित्रण की सजीवता, अलकार, रस आदि की स्पष्टता व्यापक ज्ञान और जीवन की गम्भीर अनुभूति तथा उनका काव्य पर प्रभाव आदि अनेक दृष्टियो से देव का स्थान बिहारी की अपेक्षा ऊचा माना है। पुस्तक के उपसहार मे इन सब कारणो का निर्देश लेखक ने कर दिया है। सारी पुस्तक मे लेखक महृदय पाठको को बिहारी की उक्तियो की तुलना म देव की उक्तियो के

१ **'बिहारी और देव'**, पृ० ११२।

काव्य-सौष्ठव की श्रेष्ठता का अनुभव कराने की चेष्टा करते रहे हैं। उन्हें तर्क और सहृदयता के आधार पर सफलता भी मिली है। उनमें तर्क का आश्रय लिया गया है, पर वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य स्पष्ट है। व्याख्यात्मकता की ओर अभिमुख होती हुई भी अभी तक हिन्दी आलोचना वैयक्तिक रुचि तथा निर्णय की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाई थी।

'देव और बिहारी' 'बिहारी की सतसई' की अपेक्षा आलोचना का प्रौढतर प्रयोग है। इसमें दोहे और सवैये के प्रयोग में दोनों कवियों को कौन-सी असुविधाओं या सुविधाओं का सामना करना पड़ा है, इस पर भी निष्पक्ष दृष्टि से विचार हुआ है। छन्द की लम्बाई की दृष्टि से कवि श्रेष्ठ नहीं माना गया, अपितु चित्रण के लाघव पर विचार हुआ है। लेखक ने अपने मान को स्पष्ट किया है तथा सारी पुस्तक में इसका निर्वाह भी किया है। मिश्र जी की आलोचना में तत्र पर आधारित प्रौढ विवेचन, व्यक्तिगत प्रभावों का अनुभूतिमय चित्रण, कवियों की भाव और कला-सम्बन्धी विशेषताओं का विश्लेषण, विचार-धारा का सामान्य परिचय तथा तुलना का समीचीन दृष्टिकोण भावी विकास के तत्वों का आभास दे रहे हैं।

बिहारी और देव के वाद-विवाद की तीसरी तथा अन्तिम पुस्तक लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' के नाम से प्रकाशित की। इसमें मिश्रबन्धुओं द्वारा दिये गए बिहारी के दोहों के अर्थ में स्थान-स्थान पर अशुद्धियों का निर्देश किया है। उनका कहना है कि मिश्रबन्धु देव की कविता के भी शुद्ध और साहित्यिक संस्करण का सम्पादन नहीं कर सके हैं। "यमक" के उल्टे-सीधे अर्थ करने का यही कारण है। "छवि छाकु" के पाठ को "छब छाती" कर दिया है। न जाने अर्थ क्या समझे हैं। 'जम्बूरस बुन्द' के स्थान पर "जम्बूनद बुन्द" पाठ देकर देव का तात्पर्य ही भ्रष्ट कर दिया गया है। "चोपी-जाति" का अर्थ टिप्पणी में लिखा है—"तेज गाय उचक जाने वाली।" नहीं महाराज! यह अर्थ तो नहीं है। ठीक अर्थ है "चोरी जाती बछडे से दूध पिलाये लेती है।[2] दीन जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मिश्रबन्धुओं ने या तो बिहारी की कविता समझी ही नहीं, या जान-बूझकर देव का पक्षपात किया है। दीनजी ने मिश्रबन्धुओं के पाठ को कई स्थानों पर शुद्ध भी किया है।[1] उन्होंने पं० कृष्ण बिहारी मिश्र को भी झपेट लिया है। "बड़े बिहारियों का तो यह हाल है। जरा छोटे बिहारी कृष्णबिहारी जी का भी बिहार मुलाहिजा फरमाइये।" "हतो" का अर्थ "था" है, पर पण्डित कृष्णबिहारी को इस पर सन्देह होता है और इसी पर दीनजी एक व्यंग्य कर देते हैं। दीनजी की यह पुस्तक प्रधानत मिश्रबन्धुओं की

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ५३।
२. 'बिहारी और देव,' पृष्ठ ५५।

कटु आलोचना का प्रयुत्तर देने के अभिप्राय से लिखी गई है। जो दोष बिहारी की कविता मे मिश्रबन्धुओ द्वारा बताये गए, वे ही दीनजी ने "देव" की कविता मे निकाले है। इस पुस्तक मे पहले उन दोषो का निराकरण हुआ है और उसका ढग यही है। कुछ छन्दो के आधार पर बिहारी पर लगाये दुरान्वय दूषण के आरोप का खण्डन करते हुए दीनजी लिखते हैं—"दोहा छन्द ही कितना बडा है जो दुरान्वय दोष से क्लिष्टता आ जायगी। यदि मान भी लिया जाय कि यह दोष है, तो क्या मिश्रबन्धु यह कह सकते है कि देव के छन्दो मे यह दूषण कही नही है। हमारी समझ मे तो देव मे यह प्रचुरता से पाया जाता है।"[1] इसी प्रकार दीन जी ने बिहारी की "सोहदई" से रक्षा की है। "आधुरी छाती छैल छुवाय" से मिश्रबन्धुओ ने बिहारी को "सोहदा" कह दिया और दीनजी उसका जवाब देते है—"मिश्रबन्धुओ को यह भी विचारना चाहिए था कि जिस कवि ने 'अष्टयाम' और 'जाति-विलास'-जैसे ग्रन्थ लिखे हो, वह कितना बडा सोहदई-पोषक मनुष्य रहा होगा। प्रत्येक जाति की स्त्री के गुणावगुण गौर से देखना और घडी-घडी के कृत्य बतलाना भलमनसी का काम तो कहा नही जा सकता।" देखना ही हो तो पाठक 'प्रेम-चन्द्रिका' ग्रन्थ के "३९वे पन्ने मे ३७ वा छन्द देखे"[2] दीन जी ने देव के द्वारा तोडे-मरोडे शब्दो की सूची दी है और इस प्रकार बिहारी को इस दोष से मुक्त करना चाहा है।[3] मिश्रबन्धुओ ने "चाड" का अर्थ चढकर लिया है और इसी आधार पर बिहारी को "तुकान्त के लिए शब्द मरोडने वाला' कह दिया है। दीन जी ने "चाड" के शुद्ध अर्थ "चाह प्रेम" देकर इस शब्द को अपने प्रकृत रूप मे ही बताया है, तोडा हुआ नही।[4] इस प्रकार कही-कही मिश्रबन्धुओ के द्वारा निर्दिष्ट दोषो का निराकरण उनकी गलतियो को दिखाकर भी किया गया है। बिहारी पर चोरी का अपराध लगाया गया था। इसलिए दीनजी ने देव के भावापहरण के अनेक उदाहरण दिये है। कहने का तात्पर्य यह है कि बिहारी मे जिन दोषो की उद्भावना मिश्रबन्धुओ ने की है, उन्ही दोषो से पूर्ण देव की कविता को सिद्ध करना इस आलोचना का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। उसी पद्धति और उन्ही तर्कों से देव पर दोष लगा देना इनकी आलोचना की प्रधान विशेषता मानी जा सकती है। दीनजी का निम्न लिखित वाक्य उनकी आलोचना के यथार्थ स्वरूप का अच्छा परिचायक है। जैसे उन्होने सर्वत्र अपनाया है—"प कृष्णबिहारी मिश्र अपने 'देव और बिहारी' के २४९वे पृष्ठ पर

---

१. वही, पृष्ठ २३।
२ वही पृष्ठ २३।
३ वही पृष्ठ १७-१८।
४. वही पृष्ठ १८-१९।

लिखते है—"सीतल-जैसे बडे कवियो को देवजी के भाव अपनाने मे लालायित देख-कर पाठक देव जी की भावोत्कृष्टता का आन्दाजा कर सकते है।" हम इस वाक्य को इस प्रकार लिखते है"देव-जैसे महाकवि को बिहारी के भाव अपनाने मे लालायित देखकर पाठक बिहारी की भावोत्कृष्टता का आन्दाजा सहज मे कर सकते है।"[1]

मिश्रबन्धुओ की समालोचना एकागी था। उन्हे बिहारी मे दोष-ही-दोष दिखाई पडते थे, इसलिए उन्होंने बिहारी के मार्मिक और सहृदयजन-श्लाघ्य छन्दो की उपेक्षा की, जहा कही छोटी-मोटी कोई हीनता हाथ लग गई उसीका पहाड़ कर दिया। उनका उद्देश्य देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। इसीलिए वे समालोचना के समीचीन और पक्षपातशून्य स्वरूप को अपनाने मे असमर्थ रहे। दीन जी की यह पुस्तक बिहारी के संरक्षण के लिए लिखी गई है। इसमे भी आलोचक का ध्यान देव के अधिकतर उन्ही छन्दो की ओर गया है जिनमे अपेक्षाकृत भाव-सौन्दर्य की कमी है। इतने ग्रन्थो मे सभी उक्तिया समान रूप से सुन्दर नही हो सकती है। उनके आधार पर कवि के महत्व को कम करना आलोचना का दुरुपयोग-मात्र है। मिश्रबन्धुओ ने इसीको आश्रय दे दिया था और दीनजी को इसे बाध्य होकर अपनाना पडा। भावापहरण वाली बात भी कुछ ऐसी ही है। भावो का आदान प्रदान होता ही रहता है। कुछ-भाव तो युग की सम्पत्ति होते है। उन्हीको कृष्ण बिहारी ने भावो के सिक्के कहा है। इन भावो के चित्रण तो सभी कवि करते है, वे उस काल की शैली के मुख्य अग हो जाते है। बिहारी और देव के भावसाम्य का एक कारण यह भी है। फिर भावो के आदान-प्रदान मे सर्वत्र ही भावो का सुन्दर रूप नही रह पाता है। फिर कुछ रुचि-वैचित्र्य के लिए भी तो स्थान है। एक ही भाव किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर लग सकता है। मिश्रबन्धुओ ने अपनी आलोचना मे इतना विवेक नही किया और दीनजी उसी शैली को अपना-कर उनकी आलोचना का उत्तर दे देते है।

दीनजी की पुस्तक द्वारा आलोचना के विकास मे कोई नवीन प्रवृत्ति नही आती। हा, यह झगडा हमेशा के लिए शान्त हो जाता है। 'बिहारी और देव' के झगडे की यह अन्तिम पुस्तक है। उसी शैली मे उन्ही दोषो को देव मे दिखा देने पर आलोचना-जगत पर यह प्रभाव पडा कि आलोचना का यह दृष्टिकोण ठीक नही है। यह तर्क की ठीक पद्धति नही, हेत्वाभास की पद्धति है। इन आलोचनाओ मे रुचि-वैचित्र्य का ही प्राधान्य रहा है। इसलिए अब तक इन्ही सभी पुस्तको को एक प्रकार से निर्णयात्मक कोटि की आलोचना कह सकते है। 'देव' देव ही है और केशव

१. 'बिहारी और देव' पृष्ठ ३४।

'देवेश' हैं। देव और केशव मे जमीन-आसमान का अन्तर है।[1] इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक कोटि की है। इससे पूर्ववर्ती आलोचको ने शास्त्रीय आधार भी अपनाया था और कही-कही वे प्रभाववादी भी हो गए थे। पर दीनजी मे ये दोनो ही तत्व स्पष्ट नही है। उन्होने दोषो की उद्भावना करते हुए कुछ व्याख्या की है और निर्णय सहृदय पाठको पर छोड दिया है। इस व्याख्या मे भी अलकारादि के निर्देश अथवा प्रभाववादी उक्तियो के समावेश का अवसर नही आया है। यह व्याख्या बहुत-कुछ टीका-पद्धति के अनुरूप है। बिहारी के प्रति दीनजी ने पक्षपातपूर्ण दृष्टि रखी है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। सभवत इस झगडे का अन्त करने के लिए यह दृष्टिकोण आवश्यक भी था। देव के छन्दो की प्रशसा करते हुए भी उन्हे बिहारी की छाया बताना इसी मनोवृत्ति का परिचायक है।[2] वे देव को बिहारी का टीकाकार मानते हैं।[3] यह बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात और देव के प्रति अन्याय है। लेकिन इस काल मे आलोचना के दृष्टिकोण मे यह सकीर्णता थी। उसका अभाव दीनजी मे भी नही है। जैसा कि निर्देश किया जा चुका है इस पद्धति का अन्त करने के लिए दृष्टिकोण की यह सकीर्णता भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हुई है। इसकी अतिशयता ने इस पद्धति के प्रति अरुचि उत्पन्न कर दी।

तुलना समालोचना का एक तत्व अवश्य है। यह भी एक पद्धति है। पर समालोचना इसी मे सीमित नही है। फिर जिन किन्ही दो व्यक्तियो की तुलना का तो कुछ अर्थ भी नही। तुलना के कुछ निश्चित सिद्धान्त भी होने चाहिए। साम्य और वैषम्य के आधार पर दोनो कवियो की विशेषताओ का स्पष्टीकरण और आपेक्षिक मूल्याकन ही तुलना का उद्देश्य है। प्रकाश के स्वरूप और महत्व को समझने के लिए अन्धकार के स्वरूप-ज्ञान की आवश्यकता है, बस तुलना का मूल यही है। पर हिन्दी-साहित्य के आलोचक कुछ समय तक तुलना के इस प्रकृत स्वरूप को भूल गए थे। उन्होने तुलना करना ही अपना परम कर्तव्य समझ लिया था। खोजने पर सब कवियो मे कही-न-कही साधारण साम्य मिल ही जाता है। लेकिन ऐसी तुलना से आलोचना का कलेवर-मात्र ही बढता है, और कोई लाभ नही है। प० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने अपनी 'मतिराम ग्रथावली' की भूमिका मे मतिराम की तुलना, सूर, तुलसी, रघुनाथ, कालिदास, रवीन्द्र, शेक्सपियर, तोष आदि से तुलना की है। इन कवियो की पारस्परिक क्या समता है? रवीन्द्रनाथ ने अपने प्रियतम भगवान को अपने हृदय मे बताया है और मतिराम की गोपिया निरन्तर कृष्ण की मधुर मुरली

---

१. 'बिहारी और देव', पृष्ठ ८५।

२ वही, पृष्ठ ३८-३९।

३. वही, पृष्ठ ६३।

सुनती रहती हैं। कालिन्दी-कूल पर उनके बिहार का प्रत्यक्ष करती रहती है। इन दोनो उक्तियो मे कृष्णबिहारी ने साम्य बताकर उपर्युक्त दोनो कवियो की तुलना की है। वे मतिराम के छन्द मे भाव-सौन्दर्य की अधिकता बताते हैं। क्या लेखक मतिराम को रवीन्द्रनाथ से बडा कवि मानना चाहते है ? ऐसी तुलनाओ का ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि के अतिरिक्त कोई उपयोग नही है। निराधार और निरर्थक तुलना का कुछ रोग-सा हिन्दी के आलोचको को कुछ दिन तक सताता रहा। इसने आलोचना के विकास का अवरोध ही किया है। लेकिन बिहारी और देव का झगडा और यह उद्देश्य-विहीन तुलना का क्रम अधिक दिन तक नही चला। शुक्लजी, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि कतिपय आलोचको, और 'नागरी प्रचारिणी' आदि पत्रिकाओ द्वारा आलोचना की विश्लेषणात्मक और समीचीन पद्धति का प्रसार प्रारम्भ हो गया। आलोचको और पाठको का ध्यान इस झगडे से हटकर उधर आकृष्ट हो गया।

बगला का आधुनिक साहित्य हिन्दी की अपेक्षा समृद्ध और विकासशील है। विकास की दौड मे वह हिन्दी की अपेक्षा एक युग आगे है। पाश्चात्य शैली की आधुनिक आलोचना का जब हिन्दी मे जन्म ही हुआ था, जब उसका शैशव-काल ही था, उसके पास आलोचना के निश्चित मानदडो और प्रणाली का नितान्त अभाव था, उस समय बगला-समालोचना का पर्याप्त विकास हो चुका था। उस भाषा के साहित्य को बहुत-से गम्भीर समालोचक कई सुन्दर रत्न दे चुके थे। अब तक हिन्दी के जिन आलोचना-ग्रन्थो का हमने विवेचन किया है, उनकी आलोचना निर्णयात्मक कोटि की है। उनमे एक कवि को दूसरे से श्रेष्ठ बता देने का लोभ है। इस श्रेष्ठता का आधार बहुत-कुछ वैयक्तिक रुचि है। इसमे पक्षपात और राग-द्वेष का अभाव नही है। इन्हे छिपाने के लिये आलोचक सहृदयता की दुहाई अवश्य देते रहे है। इन आलोचनात्मक प्रयासो में वैयक्तिक राग-द्वेष को तो इतना स्थान नही मिला। इसका कारण तो स्पष्ट है कि अब तक आलोचना ने केवल अतीत युग के लब्ध-प्रतिष्ठ कवियो पर ही दृष्टि डाली थी। उसमे वर्तमान आलोचको के पारस्परिक राग-द्वेष के लिए कोई स्थान नही था, पर रुचि के परिष्कार का अभाव अवश्य था। गम्भीर शास्त्रीय अध्ययन और काव्य के निरन्तर अनुशीलन के रुचि-सस्कार हो जाने के बाद आलोचक के निर्णय मे शास्त्रीय गम्भीरता और सर्वमान्यता आ जाती है। उसका हृदय वह कसौटी हो जाता है, जिसका निर्णय भी शास्त्र के अधिकारपूर्ण शब्दो का रूप धारण कर लेता है। हिन्दी के आलोचको का निर्णय इस कोटि को नही पहुच सका था। कही-कही उन्हे अपरिष्कृत रुचि ने पक्षपातपूर्ण होने के लिए बाध्य कर दिया था। फिर एक ही कवि का वकील बनकर आना आलोचक का कार्य नही। उसमे पक्षपात के लिये पर्याप्त स्थान है। हिन्दी के आलोचक तो बिहारी और देव के दो दलो मे बँट गए थे। ऐसी अवस्था में आलोचना के समीचीन

स्वरूप के विकास की आशा भी व्यर्थ ही थी। वे लोग कवि को पूरा जाचने का कष्ट भी नही उठाते। सभवत उनमे इतना धैर्य नही था। एक कवि की एक उक्ति को लेकर उसको विश्व के सारे कवियो से ऊचा या नीचा बताने का साहस कर बैठते थे। इसके विरुद्ध बगला के कतिपय तत्कालीन समालोचक व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति को अपना कर साहित्य-क्षेत्र मे उबर आए थे। सैद्धान्तिक निरूपण के साथ ही उन्होने उन सिद्धान्तो के आलोक मे अपने 'आलोच्य कवियो और ग्रन्थो को देखा है। उन्हे अपने कवियो के श्रेणी-विभाग का लोभ भी नही रहा। वे केवल उनकी काव्य-गत विशेषताओ का सैद्धातिक निरूपण भर कर देते है। पाठक के सम्मुख उनकी विशेषताओ को खोलकर रख देना उनका कार्य था। मूल्याकन का कार्य पाठक स्वय कर लेता था। फिर वे पाठक को भी श्रेष्ठ और हीन के रूप मे मूल्याकन करने की प्रेरणा और स्वतन्त्रता प्रदान नही करते थे। पाठक उन दोनो की साहित्यिक देन की विशेषताओ को समझता था। उनके महत्व को भी स्वीकार करता था, क्योंकि आलोचक का इनसे अभिप्राय नही रहा। तुलनात्मक समालोचना की यह बहुत ही समीचीन पद्धति है। इसमे दो कवियो और नाटककारो को वास्तविक रूप मे समझने का अवसर मिलता है।

हिन्दी मे ऐसी दो पुस्तको का अनुवाद हुआ है। लब्धप्रतिष्ठ नाटककार और प्रौढ समालोचक द्विजेन्द्रलाल राय की 'कालिदास और भवभूति' तथा पूर्णचन्द्र वसु की 'साहित्य-चिता' के अनुवाद हुये। पहली पुस्तक का अनुवाद प० रूपनारायण पाण्डेय द्वारा किया गया है। वह मूल ग्रन्थ का अविकल अनुवाद है। पर प० रामदहिन मिश्र ने 'साहित्य-चिन्ता' नामक पुस्तक का 'साहित्य-मीमासा' के नाम से छायानुवाद किया है। उन्होने कही-कही अपनी ओर से जोड देने तथा मूल ग्रन्थ के कुछ भाग को छोड देने अथवा साधारण परिवर्तन कर देने की स्वतन्त्रता ले ली है। इस ग्रन्थ मे साहित्यिक सैद्धान्तिक समालोचना हुई है। साहित्य के विभिन्न तत्वो के, लेखक ने, पूर्वी और पाश्चात्य दृष्टिकोणो का तुलनात्मक अध्ययन किया है। साहित्य का आदर्श, साहित्य मे प्रेम, साहित्य मे रक्तपात आदि पर दोनो दृष्टियो से विचार किया है। आलोचक का उद्देश्य भारतीय दृष्टिकोण की प्रौढता का प्रतिपादन ही है। उन्होने यह भी सकेत किया है कि भारतीय साहित्यिक आदर्श को पाश्चात्य समीक्षक और साहित्यकार मानने के लिये बाध्य हुए है। साहित्य मे खून-व्यापार का विरोध एडिसन ने भी किया है। यह वहा पर भी सुरुचि के विरुद्ध ही माना जाता है।[1] पाश्चात्य वियोगान्त नाटको के अध्ययन का पाठक पर कोई अच्छा प्रभाव नही पडता

१. 'साहित्य मीमांसा', पृ० ४६।

है। पाप की अपवित्रता का भाव दूर हो जाता है[1] और यह जीवन के विकास के लिए घातक है। रक्तपात को कुरुचिपूर्ण और घृणित व्यापार मानने पर भी आर्य-साहित्य मे सुन्दर वियोगान्त नाटक है। इनका प्रभाव भी जीवन मे उत्कर्ष-विधायक है। इस प्रकार लेखक ने आर्य-सिद्धान्तो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, पर पूर्ण विवेक और तर्क के साथ। फिर उन्होने पाश्चात्य सिद्धान्तो के महत्व को कम करने का प्रयत्न नही किया। भारतीय दृष्टिकोण से उनकी कमियो का निरूपण हुआ है और यह स्वाभाविक भी है। 'कालिदास और भवभूति' मे इन दोनो नाटककारो की दो प्रसिद्ध रचनाओ[2] का तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। इसमे इन दोनो की आख्यान, वस्तु, चरित्र-चित्रण, कवित्व आदि की दृष्टि से तलस्पर्शी आलोचना हुई है। यह केवल परिचयात्मक नही है, पर इसमे रचयिताओ और रचना की विशेषताओ का निरूपण हुआ है। कथावस्तु के चुनाव मे दोनो कवियो का क्या दृष्टिकोण रहा है, इसका तुलनात्मक निरूपण हुआ है। "कालिदास ने बुद्धमानी के साथ ऐसा विषय छाट लिया कि उसमे उन्हे काव्य-कला या अलकार-शास्त्र किसी की भी हत्या नही करनी पडी। परन्तु भवभूति ने ऐसा विषय चुना कि अलकार-शास्त्र को अक्षुण्ण रखकर उसका नाटक बनाया ही नही जा सकता।"[3] अलकार-शास्त्र और काव्य-कला के नियमो के पालन के लिए इन दोनो कवियो को चरित्र और आख्यान मे इतिहास के विरुद्ध कई बातो की कल्पना करनी पडी है। उनका निरूपण लेखक ने किया है। उन परिवर्तनो से काव्य-सौदर्य मे क्या वृद्धि हुई, इसका भी विवेचन है। लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'महाभारत' के अशक्त दुष्यन्त म कालिदास ने कितनी चारित्रिक सबलता की प्रतिष्ठा की है और उसमे कितने सफल हुये है। लेखक ने पाश्चात्य और भारतीय दोनो काव्य-सिद्धान्तो के आधार पर इन आलोचनाओ का अध्ययन किया है। "भवभूति ने इस नाटक को इस तरह समाप्त करके केवल काव्य-कला की हत्या ही नही की, पोइटिक जस्टिस (Poetic justice) का भी गला घोट दिया है। एक अत्याचारी पुरुष को अन्त म सुखी देखकर पाठक या श्रोता कोई भी सन्तुष्ट नही होता। परन्तु भवभूति ने नाटक म वही किया है।" अलकार-शास्त्र के अनेक नियमो के निर्वाह के लिए लेखको को क्या करना पडा है, इसका भी निर्देश किया गया है। राय साहब के मत से कही-कही बहुत से व्यक्ति असहमत हो सकते है, पर उसे तर्कशून्य नही सिद्ध कर सकते। आलोचना मे इतने रुचि-वैचित्र्य के लिए तो स्थान है ही। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने बीच-बीच मे दोनो दशा के नाटकीय

---

२ वही, पृ० ४५।
'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'उत्तर रामचरित'।

१. 'अभिज्ञान शाकुन्तल और 'उत्तर रामचरित' पृष्ठ ३३।

सिद्धान्तो का भी विश्लेषण किया है। उनका विवेचनात्मक निरूपण करते हुए उन्हे अपनी आलोचना का मानदन्ड बनाया है। इसीलिए उनकी पद्धति को विश्लेषणात्मक कहना पडता है। भारतीय अलकार-शास्त्र से जो मानदण्ड उन्होने ग्रहण किया है वह केवल अलकारो, रसो, गुणो, वृत्तियो या नाटक के भेदोपभेदो का नामकरण-मात्र नही है। हिन्दी के अब तक के आलोचको ने भारतीय पद्धति का ऐसा ही स्थूल उपयोग किया था, पर राय साहब ने भारतीय विचार-धारा को आलोचना का मान बनाया है। उन्होने भारतीय नाट्य-शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित नाटक की आत्मा का विवेचन किया है, नाटक की मूल विचार-धारा पर विचार किया है और उसी दृष्टि से इन दोनो ग्रन्थो की आलोचना की है। शैली की कुछ प्रणालियो की अपेक्षा काव्य-दर्शन (Philosophy of Poetry) के आधार पर किया गया विवेचन स्पष्टत प्रौढ होता है। हिन्दी की तत्कालीन समालोचना मे यही कमी थी। उसमे काव्य की रचना पर विचार नही किया गया। केवल उसके बाह्य स्वरूप तक ही सीमित रहे।

हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि मे अनुवादो ने पर्याप्त सहयोग दिया है। ये दोनो समालोचना के उत्कृष्ट ग्रन्थ होते हुए भी हिन्दी की अपनी निजी सम्पत्ति नही है। इसलिए इनका अध्ययन हिन्दी-आलोचना के विकास-क्रम मे रखकर करना ठीक नही है, फिर भी दूसरी भाषाओ के साहित्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी को प्रभावित करते रहे है। इन अनूदित ग्रन्थो ने भी हिन्दी-पाठको के सम्मुख तुलनात्मक समालोचना का एक समीचीन रूप उपस्थित करके उनकी रुचि के परिमार्जन मे सहयोग दिया है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। तुलना की जो अस्वस्थ और समीचीन पद्धति हिन्दी मे चल रही थी, उसके उन्मूलन मे इन ग्रन्थो ने परोक्ष रूप मे अवश्य सहयोग दिया है। उस काल मे इनका अनुवाद होना भी सिद्ध करता है कि हिन्दी का तत्कालीन पाठक इस रुचि-परिवर्तन मे भी इनका महत्व स्वीकार करता था। इसी व्यापक धारणा का अचेतन प्रभाव इन अनुवादो की मूल प्रेरणा है।

ऊपर जिस प्रौढ तुलनात्मक प्रणाली का विवेचन किया गया है। उसने हिन्दी-साहित्य के रुचि-सस्कार मे तो सहयोग दिया, पर उसका कोई स्पष्ट प्रभाव ग्रन्थ के रूप मे सामने नही आया। तुलनात्मक आलोचना-पद्धति का समय बीत चुका था। आलोचना नए रूपो और विश्लेषणात्मक पद्धति की ओर बढने लगी थी। इस पद्धति की प्रेरणा की वृद्धि मे इन आलोचनाओ ने अवश्य सहयोग दिया। फिर भी उपर्युक्त पद्धति के अनुकरण पर छन्नूलाल द्विवेदी की 'कालिदास और शेक्सपियर' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमे इन दोनो कलाकारो का चरित्र-चित्रण, कवित्व, नाटकत्व, उपदेश आदि की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन हुआ। जीवन-चरित्र का विशद निरूपण है। पर इसमे वे प० कृष्णबिहारी मिश्र की शैली का अनुगमन करते हुए-से प्रतीत होते है। दो कवियो के जीवन-चरित को पृथक-पृथक दे देना कोई तुलना

नही। शेष पुस्तक मे शीर्षक तो राय साहब की पुस्तक के समान ही है पर इसमे उतनी प्रौढता नही आ पाई है। इन्होने आलोचना का जो मानदण्ड अपनाया है, वह बहुत-कुछ स्थूल और बहिरंग है। उसमे न तो शास्त्रीय गम्भीरता है और न काव्य की मूल प्रकृति से सम्बन्ध ही। फिर उन्होने उन बहिरग तत्वो को व्याख्या द्वारा स्पष्ट भी नही किया। कालिदास को सौन्दर्य का कवि कहने का क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टीकरण नही हुआ। लेकिन आलोचक ने इस "सुन्दर" शब्द को अपनी समीक्षा का आधार-स्तम्भ-सा बनाया है। कालिदास के काव्य सौष्ठव का मूल्याकन भारतीय विचार-पद्धति से होता अथवा अगर पाश्चात्य दृष्टिकोण से ही विचार करना था तो कोई सश्लिष्ट और सर्वाङ्गीण आधार लिया जाता। चरित्र के सम्बन्ध मे विचार करने हुए उनके व्यक्तित्व की मूल प्रकृति को स्पष्ट करने वाली आलोचना नही हुई। अपितु लज्जा आदि चरित्र की कुछ बहिरग विशेषताओ को लेकर तुलना हुई है। यह मानदंड भी बहुत-कुछ स्थूल ही माना जा सकता है। फिर भी आलोचक ने इन चरित्रो के व्यक्तित्व को बहुत कुछ समझाने की सफल चेष्टा की है। 'कालिदास और भवभूति' के आलोक मे कुछ यह फीकी होती है, अन्यथा हिन्दी-आलोचना की दृष्टि से इसमे पूर्ववर्ती समालोचना से अधिक सश्लिष्टता और समीचीनता तो है ही। इसमे निन्दा-स्तुति और ऊचे-नीचे फतवे देन की प्रवृति नही है। कालिदास और शेक्सपियर की कविता के दृष्टि-बिन्दुओ का विवेचन हुआ है। लेखक को मान्यता है कि शेक्सपियर की अपेक्षा कालिदास का बाह्य-सृष्टि का चित्रण अधिक प्रौढ और स्पष्ट है तथा शेक्सपियर का मानव-हृदय पर पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार दोनो की विशेषताओ का तुलनात्मक निदर्शन हुआ है। "कालिदास-सौन्दर्य की कल्पना मे शेक्सपियर से आगे बढा हुआ है। कालिदास का बाहरी जगत पर जैसा आधिपत्य था, वैसा ही शेक्सपियर का अन्तर्जगत् पर अधिकार था। शेक्सपियर को यदि हम एक सौर-जगत का सूर्य मानते है, तो कालिदास को भी दूसरे सौर-जगत के सूर्य के सिवाय कुछ नही मान सकते। सौन्दर्य उसकी हद है। कालिदास सौन्दर्य-जगत का राजा है। लज्जाशीला शकुन्तला, तपस्विनी पार्वती उसी कल्पना के नमूने है।" इसमे कही-कही आलोचक प्रभाववादी और निर्णायक भी हो गया है. इस आलोचना की एक बडी भारी विशेषता यह है कि लेखक ने बहुत लम्बे उदाहरण दिये है और उनकी निष्पक्ष व्याख्या भी की है। कही-कही प्रशसात्मक निर्देश भी है। लेखक ने विशेषताओ के विवेचन की अपेक्षा उदाहरण अधिक दिये है। इससे पाठक को दोनो कवियो के काव्य का रसास्वाद करने तथा अपने आप उनके महत्व का निर्णय करने का अवसर प्राप्त होता है। इन दोनो कलाकारो की विशेषताओ का ज्ञान इन उदाहरणो द्वारा पाठक को भी हो जाता है। लेखक ने अपनी तरफ से विशेषताओ का निरूपण सक्षेप मे किया है। अपने विचारो और निर्णयो को पाठक पर लादकर उस

के रुचि-स्वातन्त्र्य के अपहरण की चेष्टा नहीं की गई है। इसमें यह अपने पूर्ववर्ती आलोचकों से बहुत-कुछ भिन्न है। यह अपने ढंग का अच्छा ग्रन्थ है। पर इससे 'कालिदास और भवभूति' की तरह आलोच्य कवियों की विशेषताओं का सश्लिष्ट और सर्वांगीण ज्ञान हो पाता। हाँ, रसास्वाद का अवसर अवश्य मिल जाता है। तुलनात्मक प्रणाली की लोकप्रियता का समय निकल गया था। कालिदास और शेक्सपियर के अन्य भाषाओं के कवि होने के कारण भी यह पुस्तक हिन्दी के लिए गौण महत्व की रह गई।

: ८ :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जिस आलोचना-पद्धति का जन्म ईसा की वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ था, शुक्ल जी के इस क्षेत्र मे पदार्पण करने से पूर्व ही वह अपने जीवन-काल के प्राय बीस-पच्चीस वर्ष बिता चुकी थी। इस बीच मे मासिक, दैनिक एव साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओ तथा स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे आलोचना के पर्याप्त प्रयास हुए। 'मिश्रबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' जैसे बृहदकाय ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए और 'वेणी-सहार की आलोचना' जैसी छोटी पुस्तिका भी। कई-एक कवियो के तुलनात्मक अध्ययन भी हुए। पर इन सब आलोचना-पद्धतियो मे विकास के तत्वो का अभाव था। आलोचक अन्धकार मे आलोचना का मार्ग खोज रहा था, इसलिए कभी प्रशसा को आलोचना समझता था तो कभी दोष-दर्शन को। उसने कवियो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा अनेक बार प्रौढ सहृदयता का भी परिचय दिया, पर ऐसे किसी मार्ग का अवलम्बन नही कर सका जो उसे तथा परवर्ती आलोचको को बहुत दूर तक ले जा सकता। अग्रेजी के विद्वानो ने विभिन्न कालो और परिस्थितियो मे किए गए आलोचना के अर्थो का निर्देश किया है। इनमे से कतिपय निम्नलिखित है—१ दोष-दर्शन, २ गुण-कथन, ३ निर्णय, तथा ४ तुलना। आलोचना के इन अर्थों मे कोई विशेष काल-क्रम तो नही स्थापित किया जा सकता, पर आलोचना के मनोवैज्ञानिक विकास का क्रम तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। यह क्रमिक विकास एक आलोचक मे भी हो सकता है और किसी भाषा के सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य का भी इस विकास की दृष्टि से अध्ययन हो सकता है। वैसे समीक्षा के उपर्युक्त अर्थ कुछ ऐसे व्यापक है कि किसी भी काल, आलोचक और साहित्य मे इनका नितान्त अभाव नही पाया जाता। विश्लेषणात्मक आलोचक भी कभी-कभी प्रसगवश, प्रशंसा, दोष-दर्शन अथवा तुलना आदि पद्धतियो का उपभोग करने लग जाता है। कई शताब्दियो के विकास के उपरान्त भी भाषाओ के समीक्षा-साहित्य मे इन तत्वो के दर्शन हो जाते है। इस प्रकार इन अर्थो मे निश्चित काल-क्रम का

निर्धारण समीचीन नही। फिर भी प्रत्येक आलोचक अथवा सम्पूर्ण साहित्य के विकास मे एक ऐसी अवस्था ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे आती है जब इनमे से किसी एक अर्थ को ही आलोचना का वास्तविक स्वरूप समझा जाता है। उस समय दृष्टिकोण वही तक सीमित रहता है। इस दृष्टि से ये अर्थ-समीक्षा के विकास मे मनोवैज्ञानिक स्तर (Phychological stage) भी माने जा सकते है। कभी-कभी विकास की ये अवस्थाए अत्यन्त स्पष्ट और पर्याप्त लम्बी होती है और उस समय इनमे काल-क्रम का निर्धारण भी सभव है। शुक्लजी के पूर्व तक हिन्दी-आलोचना का विकास इन्ही अर्थों को आलोचना का प्रकृत स्वरूप मानकर चलता रहा। ये हिन्दी-आलोचक के मानसिक विकास तथा हिन्दी-समीक्षा के विकास की विभिन्न अवस्थाए मानी जा सकती है। आलोचना का जो वास्तविक और आधुनिकतम अर्थ-विश्लेषण (Analysis), विवेचन (Interpretation) और निगमन (Induction) है, जिनमे आलोचक की तटस्थता का तत्व भी अन्तर्भूत है, उस समय अज्ञात था। इन अर्थों के साथ हिन्दी-साहित्य मे पदार्पण करके समीक्षा की निश्चित पद्धति को जन्म देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही है। इनके पूर्व 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे इसकी कभी-कभी झलक मिल जाया करती थी, लेकिन इसको समर्थ आलोचक के रूप मे आश्रय देने वाले प्रथम आलोचक आचार्य शुक्ल ही हुए है।

पहले जिन आलोचना-पद्धतियो के सम्बन्ध मे विचार हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि अभीतक हिन्दी-समीक्षा अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही थी। उसमे वैयक्तिक रुचि का ही प्राधान्य था। आलोचक अपनी आलोच्य वस्तुओ के गुण-दोषो का निर्देश भर कर देते थे। उसकी प्रशसा करने मे अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का उपयोग करते थे जिसमे चिन्तन की गम्भीरता और प्रौढ तर्क का नितान्त अभाव था। अब तक रस तथा अलकार आदि तत्वो के आधार पर ही काव्यो का विवेचन हुआ। काव्य के ये तत्व भारतीय साहित्य-चिन्तन की अमूल्य देन है। ये सर्वकालीन और सार्वदेशिक मान के तत्वो के रूप मे स्वीकृत होने के लिए पूर्णत उपयुक्त है। आज भी ये तत्व हिन्दी के ही नही, अपितु सभी भारतीय भाषाओ मे साहित्य-समीक्षा के मूल आधार है। हिन्दी-साहित्य की आधुनिकतम समीक्षा भी इन प्राचीन तत्वो से मुक्त नही है, पर शुक्लजी के पूर्व तक इन तत्वो का स्थूल रूप ही ग्राह्य हुआ। इन तत्वो के बाह्य स्वरूप से ही तत्कालीन समालोचक परिचय प्राप्त कर सका था। इसकी आत्मा से वह अनभिज्ञ ही था। इसलिए ये मान जड (Rigid) हो गए और इनके आधार पर की गई आलोचना केवल परम्परामुक्त, और निर्णयात्मक ही रह गई। इन आलोचको ने इस प्रतिमान का अपनी आलोच्य वस्तु पर आरोपभर कर दिया। 'अमुक छन्द मे शृङ्गार रस है और अमुक छन्द मे इतने अलकार है,' केवल

इसी प्रकार की आलोचना हुई। जिस छन्द मे अधिक-से-अधिक इन काव्यागो का उक्ति-चमत्कार के विभिन्न स्वरूपो का निर्देश किया जा सकता था, वह छन्द उतना ही श्रेष्ठ माना जाता था। आलोचक का ध्यान काव्य की आत्मा की ओर तो बिल-कुल भी नही था। उस भाव-सौन्दर्य को देखने का प्रयत्न आलोचको ने कभी नही किया, जिसके कारण कोई छन्द सहृदयजन-श्लाध्य बन जाता है। जिस तत्व की उपस्थिति से अलकार आदि तत्वो का महत्व था, उसकी खोज इन आलोचको ने नही की। यही कारण है कि शुक्ल जी ने हिन्दी के आधुनिक गद्य-साहित्य के द्वितीय उत्थान-काल तक की आलोचना को रूढिग्रस्त (Conventional) कहा है।[1] उनका कहना है कि इसमे कवि की विशेषताओं और अन्तः प्रवृत्ति की छान-बीन की ओर ध्यान नही दिया गया।[2] शुक्ल जी इन तत्वो को समीक्षा मे बहुत अधिक महत्व देते है। उन्होने रस, अलंकार आदि की नवीन और मनोवैज्ञानिक व्याख्या करके तथा उनको साहित्य-समीक्षा के आधुनिक मान (Standard) मे स्थान देकर इन तत्वो का जीर्णोद्धार कर दिया, इन तत्वो मे नवीन स्फूर्ति और नवजीवन फूक दिया। शुक्ल जी ने इस नवीन व्याख्या मे साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित कर दिया और 'रस' के अनुभूति-पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पडने वाले प्रभाव का भी सूक्ष्म विवेचन किया। इस प्रकार उसे नवीन रूप देते हुए भी अभारतीय नही होने दिया।

साहित्य और जीवन का कोई गम्भीर सम्बन्ध न माने जाने के कारण काव्य की परिभाषा मे उक्ति-चमत्कार का प्राधान्य मान्य था। द्विवेदी जी ने सैद्धान्तिक रूप मे इसका विरोध भी किया। साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे रीतिकालीन इस मनोवृत्ति की स्पष्ट प्रतिक्रिया भी प्रारम्भ हो गई। पर आलोचना मे इस सिद्धान्त का व्यव-हारिक रूप सामने नही आया। द्विवेदी जी ने अपने आपको अधिकाशत. भाषा-सुधार तक ही सीमित रखा है। शेष आलोचना को बिहारी और देव का काव्य ही उत्कृष्ट जंचा। सूर और तुलसी मे भक्ति-धारा तो मान्य थी पर काव्योत्कर्ष नही। ये कवि एक प्रकार से धर्म-ग्रन्थ-प्रणेता की दृष्टि से देखे जाते रहे है। यही कारण है कि देव, बिहारी, मतिराम आदि चमत्कारवादी और मनोरजन को ही काव्य का लक्ष्य मानने वाले कवि भी सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि सास्कृतिक कवियो के समक्ष रखे गए अथवा बहुत स्थानो पर उनकी श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन हुआ। देव और बिहारी तक ही आलोचना के सीमित हो जाने से तत्कालीन साहित्यिक रुचि का स्पष्ट सकेत मिलता है। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' उन कवियो के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक

१ शुक्ल जी : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ ५८८।

२. शुक्ल जी : वही, पृष्ठ ६२३।

परिचय निकालती रहती थी, जिनमे भारतीत सस्कृति की प्रेरणा है, और जिनके कारण हिन्दी भी विश्व-साहित्य के सम्मुख अपना मस्तक ऊचा करके चल सकती है। ग्रियर्सन ने तुलसी के 'रामचरितमानस' के काव्यगत महत्व की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया। पर साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्पष्ट कर देने वाली आलोचना तो शुक्ल जी द्वारा सम्पादित तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिका से ही प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व के प्रयास हिन्दी के आलोचको की रुचि को व्यापक रूप से प्रभावित नही कर सके। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का ध्येय अनुसन्धानात्मक था। शुक्ल जी का उसमे पूरा सहयोग था। वे प्रारम्भ से ही इस पत्रिका के माध्यम से हिन्दी-आलोचना को सुपथ पर लाने का कार्य कर रहे थे। उन्होने 'राधाकृष्णदास का जीवन चरित्र' नामक निबन्ध प्रकाशित कराया था, जिसमे उनकी आलोचना-शैली का प्रारम्भिक रूप मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब तक 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थो का आदर विशेषत धर्म-ग्रन्थो के रूप मे ही था, पर शुक्ल जी ने उन्ही को काव्य के आदर्श ग्रन्थ मानकर उक्ति-चमत्कार द्वारा मनोरजन ही नही, अपितु रसास्वाद द्वारा लोकमगल हृदय-प्रसार और परिष्कार को काव्य का उद्देश्य माना। तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' का प्रभाव शुक्ल जी के प्रतिमान पर तो बहुत अधिक पडा, उसको मानसमय कहना समीचीन है। इसके साथ ही हिन्दी आलोचना भी साहित्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलने लगी। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना द्वारा नवीन प्रतिमान ही नही दिया, अपितु व्याख्यात्मक और निगमात्मक समीक्षा (Inductive criticism) का भी श्रीगणेश कर दिया। इस शैली के आलोचको ने मनोवैज्ञानिक ऐतिहासिक आदि विभिन्न आलोचना पद्धतियो के पत्रो का अनुसरण किया। इस प्रकार शुक्ल जी की आलोचना ने युगान्तरकारी कार्य किया, हिन्दी-साहित्य मे एक नवीन युग का आरम्भ कर दिया। आगे के विवेचन से यह पूर्णत स्पष्ट हो जायगा कि आलोचना का आधुनिकतम विकास शुक्ल जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करने से ही हो सका है।

हिन्दी-साहित्य मे शुक्लजी ही प्रथम आलोचक है जिन्होने प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक समालोचना को मिला दिया है। इन्होने इन दोनो रूपो का ऐसा सुन्दर समन्वय किया है कि आलोचना के ये दोनो रूप एक दूसरे के विकास मे सहायक हुए है। शुक्लजी ने जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मानदण्ड हो गया और वे इन सिद्धान्तो तक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना द्वारा ही पहुँचे है। तुलसी, सूर आदि के काव्य-ग्रन्थो से ही उन्हे ये सिद्धान्त प्राप्त हुए। इस प्रकार शुक्लजी ने आलोचना की निगमानात्मक शैली का सूत्रपात किया है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी शुक्लजी के समकालीन हो थे। ये दोनो एक ही क्षेत्र में प्रारम्भ से कार्य करते रहे है। बाबू जी ने आलोचना के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किया है।

उनकी आलोचना-पद्धति मोटे रूप से शुक्लजी से बहुत अधिक भिन्न भी नही मानी जा सकती। आगे हम इस पर विचार करेंगे। यहा पर तो हमे यह कहना है कि यद्यपि बाबू जी ने सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनो क्षेत्रो मे ही कार्य किया है, पर वे शुक्लजी की तरह समन्वय नही कर सके। उनमे से दोनो क्षेत्र एक-दूसरे से प्रायः पृथक ही रहे। उनके सारे समालोचना-सिद्धान्तो ने उनकी आलोचना-पद्धति को प्रभावित किया हो अथवा वे सब उन्हे अपनी प्रयोगात्मक आलोचना से ही मिले हो, ये दोनो बाते ही बाबू जी के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती। इतना ही नही इन दोनो रूपो के सामजस्य का जो रूप शुक्लजी मे है, वह अन्यत्र कही भी मिलना असभव नही तो दुर्लभ अवश्य है। लेकिन शुक्लजी की यह पद्धति कुछ इतनी प्रभावोत्पादक और लोकप्रिय हुई की उनके परवर्ती और समकालीन प्राय सभी आलोचको ने इसका थोडा-बहुत अनुसरण किया है। इन दोनो रूपो का यह सामजस्य जिसके दर्शन हमे शुक्लजी मे होते है, निगमनात्मक (Inductive) आलोचना की प्रधान विशेषता भी है। इस आलोचना मे प्रतिमान आलोच्य ग्रन्थ के आधार पर निर्मित होता है, 'बाहर से आरोपित नही किया जाता' का तात्पर्य ही यह है। शुक्लजी मे इस पद्धति के आदर्श रूप के दर्शन होते है। शुक्लजी की आलोचना के मान भारतीय होते हुए भी उच्च है, क्योकि उन्होने उनकी मौलिक व्याख्या की है और स्वय उन निर्णयो पर पहुँचे है। वे सिद्धान्त उन्हे अपनी प्रयोगात्मक आलोचना से ही प्राप्त हुए है। आगे हम यथावसर इस बात पर विचार करेंगे कि शुक्लजी का यह प्रतिमान क्या वैयक्तिक और आरोपित भी कहा जा सकता है?

शुक्लजी के काव्य-सम्बन्धी विचार भारतीय है। उन्होने अपने सैद्धान्तिक विवेचने के लिए भारतीय अलकार-शास्त्र का ही उपजीव्य बनाया है, कही-कही पर पाश्चात्य विचार-धारा का भी उपयोग किया है। लेकिन शुक्ल जी ने कही पर भी इन दोनो परम्पराओ के सिद्धान्तो को ज्यो-का-त्यो ग्रहण नही किया है। उनके गम्भीर और मौलिक चिन्तन की छाप सर्वत्र ही स्पष्ट है। उन्होने दोनो परम्पराओ के सिद्धान्तो को अपने गम्भीर अध्ययन, गूढ चिन्तन और तर्क द्वारा आत्मसात् कर लिया है। वे सब उनके अपने हो गये है। जहा पर आचार्यो ने ऐकमत्य नही है, उसका निरूपण भी उन्होने निर्भीकता पूर्वक किया है। इस प्रकार उनका सैद्धान्तिक निरूपण मौलिक ही है। हा, उनमे से अधिकाश सिद्धान्तो को भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों का समर्थन भी प्राप्त है। पाश्चात्य सिद्धान्तो का उपयोग तो अधिकाशत अपने मत की पुष्टि के लिए ही हुआ है, पर भारतीय सिद्धान्तो की व्याख्या हुई है, इसलिये उन्ही को उपजीव्य कहना चाहिये, पाश्चात्य को नही। पाश्चात्य सिद्धान्तो का उपयोग करते हुये भी उन्होने अपनी भारतीय प्रकृति की अवहेलना नही की है।

जो सिद्धान्त हमारी परम्परा के अनुकूल है, उन्हीको शुक्लजी ने अपनाया है। शेष की तो उन्होंने आलोचना की है। शुक्लजी ने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के मौलिक अन्तर को खूब समझा है। इसलिए वे पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों की तरह वादों का समर्थन नहीं कर सके। वे कविता और आलोचना को वादों में घसीट ले जाना अनुचित समझते हैं। वे ब्रेडले आदि कलावादियों और प्रभाव-वादियों के विचारों से सहमत नहीं हो सके। लेकिन मूल्यवादी रिचर्ड्स के विचारों को उनका समर्थन प्राप्त है। अनेक स्थानों पर अबरक्रोम्बे की विचार-धारा भी शुक्ल जी के चिन्तन के अनुरूप प्रतीत होती है। इसका एक-मात्र कारण यही है कि पाश्चात्य आचार्यों में कुछ व्यक्तियों के चिन्तन में थोड़ी बहुत भारतीय विचारों की झलक है। शुक्ल जी ने ऐसे कुछ आलोचकों के मत अपनी मान्यताओं के समर्थन में उद्धृत किये हैं। केवल इसीके आधार पर पाश्चात्य अनुकरण का आरोप अनुचित है।

इधर यूरोप में 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का बहुत जोर रहा है। इसके कारण काव्य और आलोचना नवीन दिशाओं में प्रेरित हुए। उनका जीवन के मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। शुक्ल जी इसी बात का निरूपण करते हुए कहते हैं "इस प्रवाह के कारण जीवन और जगत की बहुत-सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य-निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि ये तो इतर वस्तुएं हैं, शुद्ध कला-क्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएं हैं।" शुक्ल जी ने इस वाद का विशद निरूपण ब्रेडले के शब्दों का अनुवाद करके किया है। ब्रेडले ने इस सिद्धान्त का बहुत स्पष्ट निरूपण किया है। यह वाद कला का उद्देश्य तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव मानता है। धर्म, शिष्टाचार की शिक्षा अथवा लोकोपयोगी विधान तो कला की दृष्टि से बाह्य मूल्य है। इन मूल्यों की ओर ध्यान रहने से कला का मूल्य घट जाता है। यह (काव्य-सौंदर्य-सम्बन्धी) अनुभव अपना लक्ष्य आप ही है, इसका अपना निराला मूल्य है। रिचर्ड्स ने भी अपनी Principle of Criticism नामक पुस्तिका

---

1. ..this experience is an end itself is worth having on its own account, has an intrinsic value.. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction or softens the passions or furthers a good cause. .but its ulterior worth neither is nor an directly determined its poetic worth as a satisfying imaginative experience and this is to be judged entirely from within ..The consideration of ulterior ends...tends lower Poetic value.' I bid (Page 75)

मे ब्रेडले का यह उद्धरण दिया है ? और इसकी आलोचना भी की है। रिचर्ड्स काव्यानुभूति को जीवन मे पृथक् नही मानना चाहते। ब्रेडले जिस लगाव को भीतर-भीतर मानते है, वही इनके अनुसार और स्पष्ट है।[1] रिचर्ड्स काव्य को मनोरजन साधन-भर नही मानते है। वे मूल्यवादी है। शुक्लजी ने इनके विचारो को केवल यह दिखलाने के लिए उद्धृत किया है कि 'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त पाश्चात्य जगत् मे भी अपना प्रभाव खो चुका है। शुक्लजी को तो वह बिल्कुल मान्य ही नही है। उसे वे भारतीय परम्परा के विरुद्ध मानते है। यहा पर तो काव्य के प्रयोजनो का विशद विवेचन हुआ है। "अब हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्य-क्षेत्र की छान-बीन कर जाइए, उसके भीतर के जीवन के अनेक पक्षो और जगत् के नाना रूपो के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ सामजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्र का मत लीजिये तो जैसे सम्पूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है, वैसे ही उसका एक अग काव्य भी।[2] (शुक्लजी ने कला कला के लिए वाले सिद्धान्त का अनेक स्थानो पर खण्डन किया है।[3] वे काव्य को मनोरजन का साधन नही मानते। उनके मत मे यह तो काव्य के गौरव को कम कर देना मात्र है।[4] शुक्ल जी काव्य के उद्देश्य पर व्यापक दृष्टि से विचार करते है। वे पाठक या सहृदय की अवहेलना करके 'स्वान्त सुखाय' रचना करने के समर्थक नही है) ऊपर के विवेचन मे यह पूर्णत स्पष्ट है कि काव्य और जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। शुक्लजी काव्यानुभूति अथवा रसानुभूति के अलौकिकत्व का तात्पर्य भी वैयक्तिक राग-द्वेष और योग-क्षेम से ऊपर उठा हुआ ही मानते है। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे काव्य कोई दूसरे लोक की वस्तु नही है। वे काव्य के उद्देश्य पर दो दृष्टियो से विचार करते है। पहला है काव्य का मानव-समाज पर प्रभाव और दूसरा है उसकी समवेदनीयता या प्रेषणीयता (Communicability) इन दोनो का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है (काव्य का जन-साधारण के लिए प्रभावोत्पादक एव प्रेषणीय होना अत्यन्त आवश्यक है। इस

---

1. Dr. Bradley goes on to insist—an "underground" connection but this "underground" connection is all important Whatever there is in the poetic experience has come through it. The world of poetry has innosence any different reality from the rest of the world and it has no special laws and no other worldly peculiarities."

Ibid Page 78.

२ देखिये—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६३३।

३ देखिये—इदौर का भाषण, पृष्ठ ३७ ४०।

४ देखिये—'चिन्तामणि', प्र० भा० पृष्ठ २२३।

प्रभाव का माध्यम काव्य है और इसी से काव्य के विधान में प्रेषणीयता का तत्व अनिवार्य है। "एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।[1]

काव्य में प्रेषणीयता के तत्व को अनिवार्य मानना कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका तो काव्य की मूल प्रकृति से ही अभिन्न सम्बन्ध है। प्राचीन आचार्यों ने कवि और सहृदय को तथा कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा को समान महत्व प्रदान करके स्पष्टत इस सिद्धांत को अंगीकार किया है। कवि और भावक के समान महत्व के सिद्धान्त में काव्य में अपेक्षित लोक-हित का तत्व अन्तर्हित है। प्रेषणीयता के सिद्धान्त के मानने वाले आचार्यों का आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण भूल्यवादी हो जाता है। यह बात शुक्लजी की ही तरह रिचर्ड्स के लिए भी सत्य है। पश्चिम के आधुनिक समालोचक अबर-क्रोम्बे काव्य में प्रेषणीयता के तत्व को अनिवार्य मानने वाले हैं। यही बात शुक्ल जी ने कही है। उन्होंने इसी सिद्धान्त के दो पक्षों को अलग-अलग बाटकर विचार किया है। पहला तत्व है अनुभूति, जिसका प्रेषण होता है, और दूसरा है भाषा एवं शैली, जिसके माध्यम से प्रेषण कार्य किया जाता है। पहले हम शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित अनुभूति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

शुक्लजी कवि की अनुभूति को सारे विश्व में व्याप्त समझते हैं। सारा जड़ और चेतन जगत् कवि का वर्ण्य विषय हो सकता है। उन्होंने काव्य पर वर्ण्य विषय की दृष्टि से विचार करते हुए मानवेत्तर जगत् के पशु, पक्षी, प्रकृति आदि सभी को ग्रहण कर लिया है।[2] इस प्रकार कवि की अनुभूति का शुक्लजी ने बहुत ही व्यापक अर्थ लिया है। "प्राप्त-प्रमाण के गोचर और अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को प्राप्त करके उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।[3] शुक्लजी काव्य को जगत् की अभिव्यक्ति मानते हैं 'कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है. जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है[4] और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।[5] शुक्लजी ने एक स्थान पर मानव के प्रत्येक भाव के लिए आलम्बन खोज

१ देखिये—'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ १०४।
२ 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ १०४।
३. 'तुलसीदास', पृष्ठ १०२. १०३।
४ 'काव्य मे रहस्यवाद', पृष्ठ ११।
५. 'तुलसीदास', पृष्ठ ९३।

निकालना ही कवि-कर्म बताया है।[1] स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि से यह सारा व्यापक विश्व ही काव्य का विषय है, कवि का अपना कल्पित लोक नहीं। कवि इस लौकिक अनुभूति को ही काव्य का स्वरूप देता है। उसको अलौकिक कहकर वे कवि को ऐसे कल्पना लोक में विचरण करने की स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करना चाहते जिससे उसकी अनुभूति सहृदयजन-श्लाघ्य न रह जाय।

अनुभूति को सहृदयजन-श्लाघ्य बनाने के लिए कवि को उसे लोक-सामान्य भाव-भूमि पर अधिष्ठित करना पड़ता है। साधारण जन की लौकिक अनुभूति और कवि-हृदय की अनुभूति में यही मुख्य अन्तर है। काव्य में व्यक्ति के राग-द्वेष और योग-क्षेम के लिए स्थान नहीं है। इसे प्रेषणीय बनाने के लिए यह विभाजन-व्यापार अत्यन्त आवश्यक है। इसी को साधारणीकरण भी कहा गया। शुक्लजी भी साधारणीकरण का यही अर्थ ग्रहण करते हैं। वे कहते हैं "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[2] शुक्लजी 'काव्य में रहस्य-वाद' नामक निबन्ध में भी अनुभूति की प्रेषणीयता के लिए उसका लोक-सामान्य भाव भूमि पर लाना आवश्यक बतलाते हैं। 'एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भाव पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोकसामान्य भाव भूमि पर प्राप्त होना।"[3]

शुक्लजी का मत है कि वस्तु कवि के जिस भाव का आलम्बन होती है, सहृदय के भी उसी भाव के आलम्बन होने की क्षमता उसके सर्वसम्मत और सर्वग्राह्य रूप में ही है। उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ, कार्य और मनोभाव गिनाये भी हैं, जिनमें भाव जाग्रत करने की अधिक क्षमता है। उनका विचार है कि मानव ज्यों ज्यों सभ्य होता जाता है, त्यों त्यों उसका जीवन कृत्रिम होता जाता है। उसमें भावानुभूति जाग्रत करने के लिए कृत्रिमता के सारे आवरण को हटाना अनिवार्य हो जाता है। प्रकृति के प्रति मानव में सहज अनुराग होने का एक कारण यह भी है कि मानव में उसका साहचर्य आदिम है। नैसर्गिक दृश्य उसके भावों के स्वाभाविक आलम्बन हैं। सभ्यता की कृत्रिमता के आवरण को हटाकर कुछ कार्यों और मनोविकारों का चित्रण आवश्यक है। सर्वसामान्य को भावभूमि पर लाने के लिए व्यापार-शोधन बहुत

१. 'चिन्तामणि', 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध।
२ 'चिन्तामणि', प्रथम भाग।
३ वही, पृष्ठ।

आवश्यक है। जीवन की 'मुक्षिका स्थाने मक्षिका' वाली अनुकृति काव्योपयोगी नही है। उसमे कुछ तथ्यो का निर्वाचन आवश्यक हो जाता है। शुक्लजी काव्य के वर्ण्य विषय को मर्मस्पर्शी बनाने के लिए व्यापार-शोधन भी अनिवार्य समझते है। वे उसका विधान करते हुए कहते है "कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते है उसी प्रकार अधिक मर्म-स्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार-शोधन भी करते है। बहुत से व्यापारो मे से जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावत हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कही तो चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसग के भीतर ही होता है, या हो सकता है अर्थात् उस व्यापार और प्रसग का व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध होता है और वह व्यापार उपलक्षण-मात्र होता है। और कही-कही चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है, जैसे अन्योक्ति।"[1] व्यापार-शोधन के अतिरिक्त कवि को कल्पना का भी पूरा सहयोग लेना पडता है। काव्य मे कल्पना की मात्रा शुक्लजी को भी स्वीकृत है। प्रतिभा के दोनो स्वरूप कल्पना के अतिरिक्त कुछ नही है। काव्य मे प्रभावोत्पादन के लिए कल्पना की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते है—"गम्भीर चिन्तन से उपलब्ध जीवन के तथ्य सामने रखकर जब कल्पना मूर्त्त विधान मे और हृदय-भाव सचार मे प्रवृत्त होते है तभी मार्मिक प्रभाव उत्पन्न होता है।"[2] महाकाव्य मे मार्मिक स्थलो का नियोजन भी व्यापार-शोधन और कल्पना द्वारा ही सभव है। रहस्यवाद और छायावाद की कविताओ की शुक्लजी द्वारा कटु आलोचना का बहुत-कुछ कारण यह है कि उनमे जिन मानव-व्यापारो, भाव-दशाओ और प्रतीको का वर्णन होता है उनमे सर्वसामान्य के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता बहुत कम रह जाती है। उसमे हृदय की तल्लीनता के स्थान पर बौद्धिक चमत्कार का प्राधान्य हो जाता है। शुक्लजी, कबीर आदि रहस्यवादी कवियो की वाद-ग्रस्त उक्तियो की अपेक्षा सर्वसम्मत रूप-योजना वाली उक्तियो को काव्य के अधिक उपयुक्त मानते है। 'इन मूर्त रूपको मे ध्यान देने की बात यह है कि जो रूप-योजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादो के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूप-योजना, जो किसी सर्व-स्वीकृत सर्वानुभूत तथ्य को भाव-क्षेत्र मे लाने के लिए की गई है, वही अधिक मर्मस्पर्शिणी है।"[3]

---

१ 'तुलसीदास', पृष्ठ ११२-११३।

२ 'शेष स्मृतियाँ', प्रवेशिका पृष्ठ १४।

३ 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ ३०।

शुक्लजी असाधारण वस्तु-योजना और ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती नहीं हैं। कवि साधारण-असाधारण सभी प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण करता है। पर उसका कार्य उनको लोक-सम्मत रूप प्रदान कर देता है। तभी वे काव्य के उपयुक्त हो सकते है। काव्य का प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध लोक-स्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसीकी होती है।"[1] भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्बन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण-से-साधारण वस्तु हमारे गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है।[2] दर्शन अथवा अन्य शास्त्रों के वादों का निरूपण करने वाले को शुक्लजी साम्प्रदायिक कवि मानते है। "भारतीय काव्य-परम्परा मे इनका ग्रहण नहीं हुआ है। फिर इन वादों और ज्ञानातीत दशाओं का चित्रण लोक-सम्मत नहीं कहा जा सकता। इन दशाओं का अनुभव सर्वसाधारण का नहीं हो सकता। इसलिए इस प्रकार की वस्तु-योजना काव्य नहीं मानी जा सकती। यहा पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते है कि उक्त ज्ञानातीत दशा से, चाहे वह कोई दशा हो, या न हो, काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।"[3]

शुक्लजी कवि मे अनुभूति, भावुकता और कल्पना तीनों ही को आवश्यक मानते है। भावुकता तो कवि की अनुभूति का आधार ही है। कल्पना कवि-कर्म मे सहायक शक्ति है। "अत हम कह सकते है कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों ही अनिवार्य है।" "भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।"[4] भावुकता के कारण जिसका अन्त करण विशाल हो जाता है, जिसमे चराचर की कल्पना से ही देखने की क्षमता आ जाती है, वही वास्तव मे कवि है।[5] यही उसके विशाल हृदय की परख है। कवि अपने-आपको किसी भी मानव-स्थिति मे डालकर उससे अपने हृदय को तदाकार कर लेता है।[6] यही उसकी भावुकता

१. वही, पृष्ठ २९-३०।

२ 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'।

३ 'काव्य मे रहस्यवाद', पृष्ठ ३६।

४. वही, पृष्ठ ७९।

५ प्राप्त प्रसग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुचती है, किसी परिस्थिति मे अपने को डालकर उसके अग-प्रत्यग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्तःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।

'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १७२-७३।

६. वही, पृष्ठ ९३।

है, इसीसे सच्चे कवि को लोक-हृदय की पूरी पहचान होती है। वह सब प्रकार की विचित्रताओं में लोक-सामान्य हृदय को देख सकता है।[1] भावुक कवि की आखें प्रकृति के नाना विचित्र रूपों को देखने के लिए हमेशा खुली रहती हैं। उसमें हमेशा ही प्रकृति के मृदु संगीत सुनने की क्षमता रहती है।[2] शुक्लजी भावुकता की यही परख मानते हैं। ऊपर जिस भावुकता का संकेत शुक्लजी ने किया है, वही कवि की अनुभूति का आधार है। इतने उत्कृष्ट भावुक व्यक्ति ही कवि पद के अधिकारी हैं। इन्हीं कवियों की अनुभूति काव्य का प्रकृत विषय है, कल्पना तो इनकी अभिव्यक्ति में केवल सहायक-मात्र है। शुक्ल जी अनुभूतिहीन निरी कल्पना को काव्य का खिलवाड़ मानते हैं। केवल भाव-प्रेरित काव्य-विधायनी कल्पना ही काव्य के लिए उपादेय है, वही काव्य की अनुभूति की सहयोगिनी है।[3]

शुक्लजी रसवादी आचार्य हैं। वे काव्य का उद्देश्य चमत्कार और मनोरंजन नहीं, अपितु सहृदय की सहानुभूति में तल्लीन कर देना ही काव्य का चरम लक्ष्य मानते हैं। वे काव्य और सूक्ति में अन्तर मानते हैं। "ऐसी उक्ति, जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास, या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है।[4] काव्य और सूक्ति के अन्तर को और भी अधिक स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो काव्य है। जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"[5]

---

१ चिन्तामणि प्र० भा०', पृष्ठ ३०८-९।

२ अतएव काव्य-विधायनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में अनुभूति अंगी है, मूर्त्त रूप अंग-प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है।

इन्दौर वाला भाषण', पृ० ३३।

३ प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिए कवि की आंखें खुली रहनी चाहिये, उसका मृदु संगीत सुनने के लिए उसके कान खुले रहने चाहिए और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिए उसका हृदय खुला रहना चाहिए।

'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १०४।

४. 'चिन्तामणि', पृ० २३३।

५ वही, पृ० २३४।

'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका मे उन्होने काव्य के तीन भेदो का निरूपण किया है—१ जिसमे केवल वैलक्षण्य या चमत्कार हो। २ जिसमे केवल रस या भावुकता हो। ३ जिसमे रस और चमत्कार दोनो हो।[1] शुक्लजी द्वितीय प्रकार को ही काव्य का प्रकृत स्वरूप मानते है। प्रथम प्रकार का काव्य तो उनकी दृष्टि मे केवल काव्याभास-मात्र है। सूक्तियो का उद्देश्य चमत्कार और बौद्धिक प्रयास द्वारा कोई ऐसी नवीन उद्भावना करना है, जो पाठक या श्रोता के लिये नवीन हो, जिसमे वस्तु या भाव का लोक-सामान्य स्वरूप न हो। इस प्रकार की उद्भावना पाठक को केवल कुतूहल का आनन्द प्रदान कर सकती है। उसमे पाठक के हृदय को तल्लीन करके आनन्दानुभूति जाग्रत करने की क्षमता नही होती। ऐसे काव्य क्षणिक मनोरजन के साधन भर माने जा सकते है, प्रकृत-काव्य के उदाहरण नही। शुक्ल जी ने बिहारी और रीतिकालीन अधिकाश कवियो की रचनाओ को ऐसे उक्ति-चमत्कार, अनूठेपन के कारण सूक्ति अथवा काव्याभास-मात्र माना है। केशव मे कवित्व का अभाव बताने का भी यही कारण है। सूर और तुलसी को कवियो के आदर्श मानने मे भी शुक्ल जी का यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा है।

सस्कृत के आलोचना-शास्त्र मे "चमत्कार" और "वक्रता" दोनो शब्द विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होते आ रहे है। वक्रता अथवा "वक्रोक्ति" तो काव्य की आत्मा भी मानी गई। कुन्तक का 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' का सिद्धान्त एक पृथक सम्प्रदाय के रूप मे भाष्य हुआ और उसने काव्य-सम्बन्धी धारणाओ को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया। "चमत्कार" शब्द का प्रयोग भी सस्कृत-साहित्य मे काव्य के एक विशिष्ट आनन्द के अर्थ मे हुआ है। इस प्रकार काव्य के गुण, अलकारादि सभी इस आनन्द के साधन थे। रस की तरह चमत्कार भी काव्य का एक पृथक दृष्टिकोण था। इस दृष्टि से काव्य के सभी अगो पर विचार करने की प्रवृत्ति थी। राजशेखर ने चमत्कार के दस प्रकार माने है उनमे से एक मे रस का भी अन्तर्भाव कर दिया है। हरिप्रसाद ने अपने 'काव्यालोक' मे चमत्कार को काव्य की आत्मा कहा है। पडितराज ने भी चमत्कार को लोकोत्तर आह्लाद मानकर काव्य की आत्मा के स्थान पर ही प्रतिष्ठित कर दिया है। लोकोत्तराचाह्लादगत चमत्कारपरपर्याय।"[2] पर शुक्ल जी ने चमत्कार शब्द को इस व्यापक अर्थ मे ग्रहण नही किया है। उन्होने "चमत्कार" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है "चमत्कार" से हमारा तात्पर्य उक्ति चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास मे) शब्दो की क्रीडा (जैसे श्लेष, यमक आदि) वाक्य की वक्रता या वचनभगी (जैसे काव्यार्थापत्ति,

---

१ 'चिन्तामणि', पृ० २२०।

२. डा० राघवन—'सम कांनसेप्टस ऑफ अलकार-शास्त्र, पृ० २७१।

परिसख्या, विरोधाभास, असगति आदि मे) तथा अप्रस्तुत वस्तुओ का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओ के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दुरारूढ कल्पना (उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि मे) इत्यादि बाते आती है ।[1] इस प्रकार शुक्ल जी चमत्कार से केवल उक्ति-वैचित्र्य का ही भाव ग्रहण करते है । यही उनका वक्रता मे तात्पर्य है ।[2] 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक मे भी उन्होने वैचित्र्य का यही स्वरूप माना है । इस उक्ति-वैचित्र्य को शुक्ल जी काव्य का सहायक तत्व-मात्र मानते है । उनकी दृष्टि मे यह गौण वस्तु है । "अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नही है, एक अतिरिक्त गुण है, जिससे मनोरजन की मात्रा बढ जाती है । इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है और होती है ।"[3] "भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए काव्य मे वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमे सन्देह नही ।[4] शुक्लजी वक्रता के प्रयोजनीय रूप के अतिरिक्त इसके उस स्वरूप की भी अवहेलना नही करते है जो काव्य की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अग है । काव्य की भाषा साधारण बोल-चाल की भाषा से भिन्न होती है । काव्य की उक्ति मे साधारण उक्ति से अतर रहता है, इस सत्य को सस्कृत के प्राचीन आचार्य बहुत पहले ही स्वीकार कर चुके थे । भामह की वक्रोक्ति और कुन्तक का वक्रोक्तिवाद इसी पर अधिष्ठित है । ध्वनि-कार भी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा कहकर इस उक्ति-वैचित्र्य का समर्थन कर रहे है । उनके परवर्ती एक भी आचार्य इस सामान्य विच्छत्ति को अस्वीकार नही कर सके ।[5] छायावाद की आधार-भूमि भी यही है । इतना ही नही पश्चिम के आचार्य क्रोचे, एवर क्राम्बे आदि भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते है । एवर क्राम्बे काव्य की परिभाषा मे "व्यजकता" को आवश्यक तत्व मानते है । शुक्ल जी भी काव्य के ऐसे महत्वपूर्ण अग की उपेक्षा नही कर सकते है । अगर एक तरफ केवल बौद्धिक चमत्कार वाली उक्तियो के काव्यत्व को वे अस्वीकार करते है तो दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते है कि "उमडते हुये भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढग मे कुछ वक्रता आ जाती है । ऐसी वक्रता काव्य की प्रेरणा के भीतर रहती है ।"[6] कवि अपने हृदय की भावानुभूति पाठक मे भी उत्पन्न करना चाहता है, इसलिए उसे

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२९-३० ।
२ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १८१ ।
३ 'काव्य मे रहस्यवाद', पृ० ४१ ।
४ 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ८६ ।
५ 'सस्कृत-साहित्य मे समीक्षा' प्रस्तुत निबन्ध का दूसरा अध्याय ।
६ 'चिन्तामणि', पृ० २३६ ।

इस वक्रता का उपयोग करना ही पडता है ।[1] इससे काव्य मे मार्मिकता की वृद्धि होती है । भावुक कवि भी अपनी अनुभूति को तीव्र करने के लिए वक्रता का उपयोग करते है । यह उपयोग इनके लिए आवश्यक भी हो जाता है । "जिस रूप वा जिस मात्रा मे भाव की स्थिति है उसी रूप और मात्रा मे उनकी व्यजना के लिए प्राय कवियो को व्यजना का कुछ असामान्य ढग पकडना पडता है ।"[2] उनके मत मे भाव और वस्तु दोनो की व्यजना मे अनुठापन सभव है । शुक्लजी ने इन्ही को क्रमश भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष का अनूठापन कहा है ।[3] शुक्लजी का विवेचन तो और भी विशद है । चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य के कारण काव्य मे मार्मिकता आ जाती है, उसमे आकर्षण-शक्ति आ जाती है । "मेरा अभिप्राय कथन के उस ढग मे है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक और प्रभाव-शाली बना देता है ।"[4] आपातत प्रतीयमान विरोध के मूल मे शुक्लजी के विचारो की समन्वयवादी धारा अत्यन्त स्पष्ट है । उनके चमत्कार या वक्रता सम्बन्धी विचारो मे भी रस दृष्टि से पूर्ण सामजस्य है । शुक्ल जी रस की दृष्टि से ही वक्रता के औचित्य पर विचार करते है । वचन की जो वक्रता भाव प्रेरित होती है वही काव्य होती है ।"[5] "ऐसी वस्तु व्यजना जिसकी तह मे कोई भाव न हो चाहे कितनी ही अनूठे ढग से की गई हो, चाहे उसमे कितना लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्तिमात्र होगी ।"[6] शुक्ल जी ने बिहारी के विभाव-पक्ष मे कही-कही औचित्य की सीमा का उल्लघन माना है । "पत्रा ही तिथि पाइय" जैसी उक्तियो का शुक्लजी काव्य की दृष्टि से बहुत कम महत्व मानते है ।[7] वे कहते है "ऐसी उक्तियो मे कुछ तो शब्द की लक्षणा-व्यजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्या-योक्ति-ऐसे अलकारो का ।"[8] उन्होने शब्द-शक्ति और अलकार दोनो ही को उक्ति-चमत्कार के साधन कहा है । इस प्रकार वक्रता या चमत्कार-सम्बन्धी शुक्लजी के विचारो मे समन्वय है ।

१. 'जायसी ग्रन्थावली', पृष्ठ २२० ।
२. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २३० ।
३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ७१ ।
४ गोस्वामी तुलसीदास पृष्ठ १८१ ।
५ भ्रमरगीतसार की भूमिका पृष्ठ ७० ।
६. काव्य मे रहस्यवाद पृ० ७२
७. 'शुक्लजी का इतिहास', पृ० २३६।
८ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० १८१ ।

शुक्लजी ने वर्णन के विशेष प्रकार को ही अलकार माना है।[1] "मैं अलकार को वर्णन-प्रणाली-मात्र मानता हूँ जिसके अन्तर्गत किसी-किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलकार का काम नही।"[2] वे इनका उपयोग भी भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करने मे ही मानते है "भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी कभी सहायक होने वाली उक्ति ही अलकार है।"[3] शुक्लजी इनको साधन मानते है, साध्य नही। "ये प्रस्तुत वस्तु या भाव के उत्कर्ष करने के साधन मात्र है।"[4] कविता मे अलकारो को साध्य मानने से उसका स्वरूप ही विकृत हो जाता है। शुक्लजी के अनुसार पुरानी कविता मे ऐसा ही हुआ है।[5] केशव का काव्य इसका प्रमाण है। "है शोणित कलित कपाल यह किंवा कापालिक काल को।' या "मनहुँ कमेत्यक पीठि पै धर्‌यो गोल घटा लसत" मे प्रस्तुत सौदर्य की वृद्धि करने के लिए कुछ भी नही है। यह केवल दूर की सूझ है।"[6] शुक्लजी ने अपनी अलकार सम्बन्धी मान्यता को पूर्णत स्पष्ट करने तथा अलकारवादियो से अपनी भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए 'रमणीयता' और 'चमत्कार' शब्दो का उपयोग किया है। भावो के उत्कर्षक अलकारो मे वे रमणीयता मानते है और कौतुक तथा विलक्षणता के हेतु अलकारो मे चमत्कार। शुक्लजी पहले प्रकार के अलकारो के समर्थक है। वे कहते है "अलकारो मे रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिए कहते है कि चमत्कार के अन्तर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नही शब्द-कौतुक और अलकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। भावानुभाव मे वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलकार की रमणीयता है।"[7]

अलकार सुन्दर वस्तु या भाव की ही सौन्दर्य-वृद्धि कर सकते है, असुन्दर को सुन्दर नही बना सकते। इसमे भी वे आचार्यो का अनुकरण करते है। 'जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलकार लादकर सुन्दर नही हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव मे अलकारो का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नही खडा कर सकता। आचार्यो ने अलकारो को 'काव्य शोभाकर' 'शोभातिशायी'

---

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ २४७। 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६१।
२ काव्य में प्राकृतिक दृश्य'
३ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६१।
४ 'चिन्तामणि', पृष्ठ २४८।
५ वही, पृष्ठ २४७।
६ वही, पृष्ठ २४७।
७ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ १६२।

आ दि ही कहा है। महाराज भोज भी अलकार को "अलमर्थमलकर्तुं" ही कहते है। पहले मे सुन्दर अर्थ को ही अलकार शोभित कर सकता है। सुन्दर अर्थ की शोभा बढाने मे जो अलकार प्रयुक्त नही वे काव्यालकार नही।"[1] शुक्लजी उक्ति के विभिन्न प्रकारो को अलकार मानकर इनकी अनेकता स्वीकार करते है। वे अलकार को व्यापक अर्थ मे ग्रहण कर रहे है। इनमे से बहुत-से प्रकारो के नामकरण न भी हुए हो, तब भी वे अलकार तो है ही।[2] उन्हे अलकारो के नामकरण मे चिरतन विकास का सिद्धान्त मान्य है। शुक्लजी प्रकृति पर किये गए आरोपो को भी अलकार ही मानते है। "प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यजना के बाहर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपो और व्यापारो पर करेगे वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलकार-मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलकार के बधे साचे मे ढाले या न ढाले।'[3] उपमानो की तरह कलाकार अभिव्यक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रतीको का भी प्रयोग करता है। शुक्लजी इन दोनो के सूक्ष्म अन्तर के द्वारा अलकार और अभिव्यजना-शैली के तात्विक भेद का निरूपण कर रहे है। प्रतीको का व्यवहार हमारे यहा के काव्य मे बहुत-कुछ अलकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नही कि उपमा रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपनाम और प्रतीक एक ही वस्तु है। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नही, बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है। पर अलकार मे उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अत सब उपमान प्रतीक नही होते। पर जो प्रतीक भी होते है वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते है।[4] लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलकार से भिन्न शैली के तत्व मानने मे शुक्लजी ने इसी सूक्ष्म दृष्टि और विवेचन का परिचय दिया है। अलकार-सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि शुक्लजी अलकारो के विरोधी तो नही है पर वे केवल शाब्दिक खिलवाड और चमत्कार के पक्षपाती भी नही हैं। वे रसानुकूल अलकारो का प्रयोग ही काव्य के लिए अपेक्षित मानते हैं। इसमे शब्द-साम्य की झडी लगाना वे प्रकृत-काव्य के बाहर समझते है। केशव आदि रीतिकालीन आचार्यों की कटु आलोचना का मूल कारण ही यह है।

शुक्लजी प्रस्तुत और अप्रस्तुत द्वारा अलकार और अलकार्य का भेद स्पष्ट करते है। वस्तु का जो असली स्वरूप है, वह तो आलम्बन विभाव के अन्तर्गत

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २५१।

२ वही, पृष्ठ २५२।

३. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ २५-२६।

४. 'काव्य मे रहस्यवाद', पृष्ठ ८८।

आता है और उस पर आरोपित वस्तुएं अलकार मे। इसी आधार पर वे स्वभावोक्ति उदात्त और अत्युक्ति के अलकारत्व को अस्वीकार करते है। शुक्ल जी ने "स्वभावोक्ति" पर भामह, राजानक, रुय्यक और दडी के मत उद्धृत किये हैं। उनका कहना है कि वात्सल्य मे बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन विभाव के अन्तर्गत होगा। बालक की चेष्टाओ का वर्णन प्रस्तुत है, इसलिए वे अलकार नही अपितु अलंकार्य है। ये विभाव क्षेत्र की वस्तुए है, इन पर अलकारो का आरोप होता है। ये रस-क्षेत्र की वस्तुएं है, अलकार की नही। "प्रस्तुत वस्तु के रूप, क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र मे घसीटकर अलकार-क्षेत्र मे हम कभी नही ले जा सकते।"[1] कुन्तक भी स्वाभावोक्ति अलकार का खडन अलकार्य कह कर ही करते है। शुक्लजी का स्वभावोक्ति-सम्बन्धी मत वक्रोक्ति से बहुत-कुछ साम्य रखता है।

काव्य-विधान या शैली के अन्य तत्वो पर भी शुक्लजी ने विचार किया है। ऊपर हमने देखा है कि वे काव्य की भाषा को साधारण बोल-चाल अथवा शास्त्र की भाषा से भिन्न मानते है। शास्त्र का उद्देश्य अर्थ-ग्रहण-मात्र है, पर काव्य का उद्देश्य वस्तु या बिम्ब-ग्रहण भी करवाना है। काव्य के अर्थ ग्रहण-मात्र मे काम नही चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है।[2] प्रकृति-चित्रण मे कवि के उद्देश्य और सफलता पर पर विचार करते हुए शुक्लजी कहते है "उसमे कवि का लक्ष्य बिम्ब-ग्रहण कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नही। वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।" आचार्य शुक्ल अभिधा-शक्ति मे वस्तु के अर्थ और बिम्ब दोनो को ग्रहण कराने की क्षमता का निर्देश करते है। अन्त करण मे वस्तु का चित्र उपस्थित होना ही बिम्ब-ग्रहण है। काव्य मे इसीकी उपादेयता है, अर्थ-ग्रहण की नही। आचार्य ने "कमल" के उदाहरण द्वारा अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर दिया है। वस्तुओं की गणना-मात्र मे बिम्ब-ग्रहण नही होता, उसके लिए वस्तु के सश्लिष्ट और सागोपाग के वर्णन की आवश्यकता है। "प्रकृति-दर्शन मे जो सश्लिष्टता है, वैसा ही सश्लिष्ट चित्र शब्दो द्वारा पाठक के हृदय मे उपस्थित करना कवि का उद्देश्य होता है। इसी उद्देश्य की सफलता बिम्ब-ग्रहण पर ही आश्रित है।"[3] काव्य मे केवल मूर्त्त पदार्थों का ही बिम्ब-ग्रहण नही होता है, अपितु अमूर्त्त भावनाओं का भी सजीव चित्र खडा करना

१ चिन्तामणि, पृष्ठ २५०। काव्य मे प्राकृतिक दृश्य।
२ वही, पृष्ठ १९८।
३ काव्य मे प्राकृतिक दृश्य।

पडता है। स्थूल और मूर्त्त पदार्थों के सौदर्य के लिए कभी-कभी सूक्ष्म और अमूर्त्त विधान करना पडता है। कभी सूक्ष्म का स्पष्टीकरण भी स्थूल का आधार लेकर होता है। "अगोचर बातो या भावनाओ को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप मे रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त्त विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे 'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना वह अधिक पसन्द करेगी।"[1] भावो को अधिक-से-अधिक प्रेषणीय बनाने के तथा उनका मूर्त्त रूप खडा करने के लिए कवियो को कभी वस्तुवाचक शब्दो के स्थान पर भाववाचक और भाववाचक के स्थान पर वस्तुवाचक का प्रयोग करना पडता है। यह उपचार-वक्रता अभिव्यजना को अधिक सुन्दर और सजीव बनाने का साधन है। इस प्रकार जो तथ्य लाक्षणिक वक्रता का आश्रय लेकर रखे जाते है, वे बहुत भव्य, विशाल और गम्भीर होकर सामने आते है।[2] लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य को शुक्लजी काव्य-शैली के आवश्यक तत्व मानते है। जाति, सकेतवाचक अथवा व्यापक अर्थ-वक्रेनो के स्थान पर मर्मस्पर्शी वस्तुओ और व्यापारो का चित्र उपस्थित करने वाले शब्दो का प्रयोग काव्य के उपयुक्त है। इनसे काव्य मे सजीवता आ जाती है। शुक्लजी की प्रौढ शैली का यही स्वरूप मान्य है। वे इस सिद्धान्त का उपयोग अपनी प्रयोगात्मक आलोचना मे भी करते है। इस शैली के आश्रय से कवि काव्य मे चित्र-कला के समान मूर्ति-विधान करने मे समर्थ होता है। कवि प्रेषणीयता के लिए सगीत-तत्व का भी उपयोग करता है। इस तत्व से काव्य की आयु बढती है। यह काव्य का सहायक अग है। अत नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खडा करने के लिए कुछ-न-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नही सकते। जो अन्त्यानुप्रास को फालतू समझते है वे लय मे ही लीन होने का प्रयास करते है।[3] शुक्लजी छन्द, नाद, या लय को उपयोगी तत्व समझते है, अनिवार्य नही। वे कवि-प्रतिभा की स्वच्छन्दता को इस प्रकार के जटिल और जड नियमो से बाधना नही चाहते है। यही कारण है कि शुक्लजी गद्य-काव्य की मर्मस्पर्शिता और काव्यत्व की मुक्त-कठ से प्रशसा करते है। गद्य और पद्य का अन्तर कोई महत्वपूर्ण नही है। वे दोनो काव्यो को समकक्ष समझते है। "काव्यात्मक गद्य, प्रबन्ध या लेख छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना-भेद से उसमे भी अर्थ का उन्ही रूपो मे ग्रहण होता है, जिन रूपो मे छन्दोबद्ध काव्य मे होता है।"[4]

---

१ चिन्तामणि', पृष्ठ २३८।

२ 'शेष स्मृतियां, की 'प्रवेशिका'।

३ 'चिन्तामणि', पृष्ठ २४५।

४ 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ६८।

शुक्लजी ने काव्य के उद्देश्य पर दो दृष्टियों से विचार किया है, काव्यविधान और प्रभाव। वे दोनों एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हैं। काव्य का जीवन की गति से गहरा सम्बन्ध है, उसका इस गति विधि पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, इसी में उसकी प्रेषणीयता अन्तर्भूत है, यह हम पहले कह चुके है। अब तक काव्य विधान पर जो विशद विचार हुआ है उसका संक्षिप्त साराश स्पष्टता के लिए दिया जाता है। इसमें काव्य के भाव और कला दोनों पक्षों का समाहार हो जाता है। कवि की अनुभूति को सहृदय तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है। इसके लिए लौकिक और वैयक्तिक अनुभूति को लोक सामान्य और साधारणीकृत रूप देना पड़ता है। व्यापार-शोधन में भावुकता की अपेक्षा है। कवि की अनुभूति को सहृदय-साध्य बनाने के लिए, उसमें संवेदनीयता लाने के लिए कल्पना का भी पर्याप्त प्रयोग करना पड़ता है। प्रेषण की माध्यम भाषा में भी उन तत्वों की प्रधानता हो जाती है जो उसे साधारण भाषा से भिन्न स्वरूप प्रदान करते है। इसमें शब्द की लक्षणा और व्यजना-शक्तियों का प्रयोग अधिक होता है। उसमें हृदय-स्पर्शिता लाने के लिए अलकार-वक्रता और नाद-सौन्दर्य का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। इन सभी तत्वों का उपयोग रमणीयता की दृष्टि से किया जाता है। उपर्युक्त सभी पक्षों पर शुक्लजी के विचारों का विशद निरूपण हो चुका है। शुक्लजी ने कल्पना या भावना के विधायक और ग्राहक दोनों रूपों को समान महत्व प्रदान करके कवि और सहृदय के कृत्रिम अन्तर को भी अस्वीकार कर दिया है।

शुक्लजी मनोरंजन अथवा आनन्द को काव्य का परम लक्ष्य मानने के विरोधी हैं। "किस्से-कहानियों में मनोरंजन की क्षमता है, पर कविता को किस्से-कहानी के बराबर मानना समीचीन नहीं है। मनोरंजन अथवा आनन्द को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानना उसे केवल विलास की सामग्री की तरह तुच्छ कहना है। मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुँचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य मान लिया जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।"[1] शुक्लजी 'रस-सिद्धान्त' के मानने वाले है, पर काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए उन्होंने इसके अनुभूति-पक्ष की अपेक्षा हृदय और बुद्धि पर पड़ने वाले प्रभाव का और ही अधिक ध्यान रखा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि 'रस' आनन्द दशा है और शुक्लजी भी इसे अस्वीकार नहीं करते है। पर उसके आनन्द-पक्ष को ही अत्यधिक महत्व देने के कारण काव्य का जीवन से सम्बन्ध, उसका व्यक्ति और समाज पर पड़ने वाला प्रभाव प्राय उपेक्षित हो गया। प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य के अन्य प्रयोजन सहृदय समाज और कवियों द्वारा भुला दिये गए। केवल 'मन पर निर्वृत्तये' ही

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२३।

काव्य का एकांगी प्रयोजन माना जाने लगा। शुक्लजी ने काव्य के प्रयोजन पर जो दृष्टि डाली है, वह आनन्द-सम्पृक्त होते हुए भी मौलिक है। इसने काव्य के महत्व को फिर से प्रतिपादित कर दिया है।

शुक्लजी रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था कहते है और इसे ज्ञान-दशा के समक्ष मानते है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते है। इसी साधना को हम भाव योग कहते है और कर्म योग और ज्ञान योग का समकक्ष मानते है। जीवन की अन्य साधनाओ से, जिनका सम्बन्ध दर्शन से है, मानव जिन उच्च अवस्थाओ को पहुचना है, उन्ही के समकक्ष भावयोग और हृदय की मुक्तावस्था को रखकर शुक्ल जी ने काव्य को भी उपनिषद् आदि के समान ही महत्व प्रदान कर दिया है। उन शास्त्रो की तरह यह भी जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इन साधनाओ मे मानव व्यक्तित्व के सकुचित घेरे से ऊपर उठ जाता है। उसमे अपना वैयक्तिक राग द्वेष और योगक्षेम गौण हो जाते है अथवा उनका नितान्त अभाव हो जाता है। दर्शन इस कार्य को ज्ञान और कर्म द्वारा सम्पन्न कराता है और काव्य-भाव और अनुभूति द्वारा, बस केवल इतना ही अन्तर है। ज्ञान, कर्म और भाव इन तीनो का चिर साहचर्य है। कविता का क्षेत्र प्रधानतया हृदय ही है, पर यह बुद्धि और कर्म मे भी सकुचित व्यक्तित्व का परिहार करने का साधन है। व्यक्तित्व का परिहार, सकुचित स्वार्थ सम्बन्धो से ऊपर उठना, अपनी पृथक सत्ता को लोक-सत्ता मे लीन कर देना आदि विचार तो शुक्लजी के काव्य-विवेचन के प्राण ही है। उन्होने सर्वत्र इन्हीका प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि से यह ही काव्य का परम लक्ष्य है। "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धो के सकुचित मडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है।...इस भूमि पर पहुँचे हुये मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नही रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता मे लीन किये रहता है।"[1] शुक्ल जी ने काव्यानुभूति और लौकिक अनुभूति के अन्तर का भी यही आधार माना है। लौकिक अनुभूति व्यक्तिगत स्वार्थो से बद्ध रहती है और काव्यानुभूति उनसे मुक्त।

जीव और ब्रह्म के ऐक्य की प्रत्यक्ष अनुभूति स्वरूप—मुक्ति मे विशुद्ध अनुभूति-मात्र है। उसमे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का अन्तर नही रह जाता है। वह अवस्था केवल ज्ञान-मात्र है। इसी को ज्ञान-दशा कहते है। शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था की उसी से समता कर रहे है। रस-दशा की मुक्ति से तुलना कोई नवीन नही है।

---

१ वही, पृष्ठ १९३।

२. चिन्तामणि', पृ० १९३

रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। शुक्लजी भी इसी पद्धति और परम्परा का अनुसरण कर रहे है। ब्रह्मानन्द मे जिस प्रकार अहकार का नितान्त अभाव होता है, अन्त करण पूर्णत विलीन हो जाता है, वही अवस्था रसानुभूति मे नही होती। तल्लीनता के कारण यद्यपि भोक्ता को अपनी पृथक सत्ता का अनुभव तो नही रह जाता है, पर यह कहना कि उसके अहम् का सर्वथा अभाव हो जाता है, समीचीन नही है। रति, क्रोध उसके अहकार के ही विकार है, इसलिए रति आदि की अनुभूति अहम् की सत्ता के प्रमाण है। रस-दशा मे अहम् लोक-सत्ता मे लीन हो जाता है, पर उसका सर्वथा अभाव नही होता। यही कारण है कि रस-दशा मुक्तावस्था की तरह विशुद्ध अनुभूति नही कही जा सकती। इसीलिये काव्य मे विशुद्ध अनुभूति का तात्पर्य केवल वैयक्तिक राग-द्वेष और योगक्षेम का लोक-सामान्य हो जाना है। यही कारण है कि शुक्ल जी "लोकसामान्य भाव-भूमि पर लाना", "सर्वभूत का आत्मभूत हो जाना" आदि वाक्याशो को इतना महत्व देते है। ज्ञान-दशा से रसानुभूति की तुलना करने का तात्पर्य केवल उसकी निर्वैयक्तिकता का स्पष्टीकरण-मात्र है, दोनो का स्वरूप साम्य नही। इस प्रकार के साम्य की ओर शुक्ल जी ने अन्यत्र कही भी सकेत नही किया है। काव्यानुभूति की अलौकिकता का तात्पर्य भी उन्होने "पृथक् सत्ता की भावना का परिहार" ही बताया है। वे रस को कोई स्वर्गीय अनुभूति नही मानते। अगर उनका यही तात्पर्य होता तो वे प्रत्यक्ष और स्मृति की कतिपय लौकिक अनुभूतियो मे इसी लोकसामान्य भावभूमि का प्रतिपादन नही करते। लौकिक आलम्बनो को साधारणीकृत न कहते। इस प्रकार काव्य की निर्वैयक्तिकता का तात्पर्य भी एक तरह से वैयक्तिकता ही है, इसमे व्यष्टि के सकुचित स्वार्थ, योगक्षेम तो नही रहते, पर समष्टि के अवश्य रहते है। यह समष्टि भी व्यापक अर्थ मे व्यष्टि ही है। रति, क्रोध, उत्साह, अनुराग, विराग, घृणा, ग्लानि आदि सभी भाव और वासनाए हृदय मे रहती है। उनके आलम्बनो का साधारणीकरण हो जाता है। बस, वे मानव-मात्र से सम्बधित रहती है। वे आलम्बन लोकसामान्य का स्वरूप धारण कर लेते है। शुक्लजी का पृथक सत्ता के परिहार तथा हृदय की मुक्तावस्था से यही तात्पर्य है। शुक्लजी को रस की अलौकिकता मान्य नही है। वे रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नही मानते। उनका रस विवेचन भारतीय आचार्यो के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ही है।

व्यक्तित्व का अहम् के सकुचित घेरे से निकलकर विस्तीर्ण क्षेत्र मे व्याप्त हो जाना, यही शील का विकास है। अहम् का विकास, सर्वभूत का आत्मभूत मे अन्तर्भाव ही दूसरे शब्दो मे चरित्र का विकास है। इसी की अन्तिम अवस्था मुक्ति है। कर्मयोग, अनासक्ति आदि का भी यही तात्पर्य है। कर्म करते हुए फल की आकाक्षा न करने का अर्थ ही अपने कर्मो मे ममत्व बुद्धि का परिहार है। कर्म मे फलाशक्ति

और कर्तृत्व बुद्धि न रहने पर भी कर्मयोगी मे लोक-कल्याण की भावना रहती है। उसकी सभी वासनाओ के अन्तस्तल मे लोक-हित की आकाक्षा प्रवाहित रहती है। वासनाओ के सस्कारो का विलय नही होता, अपितु सारी सृष्टि से उनका सम्बन्ध होजाता है। काव्य भी मानव मे ऐसी ही शुद्ध बुद्धि को जाग्रत करता है। उसका यह कार्य भावो द्वारा सम्पन्न होता है, इसलिए उसे शुक्लजी भावयोग कहते है। कविता व्यक्ति को इसी अर्थ से सदाचारी बनाती है, उसके शील का विकास करती है, यही उसका उद्देश्य है। 'कला कला के लिए' मानने वाले काव्य का सदाचार से कोई सम्बन्ध नही मानते। शुक्लजी उनका खडन करते है। उनका कहना है कि हमारे प्राचीन आचार्य 'रस' की परिभाषा मे "सत्वोद्रेकात्" का प्रयोग करते है। सत्वाविष्ट अन्त करण के कार्य ही सदाचार है। सतोगुण का सदाचार से अभिन्न सम्बन्ध है। दुराचार रजोगुण और तमोगुण के ही धर्म है। शुक्ल जी नीतिवादी है। इसका यह तात्पर्य कभी नही है कि कवि की उपदेशात्मक वृत्ति की वे प्रशसा करते है। सूक्ति को वे उत्कृष्ट कोटि का काव्य नही मानते है, यह पहले कहा जा चुका है। कुछ लोग उन्हे स्थूल नैतिकता का समर्थक मानते है, पर यह ठीक नही। उनका नैतिक दृष्टिकोण कुछ बंधी हुई परम्परा अथवा रीतियो तक ही सीमित नही है। काव्य मे वे आदर्शवाद के ही समर्थक है, यह भी नही कहा जा सकता। शुक्लजी की काव्य-सम्बन्धी धारणा को समझ लेने के बाद आदर्श और यथार्थ का कोई झगडा ही नही रह जाता है। न उन्होने इसमे पडना उचित समझा है। आलम्बन के साधारणीकरण और अनुभूति के लोक-सामान्य रूप के सिद्धान्त को मान लेने के बाद यथार्थ और आदर्श का भेद कृत्रिम प्रतीत होने लगता है। शुक्लजी हृदय-प्रसार तथा तज्जन्य शील-विकास को ही काव्य का उद्देश्य मानते है। ज्ञानयोग और कर्मयोग मे क्रमश व्यक्ति की पृथक सत्ता तथा वैयक्तिक योगक्षेम एव फलासक्ति का सर्वथा लोप हो जाता है, पर भावयोग मे यह लोप केवल कुछ काल तक के लिए ही होता है। भावयोग से व्यक्ति की पृथक सत्ता का कुछ देर के लिए लोकसत्ता मे विलय हो जाता है और लोक के योगक्षेम उसके योगक्षेम हो जाते हैं। "इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नही रहता है। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता मे लीन किये रहता है।[1] व्यक्तित्व का क्षणिक विलय भी मानव के चरित्र-विकास का हेतु है। उनका अन्तःकरण सत्वाविष्ट होने का अभ्यस्त हो जाता है इसलिए जब जीवन मे ऐसा अवसर आता है, उस समय भी उसका सकुचित स्वार्थ दूर हो जाता है। वह मानव-मात्र के कल्याण की दृष्टि से सोचता है और कार्य भी करता है। इस प्रकार क्षणिक होते हुए भी व्यक्ति

१ चिन्तामणि', पृष्ठ १९३।

के अन्तःकरण पर इस भावयोग का स्थायी प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण स्वस्थ और संयत हो जाता है। शुक्लजी इसे ही काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं।

शुक्लजी कविता को शेष सृष्टि के साथ व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने वाला साधन मानते हैं। इससे उसके हृदय का इतना प्रसार होता है कि सारा विश्व उसके भीतर समा जाता है। वह विश्व-हृदय हो जाता है। शुक्लजी इसी को मनुष्यत्व की उच्च भूमि मानते हैं। "कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव-सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रु-धारा में जगत् की अश्रु-धारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द-नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।"[1] हृदय-प्रसार द्वारा काव्य उन मानसिक रोगियों की चिकित्सा करता है, जो अपने स्वार्थों के घेरे में अत्यधिक बद्ध हैं, जिनका हृदय दीन-दुखियों को देखकर द्रवित नहीं होता है, प्रकृति के सौन्दर्य पर कभी मुग्ध नहीं होता, अपमानसूचक शब्दों को सुनकर जो क्षुब्ध नहीं होता और मानवों की पीड़क शक्तियों का दमन करने के लिए जिनकी भुजाएँ फड़क नहीं उठतीं। कविता मानव को अवसर के उपयुक्त भाव के अनुभव की क्षमता प्रदान करती है। वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठकर अवसर के अनुकूल भाव की अनुभूति करना तथा व्यक्तिगत योगक्षेम को लोकहित में विलीन कर देना ही शुक्लजी की दृष्टि से सच्ची मानवता है। काव्य मानव को इसी सच्चे अर्थ में मानव बनाता है। शुक्लजी ने अर्थ-पिशाच के उदाहरण द्वारा स्वार्थबद्ध मानव का चित्र स्पष्ट किया है। ऐसे मानवों को भी काव्य हृदय-प्रसार द्वारा मानवता की उच्च भूमि पर ले जाता है। स्वार्थ-संकुचित हृदय का काव्य के द्वारा जो प्रसार होता है, उसमें उसमें विश्व-हृदय की उदारता और व्यापकता आ जाती है। भगवान् के लोक-रक्षक और लोकरंजक हृदय से व्यक्ति का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उस समय उसकी आकांक्षाएँ मंगलमय हो जाती हैं। उसकी इच्छाओं में विश्व-भर का कल्याण निहित रहता है। शुक्लजी ने काव्य के उद्देश्य को इतना व्यापक रूप दे दिया है। इस अवस्था में मानव-हृदय में पूर्ण सामंजस्य रहता है। "काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को

---

१. 'चिन्तामणि', पृ० २१६।

निकालकर उसमे विश्व-व्यापिनी और त्रिकालवर्त्तिनी अनुभूति मे लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-ऊँचे उद्देश्य आ जाते है। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति मे लीन कहा जाता है। उस दशा मे धर्म-कर्म और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामजस्य घटित हो जाता है।"[1]

काव्य कल्पना-जगत् की वस्तु है। इससे वह मानव को कल्पनाशील और अकर्मण्य बना देता है। कवि और कविता-प्रेमी जीवन से पलायनवादी हो जाते हैं। प्लेटो ने काव्य को जीवन का सच्चा स्वरूप नही माना है। वे इसे अनुकृति की अनुकृति मानते हैं। प्लेटो के अनुसार राष्ट्र का नागरिक सत्य का अनुसरण करता है, पर कला-क्षेत्र मिथ्या, कल्पना और भ्रान्ति का है। इसीलिए कवि राष्ट्र का सच्चा नागरिक नही हो सकता। अत्यधिक कल्पनाशील होने के कारण उसे राष्ट्र का उत्तरदायी व्यक्ति नही माना जा सकता। यह विचार-धारा पाश्चात्य है। भारतीय विचार-परम्परा मे जीवन और काव्य मे ऐसा कोई विरोध नही है। शुक्लजी काव्य सम्ब-धी इस धारणा का कि काव्य मानव को अकर्मण्य बनाने वाला है, खण्डन करते हैं। उनकी मान्यता है कि कर्म की प्रेरक शक्ति बुद्धि नही, अपितु भावना है। "शुद्ध ज्ञान या विवेक मे कर्म की उत्तेजना नही होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन मे कुछ वेग का आना आवश्यक है। मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है।"[2] भाव ही काव्य की मूल भित्ति है, इसलिए काव्य को अकर्मण्य बनाने वाला मानना किसी प्रकार भी ठीक नही है। शुक्लजी तो यह मानते हैं कि काव्य भाव-प्रसार के द्वारा मानव के अर्थ-जगत् का भी प्रसार करता है। "कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है।"[3] काव्य मानव की व्यापक भाव-राशि के लिए आलम्बनो का नियोजन करता है। वह उसको कर्म-जगत् में प्रवृत्त होने की अधिक स्वस्थ प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है। काव्य के द्वारा सारे विश्व से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और काव्य मानव के कर्म-क्षेत्र को विश्व-व्यापी कर देता है। काव्य से मानव मे उत्तरदायित्व के बोझ को सभालने की क्षमता और भी बढ जाती है। काव्य के अनुशीलन से हृदय प्रसार होता है और मानव कर्मयोगी हो जाता है। उसमे ममत्व और सकुचित स्वार्थों का नितान्त अभाव हो जाने के कारण सारे विश्व के कल्याण मे ही वह अपना कल्याण निहित समझता है। उसमे लोक-रजन और लोक-मंगल की भावना

१. 'इन्दौर वाला भाषण', पृष्ठ ५०-५१।
२. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २१४–२१५।
३. वही, पृष्ठ २१६।

बद्धमूल हो जाती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह कार्य करता है। इस प्रकार काव्य तो मानव को वस्तुत कर्मण्य बनाता है। काव्य से मानव मे सुख दुख मे विवेक और धैर्य रखने की क्षमता आती है। शुक्लजी के अनुसार ऐसा ही काव्य श्रेष्ठ है। उनके लिए काव्य की उत्तमता का यही मापदण्ड है।

कविता के द्वारा मानव के मनोविकारो का परिष्कार हो जाता है। सकुचित स्वार्थ परायणता से मुक्त होकर जीवन की विभिन्न परिस्थितियो मे मानवोचित भावो का अनुभव शुक्लजी की दृष्टि मे मनोविकारो का परिष्कार है। इन मनोविकारो के मूल मे तुच्छ स्वार्थवृत्ति नही, अपितु लोक-मङ्गल की भावना रहती है। इन परिष्कृत भावनाओ द्वारा मानव अपना शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है।[1] इतना ही नही काव्य द्वारा मानव की स्वय की विरोधी वृत्तियो तथा बाह्य और उसके अन्तर मे सामजस्य स्थापित हो जाता है।[2] वस्तुत बाह्य और आभ्यन्तर अथवा अपने ही अन्त करण की विभिन्न वृत्तियो मे जो विरोध है, वह केवल प्रतीति-मात्र है। इस विरोध का कारण वैयक्तिकता, स्वार्थ-सकोच और सीमित योगक्षेम की भावना है। व्यक्ति सारी सृष्टि को अपने ही सकुचित राग-द्वेष के आवरण मे देखता है, इसलिए उसे कुछ वस्तुए विरोधी प्रतीत होती है। जिसके हृदय का प्रसार हो जाता है, जो विश्व-हृदय बन जाता है, उसके लिए कही कोई विरोध रह ही नही जाता। लोक-रक्षक और लोक-रजक रूप धारण कर लेने के अनन्तर इस विश्व की प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक मानव मे मगलमय आत्मा के दर्शन होने लगते है, इसीलिए किसी प्रकार के विरोध के लिए स्थान नही रह जाता। इन वृत्तियो अथवा भावो का लोक मगल के साथ सम्बन्ध साध्य-साधक हो जाता है। क्रोध, घृणा आदि मे भी सौन्दर्य और मगल की आभा के दर्शन का यही रहस्य है। शुक्लजी का लोक-मगल की साधनावस्था के सौन्दर्य से यही तात्पर्य है। उनकी मान्यता है कि मगल की आभा के विस्तार मे जो प्रयत्न अपेक्षित है, उसमे अधिक सौन्दर्य के दर्शन होते है। सिद्धावस्था का सौन्दर्य भोग-पक्ष का है, इसलिए उसमे शैथिल्य है। पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौदर्य और मगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वही मिलती है, मगल-सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को सकुचित करना है।[3] शुक्लजी कर्म-सौन्दर्य के समर्थक हैं।

ऊपर काव्य के उद्देश्य का जो शुक्लजी की दृष्टि से निरूपण हुआ है, उसको

---

१. 'चिन्तामणि', पृष्ठ १६३।

२. वही, पृष्ठ १६६।

३. 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ ४।

एक शब्द मे शील-विकास कह सकते है। काव्य व्यक्ति के शील-विकास का एक महत्वपूर्ण और सर्वांगीण साधन है। उसके द्वारा बुद्धि, हृदय और कर्म-शक्ति तीनो का विकास होता है। इन तीनो का पूर्ण सामजस्य ही शील विकास की चरम अवस्था है। काव्य मनोविकारो की अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा उनमे सन्तुलन भी स्थापित करता है। उनके अनावश्यक दमन मे शील का विकास भी सम्भव नही है। सामजस्य ही शील का मूल मन्त्र है। यही कारण है कि शुक्लजी ने सामजस्य पर जोर दिया है। शुक्ल जी की शील-सम्बन्धी धारणा बहुत व्यापक है। उसमे शील, शक्ति और सौदर्य तीनो का समन्वय है। उनके शील का आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम है। सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियो ने जीवन की शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का सन्देश तो दिया, पर वे कृष्ण चरित्र से कर्म के सौदर्य का उद्घाटन नही कर सके। शुक्ल जी लोक-सग्रह मे ही धर्म का सौन्दर्य देखते है। कृष्ण की शृगारिक भावना ने विलासप्रियता को ही प्रोत्साहन दिया है। उनके अध्ययन द्वारा शील-विकास की प्रेरणा नही मिलती। कृष्ण का कर्मयोगी रूप इस कार्य के लिए उपयुक्त था, पर इन कृष्ण-भक्त कवियो ने उस रूप को ग्रहण नही किया। इन कविताओ का चरम लक्ष्य प्रेम और भक्ति का रसास्वाद है, पर शुक्लजी रसास्वाद द्वारा व्यक्ति के हृदय को विश्व-हृदय मे तल्लीन कर देना, उसमे लोकरजन तथा लोक-मगल की भावना बद्धमूल कर देना ही काव्य का उद्देश्य समझते है। लोक-हित की भावना का प्रसार ही काव्य का चरम लक्ष्य है। आनन्दानुभूति इसका साधन है। इसीलिए यह कहना अत्युक्ति नही है कि शुक्लजी रस के आस्वाद-पक्ष को नही अपितु प्रभाव-पक्ष को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं। जिन भावो के मूल मे लोकमगल, मानवता अथवा अगी धर्म की प्रेरणा रस रूप मे परिणत हो सकते है अन्यथा रसाभास की कोटि मे ही आपत्ति है। इनमे ही सहृदय श्लाघत्व और आनन्दानुभूति है।

शुक्लजी ने लोक-धर्म को ही व्यापक धर्म अथवा पूर्ण अगी धर्म कहा है। शेष सारे गृह-धर्म, कुल-धर्म आदि इसके अग है। विभिन्न धर्मों का सामजस्य इसी लोक-धर्म मे है। "धर्म के सब पक्षो का ऐसा सामजस्य, जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें यदि पूर्ण रूप मे प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।" [1] इस धर्म से समाज का सचालन होता है, लोक की रक्षा होती है। इसको धारण करने वाला लोक-रक्षक और लोक-व्यवस्थापक के गौरव को प्राप्त करता है। उसमे विश्व के सभी महान् गुणो की प्रतिष्ठा होती है। इस धर्म का विकास केवल दया,

१. 'गोस्वामी तुलसीदास,' पृ०

नम्रता, उदारता आदि में ही नहीं होता अपितु क्रोध,[1] घृणा, विनाश, द्वेष आदि में भी होता है। इन भावों में मंगल की आभा झलकती है। भगवान राम के चरित्र में इन सभी विरोधी भावों का सामंजस्य है। अत्याचार और अत्याचारी का उपदेशों द्वारा विरोध करना, सद्भावना के द्वारा अत्याचारी का हृदय-परिवर्तन लोक-धर्म नहीं है। इसे शुक्लजी व्यक्ति की साधना मानते हैं। अत्याचार के दुर्दमन में क्रोध और ध्वंस का आश्रय लेकर लोक-मंगल का प्रसार करना इस धर्म का मूल तत्व है। यह जनता की प्रवृत्तियों का औसत रूप है। यह धर्म का जीवन-व्यापी स्वरूप है, इसमें मानव-मात्र का कल्याण निहित है। समाज और व्यक्ति, व्यष्टि और समष्टि, प्रेम और कर्त्तव्य, विलास और संयम, क्रोध और करुणा आदि आपातत विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का इसमें सामंजस्य है। इस धर्म से व्यष्टि और समष्टि दोनों की स्थिति-रक्षा होती है। भगवान् राम ही ऐसे धर्म के आश्रय हैं। उनके इसी लोकरक्षक रूप पर जनता मुग्ध हो गई। इन चिर-कालीन आदर्शों की स्थापना के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम शाश्वत आश्रय हैं। "लोक-विदित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिये, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार को फिर से खड़ा करने के लिए उन्होंने राम-चरित का आश्रय लिया, जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुये।[1] धर्म की रसात्मक अनुभूति को शुक्ल जी भक्ति मानते हैं।[2] धर्म के जिस स्वरूप का ऊपर विवेचन हुआ है, उसका आश्रय राम हैं। इस प्रकार शुक्लजी राम-भक्ति को ही भक्ति का चरम आदर्श रूप मानते हैं। राम के जीवन का व्यवहार पक्ष मानव-मात्र के लिये आदर्श है। उसमें सब धर्मों का समन्वय है, इसलिये वही जीवन का सर्वांगीण और विरोधशून्य स्वरूप है। उनके जीवन से व्यक्ति और समाज दोनों ही अपना आदर्श ग्रहण करते हैं। शुक्लजी के लोक-धर्म में व्यक्ति और समाज का समन्वय है। व्यक्ति के स्वातन्त्र्य का अपहरण लोक-धर्म नहीं है। समाज के अन्य व्यक्तियों की जीवन-धारा को स्वच्छन्द गति में लेश-मात्र भी बाधा न पहुँचाने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी इस लोक-धर्म का एक अनिवार्य तत्व है। यह तभी सम्भव है जब इन दोनों में सामंजस्य स्थापित हो। शुक्ल जी लोकवाद का स्वरूप तुलसीदास जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए निरूपित करते हैं। पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं चाहता, जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके, शुक्लजी व्यक्ति के आचरण पर इतना ही प्रतिबन्ध चाहते हैं जितने से दूसरों के

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ २६

२. 'चिन्तामणि', पृष्ठ २२५।

जीवन-मार्ग मे बाधा न पडे और हृदय की उदात्त वृत्तियो के साथ लौकिक सम्बन्धो का सामंजस्य बना रहे।[1]

ऊपर जिस लोक-धर्म का निरूपण हुआ है उसका व्यक्ति और समाज दोनो से सम्बन्ध है। शुक्लजी ने मानव और उसकी समाज-व्यवस्था को दो प्रधान भेदों मे विभक्त किया है, वे है राम और रावण। वे समाज और देश मे राम-व्यवस्था के समर्थक है और व्यक्ति के लिए राम को ही आदर्श मानते है। शुक्ल जी ने समाज के आदर्श रूप की कल्पना 'रामचरित मानस' तथा विशेषत चित्रकूट पर 'भरत-मिलाप' के प्रसग के आधार पर की है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करे उसके सम्बन्ध से उत्पन्न विभिन्न परिस्थितियो मे कैसी भाव-सवेदना हो, इसी को शुक्लजी समाज के रूप सघटन का मूल आधार मानते है। भारतीय आदर्श तथा वर्णाश्रम धर्म के अनुरूप तुलसी ने समाज की इस कल्पना को प्रस्तुत किया है। शुक्लजी को भी यही आदर्श मान्य है। इस विराट आदर्श का आधार भी व्यक्ति का शील ही है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन मे व्यक्ति और समाज दोनो का निर्माण अन्तर्भूत है। पर वे इस निर्माण के लिए किसी समाज-पद्धति अथवा वाद के बौद्धिक निरूपण के पक्षपाती नही है। उन्हे इन वादो मे विश्वास नही है। समाज निर्माण भी व्यक्ति के शील विकास द्वारा ही सभव मानते है। दूसरे वे काव्य मे बुद्धि-तत्व को गौण मानते है। उनकी दृष्टि से समाज को कोई विचार-धारा प्रदान करके निर्माण करने की अपेक्षा काव्य हृदय या भाव-प्रसार का आश्रय अधिक लेता है। यही कारण है कि शुक्लजी ने काव्य की बौद्धिक प्रेरणा को इतना महत्व नही दिया। काव्य जीवन के लिए नवीन विचार-धारा, जीवन का नवीन मान प्रदान करता है। पर इस कार्य का सम्पादन भी भावात्मकता और सवेदनीयता के माध्यम से करने मे ही शुक्लजी काव्य का उत्कर्ष मानते है। इस प्रकार शुक्लजी व्यक्ति के शील के विकास को ही महत्व देते हैं। उसके रागात्मक सम्बन्ध को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करके उसको सकुचित स्वार्थ परायणता एवं व्यक्तिगत योगक्षेम मात्र से मुक्त हृदय एव अनुभूति मात्र बना देने तथा निर्वैयक्तिकता प्रदान करने मे ही व्यक्ति का निर्माण समझते है। इसी मे उसका कल्याण निहित है। इसी से वह भाव-योग का आश्रय लेकर कर्मयोगी बन जाता है। व्यक्ति के शील-विकास द्वारा ही वे समाज के आदर्श रूप का निर्माण करना चाहते है। इस प्रकार शुक्लजी की दृष्टि से व्यक्ति का शील-विकास प्रधान तथा आदर्श समाज का निर्माण गौण और परोक्ष काव्य-प्रयोजन माना जा सकता है।

---

१. 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ५४।

काव्य के प्राचीन सम्प्रदायो की दृष्टि से शुक्लजी रसवादी कहे जा सकते है। शुक्लजी रसानुभूति को ही प्रेषणीय मानते है। उन्हे अलकार, तथा अन्य प्रकार के चमत्कारो का औचित्य रस की दृष्टि से ही मान्य है। कवि की अनुभूति और उसके प्रेषण का माध्यम इन सभी पर रसवाद की दृष्टि से ही विचार हुआ है। शुक्लजी के द्वारा मान्य काव्य के प्रभावो का सम्बन्ध भी रस-सिद्धान्त से ही है। रस-निष्पत्ति के लिए सत्वो द्रेक अत्यन्त आवश्यक है। हृदय-प्रसार वैयक्तिक योग-क्षेम और स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर आ जाना सत्वगुण का ही स्वाभाविक परिणाम है। ये रसनिष्पत्ति के अनिवार्य तत्व है। शुक्लजी रस-निष्पत्ति वाले स्थ ो को ही काव्य मानते हैं। लेकिन उनकी दृष्टि से काव्य की उत्कृष्टता का आधार नैतिकता ही है। इन रस-व्यजक स्थलो मे वे प्रभाव की दृष्टि से उत्तमता का विचार करते है। जो काव्य शील-विकास एव हृदय-प्रसार का साधन है और कर्म-सौन्दर्य का व्यंजक है, उसीको शुक्लजी उत्तम काव्य कहते है। प्राचीन काल मे रस-सिद्धान्त की व्यापकता नैतिकता के मानदंड से सीमित नही हुई है। जीवन का स्वच्छन्द और सहज अनुभव भी रस-सिद्धान्त के अनुसार तो उत्तम काव्य मे ही आ जाता है। "शून्य वासगृहम् विलोक्य" तथा "त्व मुग्धाक्षी" जैसे श्लोक भी रस-सिद्धान्त की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य माने जा सकते है, यद्यपि उनमे नीति के उपदेश के लिए स्थान नही है। वैसे रसानुभूति अश्लीलता और अनैतिकता से कही ऊपर है। पर फिर भी शुक्लजी शील विकास को रस के उपभोग पक्ष की अपेक्षा अधिक महत्व देते है। काव्य की उत्कृष्टता का वही मानदण्ड उन्हे मान्य है। शुक्लजी ने काव्य के "सद्य परनिर्वृत्तये" तथा "शिवेतरक्षतये" दोनो प्रयोजनो मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इन्ही के समन्वित रूप को वे काव्य का उद्देश्य मानते है। पर शिवेतरक्षतये की ओर उनका अधिक झुकाव है यही उनके मूल्याकन का मानदण्ड है। शुक्लजी का मर्यादावाद इसी पर प्रतिष्ठित है। पर प्राचीन आचार्यो ने प्रथम को "सकलप्रयोजन मौलिभूतम्" कहकर काव्य की व्यापकता को अक्षुण्ण रखा है। इस प्रकार का मर्यादावाद काव्य की आह्लादकता तथा जीवन-व्यापी स्वरूप का बाधक है। क्रोध और करुणा के सामजस्य के आधार पर जिस कर्म-सौन्दर्य की कल्पना शुक्लजी ने की है, उसी के चित्रण को काव्य का उद्देश्य मानना काव्य के क्षेत्र को बहुत सीमित कर देना है। सूर और जयदेव के काव्य क्रोध और करुणा का सामजस्य तो नही स्थापित करते, उनमे शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित कर्म-सौदर्य नही है, पर उनका मर्यादावाद से शून्य शृङ्गार और भक्ति का समन्वय काव्य की दृष्टि से कभी हेय नही कहा जा सकता है। कृष्ण और गोपियो के जीवन की साधारण क्रियाओ पर जो सुन्दर भक्ति का आवरण कवि दे सके है, जिस प्रकार शृङ्गार और वात्सल्य की

परिणति भक्ति मे हुई है, वह पाठक के हृदय मे कम सत्वोद्रेक करने वाली नही है। उनके द्वारा भी पाठक का हृदय लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। यह चित्र भी मानव हृदय का परिष्कार करता है। यह अलौकिक सौन्दर्यानुभूति भी मानवता की उच्च भूमि ही है। पर शुक्लजी का कर्म-सौन्दर्य वाला सिद्धान्त इस काव्य को निम्न कहता है। इस काव्य का भी अपना महत्व है और उस मर्यादावाद के साहित्य मे कम नही। राम और कृष्ण-काव्य मे इतना अन्तर देखने का कारण शुक्लजी का यही मर्यादावाद है। जयदेव, विद्यापति और सूर आदि कृष्ण-भक्त कवियो के काव्य स्थूल नैतिकता के मापदड पर खरे नही उतर सकते, पर उनको सर्वथा अनैतिक कहकर हेय कोटि मे रखना भी समीचीनता नही है। इस प्रकार यह कहना कुछ अश तक ठीक है कि शुक्लजी के नीतिवादी दृष्टिकोण से सूर के काव्य के महत्व को पूरा नही आका जा सकता है। हा, शुक्लजी का मर्यादावाद भक्ति के नाम पर विलासिता के अस्वस्थ प्रवाह को रोकने का शक्तिशाली साधन अवश्य है। इसमे काव्य और जीवन के समुचित सम्बन्ध और सतुलन को बनाये रखने की दृढता है। जीवन पर काव्य के समष्टिगत प्रभाव की दृष्टि से शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित काव्य का प्रयोजन ही अधिक श्रेयस्कर है क्योकि इसमे व्यक्ति और समाज के जीवन के सर्वांगीण विकास की प्रेरणा है। यह कार्य प्रबन्ध-काव्य द्वारा ही सभव है इसीलिए शुक्लजी मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध को उत्कृष्ट कहते है। लेकिन मुक्तक मे भी हृदय को तल्लीन करके उसे लोक-सामान्य भाव-भूमि पर लाने की क्षमता है। उसके द्वारा भी हृदय का परिष्कार होता है। जगत् से मानव के रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना और रक्षा इसमे भी होती है। इसलिए यह भी उपेक्षणीय नही है। शुक्लजी भी इसकी नितात उपेक्षा नही करते है। सूर के मुक्तक पदो के काव्य-सौन्दर्य की वे मुक्त कठ से प्रशसा करते है।

शुक्लजी समालोचना के सिद्धान्तो पर कोई पृथक् ग्रन्थ लिखना चाहते थे। पर यह कार्य पूरा नही कर पाये।[1] कवियो की आलोचना करने अथवा काव्य की विभिन्न परम्पराओ और धाराओ का निरूपण करते हुए उन्हे साहित्य के विभिन्न तत्वो का विश्लेषण करने की आवश्यकता हुई है। इन अवसरो का शुक्लजी ने पूर्ण उपयोग किया है। लेकिन इनमे साहित्य का क्रमानुसार और सर्वांगीण विवेचन सभव नही

१. 'रस-मीमांसा' नामक एक ग्रन्थ अब प्रकाशित हुआ है। इसमे शुक्लजी के कुछ पूर्व प्रकाशित निबन्धों के परिष्कृत रूप तथा कुछ नवीन निबन्ध है। 'चिन्तामणि' के उद्धरणो से जिन सिद्धान्तो का समर्थन हुआ है और उनकी सक्षिप्त रूप-रेखाये हैं, उन्हीं का प्रतिपादन 'रस-मीमांसा' मे भी है। कई-एक स्थानो पर तो दोनो की भाषा ही एक है।

था। शुक्लजी ने समालोचना के सिद्धान्तो पर कुछ निबन्ध भी लिखे है। इनमे काव्य-सिद्धान्तो के कई पक्षो पर प्रसगानुसार पर्याप्त विवेचन हुआ है। इनमे भी ग्रन्थ की अपेक्षित पूर्णता और क्रम का अभाव है, जो स्वाभाविक है। क्रमबद्ध और ग्रन्थाकार विवेचन न होने पर भी शुक्लजी का सैद्धान्तिक विवेचन सर्वांगीण और पूर्ण कहा जा सकता है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य के प्राय. सभी तत्वो का निरूपण शुक्लजी ने कही-न-कही कर दिया है। इतिहास मे उन्हे काव्य की सभी विधाओ का सैद्धान्तिक निरूपण करना पडा है। उन्होने रस, रीति, अलकार, वक्रोक्ति आदि प्राचीन तथा अनुभूति, कल्पना, राग, बुद्धि, अभिव्यजना, आदर्श-यथार्थ आदि आधुनिक काव्य-तत्वो पर विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने इन दोनो परम्पराओ के काव्य-सिद्धान्तो मे सामजस्य भी स्थापित किया है। उनकी काव्य-सम्बन्धी एक मौलिक धारणा है। इस धारणा का कलेवर और आत्मा दोनो प्राचीन भारतीय काव्य-परम्परा की सामग्री से निर्मित है। पर उनकी विवेचन-पद्धति आधुनिक है। अथवा यो कह सकते है कि यह पाश्चात्य प्रभाव से निर्मित पद्धति है। इस कसौटी के आधार पर जिसको, भारतीय कहना असमीचीन नही है, आधुनिक पद्धति से उन्होने प्राचीन और अर्वाचीन सभी काव्य-सिद्धातो का परीक्षण किया है। इस कसौटी पर जो सिद्धान्त खरे उतरे है, वे ही उन्हें मान्य है। इस पद्धति से उन्हे भारतीय सिद्धान्तो की समीचीनता पर दृढ विश्वास हुआ है। वे पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो मे बाग्जाल और भ्रामक तत्व ही अधिक पाते है। इनकी कसौटी को "रस" और नीति तथा पद्धति को "मनोवैज्ञानिक" कह सकते है। शुक्लजी ने काव्य के सभी तत्वो और वादो को इसी पद्धति से रस की कसौटी पर कसकर देखा है। जो खरे उतरे है, उनको उन्होने देशी और विदेशी के भेद-भाव से शून्य होकर ग्रहण किया है। आवश्यकतानुसार इनका सस्कार कर लेना भी शुक्लजी अनुचित नही समझते। उन्होने प्राचीन रस का भी सस्कार किया है। यही उनकी मौलिकता है। अन्य सारी मौलिकताए इसी सिद्धान्त मे अन्तर्भूत है।

शुक्लजी ने रस को व्यक्ति के योगक्षेम-भावना से रहित मुक्त हृदय की भावानुभूति कहा है। एक व्यक्ति की अनुभूति लोक-सामान्य की अनुभूति हो जाती है, जिसका आलम्बन सर्वसाधारण का आलम्बन हो जाता है, जो अनुभूति निर्विशेष और विशुद्ध होती है उसी को शुक्लजी रसानुभूति मानते है। इसमे वे काव्य अथवा जगत् का अन्तर नही करते। ऐसी अनुभूति जगत् मे भी होती है और शुक्लजी उनको भी रसानुभूति ही मानते है। रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते है, तात्पर्य यह है कि रस-दशा मे अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् काव्य मे प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप मे नहीं देखते,

अपनी योगक्षेम की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते है।"[1] काव्य की अनुभूति को जगत् से भिन्न करने वाली क्रिया शुक्लजी के अनुसार "साधारणीकरण" है। उनका मान्यता है कि भारतीय प्राचीन आचार्यों ने इन दोनों अनुभूतियों का अन्तर इसी आधार पर माना है। साधारणीकरण से शुक्लजी का तात्पर्य आलम्बन और भावानुभूति दोनों का लोक-सामान्य हो जाना है।[2] उन्होंने काव्यानुभूति को अनेक स्थानों पर हृदय की अनुभूति, लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित अनुभूति आदि कहा है। अपने विवेचन में वे एक ही तथ्य को स्पष्ट कर रहे है और, वह है, अनुभूति की विशुद्धता और निर्वैयक्तिकता।

केवल काव्य और कल्पना की ही नहीं, अपितु प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि जगत की विभिन्न अनुभूतियों की निर्विशेषता भी शुक्ल जी को मान्य है।[3] इसलिए शुक्ल जी रसात्मक बोध के विविध रूपों का निरूपण करते हैं। उन्हें रस का अलौकिकत्व भी मान्य नहीं है।[4] 'अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं है।" उन्होंने रस की अलौकिकता से भी उसका निर्विशेष होना ही माना है। प्राचीन आचार्यों ने रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर, लोकोत्तर आदि कहा है, पर शुक्ल जी ने इनका प्रयोग केवल अर्थवाद के रूप में माना है। काव्यानुभूति का जगत् अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति से कोई सम्बन्ध न मानना शुक्लजी की दृष्टि से गलत सिद्धान्त है।[5] वे उसे जीवन की अनुभूति कहते है।[6] प्रत्यक्ष अनुभूति से इसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए वे रसानुभूति के लिए उदात्त और अवदात विशेषणों का प्रयोग करते है। "उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का उदात्त और अवदात स्वरूप है।"[7] इन दो विशेषणों में ही प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य लोकोत्तरत्व तथा शुक्लजी की विशेषता अन्तर्भूत है। वे लोकोत्तरत्व में भी निर्वैयक्तिकता का ही अर्थ लेना चाहते हैं। "मन का किसी भाव में लीन होना ही है – रमणीयता और रसानुभूति। हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है।[8] इस प्रकार

---

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३३६।
२ देखिए 'चिन्तामणि', पृ० ३३६।
३ देखिए 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ७–८।
४ 'रस मीमांसा', पृ० २५९–१९९।
५ देखिए 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ७–८।
६ वही, पृ० ८१–८२।
७ देखिए 'चिन्तामणि,' पृष्ठ ३४८।
८ देखिए 'काव्य में रहस्यवाद', पृ० ५७।

शुक्लजी मन की किसी भाव मे तल्लीनता तथा उसकी तदाकार परिणति को रसानुभूति मानते है। शुक्लजी ने सौदर्यानुभूति के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है कि वे उसको रसानुभूति मे पृथक् नही अपितु उसीमे अन्तर्भूत मानते हैं। अन्त सत्ता की तदाकार परिणति को ही सौदर्यानुभूति मानते है। "कुछ रूप-रग की वस्तुए ऐसी होती है जो हमारे मन मे आते ही थोडी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओ की भावना के रूप मे ही परिणत हो जाते है। हमारी सारी अन्त सत्ता की यही तदाकार परिणति सौदर्य की अनुभूति है।[1] इसमे भी वे पृथक सत्ता का विसर्जन मानते है। इसीलिये इसको भी वे दिव्य विभूति कहते है।[2] इस विवेचन से स्पष्ट हो गया कि शुक्ल जी रसानुभूति और सौदर्यानुभूति का प्रयोग प्राय एक ही अर्थ मे करते है। अन्त सहत्ता की तदाकार परिणति, तल्लीनता, व्यक्तिगत योगक्षेम का परिहार, लोक-सामान्य भावभूमि, हृदय की मुक्तावस्था, पृथक सत्ता का लोक-सत्ता मे विलय आदि पदावली का प्रयोग इन दोनो के लिए करते है। शुक्लजी के अनुसार "रस" के ये ही प्रधान तत्व है, जो वस्तुतः एक ही बात को प्रकट करने के भिन्न-भिन्न प्रकार मात्र हैं। ये मूलत एक ही है।

ऊपर अनुभूति की जिन विशेषताओ का उल्लेख हुआ है, वे ही रस के प्रधान तत्व है। ये प्रत्यक्ष स्मृति आदि के कुछ रूपो मे भी मिलते है, इसलिये शुक्लजी इनको भी रस के समकक्ष ही मानते है, यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना तीनो मे ही व्यक्तित्व का परिहार और तल्लीनता है, इसलिए ये सभी रसानुभूति है, 'जिस प्रकार काव्य मे वर्णित आलम्बनो के कल्पना मे उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावो के कुछ आलम्बनो के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनो के सम्बन्ध मे लोक के साथ या कम-से-कम सहृदयो के साथ हमारा तादात्म्य रहता है "साधारणीकरण के प्रभाव से काव्य-श्रवण के समय व्यक्तित्व का जैसा परिहार हो जाता है। वैसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दशाओ मे होता है, अत' इस प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियो को रसानुभूति के अन्तर्गत मानने मे कोई बाधा नही।[3] किसी प्रकार के प्राकृतिक दृश्य अथवा रूपवती स्त्री के प्रत्यक्ष दर्शन, पूर्वानुभूत मधुर अथवा क्रूर वस्तु का स्मरण, अतीत की स्मृति, उनकी सजीव कल्पना आदि लौकिक अनुभूतिया भी रस ही है। रति, अभिलाषा, हास, उत्साह आदि की प्रत्यक्ष अनुभूति मे गहरी

१ देखिए 'चिन्तामणि', पृ० २२४—२२५।

२ वही, पृ० २२६।

३. वही पृ० ३३७।

तल्लीनता है। उनकी अनुभूति के समय भी व्यक्ति अपने आपको भूला हुआ रहता है। "हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि अनेक संचारियों का अनुभव वह बीच-बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है।"[1] जहाँ अभिलाषा और उत्साह का अपने व्यक्तित्व से जितना अधिक सम्पर्क होगा, उनकी अनुभूति उतनी ही रसकोटि के बाहर होगी। अत्याचारी और लोक-पीडन के प्रति जागृत क्रोध, पीडित व्यक्तियों की वेदना से जागृत करुणा की प्रत्यक्ष अनुभूति भी रसकोटि की ही होती है। अपनी निज की इस हानि या अनिष्ट-प्राप्ति शोक की वस्तु है। इसकी अनुभूति रस-कोटि के बाहर की वस्तु है। पर दूसरे प्राणियों की व्यथा को देखकर करुणा ही जाग्रत होती है. यह भाव सर्वथा रस-कोटि में ही होता है। प्रकृति के समक्ष मधुर भावना का अनुभव भी रसात्मक ही होगा। प्रकृति के रमणीय क्षेत्र में पहुँचकर स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और नीरसता से हमारा मन कोसों दूर हो जाता है और यह अनुभूति रस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रिय का स्मरण, बाल्य-काल के अतीत जीवन का स्मरण, रति, हास और करुणा से सम्बद्ध कोई भी स्मरण रस की कोटि में ही आते हैं। किसी अपने पुराने साथी अथवा पुराने प्राकृतिक दृश्य, जिसके साथ कभी हमारा सम्बन्ध रहा हो, बहुत दिनों बाद अपने समक्ष देखकर मानव जिस मधुर भावना का अनुभव करता है, वह रस-कोटि का ही है। ऐतिहासिक खडहरों में जाकर जो कल्पना जागृत होती है, उसके फलस्वरूप अतीत का एक सजीव चित्र हमारी आखों के सामने नाचने लगता है, यह भी रसात्मक ही होता है। इस प्रकार शुक्लजी ने प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना तीनों में रसानुभूति मानी है। बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद क्रूर वस्तु का स्मरण भी मधुर हो जाता है। क्रूर की कल्पना और स्मृति तो रस-क्षेत्र में ही है, पर वे प्रत्यक्ष रूप में प्रायः रस-कोटि के बाहर ही रहते हैं। उसकी उग्रता निजी स्वार्थ-हानि को तुरन्त जागृत कर देती है। शुक्लजी प्रत्येक भाव के निजत्व से उठे हुए आलम्बन में रसानुभूति कराने की क्षमता मानते हैं। "पर वही, जहा हम सहृदय दृष्टा के रूप में रहते हैं अर्थात् जहा आलम्बन केवल हमारी ही व्यक्तिगत भाव-सत्ता से सम्बद्ध नहीं, सम्पूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से सम्बद्ध होते हैं।"[2]

प्रत्यक्ष अनुभूति को रसात्मक मानने में भय, जुगुप्सा आदि भावों का जगत् में "प्रतिकूल वेदनीयम" होना बाधक है। रस आनन्दानुभूति है। उसे प्राचीन आचार्यों ने ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। उसे लोकोत्तर मानने का एक यह भी कारण है कि शोक, भय आदि की दु:खात्मक अनुभूति काव्य में आनन्द में परिणत हो जाती है।

---

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३३९।

२ वही, पृष्ठ ३४७--३४८।

शुक्लजी का यहा पर भी प्राचीन आचार्यों से मतैक्य नही है। वे कहते हैं कि करुणा के आसुओ को आनन्दाश्रु कहना बात टालना-मात्र है। उनका मत है कि जगत की तरह काव्य मे भी यह अनुभूति दुखात्मक ही है, पर निर्वैयक्तिक होने के कारण जगत मे भिन्न है। "हृदय की मुक्त दशा होने के कारण वह दुख भी रसात्मक होता है।"[1] शुक्लजी ने यहा पर 'रसात्मक' शब्द के अर्थ को स्पष्ट नही किया है। आनन्द को सुखानुभूति मे भिन्न मानना तो ठीक है, क्योकि सुख का सम्बन्ध व्यक्तिगत योगक्षेम से है और रसानुभूति मुक्त हृदय की अनुभूति है। पर यह अनुभूति सर्वदा ही आनन्द स्वरूप है अथवा कभी-कभी दुखमय भी होती है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। प्राचीन आचार्यों का बहुमत इसे आनन्दानुभूति मानने मे ही है। पर कुछ रस को सुख-दुखात्मक भी मानते है। नाट्यदर्पणकार "सुखदुखात्मको रस" कहते हैं और कुछ रसो को स्पष्टत दुख स्वरूप मानते है। उन्हे इस अनुभूति का अभिनय के कौशल के कारण रसात्मक हो जाना मान्य है। यह कौशल ही सहृदय की उन भावो मे तल्लीनता का कारण है। आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है। तम के आवरण तथा रज के विक्षेप से शून्य निर्मल शुद्ध और सात्विक अवस्था के अन्तःकरण मे जब तटस्थ का स्वरूप स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है, उसी अवस्था को आनन्दानुभूति कहते है। आनन्द सर्वदा ही जीव को उसके अपने स्वरूप मे स्थिति करता है। काव्य मे विभाजन-व्यापार के कारण प्रतिकूल वेदनीय भावों मे भी हृदय सतोगुण-सम्पन्न हो जाता है, इसलिए वे भाव भी आनन्द-ज्योति से प्रकाशित होकर आनन्दमय प्रतीत होने लगते हैं। रगीन प्रकाश के कारण जैसे भिन्न रग वाली वस्तुएँ भी प्रकाशक रग की प्रतीत होती हैं, वैसे ही शोकादि प्रतिकूल वेदनाएँ भी आनन्दमय प्रतीत होती है। ये भाव अपनी प्रकृति बदलते नही है, केवल इस परिवर्तन की भ्रान्ति-भर होती है।[2] शुक्लजी का भी इन्हे रसात्मक कहने का यही तात्पर्य है।

लौकिक प्रत्यक्ष, स्मृति आदि मे प्राचीन आचार्यो को रस मान्य नही। शुक्ल जी इनको भी रस मानकर केवल दो बाते स्पष्ट कर रहे है—पहली कवि सृजन के समय रसोन्मुख होना है और दूसरी काव्य और जगत् का अच्छेद्य सम्बन्ध है। काव्य जगत् मे ही अपनी सारी सामग्री एकत्र करता है। वह जगत् की कुछ वस्तुओ मे कल्पना के द्वारा मार्मिकता की वृद्धि कर देता है। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र की आनन्दानुभूति जगत् के आनन्द का ही परिवर्द्धित और कुछ परि-

---

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३४२।

२ देखिए लेखक का 'करुणादि रसो में आनन्दानुभूति नामक निबन्ध', बोल्ग अगस्त १९४८।

वर्तित रूप है। प्राचीन आचार्यों को रस शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में ही मान्य है। लेकिन शुक्लजी ने उन अनुभूतियों को भी 'रस' के नाम से अभिहित किया है, जो प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से रस के उपादान कही जा सकती है। लौकिक जीवन की इन अनुभूतियों में निजत्वशून्य आनन्द के तत्व वर्तमान रहते है। अर्थात् इन लौकिक स्तर की अनुभूतियों में भी व्यक्ति को मुक्त हृदय करने अथवा लोक सामान्य भावभूमि पर लाने की क्षमता है। और कवि-कर्म-कौशल इसी में है कि वह इन तत्वों को अपनी चरम अवस्था में पहुँचा दे। शुक्लजी के अनुसार कवि व्यापारों को साधारणी-कृत रूप में ही ग्रहण करता है अर्थात् आलम्बन का साधारणीकरण कवि की उसी अनुभूति में हो जाता है जिसका वह काव्य-सृजन में उपयोग करता है। कवि-कर्म के पूर्व ही कुछ अनुभूतियाँ ऐसी हैं जिनमें साधारणीकरण के तत्व पहले से ही विद्यमान रहते है। ऐसे ही व्यापारों में कवि साधारणीकरण करने में समर्थ होता है। शुक्लजी के व्यापार-शोधन के सिद्धान्त का भी यही आधार है। "कवि काव्य-सृजन के समय रसोन्मुख रहता है, अतः कवि अपनी स्वभावगत भावुकता को जिस उमग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है उसे यदि हम कुछ कहना चाहे तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते है।"[1] कवि जिन आलम्बनों को ग्रहण करता है, उनमें रस के स्वाभाविक तत्व रहते है। वे प्रत्येक मानव को मुक्त हृदय करने की क्षमता रखते है। ऐसे ही व्यापार और अनुभव काव्य के उपादान हो सकते है। केवल कल्पना के आधार पर प्रस्तुत सामग्री में मानव को रसाक्षिप्त करने की नही, अपितु केवल चमत्कृत करने की क्षमता होती है। शुक्ल जी ने काव्य और जीवन के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए, इस सिद्धान्त को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया है। यहाँ रसोन्मुख से उनका यही तात्पर्य है।

प्राचीन आचार्यों ने रस को अखड माना है। शृङ्गार आदि का भेद स्थायी भावों के आधार पर हुआ है। सभी रसों की आनन्दानुभूति समान है, उनमें तारतम्य नही है। प्राचीन आचार्यों में कुछ ऐसे भी हुए है जिनको विभिन्न रसों के आनन्द की मात्रा में तारतम्य मान्य है। वे कुछ रसों को अधिक और कुछ को कम आनन्दमय मानते रहे है।[2] पर यह सिद्धान्त सर्वसम्मत नही रहा। शुक्लजी ने प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य अन्य दो कोटियों का निर्देश किया है। इनका निरूपण

---

१. 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ७६।

२ सत्वगुणस्य च सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोऽशाभिभवणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभव ॥

'भक्ति रसायन', पृष्ठ २२।

उन आचार्यों ने नहीं किया। परन्तु सूक्ष्म विचार से उनकी सम्मति स्पष्ट हो जाती है। "रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों को रस-पद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है। (१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना (२) लीन तो न होना पर उसकी व्यंजन-स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।"[1] प्रथम रस की पूर्ण और उत्तम तथा दूसरी मध्यम कोटि है। व्रीडा आदि स्वतंत्र भाव के रूप में व्यंजित होने पर मध्यम कोटि में ही आते हैं। आलम्बन के साधारणीकरण तथा आश्रय के तादात्म्य से जिस भाव की अनुभूति होती है उसे तो शुक्लजी उत्तम कोटि का रस मानते हैं। पर पात्रों के शील भी पाठक के श्रद्धा, क्रोध, घृणा आदि किसी भाव के आलम्बन हो जाते हैं। इस भावानुभूति में शास्त्रीय मतानुसार साधारणी-करण तो नहीं होता, पर यह अनुभूति भी मध्यम कोटि की सम्मानुभूति ही है। शील-वैचित्र्य से जिस भाव की स्पष्ट अनुभूति पाठक को होती है, उसकी परितुष्टि उसी भाव की अन्य पात्र द्वारा अभिव्यंजना होने पर होती है। क्रूर कर्मा के प्रति पाठक के हृदय में क्रोध और घृणा की भावना रहती है। पर इसका पूर्ण परितोष दूसरे पात्र के द्वारा इन भावों की अभिव्यक्ति से ही होता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति से मध्यम कोटि के रस का भी पूर्ण परिपाक हो जाता है और वह भी प्रथम कोटि का हो जाता है। इस दूसरे प्रकार की रसानुभूति में पाठक की पृथक् सत्ता का विलय नहीं होता, पर प्रथम प्रकार की रसानुभूति में पृथक् सत्ता का पूर्णतः विलय हो जाता है। "इस सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति, जिसे आचार्यों ने रस कहा है, दो भिन्न कोटि की रसानुभूति है। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन करके आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।"[2] शुक्लजी ने स्थायी भाव की तीन दशाओं का निर्देश किया है—क्षणिक, स्थायी और शील दशा। इन तीनों दशाओं के आधार पर ही रस की दो उपर्युक्त कोटियाँ मानी गई हैं शील दशा के स्थायी भाव की अनुभूति को आचार्य शुक्ल मध्यम कोटि में रखते हैं। इसका निरूपण ऊपर हो चुका है। शेष दो को प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य रस में ही स्थान देते हैं। क्षणिक दशा का सम्बन्ध मुक्तक और स्थायी दशा का प्रबन्ध-काव्य से है। इन तीनों दशाओं को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं "किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलम्बन

---

१ **काव्य में रहस्यवाद**', पृष्ठ ५६।

२ **'चिन्तामणि**', पृष्ठ ३१६।

के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक आलम्बन के प्रति होती है, शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है। क्षणिक दशा मुक्तक रचनाओं में देखी जाती है, स्थायी दशा महाकाव्य, खंडकाव्य आदि प्रबन्धों में और शील दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में।[1] (दूसरा अनुच्छेद) शुक्ल जी ने साधारणीकरण को रसोद्बोधन के लिए आवश्यक माना है। भाव के विषय को इस रूप में लाना कि वह सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, साधारणीकरण है। इस प्रकार शुक्लजी के अनुसार 'साधारणीकरण' के दो प्रधान तत्व है, आलम्बन का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य। प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण को विभावादिक का साधारणतया प्रतीत होना कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि आश्रय के द्वारा अनुभूत भाव एवं वर्णित विभाव पाठक, नट या नायक के नहीं अपितु मानव-सामान्य के होते है। पाठक या सहृदय को अपनी अथवा नायक की रति अनुभूत नहीं होती अपितु विशुद्ध रति का अनुभव होता है, जो सब प्रकार के वैयक्तिक सम्बन्धों से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित रहती है। रस की दृष्टि से यह विभावन-व्यापार बहुत आवश्यक है। इसीलिए शुक्लजी ने "लोक-सामान्य भाव-भूमि" का कई स्थानों पर प्रतिपादन किया है। काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन में इसका स्थान और महत्व अत्यन्त स्पष्ट है। आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर ही रस की पूर्ण अनुभूति होती है और शुक्ल जी उसी को रस की उत्कृष्ट कोटि मानते है। लेकिन कई स्थानों पर आश्रय के साथ तादात्म्य न होकर पाठक को किसी अन्य भाव की भी अनुभूति होती है। रावण की सीता के प्रति अभिव्यक्त रति का अनुभव पाठक नहीं कर सकता। जगज्जननी के प्रति इस प्रकार की भावना रखने के कारण रावण के प्रति पाठक के हृदय में घृणा ही जागृत होती है, इस प्रकार आश्रय का शील पाठक के किसी भाव का आलम्बन हो जाता है। पाठक का तादात्म्य आश्रय के साथ न होकर कवि के साथ होता है। प्रत्येक पात्र के शील-निरूपण के अन्तस्तल में कवि का श्रद्धा, घृणा आदि में से कोई एक भाव अवश्य रहता है। कवि-हृदय की नायक और प्रतिनायक के शील की प्रतिक्रिया का अनुभव पाठक को भी होता है। इस भाव की परितुष्टि तो तब होती है जब कोई दूसरा पात्र इस भाव को अभिव्यक्त करता है। रावण के प्रति जो घृणा का भाव कवि और पाठक में रहता है, उस का पूर्ण परितोष तो तब होता है जब अंगद के द्वारा उसकी भर्त्सना कराई जाती है। यहां पर भी आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन का साधारणीकरण है। रस की पूर्ण अनुभूति के लिए ये दोनों बातें आवश्यक है, इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने साधारणीकरण के इसी पक्ष का निरूपण किया है। शील के प्रति उत्पन्न भावानुभूति रस

१. 'चिन्तामणि भाग २', पृष्ठ २३६।

की कोटि को नहीं पहुँचती है, इसीलिए प्राचीन आचार्य इसका विवेचन नहीं करते और शुक्ल जी भी इसको मध्यम कोटि का ही रस कहते हैं। शील दृष्टा के रूप में पाठक जिस भाव का अनुभव करता है, उसमें कवि के अव्यक्त भाव के साथ तादात्म्य होता है। "तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है।"[1] आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य भी वस्तुतः कवि और पाठक का ही तादात्म्य है। वहाँ पर कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य है। शील की दृष्टि से कवि पात्र के भाव को उचित मानता है। नायक की नायिका के प्रति रति उचित है तथा प्रतिनायक की रति-व्यंजना में कवि का तादात्म्य और समर्थन नहीं। इस प्रकार कवि-अनुभूति के साथ तादात्म्य सामान्य सिद्धान्त के रूप में शुक्ल जी को भी मान्य है। शुक्लजी पहले प्रकार के रसानुभव में इसका निर्देश नहीं करते हैं पर उनके प्रेषणीयता और साधारणीकरण के सिद्धान्त पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सिद्धान्त उन्हें अमान्य नहीं है। प्रेषणीयता का वास्तविक तात्पर्य ही यह है। काव्य में साधारणीकरण के महत्व को वैषम्य द्वारा और भी स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने व्यक्ति-वैचित्र्य का भी विशद विवेचन किया है। शुक्लजी इसकी तीन अवस्थाएं मानते हैं—१ आश्चर्य पूर्ण प्रमादन, २ आश्चर्यपूर्ण अवसादन, ३ कुतूहल-मात्र।[2] इनमें आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता है। इनमें पात्रों के शील वैचित्र्य के कारण पाठक का हृदय चमत्कृत हो जाता है। पाठक कभी-कभी कलाकार के काव्य-कौशल से भी मुग्ध हो जाता है। इसमें रसमग्नता नहीं केवल हृदय की चमत्कृति-मात्र है। यह अनुभूति रस की निम्न कोटि में सम्मिलित की जा सकती है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि से यह रसानुभूति नहीं है। इनका विवेचन शुक्ल जी की मौलिक चिन्तन-क्षमता और विचारों की उदारता का परिचायक है। व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण काव्य में प्रेषणीयता का पूर्णतः निर्वाह नहीं होता है। इस के कारण काव्य में अनुभूति की सजीवता के स्थान पर कल्पना की उड़ान और तल्लीनता के स्थान पर आश्चर्य पर आश्रित चमत्कार का प्राधान्य हो जाता है। शुक्ल जी इसे कविता के प्रकृत-स्वरूप का ह्रास कहते हैं। आश्चर्यपूर्ण-प्रमादन तो कभी-कभी रस-कोटि को भी पहुँच जाता है, पर अन्य दो तो चमत्कार तक ही सीमित रहते हैं। उनको शुक्ल जी निम्न कोटि में ही रखते हैं।

शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के विवेचकों ने बहुत कुछ विचार किया है। श्री शिवनाथ इस साधारणीकरण को भट्ट-नायक का भुक्तिवाद मानते हैं। उनका कहना है कि आलम्बन का साधारणीकरण,

१ 'चिन्तामणि', पृष्ठ ३१५।

२ वही, पृष्ठ ३१७।

जो कवि-कर्म-सापेक्ष्य है, शुक्लजी और भट्टनायक दोनो को मान्य है। पर अभिनव गुप्त इसके विपरीत यह मानते है कि यह साधारणीकरण सहृदय का हृदय हर लेता है। वे कवि-कर्म द्वारा आलम्बनत्व के साधारणीकरण पर जार नही देते है। वस्तुत इन दोनो आचार्यो के साधारणीकरण मे केवल शब्द-शक्तियो के मानने का अन्तर है। मूलत ये दानो एक ही है, इसको आगे विवेचन करके श्री शिवनाथ जी ने भी मान लिया है। कुछ आलोचक इसे अशास्त्रीय भी मानते है। शुक्ल जी ने मध्यम कोटि के रस का जो विवेचन किया है, वह प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रतिपादित नही हुआ है पर यह रस-सिद्धात के विरुद्ध नही है। इसमे कही भी आचार्य-परम्परा का व्यतिक्रम नही होता। इस प्रकार शुक्लजी के साधारणीकरण मे कुछ नवीनता होते हुए भी वह अशास्त्रीय नही कहा जा सकता।

शुक्ल जी को काव्य की प्राय सभी विधाओ पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होने प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक का अन्तर विशद रूप मे स्पष्ट किया है। शुक्ल जी ने प्रबन्ध-काव्य या कथा-काव्य (इस शब्द का प्रयोग भी स्वच्छन्दतापूर्वक हुआ है) के इतिवृत्त, वस्तु, व्यापार-वर्णन, भाव-व्यजना और सवाद य अवयव माने है।[1] उनके अनुसार प्रबन्ध-काव्य मे मानव जीवन का पूर्ण चित्रण होता है। इसका उद्देश्य भी रस-निष्पत्ति ही है, इसलिए शुक्ल जी रसात्मकता के साधनो का निरूपण करते है। इसके लिए वे इत्तिवृत्त मे कुछ ऐसी घटनाओ का आवश्यक मानते है जो मानव-हृदय को स्पर्श कर सके तथा जिनमे मानव-हृदय को रसाक्षिप्त करने की क्षमता हो। शुक्ल जी सम्बन्ध-निर्वाह स्वाभाविक प्रवाह और मार्मिक स्थलो के नियोजन को प्रबन्ध-काव्य के प्रधान तत्व मानते हैं। इत्तिवृत्त मात्र के निर्वाह मे रसानुभव सम्भव नही। मार्मिक स्थलो के अतिरिक्त वस्तु-व्यापार-वर्णन और पात्रो की भाव-व्यजना के द्वारा भी काव्य मे रसात्मकता का समावेश होता है। मार्मिक स्थलो की योजना और वस्तु-व्यापार-वर्णन द्वारा काव्य मे रसात्मकता के सन्निवेश के साथ ही इतिवृत्त भी उपेक्षणीय नही है। मार्मिक स्थलो का नियोजन इतिवृत्त की सफल कल्पना पर ही आश्रित है। इतिवृत्त का विकास इन स्थलो के स्वाभाविक नियोजन के उद्देश्य से ही होना चाहिए। "जिनके प्रभाव से सारी कथा मे रसात्मकता आ जाती है वे ही मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल है जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच मे आते रहते है। यह समझिए कि काव्य मे कथा-वस्तु की गति इन्ही स्थलो तक पहुँचाने के लिए होती है।[2] मार्मिक स्थलो के स्वरूप एव प्रयोजन पर विचार करते हुए शुक्ल जी कहते है—इन स्थलो को निकाल देने पर भी कहानी

१. 'इतिहास', पृष्ठ १७१।
२. 'जायसी ग्रन्थावली भूमिका', पृष्ठ ९१-९२।

मे कोई अन्तर नही पडता। पर इतिवृत्त के अभाव मे इन स्थलो का नियोजन-मात्र प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की कोटि मे अधिक आता है। इतिवृत्त के आश्रय ही से काव्य मे रस की धारा प्रवाहित रहती है, यद्यपि रस के मूल स्रोत मे मार्मिक स्थल ही है। शुक्ल जी प्रबन्ध और मुक्तक के अन्तर का आधार ही रस की धारा और रस के छींटे मानते है। "मुक्तक मे प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती, जिसमे कथा-प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय मे एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छींटे पडते है जिन मे हृदय-कलिका थोडा देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।[1] शुक्ल जी मुक्तक मे सक्षिप्तता तथा व्यजकता का गुण भी आवश्यक मानते है। भाषा की अपेक्षाकृत सशक्तता भी मुक्तक का एक अनिवार्य तत्व है।

काव्य के वर्ण्य विषय की दृष्टि से शुक्लजी ने काव्य का एक मौलिक विभाजन किया है। वे ब्रह्म के आनन्द-स्वरूप की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ मानते हैं—साधनावस्था और सिद्धावस्था। सिद्धावस्था से उनका तात्पर्य आनन्द और मगल का आविर्भूत रूप है। इसमे माधुर्य, उल्लास, विभूति, प्रेम-व्यापार आदि का उपभोग पक्ष है। साधनावस्था को शुक्लजी प्रयत्न पक्ष कहते है। वे पीडा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन मे तत्पर शक्ति के सचरण मे भी उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गति-विधि मे भी पूरी रमणीयता देखते है। यही लोक-मंगल की साधनावस्था है। काव्य मे इन दोनो अवस्थाओ की अभिव्यक्ति होती है। इन दोनो अवस्थाओ के आधार पर शुक्लजी ने काव्य के भेद किये है। साधनावस्था के काव्य 'रामायण', 'महाभारत', 'आल्हा', 'पृथ्वीराज रासो', आदि, तथा सिद्धावस्था के 'सूर सागर', 'बिहारी सतसई', 'गीत गोविन्द' आदि है। शुक्लजी का यह काव्य—विभाजन वास्तव मे काव्य के प्रयोजन एव क्षेत्र का विवेचन है। शुक्लजी काव्य का चरम लक्ष्य लोकमगल ही मानते है। यही सत्साहित्य का आदर्श है। साधनावस्था के काव्य को उत्कृष्ठ मानकर शुक्लजी ने काव्य के भोग वाले प्रयोजन की अपेक्षा कर्म को प्रेरणा देने वाले प्रयोजन की उत्कृष्टता भी प्रतिपादित की है।

कविता के अतिरिक्त शुक्लजी ने उपन्यास आदि अन्य विधाओ के तत्वो का भी सक्षेप मे निरूपण किया है। इतिहास मे काव्य की गति-विधि का अध्ययन है। उसमे प्रसगवश विधाओ का तात्विक निरूपण भी सक्षेप मे हो जाता है। शुक्ल जी ने इन विधाओ का विवेचन इतिहास मे ही किया है, पृथक् निबन्ध नही लिखे,

---

१. 'इतिहास', पृष्ठ २९८-२९९।

इसलिए बहुत संक्षिप्त है। पर इनके स्वरूप का सश्लिष्ट और पूर्ण चित्र है। कहानी और उपन्यास के आधुनिक रूपों की विशेषताओं तथा अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं "इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही, वह तो बना ही रहेगा। उसमें अन्तर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था, जिसमें घटनाएँ पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं।...वे (आधुनिक उपन्यास या कहानी में) कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रखकर चल सकते हैं और उनमें घटनाओं की शृङ्खला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और शृङ्खलाओं से गुम्फित होती चलती है और अन्त में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।"[1] नाटक और उपन्यास को काव्य से सर्वथा पृथक् माने जाने का शुक्लजी विरोध करते हैं। वे इस भेद को कृत्रिम मानते हैं। वे इन दोनों का स्वरूप-सम्बन्धी कुछ अन्तर स्पष्ट करते हैं "जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा परिस्थितियों की उद्भावना को।"[2] शुक्लजी काव्य और आख्यायिका का अन्तर मूलतः भाव-व्यंजना और घटना-वैचित्र्य पर ही अवलम्बित मानते हैं। इस बात को शुक्लजी ने अन्य स्थानों पर भी स्पष्ट किया है "उपन्यास में मन बहुत-कुछ घटना-चक्र में लगा रहता है, पाठक का मर्मस्पर्श बहुत-कुछ घटनाएँ ही करती हैं। पात्रों द्वारा लम्बी-चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।"[3] उपन्यास और कहानी को शुक्लजी प्रायः एक ही प्रकार की रचना मानते हैं। "उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होता है। मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर होती हैं।"[4] कहानी का आकार उपन्यास की अपेक्षा छोटा होता है। उसमें जीवन की एकांगिता रहती है। उसमें मार्मिकता और सश्लिष्टता अधिक अपेक्षित है। कहानी में भी घटना, चरित्र, कथोपकथन आदि उपन्यास के समान ही तत्व होते हैं। पर कहानी में ये तत्व इतने क्षीण

---

१. 'इतिहास', पृष्ठ ५५५।
२ 'इतिहास', पृष्ठ ५९९।
३ 'चिन्तामणि भाग, २, पृष्ठ १७७।
४ 'उपन्यास', नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

हो सकते हैं कि उनका कोई महत्व ही न रह जाय। शुक्लजी ने कहानी में इन तत्वों के विधान से स्वतन्त्र होने की पर्याप्त क्षमता मानी है। वे मानते है कि एक सवेदना का सिद्धान्त भी कई-एक कहानियो पर लागू नही होता है। "एक सवेदना या मनोभाव का सिद्धान्त भी कही-कही ठीक न घटेगा। उसके स्थान पर हमे मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी सवेदनाओ का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत मार्मिक रूप देगा।"[1] उपन्यास मे घटना, चरित्र आदि मे से किसी एक तत्व की प्रधानता तो सभव है, पर कहानी की तरह वे इतने सूक्ष्म नही हो सकते। इस प्रकार उपन्यास और कहानी का वास्तविक अन्तर शुक्लजी के विवेचन से अत्यन्त स्पष्ट है। कविता की अपेक्षा कहानी उपन्यास के अधिक निकट है। ये दोनो विधाएँ सजातीय कही जा सकती है। इन दोनो मे से घटना और चरित्र का नितान्त अभाव सम्भव नही है। कविता से इनका अन्तर समझने के लिए कहानी को घटना-प्रधान मानना ही पडता है।[2] इन विधाओ के तत्वो का क्रमिक निरूपण न होने पर भी इनके सभी तत्वो का सश्लिष्ट एव प्रामाणिक विवेचन हो गया है। पर शुक्लजी केवल आलोचक ही नही है, वे हिन्दी के एक सर्वश्रेष्ठ निबधकार भी है। इसीलिए शुक्लजी ने निबन्ध के स्वरूप और मानदण्ड पर काव्य की उपन्यास आदि अन्य विधाओ की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिकारपूर्ण विवेचन किया है। इसका तात्पर्य यह कभी नही कि अन्य विधाओ के निरूपण मे तथ्य की प्रामाणिकता का अभाव है। निबन्ध का आधुनिक रूप हमे पश्चिम से प्राप्त हुआ है लेकिन हिन्दी मे इसके स्वरूप का मौलिक विकास हुआ है। यह कहना भी अनुचित नही है कि इस विदेशी वस्तु को भारत के चिंतन के अनुकूल बनाने के लिए इसमे परिवर्तन की आवश्यकता है। शुक्लजी ने इसके तत्वो की मौलिक व्याख्या की है। निबन्ध का एक प्रधान तत्व व्यक्तित्व है। उसमे विषय का नही अपितु निबन्धकार के व्यक्तित्व का अधिक प्राधान्य होना चाहिए। अपने प्रस्तुत विषय से इधर-उधर जाने की स्वतन्त्रता भी है। इसलिए निबन्ध अव्यवस्थित, विशृङ्खल और उच्छिन्न रचना का नाम है। शुक्लजी को निबन्ध मे व्यक्तित्व का तत्व मान्य है, पर ठीक उसी रूप मे नही जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। भारतीय रस और साधारणीकरण के सिद्धान्त को मान लेने के बाद कलाकार के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओ को साहित्यिक रचना मे तभी स्थान मिल सकता है, जब उनमे सर्वसामान्य की अनुभूति और चिन्तन के तत्व अन्तर्भूत हो। इसलिए निबन्ध मे व्यक्तित्व को एक प्रधान

---

१. 'इतिहास', पृष्ठ ६७१.

२ देखिए 'चिन्तामणि प्र० भा०', पृष्ठ २२२-२२३।

तत्व मान लेने पर भी शुक्लजी के लिए उसको उसी अर्थ मे ग्रहण करना सम्भव न था। एक ही वस्तु या घटना की भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की बौद्धिक और रागात्मक प्रतिक्रियाएँ होती है। गम्भीर प्रकृति वाला उसी के आधार पर गम्भीर शैली के गूढ चिन्तन मे प्रवृत्त होता है, पर विनोदप्रिय व्यक्ति उसमे हास्य की उद्भावना कर लेता है। बुद्धि और हृदय के इसी स्वातन्त्र्य को व्यक्तित्व कहा गया है "एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौडता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टिओ से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।'[1] क्या इसमे लोक-सामान्य भाव-भूमि के सिद्धान्त की अपेक्षा नही है? शुक्लजी सभवत लोक सामान्य भावभूमि के तत्वो के अभाव मे काव्य का अस्तित्व ही नही मानते। निबन्ध के व्यक्तित्व वाले तत्व का काव्य रूपी तत्व के साथ सामान्य भावभूमि वाले तत्व मे अन्तर्विरोध नही है। इन दोनो मे सामजस्य स्थापित हो सकता है। शुक्लजी को यह सामजस्य मान्य है। शुक्लजी को व्यक्तिगत विशेषता का यही अर्थ मान्य है। इसके विपरीत अर्थ का तो वे तमाशा मानते है। भावो की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालो की-सी कसरते या हठयोगियो के-से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[2] पश्चिम की चिन्तन-प्रणाली स्वभावत ही कुछ उच्छिन्न है, भारतीय चिन्तन अपेक्षाकृत अधिक सश्लिष्ट और तर्क-सम्मत है। इसलिए यहा पर निबन्ध मे "कसावट" भी एक विशेष महत्व की वस्तु बन गई है। शुक्लजी विशृखलता मे भी एकसूत्रता मानते है, वे तत्व-चिन्तक के निबन्धकार का अन्तर समझाते हुए कहते है "ये सम्बन्ध-सूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्तो के भीतर की नसो के समान, चारो ओर एक जाल के रूप मे फैले है। तत्व-चिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रो को पकडकर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्यौरो म कही नही फँसता। पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।[3] शुक्ल जी निबन्धकार को बुद्धि और भावात्मक हृदय के साथ सम्पूर्ण मानसिक सत्ता को लेकर चलने वाला कहते है।

१. इतिहास', पृ० ५५।
२. 'इतिहास' पृष्ठ ५५६
३ वही, पृष्ठ ५५६।

इस प्रकार वे निबन्ध मे विचार और भाव दोनो के सन्निवेश को आवश्यक मानते है। यहाँ पर उन तत्वो का विचार हुआ है जिनका सम्बन्ध सामान्य से है, जो वर्णनात्मक, विचारात्मक और भावात्मक तीनो प्रकार के निबन्धो के सामान्य तत्व कहे जा सकते है।

शुक्लजी विचारात्मक निबन्धकारो की कोटि मे है। उन्होने विचारात्मक निबन्ध की श्रेष्ठता का मानदड निर्धारित किया है। उनकी मान्यता है कि निबन्धकार नवीन विचार-धारा ही नही देता अपितु अपने विचारो द्वारा पाठक को चिन्तन मे प्रवृत्त होने के लिए बाध्य कर देता है जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड पडे। इससे स्पष्ट है कि वे गूढ चिन्तन को महत्व देते है। पश्चिम मे निबन्ध भी मनोरजन की सामग्री ही है। पर यहा की परम्परा मे इस तत्व को इतना महत्व नही दिया गया। जिन रचनाओ के अध्ययन से चिन्तनशील व्यक्तियो का ही अनुरजन हो सकता है, वे भी निबन्ध की कोटि मे ही है। शुक्लजी ने ऐसी ही रचनाओ को श्रेष्ठ माना है। जिन रचनाओ मे गहन विचार-धारा है और उसके समझने मे पाठक को मानसिक श्रम करना पडे शुक्लजी ऐसी रचनाओ की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते है। "ऐसे निबन्धो की, जिनकी असाधारण शैली या गहन विचार-धारा पाठको का मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप मे जान पडे।"[1] इन निबन्धो मे तत्वचिन्तक की गूढ विचार-धारा के दर्शन होते है, पर व्यक्तिगत विशेषता के कारण ये रचनाए प्रबन्ध की कोटि मे न आकर निबन्ध ही है। इनमे कही हास्य, विनोद आदि मनोभावो के अतिरिक्त लेखक की अनुभूति का एक भावात्मक आवरण सारी विचार-धारा पर रहता है। इससे इनमे भाव और विचार दोनो का सामजस्य हो जाता है। शुक्लजी की रचनाए इसी कोटि की है। ये रचनाए सर्व-साधारण के मनोरजन के लिए नही है। बलिष्ट शरीर वालो को कठोर शारीरिक परिश्रम से आनन्द की उपलब्धि होती है। गम्भीर तत्वचिन्तको को भी साधारण कोटि की विचार-धारा से अनुरजन नही हो सकता। मानसिक श्रम से प्राप्त विचारो मे उन्हे एक विशिष्ट बौद्धिक आनन्द प्राप्त होता है, उनका आत्मपरितोष होता है। इसी प्रकार भाव-जगत् मे भी सामान्य स्तर की अपेक्षा उत्कृष्ट भावुकता मे ही आनन्द आता है। प्रसाद जी की भावुकता एक विशिष्ट कोटि की है, उसमे तल्लीन होने वाले विशेष रूप से सुसस्कृत व्यक्ति होते है। बुद्धि और हृदय के सस्कारो की भिन्नता के कारण सहृदयता भी भिन्न-भिन्न स्तरो की होती है। सहृदय मे भी कोटि और प्रकारो की कल्पना हो जाती है।

हिन्दी मे भावात्मक गद्य निबन्ध की कोटि से बाहर एक पृथक विधा के रूप

---

१ 'इतिहास', पृष्ठ ६२०।

मे प्रतिष्ठित हो गया। उसको गद्य-काव्य अथवा काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध का नाम दिया गया। शुक्लजी रायकृष्णदास की 'साधना', 'प्रवाल' आदि, वियोगीहरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद', महाराजकुमार रघुवीरसिंह जी की 'शेष स्मृतियाँ' का इसी विधा मे मानते है। भावात्मक निबन्धो की शैली के तीन रूप शुक्लजी ने माने है—धारा, तरग और विक्षेप। विक्षेप शैली का एक अवान्तर भेद है—प्रलाप शैली। भावात्मक निबन्धो मे शैली ही सबसे प्रधान तत्व है और उसीका निरूपण हुआ है।

ऊपर के इस विस्तृत विवेचन का तात्पर्य काव्य-सिद्धान्तो के निरूपण की विशदता के अतिरिक्त शुक्लजी की आलोचना-सम्बन्धी धारणा का स्पष्टीकरण भी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी की दृष्टि से काव्य तथा उसकी अन्य विधाओ का प्रकृत स्वरूप क्या है, उनमे कौन-से तत्व है, और उनका पारस्परिक तुलनात्मक महत्व क्या है। इन्ही विचारो से आलोचना-सम्बन्धी धारणा स्पष्ट हो जाती है। आलोचना के दो प्रकार रूप है—प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक। इन दोनो का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। ये तत्व प्रयोगात्मक आलोचना के आधार है तथा प्रयोगात्मक आलोचना से सिद्धान्तो का निर्माण होता है। अब हमे शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना पर विचार करना है।

पश्चिम मे जिस आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है, उसके स्थूल रूप से तीन प्रधान प्रकार माने जा सकते है—१ निर्णयात्मक, २ निर्गुणनात्मक, ३ प्रभावाभिव्यजक। पहली प्रकार की समालोचना मे आलोच्य रचना के गुण-दोषो का निर्देश होता है। इसके लिए आलोचको को पहले से ही आलोचना के कुछ सिद्धान्तो के लिए विशेष मान को स्वीकार करना पड़ता है। आलोचक के सम्मुख आदर्श रचना का एक स्वरूप होता है, उसकी अच्छाई का एक निश्चित मानदण्ड होता है। इनके अनुकूल जो रचना होती है, उसे ही यह श्रेष्ठ मानता है। इस आलोचना मे मानदण्ड ऊपर से आरोपित होता है। इसमे कवि के उद्देश्य और उसकी रचना को समझने की अपेक्षा काव्य के सिद्धान्तो का गम्भीर अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस आलोचना मे सहृदयता की अपेक्षा पाडित्य अधिक अपेक्षित है। पर निगमनात्मक आलोचना मे विश्लेषण द्वारा आलोच्य वस्तु मे से ही आलोचना का मापदड निकाला जाता है। इसमे कवि की सफलता किन्ही बाहर से आरोपित सिद्धान्तो अथवा मानो द्वारा नही आकी जाती, अपितु उसके उद्देश्य समझने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाता है। इसमे कवि की मानसिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो का भी पूरा ध्यान रखा जाता है। विवेचन और विश्लेषण द्वारा रचना के उद्देश्य, सौदर्य और महत्व का प्रतिपादन तथा मूल्याकन ही इस आलोचना मे प्रधान है। इस प्रकार की समीक्षा मे व्यक्ति की रुचि के लिए स्थान नही है। किसी भी कृति के मूल्य को पूर्णत स्पष्ट करने के लिए उसके रचनाकार की मानसिक स्थिति, रचना-

काल की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक आलोचक को आवश्यकता पड़ने पर ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धतियों का भी अवलम्बन करना पड़ता है। आलोच्य रचना अपने कलात्मक सौष्ठव के द्वारा पाठक के हृदय को कितना स्पर्श करने वाली है? इस प्रकार के हृदय को स्पर्श करने वाले गुण क्या है? इन प्रश्नों का भी आलोचना से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इन दृष्टियों से विवेचन करने पर विश्लेषणात्मक आलोचना में सौंदर्यवादी दृष्टिकोण भी अपनाना पड़ता है। सौंदर्य के विशिष्ट स्थलों का नामकरण करते हुए यह आलोचक तन्त्रवादी आलोचना के क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्लेषणात्मक आलोचना में इन सभी प्रकार की आलोचनाओं का समावेश हो जाता है। विश्लेषण की व्यापक पद्धति का अनुसरण करते हुए विभिन्न मार्गों अथवा शैलियों का आलम्बन करने से ऐतिहासिक-मनोवैज्ञानिक आदि आलोचना-पद्धतियों का जन्म होता है। इसलिए इन सब प्रकार की आलोचनाओं का समावेश भी इसमें हो जाता है। शुक्ल जी भी इसी पद्धति में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की समालोचनाओं को अन्तर्भूत मानते है।[1] निर्णयात्मक आलोचना बहुत-कुछ पूर्व निर्मित सिद्धान्तों पर ही आधारित रहती है। पर फिर भी इसको विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्बन करना ही पड़ता है, बिना इस पद्धति के निर्णयात्मक आलोचना का कुछ भी मूल्य नहीं रहता है। 'In the interest of judicial criticism itself we have to recognise that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation No judicial criticism can be of any value which has preceded by the criticism of interpretation."[2] प्रभावाभिव्यंजक आलोचना में ऐतिहासिक अथवा अन्य प्रकार के मूल्यों का विवेचन नहीं होता है। इसमें तो आलोचक रचना के अनुशीलन के फलस्वरूप अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभावों का ही निर्देश करता है। इसमें रचना के मूल्याकन के लिए यही एक-मात्र मानदण्ड है। आलोचक का हृदय कसौटी मान है। इस आलोचना में बाहर से आरोपित सिद्धान्तों का प्रायः नितान्त अभाव हो जाता है। यह आलोचना विचारात्मक न होकर भावात्मक पद्धति का अनुसरण करती है और एक स्वतन्त्र रचना का रूप धारण कर लेती है। रुचि-वैचित्र्य के कारण इस आलोचना का व्यक्तिगत महत्व है। इसमें उत्कृष्ट सहृदयता की पूर्ण अपेक्षा है। आलोच्य रचना के अनुशीलन से जो अनुभूति पाठक में जागृत होती है, उसको

१ देखिए शुक्लजी 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५८१-५८२।

2 Molton, The Modern study of Literature.

अभिव्यक्त करना भी आलोचना का एक प्रमुख कार्य है। प्रभाववादी आलोचक इसी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है। अपनी सजीव शैली मे पाठक मे वही अनुभूति जागृत करता है जो कवि को अभीष्ट है। अगर प्रभाववादी आलोचक एक सुसस्कृत रुचि का व्यक्ति हो, अपनी व्यक्तिगत रुचि को अनावश्यक महत्व न दे तथा प्रकृत विषय से दूर अपने ही भावो मे न बह जाय तो इस आलोचना के सम्बन्ध मे कार्लाइल के शब्द बहुत-कुछ खरे उतरते है

"Criticism stands like an interpretor between the unmspired and the Inspired. आलोचक की रुचि का परिष्कार काव्यानुशीलन के अतिरिक्त दर्शन इतिहास, साहित्य-शास्त्र आदि के अध्ययन पर आश्रित है। इतिहास साहित्य-शास्त्र आदि जिन तत्वो का उपयोग विश्लेषणात्मक आलोचक प्रत्यक्ष रूप मे करता है, जिन्हे वह एक प्रकार से मानदण्ड का स्वरूप दे देता है, वे ही तत्व प्रभाववादी आलोचक की रुचि के निर्णायक है। साहित्य-शास्त्र, इतिहास आदि के जिन तत्वो का विश्लेषणात्मक आलोचना मे मान और शैली के रूप मे प्रत्यक्ष उपयोग होता है वे ही सहृदय की रुचि के अभिन्न अश भी हो जाते है और प्रभावाभिव्यजक समीक्षा मे भी इनका उपयोग परोक्ष रूप मे सम्भव है। विश्लेषणात्मक पद्धति की सम्पूर्णता के लिए प्रभावाभिव्यजक आलोचना का साधारण अवलम्ब अपेक्षित है। पाठक के हृदय मे कवि के अनुरूप ही अनुभूति जागृत करने मे सहायक होकर पाठक को कृति का अधिक आनन्द प्राप्त करने तथा कृति के महत्व को हृदय से स्वीकार करने का अवसर प्रभाववादी आलोचक देता है। इसलिए आलोचना का समीचीन रूप इन दोनो के समन्वय मे है। स्पिनगार्न इसी का समर्थन करते है।[1] आचार्य शुक्ल का भी यही दृष्टिकोण है और उन्होंने अपने आलोचना मे इस समन्वित पद्धति का अनुसरण किया है।

शुक्लजी विश्लेषणात्मक आलोचना को ही उच्च मानते है। हिन्दी के गद्यसाहित्य के तृतीय उत्थान-काल मे आलोचना के जो प्रयास हुए है, उनको शुक्ल जी ने उच्चकोटि की आलोचना के नाम से अभिहित किया है। "कवियो की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अन्त प्रकृति की छान-बीन करने वाली उच्च कोटि की ...ना का प्रारम्भ तृतीय उत्थान मे आकर हुआ।"[2] कला-कृति भावात्मक अथवा कल्पनात्मक होती है। इसकी समीक्षा विचारो द्वारा ही हो सकती है, कल्पना या भावुकता द्वारा नही। इसकी समीक्षा का तात्पर्य ही विचार है। शुक्ल जी कहते है "समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक ही होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या

1. J E Spingarn The new criticism
२. 'इतिहास', पृ० ५८८।

कि विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना से नहीं।[1]

इसी प्रसंग में शुक्लजी दो शक्तियों का निरूपण भी करते हैं। तथ्य-बोधक या सांकेतिक और भाव-प्रवर्त्तक। इनमें से प्रथम प्रकार के शब्द ही समीक्षा के उपयुक्त हैं। प्रभावाभिव्यंजक आलोचना को वे ठीक ठिकाने की वस्तु नहीं मानते। इस पद्धति के नाम पर आलोचकों ने अनावश्यक भावुकता में पड़कर व्यर्थ का वाग्जाल खड़ा किया है। यह वाग्जाल रचना को समझने और उसके वास्तविक मूल्य के आंकने में बाधक है। "प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इस लिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य का, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि विश्लेषणात्मक आलोचना को ही शुक्लजी साहित्य-समीक्षा का सही और स्वरूप मानते हैं। पर जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है इन तीनों पद्धतियों के सामंजस्य में ही आलोचना का सर्वांगीण और सम्यक् विकास है। विवेचना के उपरान्त जिस निर्णय पर आलोचक पहुँचता है, उसका महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। विश्लेषण के बाद निर्णय स्वाभाविक भी है। शुक्लजी निर्णयात्मक आलोचना की व्यावहारिकता भी स्वीकार करते हैं। "सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार पक्ष भी है। उसके द्वारा साधन-हीन अधिकारियों की यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाय।"[3] शुक्लजी इस बात को स्वीकार करते हैं कि निर्णयात्मक और प्रभावाभिव्यंजक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ पाठक का ध्यान काव्य से हटाकर अन्यत्र ले जाती हैं। विश्लेषणात्मक आलोचना भी काव्य के स्थान पर इतिहास, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान की बातें करने लगती है। वे विश्लेषणात्मक समीक्षा में तीनों का समन्वय आवश्यक समझते हैं। समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर **रुचि।** अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना और रुचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं।"[4] शुक्ल जी ने

१ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद,' चिन्तामणि भाग २,' पृष्ठ २२० ।

२. 'इतिहास', पृष्ठ ६२६ ।

३ काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ६६ ।

४. वही, पृष्ठ ६५ ।

स्पिनगार्न के मन्तव्य को अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। आलोचक का प्रधान कार्य विचार और विश्लेषण ही है। पर कला-कृति की अनुभूति का साक्षात्कार कराने में भी आलोचक सहायक होता है और इसके लिए उसे भावात्मक अथवा प्रभाववादी होना पड़ता है। विश्लेषण के उपरान्त निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक भी है और साहित्य के विकास के लिए उपादेय भी। यह हम पहले देख चुके हैं। इस प्रकार शुक्लजी आवश्यकतानुसार आलोचक की इन तीनों पद्धतियों का उपयोग आवश्यक तथा समीचीन समझते हैं। यही उनका सामञ्जस्य है। वे प्रभाववाद के नाम पर केवल भावुकता का झूठा प्रदर्शन और वाग्जाल तथा रुचि और विदग्धता के नाम पर विश्लेषण-शून्य निर्णय के विरोधी हैं। शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना में इन तीनों का सामञ्जस्य है। विश्लेषणात्मक आलोचना में भी उन्होंने ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि पद्धतियों का यथावसर उपयोग किया है। इस प्रकार शुक्लजी में आलोचना की सर्वांगीण पद्धति का विकास हुआ है। कहीं-कहीं आलोचना के मान में उनकी वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य हो गया है। उसके कारण कुछ लोग उनमें पक्षपात की प्रवृत्ति भी मानते हैं। अन्यथा शुक्लजी की पद्धति सर्वांगीण और समीचीन है। यह पद्धति उनकी हिन्दी साहित्य की देन है।

निगमनात्मक समीक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में यह कई स्थानों पर कहा जा चुका है कि उसमें मान का आरोप नहीं होता है अपितु आलोच्य रचना से निकाले हुए साहित्य-सिद्धान्त ही मान का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शुक्लजी ने अपने मान तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' तथा उनकी अन्य रचनाओं के आधार पर ही निर्मित किए हैं। शुक्लजी उसी साहित्य-रचना को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें जीवन के व्यापक स्वरूप का अनुभूतिमय चित्र लोक-धर्म और शील विकास को सामञ्जस्यपूर्ण स्थायी प्रेरणा देने वाले हों। केवल सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य चिरस्थायी नहीं होता है। शुक्लजी साहित्य और जीवन के घनिष्ठ बौद्धिक सम्बन्ध के अतिरिक्त आनन्दानुभूति को भी काव्य का प्रयोजन मानते हैं। रसानुभूति और लोक-धर्म के सिद्धान्त ही गोस्वामीजी की रचना के प्राण हैं। यह मानदण्ड शुक्लजी को तुलसीदास जी से मिला है। इस मानदण्ड पर तुलसी के काव्य के अतिरिक्त भारतीय साहित्य-शास्त्र की भी स्पष्ट छाप है। आनन्दानुभूति के अनुरूप काव्य में जिन तत्त्वों का समावेश शुक्ल जी को मान्य है, उनका विवेचन विशद रूप में ऊपर किया जा चुका है। गोस्वामी जी की कविता में भारतीय आदर्श का पूर्ण निर्वाह है। इसलिए शुक्लजी की साहित्यिक धारणा में भी शास्त्रीय अनुशासन की कठोरता के साथ भावुकता का समन्वय है। उनके नीति, शील और लोक-

धर्म पर अवलम्बित मूल्यवादी दृष्टिकोण का उच्चतम सहृदयता के साथ पूर्ण सामंजस्य है। उनकी वैयक्तिक रुचि पूर्णत परिष्कृत है। इसलिए उसमे एक ही साथ शास्त्रीयता, नैतिकता और भावुकता का भी पूर्ण निर्वाह है। गोस्वामी जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाओ मे "स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" 'उपजहि अनत अनत छवि लहहि" तथा "सुरसरि सम सब कर हित होहि" का सुन्दर समन्वय है। उसी प्रकार शुक्ल जी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण से भी स्वान्त सुखाय, प्रेषणीयता तथा लोक-हित का सम्मिश्रण है। शुक्लजी की रुचि मे प्रौढ़ भावुकता और शास्त्र-ज्ञान का सामंजस्य है। यही कारण है कि उनकी आलोचनाओ मे तीन पद्धतियो का समन्वय हो सका है।

शुक्लजी की प्रयोगात्मक आलोचना प्रमुखत भूमिकाओ के रूप मे ही है। सूर, तुलसी और जायसी की भूमिकाओ के अतिरिक्त शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा 'शेष स्मृतियाँ' नामक आधुनिक गद्य ग्रन्थ की भूमिका भी लिखी है। शुक्ल जी का मानदड तो सर्वत्र ही प्राय: समान-सा है, केवल थोडी शैली मे भावुकता या बौद्धिकता की कमोबेशी है इन तीनो भूमिकाओ मे उनकी शैली विश्लेषणात्मक है तथा उनका मान नीति, भावुकता और शास्त्रीयता के सम्मिश्रण मे निर्मित है। स्थूल रूप से हम शुक्लजी की आलोचना के दो विभाग कर सकते है—रूपात्मक और उद्देश्य-सम्बन्धी। रूपात्मक मे रस, भाव, अलकार आदि सभी काव्यागो की दृष्टि मे किये गए विवेचन का समावेश हो जाता है। इसको अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता नही है कि शुक्लजी इस विवेचन मे रसवादी है। अलकार, गुण, रीति आदि का रस की दृष्टि मे औचित्य मानते है और इसी दृष्टि से उनके महत्व का प्रतिपादन करते है। इनके पूर्ववर्ती आलोचक रस, अलकार आदि का जिस प्रकार स्थूल निर्देश भर करते रहे, वैसे शुक्लजी ने नही किया है। उनकी पद्धति विश्लेषणात्मक है। वे किसी स्थल पर किसी विशेष अलकार, भाव अथवा रस का "लेबिल" चिपका देने को ही आलोचना नही मानते। पर्याप्त कारणो द्वारा पाठक को उसका स्वरूप समझाकर उसकी उपस्थिति पाठक को स्पष्ट कर देते है। पहले प्रकार की पद्धति का भी शुक्लजी ने बहुत उपयोग किया है। सूर-तुलसी और जायसी की आलोचना मे इस पद्धति के पर्याप्त उदाहरण हैं। अनेक स्थानो पर वे केवल इतना ही निर्देश करते है कि यहा पर 'व्यतिरेक' अलकार है अथवा यहा अमुक भाव।[1] लेकिन अलकारो की अपेक्षा शुक्लजी ने भावो की आलोचना अधिक की है। उन्होने स्थायी, सचारी आदि भावो का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। आश्रय और आलम्बन की विभिन्न मानसिक दशाओ और शारीरिक

१ देखिये 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका मे अलकार-प्रसग, पृष्ठ १४२-१४३।

चेष्टाओं का वर्णन किया है। शुक्लजी का भावुक हृदय इन दशाओं का अनुभव करता है। वे अपने हृदय की अनुभूति को, जिसका कवि-हृदय से सामंजस्य है, पाठकों के समक्ष सजीव रूप में उपस्थित करते हैं। कुछ वर्णन के उपरान्त आलोच्य रचना के अवतरण उद्धृत करते हुए वे आगे बढ़ते हैं। इन वर्णनों के द्वारा रचना के सौन्दर्य और मार्मिकता का उद्घाटन करना ही उनका उद्देश्य है। इसको परिचयात्मक शैली की ऐप्रीमियेटिव क्रिटिसिज्म कह सकते हैं। शास्त्र का आधार लेने के कारण तथा अत्यन्त परिष्कृत रुचि के फलस्वरूप इस आलोचना में वैयक्तिक रुचि का प्राधान्य नहीं प्रतीत होता है। यह वैयक्तिक न रहकर लोक-रुचि हो गई है। यह आलोचक का बहुत बड़ा गुण है। इसमें प्रभावाभिव्यंजक आलोचना की भावुकता के साथ शास्त्रीय प्रामाणिकता का सुन्दर समन्वय हो गया है। पूर्ववर्ती आलोचकों के-से, 'वाह वाह' वाले वाक्यों का प्रयोग भी कहीं कहीं मिल जाता है। लेकिन ये अत्यन्त विरल हैं। स्वयं आलोचक का मन जब मुग्ध हो जाता है तो वह ऐसे वाक्यों का प्रयोग पाठक में भी वैसी ही अनुभूति जाग्रत करने के लिए करता है। "परिहास के अतिरिक्त अन्तिम चरण में प्रेम की उच्च दशा के औदार्य की कैसी झाँकी झलक है।" इस आलोचना का उद्देश्य पाठक को कवि की सुन्दर उक्तियों का अनुभव कराना तथा उनके सौन्दर्य पर मुग्ध करना है। आलोचक मुग्ध होता है और वह अपनी सजीव शैली में पाठक को भी मुग्ध करना चाहता है। आलोचना के स्वरूप-विकास के अनुसार आलोचना का आधुनिकतम रूप निगमनात्मक माना जाता है। शुक्लजी में हमें इसीके दर्शन होते हैं। इसमें उत्कृष्ट सहृदयता तो है ही, पर साथ ही विचार-सरणी भी शास्त्रीय है। स्थायी, संचारी आदि भावों, अनुभावों, हावों आदि की दृष्टि से ही विवेचन हुआ है। पूर्व निर्मित मानदंड पर आधारित होने के कारण इस आलोचना को पूर्णतः निगमनात्मक नहीं कह सकते हैं। हाँ, इसमें विवेचनात्मक शैली का अनुसरण अवश्य हुआ है। आचार्य शुक्ल को मौलिक चिन्तन का भी अवसर मिला है। उनकी तलस्पर्शी विवेचनात्मक बुद्धि तथा उत्कृष्ट भावुकता ने नवीन भाव-दशाओं का भी निरूपण किया है। शुक्लजी ने नवीन मानसिक दशाओं के नामकरण किये हैं। उनकी सहृदयता ने एक ही भाव की विभिन्न सूक्ष्म अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लिया है। आश्चर्य में मिलती-जुलती परन्तु उसमें कुछ भिन्न 'चकपकाहट' नामक भाव-दशा के दर्शन शुक्लजी के भावुक हृदय ने सूर के 'हम सो कहत कौन की बातें' नामक पद में कर लिए हैं।[1] 'उदासीनता' का एक नवीन रूप मंथरा और कैकेयी के वार्त्तालाप में मिलता है। ग्रामीण स्त्रियों का भगवान् के प्रति जो रति-भाव है उसका रति के किसी

२. 'भ्रमर गीत सार की भूमिका', पृष्ठ ५५।

भी शास्त्रीय विभाग मे समावेश नही हो सकता है, पर फिर भी शुक्लजी ने उसकी उत्कृष्टता और मार्मिकता का निरूपण किया है । इन नवीन भाव-दशाओ का निरूपण भी शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करने वाला है । इसीलिए शुक्लजी की रूपात्मक आलोचना को विशुद्ध निगमनात्मक कहने की अपेक्षा तन्त्रवादी कहना अधिक समीचीन है । हा, इनकी शैली निर्णयात्मक, निर्देशात्मक, या परिचयात्मक की अपेक्षा विश्लेषणात्मक अधिक हुई है, इसलिए उसमे निगमनात्मक आलोचना के प्रौढ तत्व अवश्य विद्यमान है । एक-आध उद्धरणो से पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार शुक्लजी ने अपनी इस रूपात्मक आलोचना मे भावुकतापूर्ण वर्णन और परिचय के साथ तात्विक और शास्त्रीय विश्लेषण किया है । इसमे उन्होने प्राचीन साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तो के अतिरिक्त आधुनिक मनोविज्ञान के तत्वो का भी पर्याप्त उपयोग किया है । "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" के भाव-सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते है ।[2] —"ठोकि बजाय" मे कितनी व्यजना है एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है । एक वाक्य दो-दो, तीन-तीन भावो से लदा हुआ है । श्लेष आदि कृत्रिम विधानो से मुक्त ऐसा ही भाव का गुरुत्व हृदय को सीधा जाकर स्पर्श करता है । इस भाव-सबलता को या भाव-पचामृत, क्योकि एक ही वाक्य "नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाय" मे कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार और कुछ अमर्ष इन तीनो की मिश्र व्यजना पाई जाती है ।" आलोचना की यह परम्परा, छन्दो की तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यजक व्याख्या, पद्मसिंह शर्मा आदि मे भी उपलब्ध होती है । शुक्लजी इसी परम्परा को प्रौढ रूप प्रदान करते है । सहृदयता, मनोवैज्ञानिकता और तन्त्रवादिता के सम्मिश्रण मे जो प्रौढता इस विवेचन मे आई है, उसका अनुकरण आज भी हो रहा है । कवियो के भाव और कला सौष्ठव की विभिन्न छन्दो के उद्धरणो द्वारा अनुभूतिमय और तन्त्रवादी विश्लेषण की परम्परा आज भी प्रचलित है । 'शेष स्मृतिया' की भूमिका मे शुक्लजी ने तन्त्रवादी और प्रभावाभिव्यजक आलोचना का सुन्दर सम्मिश्रण किया है । शुक्लजी की इस रचनात्मक आलोचना का अनुसरण परवर्ती आलोचको ने बहुत अधिक किया है विश्वविद्यालय के छात्रो के लिए परीक्षोपयोगी जो पुस्तके प्रस्तुत हुई है, उनमे प्रमुखत इसी शैली का अनुसरण हुआ है । इन आलोचनाओ मे शास्त्रो द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके सहृदयता और भावुकतापूर्ण शैली मे परिचय और विश्लेषण द्वारा आलोच्य रचना की सौन्दर्यानुभूति पाठक मे जाग्रत करके उसके महत्व का प्रतिपादन हुआ है । शुक्लजी की तरह प्राय परवर्ती आलोचको ने भी महत्व-सम्बन्धी निर्णयो मे पाठको को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है । ये आलोचक सौन्दर्या-

२. वही, पृष्ठ ८२ ।

नुभूति द्वारा पाठको को मुग्ध करके रचना के महत्व का स्वय मूल्याकन करने का अवसर प्रदान करते है ।

प० कृष्णानन्द ने 'त्रिवेणी' की भूमिका मे "तत्व-निरूपण" को उत्कृष्ट समालोचना का आवश्यक अङ्ग माना है। यह हम ऊपर कह चुके है कि निगमनात्मक की एक यह भी विशेषता है कि आलोच्य रचना के आधार पर साहित्य-सिद्धान्तो का भी निरूपण होता जाय। ऊपर हमने देखा है कि शुक्लजी मे प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक दोनो प्रकार की आलोचना का सुन्दर सम्मिश्रण है। उन्होने पृथक् रूप से सिद्धान्तो का विवेचन भी किया है, पर इन भूमिकाओ तथा अपने इतिहास मे भी प्रसंगानुसार वे विवेचन करते गए है। प्रबन्ध काव्य की विशेषताएँ, प्रबन्ध और मुक्तक का अन्तर, आश्रय और आलम्बन की चेष्टाओ का विवेचन आदि अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो के विवेचन का अवसर शुक्लजी को इन प्रयोगात्मक आलोचनाओं मे ही मिला है। इन विवेचनो से शुक्लजी का मौलिक चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है। प्रबन्ध काव्य के जिन तत्वो को शुक्लजी ने माना है, वे तो हिन्दी-साहित्य मे सर्वमान्य हो गए है। आलोचना के प्रयोगात्मक और सैद्धान्तिक रूप का सम्मिश्रण शुक्लजी की आलोचना की बडी भारी विशेषता है। रूपात्मक आलोचना शुक्लजी की आलोचना का महत्वपूर्ण अश है। इसका प्रतिमान शुक्लजी को शास्त्रो के गम्भीर मन्थन तथा उनकी वैयक्तिक रुचि द्वारा प्राप्त हुआ है। उनकी वैयक्तिक रुचि के निर्माण का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व भी उनके अध्ययन पर ही है। हमने ऊपर इस आलोचना की विश्लेषणात्मक शैली मे अन्तर्भाव किया है। अब हमे उनकी दूसरी प्रकार की अर्थात् उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना पर विचार करना है।

प्रयोगात्मक आलोचना का दूसरा विभाग है—उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना। साहित्य को शुक्लजी सोद्देश्य मानते है। वे कलावादी नही अपितु रसवादी और मूल्यवादी है। वे काव्य मे रस और नीति दोनो के समन्वय को मानने वाले है। रूपात्मक आलोचना मे विभाव, भाव, अलकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि के सौदर्य का विवेचन रस की दृष्टि से करते है। इन सबमे रसौचित्य का निर्वाह आवश्यक मानते है। वे साहित्य का उद्देश्य जीवन के व्यापक स्वरूप का रसात्मक अनुभव कराना तथा मानव को नीति और धर्म की प्रेरणा देना मानते है। वर्णाश्रम और भारतीय मर्यादावाद पर प्रतिष्ठित धर्म और नीति की ओर मानव को ले जाना उनकी दृष्टि से साहित्य का परम उद्देश्य है। शुक्लजी की दृष्टि से शक्ति, शील और सौंदर्य का पूर्ण सामजस्य ही नायक की श्रेष्ठता का मान है। उनमे मर्यादा का पूर्ण निर्वाह आवश्यक है। इन गुणो की पूर्ण प्रतिष्ठा लोक-मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम मे ही है। ऐसे स्वरूप के लिए पूज्य बुद्धि का सचार स्वाभाविक है। भक्ति का यह स्वरूप सेव्य-सेवक का ही हो सकता है, सख्य अथवा माधुर्य का नही। सख्य अथवा

माधुर्य के लिये आलम्बन मे केवल सौदर्य के अलौकिक रूप की प्रतिष्ठा आवश्यक है। शुक्ल जी के मान पर लोक-मर्यादा, नीति, सेव्य-भाव की भक्ति, जीवन के व्यापक स्वरूप का चित्रण, शक्ति, शील और सौदर्य के समन्वय का आग्रह इन सबकी स्पष्ट छाप है। ये उनके मान के विशेष तत्व है। इन तत्वो मे शुक्ल जी के व्यक्तित्व के स्पष्ट दर्शन होते है। पर वे उन्हे तुलसी की रचना से ही प्राप्त हुए है। तुलसी का काव्य, जीवन-चरित्र और भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण यही है। शुक्लजी को भी ये विचार वही से प्राप्त हुए है। इसलिए यह कहना अनुचित नही है कि शुक्ल जी का प्रतिमान तुलसी की रचना से स्वत: निकल रहा है अथवा उनकी रचना के उपयुक्त है, लेकिन सूर, जायसी, तथा रीतिकालीन और आधुनिक छायावादी कवियो के लिए यह मानदण्ड आरोपित ही माना जायगा। तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवियो की उद्देश्य-सम्बन्धी आलोचना मे प्राय सर्वत्र ही तथा रूपात्मक आलोचना मे कही-कही शुक्लजी ने तटस्थ होकर कवि की देय वस्तु के निष्पक्ष मूल्याकन करने का प्रयास कम किया है। इन कवियो की आलोचना मे शुक्ल जी की दृष्टि उन कमियो की ओर ही अधिक गई है, जिनका इतने कठोर और स्थिर मानदण्ड के कारण उन रचनाओ मे प्रतीत होना अपरिहार्य था। शुक्ल जी अपने मानदण्ड को सर्वत्र रचना और कवि के अनुकूल बदल नही सके। इसलिए यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नही है कि शुक्ल जी की आलोचना का माप 'तुलसीमय' है अथवा यो कहना अधिक समीचीन है कि 'मानसमय' हो गया है। तुलसी ने अपनी सभी रचनाओ मे मानस की मर्यादा का निर्वाह किया है। पर उनकी 'गीतावली' आदि का सौदर्य "मानस" के प्रबन्ध-काव्योचित तथा नीति-वादी दृष्टिकोण से पूर्णत हृदयगम नही किया जा सका है। यही कारण है कि शुक्लजी के प्रतिमान को "मानसमय" कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। "कवि की पूर्ण भावुकता इसमे है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति मे अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढकर विस्तृत क्षेत्र और कहा मिल सकता है, जीवन स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पडते है इस क्षेत्र मे जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पडता है, उसकी भावुकता को और कोई नही पहुँच सकता है।"[1] शुक्लजी का यह मत सैद्धान्तिक रूप से समीचीन होते हुए भी, प्रयोग मे आग्रह का रूप धारण कर गया है। जीवन के एकागी रूप का चित्रण करने वाला सूर कम भावुक नही कहा जा सकता। शक्ति, शील और सौदर्य म से केवल सौदर्य को ही लेकर चलने के कारण सूर का काव्य निम्न कोटि का नही कहा जा सकता। जीवन के विभिन्न स्वरूपो की प्रेरणा न होते हुए भी इस अलौकिक सौदर्य मे अद्भुत उच्चकोटि की रसमयता है। इस स्थिति मे व्यवहार-जगत् की

---

१ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ६३।

मर्यादा के सारे बन्धन ढीले पड जाते हैं। मानव विधि-निषेध से ऊपर उठकर आनन्द के अथाह सागर मे अवगाहन करता है। यह भक्ति की चरम स्थिति है। शील और शक्ति भी भक्ति मे अलौकिक सौदर्य के उत्कर्षक बन जाते है। राक्षसो से हनन मे कृष्ण की अलौकिक शक्ति के दर्शन अवश्य होते है। पर सूर की भक्ति मे कृष्ण के इस स्वरूप की अपेक्षा रास-रसिक कृष्ण का ही अधिक महत्व है। शुक्लजी का तो इस ओर ध्यान न जाना तो उनकी वैयक्तिक रुचि का ही परिचायक है। मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को, निर्गुण की अपेक्षा सगुण को तथा रहस्यवाद की अपेक्षा भक्ति को उत्कृष्ट मानना शुक्लजी की आलोचना से अत्यन्त स्पष्ट है। जायसी के काव्य को हिन्दी-साहित्य मे इतना उच्च स्थान प्राप्त करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। इसका प्रधान कारण भी उनकी रचना का प्रबन्ध कोटि मे आना ही है। शुक्ल जी ने उनकी प्रबन्ध-पटुता, प्रेम-तत्व, वियोग, भावुकता आदि का जितना विशद वर्णन किया है, उतना रहस्यवाद का नही। जायसी और कबीर की रचनाओ का मूल्याकन करते हुए शुक्ल जी यह भूल गये है कि कबीर की रचना का जनता ने कितना स्वागत किया है तथा इन निर्गुण भक्ति वाले कवियो ने तत्कालीन जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया है। रहस्यवादी प्रतीको के आवरण मे भी कबीर तथा अनेक बहुत से इन्ही साम्प्रदायिक कवियो की कविता मे उत्कृष्ट मार्मिकता और हृदय-स्पर्शिता के भी दर्शन होते है। इनकी उपेक्षा भी वैयक्तिक रुचि की प्रबलता को ही स्पष्ट कर रही है। आधुनिक कविता मे भी गुप्तजी, सियारामशरण, गुरुभक्तसिंह आदि प्रबन्धकारो तथा बहुत-कुछ इतिवृत्तात्मक काल के कलाकारो का ही मूल्य अधिक आका जा सका है। प्रसाद, पन्त और महादेवी की रचनाओ म नवीन युग-चेतना और उसकी प्रौढ प्रतिभा का पूरा मूल्याकन नही हो पाया। प्रबन्ध की उस धारा मे, जिसमे शुक्लजी सच्चे स्वच्छन्दतावाद का विकास मानते है, छायावाद बाधक सिद्ध हुआ है, इसलिए उसकी कमियो की ओर ही शुक्लजी का ध्यान अधिक गया है। शुक्लजी उसकी कुछ स्थूल और रूपात्मक आलोचना ही कर सके है। उसमे जीवन के नूतन दर्शन और नवीन प्राणो का स्पन्दन नही देख सके।

मूल्यवादी तथा रूपात्मक दोनो प्रकार की आलोचनाओ का सम्बन्ध कलाकृति से ही है। लेकिन कलाकार के व्यक्तित्व पर विचार किये बिना आलोचना का कार्य अपूर्ण ही माना जायगा। पाठक और समीक्षक के सम्मुख कला-कृति ही है और उसीकी समालोचना आलोचक का प्रधान कार्य है। पर कृति और व्यक्ति का परस्पर मे अभिन्न सम्बन्ध होने के कारण कभी-कभी कलाकार पर भी दृष्टि डालना प्राय आवश्यक-सा हो जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व पर ही रचना के वर्ण्य विषय का स्वरूप, चिन्तन-धारा और अभिव्यजना की शैली आधारित है। इन सबका मूल स्रोत और प्रेरणा वही है। इसलिए इन सबका अध्ययन करते हुए कलाकार के व्यक्तित्व

का अध्ययन भी करना ही पड़ता है। कला-कृति मे व्यक्तित्व के दर्शन तथा व्यक्तित्व मे कलाकार के स्वरूप की प्रेरणा—ये दोनो ही मनोवैज्ञानिक आलोचना के अङ्ग है। काल और देश से निरपेक्ष व्यक्ति की कल्पना नही की जा सकती। किसी भी कलाकार अथवा कला-कृति को अपनी परिवृत्ति से मुक्त करके नही देखा जा सकता। व्यक्तित्व का निर्माण परिवृत्ति ही करती है। रचना की सामग्री जीवन से उपलब्ध होती है। उसकी विशिष्ट शैली के लिए भी तत्कालीन जीवन ही उत्तरदायी है, कुछ महान् कलाकार देश और काल की सकुचित परिधि के ऊपर होते है। ऐसे ही कलाकारो की कृतिया साहित्य की चिरन्तन सम्पत्ति होती है। तुलसी और प्रसाद ऐसे ही कलाकार है। आलोचक का कार्य इन चिरन्तन तत्वो को स्पष्ट करना है। पर इसका यह तात्पर्य नही है कि वे कलाकार भी परिवृत्ति मे सर्वथा निरपेक्ष होते है। परिवृत्ति की प्रतिक्रिया प्रत्येक व्यक्तित्व पर समान नही होती। इन महान् कलाकारो पर देश-काल की प्रतिक्रिया भी उन्हे देश-काल की सकुचित सीमाओ का अतिक्रमण करके जीवन के चिरस्थायी और व्यापक स्वरूप का दर्शन कर लेने को बाध्य करती है। इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' की रचना के लिए तुलसी और प्रसाद का व्यक्तित्व ही अपेक्षित है। इस काल के दूसरे कवि इनकी रचना नही कर सकते थे। पर इसके साथ ही यह मानना भी ठीक नही है कि मानस की रचना रीति-काल मे नही हो सकती थी। 'कामायनी' की भावुकतापूर्ण शैली और दार्शनिक विचार-धारा के लिए प्रसाद जी के व्यक्तित्व के अतिरिक्त तत्कालीन परिवृत्ति भी उत्तरदायी है, चाहे परोक्ष रूप मे ही हो। इसीलिए आलोचक के लिए रचना और रचयिता की परिवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। हिन्दी-साहित्य मे शुक्लजी ही ऐसे प्रथम व्यक्ति है जिन्होने कला-कृति के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व और उसके देश-काल के अध्ययन का सूत्रपात किया है। इसकी प्रौढ विश्लेषणात्मक शैली का ऐसा व्यापक और गम्भीर प्रभाव पडा है कि परवर्ती और समकालीन सभी आलोचको ने इसे अपनाया है। कलाकार और उसकी परिवृत्ति का अध्ययन तो आधुनिक समालोचना का प्रमुख तत्व है। बहुत-से समालोचक तो प्रधानत कलाकार के व्यक्तित्व का ही अध्ययन करते है।

रचना, रचयिता के व्यक्तित्व तथा परिवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विभिन्न स्वरूपो के आधार पर ही समालोचना की अनेक शैलियो और सम्प्रदायो की कल्पना हुई है। मनोवैज्ञानिक एव मनोविश्लेषणात्मक दोनो प्रकार की समीक्षाओ के मूल मे कलाकार के व्यक्तित्व का विचार है। पर दृष्टिकोण-भेद ने इन पृथक् दो शैलियो को जन्म दिया है। शुक्लजी मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि

पद्धतियों को विश्लेषणात्मक शैली के ही अवान्तर भेद मानते है ।[1] शुक्लजी ने ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक शैलियों का पर्याप्त उपयोग किया है । रचना और रचयिता पर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभावों का विचार करने के अतिरिक्त ऐतिहासिक समालोचना का कार्य किसी रचना की परम्परा निश्चित करना तथा उस परम्परा मे उसका मूल्य निर्धारण करना है । शुक्लजी ने अपनी आलोच्य रचनाओं पर इस दृष्टि से भी विचार किया है । उन्होने तुलसी, सूर और जायसी की परम्पराओं का तात्त्विक विवेचन किया है । साहित्य के इतिहासकार होने के कारण शुक्लजी को साहित्य की सभी धाराओं तथा उनके कवियों की परम्पराओं का निरूपण करना पड़ा है । इस प्रकार ऐतिहासिक समालोचना तो उनकी एक प्रधान विशेषता मानी जा सकती है । राम और कृष्ण-काव्य की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का भी निरूपण हुआ है । शुक्लजी ने शील, शक्ति, और सौन्दर्य के अधिष्ठान राम के चरित्र के जनता द्वारा इतने अधिक अपनाये जाने के कारणो का भी विवेचन किया है । देश की तत्कालीन परिस्थिति मे निर्गुण भक्ति का जनता स्वागत नही कर सकती थी । उसे ऐसे भगवान् की आवश्यकता न थी जो केवल ध्यानगम्य ही हो, जिसका साक्षात्कार समाधि मे ही हो सके । उस समय तो निराश जनता को उस भगवान् की आवश्यकता थी जो उनके दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षण मे उसका साथ दे सके । अलौकिक शक्तिवान होते हुए भी मानव रूप मे जन-साधारण का-सा व्यवहार करने वाले भगवान् की खोज मे जनता थी । जनता की चिर अभिलषित आकाक्षा सूर और तुलसी के काव्यो के नायक राम और कृष्ण के रूप मे पूरी हुई । शुक्लजी ने इस विवेचन मे इन काव्यो की ऐतिहासिक प्रेरणाओं का निरूपण किया है । इसमे बहुत सामान्य पृष्ठभूमि का ही विवेचन हो सकता है । सारी रचना किस प्रकार और कहा तक तत्कालीन परिवृत्ति की उपज है । इन काव्यो की चरित्र-कल्पना, जीवन के चित्रण, बौद्धिक विचार आदि के लिए देश और काल कितना उत्तरदायी है, ऐसी गम्भीर और तलस्पर्शी ऐतिहासिक समीक्षा की ओर शुक्लजी का ध्यान आकृष्ट नही हुआ है । इन रचनाओं के आधार पर तत्कालीन जीवन की विशेषताओं और स्वरूप का अनुमान करने की प्रवृत्ति भी कही नही दिखाई पडती है । शुक्लजी ने इन काव्यो की परम्परा की ओर तो निर्देश किया है पर इन परम्पराओं मे आलोच्य रचनाओं का क्या महत्व है, इस प्रकार के मूल्याकन की चेष्टा के दर्शन कही भी नही होते है । आज की ऐतिहासिक समीक्षा का यह एक प्रधान तत्व है । ऐसे सुन्दर प्रयास 'बिहारी की वाग्विभूति', 'भूषण ग्रन्थावली की भूमिका', 'उद्धव शतक' की भूमिका आदि कई एक

१ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ ५८२-५८३ ।

परवर्ती आलोचना-ग्रन्थो मे हुए है । शुक्लजी मे ऐतिहासिक समीक्षा के विकास की प्राथमिक अवस्था के ही दर्शन होते है । इनके पहले के आलोचको मे तो इस आलोचना के अत्यन्त अविकसित और अप्रौढ बिखरे हुए सकेत-मात्र ही थे । उन्हे तो अगर ऐतिहासिक समीक्षा के पूर्वाभास-मात्र कह दिया जाय तो कोई अनुचित नही ।

तुलसीदास जी की रचनाओ के आधार पर उनकी प्रकृति और स्वभाव का निरूपण हुआ है । शुक्लजी ने भक्ति,धर्म आदि के सम्बन्ध मे कवि की धारणाओ के विश्लेषण के अतिरिक्त रचनाओ के आधार पर ही कवि स्वभाव का भी अनुमान लगाया है । तुलसीदास मे एक ओर चरम कोटि का दैन्य और निरभिमानता मिलती है । 'विनय-पत्रिका' के अनेक पद तथा 'मानस' के अनेक स्थल इसके प्रमाण स्वरूप उद्धृत किये जा सकते है । दूसरी ओर वे दुष्टो और पाखण्डियो को फटकारने और बुरा-भला कहने मे भी चूकते नही है । खलो के सम्मुख अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करना अभिमान नही अपितु अपनी सच्चरित्रता के प्रति दृढ विश्वास तथा दुश्चरित्रता के प्रति घृणा की व्यजना है । राम के सम्मुख अपने-आपको 'सब पतितन को नायक" कहने वाले तुलसीदास खलो के सम्मुख हीनता का अनुभव नही कर सकते है । "काक कहहि कल कठ कठोरा" द्वारा अपने को कोमल तथा खलो को कौआ कह देते है । पाखण्डियो को फटकारने मे उन्हे जरा भी सकोच नही है । "तुलसी अलखहि का लखे, राम-नाम जपु नीच" कह देते है । शुक्लजी ने इन आपातत विरोधी उक्तियो मे सामजस्य स्थापित कर दिया है । इन विरोधो का परिहार करके वे तुलसी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध मे जो धारणा बना पाए है, वह तर्कसम्मत है । शुक्लजी ने इन वाक्यो मे कवि-स्वभाव का अत्यन्त सश्लिष्ट चित्र दिया है । "इससे प्रकट होता है कि उनके अन्त करण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिनकी विपरीतता वे सहन न कर सकते थे । अत इस थोडी-सी चिडचिडाहट को भी सरलता के अन्तर्गत लेकर सक्षेप मे हम कह सकते है कि गोस्वामी जी का स्वभाव अत्यन्त सरल, शात, गम्भीर और नम्र था । सदाचार की तो वे मूर्ति थे ।"[1] ऊपर के वाक्यो मे शुक्लजी ने स्वभाव के सम्बन्ध मे अपनी सश्लिष्ट धारणा अभिव्यक्त की है । इसके अतिरिक्त उन्होने कवि की उदारता, दुष्कर्मो के प्रति ईर्ष्या, भक्ति और विश्वास पर भी थोडा-बहुत विचार किया है । वस्तुत. ये उनकी प्रकृति के विभिन्न तत्व है । इन्हीके विश्लेषण द्वारा शुक्लजी कवि के स्वभाव के सम्बन्ध मे उपर्युक्त निर्णय बना सके है । रचना और कलाकार के व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध को मानकर रचना से कवि के

१. 'तुलसीदास', पृष्ठ १९ ।

व्यक्तित्व की धारणा तथा व्यक्तित्व मे रचना के स्वरूप की प्रेरणा—ये दो प्रकार की समीक्षा हो सकती है। यह हम पहले भी कह चुके है। शुक्लजी ने प्रथम प्रकार को विशेषत अपनाया है। विगत युग के कवियो के सम्बन्ध मे समीक्षा का यही प्रकार विशेष समीचीन भी कहा जा सकता है। फिर तुलसी की जीवन-सम्बन्धी पर्याप्त सामग्री अन्य साधनो से उपलब्ध न होने के कारण दूसरी प्रकार की मनोवैज्ञानिक समीक्षा बहुत-कुछ कम सभव है। ज्ञान, कर्म और उपासना मे सामजस्य, लोक-मगल मे ही धर्म और शील का विकास आदि अनेक दार्शनिक विचारो को तुलसी के व्यक्तित्व के अनुरूप बताकर, शुक्लजी ने भी इस प्रकार की समीक्षा का आभास-मात्र ही दिया है। लोक-मर्यादा और मगल का आधार लिये हुए जिस प्रकार की भक्ति की प्रतिष्ठा, जिस शक्ति, शील और सौदर्य के आगार भगवान् के मानव रूप की कल्पना तुलसी ने की है, उसको शुक्लजी ने कवि के व्यक्तित्व तथा समय-सापेक्ष बताकर समीक्षा को मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनो पद्धतियो मे सामजस्य स्थापित कर दिया है।

ऐतिहासिक और मनोवैज्ञनिक समीक्षा के नाम पर कभी-कभी आलोचक बाल की खाल निकालने लगता है। कवि के वैयक्तिक जीवन की छोटी तथा तत्कालीन कुछ ऐतिहासिक घटनाओ का आभास उसकी रचना मे देखने के प्रयास इसी प्रवृत्ति के स्पष्ट परिचायक है। कभी-कभी ये प्रयास अनौचित्य की सीमा तक पहुच जाते है। सयोग शृङ्गार के कवि को अश्लील कह देना समीक्षा का समीचीन रूप नहीं माना जा सकता। 'राम-राज्य' के वर्णन मे अकबर के राज्य का आभास प्राप्त करना समीक्षा ही नही है। शुक्लजी ने ऐसे अत्युक्तिपूर्ण परिणाम नही निकाले है। कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन प्रवृत्ति मे रचना को प्रेरणा प्राप्त होती है और उन्हीमे रचना को एक विशेष व्यक्तित्व प्राप्त होता है जो उसको अन्य रचनाओं से अलग करता है। इस प्रेरणा का सम्बन्ध विचार-धारा, चरित्र कल्पना और जीवन के दृष्टिकोण से है, विशेष घटनाओ मे नही। हाँ, वर्ण्य विषय के चुनाव पर भी कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी निर्णायक परिस्थितियो का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। पर किसी काव्य के आधार पर ऊपर निर्दिष्ट निष्कर्ष स्थूल ही कहे जायगे। काव्य-जगत् और कलाकार के व्यक्तित्व का फोटो नही होता है। शुक्लजी तो साधारणीकरण और लोक-सामान्य के सिद्धान्त को मानने वाले है। उनके मतानुसार कवि अपने जीवन का लेखा नही देता, अपने काल का इतिहास नही लिखने बैठता। वर्तमान काल के साहित्य मे वैयक्तिकता का बहुत अधिक प्राबल्य है। नीति-काव्य मे तो आत्माभिव्यजना ही प्रधान तत्व है पर अन्य विधाओ मे भी इसका महत्व अस्वीकार नही किया जा सकता। पर तुलसी और सूर के समय मे इसका इतना महत्व भी नही था। आज भी आत्माभिव्यजन के सिद्धान्त की उचित सीमाओ का

अतिक्रमण ही रचना को कला के क्षेत्र से बहिष्कृत करने वाला अथवा कम-से-कम उसे निकृष्ट पद दिलाने वाला तो है ही। ऐसी रचनाओं में स्थायित्व और प्राण-शक्ति का अभाव ही है। इसीलिए पद-पद पर काव्य में वर्णित प्रत्येक घटना का कवि के जीवन की घटनाओं से टक्कर भिडाना अथवा उनसे कवि के चरित्र के सम्बन्ध में धारणाएँ बना लेना समीक्षा का खिलवाड-मात्र है। शुक्लजी ने ऐसा कहीं नहीं किया है।

यह हम कई स्थानों पर कह चुके है कि शुक्लजी नीतिवादी आलोचक है। वे साहित्य का मूल्याकन उसके नैतिक प्रभाव के आधार पर करते है। शुक्लजी का ध्यान सगुण शाखा के व्यापक प्रभाव की ओर भी आकृष्ट हुआ है। तुलसी और सूर ने घोर नैराश्य-काल में जनता को आश्रय प्रदान किया था। तुलसी ने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को राममय कर दिया है। आज भी प्रत्यक हिन्दू अपने-आपको राम पर आश्रित समझता है। सकट की घडियों में उसकी दृष्टि राम की ओर ही जाती है। आज भी मानस की चौपाइयां जन-साधारण को पद पद पर जीवन की प्रेरणा देती है। जन-साधारण को राम के रूप में जीवन का आधार प्रदान करने के अतिरिक्त तुलसी ने हिन्दू-सस्कृति के सामजस्यवादी समीचीन दृष्टिकोण को अपनाकर हिन्दू जाति के पारस्परिक व्यर्थ के झगडो को ही मिटा दिया। जाति ने अपने धर्म और सस्कृति के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया। इसीलिए 'मानस' साधारण-से-साधारण व्यक्ति तथा विद्वान्-से-विद्वान् के लिए जीवन की स्फूर्ति प्रदान करता है। वह हिन्दू-सस्कृति का अजस्र स्रोत है। इतना व्यापक प्रभाव होने के कारण ही तुलसी की रचना में इतना स्थायित्व है। शुक्ल जी ने इस व्यापक प्रभाव को स्पष्ट किया है। साहित्य देश-काल की परिस्थितियों से जन्म लेकर जीवन की प्रेरक शक्ति का भी काम करता है। जो साहित्य केवल देश-काल का चित्रण मात्र करता है अथवा उनकी उपज भर है, उसकी अपेक्षा जीवन को प्रेरणा देने वाला साहित्य अधिक स्थायी और श्रेष्ठ है। शुक्लजी सगुण और निर्गुण भक्ति शाखाओं का भारतीय जीवन पर पडने वाले व्यापक प्रभाव का विश्लेषण करते समय इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर रहे है। साहित्य में जीवन की प्रेरक शक्ति की मात्रा पर साहित्य की आलोचना भी मूल्यवादी समीक्षा का एक अश है। शुक्लजी की समीक्षा के व्यक्ति के रागात्मक प्रसार अथवा वैयक्तिक नैतिकता के तत्व की अपेक्षा इस सामाजिक मूल्यवादी दृष्टिकोण का परवर्ती काल में अधिक विकास हुआ है। साहित्य और जीवन को इस सम्बन्ध की मान्यता तथा इसके आधार पर साहित्य-समीक्षा की प्रवृत्ति दिन-प्रति-दिन बढ रही है। साहित्य-कार केवल उपभोक्ता नहीं है, अपितु जीवन का पथ-प्रदर्शक भी है। साहित्य में मानव के बौद्धिक और रागात्मक विकास की जितनी अधिक प्रेरणा है वह साहित्य

उतना ही प्रौढ है। मूल्यवादी आलोचको को यह सिद्धान्त प्राय मान्य-सा होता जा रहा है। हिन्दी-साहित्य के समीक्षको का ध्यान इस ओर तो आकृष्ट हुआ है, पर अभी इस मूल्य पर व्यापक समीक्षा का थोडा अभाव ही है।[1] यहा इस सकेत से हमारा तात्पर्य केवल यह स्पष्ट करने मे है कि शुक्लजी ने मूल्यवादी आलोचना के व्यापक दृष्टिकोण और शैली की उद्भावना की है जो इस युग की स्थायी सम्पत्ति है और जिनका आश्रय लेकर आज भी हिन्दी-समीक्षा आगे बढ रही है।

कवि की प्रकृति और स्वभाव की अपेक्षा शुक्लजी ने रचना की विचार-धारा तथा वर्ण्य-विषय के स्वरूप का अधिक विवेचन किया है। तुलसी की भक्ति लोक-धर्म शील-साधना, सूर की भक्ति-पद्धति, जायसी की प्रेम-पद्धति, रहस्यवाद आदि का समावेश इसी मे मानना चाहिए। पात्रो के चरित्र तथा उनकी विभिन्न मानसिक दशाओ का विश्लेषण भी समीक्षा-पद्धति का एक प्रधान अग है। शुक्लजी ने विरह प्रकृति आदि के चित्रण के साहित्यिक सौष्ठव की अनुभूतिमय व्याख्या ही नही की है, अपितु कवि की तत्सम्बन्धी धारणाओ का भी विवेचन किया है। साहित्यिक सौष्ठव का विवेचन तो रूपात्मक आलोचना का ही एक अग है। शुक्लजी के पूर्ववर्ती आलोचको का ध्यान भी इस ओर जाता रहा है, पर वर्ण्य-विषय की मूल प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेषण तो शुक्लजी की ही देन है। परवर्ती आलोचको मे इस पद्धति का भी विकास हो रहा है। धीरे-धीरे रूपात्मक और तन्त्रवादी आलोचना की प्रवृत्ति तो कम होती गई है। बाद के आलोचको का ध्यान रचना के वर्ण्य-विषय तथा उसमे अभिव्यक्त बौद्धिक धारणाओ के वैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक गया है। वाजपेयी जी आदि आलोचको ने कवि के व्यक्तित्व तथा वर्ण्य-विषय की प्रकृति का ही अधिक विश्लेषण किया है।

शुक्लजी की समीक्षा अपनी पूर्ववर्ती आलोचना का पूर्णत विकसित रूप है। उनके पहले के आलोचको मे तन्त्रवादी निर्णयात्मक, तुलनात्मक, प्रशसात्मक और श्रेणी-निर्धारण की प्रवृत्तिया मिलती हैं। शुक्लजी की आलोचना मे भी ये सब तत्व सूक्ष्म रूप मे सापेक्षिक महत्व की समीचीनता के साथ उपलब्ध होते है। तन्त्रवादी समालोचना तो उसकी प्रधान विशेषता ही है। केवल निर्णयात्मक और श्रेणी-निर्धारण की प्रवृत्ति को तो शुक्लजी सम्यक् समालोचना की वस्तु नही मानते है। उनकी आलोचना मे निर्णय की प्रवृत्ति कही पर भी अत्यन्त स्पष्ट नही है। पर तुलसी की श्रेष्ठता शुक्लजी के विवेचन से अपने-आप ही अभिव्यजित होती है। शुक्लजी की समीक्षा मे निर्णयात्मक तत्व सकेत और व्यजना द्वारा ही उपलब्ध है।

---

१ डा० देवराज ने अपने 'साहित्य का मूल्य' नामक लेख मे इसके बौद्धिक पक्ष पर विचार किया है।

आचार्य स्वय निर्णायक बनने का स्पष्ट अभिमान नही करते पर उनके विवेचन की पद्धति कवि की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे पाठक की एक धारणा बनाने के लिए बाध्य कर देती है। यह धारणा आलोचक की भी होती है। इसे निर्णयात्मक समालोचना के अतिरिक्त और क्या कह सकते है ? नीति और सुरुचि का जो आन्दोलन द्विवेदी जी ने प्रारम्भ किया था, जिसका आभास भारतेन्दुजी के समय मे ही मिलने लगा था, उसका तत्कालीन साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पडा। सारा साहित्य ही नीतिवादी हो गया। उसी नैतिकता को शुक्लजी ने साहित्य-समीक्षा के मान का स्वरूप दे दिया। उस काल के साहित्य की तरह शुक्लजी की समीक्षा भी इतिवृत्तात्मक ही है। उसमे वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने की ही अधिक प्रवृत्ति है। वर्ण्य-विषय और कवि के व्यक्तित्व के स्थूल तत्वो का ही विश्लेषण अधिक हुआ है। वाजपेयी जी तथा अन्य सौष्ठववादी समालोचको ने भी कवि के व्यक्तित्व तथा वर्ण्य-विषय के स्वरूप का ही अधिक विश्लेषण किया है, पर शुक्लजी की आलोचना से उनकी प्रकृति भिन्न है। उनकी तुलना मे शुक्लजी का ध्यान स्थूल तत्वो की ओर ही अधिक गया है। शुक्लजी वस्तु की सीमाओ का अतिक्रमण करके सूक्ष्म तत्वो का अन्वेषण नही करते। इसीलिए उनकी समीक्षा इतिवृत्तात्मक मनोवृत्ति की मानी पडती है। आगे हम देखेगे कि कही कही वाजपेयी जी ने कलाकार के व्यक्तित्व और वर्ण्य विषय के अन्तस्थल मे प्रविष्ट होकर उन तत्वो की उद्भावना की है, जो हृदय की अतिक्रात अवस्था के परिचायक है। ऐसे अवसर उन्हे सूर के, काव्य-सौष्ठव, भक्ति और सास्कृतिक महत्व पर विचार करते हुए अधिक प्राप्त हुए है।

शुक्लजी की समीक्षा उनके पूर्व मे अर्थात द्विवेदी-युग के प्रारम्भ से चलती हुई परम्परा का चरम विकास है। उन्होने उस पद्धति को पूर्णत वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक कर दिया है। उनके चिन्तक व्यक्तित्व ने इस पद्धति को विकसित रूप एव स्थायित्व भी प्रदान किया है। निर्णयात्मक और तुलनात्मक तत्वो को उनकी विश्लेषणात्मक समालोचना ने पूर्णत आत्मसात् कर लिया है। उनकी वैयक्तिक रुचि परिष्कृत होकर शास्त्रीय और लोक-रुचि से अभिन्न हो गई है। अलकार-शास्त्र के सिद्धान्तो पर आधारित तन्त्रवादी समीक्षा भी विश्लेषणात्मक हो गई है। यद्यपि हम उनकी समालोचना को पूर्णत निगमनात्मक नही कह सकते, पर फिर भी समालोचना मे निगमनात्मक शैली अपनाने का प्रथम प्रयास शुक्लजी मे ही मिलता है। यह प्रयास भी अत्यन्त प्रौढ और व्यापक है। शुक्लजी ने समीक्षा की जिस विश्लेषणात्मक पद्धति को जन्म दिया है, साहित्य-समालोचना के जिन मानो को अपनाया है, उनका साहित्य-समीक्षा पर व्यापक प्रभाव पडा है। उनकी पद्धति मे ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि कई समीक्षा-प्रकारो का समन्वय है। कवि के व्यक्तित्व, तथा परिवृत्ति पर विचार करने वाले भी शुक्लजी ही पहले समालोचक है। कला, साहित्य और

जीवन के सिद्धान्तों का सूक्ष्म और तात्त्विक विश्लेषण करके उनका प्रयोगात्मक आलोचना में उपयोग भी शुक्लजी ने ही प्रारम्भ किया है। मूल्यवादी मानों पर विश्लेषणात्मक पद्धति में आलोचना का प्रथम प्रयास शुक्लजी में ही प्राप्त होता है। शुक्लजी का महत्त्व तो इसी से स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की अधिकांश समीक्षा उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट विश्लेषणात्मक और समन्वयवादी पथ का अनुसरण करके अग्रसर हो रही है। उसका विकास उसी दिशा में हो रहा है। लोक-मंगल और लोक-मर्यादा का शुक्लजी ने साहित्यिक मानों में बहुत अधिक उपयोग किया है। उनके इस मान में परवर्ती आलोचकों की शुक्लजी-जैसी आस्था नहीं रही। पर जीवन में सदाचार की प्रेरणा देने वाले साहित्य की उत्कृष्टता सभी आलोचकों को मान्य है। कला की समीक्षा में जीवन की उपयोगिता को स्थायी स्थान प्राप्त हो गया है। शुक्लजी की वैधानिक समालोचना को तो बहुत-से परवर्ती आलोचकों ने बहुत अधिक अपनाया है। हाँ शुक्लजी-जैसी गम्भीरता का प्रायः अभाव ही है। शुक्लजी तक तो साहित्य-समीक्षा का विकास एक निश्चित सरणी का अवलम्बन करके हुआ है। उसमें सभी प्रकार की आलोचना-पद्धतियों का समन्वय रहा है। पर उनके बाद समालोचना विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गई। शुक्लजी की समालोचना के बहुत-से तत्त्व एक पृथक् सम्प्रदाय का रूप धारण कर गए। इस प्रकार आधुनिकतम समालोचना ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि कई-एक विचार-धाराओं सम्प्रदायों और शैलियों में विभाजित होकर विकसित हो रही है। इन सभी प्रणालियों के साथ मूल्य और वैधानिकता का संयोग करके चलने वाली भी एक पद्धति है जिसको हम शुक्ल-सम्प्रदाय कह सकते हैं। समन्वयवादी सभी समालोचक शुक्ल-सम्प्रदाय के नहीं हैं। इन सम्प्रदायों के विभिन्न समालोचकों में कुछ पारस्परिक अन्तर भी हैं। आगे हम इन विभिन्न सम्प्रदायों का अध्ययन करेंगे।

शुक्लजी ने एक तरफ परम्परा-प्राप्त पद्धति को वैज्ञानिक बनाकर विकास की चरम सीमा पर पहुँचा दिया, दूसरी तरफ उन्होंने समीक्षा की एक स्थायी पद्धति को जन्म दिया, जिसका अवलम्बन करके समीक्षा इतनी विकसित हो रही है। उन्होंने साहित्य-समीक्षा को एक नवीन दृष्टिकोण ही प्रदान कर दिया। उन्होंने कला को जीवन की दृष्टि से देखने के लिए बाध्य कर दिया। उनकी समीक्षा में उन पद्धतियों और मानों की उद्भावना है, जिनमें से एक-एक का अवलम्बन करके नवीन सम्पन्न सम्प्रदाय खड़े हो गए। उनके साहित्यिक मानों ने परवर्ती आलोचकों को नवीन मानों को खोजने की प्रेरणा प्रदान की है। शुक्ल ने समीक्षा में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। आज तक की समीक्षा के विकास का श्रेय शुक्लजी को देना उनके कार्य का उचित मूल्य आँकना है। शुक्लजी हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के विकास में

उस अवस्था के द्योतक है, जिसमे आलोचना की एक पद्धति अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है तथा परवर्ती काल की अनेक पद्धतिया और शैलिया उसी से स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करके विकसित होती है । आज तक की हिन्दी-समीक्षा के शुक्ल जी आधार-स्तम्भ है । उन्होंने जो सैद्धान्तिक आधार, मान और शैली प्रस्तुत की है, आज तक का सारा विकास व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर उसी का बहुत-कुछ आधार लेकर चल रहा प्रतीत होता है । शुक्लजी का सैद्धान्तिक विवेचन भारतीय प्रौढ विचार-धारा पर अधिष्ठित है इसलिए अब तक की समीक्षा का वह मूलभूत आधार है । आलोचना के तथाकथित नवीन सम्प्रदाय अभी तक कोई ऐसा प्रौढ साहित्य-दर्शन नही दे सके । उसके अभाव मे विकास मौलिक नही कहा जा सकता । शुक्लजी के सैद्धान्तिक निरूपण मे युग के व्यापक साहित्य-दर्शन के आधार तत्व है, इसलिए ये केवल उनकी वैयक्तिक मान्यता नही है, अपितु उनका युग-प्रतिनिधि रूप भी इन सिद्धान्तो मे अत्यन्त स्पष्ट है । प्रस्तुत निबन्ध मे शुक्लजी के सैद्धान्तिक विवेचन के इतने विशद निरूपण का प्रधान कारण भी यही है ।

: ६ :

शुक्लोत्तर समीक्षा

काव्य और कला कवि एव उसके काल के चिन्तन प्रभाव से अस्पृष्ट नही रह सकते। कला-कृति अपने निर्माण-काल की जीवन-सम्बन्धी धारणाओ की ही हृदय पूर्ण एव अनुभूतिमय अभिव्यक्ति है। ये विचार-धाराएँ एक प्रकार से काव्य के उपादान कारण है। कवि के व्यक्तित्व के अन्तस्तल म आलोचना का स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसीलिए मैथ्यू आर्नल्ड कविता को जीवन की आलोचना कहते है। जीवन की आलोचनात्मक धारणाओ मे काव्य-विकास की प्रेरणा और दिशा-निर्देश की क्षमता अन्तर्हित है। इस आलोचना के अतिरिक्त काव्य की गति-विधि का नियन्त्रण करने वाली एक और शक्ति है। वह भी एक प्रकार से प्रेरणा मे ही अन्तर्भूत है। प्रत्येक युग मे जीवन के साथ ही साहित्य के स्वरूप और उद्देश्य-सम्बन्धी धारणाएँ भी होती है। जीवन और साहित्य के सम्बन्ध की एक कल्पना कवि और युग मे व्याप्त रहती है। उसीके अनुकूल साहित्य का निर्माण होता है। जीवन के व्यापक स्वरूप मे साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की धारणा भी अन्तर्भूत रहती है। इस प्रकार ये दोनो काव्य के स्वरूप का निर्धारण करने वाली प्रेरणाएँ है। साहित्य की शैली और स्वरूप का नियन्त्रण विशेषत दूसरी प्रेरणा से होता है। साहित्य मे अनुभूति की प्रधानता हो अथवा कल्पना की, चमत्कार की अधिकता हो अथवा भावात्मक की, अलकारिकता हो अथवा रसात्मकता, इन सभी दिशाओ का निर्देश तत्कालीन साहित्य-सम्बन्धी धारणाओ मे ही होता है। किसी भी युग के साहित्य के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है।

रीतिकालीन जीवन मे स्फूर्ति और कर्म-शक्ति का अभाव था। उस काल के साहित्यकार अन्य अनेक साधनो की तरह काव्य और कला को भी मनोरजन का साधन मानते रहे। उनकी दृष्टि मे काव्य का कार्य विचित्र कल्पनाओ तथा अलकारिक एव चमत्कारपूर्ण प्रयोगो से पाठक के मन को बहलाना-मात्र था। द्विवेदी-काल की कविता सुरुचि और सुनीति का सदेश लेकर चली। कविता का

जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकृत हुआ। उसमें चमत्कार के स्थान पर भाव और विचार की प्रधानता हुई। इन दोनों कालों की कविता के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन कालों में काव्य की स्पष्टत दो धारणाएँ थीं। इसीलिए काव्य के विषय शैली, भाषा, उद्देश्य आदि सभी वस्तुओं में पर्याप्त अन्तर है। इन कालों से मूलत भिन्न दो प्रेरणाएँ ही अन्तस्तल में प्रवाहित हो रही थीं और उन्हींके कारण परस्पर पर्याप्त भिन्न दो प्रकार के साहित्यों का सृजन हुआ है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है साहित्य की किसी विशेष धारा के विकसित होने के पूर्व उससम्बन्धी धारणाओं का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह आलोचना का वह स्वरूप है जो साहित्य-सृजन की प्रेरणा देने वाला है। पर काव्य के विकास के साथ-साथ इसका स्वरूप स्पष्ट और पुष्ट होता जाता है। पर्याप्त लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्माण के उपरान्त ही एक आलोचना-पद्धति का सर्वाङ्गीण और पुष्ट रूप हमारे समक्ष उपस्थित हो पाता है। इसलिए यह कहना भी अनुचित नहीं है कि एक काल का सृजनात्मक साहित्य ही तत्कालीन समीक्षा-पद्धति को जन्म देता है। साहित्य की मूलभूत दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं और यही साहित्य के विकास का मूल मन्त्र है। कल्पना अथवा प्रतिभा के दो स्वरूप—कारयित्री और भावयित्री—निरन्तर विद्यमान रहते हैं। ये दोनों प्रतिभाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। भावयित्री प्रतिभा का क्रियात्मक रूप ही आलोचना है और कारयित्री के साथ-साथ इसके स्वरूप में भी विकास होता रहता है।

काव्य-सम्बन्धी इन धारणाओं के आधार पर, जो वर्तमान हिन्दी-साहित्य की विभिन्न धाराओं के वर्ण्य, विषय, शैली आदि के स्वरूप को निश्चित करने में उत्तरदायी है, जो साहित्य का व्यक्ति और समाज से सम्बन्ध निश्चित करती है, जो साहित्य के विभिन्न युगों और धाराओं का दिशा-निर्देश करती है। ऐसी धारणाओं के आधार पर वर्तमान हिन्दी-साहित्य-समीक्षा को चार प्रधान सम्प्रदायों या विचार धाराओं में बाँट सकते हैं। इन्हें समीक्षा की चार पद्धतियाँ भी कहें तो कोई आपत्ति नहीं। हिन्दी की वर्तमान समीक्षा चार प्रधान पद्धतियों में बाँटी जा सकती है— १ शुक्ल-समीक्षा-पद्धति, २. सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी (Romantic), ३ मनोविश्लेषणात्मक, तथा ४ मार्क्सवादी या प्रगतिवादी। आज की समीक्षा में इन चारों का अपना पृथक् अस्तित्व अत्यन्त स्पष्ट है। लेकिन वे एक-दूसरे से केवल अंशत ही भिन्न हैं। इन सबमें कुछ समताएँ भी हैं। ये पद्धतियाँ परस्पर में पर्याप्त आदान-प्रदान करती रही हैं। वस्तुत इन सबमें विकास की एक क्षीण परम्परा भी है, जो सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा स्पष्ट हो जाती है। आगे हम विकास के इन क्षीण तन्तुओं का भी उद्घाटन करेंगे।

यहां इन पद्धतियों में समन्वय की एक आकांक्षा भी है। इसके परिणाम स्वरूप एक समन्वयवादी समीक्षा पद्धति का स्वरूप संगठन की भावी संभावनायें भी स्पष्ट हो रही हैं। प्रयोगात्मक समीक्षाओं में इन चारों का सम्मिश्रण भी हुआ है। पर अभी किसी समन्वयवादी सम्प्रदाय का जन्म नहीं हुआ है जिसके कोई पृथक साहित्य-दर्शन और समीक्षा-पद्धति मानी जा सके। यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण और असमीचीन नहीं है कि शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति के कुछ तत्व युग, साहित्य और समाज तथा कतिपय बाह्य प्रेरणाओं के फलस्वरूप विकसित होकर इन विभिन्न स्वतन्त्र पद्धतियों का रूप धारण कर गये हैं। कुछ तत्वों का विकास पद्धति की उस सर्वाङ्गीण गरिमा तक तो नहीं पहुँच पाया कि वे एक विशेष विचार-धारा या सम्प्रदाय का रूप धारण कर जाते, परन्तु वे एक शैली विशेष के रूप में अवश्य प्रतिष्ठित हो गए। ऐतिहासिक दार्शनिक, चरितमूलक आदि आलोचनाएं इस कोटि की हैं। इन शैलियों में विशेष प्रकार के साहित्य के सृजन की व्यापक प्रेरणा, शैली, वर्ण्य-विषय आदि सबके लिए पृथक मापदण्ड का अभाव है। इसलिये इनको पद्धति न मानकर शैली कहना ही मुझे उचित जान पड़ा है। दूसरे इनमें से कुछ शैलियों का उपयोग प्रायः सब प्रकार के आलोचकों ने किया है। आलोचना की कुछ शैलियां ऐसी हैं जो विकसित होकर एक विशेष सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेती हैं। कुछ शैलियों एक विचार-धारा का विशेष प्रकार का विकास हैं। प्रभावाभिव्यंजक और अभिव्यंजनावादी आलोचनाएं सौष्ठववादी विचार-धारा के ही विकास हैं। ऐतिहासिक समालोचना ही विशेष राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण नवीन भौतिकवादी दार्शनिक विचार-धारा का आश्रय प्राप्त कर मार्क्सवादी बन गई। मनोवैज्ञानिक समीक्षा में मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली की ही प्रेरणा है। पर इन सब में वह सर्वाङ्गीणता नहीं है, जिससे उनको पृथक सम्प्रदाय अथवा विचार-धारा माना जाय। इस प्रकार हिन्दी में उपर्युक्त केवल चार को पद्धति तथा शेष को शैली-मात्र मानने के कारण स्पष्ट है।

शुक्लजी की समालोचना-पद्धति पर विशद रूप से विचार हो चुका है। हम उनके युगान्तरकारी रूप का भी पर्याप्त विवेचन कर चुके हैं। पिछले अध्याय में हमने यह भी देख लिया है कि शुक्लजी की समीक्षा भारतेन्दु और द्विवेदी-काल में प्रारम्भ होने वाली समीक्षा-पद्धति को विकास की चरम सीमा पर पहुँचाने वाली है। शुक्लजी ने हिन्दी-समीक्षा को सर्व प्रथम वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। इनके पहले के प्रयास साहित्य के सामान्य परिचय के साथ निन्दा-स्तुति-मात्र थे। उनमें अनुमोदन और श्लाघा का हल्कापन ही रहा है। सौंदर्य से मुग्ध होकर कुछ प्रशंसा कर देना मात्र आलोचना नहीं है। उसमें सौंदर्य-तत्वों का विश्लेषण भी अपेक्षित है। इस विश्लेषण-पद्धति के अनुसरण के कारण ही हिन्दी-समीक्षा का विकास एक निश्चित पथ का

अवलम्बन करके आगे बढ़ सका है। काल की दृष्टि से आज भी शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति मान्य है। विश्वविद्यालयों से निकले हुये स्नातक एवं वहां के आचार्य लोग इसी पद्धति का अवलम्बन करते हैं। कवि और कला-कृति के सम्यक् और सर्वाङ्गीण ज्ञान के लिए अभी यही पद्धति पूर्ण मानी जाती है। शेष सारी पद्धतियां अभी तक अपूर्ण हैं। सारी पद्धतियों का तत्व एकत्र करके कला-कृति के मूल्याकन की प्रवृत्ति भी हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रबल हो रही है। उस पद्धति का साहित्य दर्शन, मानदण्ड और शैली इतने व्यापक हैं कि उनको आधार-भूत मानकर शेष पद्धतियों और शैलियों का सफल उपयोग हो सकता है।

प्रस्तुत समीक्षा-पद्धति के आलोचकों की संख्या सबसे अधिक है। इन आलोचकों में से बहुत कम में शुक्लजी-जैसी सूक्ष्म और मौलिक विवेचन-शक्ति तथा उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता है। उन्होंने शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट पथ का अवलम्बन करने में स्थूल वस्तुओं को ही ग्रहण किया है। इसीलिये इनमें अलंकार, रस आदि के निर्देश अथवा विद्या के भेदोपभेदों के निरूपण की ही प्रवृत्ति अधिक है, फिर भी स्थूल रूप में उसी मापदण्ड और शैली को अपनाने के कारण उन्हें इस शैली का समीक्षक कहना समीचीन जान पड़ता है।

सुरुचि और नैतिकता—शुक्लजी वर्णाश्रम-धर्म और लोक-मर्यादा के समर्थक थे। राम का चरित्र ही उनके लिए चरित्र का सर्वोत्कृष्ट आदर्श था। वे काव्य का उद्देश्य उसी आदर्श पर चरित्र विकास करना मानते थे। चरित्र और नैतिकता में राम का-सा आदर्श लेकर चलने वाले कवि ही उनकी दृष्टि में सर्वोत्कृष्ट हैं। वर्णाश्रम से उनका तात्पर्य प्राचीन हिन्दू-धर्म की रूढ़ियों से नहीं। उन्होंने इसे व्यक्ति के समाज के प्रति उत्तरदायित्व और कर्तव्य परम्परा के अर्थ में ग्रहण किया है। वे इसमें आधुनिक नवीन सामाजिक आदर्शों का भी बहुत-कुछ समावेश कर सके थे। पर अनैतिकता और चरित्र-हीनता तक पहुँच जाने वाला व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उन्हें मान्य नहीं था। इस प्रकार का स्वातन्त्र्य अव्यवस्था फैलाने वाला होता है। इनकी नैतिकता-सम्बन्धी धारणा का हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहां पर तो केवल थोड़ा निर्देश भर कर दिया गया है। शुक्ल-पद्धति को अपनाने वाले समीक्षक नैतिकता के उसी रूढ़ रूप का ग्रहण नहीं कर रहे हैं। शुक्ल जी की व्यवहारिक आलोचना का प्रधान क्षेत्र तुलसी तथा उसमें भी 'मानस' ही विशेष रूप से रहा। इस लिए उनका लोक-मर्यादा के उत्कृष्ट आदर्श लेकर चलना बहुत-कुछ स्वाभाविक भी था। पर उनके परवर्ती आलोचकों को अपने समकालीन उपन्यासकारों, कवियों और नाटककारों की आलोचना करनी पड़ी। इसलिए अपनी नैतिकता-सम्बन्धी धारणा को उस उत्कृष्ट धरातल पर रखना उनके लिए सम्भव नहीं था। गुप्तजी, प्रेमचन्द जी आदि में नैतिक आदर्शों के प्रति प्रेम अवश्य है, पर मानव की दुर्बलता की उपेक्षा

नही है। 'मानस' के उच्च आदर्श का निर्वाह युगानुकूल नही है। इस काल मे जिस सुरुचि, नैतिकता और आदर्शवादिता को आश्रय मिला है, जिसने काव्य और आलोचना दोनो को प्रभावित किया है, उन सबसे निर्मित आदर्श को हम ईश्वरीय और अलौकिक नही कह सकते। वह मानवीय है। उसका सम्बन्ध वर्तमान समाज और व्यक्ति से है। उनकी यदार्थ अवस्था का साधारण-सा युगानुकूल रूप ही आज का आदर्श है। प्रेमचन्द जी के शब्दो मे यह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। आज का कवि और आलोचक जीवन के इसी आदर्श और नैतिकता के लौकिक और मानवीय रूप को ग्रहण करके अग्रसर हुआ है। बस, इसी आदर्शवादी और नैतिक दृष्टिकोण के दर्शन हमे इस पद्धति के आलोचको मे होते है। इन आलोचको को साहित्य की नैतिक उपयोगिता अवश्य मान्य है। हम तो यही समझते है कि आदर्शवाद के बिना लोकोपयोगी साहित्य का निर्माण किया नही जा सकता। जो कलाकार अपनी कला मे अपने उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा नही करता, वह और करता क्या है ?"[1] "हा, इस सम्बन्ध मे कलाकार को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाला उच्चादर्श जीवन की सत्यता और स्वाभाविकता का ध्यान न छीन ले।"[2] आलोचक जीवन की स्वभाविकता तथा सत्यता से अपनी नैतिकता के मान्य धरातल को स्पष्ट कर रहा है। उसमे राम की-सी उच्चता नही रह सकती। इस पुस्तक के लेखक ने अपना नीतिवादी दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। इस पद्धति की विचार-धारा के ये स्थल प्रतिनिधित्व रहे है। वे 'सुमन' वेश्या के चरित्र-चित्रण मे सयम और शिष्टता का उल्लघन न करने के कारण लेखक की प्रशंसा करते है। यह प्रशंसा भी केवल नीतिवादी दृष्टिकोण को अपनाने के कारण ही है, अन्यथा आलोचक इसमे स्वाभाविकता और सजीवता का अभाव भी देखता है। सभी समालोचको ने ऐसे विचार व्यक्त तो नही किये, पर उनकी समालोचना पर इसकी स्पष्ट छाप है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता है। सुरुचि और नैतिकता इस युग के साहित्य की मूल प्रेरणा है। साहित्य के सृजन और भावन दोनो ही पर नीति का पूर्ण नियन्त्रण है। नीति का एक सामान्य धरातल स्वीकार करते हुये कवियो और आलोचको की नीति-सम्बन्धी अपनी वैयक्तिक धारणाए भी है और इनका साहित्य पर प्रभाव पडा है। प्रेमचन्द जी और गुप्तजी का नीतिवादी दृष्टिकोण एक नही है।

नीति के उपदेश की वृत्ति के अनुकूल इन समालोचको ने मुक्तक और गीत की अपेक्षा महाकाव्य को अधिक महत्व प्रदान किया है। साहित्य को जीवन-व्याख्या

१. 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', पृष्ठ १६५-१६६।
२. वही।

मानना तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त का समर्थन करने का यह स्वाभाविक परिणाम है। ये दोनो सिद्धान्त भी इन आलोचको को पूर्णत मान्य है। नीति और मुक्तक मे आत्माभिव्यंजना की प्रधानता होती है। जीवन की सम्पूर्णता और और साधारणीकरण को स्थूल अर्थ मे ग्रहण करने वाला आलोचक व्यक्तित्व-प्रधान होने के कारण नीति-काव्य का महत्व कम आँकता है। शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को उनके अनुगामी आलोचको ने स्थूल दृष्टि से ही अपनाया। काव्य के नैतिक महत्व और महाकाव्य की श्रेष्ठता-सम्बन्धी धारणाए तो जड रूप मे ही मान्य हो गईं। इसीलिए उनकी आलोचना मे शास्त्रीय तत्वो के साथ वैयक्तिक रुचि की भी प्रबलता रही। ऐसी ही कुछ रुचियो के उदाहरण दिये जा सकते है—यथा केशव, कबीर आदि तथा प्राय सभी रीतिकालीन कवियो का महत्व अपेक्षाकृत कम मानना, जायसी की अपेक्षा कबीर मे प्रकृत रहस्यवाद तथा कवित्व-शक्ति का अभाव, तुलसी की तुलना मे सूर की हेयता आदि। इन मान्यताओ मे कुछ तो ऐसी है जिनका खडन बाद मे स्वय शुक्लजी ने ही किया। शुक्लजी ने सूर-सम्बन्धी अपनी मान्यताओ को बदला और उन्हे भी सूर मे अत्यन्त प्रौढ कवित्व के दर्शन हुए। सूर की कविता पर जो विचार शुक्लजी ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका मे उद्धृत किए थे, उनको उनके समकालीन व्यक्ति भी नही मान सके। प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन विचारो के खडन मे अत्यन्त प्रौढ़ काव्य-मर्मज्ञता का परिचय दिया है।[1] डा० सत्येन्द्र ने भी कई स्थानो पर सूर की सुन्दर कवित्व-शक्ति तथा हिन्दू-धर्म और सस्कृति के अनुकूल चित्रण करने की क्षमता को स्पष्ट किया है।[2] ऐसे ही डा० रामकुमार वर्मा तथा प० हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्लजी के कबीर-सम्बन्धी विचारो से सहमत नही हो सके। प० भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' ने कबीर की भावुकता और हृदयस्पर्शिता का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है। प० जगन्नाथ जी तिवारी को भी केशव की कला और भाव-प्रबलता को हिन्दी-साहित्य के समक्ष स्पष्ट करने के लिए लेखनी उठानी पडी। 'राम चद्रिका' की भूमिका लिखकर उन्होने केशव की कवित्व-शक्ति पर नया प्रकाश डाला है तथा कवि को नितान्त अवहेलना से बचा लिया है। प० चन्द्रबली पाडेय शुक्ल जी की मान्यताओ से सर्वत्र सहमत नही है। कहने का तात्पर्य है कि शुक्लजी की नीति-सम्बन्धी धारणा को सिद्धान्तत मानते हुए भी उनके सम्प्रदाय के ही अधिकाश समीक्षक उसकी सीमाओ और रूढियो मे पूर्णत आबद्ध नही रहे। रस और नीति के नाम पर शुक्ल-सम्प्रदाय के आलोचको ने कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण विचार प्रकट कर दिए थे। बहुत-से तो उनकी सत्यता मे अक्षरश.

---

१ 'सूर-सदर्भ' की भूमिका।

२ 'गुप्त जी की कला।'

विश्वास करते रहे। पर कतिपय विद्वानों को यह अरुचिकर प्रतीत हुआ है और उन्होंने निर्भयतापूर्वक इन विचारों का खंडन किया है। (हा, कुछ ने मौलिकता के मोह में भी ऐसा कर दिया है) उपर्युक्त सभी विद्वान् शुक्लजी की समीक्षा से प्रभावित ही नहीं अपितु उनकी विचार-धारा और शैली के पर्याप्त ऋणी भी है। इनमें से बहुत-सों की आलोचना का प्रधान अंश शुक्ल-पद्धति में ही अन्तर्भूत भी है।

वैधानिकता या तंत्रवादिता—इस कोटि की समालोचना की दूसरी प्रमुख विशेषता वैधानिकता (Technicality) है। आचार्य शुक्ल की समीक्षा पर विचार करते हुए हमने यह देखा है कि आचार्य प्रभाववादी अथवा वैयक्तिक समालोचना को वस्तुतः समालोचना ही नहीं मानते। उन्हें समालोचना के लिए एक विशेष मानदंड की अनिवार्यता पूर्णतः मान्य है। वे यह भी मानते हैं कि इस मानदण्ड का आधार यथासंभव शास्त्रीय होना चाहिए, पर शुक्ल जी इसके साथ ही मौलिक चिन्तन की स्वतन्त्रता के भी पक्षपाती है। आलोचक को शास्त्रीय तत्वों में कुछ घटाने-बढ़ाने अथवा उनका नवीन अर्थ ग्रहण करने की स्वतन्त्रता अवश्य प्रदान करते है। शुक्ल जी ने स्वयं इस स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग किया है। पर शास्त्रीय मानदण्ड से निरपेक्ष वैयक्तिक समीक्षा को वे समीक्षा नहीं कहते। इसीलिए उनसे प्रभावित तथा उनकी पद्धति के आलोचक शास्त्रीय मानदण्ड का उपयोग करते है। उन्हें समीक्षा के शास्त्रीय आधार का सिद्धांत मान्य है। इस कोटि के सभी आलोचकों ने शास्त्रीय तत्वों का उपयोग किया है। इसीलिए इनकी आलोचना प्रधानतः निर्वैयक्तिक और वस्तु-तन्त्रात्मक ही मानी जायगी। शुक्लजी के मान में भारतीय और पाश्चात्य तत्वों का सम्मिश्रण है और वे तत्व एक-दूसरे से ऐसे घुल-मिल गए है कि दोनों का पृथक् अस्तित्व ही स्पष्ट नहीं है। उनके अनुयायी आलोचकों ने दोनों प्रकार के तत्वों का उपयोग किया है। उनका तन्त्र न विशुद्ध भारतीय कहा जा सकता है और न पाश्चात्य, उसमें भी दोनों का मिश्रण है, पर वे शुक्लजी की तरह समन्वय नहीं कर सके है। दोनों तन्त्रों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्पष्ट है। उन्होंने रस, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का भी उपयोग किया है तथा साथ ही वे कल्पना, अनुभूति, सत्य, शिव सुन्दरम् आदि पाश्चात्य तत्वों को मूल रूप में ग्रहण कर लेते है।[1] बाबू श्यामसुन्दरदास जी में भी वह दोनों परम्पराएँ पृथक्-पृथक् है। इस पद्धति के अधिकांश समालोचकों ने इस बात में बाबूजी का ही अनुकरण किया है, यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा। पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र के तत्वों से परिचय कराने तथा उनका काव्य-समीक्षा में इतने अधिक प्रयोग की प्रेरणा उनके 'माहित्या-

१ 'गुप्तजी की काव्य-धारा'—गिरीश।

लोचन' से ही मिली है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।[1] विश्वविद्यालयो मे इसके अध्ययन से छात्र इन तत्वो से परिचित होकर अपनी व्यावहारिक समालोचना मे इसका पर्याप्त प्रयोग भी करते थे। समालोचनाओ को प्रौढ, सर्वांगीण तथा विशेषत परीक्षोपयोगी बनाने के लिए इनका उपयोग नितान्त आवश्यक भी है। आज भी यह धारा उसी रूप से चल रही है। आज का समालोचक अन्य पद्धतियो के विकास से लाभ उठाने के लोभ का भी सवरण नही कर सकता है और यह समीचीन भी है। इसके फलस्वरूप हिन्दी मे समन्वयवादी समालोचना का विकास हो रहा है। लेकिन इसका भी मूल आधार शुक्ल-पद्धति ही है। यह समन्वयवादी प्रवृत्ति ही हिन्दी-समीक्षा का आधुनिकतम और प्रतिनिधि रूप है।

कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि की कुछ अर्वाचीन काव्य-विधाएँ पश्चिम से ही आई है और वे अपने साथ समालोचना का एक विशेष मानदड भी लाई है। इनके सम्बन्ध मे जो-कुछ सैद्धान्तिक निरूपण हुआ है, उसका आधार पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र ही है। हिन्दी मे इन तत्वो के विश्लेषण के साथ ही रस आदि की भी व्याख्या होने लगी है। इस प्रकार इन विधाओ पर भी रस आदि भारतीय तत्वो की दृष्टि से थोडा विचार हुआ है। दोनो विचार-धाराओ मे सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा भी हुई है। इस समीक्षा-पद्धति मे इस दिशा के प्रयासो के स्पष्ट दर्शन होते है। लेकिन अभी इसका प्रारम्भ ही है, बहुत प्रगति नही हो पाई है। उपन्यास, कहानी और निबन्ध की समीक्षा का मान और शैली अधिकतर पाश्चात्य आधार पर ही विकसित हो रहे है। कही-कही भाव और रस की बाते कर लेना वास्तविक सामजस्य नही है। उपन्यासो की आलोचना मे वस्तु, चरित्र-चित्रण कथोपकथन, उद्देश्य आदि तत्वो की दृष्टि से ही अधिक विचार हुआ है।[2] हिन्दी मे कहानियो और निबन्धो पर तन्त्रवादी समालोचना बहुत कम हुई है। वैसे इनका नितान्त अभाव तो नही है। ब्रह्मदत्त शर्मा का 'हिन्दी निबन्ध' तथा डा० सत्येन्द्र का 'प्रेमचन्द कहानी-कला' उल्लेखनीय है। ये दोनो ही प्रधानत वैधानिक समीक्षाएँ है, लेकिन कलाकारो के व्यक्तित्व तथा उनके कला-विकास की ओर भी आलोचको का ध्यान गया है, उनके प्रौढ विश्लेषण के भी दर्शन होते है। इसके अतिरिक्त कहानी और निबन्धो के सग्रहो की भूमिकाओ मे भी इन विधाओ की तात्विक समीक्षाएँ हुई हैं। डा० श्रीकृष्णलाल, शिलीमुख आदि के कहानी- सग्रहो की

---

१ 'साहित्यालोचन' का प्रथम सस्करण सं० १९२३ में हुआ था, हिन्दी-आलोचना में कल्पना, अनुभूति, सत्यं, शिव, सुन्दरम् आदि पाश्चात्य पदावली का प्रयोग उसके अनन्तर ही मिलता है।

१ देखिये 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला', जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'।

भूमिकाएँ इसके प्रौढ उदाहरण है।

काव्य-ग्रन्थो और कवियो पर इस कोटि की जितनी भी समालोचनाएँ हुई हैं, उन सभी मे रस, अलकार, आदि की दृष्टि से ही अधिक विचार हुआ है। कुछ मे तो रस आदि के उदाहरण-मात्र ही दे दिए गए है।[1] लेकिन अधिकाश समालोचको ने भावो और अलकारो की निरूपणात्मक अनुभूतिमय पद्धति का ही अनुसरण किया है। इस आलोचना मे कवियो की अलकार, भाव या रस-निरूपण-पद्धति की सामान्य प्रवृत्तियो का भी प्रतिपादन किया गया है। वस्तुत. इसकी दूसरी पद्धति को ही आलोचना माना जाना चाहिए। शुक्लजी ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। पहले प्रकार का तो टीका-पद्धति मे अन्तर्भाव हो जाता है। पहले प्रकार की समालोचना को व्याख्यात्मक न कह कर परिचयात्मक अधिक कहना चाहिए। त्रिपाठीजी सर्वत्र परिचयात्मक नही है। अनेक स्थलो पर विश्लेषणात्मक भी है। सामान्य प्रवृत्तियो को स्पष्ट करने तथा समीक्षा की सर्वांगीणता के लिए कुछ फुटकर उदाहरणो—अलकार, भाव आदि का निर्देश भी अपेक्षित है। शुक्ल-पद्धति के सभी आलोचको ने इस शैली को अपनाया है। दूसरी पद्धतियो ने अन्य तत्वो के साथ इसको भी ग्रहण किया है। वैधानिक समालोचना का बहुत सुन्दर और प्रौढ उदाहरण प० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी द्वारा लिखित 'महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास' है। इसमे लेखक ने आचार्य विश्वनाथ के महाकाव्य-सम्बन्धी मत का विस्तार पूर्वक उल्लेख करके, उन्ही तत्वो के आधार पर आलोच्य रचना का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन किया है। उन्होने उस मानदड के आधार पर कवि की महाकाव्य रचने की कुशलता की परीक्षा की है। अलकार, रस आदि के अतिरिक्त लेखक ने कवि द्वारा प्रयुक्त वृत्तो की भी परीक्षा की है। उनकी उपयुक्तता को भी आँका है। इतना ही नही आलोचक पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तो का उपयोग करना भी नही भूले है। उन्होने तीन अन्वितियो (Three unities of Drama) और कल्पना-तत्व की दृष्टि से भी रचना का विश्लेषण किया है। 'हरिऔधजी' ने 'प्रिय-प्रवास' मे कई ऐसे प्रसगो और पद्यो का निर्माण किया है जिनमे कल्पना की उडान (Flights of imagination) प्रचुर परिमाण मे पाई जाती है। दृष्टान्त रूप मे हम षष्ठ सर्ग का प्रकरण ले सकते है।[2] चरित्र-चित्रण की विशेषताओ पर विचार करते समय भी आलोचक के समक्ष पाश्चात्य विचार-धारा ही रही है। उसीका उन्होने विशेष उपयोग किया है। 'किन्तु प्रेम के इस विकास मे, अन्तर्द्वन्द्व के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे जिस भावना-क्रम

१. प० रामनरेश त्रिपाठी, 'तुलसीदास', दूसरा भाग, अलकार-निरूपण।

२. 'महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास', पृष्ठ ८७।

(मोटीवेशन) की आवश्यकता है, उसका 'प्रिय प्रवास' मे अभाव है।[1]

शास्त्रीय तत्वो को समीक्षा का आधार-भूत मानकर चलने के कारण इस कोटि के समालोचको मे काव्य के भेदोपभेदो के निरूपण की प्रवृत्ति के दर्शन होते है। सस्कृत के प्राचीन आचार्यो की तरह ये भी प्रत्येक विधा के सूक्ष्म भेद करके चलना चाहते है। गीतिकाव्य, निबन्ध, कहानी आदि के अनेक अवान्तर भेद स्वीकृत हुए है, और उनको आधार मानकर आलोचना भी हुई है। इस पद्धति का आलोचक प्रत्येक रचना को किसी-न-किसी वर्ग अथवा उसके उपभेद मे रख देना चाहता है और उसी के अनुसार कला-कृति की सफलता अथवा असफलता आकता है। इन भेदोपभेदो की प्रवृत्ति से डा० रामकुमार वर्मा, डा० कृष्णलाल, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-जैसे सधे हुए और साहित्य-मर्मज्ञ समालोचक भी मुक्त नही रह सके है। डॉ० श्रीकृष्णलाल ने गीति-काव्य के पाच भेद किये है—व्यग-गीति आदि।[2] इसी तरह उन्होने कहानी के भी कई भेद माने है। यह कहने की कोई विशेष आवश्यकता नही है कि यह बहुत ही स्थूल दृष्टि है। कवि किसी वर्ग अथवा कला के नियमो को ध्यान मे रखकर नही चलता। वह अपनी अभिव्यक्ति मे इन बाह्य नियन्त्रणो से पूर्णतः मुक्त रहता है। वह नाटक के नियमो अथवा उसके किसी उपभेद की सीमाओं को ध्यान मे रखकर सृजन नही करता। अत उसकी कृति का किसी भी एक काव्य-विधा का आदर्श उदाहरण हो जाना केवल आकस्मिक है। इससे उसकी कला-कृति के वास्तविक सौन्दर्य मे कोई अन्तर नही पडता। यह केवल बाह्य और स्थूल तत्व है उसकी अवहेलना कोई बहुत महत्वपूर्ण नही। काव्य और कला सर्वथा स्वच्छन्द नही होते। उनके भी नियम होते है। नियमो का बाहर से आरोप नही अपितु कला-कृति मे स्वत व्यक्त नियमो के आधार पर मूल्याकन ही सच्ची समालोचना है। आलोचक का कार्य कला के आभ्यन्तर से, उनकी आत्मा से, परिचित होना है न कि बाह्य शरीर-मात्र का विश्लेषण करना। हृदयस्पर्शी और मार्मिक चित्रो द्वारा कवि पाठक को कितना रसाक्षिप्त कर सका है, उसके व्यक्तित्व को कितना प्रभावित कर सका है, यह जाचना, इसकी सफलता की मात्रा आकना, आलोचक का कार्य है। पर फिर भी विधाओं की दृष्टि से काव्य के अध्ययन का भी समीक्षा के क्षेत्र मे विशेष महत्व है ही। शुक्लजी मे उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता थी, पर उनके अनुगामी आलोचको मे से बहुत कम इतनी उत्कृष्ट काव्य-रसज्ञता का परिचय दे सके। छाया-वादी युग मे इस आलोचना-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने का एक बहुत बडा कारण यह

१. वही।

२ देखिये 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास'।

इसी स्थूल दृष्टि के कारण इस पद्धति के कुछ आलोचक आलोच्य रचना की भावानुभूति के सौन्दर्य और हृदय-स्पर्शिता को स्पष्ट करने मे बहुत अधिक सफल नही हुए है। वे काव्य की अन्तरात्मा तक न पहुँचकर उसके बाहर-ही-बाहर घूमते रहे है। वे कवि के वर्ण्य-विषय की स्थूल जाच करते है, उनकी अनुभूति की तीव्रता और सचाई तथा सफलता की परख नही करते। जीवन की व्यापकता का तात्पर्य उनके लिए उसकी विभिन्न दशाओ और अवस्थाओ का वर्णन-मात्र है। कवि उन दशाओ के साथ अपना कितना तादात्म्य स्थापित कर सका है और उसकी अभिव्यक्ति मे पाठक मे तादात्म्य उत्पन्न करने की कितनी क्षमता है, आदि प्रश्नो की ओर बहुत कम आलोचको का ध्यान गया है। यही कारण है कि इस कोटि के अधिकाश आलोचको की समीक्षा स्थूल, और वस्तु-तन्त्रात्मक ही रही है। शुक्लजी के दृष्टिकोण के अन्तस्तल तक पहुँचकर उसकी आत्मा को ग्रहण न कर सकने का ही यह दुष्प्रभाव है। पद्माकर की कल्पना अथवा भाव-राज्य के क्षेत्र को बहुत व्यापक कहने का तात्पर्य केवल यही है कि उन्होने बहुत-से विषयो पर मुक्तक रचनाएँ की है। उनमे कितनी मार्मिकता है, जीवन की कितनी गहराई मे कवि की पैठ है, इन दृष्टिकोणो से आलोचक ने देखने का प्रयास ही नही किया। इसीका परिणाम है कि आलोचको ने अपनी पुस्तक के अध्यायो के नाम ही नेत्र, प्रेम आदि रखे है। ऐसी समीक्षा केवल परिचयात्मक ही है। उनमे आलोचना की सूक्ष्मता और प्रौढता के दर्शन नही होते।

इन्ही कारणो से इस पद्धति की आलोचना मानदड का आरोप करने वाली अत्यधिक वस्तु-तन्त्रात्मक और कही-कही बहुत ही स्थूल प्रतीत होती है।

कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन:—"गुण-दोष-कथन से आगे बढकर कवियो की विशेषताओ और उनकी अन्त प्रवृत्ति की छान-बीन की ओर ध्यान दिया गया।"[1] आलोचना के विकास मे शुक्लजी की यह महत्वपूर्ण देन है। कवि की अन्त.प्रवृत्ति की छान-बीन को साहित्य-समीक्षा मे सर्व प्रथम वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का श्रेय उन्ही को है। आज तो हिन्दी-समीक्षा का यह प्रमुख तत्व हो गया है। हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी आलोचना की तो यह प्रधान विशेषता ही है। लेकिन शुक्ल-पद्धति के समालोचको मे भी इसका अभाव नही है। वस्तुत हिन्दी-समीक्षा धीरे-धीरे इसीकी ओर उन्मुख हो रही है। इस पद्धति के आधुनिक समालोचको का ध्यान भी विशेषत इसी ओर आकृष्ट हो रहा है। शुक्ल-पद्धति के समालोचको ने अपने आलोच्य कवियो की रचनाओ के पृथक् अध्ययन के साथ कवि के व्यक्तित्व को समझने-समझाने का भी पर्याप्त प्रयत्न किया है। आज की आलोचना-पुस्तको के

१. शुक्ल जी—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६३३।

नामो मे भी यह स्पष्ट हो जाता है 'गुप्त जी की काव्य-धारा', 'प्रेमचन्द जी की उपन्यास-कला', 'मीरा की प्रेम-साधना', 'प्रसाद जी की कला' आदि। इन नामो से स्पष्ट है कि आलोचक कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर सश्लिष्ट रूप से विचार करना चाहता है। वस्तु-विन्यास, रस-पद्धति, अलकार-नियोजन, चरित्र-कल्पना, जीवन की व्याख्या आदि का विश्लेषण करके कवि की सामान्य प्रवृत्तियो का उद्घाटन करना ही आलोचक का प्रधान लक्ष्य हो गया है। इसके अतिरिक्त आलोचक कवि की कृतियो के आधार पर उसकी चिन्तन-धारा का अध्ययन करने मे भी प्रवृत्त हुआ है। शुक्ल जी के पूर्व ऐसे प्रयासो की सख्या नगण्य ही है और उनमे सूक्ष्म और सश्लिष्ट विवेचन का अभाव भी है। उन्होने ही इसका भी श्रीगणेश किया है। 'हरिऔध' ने कबीर की आलोचना मे प्रधानत उनके विचारो और व्यक्तित्व को ही अधिक स्पष्ट किया है। उनकी इस पुस्तक मे कबीर की रचनाओ के काव्य-सौष्ठव का अध्ययन बहुत कम हुआ है। इसी प्रकार के अन्य प्रौढ प्रयास भी हुए है, जैसे डा० रामकुमार वर्मा तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल की कबीर और निर्गुण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी आलोचना। इन पर आगे विचार किया जायगा। सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति, दार्शनिक विचार-धारा, प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख यथार्थवादिता आदि विषयो का, जो कवि की जीवन-सम्बन्धी धारणा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, बहुत ही विशद विवेचन हुआ है। यह विवेचन भी आज की आलोचना का एक प्रमुख अंग ही हो गया है। इसके अतिरिक्त कवि की कृतियो के आधार पर कवि-स्वभाव, मानसिक धरातल आदि की ओर भी आलोचको का ध्यान गया है। रचना के आधार पर ही बौद्धिकता, भावुकता या कल्पनाशीलता का निरूपण परवर्ती विकास के आलोचको ने अधिक किया है। शुक्ल-पद्धति के आलोचको का ध्यान इस ओर अपेक्षाकृत कम गया है।

आलोचना का एक और प्रकार है। इसमे कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-धारा, कल्पना, भावुकता आदि से पहले परिचय प्राप्त कर लिया जाता है और फिर कृति के वर्ण्य-विषय, शैली, जीवन-सदेश, भाव विचार आदि का विश्लेषण होता है। आलोचक कवि के व्यक्तित्व का वह अश स्पष्ट करना चाहता है जिससे कवि को अपनी विशेष विचार-धारा, और भावात्मकता के लिए सामग्री और प्रेरणा प्राप्त हुई है। वह कवि के व्यक्तित्व और कला-कृति मे अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करता है। इस पद्धति के समालोचको ने ये प्रयास भी अधिक नही किये हैं। कही-कही इसी प्रकार की मनोवृत्ति के आभास अवश्य दे दिए है। गुप्त जी का भारतीय सस्कृति के प्रति प्रेम तथा उन पर गाधी जी का प्रभाव उनके नैतिक और आदर्शवादी दृष्टिकोण का कारण है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी 'गुप्त जी की कला' मे इसी दृष्टि से विचार किया है। 'अनघ' को तो वे गाधी जी

का बौना चित्र ही कहते हैं।

कलाकार अपने ही जीवन की कतिपय घटनाओं को काव्य का रूप दे देता है। प० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी तुलसी-सम्बन्धी आलोचना मे ऐसे कई-एक स्थलो का निर्देश किया है।[1] प० कृष्णशकर शुक्ल ने भी 'केशव की काव्य-कला' मे उनकी जीवनी पर लिखते समय ऐसी एक-आध घटनाओ की ओर सकेत-भर किया है। इस प्रकार की चरित-मूलक आलोचना का हिन्दी मे प्राय अभाव ही है। इसमे भारतीय मनोवृत्ति और काव्य-सिद्धान्त भी बाधक है। कवियो की जीवनी के पर्याप्त ज्ञान का अभाव तथा साधारणीकरण का सिद्धान्त इस शैली के विकास का अवरोधक है। फिर भी अग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी की चरित-मूलक समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास कवियो की प्रामाणिक जीवनी उपस्थित करने के रूप मे है। इनमे अन्तरग प्रमाणो के आधार पर जीवनी का अध्ययन करने की प्रवृत्ति के कारण कही-कही अकस्मात् ऐसी आलोचना हो गई है, पर चरित-मूलक आलोचना की चेतना का हिन्दी-साहित्य मे पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। जहा कही भी ऐसे फुटकर प्रयास हुए हैं, उन्हे आकस्मिक ही माना जायगा। कवियो की जीवनी देने की प्रवृत्ति तो इसी पद्धति के समालोचको मे मिलती है। अन्य प्रकार के समालोचको मे तो इसका प्राय अभाव ही है। उस पद्धति मे इसका कोई महत्व भी नही है। वहा पर आलोचक परिचय की अपेक्षा विश्लेषण के कार्य को अधिक महत्व प्रदान करता है।

तुलना और निर्णय—ये दोनो प्रवृत्तिया वर्तमान समीक्षा के प्रारम्भ से ही चल रही हैं। शुक्लजी की समीक्षा भी कही-कही निर्णयात्मक हो जाती है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। उन्होने कई स्थानो पर तुलनात्मक समालोचना भी दी है। उनकी पद्धति के अन्य आलोचक भी तुलनात्मक और निर्णयात्मक आलोचना से ऊपर नही उठे है। स्पष्ट रूप से अपना निर्णय न देने पर भी वे अपने मन्तव्य का सकेत कर देते हैं। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि प्राचीन कवियो पर लिखने वालो ने तो अपना मन्तव्य स्पष्ट ही प्रकट कर दिया है। शुक्ल जी कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक मानते है, पर उनमे प्रेम की व्यजना के दर्शन उन्हे नही होते। इसीलिए उनकी दृष्टि से जायसी का रहस्यवाद अधिक हृदय-स्पर्शी और स्वाभाविक है। पर बाबू श्यामसुन्दरदास जी को यह मान्य नही। इन दोनो ही आलोचनाओ मे तुलना और निर्णय स्पष्ट है। इस पद्धति की अन्य आलोचनाओ मे भी कवि की श्रेष्ठता की ओर सकेत हुए है।

शुक्ल जी के पूर्व साहित्य के देश-काल का बहुत साधारण-सा सकेत होता

१. देखिए—'स्वकथित जीवनी'।

था, 'शिवसिंह सरोज', 'मिश्रबन्धु-विनोद, आदि कवि-वृत्त संग्रह की कोटि में आते है । मिश्र-बन्धुओं ने देश-काल का कुछ थोडा-सा संकेत किया था । पर साहित्य को उसकी परिस्थितियों में रखकर आंकने की प्रौढ आलोचनात्मक पद्धति का सूत्रपात शुक्लजी ने ही किया । उन्होंने सूर, तुलसी आदि कवियों के महत्व को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर आंका है । 'हिन्दी-शब्द सागर' की भूमिका में शुक्लजी ने ही हिन्दी-साहित्य का प्रथम व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत किया था । ऐतिहासिक समीक्षा शुक्ल-पद्धति की एक प्रधान विशेषता है, इस पद्धति के सभी आलोचकों ने इस शैली का उपयोग किया है । परवर्ती आलोचना ने शुक्ल-समीक्षा के जिन तत्वों का विकास किया, उनमें से एक यह भी है । ऐतिहासिक समीक्षा-शैली के प्रसंग में इस पर विशद विचार किया जायगा । यहां पर तो केवल इतना कह देना-भर पर्याप्त है कि शुक्ल-पद्धति में देश-काल का आकलन केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में ही सका है । साहित्य की अविच्छिन्न धारा का निर्वचन तथा साहित्य का देश-काल से सहज एवं स्वाभाविक सम्बन्ध-निर्देश तो इस पद्धति के परवर्ती विकास की वस्तु है । हिन्दी में साहित्य को देश-काल की सहज उपज के रूप में देखने तथा सांस्कृतिक विकास में किसी कवि या रचना की देन के मूल्यांकन की प्रौढ प्रवृत्ति के दर्शन अभी बहुत कम हो पाते है । अभी तक हिन्दी-समीक्षा में इस पद्धति का इतना विकास नहीं हुआ है, फिर भी शुक्ल-पद्धति के कतिपय आलोचकों के प्रयास स्तुत्य है । प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भूषण की कविता को देश-काल की परिस्थितियों में रखकर उसका अध्ययन किया है । उन्होंने भूषण के सामयिक एवं सांस्कृतिक महत्व का मूल्यांकन किया है । इसमें ऐतिहासिक समीक्षा के प्रौढ तत्वों के दर्शन होते है ।

शास्त्रीय एवं तन्त्रवादी समीक्षा इस पद्धति की सबसे प्रधान विशेषता है, सौष्ठववादी समीक्षा में शुक्ल-पद्धति की अधिकांश आलोचनाओं में तो तन्त्र का यही रूप रहा है, शास्त्रीय तत्वों का आरोप ही इसकी प्रधान विशेषता है । श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का 'प्रिय प्रवास का अध्ययन', श्री प्रेमनारायण टंडन का 'गोदान और गबन' श्री कृष्णानन्द गुप्त का 'प्रसाद जी के दो नाटक', डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का 'प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', डॉ० सत्येन्द्र की 'प्रेमचन्द्र की कहानी-कला' आदि ग्रन्थ तन्त्रवादी समीक्षा के अच्छे प्रयास है । प्रसाद जी के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन शुक्ल-पद्धति की तन्त्रवादी समीक्षा का प्रौढ उदाहरण माना जा सकता है । इसमें शास्त्र में प्राप्त तत्वों के अतिरिक्त रचनाओं से उपलब्ध तत्वों के आधार पर भी आलोचना हुई है । 'प्रेमचन्द जी की कहानी-कला' में लेखक ने शास्त्रीय तत्वों का आरोप नहीं किया है, अपितु उन कहानियों में से स्वतः प्राप्त तत्वों के मानदण्ड पर उन रचनाओं का विश्लेषण और मूल्यांकन किया है । लेखक

ने प्रेमचन्द जी की कहानियो की सफलता बाह्य मान मूल्यो से नही अपितु उन्ही मे अन्तर्हित मान के आधार पर आकी है। इस प्रकार इस रचना मे सौष्ठववादी तथा निगमनात्मक समीक्षा के तत्व अत्यन्त स्पष्ट है, यह भावी विकास का आभास दे रही है। इस रचना को शुक्ल-पद्धति तथा परवर्ती विकास के सक्रान्ति काल की रचना कहना भी अनुपयुक्त नही है।

इस पद्धति के सबसे प्रधान समालोचक बाबू श्यामसुन्दर दास जी है। बाबू जी ने समीक्षा क्षेत्र मे उस समय कार्य प्रारम्भ किया था जब हिन्दी मे साहित्य-समीक्षा का जन्म ही हो रहा था। उसी समय से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा वे साहित्य की सेवा करते रहे। प्राचीन ग्रन्थो की शोध तथा उनका सम्पादन उनकी आलोचनात्मक भूमिकाए, इतिहास आदि आपके प्रधान कार्य-क्षेत्र रहे। हिन्दी मे इन क्षेत्रो की उद्भावना का श्रेय भी बाबूजी को ही है। शुक्लजी को भी इन कार्यों मे बाबूजी से पर्याप्त प्रेरणा मिलती रही। इन क्षेत्रो की वास्तविक उन्नति तो शुक्लजी की प्रतिभा के कारण हुई, पर हिन्दी को प्रेरणा प्रदान करने मे बाबूजी का महत्व कम नही है। हा शुक्लजी की प्रौढ चिन्तन-क्षमता और प्रखर प्रतिभा के समक्ष हिन्दी-जगत् बाबूजी का उपयुक्त मूल्य नही समझ सका। इसीलिए इनके कार्यो का महत्व कुछ उपेक्षित ही रहा।

प्रयोगात्मक समीक्षा मे बाबूजी ने शुक्ल-पद्धति को ही अपनाया है, उनकी समीक्षा की प्रधान विशेषताए वे ही है जिनका ऊपर निर्देश हो चुका है। बाबूजी इस क्षेत्र मे किसी नवीन शैली की उद्भावना नही कर सके। पर 'साहित्यालोचन', 'रूपक रहस्य' जैसे ग्रन्थो का निर्माण करके उन्होंने शुक्ल-पद्धति के सैद्धान्तिक आधार के निर्माण मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है, इसे भी भुलाया नही जा सकता। शुक्ल-पद्धति के आलोचक जो 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' कल्पना, बुद्धि आदि की बाते करते है, वे जो इन तत्वो का मुक्त उपयोग करने लगे है, इसका सारा श्रेय बाबूजी को है। पाश्चात्य समीक्षा के ये तत्व शुक्लजी को आलोचनाओ मे ग्रहण हुए है। 'साहित्यालोचन' के प्रथम सस्करण के उपरान्त ही इन तत्वो के उपयोग की प्रवृत्ति बढी। इनके द्वारा साहित्य-समीक्षा को प्रदत्त तत्वो मे से शैली-तत्व का भी कम महत्व नही है, प्रत्येक कवि और लेखक की शैली पर पृथक् रूप मे विचार करने की प्रवृत्ति का प्रोत्साहन भी सम्भवत 'साहित्यालोचन' ने ही दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित अभिनयात्मक एव प्रबधात्मक शैली का उपयोग हिन्दी के कई आलोचको ने किया है। हिन्दी के समालोचको को आलोचना के बहुत से पारिभाषिक शब्द प्राप्त हुए। आज भी विश्वविद्यालयो मे निकले हुए व्यक्तियो की रचनाओ पर 'साहित्यालोचन' की छाप स्पष्ट दिखाई पड जाती है। शुक्लजी के गूढ चिन्तन के कारण उनसे कुछ बहुत जल्दी ग्रहण कर लेना सरल कार्य नही है। हिन्दी का शायद ही कोई आलोचक उनकी प्रौढ शैली

का सफल अनुकरण कर पाया हो। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने शुक्लजी की विचार धारा और मानदण्ड को सुबोध एव सरल करके विस्तीर्ण कर दिया। इससे उसमे वह गम्भीरता तो नही रह गई, वह कुछ स्थूल भी हो गई, पर सर्वसाधारण के लिये ग्राह्य अवश्य हो गई। शुक्ल-पद्धति के प्रसार का श्रेय बाबू जी को देने का बहुत बडा कारण यही है। शुक्ल जी की शैली चाहे सरलता से अनुकरणीय न रही हो पर उसके द्वारा प्रस्तुत समीक्षा का मान और पद्धति एक बहुत लम्बे काल का प्रतिनिधित्व करती है। आज की समीक्षा की भी यह मूल आधार-भित्ति है। शुक्ल जी ने समीक्षा मे नवीन-क्रान्ति उत्पन्न कर दी। हिन्दी को उन्होने ठोस सैद्धान्तिक आधार प्रदान कर दिया। उनमे अमोघ युग-प्रेरक शक्ति की इतनी प्रबलता और प्रौढता के दर्शन नही होते, पर फिर भी पद्धति के स्वरूप-निर्माण मे बाबूजी का सहयोग कम महत्वपूर्ण नही है।

बाबू जी ने शुक्ल-पद्धति मे प्रौढ समालोचना की है। कवियो की प्रामाणिक जीवनी उपस्थित करने मे तो आप हिन्दी-क्षेत्र मे अद्वितीय है। कवियो के जीवन-सम्बन्धी लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे द्विवेदी काल के प्रारम्भ से ही प्रकाशित होने लगे थे। समालोचना-क्षेत्र मे यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। यह पद्धति बाद मे चरित-मूलक समीक्षा मे विकसित हो गई है। इन जीवनियो मे भी इस समीक्षा के कुछ अप्रौढ तत्वो के दर्शन हो जाते है। कवि के सर्वांगीण अध्ययन के लिए उनके जीवन-चरित्र का ज्ञान भी आवश्यक है। बाबू जी ने इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। इस कार्य मे प्रथम प्रेरणा देने का श्रेय भी इन्ही को है। जीवन-चरित्र के अतिरिक्त इन्होने अपने आलोच्य कवियो के काव्य-सौष्ठव-भाषा-अधिकार, भक्ति-पद्धति, दार्शनिक एव धार्मिक विचार-धारा आदि पर भी विचार किया है। बाबू जी का विवेचन प्रौढ होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध है। उनके निर्णयो के खडन और विरोध की बहुत कम सभावना है। शुक्ल जी की अपेक्षा इनमे गूढ चिन्तन और विश्लेषण की कमी है। इसलिए इनकी समीक्षाओ मे भी इनके निबन्धो की तरह परिचयात्मकता अधिक मानी जा सकती है। इनकी समीक्षा शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक आरोपात्मक और इतिवृत्तात्मक है। शुक्ल-पद्धति की प्राय सभी समीक्षाएँ वस्तु-तन्त्रात्मक है। बाबू जी की समीक्षा मे तो यह तत्व बहुत अधिक प्रबल है। बाबू जी शुक्ल जी के विचारो और शैली से अत्यधिक प्रभावित है, पर सर्वत्र उनके निर्णयो से सहमत नही। कई स्थानो पर उन्होने शुक्ल जी के विचारो का खडन किया है। उन्हे शुक्ल जी के साधारणीकरण की शास्त्रीयता मान्य नही। कबीर के रहस्यवाद एव उनकी दार्शनिक विचार-धारा के सम्बन्ध मे भी ये दोनो एकमत नही। कबीर के इस विवेचन मे बाबू जी का मौलिक एव प्रौढ चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है।

'कबीर ग्रन्थावली की भूमिका', 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' उनकी प्रयोगात्मक आलोचना के प्रतिनिधि ग्रन्थ है । इनके अतिरिक्त बाबू जी ने पत्र-पत्रिकाओं मे बहुत-से आलोचनात्मक लेख लिखे है । 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' मे तो उनके लेख बराबर ही प्रकाशित होते रहे है । उनका शोध-कार्य इसी पत्रिका और सभा के माध्यम से होता रहा है । समीक्षा-क्षेत्र मे प्राचीन पुस्तको के शोध-कार्य का विवरण भी कम महत्व की वस्तु नही है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनका प्रौढ और सर्वाङ्गीण प्रयास है । इसमे उन्होने भारतेन्दु जी के जीवन और कृतित्व का विशद विवेचन किया है । उनके नाटको, उपन्यासो, निबन्धो एव कविता का गम्भीर विश्लेषण हुआ है । इस ग्रन्थ मे बाबू जी ने भारतेन्दु जी की विभिन्न रचनाओं का विश्लेषण करके उनके व्यक्तित्व की कुछ प्रमुख विशेषताओं का भी निरूपण किया है । इसमे कवि और रचना की अन्त प्रवृतियो का सुन्दर विश्लेषण हुआ है ।"व्यापक भाव का विवेचन" कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण ही हे । यह ग्रन्थ शुक्ल-पद्धति की समीक्षा का सुन्दर उदाहरण है, इसमे विश्लेषण एव सश्लेषण दोनो शैलियो का सुन्दर समन्वय है । शुक्ल-पद्धति के अन्य आलोचको ने भी समन्वय शैली का उपयोग किया है । बाबू जी की समीक्षा की तो यह प्रधान विशेषता ही है । इस पद्धति के जिन आलोचको का ऊपर निर्देश हो चुका है, उन्होने भी इस शैली का उपयोग किया है ।

बाबूजी के अतिरिक्त शुक्ल-पद्धति के प्रधान समालोचको मे निम्न लिखित नाम भी गणनीय है—प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ• जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प० कृष्णशकर शुक्ल प० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डॉ० रमाशकर शुक्ल 'रसाल', प० रामनरेश त्रिपाठी, प०गिरजादत्त 'गिरीश', श्री कृष्णानन्द गुप्त आदि । 'बिहारी की वाग्विभूति', 'भूषण ग्रन्थावली की भूमिका', पद्माकर-पचामृत', 'प्रसाद जी के नाटको का शास्त्रीय अध्ययन', 'उद्धव शतक की भूमिका', 'केशव की काव्य कला', 'कविवर रत्नाकर', 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'सुकवि समीक्षा', 'गुप्तजी की काव्य-धारा', 'प्रसाद की नाट्य-कला' आदि ग्रन्थ इस शैली के अच्छे प्रयास है । वर्तमान समय मे शुक्ल-पद्धति के सबसे बडे प्रतिनिधि प विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहे जा सकते है। मिश्रजी ने इस शैली मे प्रौढ समालोचनाएं प्रस्तुत की है । शुक्लजी के दृष्टिकोण के वे सबसे बडे समर्थक है । उन्होने शुक्लजी की विचार-धारा को पूर्णत आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है । उन्होने शुक्लजी के सम्बन्ध मे फैली हुई बहुत सी भ्रान्तियो का भी निराकरण किया है । शुक्लजी के समीक्षा-सम्बन्धी व्यापक दृष्टिकोण को सबसे ठीक समझने वालो मे मिश्रजी का नाम अग्रगण्य है । उनकी यह निश्चित धारणा है कि समीक्षा-क्षेत्र को शुक्लजी ने जो

प्रौढ शैली प्रदान की है, उसके समकक्ष दूसरी कोई प्रौढ पद्धति अब तक प्रस्तुत नही की जा सकी है। उनके इस विचार मे कुछ सत्याश अवश्य है। शुक्लजी के उपरान्त हिन्दी-साहित्य-समीक्षा ने कुछ नवीन शैलियो को अवश्य अपना लिया है, पर अब तक शुक्लजी से भिन्न कोई ऐसा नवीन प्रौढ साहित्य दर्शन नही बन पाया है, जिसके आधार पर पूर्णत नवीन किसी समीक्षा-पद्धति का निर्माण ही हो पाता।

शुक्लजी तथा बाबु श्यामसुन्दरदास जी के प्रयास से जिस आलोचना पद्धति का जन्म हुआ है, उसने हिन्दी-साहित्य-समीक्षा को विकास का सच्चा मार्ग दिखा दिया है। आज भी हिन्दी के अधिकाश समालोचक इसी पद्धति का अनुसरण कर रहे है। व्यक्तित्व-भेद के फलस्वरूप कुछ साधारण वैषम्य की उपेक्षा करने के बाद यह कहा जा सकता है कि हिन्दी मे इस पद्धति के समालोचको की सख्या सबसे बडी है। इस पद्धति ने अपने परवर्ती विकास मे अन्य शैलियो और पद्धतियो का भी उपयोग किया है। इसप्रकार यह पद्धति अपने वर्तमान स्वरूप मे सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को अपना रही है। इसी समन्वयवादी शैली मे आज के अनेक विद्वान कविया और काव्य-धाराओ का प्रौढ अध्ययन कर रहे है। धीरेन्द्र वर्मा, डा० श्रीकृष्णलाल, डा० दीनदयाल गुप्त, डा० केसरीनारायण शुक्ल, बाबू गुलाबराय, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि इस पद्धति के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचक है। इन्होने इसी पद्धति म हिन्दी के अनेक कालो और काव्य-धाराओ एव कवियो का सर्वांगीण अध्ययन किया है। इनको समन्वयवादी तो इसलिए कहना पडता है, कि उन्होंने सौष्ठववादी मनोविश्लेषणात्मक एव ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धतिया के उन तत्वो का उपयोग किया जिनकी गणना शुक्लजी-पद्धति मे नही है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि शुक्ल-पद्धति की समीक्षा रूढ नैतिक आदर्शो पर मूल्याकन करने वाली, शास्त्रीय और वस्तु-तन्त्रात्मक आलोचना है। इसमे कवि और वस्तु की सामान्य प्रवृत्तियो का विश्लेषणात्मक निरूपण, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ सम्बन्ध, कल्पना, समष्टिगत जीवन की समस्याओ का स्थूल चित्रण तथा उनके रूढिवादी आदर्शोन्मुखी समाधान के दर्शन होते है। इस पद्धति ने भारतेन्दु जी से लेकर शुक्लजी तक की समीक्षा के विकास का समाहार किया है। प्रवृत्तियो के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शैली को इतना व्यापक रूप दिया कि इसमे भावी विकास की क्षमता का आभास स्पष्ट हो गया। पर यह शैली की तरह मानदण्ड मे युगानुकूल परिवर्तन की सम्भावनाओ को अस्वीकार करने के कारण रूढ हो गई। छायावाद और प्रगतिवाद के नवीन जीवन-दर्शन अभिव्यजनावाद, स्वच्छन्दतावाद, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आदि, साहित्य-समाज और व्यक्ति के नवीन सम्बन्धों की कल्पना का स्वागत न कर सकने के कारण उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और नवीन पद्धतियो का विकास हुआ। पर फिर भी विद्वत्समाज मे इसका आदर है और वे समीक्षा के समन्वयवादी दृष्टिकोण का आधार इसीके

सिद्धान्तों को बनाना चाहते है। शुक्लजी ने समन्वयवाद और हिन्दी-समीक्षा के भावी विकास के लिए प्रौढ सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है। इसीलिए इस पद्धति का इतना महत्व है।

: १० :

सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा

साहित्य प्रत्येक युग तथा धारा के साथ अपनी पृथक् धारणाओं, साहित्यिक मानो और जीवन दर्शन को अपनाता हुआ अग्रसर होता है। इसलिए यह कहना एक सीमा तक समीचीन है कि उस युग और धारा के साहित्य का मूल्याकन वस्तुतः उन्ही मानो द्वारा अधिक उचित रूप मे हो सकता है। इसका तात्पर्य यह भी नही है कि साहित्य-समीक्षा का एक भी तत्व या सिद्धान्त सार्वदेशिकया सर्वकालीन नही हो सकता। भरत के रस और औचित्य-सिद्धान्त की सार्वदेशिकता अस्वीकृत नहीं की जा सकती। हां, औचित्य की सीमा और स्वरूप मे देश और काल के अनुसार यत्किचित् परिवर्तन कर लेने की आवश्यकता है। आधुनिक हिन्दी-कविता मे युगातरकारी परिवर्तन कर देने वाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छन्दता और सौष्ठव इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।

जहां प्रत्येक युग के साथ नवीन साहित्यिक मान का जन्म होता है, वहा पर प्रत्येक युग के अधिकाश समीक्षक अपने युग के मान को सर्वकालीन ही मानते है। उनकी एक प्रकार से निश्चित धारणा-सी बन जाती है कि हमारा मान और समीक्षा-पद्धति पूर्ण और सार्वदेशिक है। इसके द्वारा प्रत्येक साहित्यिक कृति का निरपेक्ष और तटस्थ मूल्याकन हो सकता है। सौष्ठववादी और प्रभावाभिव्यजक (Impressionist) अपेक्षाकृत अधिक तटस्थ और निरपेक्ष आलोचक होते है। उनमे निश्चित मानो के आधार पर किसी कृति का मूल्याकन करने और निर्णय देने की प्रवृत्ति का अभाव होता है। कम-से-कम प्रत्यक्ष रूप में तो वे अपनी आलोचना में इसका आभास नही देते। फिर भी मूल्याकन और निर्णय दोनो ही आलोचना के मूलभूत तत्व हैं और ये किसी-न-किसी रूप मे प्रत्येक आलोचक मे विद्यमान रहते हैं, वह चाहे इसे अस्वीकार कर दे। मार्क्स या फ्रायड के सिद्धान्तो से प्रभावित रचना की समीक्षा मे सौष्ठववादी समालोचक कितना तटस्थ रह सकेगा, साहित्य की अपनी मान्य धारणाओं का उस

पर आरोप करने के मोह का कितना सवरण कर सकेगा, उसमें विद्यमान प्रबल बुद्धि-तत्व की प्रमुखता तथा सार्वजनिक और सर्वकालिक भाव-संवेदना की उपेक्षा उसे कितनी सह्य हो सकेगी, इस प्रकार की कृति मे वह निगमनात्मक पद्धति का कहा तक अनुसरण करके अपने प्रसुप्त निर्णायक रूप को कहा तक जागृत नही होने देगा, ये सभी बाते विचारणीय और विवाद-ग्रस्त है। उसके तटस्थ रहकर आलोचना करने मे सन्देह है। इससे यह सिद्ध है कि प्रत्येक आलोचक अपनी पद्धति को सार्वदेशिक और सर्वकालिक मानकर ही चलता है और इसलिए वह प्रत्येक युग के साहित्य को उसी कसौटी पर आकता है। जहा मानव मे अतीत की सरक्षा का मोह है, वहा पर उसमे नवीनता और प्रगति से भी प्रेम है। इसीलिए उसे भूत से पूर्ण सन्तोष नही हो पाता। आलोचक भी जब नवीन साहित्य-कृतियो का प्राचीन सिद्धान्तो के आधार पर अध्ययन करना चाहता है तो उसे कुछ अपूर्णता-सी प्रतीत होती है। अपने बनाये हुए गज उसे स्वय ही धीरे-धीरे अनुपयुक्त प्रतीत होने लगते है। शुक्ल समीक्षा-पद्धति से छायावादी कृतियो का पूरा मूल्याकन नही हो सका। उन्होने अपनी नैतिक, लोकादर्श-वादिनी और प्रबन्ध-काव्योचित समीक्षा की ऐनक को लगाकर इस नवीन सद्यः जात बालक छायावाद को देखा तो उन्हे वह विचित्र सा प्रतीत हुआ। उसमे वे साहित्य का भावी मगल नही देख सके। शुक्लजी को पन्त, प्रसाद और महादेवी की काव्य-धारा की अपेक्षा श्रीधर पन्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि की काव्य-धारा मे हिन्दी का अधिक मगल दिखाई दिया। शुक्ल-पद्धति का आलोचक निराला जी की अपेक्षा सोहनलाल द्विवेदी को प्रौढ कवि मानने के लिए बाध्य हो गया। इस प्रकार वे छाया-वाद के आगमन का स्वागत नही कर सके और उसको शुभ सूचना के रूप मे स्वीकार नही कर सके। फिर भी शुक्लजी अपने अनुयायियो की अपेक्षा कुछ अधिक प्रगतिशील और स्वच्छन्द प्रकृति के है। उनका विरोध भी तर्कसम्मत है। वे गुण-दोष दोनो ही देखते है। छायावाद ने काव्य के कला-पक्ष मे जो नवीन प्रगति की, उसको जो नवीन विकास की ओर उन्मुख किया, उसका महत्व शुक्लजी ने मुक्त कठ से स्वीकार किया है। वे कहते है : "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमे सदेह नही। इसमे भावावेश की आकुल व्यजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप सगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पडी।" [1] पर इस पद्धति के अधिकाश आलोचक तो इतनी उदारता का भी परिचय नही दे सके, क्योकि इनमे इस सूक्ष्म दृष्टि का अभाव था। वे तो छायावाद के साथ किसी प्रकार भी समझौता नही कर सके। इसलिए उन्होने अपना अध्ययन और समीक्षा-क्षेत्र ही रीति-

१. 'इतिहास', पृष्ठ ७३१।

काल अथवा भक्ति-काल को बना लिया था। हिन्दी के पाठक से यह छिपा नही है कि छायावाद को अपने शैशव-काल मे ही अनेक कठोर आघात सहने पड़े है। उस पर जन्म से ही चारो ओर से कशाघात प्रारम्भ हो गए थे। लेकिन उसी समय से उनके प्रबल समर्थक और रक्षक भी थे। वृद्धजनो मे प० श्यामबिहारी मिश्र ने इसका पक्ष समर्थन किया था और प्रत्येक युवक के हृदय मे तो इस कविता ने घर ही कर लिया। इतिवृत्तामक कविता की एक-रसता, स्थूलता और रूढ नैतिकता से मानो वह ऊब गया, वह कुछ नवीन अन्त: स्फुरण और चेतना से सजीव काव्य के आस्वाद को पिपासु हो उठा। उसकी साहित्यिक धारणाए एकदम बदल गई। इसी व्यापक धारणा ने सृजन और समीक्षा दोनो क्षेत्रो मे नवीन धारणाओ को जन्म दे दिया। इनको हम क्रमश. 'छायावाद' और 'सौष्ठववाद' कहते है। इसमें शुक्ल-समीक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उसकी अपूर्णता की स्पष्ट घोषणा है।

इतिवृत्तात्मक कविता मे वस्तु का ही प्राधान्य था। उसमे भाव की अपेक्षा बौद्धिकता और नैतिकता अधिक थी। भावो का बहुत ही स्थूल और सामान्य स्वरूप पाठक के हृदय मे आह्लाद उत्पन्न करने मे असमर्थ था। कवि को कहानी के प्रतिबन्ध के कारण आत्माभिव्यजना का पूर्ण अवसर ही नही मिल पाता था। अलकार-शास्त्र के नियमो तथा परम्परा-प्राप्त नैतिक धारणाओ ने काव्य और कवि को जकड दिया था। उसके व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए स्थान ही नही रह गया था। छायावाद के रूप मे नियमो की शृङ्खलाओ से जकड़ी हुई कवि की आत्मा विद्रोह कर उठी। रीति-काल से लेकर आधुनिक इतिवृत्तात्मक काल तक उसे उन्मुक्त वातावरण मे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने का अवसर ही नही मिला था। इसीलिए शताब्दियो से अवरुद्ध वैयक्तिकता का प्रवाह सब कूलो और किनारों को डुबाता हुआ आगे बढा। इस प्रकार 'छायावाद' के रूप मे सामूहिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता, रूढिवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दता, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, वस्तुवाद और यथार्थवाद के विरुद्ध कल्पना और भावुकता, इतिवृत्त के विरुद्ध आत्माभिव्यजना की, हृदयस्पर्शिता तथा वर्णनात्मकता के विरुद्ध ध्वन्यात्मकता की व्यापक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रतिक्रिया के दर्शन केवल साहित्य मे ही नही अपितु समग्र जीवन मे ही होते है। रूढ़िवादिता और परम्परागत मर्यादाओ के विरुद्ध वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की गर्जना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सुनाई पडने लगी थी। जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन का व्यापक विद्रोह काव्य मे अभिव्यक्त हुए बिना नही रह सकता था। इस विद्रोह का कारण केवल पाश्चात्य प्रभाव नही है। उसके अनुकरण पर ही ऐसा नही हुआ है। समय की गति के साथ जीवन-दर्शन मे ही आमूल परिवर्तन हो गया था। विज्ञान और राजनीति के क्षेत्र की विश्व-व्यापी नवीन प्रगति ने जीवन की धारणाओ को बिलकुल बदल दिया। समाज और व्यक्ति का पुराना सम्बन्ध अधिक दिन तक नही

चल सकता था। मनुष्य मे धर्म, नीति और आदर्श के नवीन अर्थों की आकाक्षा जागृत हो गई। जीवन के मूल्याकन के लिए नवीन मानो के ग्रहण की आवश्यकता तीव्र रूप मे अनुभूत होने लगी थी। इससे यह स्पष्ट है कि 'छायावाद' कुछ कवियों का ही प्रयास-मात्र नही है, अपितु उस काल के व्यापक जीवन की मूल प्रेरणा का स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम है।

छायावाद को हिन्दी के आलोचको और कवियो ने विभिन्न स्वरूपो मे देखा। इसीलिए इस सम्बन्ध मे उनकी धारणाए भी विभिन्न है। यहा पर हम केवल उन्ही व्यक्तियो की धारणाओ का उपयोग करेगे, जिन्होने इसकी एक सीमा तक प्रामाणिक व्याख्या की है। इनमे से विशेषत. छायावादी आलोचक और कवि ही है। प्रसादजी कहते है: 'कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी मे बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी मे उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।——ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।"[1] प्रसादजी छायावाद के जन्मदाता कहे जा सकते है। छायावाद के सम्बन्ध मे उनका विवेचन इसलिए भी प्रामाणिक है कि उन्होने इसके वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करके इसके सम्बन्ध मे फैली हुई भ्रान्तियो का निराकरण किया है। ऊपर के स्थल मे उन्होने कवि की स्वानुभूति के तीव्र आवेश की अभिव्यक्ति को ही छायावाद माना है। इसमे वे "आत्माभिव्यजन" को ही इसका प्रमुख तत्व मानते है। प्रसादजी को भाषा और भाव का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। इसीलिए वे नवीन प्रकार की अनुभूतियो के लिए शब्दो की अनुपयुक्तता भी घोषित करते है। अनुभूति की तीव्रता मे भाषा मे एक विशेष छटा का आ जाना प्रसाद जी अनिवार्य समझते है। "सूक्ष्म आभ्यन्तर भावो के व्यवहार मे प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी मे नवीन शब्दो की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।"[2] शब्द-चमत्कार के जो प्रचलित काकु, व्यग्य, श्लेष आदि प्रकार थे वे इस नवीन अनुभूति की तीव्रता को अभिव्यक्त करने मे असफल हुए। इसलिए भाषा मे नवीन भगिमा आ गई। "इन अभिव्यक्तियो मे छाया की जो स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलकार के भीतर आने पर भी ये उससे कुछ अधिक है।"[3] प्रसाद जी ने "छाया" शब्द का अर्थ विच्छित्ति, लावण्य आदि माना है। वे कहते है कि मोती के भीतर की कान्ति जैसे बाहर छलकती है,

१. **'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध,'** पृष्ठ १२३।
२. **'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,'** पृष्ठ १२३।
३. **वही, पृष्ठ १२४।**

वैसे ही भावो का सौदर्य भी भाषा मे छलक जाता है। सुश्री महादेवी वर्मा ने भी इतिवृत्तात्मक काव्य मे हृदय को स्पर्श करने की क्षमता का अभाव बतलाया है। "... सौदर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी नही सकता था। छायावाद यदि अपने सम्पूर्ण प्राण-वेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौदर्य को असख्य रूप-रगो में अपनी भावना द्वारा उपस्थित न करता तो...।" महादेवी एक दूसरी जगह कहती है कि छायावाद ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से चलने वाले हृदय और प्रकृति मे प्राण डाल दिए है। इसके द्वारा भी वे अनुभूति की नवीनता और गहराई का ही निर्वचन कर रही है। श्री गगाप्रसाद पाडेय कहते है : "विश्व की किसी वस्तु मे एक अज्ञात सप्राण की झाकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाति विश्व के कण-कण मे अपने सर्वव्यापक प्राणो की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य सौदर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य-धारा ने किया है।"[1] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी छायावाद को मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौदर्य मे आध्यात्मिकता की छाया का मान मानते है। "व्यष्टि सौदर्य-बोध एक सार्वजनिक अनुभूति है। यह सहज ही हृदयस्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य-चेतना की जन्मदात्री है। इसे मै प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौदर्य-बोध उच्चतर अनुभूति है।"[2]

ऊपर प्रमुख छायावादी आलोचको और कवियो मे से कुछ के छायावाद-सम्बन्धी विचार उद्धृत किये गए है। इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि इन्होने भिन्न-भिन दृष्टि-कोणो से इसे देखा है, इसलिए उनकी उपपत्तिया भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न है। शुक्लजी की धारणा तो इन सबसे ही भिन्न है।[3] वे तो इसे प्रतीकवाद मानते है। वे इसमे भावानुभूति के स्थान पर कल्पना की अभिव्यजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता की प्रधानता मान रहे है। लेकिन छायावाद के समर्थक शुक्लजी के इस विचार से सहमत नही है। ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट है कि वे शैली तथा भाषा की भगिमा और वैचित्र्य के साथ अनुभूति की सूक्ष्मता, तीव्रता और हृदय-स्पर्शिता को महत्व देते है। भाव और अभिव्यक्ति का सामजस्य उन्हे मान्य है। कुछ लोगो ने प्रकृति की सप्राणता तथा कुछ ने व्यक्त सौन्दर्य की आध्यात्मिकता और सार्वजनिकता को छायावाद का अनिवार्य तत्व माना है। कुछ की दृष्टि से कवि का कण-कण मे अपने ही प्राणो की व्यापक छाया को देखना छायावाद है। ऐसे कुछ सूक्ष्म मतभेद

---

१. 'छायावाद', पृष्ठ २४।

२. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ १६४।

३. देखिए—'इतिहास', पृष्ठ ७२८।

वर्ण्य विषय अथवा भावानुभूति और व्यंजना के विशेष प्रकारों को ग्रहण करने से हुए है। पर फिर भी इन उद्धरणों से छायावाद के सर्वमान्य स्वरूप का विवेचन भी हो जाता है। सबसे प्रथम तत्व है हृदयस्पर्शितापूर्ण स्वानुभूति की तीव्रता। छायावाद का प्रत्येक कवि और आलोचक इसे स्वीकार करता है। इतिवृत्त और वर्णन का स्थान आन्तरिक भावों के स्पर्शजन्य पुलक तथा सूक्ष्मता ने ग्रहण कर लिया। आत्माभिव्यंजन की प्रधानता ने कवि-प्रतिभा के स्वातन्त्र्य की घोषणा कर दी। विषय, शैली और भाषा किसी भी क्षेत्र मे कवि पर परम्परा और रूढि का बन्धन नही रह गया। उसे मानव और प्रकृति का विशाल उन्मुक्त क्षेत्र विचरण करने तथा उससे भाव- सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ ग्रहण करने को मिल गया। छायावादी कवियो के भाव वैयक्तिक होते हुए भी प्राय. सार्वजनीन है। रीतिकालीन भाव-व्यंजना मे पाठक को दर्शन का आनन्द आता है, अपनी ही अनुभूति की तल्लीनता का अनुभव नही होता। पर छायावाद मे प्रकृति के प्रति जो भावात्मक सवेदना कवि की होती है, वही पाठक की भी। पहले कवि नायक और नायिका के सीमित स्वरूपो को स्वीकार करके उनके हृदयगत भावो का चित्रण करता था और अब कवि ने मानव के इन कृत्रिम भेदो से मुक्ति प्राप्त कर ली है। वह विशुद्ध मानव के रूप मे अनुभव करता है और उसीको स्वच्छन्दतापूर्वक अभिव्यक्त करता है। इसीलिए वाजपेयी जी छायावाद की असाधारण कल्पना और भावुकतामय भावानुभूति को भी सार्वजनीन मानते है। कवि के अन्तर-स्पर्श से पुलकित होने के कारण कविता के बाह्य पक्ष मे भी पर्याप्त परिवर्तन हुए। अभिव्यक्ति मे एक वैचित्र्य, विच्छित्ति एव भगिमा आ गई। भाषा मे भी अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का अधिक प्रयोग प्रारम्भ हो गया। छायावाद के विकास मे क्रोचे के अभिव्यंजनावाद से भी प्रेरणा प्राप्त हुई है। क्रोचे अभिव्यक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते है। वे उसके साथ सुन्दर-असुन्दर का विशेषण भी नही लगाना चाहते। उनकी दृष्टि मे अभिव्यक्ति वही है, जो सुन्दर है। इसलिए कोई भी विशेषण व्यर्थ और अनावश्यक है। अभिव्यंजनावाद का इतना प्रभाव तो प्रत्येक छायावादी कवि पर पडा है कि उस ने भावो के समान ही भावाभिव्यंजन की पद्धति को भी समान महत्व प्रदान किया है। इस प्रकार भाव और अभिव्यंजना का पूर्ण सामंजस्य भी छायावाद की प्रधान विशेषता है। प्रसाद जी ने छायावाद की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है उनमे अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनो का विश्लेषण हुआ है। इन तत्वो मे दोनों का सामंजस्य भी व्यंजित है। "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं है।"[1] इन

१. 'काव्य और कला', पृष्ठ १२८।

विशेषताओं मे भाव और कला दोनो का निरूपण है, लेकिन दोनो को पृथक् करके देखने की प्रवृत्ति नही है। छायावादी कवि सौदर्य मे बाह्य और आभ्यन्तर, वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति दोनो का समावेश करता है। वह सौन्दर्य से रमणीयता का ही अर्थ ग्रहण करता है। "स्वानुभूति की विवृत्ति" मे भी काव्य के दोनो पक्षो का सामंजस्य स्पष्ट है। छायावादी भाव और अभिव्यक्ति का अधिक सम्बन्ध मानता है। अनुभूति अपने-आप ही विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेती है।

जिन प्रेरणाओ का परिणाम छायावाद था, उनके कारण यह धारा एकदम नवीन प्रकार के काव्य के साथ साहित्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट हुई थी। इसका वर्ण्य-विषय, भाषा, शैली, सन्देश, अन्तस्तल मे प्रवाहित दार्शनिक धारा आदि से भी कुछ नया था। इस की नवीनता और विलक्षणता इसके कर्णधारो की आखो मे भी चकाचौध उत्पन्न करने वाली थी। इसके शैशव मे वे भी यह निश्चय नही कर पाए थे कि यह क्या स्वरूप धारण करेगी। यह प्रवाह किस दिशा और धारा मे बहेगा, इसका उन्हे भी ठीक-ठीक पता नही था। पन्तजी और प्रसाद जी इस परिवर्तन के प्रति हमेशा सजग रहे है। पन्तजी अपने 'पल्लव' की भूमिका मे अपनी सजगता और इसकी अनिश्चितता स्पष्ट कर देते है। "हिन्दी-कविता की 'नीहारिका' सम्प्रति अपने प्रेमियो के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पाकर साहित्याकाश मे अत्यन्त वेग से घूम रही है, समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक-पिड उससे टूट पडते है, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश सगृहीत नही कर पाए कि अपनी ही ज्योति मे अपने लिए नियमित पन्थ खोज सके जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर ले। ऐसी दशा मे कहा नही जा सकता कि यह अस्त-व्यस्त केन्द्र-परिधि-हीन द्रवित वाष्प-पिड निकट भविष्य मे किस स्वरूप मे घनीभूत होगा···।" ऐसी नवीन धारा के कवियो तथा कला-कृतियो का पुराने परम्परागत मानदण्ड से मूल्याकन करना सभव नही था, पुराने आलोचक अपने निश्चित मानदण्ड के सर्वथा प्रतिकूल साहित्य-रचना देखकर उसका स्वागत नही कर सके। प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने 'कवि किंकर' के नाम से 'सरस्वती' मे इस धारा की कटु आलोचना की। शुक्लजी जैसे आलोचको ने कुछ उदारता का परिचय देकर इस धारा के कला-पक्ष की प्रौढता को स्वीकार भी किया। पर प्राचीन समीक्षा इसका उचित रूप से मूल्यांकन नही कर सकी। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, प० इलाचन्द्र जोशी प्रमादजी, पन्तजी आदि प्रारम्भ से ही इसका पक्ष समर्थन कर रहे थे। इसलिए उनको इसकी समीक्षा के लिए मापदण्ड अपनाना पडा। छायावाद के तात्विक विश्लेषण तथा साहित्यिक विश्लेषण तथा साहित्य की धारणाओ के इतने विशद निरूपण का एक-मात्र तात्पर्य नवीन काव्य-धारा की नवीन समीक्षा-पद्धति का व्यापक प्रभाव दिखाना है। इस नवीन समीक्षा के मानदण्ड के तत्वो का निर्माण छायावाद की प्रमुख विशेषताओं से ही हुआ। स्वच्छन्दता और

सौष्ठव इस आलोचना के प्रधान तत्व है। इनकी प्रेरणा छायावादी रचनाओं से ही मिली। कला-कृति की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को महत्व देने के कारण छायावाद मे आत्माभिव्यंजन की प्रधानता है। कवि के व्यक्तित्व के साथ ही उसकी परिस्थितियों का निरूपण भी आवश्यक माना गया। कला-कृति मे अलकार आदि शास्त्रीय तत्वों की अपेक्षा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाले तत्वों का उद्‌घाटन अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। आलोचक रूढ़ और परम्परा-मुक्त शैली में रस, अलकार, आदि के उदाहरण न खोजकर, (क्योकि वे तो छायावाद मे प्रायः विरल हो चुके थे) सूक्ष्म सौन्दर्य और सौष्ठव देखने का प्रयत्न करने लगा। उस सौष्ठव से आलोचक भी कवि की तरह आह्लादित ही अधिक होना चाहता है, परम्परा-भुक्त नीति का उपदेश नही ग्रहण करता। छायावादी कवि का दृष्टिकोण उपयोगितावादी नही है। उसको सृजन की प्रेरणा आनन्द से ही प्राप्त होती है और वही उसका साध्य है। इसलिए आलोचक भी उपादेयता के मानदण्ड पर साहित्य का मूल्याकन नही कर पाता है। उसको भी आह्लाद को ही प्रमुख मानना पडता है। आलोचक के व्यक्तित्व मे वही सफल आलोचक माना गया जो कवि की अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित कर सका। विश्लेषण की क्षमता के साथ ही सौन्दर्य मे आह्लादित होने और पाठक को आह्लादित करने की योग्यता को अधिक महत्व दिया जाने लगा।

आगे सौष्ठववादी समीक्षा के तत्वो का कुछ विशद विश्लेषण करेगे। यहा पर इन तत्वो का सक्षेप मे निर्देश करने का तात्पर्य केवल यह बताना है कि यह आलोचना-पद्धति छायावादी कविता का सहज परिणाम है। इसके प्रत्येक तत्व के स्वरूप का विकास इसी धारा की विशेषताओं से हुआ है। हमारा यह अभिप्राय भी नही है कि इस पद्धति के विकास मे पाश्चात्य प्रभाव का सहयोग नही है। अंग्रेजी की रोमाटिक पोइट्री तथा रोमांटिक क्रिटिसिज्म के अध्ययन का भी पर्याप्त प्रभाव पडा है। हिन्दी का समीक्षक जब उन धाराओ से परिचित हुआ तो उसे अपना साहित्य दरिद्र तथा अपनी समीक्षा-पद्धति सकुचित प्रतीत हुई। इस प्रेरणा ने भी इस पद्धति के विकास मे सहायता दी है, पर यह केवल वहा का अनुकरण है, ऐसा नही कहा जा सकता। जैसे शुक्ल-पद्धति का आधार भारतीय तत्व है और उसका विकास जैसे उसके सामजस्य मे हुआ है, वैसे ही इस पद्धति की आधार-भूमि भारतीय है और वही इसके विकास का मार्ग निर्दिष्ट करती रही है। दोनो पद्धतियो मे एक परम्परा को ग्रहण करते हुए भी जो वैषम्य है, उसका कारण केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। छायावादी ने काव्य के प्रयोजन आदि को शुक्ल-पद्धति के स्थूल नैतिक दृष्टिकोण से ग्रहण नही किया, अपितु रस, आह्लाद और रमणीयता को व्यापक और स्वच्छन्द रूप मे अपनाया है। यहा भी केवल प्रेरणा ही बाहर की है, पूरी पद्धति नहीं। हां पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तो का अनुशीलन करके उन्हें आत्मसात् कर लेने की प्रवृत्ति शुक्ल-

पद्धति से कही अधिक अवश्य है। कभी-कभी आलोचको ने पाश्चात्य-सिद्धान्तो को अपने साहित्य और समीक्षा की प्रकृति को बिना समझे भी अपनाया है। वह आरोप-सा प्रतीत होता है और भारतीय साहित्य की मूल प्रकृति से मेल नही खाता। अग्रेजी से लेकर हिन्दी-कवियो के सम्बन्ध मे वाक्यावली के प्रयोग वाली आलोचना इसी विवेकहीन अनुकरण का परिणाम है।

इस पद्धति का अपना पृथक् साहित्य-शास्त्र अथवा साहित्य-दर्शन है। उसमे काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, वर्ण्य विषय आदि समीक्षा के सभी अगो पर मौलिक विवेचन है। इसमे कवि और जगत के पारस्परिक सम्बन्ध की उपज्ञ धारणा है और उसी के आधार पर इस पद्धति का मानदण्ड और प्रयोगात्मक आलोचना का भवन अधिष्ठित है। सौष्ठववादी साहित्य-दर्शन का आधार शास्त्रो की अपेक्षा काव्य-जगत् अधिक है। कवि और आलोचक की अपनी वैयक्तिक धारणाएं ही जो उन्हें युग से प्राप्त हुई है तथा जो शास्त्र का सूक्ष्म आधार लेकर बढी है, साहित्य-दर्शन के रूप मे विकसित हुई है। यही कारण है कि काव्य के स्वरूप, उद्देश्य तथा अन्य तत्वो पर नवीन ढग से विचार होने लगा। कवि और आलोचको ने इस विश्लेषण में भी निगमनात्मक (Inductive) प्रतिक्रिया का ही आश्रय लिया है। कविता के सृजन और अनुशीलन के समय कवि और पाठक के मन की जो अवस्था रहती है, उसी अनुभूति का विश्लेपण करके काव्य-स्वरूप का निर्धारण हुआ है। इन काव्य-लक्षणो में कवि और पाठक की अनुभूति का सजीव चित्र है, उसमे स्वरूप का आलकारिक की दृष्टि से तात्विक विवेचन नही। ये प्राचीन परिभाषाओ की तरह तर्क-सम्मत और शास्त्रीय नही है। इनकी शैली भी भावात्मक है। ये परिभाषाए शास्त्रीय कम और वैयक्तिक तथा प्रभावाभिव्यजक अधिक है। इनमे से अधिकाँश परिभाषाएं कवित्वमय है। "कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छन्द हृदय-कम्पन····· कविता हमारे परिपूर्ण क्षणो की वाणी है, हमारे जीवन का पूर्ण रूप। हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सगीतमय है, उत्कृष्ट क्षणो मे हमारा जीवन ही बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा सयम आ जाता है।"[1] इन्ही से कुछ मिलते-जुलते विचार वर्ड्सवर्थ ने व्यक्त किये है—·····That poetry is spontaneous overflow of powerful feelings: it take its origin from emotions recollected in tranquilty.[2] प्रसाद जी कहते है, "काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है।"[3] काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध मे कतिपय कवि-आलोचको

१. पन्त जी : 'पल्लव' भूमिका, पृष्ठ १२।

२ Wordsworth-preface to Lyrical ballads. P. 25.

३. प्रसादजी : 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध', पृष्ठ ३८।

के उद्धृत मतो से उनका अभिप्राय स्पष्ट है। वे कविता के बहिरंग का वर्णन नही करते, न वे उसका शास्त्रीय और तात्विक विश्लेषण करते है, अपितु वे उसके आभ्यन्तर का अनुभूतिमय चित्र उपस्थित करते है। इन परिभाषाओ मे कवि के व्यक्तित्व तथा उनकी अनुभूति का महत्व ही स्पष्ट है। कविता कवि की साधना है। कवि अपने आभ्यन्तर की ही प्रेरणा से अपने भावों, मनोवेगो, भावनाओ विचारो और कल्पनाओं को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति स्वाभाविक और सहज होती है। उसमे प्रयास और कृत्रिमता के लिए स्थान नही, आत्म-प्रकाशन की सहज आकाक्षा से प्रेरित होकर कवि जो कुछ अभिव्यक्त करता है वह अनुभूति अपने स्वाभाविक स्वरूप मे अभिव्यक्त हो जाती है। यह कवि के हृदय की आनन्दसृष्टि है, उसके हृदय का सहज उन्मेष है। इसलिए इस सम्प्रदाय के विचारको ने कवि-कर्म की शिक्षा का कोई महत्व नही माना है। छन्दो का कभी कोई बन्धन नही रहा। उग्र और कोमल भाव एक ही प्रकार की भाषा और छन्द का आश्रय लेकर नही व्यक्त हो सकते। अनुभूति के अनुसार ही माध्यम मे भी परिवर्तन हो जाता है। "कविता प्राणो का गगीत है, छन्द हृत्कम्पन।" इस वाक्य से कविवर पन्त छन्द और भाव का सहज सम्बन्ध मानते है, छन्द को बन्धन-स्वरूप नही। पन्तजी कविता मे शब्द और अर्थ का पृथक् अस्तित्व नही स्वीकार करते। उनका कहना है कि ये भाव की अभिव्यक्ति मे डूब जाते है। "भगवान् की आनन्द-सृष्टि अन्दर से स्वय उत्सृष्ट हो रही है। मानव-हृदय की आनन्द सृष्टि उसीकी प्रतिध्वनि है। भगवान् की सृष्टि के आनन्द-गीत की झकार हमारी हृदय-वीणा को अहरह स्पन्दित करती है। इसी मानस-सगीत का भगवान् की सृष्टि के प्रतिवाद मे हमारे अन्दर सृष्टि के आवेग का विकास साहित्य है।"[1] "शब्द और अर्थ रस की धारा मे तल्लीन होकर अपना पृथक् अस्तित्व ही खो बैठते है।'[2] जहा पर शब्द और अर्थ अर्थात् कवित्व का बहिरग उसके आभ्यन्तर मे पृथक् अलग झूलता हुआ प्रतीत होता है वहाँ पर काव्य कृत्रिम प्रयास-मात्र हो जाता है। ऐसे स्थलो के भावों मे प्रभावोत्पादकता भी नही रहती। इसीलिए छायावादी कवियो को भाव और भाषा, अनुभूति और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध मान्य है। भाव विशेष पद्धति को अपने-आप ही अपना लेते है। "जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में उसके रग-बिरगे पुष्पो, लाल, हरे, पीले, छोटे-बड़े तृण-गुल्म-लताओ, ऊँची-नीची सघन विरल वृक्षावलियो, झाड़ियो, छाया-ज्योति की रेखाओं तथा पशु-पक्षियो की प्रचुर ध्वनियो का सौन्दर्य रहस्य उनके एकान्त सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता है और उसमे से किसी-किसी एक को

१. 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ७।

२. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २०।

अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्र-जाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी, परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक-दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़कर तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते है।"[1] इसीसे भाषा में चित्रमयता और संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। सौंदर्य में अनिर्वचनीयता होती है, उसको अभिव्यक्त करने के लिए भाषा को साधनों का उपयोग करना पड़ता है। "जिसे वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता उसे चित्र द्वारा कहना पड़ता है। साहित्य में इस प्रकार जो चित्र-रचना की जा रही है उसकी कोई सीमा नहीं। उपमा, व्यतिरेक और रूपक आदि के द्वारा भावों को प्रत्यक्ष रूप देने का प्रयत्न किया जाता है।"[2] भाषा की यह शक्ति सीमातीत हो जाती है। "जब अपरूप को रूप प्रदान किया जाता है, भाषा में अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी पड़ती है। जिस प्रकार स्त्रियों में सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्य में अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है। वह अनुकरणातीत है, वह अलंकारों का अतिक्रमण कर देती है, वह अलंकारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।"[3]

काव्य के हेतुओं:—शक्ति, निपुणता और अभ्यास में से ये आलोचक और कवि केवल शक्ति को ही मानते प्रतीत होते है। कवि जन्म लेता है, परिस्थितियों और प्रयत्न द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी कुछ विशेष आवेगमय क्षणों में ही कविता कर सकता है। काव्य-सृजन के लिए भावावेश, संवेदना और अनुभूति की तीव्रता परमावश्यक है। भावावेश की अवस्था में काव्य का सृजन नहीं होता, परन्तु आवेग के शिथिल और शान्त हो जाने पर स्मृतिजन्य भाव ही काव्य के उपकरण बनते है। वर्ड्सवर्थ कहते है It takes its origin from emotions recollected in tranquility." यह साहित्य-दर्शन काव्य के हेतु पर विचार करता हुआ काव्य के वर्ण्य विषय को भी स्पष्ट कर देता है। बाह्य जगत् के प्रति कवि-हृदय की भावात्मक प्रतिक्रिया ही काव्य का विषय है। प्रसाद जी काव्य के भावों का निरूपण करते हुए कहते है. "ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।" ये अनुभूति के स्पर्श से पुलकित भाव बाह्य आकार में अनिवार्यतः रूप-वैचित्र्य उत्पन्न करने के कारण है। वे स्वयं तो असाधारण और विलक्षण होते ही है। इनमें

---

१. 'पल्लव' भूमिका, पृष्ठ २०।

२. 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ५।

३. वही, रवीन्द्र पृष्ठ ४-५।

जो स्निग्धता, मार्दव, अनुभूति की मार्मिकता, हृदयस्पर्शिता और दिव्यता रहती है वह अभिव्यक्ति को भी लाक्षणिक कर देती है। इन भावों में एक अनन्तता और गूढ़ता रहती है। कवि अपनी कल्पना और भावुकता से इनके स्वरूप की व्यंजना कर पाता है और पाठक भी इनकी असीमता से प्रेरित होकर कल्पना-प्रधान हो जाता है। इसी कल्पना के आश्रय से वह भी (पाठक भी) बाह्य जगत् की क्रूर-कठोर वास्तविकताओं से ऊपर उठकर कवि की-सी अद्भुत स्फूर्ति और चेतना का अनुभव करने लगता है। भावों की तल्लीनता सौन्दर्य का कारण बन जाती है। सौष्ठववादी रसात्मकता को ही काव्य की आत्मा मानता है। प्रसाद जी इन भावों की संगीतमयता, आत्मविस्मरण-क्षमता, आह्लादकता और शान्तिप्रियता की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। ये सभी तत्व अन्योन्याश्रित है और वह आनन्द उत्तेजक न होकर शान्ति प्रदान करता है।

सौष्ठववादी के अनुसार काव्य सृजन द्वारा आत्माभिव्यंजन के आनन्द की पूर्ति के अतिरिक्त कवि का अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता। कवि स्वान्तः सुखाय कविता करता है। इस विचार-धारा के अनुसार काव्य का एक-मात्र उद्देश्य आनन्द है। सौन्दर्य की सृष्टि और अनुभूति द्वारा आनन्द-प्राप्ति ही काव्य के सृजन और अनुशीलन की प्रेरणा और प्रयोजन है। पर कवि के स्वान्तः सुखाय में ही सर्वसाधारण का आनन्द भी अंतर्निहित है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपने लिए दो आत्म-प्रकाशन के सिद्धांत को असमीचीन मानते हैं। उनका मत है कि भाव में स्वभावतः ही अपने-आपको अनेक हृदयों में अनुभूत कराने की प्रवृत्ति है। "एक-मात्र अपने ही लिए भावों का प्रकाशन—यह भी एक ऐसी निरर्थक बात है। रचना स्वयं रचयिता के लिए नहीं है—यही मानना पड़ेगा और यही मानकर ही चलना पड़ेगा। हमारे भावों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अपने-आपको अनेक हृदयों में अनुभव कराना चाहते हैं। प्रकृति में देखिए, प्राणि-मात्र व्याप्त होने के लिए स्थिरतापूर्वक रहने के लिए प्रयत्नशील है।"[1] परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है। "क्या इस कारण लेखक की रचना कृत्रिम हो जाती है? माता का दूध सन्तान के लिए ही होता है और क्या इसीलिए वह स्वतः स्फूर्त नहीं होता।"[2] कवि सर्व-साधारण की भाव-दशा को अपनी बना लेता है। उसके साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित करके अपने स्व की संकुचित परिधि को व्याप्त कर लेता है।[3] कविता के रूप में अपने भावों को व्यक्त करते समय उन्हें पुनः

---

१ 'साहित्य', रवीन्द्र पृष्ठ ७।

२. वही, पृष्ठ ८।

3. To trace poetry to the deepest and the most universal spring of

साधारणीकृत रूप प्रदान कर देता है। वे कवि के होते हुए भी सर्वसाधारण के होते है। इसीलिए उनमे कवि का स्वान्त. सुखाय और पाठक का आनन्द दोनो रहते है। रवीन्द्र इसे ही साहित्य का कवि मानते है। "भाव को अपना बनाकर सर्वसाधारण का बना देना यही साहित्य है, यही ललित कला है "इसीलिए सर्व साधारण की वस्तु को विशेष रूप से अपनी बनाकर उसी प्रकार उसको सर्व-साधारण की बना देना साहित्य का कार्य है।"[1] यदि हम अपने हृदय की अनुभूति को सर्व-साधारण की अनुभूति बना सके तो हमे एक गौरव शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है। मै जिससे विचलित हो उठता हूँ तुम उनके प्रति सर्वथा उदासीन रहते हो। यह मुझे अच्छा नही लगता।[2] 'स्वच्छन्दतावादी कवियो के वर्ण्य-विषय-सम्बन्धी आदर्श और आत्माभिव्यजन के सिद्धान्त की यह सुन्दर और समीचीन व्याख्या है। नितान्त वैयक्तिक विचार और भाव साहित्य की वस्तु नही हो सकते। वैयक्तिकता को अनुचित अर्थ मे ग्रहण करने वाले कवियो ने पर्याप्त प्रलाप भी किये है। पर उनका कोई साहित्यिक मूल्य नही है। इन उद्धरणो से सौष्ठववादी समीक्षक की धारणाये अत्यन्त स्पष्ट है। वह काव्य को व्यक्तित्व की वह अभिव्यक्ति मानता है जो सर्व-साधारण को अपने ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति प्रतीत हो।

स्वच्छन्दतावादी कवि भौतिक उपयोगितावाद अथवा नैतिक उपदेश की दृष्टि से सृजन नही करता। उसका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि है और उसका सीधा सम्बन्ध नीति से नही अपितु आह्लाद से है। "कला मे बाह्य जीवन-सम्बन्धी आरोप, चाहे वह धार्मिक हो, चाहे नैतिक, अनुचित है।"[3] यह ऊपर के विवेचन से भी अत्यन्त स्पष्ट है। प्राय: सभी कवियो और आलोचको ने इसका प्रतिपादन किया है।

"The poet writes under one restricition only, namely the necessity of giving immediate pleasure to human-being possessed of that information which may be expected from him, not as a lawyer, a physician, a mariner, an astronomer or a natural philosophor, but as a man." [4]

"The end of poetry is to produce excitement in co-

---

human nature. (English Litrary criticism by Vavghan)

१. 'साहित्य', रवीन्द्र, पृ० १५।

२. वही, पृ० १८।

३. 'छायावाद और रहस्यवाद" गगाप्रसाद पाण्डेय, पृ० ७।

४. Wordsworth preface to Lyrical ballads. P. 16

existence with an overbalance of pleasure.[1]

"In Coleridge's view poetry is the anti-thesis of science having for its immediate object-pleasure, not truth[2]

(प्रसादजी भी काव्य का यही ध्येय मानते हैं । सौन्दर्य-सृष्टि के अतिरिक्त उन्होने काव्य का कोई उद्देश्य नही माना है। साहित्य सौन्दर्य को पूर्ण रूप से विकसित करता है और आनन्दमय हृदय उसीका अनुशीलन करता है।[3] सौन्दर्य और आनन्द को सत्य तथा शिवत्व से पूर्णत· विच्छिन्न करके देखने की प्रवृत्ति भारतीय विचार-धारा के अनुकूल नही है । भारतीय चिन्तन मे सर्वत्र सामजस्य ही है । साहित्य के क्षेत्र मे भी सत्य, सौन्दर्य, और शिवत्व को पृथक् और परस्पर विरोधी नही माना जाता। इन तीनो का भी सामजस्य ही मान्य हुआ है। महादेवी जी ने काव्य और कला का आविष्कार सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए ही माना है।[4] पन्तजी इन तीनो के सामजस्य की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहते है : "सत्य शिव मे स्वय निहित है । जिस प्रकार फूल मे रूप-रग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल मे सत्य के नियमो द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिव मे सत्य द्वारा ही होती है।"[5] महादेवी जी काव्य की उत्कृष्टता का कारण जीवन की विविधता मे सामजस्य स्थापना करना मानती है। काव्य इस समन्वय द्वारा असीम सत्य की झाकी देता है।[6] केवल प्रयोजन और उपयोगितावाद का दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है । सौन्दर्य-बोध हमे प्रयोजन के सकुचित वातावरण से ऊपर उठाना है । यही मानव को सुसस्कृत और सभ्य बनाता है। प्रसादजी कहते है : "सस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।"[7] 'सौन्दर्य हमारी क्षुधा-तृप्ति मे एक उच्च स्वर को लगाता है । यही कारण है कि एक दिन जो असयत जगली थे, आज वे मनुष्य हो गए है। उसने (सौन्दर्य) ससार के साथ एक-मात्र प्रयोजन का सम्बन्ध न रखकर आनन्द का

1 seia P. 23

2. Introduction to 'Study of Literature by Hudson' P. 14

३ 'इन्दु', कला १, किरण २, सन् १९०९ ।

४ 'दीपशिखा' की भूमिका, पृष्ठ २ ।

५ 'आधुनिक कवि', पन्त, पृष्ठ ६ ।

६ वही भूमिका पृष्ठ ४ ।

७. 'काव्य और कला', पृष्ठ ५ ।

सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। प्रयोजन के सम्बन्ध में हमारी हीनता है, दासत्व है। आनन्द के सम्बन्ध मे ही हमारी मुक्ति है।"[1] कवीन्द्र अपने इसी 'सौन्दर्य-बोध' नाम के निबन्ध मे सौन्दर्य का सयम से भी सम्बन्ध स्थापित करते है। असयमशील सौन्दर्य-भावना विलासिता मे परिणत हो जाती है। उसमे सौन्दर्य-बोध की उच्चता और पवित्रता नही रहती। अशान्त और असयमी चित्त, उन्मन्त और चिरन्तन पर्व वर्तनशीलता मे ही सौदर्य देखता है। एक परिवर्तन की भँवर मे पकडकर घूमने मे ही उसे आनन्द आता है। पर यह आनन्द चिरस्थायी नही है। शराब के नशे की तरह उतर जाने पर आनन्द का लेश-मात्र भी नही रहता। यह न तो वास्तविक सौदर्य-बोध है और न तज्जनित आनन्द। यूरोप के साहित्य की यही अवस्था है।[2] हमारे कतिपय कवियो मे भी इसप्रकार की असयत प्रवृत्ति के कुछ दर्शन होते है। पर यह प्रवृति भारतीय प्रवृत्ति के अनुकूल है। यहा पर सौन्दर्य और मगलका सामजस्य है। रवीन्द्र भी इन दोनो को एक ही मानते है। मंगल वस्तुतः सुन्दर है, उनमे मानव-हृदय को आकृष्ट करके तन्मय करने की क्षमता होती है। उसमे केवल प्रयोजन की भौतिक स्थूल अभाव की ही तृप्ति नही है। साहित्य-साधना से प्राप्त आनन्द तथा विश्राम साधारण पार्थिव आनन्द से भिन्न माना गया है।[3] वह इससे बहुत-कुछ अधिक है। "सत्य तो यह है कि जो वस्तु मगल होती है वह एक तो हमारी आवश्यकता पूर्ण करती है और दूसरे वह सुन्दर होती है। अर्थात् उपयोगिता के अतिरिक्त भी उसमे एक तरह का निष्प्रयोजन आकर्षण होता है। नीति के पंडित ससार मे मगल का धर्म की दृष्टि से प्रचार करने का प्रयत्न करते है और कवि मगल को ससार मे उसकी अनिर्वचनीय सौन्दर्य की मूर्ति मे प्रकाशित करते है।" सौन्दर्य और मगल का यह सामजस्य सौदय को उच्च स्तर की वस्तु बना देता है, उसे केवल स्थूल भोग-विलास के साधन-मात्र तक सीमित नही रखता। इसमे रूढिगत नैतिकता तो नही रहती, पर विश्व-कल्याण की भावना अन्तर्हित होती है। रवीन्द्र के ये विचार भारतीय चिन्तन-धारा के सर्वथा अनुकूल है। छायावाद मे भी सौन्दर्य और मगल के इस सामजस्य का आभास मिलता है। प्रसादजी भी काव्य को श्रेयमयी प्रेम-ज्ञान-धारा कहकर सौन्दर्य और मगल के सामजस्य की ओर सकेत कर रहे है। उनकी इस विचार-धारा मे यह भी स्पष्ट है कि इन दोनो के समन्वय का आधार सत्य ही है। उसमे प्रकृति, मानव तथा सभी वस्तुओ मे एक चेतन सत्ता देखने की प्रवृत्ति, प्राणि-मात्र की एकता का

१. 'साहित्य', रवीन्द्र, पृष्ठ ३३।
२. वही, सौन्दर्य बोध नामक निबन्ध।
३ छायावाद और रहस्यवाद', पृ० ६।

सदेश दे रही है। इस प्रकार मंगल अन्तर्हित है। मानव-हृदय मे प्रकृति के कण-कण के प्रति सौन्दर्य-भावना जाग्रत करके उस पूर्ण मगल की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा ही प्रसादजी आदि कवियो की कविता का प्राण है। इन काव्यो का उद्देश्य स्थूल और जड नीतिवाद का उपदेश और प्रचार नही, अपितु म गल-विधान है। उपदेश की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए निरालाजी कहते है : 'सूक्तिया और उपदेश मैने बहुत कम लिखे है, प्राय नही, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मै कवि की कमजोरी मानता हूँ।"[1]

ऊपर जिन काव्य-सिद्धान्तो का निरूपण हुआ है, वे छायावादी कवियो और सौष्ठववादी आलोचना की मूल भित्ति कम-से-कम हिन्दी मे है इस काव्य-धारा और आलोचना-पद्धति के निर्माण की यही सामग्री है, उनकी प्रगति की यही दिशा है। वस्तुत. यहा पर स्वच्छन्दतावाद ने काव्य-सिद्धान्त, काव्य-शैली और नीति की रूढिवादिता के क्षणिक रूप के विरुद्ध आन्दोलन किया था। रीति-काल मे तथा उससे भी बहुत पहले से ही भारतीय चिन्तन-धारा स्थिर हो चली थी। इसलिए उसमे स्थैर्य के कारण दुर्गन्ध हो गई। इससे चिन्तन की प्रगति अवरुद्ध हो गई और रूढिवादिता का प्राबल्य हो गया। पर यहा के धार्मिक, दार्शनिक, काव्य-सम्बन्धी चिन्तन के सिद्धान्त' चिरन्तन सत्यो पर अधिष्ठित थे, इसलिए इतने लम्बे समय की बौद्धिक शिथिलता भी उनको अनुपयोगी नही कर सकी। भारतीय जीवन मे नीति के जड नियमो के लिए बहुत कम स्थान है। उनका ध्यान तो मगल के सार्वदेशिक रूप की ओर ही रहा है। यही बात उनके काव्य-सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। उनके रस, औचित्य और ध्वनि के सिद्धान्त काव्य-सम्बन्धी चिर सत्यो पर आधारित है। उनमे देश और काल के व्यवधान से ऊपर उठकर साहित्य मात्र के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है और यही कारण है कि वे सार्वदेशिक और सर्वकालिक मानदड उपस्थित करते है। समयानुकूल इनकी व्याख्याओ मे कुछ उपज्ञता-प्रदर्शन की भी गुजाइश है। शुक्लजी ने 'रस' का आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धातो के अनुकूल विवेचन किया है। ऐसे और भी कई प्रयास हुए है और होते रहेगे। छायावाद और सौष्ठववादी आलोचना के जन्मदाता प्रसादजी तथा इस आलोचना-पद्धति के प्रमुख कर्णधार श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी भारतीय रस सिद्धान्तो के महत्व को स्वीकार किये बिना न रह सके। इतना निश्चित है कि भारतीय काव्य मे यूरोप की-सी उद्देश्य-हीनता के दर्शन नही हो सकते। यहा पर वैयक्तिकता और साधारणीकरण, स्वान्त: सुखाय और जन-सुखाय तथा सौन्दर्य और म गल का सामजस्य हुआ है। इन्ही धाराओं पर हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति का विकास हुआ है। ये

१. 'प्रबन्ध-प्रतिभा', मेरे गीत और कला, पृष्ठ २८४।

सिद्धान्त ही उसके आधारभूत है। इसीलिए पहले इन सिद्धान्तो के विशद विवेचन की आवश्यकता थी।

इस नवीन समीक्षा-पद्धति की सबसे प्रधान वस्तु है सौष्ठव की अनुभूति तथा पाठक के हृदय मे भी उस अनुभूति को जाग्रत करने के लिए उसका उपयुक्त विश्लेषण। काव्य का प्राण व्यजना या ध्वनि है और वह सहृदयश्लाघ्य। भावुक ही उस का रसास्वादन कर सकता है। कवि के सृजन का भावयित्री प्रतिभा द्वारा रसास्वाद करने वाला भावक होता है। वही वास्तविक आलोचक है है।[1] साधारण पाठक और आलोचक मे मुख्य भेद यही है कि साधारण पाठक काव्य-सौन्दर्य को पूर्ण रूप से अनुभव नही कर पाता है। कुछ ऐसी गूढ व्यजनाए होती है, जिन्हे उसकी बुद्धि और हृदय ग्रहण नही कर पाते, पर भावक उनके अन्तस्थल मे प्रवेश करके उनका पूर्ण रसास्वाद कर लेता है। वह विश्लेषण और विवेचन द्वारा अनुभव के योग्य वातावरण भी उपस्थित कर देता है। गूढ व्यजनाओ की अनुभूतिमय व्याख्या करके तथा उनके सन्दर्भ का विशद निरूपण करके साधारण पाठक के लिए भी उन्हें अनुभवगम्य कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधारण पाठक जितना रसास्वाद, उनके महत्व की प्रतीति आलोचना पढने के बाद कर सकता है उतना उससे पूर्व नही। यही आलोचना की सफलता है और यही उसका प्रकृत रूप है। आलोचना के इसी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कार्लाईल कहते है:

"Criticism stand like an interpreter between the inspired and the uninspired, between the prophet and those who beat melody of his words, and catch some glimpses of their material meaning, but understand not their deeper import."

जिसे कार्लाईल गूढार्थ (Deep import) कहते है, वही वास्तविक काव्य-सौष्ठव है, काव्य का प्राण है। काव्य-सौष्ठव कवि-हृदय की अनुभूति और अभिव्यक्ति का वह सारभूत अश है, जो काव्य मे वर्णित सारे जीवन और पात्रो का प्राण-स्पन्दन है, जो जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है, और काव्य के आह्लाद का मूलभूत कारण है। इसी तत्व से काव्य सचेतन रहता है। कार्लाईल इसीको "दिव्य ज्योति" Empyrean fire कहते है। अन्य सभी वस्तुएँ और तत्व केवल उसको पुष्ट करने के लिए है। इसीलिए यह नवीन समीक्षक उस वस्तु को पूर्ण रूप से समझ ही नही लेना चाहता, अपितु उसका हृदय से साक्षात्कार भी कर लेना चाहता है। यह उसके लिए बौद्धिक विश्लेषण का विषय नही। वह उससे स्वय आह्लादित होता है और पाठको को आह्लादित करना चाहता है। इसमे आलोचक

१. 'काव्य-मीमांसा', राजशेखर-कृत, चतुर्थ अध्याय।

की बुद्धि और हृदय का पूर्ण सयोग रहता है और यही पाठक के लिए अपेक्षित है। कार्लाईल उन प्रश्नों का निर्देश करते है, जिनका उत्तर सौष्ठववादी समीक्षक देता है। समीक्षक को उस दिव्य ज्योति और प्राण-स्पन्दन का उद्‌घाटन करना है जिससे सारा काव्य आलोकित और स्पन्दित होता है, जो काव्य की जीवन-शक्ति है। इसे कलात्मक कौशल पर प्रधान रूप से विचार नही करना है, जो कवि के आलकारिक चमत्कार का हेतु है। जिन पर विचार करना है, उसको कार्लाईल स्पष्ट करते है :

"By what for and more mysterious mechanism Shakespeare organised his dreams, gave life and individuality to his Arial and Hemlet, wherein lies that life, how have they attained that shape and individuality ? Where comes that Empyrean fire which cradiates their whole being and pierees at least in starry gleams like a diviner thing in to all hearts."[1]

समीक्षक को उस तत्व का उद्‌घाटन करना है जिसके कारण काव्य प्रत्यक्ष जगत् से अधिक सत्य है। उसे केवल कविता के सृष्टा का ही परिचय नही देना है, अपितु यह भी स्पष्ट करना है कि किस प्रकार एक विशेष कला-कृति उसकी अनुभूति का स्वाभाविक और सहज परिणाम है। समीक्षक को वह तत्व स्पष्ट करना है जिसके कारण कविता कविता है। केवल लययुक्त पद्य नही। सौष्ठववादी समीक्षक के लिए इतना व्यापक दृष्टिकोण अपेक्षित है। सौष्ठव की अनुभूति का सहज परिणाम ही आह्लाद है। भारतीय आलकारिक इसी को रसास्वाद कहना चाहता है और पाश्चात्य समालोचक सौन्दर्य-मूलक आह्लाद (Aesthetic pleasures)। इसीलिए रसानुभूति और उसके कारणो का विश्लेषण ही नवीन समालोचक का प्रधान उद्देश्य है। इसका यह तात्पर्य नही है कि वह कला के किसी नैतिक अथवा सास्कृतिक महत्व की नितान्त अवहेलना करता है। उसका ध्यान इनकी ओर जाता अवश्य है, पर गौण रूप मे। वह यह मानता है कि काव्य-पाठक के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों को प्रभावित करता है। उसका रागात्मक प्रसार करके चारित्रिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्थान में सहायक होता है। सारे मानव-समाज पर भी उसका सांस्कृतिक प्रभाव पडता है पर यह सारा कार्य व्यंजना और आह्लाद के माध्यम से होता है, यह परोक्ष प्रभाव है। काव्य का कार्य अज्ञात रूप से व्यष्टि और समष्टि को प्रभावित करना है पर यह परोक्ष प्रभाव भी महान् और स्थायी होता है। इस प्रकार सौष्ठववादी समालोचक काव्य के

1. American Critical Essays—19th to 20th Century P. 434-435.

चिरन्तन और सांस्कृतिक महत्व का भी विचार करना है। उसे नीति का रूढ रूप नही अपितु नैतिकता का सार्वदेशिक और सार्वकालिक रूप ही मान्य है। वह उसी को काव्य मे देखना चाहता है और उसी के आधार पर काव्य का मूल्याकन करता है। वह कवि को उपदेशक अथवा प्रचारक के स्तर पर नही लाना चाहता। इस कार्य को वह काव्य के लिए हेय और अपमानजनक समझता है। इसीलिए वह अपना प्रधान उद्देश्य सौष्ठव तथा तज्जनित आह्लाद की अनुभूति और उसका तात्विक विश्लेषण मानता है। काव्य का सास्कृतिक अथवा नैतिक महत्व भी इसी आह्लाद की वृद्धि करने वाला है। सुन्दर, कलात्मक और भाव सौष्ठव से परिपूर्ण काव्य अगर मानव को सस्कृति का कोई महान्, स्पष्ट और व्यक्त सन्देश भी दे तो सोने मे सुगन्ध है, इससे काव्य का सौष्ठव और आह्लाद, द्विगुणित हो जाता है। 'कामायनी' इसका सजीव उदाहरण है। पाठक को उसमे अनिर्वचनीय आह्लाद प्राप्त होता है। 'कामायनी' व्यष्टि रूप मे उसके चारित्रिक और रागात्मक प्रसार की कारण है और समष्टि रूप मे सास्कृतिक विकास की प्रेरक। काव्य-सौष्ठव सस्कृति का विरोधी नही हो सकता। वस्तुत सस्कृति के व्यापक अर्थ के साथ तो इसका सामजस्य है।

नवीन समालोचक सौष्ठव को व्यापक अर्थ मे ग्रहण करता है। उसमे भावो, कल्पनाओ और अनुभूतियो की स्निग्धता, कान्ति माधुर्य और मार्मिकता आदि उन सभी गुणो का समावेश है जो उनकी प्रभावोत्पादकता और सौष्ठव (Sublimity) के उत्कर्षक है। उसमे अनुभूतियो की व्यजकता तथा रागात्मकता भावो की गूढता और अनन्तता एव शैली की लाक्षणिकता और प्राजलता का अन्तर्भाव है। सौष्ठव मे अनुभूति और अभिव्यक्ति का, काव्य के बाह्य और आभ्यन्तर दोनो का समन्वय है। यही कारण है कि सौष्ठववादी उन सभी कारणो का विवेचन करता है जो पाठक के हृदय मे स्फूर्ति और आह्लाद जाग्रत करने के हेतु है। सौष्ठववादी समालोचक कवि के व्यक्तित्व, अनुभव-जगत् एव उनकी अभिव्यजना का स्थूल निरूपण ही नही करता, अपितु वह उनके अन्तस्थल मे प्रवेश करके उनके गूढ रहस्य, मार्मिकता तथा सौन्दर्य का उद्घाटन करता है। कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पक्षो के सौष्ठव का अध्ययन और प्रकाशन ही उसका प्रधान कार्य है। वह इनमे सामजस्य स्थापित करता है। सौष्ठववादी आलोचक छन्द, रीति और शैली के आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट नियमो और आदेशों का पालन करना कवि के लिए आवश्यक नही समझता है। वह कवि-प्रतिभा की नैतिक और अलंकार-शास्त्रीय नियमो से पूर्ण स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करता है। उसे अपनी आलोचना मे प्रधानतः अलकार-शास्त्र के तत्वो का विश्लेषण नही करना, उसे यह भी नही कहना है कि आलोच्य कवि इन नियमो के निर्वाह में

वितना सफल हुआ है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह काव्य के कला-पक्ष शैली और अभिव्यंजना की अवहेलना करता है। उसे भाव और अभिव्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध तथा भावों की अनेकता अनन्तता के अनुरूप ही अभिव्यंजना-शैलियों की अनेकता और अनन्तता का सिद्धान्त मान्य है इसलिये वह यह बताने का प्रयत्न करता है कि भाव, अनुभूति और वस्तु किसी विशेष शैली मे कितने सौष्ठव, मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता के साथ व्यक्त किये जा सके है। इसीको भाव और भाषा, वस्तु और शैली, अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामजस्य कहते है। यही शैली और अभिव्यंजना-सम्बन्धी सौष्ठव है। कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन समीक्षा काव्य के वस्तु सकलन, चरित्र-चित्रण, भाव, अनुभूति, कल्पना, सवेदनात्मकता, अनुभूति-व्यंजना, ध्वन्यात्मकता आदि सभी तत्वो के बाह्य और आभ्यन्तर सौष्ठव को देखता है। उसकी बौद्धिक और विश्लेषणात्मक कम तथा अनुभूतिमय व्याख्या अधिक करता है। वह स्वय काव्य के सौष्ठव का अनुभूति से साक्षात्कार करके आह्लादित होता है और पाठक को आह्लादित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रक्रिया मे उसे कुछ विश्लेषण और बौद्धिकता का आश्रय भी लेना पडता है। वह इन प्रक्रियाओं को गौण साधन के रूप मे अपनाता है, प्रधान वस्तु तो उसके लिए अनुभूति ही है। शुक्लजी रस के बौद्धिक व्याख्याता है, पर सौष्ठववादी समालोचक उसकी सवेदनीयता को अनुभूति द्वारा ग्रहण करना चाहता है।

कार्लाईल इस समीक्षा-पद्धति का तात्विक विश्लेषण करते हुए कहते है

Criticism has assumed a new form in ermany It proceeds on other principles and proposes to itself a higher aim. The main question is not now a question concerning the qualities of diction, the coherence of metaphors, the fitness of metaphors, the fitness of sentiments the general logical truth in a work of art, as it was some half century ago among most critics ..but it is properly and ultimately a question of essence and peculiar life of the poetry itself."[1]

इससे स्पष्ट है कि अब आलोचक कविता की प्राणभूत वस्तु का विवेचन करना चाहता है। इसी प्राणभूत वस्तु के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह रचना कविता है। यह प्राणभूत वस्तु एक शब्द मे सौष्ठव के नाम से अभिहित की जा सकती है। इस सौष्ठव का ऊपर विवेचन हो चुका है। इस सौष्ठव का

1. Spingarn—The New Criticism P. 434 (The American critical essayes XIXth and XXth centaury.)

उद्घाटन प्रधान वस्तु है। इसी को स्पष्ट करते हुए कार्लाईल उन प्रश्नो को रखते हैं, जिसका विचार आज के समीक्षक करते है ?

"What is this unity of pleasure, and can our deeper inspection-discern it to be indivsible and existing on necessity because each work springs as it were from the greneal eiements of thought and grows up there upon into form and expansion on its own growth Not only who was the poet and how did he compose; but what and how was the poem aud why was it a poem and not rhymed eloquence, creation and not figured passion' there are t he questions; or the critic."

समीक्षा का मानदड साहित्यिक रचना में ही विद्यमान रहता है। जिन साहित्य-सम्बधी धारणाओ से आलोचना का मान तैयार होता है, वे कवि के व्यक्तित्व, उसकी विचार-धारा और उनकी कृति से स्वय ही व्यजित हो जाती है। बाहर से किसी मान के आरोप करने की आवश्यकता नही है। कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य तथा सौष्ठव के सिद्धान्त का यह सहज निष्कर्ष है। बाह्य तत्वो का काव्य पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण नही है। उनका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष कवि के व्यक्तित्व और साहित्य के अन्तरग तत्वों पर ही निर्भर है, किसी बाह्य तत्व पर नही। ऊँचे से-ऊँचा नैतिक आदर्श साहित्य-शास्त्र, राजनीति, इतिहास, आदि का ज्ञान भी उत्कृष्ट साहित्य-सृजन मे अनिवार्य रूप से सहायक नही हो सकता है। आदर्श की उच्चता अथवा ज्ञान की प्रौढता से साहित्यिक की उत्कृष्टता का कोई सम्बन्ध नही है। इसलिए काव्य की परीक्षा के साधन भी नैतिकता और आदर्शवाद से स्वतन्त्र ही होने चाहिएँ। ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण काव्य-परीक्षा के प्रधान मानदड नही है। उन्हें गौण अथवा सहायक रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। बाह्य परिस्थितिया कवि के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, उनका काव्य पर भी परोक्ष नियन्त्रण होता है; इसलिए उनकी अवहेलना तो नही की जा सकती। उनका विवेचन तो अवश्य ही करना पडता है, पर यह विवेचन गौण ही माना जायगा। काव्य तथा उसकी समीक्षा की इनसे स्वतन्त्र पृथक् सत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसका अपनी पुस्तक मे प्रतिपादन किया है, उनकी यही मान्यता है। "काव्य का महत्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नही। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और

साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन है । काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक सस्कार और आदर्श थोडी ही मात्रा मे कर सकते है ।"[1]

पाश्चात्य देशो मे दर्शन, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, आचार-शास्त्र आदि अनेक विधाओ का काव्य पर कठोर नियन्त्रण प्रारम्भ से ही रहा है । काव्य-समीक्षा के जो मानदड समय-समय पर मान्य हुए, वे दर्शन, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, चरित्र अथवा अन्य किसी शास्त्र पर ही आधारित रहे । इसी लिए स्वच्छन्दतावाद(Romanticism) को काव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए इतना बडा आन्दोलन करना पडा। भारत मे काव्य इतने बन्धनो मे नही जकडा गया था । प्राचीन काल से ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता मान्य थी । पर फिर भी दर्शन आदि कुछ विधाओ का बहुत साधारण-सा प्रभाव प्रारम्भ से ही था । रस-सम्बन्धी सम्प्रदाय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायो मे प्रभावित थे । धर्मशास्त्र के नियन्त्रण से काव्य पूर्णत: मुक्त नही था । पर रीतिकाल मे ये नियन्त्रण जड और जटिल हो गए । इतिवृत्तात्मक काल मे ही नीति, लोकादर्श तथा साहित्य और जीवन के सम्बन्ध की जड धारणाओ का नियन्त्रण बढ चला था । इसीलिए भारतीय कवियो और आलोचको को भी काव्य की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करनी पडी । वाजपेयी जी की घोषणा इसी परिस्थिति की द्योतक है । पन्त जी और प्रसाद जी ने भी ऐसी घोषणाएँ की है ।[2] काव्य की सत्ता की घोषणा मे काल का भी विचार हुआ है । इस काल की कविता का परीक्षण उसी काल के मान के आधार पर ही किया जा सकता है । यह मान उस काल की कविता से अपने-आप ही उपलब्ध होता है । इस प्रकार मानो के आरोप को अस्वीकार किया गया । रीति-काल के काव्य की विशेषताओ के आधार पर बनाया गया मानदड आधुनिक कविता के लिए पूर्णत: अनुपयुक्त है । सेण्ट्सबरी ने भी इसे सौष्ठववादी समीक्षा के प्रधान तत्वो मे से माना है ।[3]

---

१. **'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी'**, भूमिका ८ ।

२ **प्रसादजी—इन्दु' कला १, किरण १, और 'पल्लव' की भूमिका**, पृष्ठ २१ ।

3. One period of literature can not prescribe to another. Each has its own laws, and if any general laws are to be put above these, they must be such as will embrace them,.....Rules are not to be multiplied without necesssity, and such as may be admitted must rather be extracted from the practice of good

इससे यह निष्कर्ष भी स्वभावतः ही निकलता है कि काव्य का अपने परिवेष्टन से गहरा सम्बन्ध है। परिवेष्टन कवि के व्यक्तित्व का निर्णायक है और काव्य कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति-मात्र है। यही कारण है कि नवीन समीक्षक भी काव्य और कवि की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करता है। सौष्ठववादी दृष्टिकोण के विकास के पूर्व ही ऐतिहासिक समालोचना की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट हो गया था। डॉ० जानसन के पूर्व ही इस प्रकार की आलोचना के उदाहरण उपलब्ध है। हिन्दी में भी शुक्लजी आदि कतिपय आलोचकों ने ऐतिहासिक समीक्षा के प्रौढ तत्वों का उपयोग किया है। इसके पहले मिश्रबन्धु आदि में भी इस समालोचना का पूर्वाभास मिलता है। पर सौष्ठववादी समीक्षा के विकास ने ऐतिहासिक समालोचना को भी प्रौढ रूप प्रदान कर दिया। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री दिनकर आदि में इस समालोचना का जो आग्रह है, उसका श्रेय स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को ही है। इसके पूर्व साहित्य और साहित्यकार की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक पृष्ठभूमि का निर्वचन तो होता था, पर समालोचक परिवेष्टन और परिवेष्टित के गूढ और स्वाभाविक सम्बन्ध का निरूपण नहीं कर पाता था। वे एक-दूसरे से पृथक् ही प्रतीत होते थे। परिवेष्टन ने कवि के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया है, कौन-से तत्व वातावरण के सहज और स्वाभाविक परिणाम है, इन सब प्रश्नों का उत्तर देने की प्रवृत्ति नहीं थी। सौष्ठववादी समीक्षक ने यही प्रयत्न प्रारम्भ किया था। यह हम ऊपर कह चुके है कि समीक्षा में कला और कलाकार का व्यक्तित्व दोनों ही का समान महत्व है। इसमें कलाकार के व्यक्तित्व का विशद विश्लेषण होता है और उस व्यक्तित्व से कला-कृति के स्वरूप का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कला-कृति की वस्तु, भाव, अभिव्यजना, शैली-सम्बन्धी विचार-धारा, तथा दृष्टिकोण आदि सभी कुछ कलाकार के व्यक्तित्व से पूर्णत सम्बद्ध है। इसीलिए दो कवियों के व्यक्तित्व की तरह दो कला-कृतियां भी एक-दूसरे से भिन्न है। उन दोनों का ही पृथक् अस्तित्व है और महत्व है। समीक्षक कला-कृति के स्वरूप के समान ही कलाकार के व्यक्तित्व की भी विशद व्याख्या करता है। वह कला-कृति के आधार पर कलाकार के व्यक्तित्व को समझता है। अगर वह कलाकार के व्यक्तित्व से परिचित है तो कला-कृति के तत्वों का विश्लेषण उसी आधार पर करता है। सौष्ठववादी यह समझाने की चेष्टा करता है कि कलाकार की जीवन-सम्बन्धी-धारणा है क्या, और इन धारणाओं के बनने के कारण क्या

Poets and prose writers than imposed upon it," (Saintsbury, History of English Criticism P 410.)

है ? उसका व्यक्तिगत जीवन तथा उसकी परिस्थितियां उसके जीवन-दर्शन, वस्तु निर्वाचन शैली आदि के लिए कितनी उत्तरदायी है। इस प्रकार हम कह सकते है कि यह समालोचक मनोवैज्ञानिक, चरित-मूलक और ऐतिहासिक—इन तीनो समीक्षा शैलियो का उपयोग करता है, पर गौण रूप से ही। उसका प्रधान उद्देश्य कला-कृति के सौष्ठव तथा तज्जनित आह्लाद की अनुभूतिमय व्याख्या है। पर उसके साथ ही वह इस सौष्ठव के उद्भावक कलाकार और उसकी निर्मायक परिस्थितियो का अध्ययन भी कर लेता है।

हिन्दी की सौष्ठववादी समालोचना के तत्वो मे क्रमिक विकास हुआ है। उसने अपनी पूर्ववर्ती पद्धतियो से बहुत-कुछ ग्रहण किया है और उनका विकास किया है। ऊपर जिन तीन शैलियो के विकास का निर्देश हुआ है, उससे यह स्पष्ट भी है। इनके अतिरिक्त सौष्ठव और मगल पर आधारित मान का विकास भी स्पष्टत ही शुक्ल जी तथा उनसे पूर्ववर्ती आलोचक के भाव, और कला के सौन्दर्य तथा नीति वाले मानदड का विकास, परिमार्जन और विशदी-करण ही है। वही धारणा वस्तु और शास्त्र की रूढिवादी सीमाओ का अतिक्रमण करके सौष्ठव-वादी असीमता और स्वच्छन्दता मे विकसित हो गई। आरोहात्मक पद्धति मे भी धीरे-धीरे विकास हुआ है। शुक्ल जी ने ही इसको कुछ अपना लिया था। इस पद्धति ने इसके अधिक विकसित और प्रौढ रूप को अपनाया। कहने का तात्पर्य यह है कि यह समीक्षा अपनी पूर्व-सचित निधि को लेकर आगे बढती है और विकसित होती है।

हिन्दी-समीक्षा की शैलियो का विकास प्रायः समानान्तर-सा रहा है। 'पल्लव' की भूमिका मे सौष्ठववादी समालोचना की प्रेरणा स्पष्ट है और तब से उसका निश्चित और अविरल रूप से विकास हुआ है। पर उसके पूर्व भी इस समीक्षा के तत्व उपलब्ध होते है। वे इसी के पूर्वाभास कहे जा सकते है। रीति-काल की काव्य और समीक्षा-पद्धति का विरोध करने में प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचय देते है। सन् १९०६ मे प्रसाद जी ने 'इन्दु' के सम्पादकीय मे अपने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया था। उन्होने उसी समय कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्रता और शास्त्रीय नियमो से स्वतन्त्र आलोचना के सिद्धान्तो की घोषणा कर दी। उन्होने काव्य का परम उद्देश्य आह्लाद और सौदर्य-सृष्टि ही माना है। प्रसाद जी के काव्य-सृजन की प्रेरणा मे भी यही विचार-धारा है। इस प्रकार उन्होने नवीन काव्य-धारा और इस समीक्षा-पद्धति को सन् १९०६ मे ही जन्म दे दिया। सौष्ठववादी आलोचना का वास्तविक प्रारम्भ 'इन्दु' के सम्पादकीय लेखो से ही हो जाता है। बहुत दिनो तक वह प्रच्छन्न रूप मे विकासत होती रही। हिन्दी-आलोचको के अवचेतन और चेतन मन मे कई

वर्षों तक विकसित होने के उपरान्त वह 'पल्लव' की भूमिका में व्यक्त हुई। यह स्वच्छन्द विचार-धारा हिन्दी के दूसरी पद्धति के आलोचकों को भी प्रभावित करती रही। शुक्लजी भी इस विचार-धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। उनकी प्रसाद, पन्त आदि की आलोचना इसके प्रमाण है। तुलसी के सम्बन्ध में आरोहात्मक पद्धति को अपनाकर भी उन्होंने इसी आलोचना का आभास दिया है। शुक्ल जी की पन्त, प्रसाद आदि की आलोचनाएँ लोकादर्शवादिनी, बौद्धिक विश्लेषण-प्रधान, निर्णयात्मक और वस्तु-तन्त्रात्मक होने की अपेक्षा कला-कृति और कवि के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक है। इनमें उनके कला-पक्ष और भाव-पक्ष का शास्त्रीय वस्तुत-त्रात्मक परिचय तो है, पर आलोचक का ध्यान इनसे मुक्त काव्य-सौष्ठव पर भी गया है। उन्होंने सौष्ठव की अनुभूतिव्यंजक व्याख्या भी की है। लेखक ने प्रसादजी के स्वभाव और प्रकृति का भी काव्य-वस्तु से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि इन आलोचनाओं मे कुछ सौष्ठववादी आलोचना का क्षीण आभास मिलता है। अगर दैव का आघात न होता तो सभवत. शुक्लजी का सौष्ठववादी आलोचक और भी विकसित होता। इस आलोचना पर भी उनकी प्रधान पद्धति की छाप स्पष्ट है। कहीं-कहीं उन्होंने तुलनात्मक दृष्टिकोण का भी आश्रय लिया है।[2] शुक्ल जी के परवर्त्ती काल के आलोचकों की पद्धति मे एक दो तत्वों का ही अधिक विकास हुआ है। सब तत्वों का पूर्ण और संतुलित विकास बहुत कम हो पाया है। आगे हम कुछ आलोचकों की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

---

१. प्रसादजी मे ऐसे मधुमयी प्रतिभा और जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढग पर बहुत ही मनोरम विकास किया।... जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस प्रियतम के संयोग-वियोग वाली रहस्य-भावना में, जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए, रमते पाए जाते हैं। प्रेम-चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं, रँगरलियों और अठखेलियों वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जाती थी। इस मधुमयी प्रवृत्ति के अनन्त क्षेत्र में भी बल्लरियों के दान, कलिकाओं की लपक-झपक, पराग-मकरद की लूट, ऊषा के कपोल पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू के भीगे अम्बर चन्द्रमुख पर शरद् घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। 'इतिहास पृष्ठ ७५६।

२. शुक्लजी—वही, पृष्ठ ७६० : ७७४।

प्रसादजी—काल-क्रम से इस पद्धति के सर्वप्रथम आलोचक प्रसादजी ही हैं। 'इन्दु' मे प्रसादजी ने अपने काव्य-समीक्षा-सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किये थे उनसे उनका सौष्ठववादी दृष्टिकोण स्पष्ट ही है। प्रसादजी को साहित्य-दर्शन-सम्बन्धी धारणाओ का विवेचन हो चुका है। यहा पर हमे उनकी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओ का अधिक विस्तार से विवेचन करना है। प्रसादजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी विधाओ द्वारा वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रगति मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। उनकी रचनाये केवल परिमाण की वृद्धि-मात्र नही है, अपितु साहित्य और चिन्तन को नवीन दिशा मे अग्रसर करने वाले प्रौढ प्रयास है। उनकी प्रतिभा का साहित्य-सृष्टा और समीक्षक दोनो रूपो मे विकास हुआ है। प्रसादजी ने कवियो और काव्य-धाराओ की प्रयोगात्मक आलोचना की है। उन्होने प्रधानत. सैद्धान्तिक निरूपण ही किया है। इसमे प्रसगवश किसी समीक्षा-तत्व को स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रयोगात्मक समीक्षा भी हो गई है। पर उनका प्रधान उद्देश्य सैद्धान्तिक निरूपण ही है। वस्तुत. सैद्धान्तिक निरूपण ही समीक्षा-साहित्य की ठोस प्रगति है। प्रयोगात्मक आलोचनाओ का उद्देश्य भी किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचाना ही है। जब हमे प्रयोगो द्वारा किसी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है, तभी हमे अपनी प्रगति का निश्चयपूर्वक पता लगता है।

प्रसादजी साहित्य और दर्शन के प्रौढ विद्वान् थे। इसीलिए उनके विवेचन मे उपज्ञता के साथ ही शास्त्रीय प्रमाणिकता के भी दर्शन होते है। काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तो का जो विशद विवेचन हमारे प्राचीन आचार्यो ने किया है उसका गम्भीर अध्ययन करके प्रसादजी ने उन सिद्धान्तो को आत्मसात् कर लिया था। वे उन तत्वो के अन्तस्तल की गहराई तक पहुँच चुके थे। उन्होने प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य-सिद्धान्तो मे सामजस्य तथा काव्य की मुख्य-मुख्य धाराओ का दर्शन की प्रधान धाराओ के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है। रस का दर्शन की विचार-धाराओ से सम्बन्ध बताते हुए प्रसादजी कहते है: "आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर के थे और उन्होने वहा के आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलकार मत से सम्बद्ध किया। किन्तु महेश्वराचार्य अभिनव गुप्त ने इन्हीकी व्याख्या करते हुए अभेदमय आनन्द पक्ष वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की।[1] प्रसादजी ने "रस" को आनन्दवाद तथा अलंकार, वक्रोक्ति आदि को तर्क और विवेक की उपज कहा है। इस प्रकार उन्होने काव्य के सभी तत्वों और वादो का सम्बन्ध दार्शनिक वादो से कर दिया

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ७४ ७६।

है । प्रसादजी ने दार्शनिक और काव्य-सम्बन्धी मतो के विकास का ऐतिहासिक निरूपण भी किया है । यहा पर दर्शन के विकास के साथ-साथ साहित्य के नवीन यतवाद कैसे जन्म लेते गए है और उनमे किस प्रकार सामजस्य स्थापित हुआ, यह मतिपादन करना ही प्रसादजी का उद्देश्य है ।

प्रसादजी भारतीय रस-सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक है । वे रस को अभेदमय आनन्द रस कहते है । "रति आदि वृत्तिया साधारणीकरण द्वारा भेद-विगलित होकर आनन्द-स्वरूप हो जाती है ।"[1] उनकी आनन्द मे परिणति ही काव्य का परम लक्ष्य है । उसे वे ब्रह्मानन्द तुल्य मानते है । प्रसाद जी इन दोनो आनन्दो मे कोई अन्तर नही मानते प्रतीत होते है । काव्य को पूर्ण आध्यात्मिक मानने का यही तात्पर्य है । वे काव्यास्वाद को समाधि-सुख के तुल्य ही समझते है । अपने मत के समर्थन मे क्षेमराज के विचारो को स्पष्ट करते हुए वे लिखते है "इस प्रमातृ पद-विश्रान्ति मे जिस चमत्कार या आनन्द का लोक-सस्था-आनन्द के नाम से सकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण मे प्रकाशानन्दमय सम्विद् विश्रान्ति के रूप मे नियोजित था ।"[2] इस प्रकार दर्शन और साहित्यिक क्षेत्र मे सामजस्य है । प्रसादजी की दृष्टि मे काव्यानन्द आध्यात्मिक आनन्द और समाधि-सुख से किसी प्रकार भी भिन्न नही । काव्य को आत्मा की सकलात्मक अनुभूति की असाधारण अवस्था कहने का तात्पर्य भी रस और ब्रह्मानन्द को एक मानना ही है । उन्हे काव्य की आध्यात्मिकता पूर्णत मान्य है । आत्मा की इस अनुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति "रहस्यवाद" में ही होती है । जहा कही आत्मानन्द की यह अभिव्यक्ति होती है, उसी को प्रसाद जी रहस्यवाद मान लेते है । इस प्रकार वे रहस्यवाद को बहुत व्यापक अर्थ मे ग्रहण कर रहे है ।

प्रसाद जी भारतीय रसवाद को अपनाते हुए पूर्ण सौष्ठववादी और स्वच्छन्दतावादी माने जा सकते है । भारतीय रसवाद का आधुनिक स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण से बिलकुल भी विरोध नही है । इस सम्प्रदाय ने काव्य के प्रयोजन, कवि-प्रतिभा का स्वातन्त्र्य, कवि और सहृदय मे ऐक्य आदि सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है । रस-सम्प्रदाय भी काव्य का परम लक्ष्य आनन्द ही मानता है । इस आनन्द मे (रस मे) मगल भी निहित है । "रसो वै स." आदि वाक्यो से यह पूर्ण स्पष्ट है । महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी तो इतना मानते है कि इस सिद्धान्त के द्वारा जिस भावक, या आलोचक की प्रतिष्ठा होती है उसको प्रभावाभिव्यजक Impressionist कहा जा सकता है । वस्तुत भारतीय अलकार-शास्त्र का भावक सौष्ठववादी

---

१. वही, पृष्ठ ७६ ।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ७७ ।

समीक्षक ही है। इसका विवेचन पहले हो चुका है। इस प्रकार इन दोनो सिद्धान्तो मे परस्पर कोई विरोध नही। अत. प्रसाद जी का इन दोनो मे सामजस्य मानने मे अपसिद्धान्त नही है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि इनका सामजस्य स्थूल सामाजिकता के आधार पर नही अपितु सूक्ष्म दार्शनिकता के आधार पर हुआ है।[1] पन्तजी ने पूर्ण स्वच्छन्दता की घोषणा की, पर भारतीय रस-सिद्धान्त अपनी व्यापकता के कारण ही इन आलोचको द्वारा भी अपनाया गया। सौष्ठववादी समीक्षा से इसका विरोध न होने के कारण इसका उपयोग सभी समीक्षको ने किया है। यह उनके मानदड का एक तत्व हो गया है।

प्रसाद जी काव्यानन्द को प्रेय और श्रेय का सम्मिश्रण मानते है।[2] इससे स्पष्ट है कि काव्य की स्थूल उपयोगिता अर्थात् नैतिक उपदेश, समस्याओं का समाधान, क्रान्ति का साधन आदि के रूप मे अस्वीकार करते हुए ही प्रसाद जी को काव्य-प्रयोजन मे श्रेय और प्रेय, आनन्द और मगल, सुन्दर और शिव का सामजस्य मान्य है। भारतीय रसवाद को पूर्णत. समझने वाले के लिए इन वादो का झगडा रह ही नही जाता है। वह तो इनके सामजस्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है। यही प्रसाद जी के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है। पाश्चात्य सौष्ठववादी विचार-धारा भारत मे आकर भारतीय रस-सिद्धान्त मे एकाकार हो गई है, इसलिए इसने उन्ही व्यक्तियो को मतान्तरो के चक्कर मे डाला है जिन्होने भारतीय विचार-धारा को पूर्ण रूप से नही समझा है। यही कारण है कि नवीन विचार-धारा भी यहा के आलोचको को चिर परिचित-सी प्रतीत होती है। प्रसाद जी, वाजपेयी जी, कवीन्द्र रवीन्द्र आदि रस का इस विचार-धारा के साथ सामजस्य स्थापित कर लेते है। हमने ऊपर भी सौदर्य और मगल के सामजस्य को इस समीक्षा-पद्धति

---

१. रस मे लोक-मगल की कल्पना प्रच्छन्न रूप से अन्तर्निहित है। सामाजिक स्थूल रूप से नही, किन्तु दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर रसवाद मे वासनात्मकता स्थित मनोवृत्तिया, जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है, साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती है, इसलिए वह वासना का सशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है। वही, पृष्ठ ८६।

२. काव्य आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्को से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया, जो वाङ्मय के रूप मे अभिव्यक्त होती है, वह निसन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षणों—प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण है। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ३८।

की प्रधान विशेषताओं में स्थान दिया है। यहा पर यह पद्धति भी भारतीय रूप धारण कर गई है।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप भारतीय समीक्षक भी अनुभूति और अभिव्यक्ति की बाते करने लगे है। इस शब्दावली के द्वारा जो कुछ प्रतिपादित होना है, वह भारत के लिए एकदम नवीन अथवा उपज्ञ नही है। लेकिन शैली और शब्दावली नई है, यह अवश्य मानना पडता है। प्रसादजी ने भी अपने विचार इन्ही शब्दो मे व्यक्त किये है। प्रसादजी इस वाद-विवाद मे नही पडना चाहते है कि काव्य मे अनुभूति की प्रधानता है अथवा अभिव्यक्ति की। इस वाद-विवाद का लम्बा-चौडा विशद निरूपण उन्होने नही किया है। पर उनकी चिन्तन-धारा जिस दिशा मे प्रवाहित हो रही है, उससे यह स्पष्ट है कि प्रसादजी को अनुभूति की प्रधानता ही मान्य है। वे कहते है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति हो जाती है। "व्यजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम मे हम अभिव्यक्त देखते है।[1] इसमे उन्होने अभिव्यक्ति अनुभूति का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया है। अनुभूति की तीव्रता और और सौन्दर्य अभिव्यक्ति को पूर्णतः प्रभावित करते है। सुन्दर अभिव्यक्ति के पीछे सुन्दर अनुभूति को आवश्यक मानते है। प्रसाद जी की दृष्टि से सुन्दर अनुभूति के अभाव मे अभिव्यक्ति का सौन्दर्य संभव नही। वे शब्द-चमत्कार, या वाग्वैचित्र्य को अनुचित महत्व प्रदान नही करते। पर वे इतना अवश्य मानते है कि असाधारण और तीव्र अनुभूति से भाषा और अभिव्यजना मे एक विशिष्ट लावण्य, विच्छित्ति और वक्रता आ जाती है।[2] इस प्रकार वे इन दोनो मे सामजस्य स्थापित कर रहे है। प्रसादजी ने कवियो के मौलिक अन्तर को समझने के लिए भी अनुभूति का ही आश्रय लिया है। अनुभूति की भिन्नता ही उनके काव्य-स्वरूप और अभिव्यजना-शैली की भिन्नता का प्रधान कारण है, शब्द-विन्याम अथवा वाक्-पटुना नही। सूर को वात्सल्य-वर्णन मे जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी तुलसी को नही। इसका कारण भी प्रसादजी अनुभूति की भिन्नता ही मानते है। सूरदास के वात्सल्य मे सकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता है। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के हृदय के उतनी समीप न थी जितनी शिशु गोपाल की वृन्दावन की लीलाये। रामचन्द्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबन्ध-काव्य मे तुलसीदास को करना था, उस कथानक की परम्परा बनाने

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,' पृष्ठ ४४।

२. वही, पृष्ठ ४५।

के लिए। तुलसीदास के हृदय मे वास्तविक अनुभूति तो रामचन्द्र की भक्त-रक्षण-समर्थ-दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है। जीव की शुद्धावस्था मे पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचन्द्र की शिशु-मूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नही।[1] इन पक्तियो मे लेखक ने कवि की अनुभूति तथा उसके द्वारा निर्मित विशिष्ट व्यक्तित्व का बहुत ही प्रौढ विश्लेपण किया है। इससे दोनो महाकवियो के काव्य की मौलिक भिन्नता का स्वरूप मूल-भूत कारण सहित स्पष्ट हो जाता है। ये पक्तिया प्रसादजी की भाव-यित्री प्रतिभा का प्रौढ उदाहरण है। प्रसादजी ने कवि के व्यक्तित्व के निर्मायक तत्वो अर्थात् वातावरण पर भी विचार किया है। सौन्दर्य-बोध कविता की मूल प्रेरणा है। इसीको दूसरे शब्दो मे काव्यानुभूति कह सकते है। सौन्दर्य-बोध पर देश-काल का पूरा प्रभाव पडता है। विभिन्न देशो के सौन्दर्य-बोध के स्वरूप मे इसी कारण से वैपम्य रहता है। भौगोलिक परिस्थितिया तथा काल-विशेष सौन्दर्य-बोध को प्रभावित करते है।[2] यह मानकर प्रसादजी कवि के व्यक्तित्व का उसके परि-वेष्टन से सम्बन्ध स्थापित करते है और साथ ही समीक्षा की ऐतिहासिक पद्धति की आवश्यकता की ओर भी वे सकेत करते है।

पन्त जी—पन्तजी मे भावयित्री प्रतिभा की अपेक्षा कारयित्री प्रतिभा ही अधिक है। नवीन प्रकार की छायावादी कविता का जब चारो तरफ से विरोध प्रारम्भ हुआ, तो उस नवजात शिशु की रक्षा के लिए पन्तजी को आलोचना का शस्त्र ग्रहण करना पडा था। 'पल्लव' की भूमिका के रूप मे उनका वह प्रयास हिन्दी साहित्य के पाठको के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। इस भूमिका मे उन्होने समीक्षा की नवीन विचार-धारा को अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। हिन्दी मे इस नवीन पद्धति का वह प्रथम प्रयोगात्मक रूप कहा जा सकता है। इस दृष्टि से इस भूमिका का आलोचना-साहित्य के विकास मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके बाद मे भी पन्तजी तथा अन्य छायावादी कवि अपनी पुस्तको के 'आमुख' लिखते रहे है, पर साधारणतया वे आमुख भी कविता ही होते है। इन आमुखो मे कवियो ने अपनी विचार-धारा और मान्यताएँ सवेदनात्मक प्रणाली मे व्यक्त की है। अधिकांश कवियो ने (पन्तजी ने भी) भावात्मक और कल्पना-प्रधान शैली का उपयोग किया है, जो आलोचना की अपेक्षा गद्य-काव्य के अधिक उपयुक्त है। इन भूमिकाओ का केवल इतना ही आलोचनात्मक महत्व है कि ये उनकी रचनाओं को समझने मे सहायक है अथवा यह कहना भी अतिशयोक्ति-पूर्ण नही होगा कि नितान्त आवश्यक भी। काव्य-धारा के अत्यधिक वैयक्तिक

१. प्रसादजी: 'यथार्थवाद और छायावाद'।
२. 'काव्य और कला', पृष्ठ २८।

हो जाने का यह भी एक परिणाम है। पन्तजी का विकास भावात्मकता से बौद्धिकता की ओर हुआ है। वे छायावाद से बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगतिवाद तथा साम्यवाद की ओर बढ़ रहे है। इसलिए उन्होने 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे अपनी बुद्धिवादिता का विश्लेषणात्मक परिचय दिया है, जो उनकी कविताओ के समझने मे यथेष्ट सहायक है। इसमे उन्होने कही-कही अपनी ही कविता की मूल प्रेरणाओ को स्पष्ट किया है। यह विवेचन मूल रूप मे चाहे आलोचनात्मक आत्म-परिचय है, पर उनकी कविताओ के समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। ये भूमिकाएं पन्तजी के प्रौढ अध्ययन के लिए उपयोगी सामग्री उपस्थित करती है। सृजन-समय की प्रेरणाएँ, कवि की सहृदयता और बौद्धिकता का विकास, विभिन्न परिस्थितियो के प्रधान-स्वरूप कवि के व्यक्तित्व का विकास तथा उसका कविता से गहरा सम्बन्ध आदि ऐसी सभी बातो का आलोचनात्मक महत्व अस्वीकार नही किया जा सकता। इन भूमिकाओ मे इन विषयो की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, जिसके उपयोग से मनोवैज्ञानिक, चरित्र-मूलक, ऐतिहासिक सौष्ठववादी और मूल्यवादी प्रौढ तथा प्रामाणिक आलोचनाए उपस्थित हो सकती है। इन भूमिकाओ मे इन सभी शैलियो के अविकसित तत्व विद्यमान है।

'पल्लव' की भूमिका यह स्पष्ट कर देती है कि कवि का प्रसुप्त आलोचक जाग उठा है। आलोचक और कवि मे कोई अन्तर नही। Vaughan तो कहते है : "It is in virtue of the Poet latent in him, that the Plain man has the power to become a critic फिर पन्तजी मे तो प्रौढ कारयित्री प्रतिभा थी। उन्होने हिन्दी-साहित्य की बदलती हुई परिस्थितियो की ओर जो सकेत किया है, रीति-काल की काव्य-धारा की मूल प्रेरणा तथा तुलसी और सूर के महत्व का जो विश्लेषण किया है, उसमे उनके भावक रूप की क्षमता भी स्पष्ट हो गई है। रीति-काल की प्रवृत्तियो का परिचय देते हुए पन्तजी कहते है "भाव और भाषा का ऐसा शुष्क प्रयोग, राग और छन्दो की ऐसी एक स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओ की ऐसी दादुरी वृत्ति, अनुप्रास एव तर्को की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या ससार के और किसी साहित्य मे मिल सकती है।"[1] इन पक्तियो मे रीति-काल की विशेषताओ का परिचय तो है पर आलोचक के लिए अपेक्षित सहानुभूति का अभाव है। इन प्रवृत्तियो के कारणो की उद्भावना अपेक्षित थी, हेयता की व्यजना नही। सभवतः आलोचना मे क्राति उपस्थित करने के लिए पन्तजी को यह आवश्यक प्रतीत हुआ।

स्वच्छन्दतावादी समालोचक काव्य-धारा की मूल प्रेरणाओ का अध्ययन करना

---

१. पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ ८।

चाहता है। पन्त जी ने भी अपना यही उद्देश्य बताया है। "पर मेरा उद्देश्य केवल ब्रजभाषा के अलकृत-काल के अन्तर्देश मे अन्तर्हित उस काव्यादर्श के वृहत् चुम्बक की ओर इगित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकाश शक्ति और चेष्टाएँ काव्य की धाराओं के रूप मे प्रवाहित हुई है।"[1] पन्त जी ने सूर-तुलसी का सास्कृतिक महत्व भी माना है। इस प्रकार वे काव्य की स्थूल उपयोगिता मे विश्वास न करते हुए भी जीवन और साहित्य का सम्बन्ध मानते है। 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे तो वे इस सम्बन्ध को और भी दृढतर मानने लगे हैं।

पन्त जी का भाषा-सम्बन्धी आलोचना की ओर ही अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ है। लेखक शब्दो के अर्थ की अनुभूति, उनका साक्षात्कार करना चाहता है। वह शब्दो के अर्थ बुद्धि से ग्रहण न करके हृदय से ग्रहण कर रहा है। कवि के लिए तो यह आलोचक से भी अधिक अपेक्षित है। शब्दार्थ के इसी साक्षात्कार के फलस्वरूप पन्त भाव और भाषा का अभिन्न सम्बन्ध मानते है। "भाव और भाषा का सामजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा मे घनीभूत हो गए हो, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गए हो, छुड़ाये न जा सकते हो।" ये अलकार आदि को वाणी की सजावट न मानकर अभिव्यक्ति के विशेष द्वार कहते है। पन्त जी की काव्य-परिभाषा का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रकार उनकी सारी विचार-धारा ने नवीन समीक्षा-पद्धति के प्रवर्त्तन मे बहुत सहयोग प्रदान किया है। यही इस भूमिका का महत्व है।

महादेवी जी:—महादेवी जी ने अपने कविता-सग्रहो की भूमिकाओ तथा फुट-कर लेखो मे अपने आलोचक रूप को स्पष्ट कर दिया है। उन्होने साहित्य-दर्शन और काव्य की गति-विधि पर विचार किया है। वे काव्य को रहस्यानुभूति मानती है. "सत्य काव्य का साध्य है और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है, और दूसरा अपनी अनेकता मे अनन्त। इसीके साधन के परिचय स्निग्ध स्वप्न रूप से साध्य की विस्मय-भरी अखड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर-लहर पर उठाता हुआ चलता है।" इस उद्धरण से सुश्री महादेवी ने कविता मे सत्य, सौन्दर्य और आनन्द का सामजस्य स्पष्ट कर दिया है। ऐसा काव्य उपयोगिता के स्थूल विधि-निषेधों से ऊपर उठकर चरम मगल को अपना लक्ष्य बनाता है, जिसमे सौन्दर्य का भी सामजस्य है। कवता का यह दृष्टिकोण बुद्धिवाद की जडता से अभिभूत नही अपितु रस के माधुर्य से

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ ६।

परिप्लावित है। महादेवी जी के काव्य-सम्बन्धी विचार बहुत कुछ रवीन्द्र से मिलते है। उनकी दृष्टि मे काव्य का आनन्द ऐन्द्रिकता की परिस्थितियो का अतिक्रमण करके पूर्ण मगलमय हो जाता है। महादेवी जी पूर्ण सामजस्य और सतुलन की ओर बढती हुई प्रतीत हो रही है। पर अभी कही कही वे स्थूल नैतिकता का आभास दे जाती है।

सुश्री महादेवी जी ने काव्य की आधुनिक गति-विधि पर भी विचार किया है। उन्होने छायावाद और प्रगतिवाद पर भी अपने विचार प्रकट किये है। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद की स्वच्छन्दता, सर्ववाद, करुणा-व्यापक चेतना पर अपनी व्यष्टि का आरोप, अमूर्त्त और मूर्त्त का सामजस्य, प्रकृति को प्रधान भावभूमि के रूप मे ग्रहण करना, कवि का अन्तर्मुख होना आदि विशेषताओं की ओर सकेत किया है। इससे स्पष्ट है कि उनकी आलोचक दृष्टि कितनी तीव्र है। महादेवी जी ने इन काव्य-धाराओ के ऐतिहासिक विकास का भी निरूपण किया है। महादेवी जी की प्रधान देन प्रयोगात्मक आलोचना ही नही, अपितु साहित्य-दर्शन की सौन्दर्य और मगल के सामजस्य वाली व्याख्या है। यही व्याख्या प्रसाद जी ने की है। पर वह शास्त्रीय और बुद्धिवादी अधिक है, जब कि महादेवी जी मे स्वानुभूति की प्रधानता है, इसलिए उनकी शैली सर्वत्र ही भावात्मक है।

निराला जी.—स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण और छायावादी कविता के अग्रगण्य कर्णधारो मे निराला जी भी प्रमुख है। छन्द, भाव और वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में जैसा स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण इन्होने अपनाया वैसा पत और प्रसाद भी नही अपना सके। इन्होने सब प्रकार के बन्धनो का तिरस्कार कर दिया। इनके इस स्वच्छन्द स्वभाव के कारण इनकी बहुत अधिक कटु और तीव्र आलोचनाएं भी हुई। यहां तक की छायावाद के प्रारम्भिक काल में तो बहुत-से छायावादी कवि और नवीन विचारक भी उनकी शैली और काव्य-पद्धति का पूर्ण समर्थन करने मे असमर्थ रहे। निराला जी की काव्य-सम्बन्धी धारणाएं सौष्ठववादी है और इस धारणा के तात्विक विकास मे इन्होने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। इसका ऊपर निर्देश हो चुका है। ये काव्य को सूक्ति और उपदेश से भिन्न मानते है। सूक्तियो के रचयिता को तो निराला जी भाँड कहते है। वे काव्य को सौन्दर्य की सृष्टि मानते है तथा कला और काव्य का प्रायः समान अर्थ में ही प्रयोग करते है। कला को अत्यन्त व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त करते हुए वे (निरालाजी) रस आदि तत्वो का इसी मे अन्तर्भाव कर देते है। उन्हें तत्वो की समष्टि, समन्वय और काव्य का सौन्दर्य मान्य है। "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नही, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौदर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे

अगो की सत्रह साल की सुन्दरी की आखो की पहचान की तरह देह की क्षीणता हीनता मे तरग-सी उतरती-चढती हुई, भिन्न वर्णो की बनी वाणी में खुनकर क्रमश: मन्द मधुतर होकर लीन होती हुई।"[1] काव्य के इन तत्वो के समन्वय का इन्होने कई स्थानों पर निर्देश किया है। समन्वय का यह निर्देश स्पष्ट करता है कि निराला जी काव्य-तत्वों के केवल स्थूल और बाह्य रूप तक ही नही है, अपितु वे उनके अन्तस्थल की गहराई तक पहुँचे है। वे काव्य के उस स्वरूप का साक्षात्कार कर लेते है, जिसकी दृष्टि से इन सभी तत्वों मे समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। यही कारण है कि निरालाजी अश्लीलता के स्थूल दृष्टिकोण को अपनाकर आपातत: अश्लील प्रतीत होने वाली कविता से नाक-भौ नही सिकोडते। अगर उसके अन्त: स्थल में काव्य का दिव्य स्वरूप झलकता है तो वे उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते है।

(निराला जी की प्रयोगात्मक आलोचनाएँ यह स्पष्ट करती है कि उनके मूल्याकन का एक-मात्र मानदड सौन्दर्य है।) वे कविता मे कला-सौष्ठव देखना चाहते है। इन्होने विद्यापति और चडीदास की कविताओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसी को मानदड माना है। विद्यापति की कुछ तथाकथित अश्लील कविताओ के गूढ सौदर्य का उद्घाटन किया है। ऐसे स्थलो पर निराला जी स्वय मुग्ध हुए है और उन्होने पाठकों को भी मुग्ध किया है। वे विद्यापति के रचना-सौदर्य का विशेष निरूपण करते है। उनका ध्यान नायक की विविधता, भावना के प्राधान्य तथा भावना और वर्णन के समन्वय पर अधिक गया है। विद्यापति और चण्डीदास पर लिखते समय लेखक ने उनके छन्दो को उद्धृत करके उन पर भावात्मक तथा अनुभूतिमय शैली मे व्याख्या की है। निराला जी उनके सौदर्य-तत्वो का उद्घाटन करते हुए स्वयं उन पर मुग्ध होते जाते है। "उनकी उक्तियां वैसे ही चमक रही है जैसे प्रभात की रश्मि से पत्रो के शिशिर-कण अपने समस्त रंगो को खोल देते है। विद्यापति की पक्तियो का अर्थ बहुत साफ है। अभिसार के समय राधिका की भावना इतनी पवित्र है कि जड भूषणों की ओर ध्यान बिलकुल नही रहता, बल्कि भूषण भार-से मालूम पडते है। वह उन्हें निकालकर फेंक देती है। कितना सुन्दर कहा है : "ते थल मनिमय हार, उच कुच मानय भार" कुचो मे सजीवता ला दी है।"[2] इन पंक्तियो से स्पष्ट है कि निरालाजी वर्ण्य विषय की अश्लीलता के कारण कविता की निन्दा करके स्थूल दृष्टिकोण को आश्रय नही देते। उनकी सहृदयता उसके अभिव्यंजना-कौशल और भाव-सौष्ठव

१. 'प्रबन्ध-प्रतिभा', पृष्ठ २७५।

२. 'प्रबन्ध-प्रतिमा', पृष्ठ १६६-१७०।

का रसास्वाद कर लेती है। आलोचना मे कही-कही निराला जी ने तुलनात्मक और निर्णयात्मक तत्वो का भी उपयोग किया है। ऐसा विवेचन प० पद्मसिंह शर्मा की शैली का स्मरण करा देता है। लेकिन शर्मा जी की तरह निराला जी वाह-वाह की शैली को दाद नही देते, अपितु छन्दो के भाव-सौदर्य का उद्घाटन करते है। प्रशसा तो उस विवेचन से अपने-आप व्यजित हो जाती है। 'बगाल के वैष्णव कवियो का 'शृङ्गार-वर्णन' नामक निबन्ध इसी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। श्लीलता के व्यापक दृष्टिकोण से आलोचना करते हुए निराला जी कहते है : "नग्न सौन्दर्य की ज्योति मे अश्लीलता की जरा भी सियाही नही लग पाई है क्योकि नायिका अपनी इच्छा से बदन नगा नही करती, पवन के झकोरे से उसका बदन नगा हो जाता है। एक ओर उसकी विवश लज्जा, जहा तक दूसरे सौन्दर्य की अम्लान ज्योति है, दूसरी ओर इसके नवीन यौवन से सुदृढ़ झलकते हुए अगों की आनन्द द्युति।"[2] इन उद्धरणो से निराला जी की विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से मूल्यांकन की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है।

निराला जी ने कवि के व्यक्तित्व तथा कविता की अन्तः प्रवृत्तियो और विशेषताओं का भी निर्देश किया है। 'जूही की कली' नामक अपनी कविता की कवि ने स्वय आलोचना की है। इसमे उन्होने इसके गूढार्थो को स्पष्ट किया है। उसमे जो ध्वन्यात्मकता है, जो गूढ तत्व व्यजित है, उनका विश्लेषण और उद्घाटन है। यह उनकी सौष्ठववादी व्याख्या है। इसमें उन्होने रस, अलंकार आदि तत्वो का निर्देश करके सौन्दर्य पर स्थूल दृष्टि नही डाली है, अपितु उसकी सूक्ष्म हृदय-स्पर्शिता का विश्लेषण किया है। लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि कविता में स्थूल उपदेश की प्रवृत्ति की आवश्यकता नही, सौदर्य स्वयं ही उपदेश का रूप धारण कर गया है। निराला जी ने छायावाद मे अन्तर्हित गहन शक्ति का भी विवेचन किया है। ऐसे स्थानो पर उनकी शैली मे तर्क और विश्लेषण की प्रधानता हो जाती है। निराला जी के आलोचनात्मक निबन्ध प्रौढ सौष्ठववादी समीक्षा के उदाहरण है। उनमे प्रभावाभिव्यजक, अभिव्यजनावादी, और तुलनात्मक शैलियो के तत्व भी विद्यमान है। इस प्रकार इन सभी शैलियो का सामंजस्य हो गया है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी:—स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति के प्रधान प्रतिनिधि तथा तलस्पर्शी समालोचक के रूप मे हिन्दी-साहित्य वाजपेयी जी से परिचित है। वाजपेयी जी ने द्विवेदी-काल के उत्तरार्द्ध में समीक्षा-क्षेत्र में प्रवेश किया था। इनकी समीक्षा के प्रारम्भिक प्रयास 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओ में प्रकाशित होते

---

२. वही, पृष्ठ १२३।

रहते थे। ये प्रारम्भ से ही समालोचना के नवीन दृष्टिकोण के समर्थक रहे है। उस काल की निर्णयात्मक और स्थूल तुलनात्मक समालोचना के, जिसमे प्राय: समालोचक राग-द्वेष से प्रभावित होकर कवि की अनुचित निन्दा-स्तुति किया करते थे, वाजपेयी जी प्रारम्भ से ही विरोधी थे। वे समालोचक का कार्य तटस्थ और पक्षपात-शून्य होकर सौन्दर्य का अध्ययन करना ही मानते रहे है। सवत् १९८५ मे मिश्रबन्धुओ द्वारा सम्पादित 'साहित्य समालोचक' मे इन्होने 'सत्समालोचना' नामक निबन्ध लिखा था। इसमे उन्होने द्विवेदी-दल और मिश्रबन्धु-दल की चर्चा की है। इनका अभिप्राय आलोचको की दलबन्दी से है। इसी लेख मे इन्होने वाल्टर पेटर और एडीसन आदि के आलोचना-सम्बन्धी विचार उद्धृत किये है।[1] और उसी प्रकार की समालोचना के लिए आलोचको से आग्रह किया है। इन दोनो उद्धरणो को देने का एक मात्र तात्पर्य यह दिखाना है कि वे प्रारम्भ से ही स्वच्छन्दता और सौष्ठव का आदर्श मानकर चलते है। इनके मत में सौष्ठव का तटस्थ उद्घाटन ही समीक्षा का उद्देश्य है। परवर्ती काल मे उनके आलोचना-रूप का विकास इसी आदर्श पर हुआ है।

काव्य की धाराएँ और समीक्षा-पद्धतिया समानान्तर होते हुए भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती है, एक-दूसरे को प्रभावित करती है। इस प्रकार उनका विकास होता रहता है और कभी-कभी दोनो मिलकर एक नवीन तीसरी धारा मे परिणत भी हो जाती है। हिन्दी-समीक्षा का इतिहास भी यही है। द्विवेदीजी, मिश्रबन्धु आदि की प्रणालियो का उपयोग शुक्ल जी ने किया तथा एक नवीन प्रौढ़ और शास्त्रीय प्रणाली को जन्म दिया। पहले भाषा-सम्बन्धी, निर्णयात्मक, तुलनात्मक, नीतिवादी आदि पद्धतियां एक-दूसरे के कुछ समानान्तर चलीं, लेकिन शुक्ल जी में इन सबने मिलकर एक नवीन पद्धति का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार प्रसाद जी आदि में जिस स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा का विकास हो रहा था, उसने शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति से आदान-प्रदान किया, भारतीय रस-पद्धति को स्वीकार किया। यह कलाकार और कला-कृति मे सम्बन्ध स्थापित करने वाली विश्लेषणात्मक नवीन समीक्षा-पद्धति के रूप मे विकसित हो गई। इस प्रकार इस पद्धति ने शुक्ल जी की प्रगति का पूरा उपयोग किया। उनकी शैलियों को अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया। वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति

1. To peep beauty to detach beauty and to express beauty is true criticism (Waltor Pater). Criticism is a disinterested endevour to learn and propagate the best that is known and thought to the world. (Addison)

मे इस सामजस्य की अवस्था के दर्शन होते है। उन्होने शुक्लजी की विश्लेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढकर पूर्णत: निगमनात्मक (Inductive) कर दिया । उनके वर्ण-व्यवस्था वाले नीतिवादी दृष्टिकोण को कल्याण और लोक-मगल मे बदल दिया । साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण और संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर सांस्कृतिक चेतना प्रदान करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया। भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य सवेदनीयता से सामजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक सत्य के रूप मे स्वीकार कर लिया । रस की यह व्यापकता प्राचीन आचार्यो द्वारा प्रतिष्ठित थी, यह हम प्रसाद जी के प्रसग मे कह चुके है । वाजपेयी जी की उपज्ञता तो इसको ग्रहण करने मे ही है । कहने का तात्पर्य यह है कि वाजपेयी जी शुक्ल जी की अमूल्य निधि को लेकर, जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है, आगे बढते है और हिन्दी-साहित्य मे नवीन अध्याय प्रारम्भ करते है। इस अध्याय का उपक्रम तो प्रसाद जी मे बहुत पहले ही हो चुका था । पन्त जी, निराला जी, प० इलाचन्द्र जोशी, गगाप्रसाद पाण्डेय, प० शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि अनेक व्यक्तियो ने इसके विकास मे महत्वपूर्ण सहयोग दिया है । पर इसका पूर्ण विकास वाजपेयी जी मे ही मिलता है । आज फिर हिन्दी साहित्य मे समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है । ऐतिहासिक, प्रगतिवादी, फ्रायडवादी, स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी आदि सभी शैलिया कुछ दूर तक सामान्यत: पृथक् और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर मिल रही हैं । इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिसे समन्वयवादी नाम दिया जा सकता है । मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी-समीक्षा की विभिन्न शैलिया एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई समानान्तर चलती हुई, कभी मिलकर मोटी धार बनाती हुई, फिर पृथक् होती हुई आगे बढ रही है । यही प्रगति का लक्षण है । अन्य पद्धतियो की तरह शुक्ल-सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति का भी सम्मिलन और विकास हुआ है, और हो रहा है । इस समन्वय का अधिक श्रेय वाजपेयी जी को ही है। इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से आगे की अवस्था मानी जा सकती है ।

वाजपेयी जी ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तो का विवेचन किया है । प्रयोगात्मक आलोचना मे प्रासगिक रूप से जितने विवेचन की आवश्यकता हुई है उतने के आधार पर ही उनको काव्य-सिद्धान्त--सम्बन्धी मान्यताओ का परीक्षण करना पडता है । उन्हें भारतीय रसवाद का सिद्धान्त मान्य है । उन पर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धातो का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होंने इसकी व्याख्या-शास्त्र के भारतीय साहित्य-रूढ़ शब्दो मे नहीं की है । वस्तुत: वे काव्य में हृदयस्पर्शिता और आह्लाद

को ही प्रधान मानते हैं। रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नही प्रतीत होते है। उन्होने कहा है कि रसानुभूति-सम्बन्धी अलौकिकता के पाखड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है। उससे वैयक्तिकता की वृद्धि हुई और सास्कृतिक ह्रास हुआ है। उनकी यह भी मान्यता है कि रस-सिद्धात को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके। इसके लिए वे उसमे पाश्चात्य काव्य-सिद्धात और प्रणालियो का आकलन अत्यधिक आवश्यक समझते है। इस प्रकार से रस साहित्य-मात्र की समीक्षा का मानदड हो सकता है। इस सबका तात्पर्य केवल रस को वेद्यातर-सस्पर्शशून्यत्व और ब्रह्मानद सहोदरत्व आदि विशेषणो द्वारा प्राप्त सीमित अर्थ से मुक्त करके केवल उसे आह्लादकता का सूचक मानकर भाव, रसाभास, भावाभास, अलकार-ध्वनि वस्तु-ध्वनि आदि सबके आनन्द का प्रतीक मानना और कला-मात्र के आनन्द को रस नाम से अभिहित करना है। रस की अलौकिकता की आड मे बहुत-से अमास्कृतिक चित्र उपस्थित किये गए है तथा रस की परिधि को इन विशेषणो से सकुचित करके बहुत-सा सत्साहित्य भी उपेक्षित हुआ है। इसलिए रस के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है। रस के सम्बन्ध मे वाजपेयी जी का यही दृष्टिकोण है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि सवेदनीयताजन्य आह्लाद को आनद मानने की प्रवृत्ति है। बाजपेयी जी के रस-सम्बधी दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यजनावादी नही हैं। वे काव्य मे अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते है। अभिव्यजना को निम्न स्तर की वस्तु मानते हैं। "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौदर्य अभिव्यजना का ही सौदर्य नही है, अभिव्यजना काव्य नही है। काव्य अभिव्यजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानव-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यजना का सम्बन्ध केवल सौदर्य-प्रकाशन से है।"[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यजना के अनावश्यक महत्व का ही विरोध करते है। अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है। उनकी यह मान्यता उनके अलकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे अलकारों का रस-सिद्धि का साधक-मात्र मानते हैं। उनका यह मत भारतीय और सर्वमान्य है। अलकार शब्द से उनका तात्पर्य उसके बँधे हुए प्रकारो से ही प्रतीत होता है, शब्द की भगिमा से नही, जो काव्य की भाषा का अनिवार्य तत्व है। वाजपेयी जी का कहना

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी,' पृष्ठ ६७।

२. वही, पृष्ठ ६८।

है कि "कविता अपने उच्चतम स्तर को पहुँचकर अलकार-विहीन हो जाती है ।" "कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलकार-विहीन हो जाती है वहा वह वेगवती नदी की भाति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है । उस समय उसके प्रवाह मे अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहा बह जाते और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते है ।"[1] वाजपेयी जी तो यहां तक कहते है कि इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता मे अलकार वही कार्य करते है जो दूध में पानी ।[2] अलकार-शास्त्र ने काव्य-तत्वो और कवि-कर्म की जो बधी हुई प्रणाली बताई है, उसके सबन्ध मे यह धारणा सर्वथा समीचीन है । पर अभिनव गुप्त आदि ने इन्हें जिस व्यापक अर्थ मे ग्रहण किया है वहा इनका पृथक् अस्तित्व ही नही रह जाता । वहा अलकार कवि-प्रयत्न-सापेक्ष न होकर अभिव्यक्ति के स्वाभाविक और सहज अंश हो जाते है । आलोचक भी इनमे आह्लाद की वृद्धि की क्षमता ही देखता है । वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण पूर्णत: सौष्ठववादी है, जिसमे अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामजस्य-मात्र है । उनके अलकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अभिनव गुप्त आदि के मतो से भी पूर्ण सामजस्य है ।

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता मान्य नही है । वे काव्य मे जीवन की प्रेरणा, सास्कृतिक चेतना और भावनाओ के परिष्कार की क्षमता मानते है । काव्य से नीति का बहिष्कार करना तो उनको अभिप्रेत नही है । पर वे काव्य पर नैतिक सिद्धान्त का नियत्रण परोक्ष ही मानते है । उच्च आदर्शों की दुहाई और प्रगतिशील विचार-धारा का साहित्य की उत्कृष्टता से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध उन्हें बिलकुल मान्य नही है । फिर भी वे काव्य के सम्बन्ध में उठाये गए श्लील-अश्लील के प्रश्न की नितान्त अवहेलना नही करते है । उनकी निश्चित धारणा है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील हो ही नही सकता । पर उनकी श्लील और अश्लील-सम्बन्धी धारणाएँ रूढ नही है । वे उच्च मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते है, धर्म-शास्त्र की सीमित परिभाषाओं के आधार पर नही । "मेरी समझ मे इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नही हो सकती । उसके बाहरी स्वरूपो मे यदा कदा श्लील-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ आदर्शो का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्ति काल मे ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक अस्खलन उसमें नही हो सकता । साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है ।"[3]

---

१. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ५९ ।

२. वही, पृष्ठ ६९ ।

३. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', भूमिका भाग, पृष्ठ २३ ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य की निरुद्देश्यता के सर्वथा नहीं है। वे विकासोन्मुख जीवन का प्रेरक होना साहित्यकार की श्रेष्ठता का प्रमाण मानते है। साहित्य में निर्बल भावनाओं का चित्रण केवल अपर पक्ष के लिए ग्रहण करना चाहिए। उसीको आदर्श मान लेना साहित्य के उच्च और महान् उद्देश्य से च्युत हो जाना है। वाजपेयी जी उपदेश-वृत्ति को भी साहित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि मे जीवन-सदेश के साथ ही उदात्त भाव और ललित कल्पनाएँ भी साहित्य के आवश्यक तत्व है।[1] काव्य-शास्त्र के तत्वो से ऊपर उठकर सौदर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।[2] "उसमे तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास की परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदण्ड है।"[3]

प्रयोगात्मक आलोचनाओ मे वाजपेयी जी का ध्यान कलाकार के मनोभावो और व्यक्तित्व के विकास की ओर ही अधिक आकृष्ट हुआ है। कलाकार की अन्त.प्रेरणा और चिन्तन-धारा का अनुसधान एवं विलेशषण उनकी समीक्षा के मूल तत्व है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली सामाजिक परिस्थितियो तथा दार्शनिक विचार-धाराओ का भी वे निरूपण करते है। वे कला-कृति और कलाकार के व्यक्तित्व तथा जीवन की प्रक्रिया में भी समन्वय स्थापित करने मे सफल हुए है। वाजपेयी जी यह स्पष्ट करना चाहते है कि लेखक को अपने व्यक्तित्व को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने में कितनी सफलता प्राप्त हुई है और कला-कृति पाठक के हृदय को कितना स्पर्श कर सकी है। वाजपेयी जी अपने दृष्टिकोण को स्वय स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का प्रधान उद्देश्य रहा है, यद्यपि काव्य की सामयिक प्रेरणा के निरूपण मे भी मैं उदासीन नहीं रहा हूँ।"[4] वाजपेयी जी की आलोचनाओं की दो ही प्रधान विशेषताएं है—कलाकार की अन्तर्वृत्तियो का अध्ययन तथा कला-कृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन करते समय वे काव्य के बाह्य स्वरूप, अलकार, शैली आदि पर भी विचार कर लेते हैं। पर प्रधानत: उनका ध्यान रस अथवा काव्य के अनुभूति पक्ष पर ही रहता है। रस के सम्बन्ध में वाजपेयी जी शुक्ल जी से भिन्न पथ का अनुकरण करते है। वे यह भी निर्देश नहीं करते कि प्रस्तुत पद में अमुक

१. 'जयशंकरप्रसाद', पृष्ठ २४-२५।
२. 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ७४।
३. 'जयशंकरप्रसाद', पृष्ठ ११-१२।
४. 'हिन्दी साहित्य : बीसवी सदी', पृष्ठ २६।

रस या रसाभास है। पर यह देखने की चेष्टा करते है कि यह रसानुभूति कितनी छिछली अथवा सौम्य है, इसकी अभिव्यजना सशक्त है अथवा निर्बल और सामाजिक जीवन पर इसकी प्रतिक्रिया क्या होगी।[1] इस प्रकार वाजपेयी जी की आलोचना पहले से कुछ भिन्न पथ का अनुसरण कर रही है। कलाकार के व्यक्तित्व की अन्त प्रेरणाओं का अध्ययन करते समय उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी वे विचार करते है, पर यह विवेचन अपेक्षाकृत गौण ही रह जाता है। साहित्य मे जीवन की प्रेरणा कितनी सबल है, इसकी ओर तो वाजपेयी जी का ध्यान बहुत ही कम गया है। लेकिन वे इसका अध्ययन करना अवश्य चाहते है। उन्होने स्वय यह स्वीकार किया है कि कलाकार के व्यक्तित्व तथा कलात्मक सौष्ठव के अतिरिक्त आलोचना-सम्बन्धी अन्य प्रश्नो पर उनका ध्यान क्रमशः कम होता गया है और जीवन-सदेश वाले सूत्र को तो उन्होने सबसे अन्त मे गिनाया है।[2] कवि की दार्शनिक और सामाजिक विचार धाराओ पर भी गौण रूप से ही विचार हुआ है। महाकवि सूर की दार्शनिकता एव आध्यात्मिकता पर सौष्ठव वादी नवीन शैली मे अनुभूति के सौष्ठव एव गहराई का साक्षात्कार करने वाली तत्वस्पर्शी व्याख्या से वाजपेयी जी ने इस अभाव की भी पूर्त्ति कर दी है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी की आलोचना-पद्धति एक प्रकार से सर्वांगीण है। उसमे कवि के व्यक्तित्व, अनुभूति और अभिव्यक्ति के सौष्ठव के साथ ही चरित्र-चित्रण, वस्तु, काव्य-शैली आदि पाश्चात्य तत्वो पर भी विचार हुआ है। वाजपेयी जी कला और कलाकार की सामाजिक पृष्ठभूमि तथा दार्शनिक चिन्तन का आकलन करते हुए कला-वस्तु और कलाकार के जीवन मे समन्वय स्थापित करने का भी प्रयत्न करते है।

'हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी', 'जयशकर प्रसाद' 'सूर-सदर्भ' की भूमिका 'आधुनिक साहित्य' और 'महाकवि सूरदास'—ये वाजपेयी जी के समीक्षा-ग्रन्थ है। प्रथम रचनाओं में तो वाजपेयी जी प्रधानतः कलाकार की अन्तर्वृत्तियो का अनुसन्धान करते है और उनका कला-कृति से समन्वय स्थापित करते है। कही-कही कलात्मक सौष्ठव और कवि की चिन्तन-धारा का भी विश्लेषण हो जाता है। 'जयशकर प्रसाद' में 'कामायनी' की कथा-वस्तु और भाव-विन्यास की भी अनुभूतिमयी व्याख्या है। आलोचक ने प्रसाद जी के दार्शनिक विचारो का भी अध्ययन किया है। 'बीसवी शताब्दी' के निबन्धों में तो प्रधानतः उनका ध्यान कवि की अन्तर्वृत्तियो के विश्लेषण की ओर ही रहा है। पर 'सूर-सदर्भ' की भूमिका मे आलोचक पूर्ण सौष्ठव-

१. वही, पृष्ठ ५६।
२. वही, पृष्ठ २७।

वादी हो गए है)। कलाकार के व्यक्तित्व तथा अन्तर्वृत्तियो की ओर उनका ध्यान उतना ही आकृष्ट हुआ जितना कि भाव-सृष्टियो की मौलिक विशेषताओं के उद्घाटन के लिए अनिवार्य था। "कवि द्वारा नियोजित प्रतीको और प्रभावो का अध्ययन करना होगा और अन्तत: कवि की मूल सवेदना और मनोभावना का उद्घाटन करते हुए यह बताना होगा कि वह अपने उद्देश्य मे कहा तक सफल अथवा प्रसफल हुआ है।"[1] इस भूमिका मे आलोचक ने सूर-साहित्य के गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया है। वे इन पदो के अन्तस्तल मे पैठकर उनके तन्मय करने वाले भाव-सौन्दर्य और कथा-सूत्र का समन्वय स्पष्ट देख लेते है। इससे वे सूर की उच्च प्रतिभा का स्पष्ट परिचय देते है। सूर के पदो को केवल मुक्तक रचना मानकर हृदय को सन्तोष-सा ही नही होता है। सहृदय पाठक का मन वास्तविक सौन्दर्य की तह मे पहुँचकर भावानुभूति की असीम तल्लीनता का अनुभव नही कर पाता। मुक्तक और प्रबन्ध के भेदो पर आश्रित आलोचना मे उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कवि के सौन्दर्य का बहुत ही हल्का-सा आभास ग्रहण कर पाया है। पाठक को स्वय आत्म-तृप्ति नही हो पाती। वाजपेयी जी की सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि ने उस भाव-सौन्दर्य का उद्घाटन किया है, जिसमे पाठक तल्लीन होकर आह्लाद से उछल पडता है। मुझे तो इस आलोचना के पढने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानों जिस भाव-सौन्दर्य का अस्पष्ट आभास सहृदय पाठक को कभी-कभी होता है उसका विशद और स्पष्ट अनुभूतिमय निरूपण करके आलोचक ने एक अस्पष्ट मानसिक आकाक्षा की परितृप्ति की है। अस्पष्ट आभास के भाव-सौन्दर्य की स्पष्ट अनुभूति और साक्षात्कार के फलस्वरूप पाठक आह्लाद से उछल पडता है। यहा पर वाजपेयी को कार्लाईल के शब्दो मे Interpreter between the inspired and the uninspired. कह सकते है। यह वाजपेयी जी की ही सूक्ष्म दृष्टि है जिसने सूर के पदो मे भाव-सौन्दर्य और कथा-सूत्र के समन्वय को एक साथ देखा है। रूप-सौंदर्य और कथा-सूत्र के विचित्र सम्मिश्रण का भी वाजपेयी जी ने उद्घाटन किया है। इस उत्कृष्ट भाव-व्यजना और कौशल का प्रत्यक्ष कर लेने के बाद पाठक कलाकार के व्यक्तित्व पर मुग्ध हो जाता है। भाव-सौन्दर्य, रचना-चातुरी, कलाकार की मौलिक उद्भावना और कौशल पर सहज ही मुग्ध हो जाने के कारण इस आलोचना की शैली मे अनुभूति-व्यजकता और एक स्वाभाविक लालित्य आ गया है। आलोचक की निर्णयात्मक प्रवृत्ति न होते हुए भी कवि पर मुग्ध होकर मानो प्रशसा के प्रवाह में उसका भावाक्षिप्त हृदय बह उठा है। 'स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करे, घटना-क्रम का आभास भी दे और साथ

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ २४।

ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जायँ, यह विशेषता हमे कवि सूरदास मे ही मिलती है। गो-चारण अथवा गोवर्द्धन-धारण के प्रसग कथात्मक है। किन्तु उन कथाओ को भी सजाकर भाव-गीतो मे परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह भी नही समझ पाते कि कथानक मे भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियो के चित्र देख रहे है; अथवा मनोगतियो और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे है।"[1] लेखक ने कृष्ण के व्यक्तित्व की कल्पना का बहुत ही अच्छा विश्लेषण किया है। वे व्यक्तित्व के विकास के कारणो का भी उद्घाटन करते गए है। शुद्धाद्वैतवाद और भक्ति के सिद्धान्तो के अनुरूप कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास करना ही सूर को अभिप्रेत था। इसीलिए सूर उसी आदर्श पर कृष्ण के व्यक्तित्व का विकास दिखाते है। आलोचक की तीव्र दृष्टि उसके इस रूप के उद्घाटन मे सफल हुई है। सूर स्वाभाविकता मे अलौकिकता के दर्शन कराना चाहते थे। कृष्ण के व्यक्तित्व की यही कुञ्जी है पर उसमे अलौकिकता का उतना ही आभास है जितना माधुर्य की अनुभूति के लिए अपेक्षित था। ऐश्वर्य के हल्के-से आभास से सम्पन्न कृष्ण का व्यक्तित्व ही शुद्धाद्वैतवादी भक्ति के उपयुक्त हो सकता था। वाजपेयी जी का तलस्पर्शी आलोचक ही इसकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। 'कला की दृष्टि से यह अलौकिक आभास एक क्षणिक और उपयोगी सभ्रम की सृष्टि कर जाता है। इतना गहरा वह नही पैठता कि माधुर्य की अनुभूति में किसी प्रकार का विक्षेप पड़े। यद्यपि उस माधुर्य की तह मे ऐश्वर्य की एक हल्की आभा भी अपना प्रभाव डाले रहती है।.. बालक कृष्ण की यह मूर्ति पाप-पुण्य-निर्लिप्त दीख पड़ती है।.. पाप-पुण्य-निर्लिप्त इस शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा बिना चोरी किये कैसे होती। अकर्म के भीतर से पवित्र मनोभावना का यह प्रसार एक रहस्य की सृष्टि करता है। यह रहस्य प्रकृत काव्य-वर्णन का अंग बनकर आया है, यही सूरदास की विशेषता है।"[2] ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कलाकार के व्यक्तित्व, कलात्मक सौष्ठव और उन दोनो के समन्वय का उद्घाटन करना वाजपेयी जी की शैली की प्रधान विशेषता है। आलोचक कितनी गहराई मे जाकर कवि के भाव-सौष्ठव और चरित्र-कल्पना की उच्चता तथा महत्ता का स्वय साक्षात्कार कर लेता है एवं अपनी अनुभूतिमयी शैली से उसका उद्घाटन करके पाठको को भी आह्लादित होने का अवसर प्रदान करता है। आलोचक सौन्दर्य का मूल्याकन कर रहा है, पर केवल इगित शैली मे।

---

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ १५।

१ सूर-सन्दर्भ,' पृष्ठ १५-१६।

ऊपर हम यह कह चुके है कि सौष्ठववादी समालोचक भावो की असीमता और अनन्तता के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ क्षमता और भाव-पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव-सौन्दर्य की असीमता, अथवा विराट् भावना (Sublimity) का उद्घाटन करता है, वह स्वय तो असीम अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव तो करता ही है, साथ ही पाठक को भी अपने साथ उस भाव-भूमि मे ले जाता है। यही आलोचक की पूर्ण सफलता है। हिन्दी-साहित्य मे इतनी गहराई तक बहुत कम समालोचक जाने का प्रयत्न करते है। ऊपर सूर के भाव सौन्दर्य के चित्रण मे बाजपेयी जी ने इस गम्भीर पद्धति का अनुसरण किया है। भावो की असीमता की अनुभूति और चित्रण मे आलोचक को जिस विचित्र तल्लीनता और आह्लाद का अनुभव होता है, उसीका थोडा आभास नीचे की पक्तियो से मिलता है। लेखक की इन पक्तियो मे पाठक के हृदय मे अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता है। पाठक को भी उस असीमता का अनुभव कराने का सफल प्रयास है। "राम के वर्णन मे सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल 'श्रीमद्भागवत' की अनुकृति कवि ने नही की है, वरन् वास्तव मे वे अनुपम आध्यात्मिक राम मे विमोहित होकर रचना करने बैठे है। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुन. रास की जो लज्जा, गोपियो का जैसा सगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण दिखाया है और रास की वर्णना में सगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किये गए है, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक है।"[1]

बाजपेयी जी मे हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। उनकी आलोचना पूर्णत. निगमनात्मक और इगित शैली की कही जा सकती है। उन्होने भारतीय अलंकार-शास्त्र मे तथा पाश्चात्य-समीक्षा शास्त्र से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। उन दोनो के सम्मिलित तथा समन्वित रूप को आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति भी रस-सिद्धान्त के व्यापक और विशद स्वरूप को अपनाकर चली है, इसलिए वह पश्चिम की तरह पूर्ण स्वच्छन्दतावादी नही कही जा सकती। उसका अविकल अनुकरण तो किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए मैंने इसे सौष्ठववादी कहना अधिक समीचीन समझा है। रस की जो प्रतिष्ठा अभिनव गुप्त, पडितराज आदि द्वारा हुई है,

---

१. 'सूर-सन्दर्भ', पृष्ठ २६।

वह सौष्टववादी समीक्षा की ही समर्थक है, यह हम पहले कह चुके है। वाजपेयीजी मे इसी के प्रयोगात्मक रूप के दर्शन होते है। इस पद्धति का हिन्दी मे पूर्ण विकास हो गया है, यह नही माना जा सकता। बाजपेयी जी मे इसके विकसित और प्रौढ रूप के दर्शन अवश्य होते है। उनमे भी विकास हुआ है। वे पहले कलाकार के व्यक्तित्व के परिचायक थे, और धीरे-धीरे काव्य-सौष्ठव के परीक्षक बने है। अभी इस समन्वय मे विकास की क्षमता है। वाजपेयीजी मे इसके तत्व विद्यमान है। इस समीक्षा-पद्धति के सभी आलोचक जीवित है, इसलिए अभी यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि इसका इत्थभूत रूप यही है। अभी यह विकासशील है, स्थिर नही हुई है। वाजपेयी जी के आलोचक का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है, पर अभी वह विकासशील है। प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की ओर भी उनका ध्यान गया है। पर इन शैलियो मे उनका सत्य का आंशिक रूप ही दिखाई पडता है। इनमे काव्य के सार्वजनिक और सर्वकालिक रसावसवेदन की दृष्टि से आलोचना का अभाव है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाजपेयी जी प्रगति का तात्पर्य भावो की सार्वजनिकता तथा जीवन-सदेश की सर्व-व्यापकता से लेते है। पर उनका यह रूप अभी पूर्णत: स्पष्ट नही है। प्रगतिवाद के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ क्या सारे साहित्य की ही प्रतिक्रियाएँ कही जा सकती है, यह अभी पूर्णत: निश्चित नही।

नगेन्द्रजी.—डा० नगेन्द्र भी इसी पद्धति के प्रधान समालोचको मे से हैं। उनकी साहित्य-सम्बन्धी मान्यताएँ प्राय वे ही है जिनका निरूपण हम इस पद्धति के सामान्य स्वरूप तथा वाजपेयी जी के प्रसग मे कर आए है। वे साहित्य को व्यक्ति की चेतना का परिणाम समझते है। उनके मत मे साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली सामूहिक चेतना का महत्व गौण है। वह साहित्यकार के निर्माण मे सहायक है, पर साहित्य तो साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति ही है। इसे डा० नगेन्द्र भी मानते है कि साहित्य-समीक्षा मे प्रधानत: साहित्यकार के व्यक्तित्व का महत्व तथा उसकी सफल अभिव्यक्ति पर ही विचार होना चाहिए। अन्य सारे मानदड उनकी दृष्टि से गौण है, अत. उतने विश्वसनीय नही है। आत्माभिव्यक्ति की सफलता भी रस में है। रस शब्द से उनका भी तात्पर्य वही है, जो इस सम्प्रदाय के आलोचक मानते आए है। वे रस शब्द को संवेदनीयता के अर्थ मे प्रयुक्त करते है। कवि की आत्माभिव्यक्ति मे उसकी भावुकता तथा बौद्धिकता दोनो का समावेश है। वे आलोचक के लिए भी एक विशेष रसज्ञता की आवश्यकता मानते हैं। प्रत्यक व्यक्ति कवि के सौन्दर्य का उद्घाटन करने मे असमर्थ होता है। परिमार्जित रुचि वाले आलोचक का ही यह कार्य है। इसके अतिरिक्त वे कुछ शास्त्रीय आधार का होना भी आवश्यक मानते है। नगेन्द्र जी समीक्षा की वैयक्तिकता मे

विश्वास नहीं करते। आलोचक आलोच्य वस्तु को अपनी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करता है, उसका मूल्यांकन भी अपनी ही दृष्टि से करता है, पर फिर भी उसे दूसरों को आलोच्य रचना का महत्व स्पष्ट करने तथा उसके सौन्दर्य का आस्वाद कराने की इच्छा अवश्य रहती है। इसलिए नगेन्द्र जी साहित्य-समीक्षा में भी साधारणीकरण के सिद्धान्त को मानते हैं। यही कारण है कि उनको आलोचना का एक शास्त्रीय आधार भी मानना पड़ा है। इस कारण से उनकी समीक्षा इन दोनों सम्प्रदायों की मिलन-रेखा मानी जा सकती है। उनकी समीक्षा में पाश्चात्य और भारतीय तत्वों पर विचार हुआ है। उन्हीं को आधारभूत मानकर कृति के मूल्यांकन की प्रवृत्ति है। वे रस, अलंकार आदि पूर्वी तथा आवेग, कल्पना, चिन्तन अनुभूति आदि पाश्चात्य तत्वों के आधार पर ही समीक्षा करते हैं। इस प्रकार उनकी समीक्षा-पद्धति पूर्णत निगमनात्मक नहीं कही जा सकती। वह विश्लेषणात्मक और अनुभूतिव्यंजक अवश्य है। नगेन्द्र जी साहित्य का उद्देश्य प्रधानत आनन्द ही मानते हैं। पर सामूहिक जीवन को चेतना प्रदान करने की साहित्य की क्षमता को भी अस्वीकार नहीं करते। वे साहित्य का जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करते। जीवन साहित्य में प्रेरणा ग्रहण करके अग्रसर होता है, यही उन्हें मान्य है।

नगेन्द्र जी प्रयोगात्मक आलोचना की अपेक्षा समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं में सौष्ठववादी अधिक कहे जा सकते हैं। उन्होंने आलोचना की जो शैली अपनाई है, वह वाजपेयी जी की अपेक्षा शुक्ल जी के अधिक सन्निकट है। उसमें कवि की विचार-धारा का अध्ययन अवश्य हुआ है। पन्त जी के चिन्तन और मानव-विकास का अच्छा मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुआ है।[1] कई स्थानों पर कवि के व्यक्तित्व से उसकी रचना का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ है। कवि का व्यक्तित्व ही किस प्रकार की कविता का रूप धारण कर गया है, इसकी ओर भी पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया। इसके अतिरिक्त रचना से कवि के व्यक्तित्व का अनुमान भी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नगेन्द्र जी ने मनोविज्ञानिक शैली का पर्याप्त प्रयोग किया है और यही उनकी शैली की प्रधान विशेषता भी है। पर काव्य-वस्तु, भाव-व्यंजना, भाषा-शैली आदि की दृष्टि से किए गए उनके विवेचन का शुक्ल-पद्धति में अन्तर्भाव मानना असमीचीन नहीं है। कलाकार के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा समीक्षा की मान्यताओं के आधार पर वे कुछ नवीन समीक्षा-पद्धति के समर्थक माने जा सकते हैं, वरना तो इनकी शैली में शुक्ल-पद्धति के ही तत्व अधिक हैं। उनका देव का अध्ययन इसी शैली का एक बृहद् ग्रन्थ है।

१. सुमित्रानन्दन पन्त', नगेन्द्र।

इसमे देव के ग्रंथो का परिचय है। कवि की विशेषताओ का विश्लेषण करते समय उन्होने शृगार तथा उसके भेदो को ही दृष्टि मे रखा है। कही-कही उनकी अनुभूति आदि का भी विश्लेषण हुआ है जिसमे साधारणत: निगमनात्मक शैली का आभास भी मिल जाता है।[1] देव की रूप और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओ का भी निरूपण है। उनके आधार पर देव की कविता का अध्ययन हुआ है। पर प्राय काव्यांग, सचारी भाव आदि ही आलोचना के आधारभूत तत्व रहे है। देव मे ही नही अपितु पन्तजी की कविता मे भी मनोदशाओ के चित्रण की ओर नगेन्द्र जी का ध्यान अधिक गया है। 'सरल मौग्ध्य' या 'किशोर-सारल्य' का उदाहरण देकर शुक्लजी की तरह 'कितना-मुग्धकारी' कहा है।[2] कहने का तात्पर्य केवल यह है कि इनकी शैली मे शुक्ल-पद्धति का स्पष्टत अनुसरण है, और उन तत्वो के दर्शन होते हैं जिन्हें सौष्ठववादी पद्धति के अन्य आलोचको ने नही अपनाया। लेकिन साथ मे ही इनमे व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाली प्रवृत्ति भी है। यहा पर भी आलोचक का ध्यान कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर न जाकर केवल कतिपय विशेषताओ पर ही गया है। इसी सम्मिश्रण के कारण हमने इन्हे दोनो पद्धतियो की मिलन-रेखा पर बताया है। नवीन दृष्टिकोण से नगेन्द्र जी की समीक्षा का बहुत बडा गुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। उन्होने भारतीय साहित्य-शास्त्र के तत्वो का अध्ययन पाश्चात्य मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तो के आधार पर किया है। इसके फलस्वरूप उन्होने जिन तथ्यो की उद्भावना की है उनका उपयोग भी अपनी समीक्षा मे किया है। इस प्रकार व्यक्ति, कला-कृति और सिद्धान्तो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी समीक्षा की प्रधान विशेषता है।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी—कुछ के व्यक्तित्व निर्मित होते है, इस लिए वे सुस्पष्ट भी होते है। उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का कोई भी स्थल उनकी सम्पूर्णता का द्योतन कर देता है। उनके सम्बन्ध मे एक स्थान से जो धारणा बना ली जाती है, वह सर्वत्र ठीक उतरती है। ऐसे व्यक्तित्व अपनी विशेषताओं का परिस्थितियो से प्रेरित होकर उद्घाटन-मात्र करते है। परिस्थितिया उद्घाटन की प्रेरणा के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व मे कुछ परिमार्जन अथवा परिवर्तन नही करतीं, आवरण को हटाकर अधिक स्पष्ट भर कर देती है। उसके प्रकाश को अवरुद्ध करने वाली वस्तुओ को हटा भर देती है। पर ऐसे व्यक्तित्व परिस्थितियों से निर्मित नही होते। एक प्रकार का उन्हे स्थिर व्यक्तित्व कह सकते है। एक-दूसरे प्रकार का व्यक्तित्व भी होता है, जो निरन्तर विकासशील है। परिस्थितिया उसको बनाती रहती है।

---

१ देखिए 'रीतिकाल और देव', शृङ्गार-वर्णन का अध्याय।

२ सुमित्रानन्दन पन्त', पृष्ठ ३२-३३।

वे गतिशील है, इसलिए उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के दर्शन एक स्थान पर कभी नही हो सकते। एक स्थल की घटना तद्देशीय तत्कालीन ही होती है। उससे सम्पूर्णता का अनुमान प्रायः ठीक नही होता हिन्दी-साहित्य मे प्रायः पहले प्रकार के व्यक्ति अधिक ही । पर प० शान्तिप्रिय द्विवेदी दूसरे प्रकार के व्यक्ति है। उनका व्यक्तित्व चिरन्तन विकासशील प्रतीत होता है। परिस्थितिया उनके बाह्य जीवन को ही प्रभावित नही करती है, पर उनके अन्तस् मे भी आमूल परिवर्तन कर देती है। उनका जीवन सामूहिकता की धारा मे यो ही निष्क्रिय और चेतना-रहित होकर नही चलता अपितु बराबर प्रतिक्रियाशील है । इसीलिए उनमे वैयक्तिकता की प्रधानता है। वे जीवन की अपने ढग से आलोचना करते हुए कुछ संग्रह और त्याग करते हुए आगे बढते है।

द्विवेदी जी प्रमुखतः निबन्ध-लेखक है। इस लिए उनकी रचनाओ मे वैयक्तिकता की प्रधानता है। यही कारण है कि उनकी समीक्षा शुक्ल-पद्धति का शास्त्रीय रूप ग्रहण नही कर पाई है। उनकी आलोचना आत्मा प्रधान (Subjective) अधिक है, अगर वे विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण न करते तो उनकी समीक्षा पूर्णतः प्रभावाभिव्यंजक कोटि की हो जाती। वे साहित्य को उद्देश्य-विहीन नही मानते है। उनका गाधीवाद या समाजवाद का आग्रह यह स्पष्ट कर देता है कि वे काव्य से जीवन की प्रेरणा ग्रहण करना चाहते है । इसीलिए महायुद्ध के समय कवियो के विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति के सदेश की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होता है।[1] द्विवेदी जी साहित्य को जीवन से विच्छिन्न करके नही देखना चाहते। इन्ही सब कारणों से उनकी समीक्षा-पद्धति सौष्ठववादी ही कही जा सकती है, प्रभाववादी नहीं। उन्होने जिस शैली को अपनाया है वही आगे प्रगतिवाद मे विकसित हो जाती है। पर द्विवेदी जी रस और सवेदनीयता को भी काव्य के उद्देश्य मे ही स्थान देते है। द्विवेदी जी प्रारम्भ से छायावादी थे, लेकिन धीरे-धीरे गांधीवाद और प्रगतिवाद की ओर बढे है । कहने का तात्पर्य यह है कि भाव-राज्य से वे संस्कृति की ओर बढ रहे है। सामयिक परिस्थितियो के कारण आर्थिक विषमताओ से आक्रान्त मानवता के कल्याण के लिए वे प्रगतिवाद की ओर भी झुके है । पर उनकी दृष्टि से प्रगतिवाद मे मानव जाति को दुःखों से स्थायी मुक्ति नही मिलती । यह स्थायी मुक्ति तो द्विवेदी जी गांधीवाद से मानते है । गाधीवाद उनकी अन्त स्फूर्ति रहा है । वह उनकी छायावादी और प्रगतिवादी चिन्तन-धारा के अन्तस्तल मे प्रवाहित होता रहा है। लेकिन 'सामयिकी' मे वही अन्त स्फूर्ति अन्तस्तल की प्रवाहित धार

१. 'साहित्यिकी', प्रथम लेख।

अत्यन्त स्पष्ट हो गई है। अन्त तक द्विवेदी जी का विश्वास गांधीवाद मे ही रहेगा, इसीमे मानव का स्थायी कल्याण मानते रहेंगे, यह नही कहा जा सकता। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व चिरन्तन परिवर्तनशील है। इसलिए उनकी साहित्यिक धारणा भी परिवर्तनशील कही जा सकती है। अब तक उन्होने रस तथा सास्कृतिक चेतना को ही काव्य का प्रयोजन माना है। उनका स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण नही है। वे प्रगतिवादियो की तरह वर्ग-सघर्ष मे भी विश्वास नही करते। इसलिए द्विवेदी जी के दृष्टिकोण को सौष्ठववादी कह सकते है। वे सौदर्य और मगल का सामजस्य ही कला का उद्देश्य मानते है। "अतएव कला की सार्थकता केवल सुन्दरता मे नही है, बल्कि उसके मगल-प्राण होने मे है।"[1] द्विवेदीजी नग्न यथार्थता के विरोधी है। द्विवेदी जी साहित्य को 'केवल व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही मानते प्रतीत होते है। किसी कलाकार की शैली और वर्ण्य विषय के चुनाव के लिए तत्कालीन परिस्थितिया अधिक उत्तरदायी है। किसी युग का विशिष्ट समाज जब परस्पर के हार्दिक वार्तालाप से परितृप्ति पा चुका होगा तब उसे कुछ अतिरजकता की भूख लगी होगी। वह भूख वाग्विदग्धता द्वारा काव्य मे शान्त की गई। रत्नाकरजी की चमत्कार-वृत्ति का कारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक परिस्थितियो का विवेचन किया है। इसमे लेखक मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को भी अपनाता हुआ प्रतीत होता है।

द्विवेदी जी काव्य को जीवन के रसात्मक स्पर्श की दृष्टि से जाँचते है और रसात्मक स्पर्श-हीन काव्य को हेय समझते है। जिसमे वैचित्र्य या चमत्कार की प्रधानता है, उसे वे प्रकृत-काव्य ही नही मानते। यही कारण है कि द्विवेदी जी रत्नाकर जी के काव्य को सूक्ति कह रहे है। उसमे हृदय को तल्लीन करने की अपेक्षा चमत्कृत कर देने की प्रवृत्ति अधिक है। यह आलोचना सौष्ठववादी दृष्टिकोण से की गई है। "रत्नाकर जी सूक्ति के कवि है। कथन की वक्रता चाहे इसमे स्वाभाविक कल्पना का अतिक्रमण करके अतिशयोक्ति ही क्यो न करनी पडे, रीति-प्रेरित कवियो मे (जिनमे रत्नाकर जी भी है,) अधिक दीख पडती है, जिसमे भाव का 'अनूठापन नही, बल्कि कथन का अनोखापन प्रकट होता है...जहा भाव द्वारा सीधे हृदय से लगाव की आवश्यकता है, वहा इस प्रकार की नाटकीयता एक काव्याभिनय-मात्र मालूम होती है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी मे निबन्ध-लेखक वैयक्तिकता के साथ ही आलोचक की सूक्ष्म दृष्टि भी है। उनकी धारणाओ से कुछ व्यक्तियो का विरोध भी हो सकता है,

१. 'संचारिणी,' पृष्ठ ६०।
२. वही पृष्ठ ३६।

पर इतना तो निश्चय ही है कि वह विश्लेषण और अनुभूति पर आधारित है। उनमे सौष्ठववादी आलोचक की तल-स्पर्शिता भी है। द्विवेदी जी कला-कृतियो और काव्य-धाराओ को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे रखकर देखते है। और इसी दृष्टि से उनके विकास का अध्ययन करते है कि साहित्य मे इन परिस्थितियो का स्वाभाविक और सहज परिणाम कैसे है और यह जीवन-धारा को कैसे प्रभावित करता है। इस प्रकार उनकी शैली मे सौष्ठववादी दृष्टिकोण के साथ ही ऐतिहासिक प्रणाली का बहुत प्रौढ रूप उपलब्ध होता है।

सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति आधुनिकतम प्रवृत्तियों मे से है। इसलिए इसने वर्तमान काल के प्राय. सभी आलोचको को प्रभावित किया है। सब लोगो ने इसको किसी-न-किसी रूप मे अपनाया है। जिन आलोचको पर शुक्ल जी का प्रभाव था, वे भी धीरे-धीरे इस पद्धति को अपनाते गए है। इसलिए कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनकी कुछ रचनाएँ शुक्ल-पद्धति की तथा कुछ इसकी है। पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की 'सूर-साहित्य' नामक रचना शुक्ल-पद्धति की है। पर कबीर मे उनका दृष्टिकोण बदला हुआ है। वह इस पद्धति की रचना मानी जा सकती है। उनमे ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग अधिक हुआ है। इसी प्रकार सत्येन्द्र जी की 'गुप्तजी की कला' प्राचीन पद्धति का आभास देती है। उसमे ऐतिहासिक चेतना के दर्शन होने से यह हम पहले कह चुके है। 'प्रेमचन्द की कहानी-कला' मे भी निगमनात्मक शैली का उपयोग हुआ है। यह रचना शास्त्रीय पद्धति के साथ इसके सम्मिश्रण का उदाहरण है। इस शैली के आलोचको मे श्री रामनाथ 'सुमन,' गगाप्रसाद पाण्डेय आदि लेखको के नाम उल्लेखनीय है।

सौष्ठववादी आलोचको ने भावुक, कल्पना-प्रधान और रहस्यमयी शैली को अपनाया है। उन्हे यही शैली अपनी पद्धति और रुचि के अनुरूप प्रतीत होती है। काव्य की अनुभूतिमयी व्याख्या के लिए यह आवश्यक भी है। अन्य आलोचको मे तो बौद्धिकता की ओर झुकाव होने के कारण विश्लेषण-शैली का भी उपयोग है। पर महादेवी जी मे अनुभूति की प्रधानता है, इसलिए उनकी शैली प्राय: सर्वत्र ही भावुकतामय है। पर उसके अन्तस्तल मे विचार-धारा की प्रौढ धारा के दर्शन भी स्पष्ट होते है। भावुकतामय एव कल्पना-प्रधान होने के कारण सौष्ठववादी आलोचना कही-कही अस्पष्ट भी है। इसीलिए कुछ लोग इस शैली को आलोचना के उपयुक्त नही समझते। वे तथ्य-निरूपणात्मक और तर्क-प्रधान शैली के समर्थक है। इसे तो वे गद्य-काव्य के उपयुक्त ही मानते है।

हिन्दी मे सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति अभी विकासशील है। इसने मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियो का पर्याप्त विकास किया है। कवि और कला-कृति के मनोवैज्ञानिक और तात्विक विश्लेषण की प्रवृत्ति तो हिन्दी मे इतनी लोकप्रिय हो

गई है कि शुक्ल-पद्धति के आलोचक भी इसका उपयोग करते है। इस प्रकार इन दोनों पद्धतियो मे कुछ सामजस्य भी स्थापित हो रहा है। विश्वविद्यालय के पडितो ने विभिन्न कवियो और काव्य-धाराओ पर जो विशद अध्ययन प्रकाशित किये है, उनमे इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है। डा० दीनदयाल गुप्त, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० रामकुमार वर्मा प० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र आदि मे मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियो का जो प्रौढ रूप दृष्टिगत होता है, वह इस पद्धति के प्रभाव से असम्पृष्ट नही है। उसमे वस्तु के तात्विक विवेचन तथा कवि की विचार-धाराओ के विश्लेषण की बढती हुई प्रवृत्ति भी इसकी द्योतक है।

*

: ११ :

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

भारतीय आलकारिकों ने काव्य के हेतु और प्रयोजन पर विशद विवेचन किया है। इन दोनों का सम्मिलित रूप साहित्य की प्रेरणा का कुछ आभास देता है। साहित्य के प्रयोजनों मे 'यशते', 'अर्थकृते' आदि वस्तुत काव्य की प्रत्यक्ष प्रेरणाएँ नही है। काव्य-सृजन के पूर्व यश, अर्थ आदि की आकाक्षा रह सकती है, अथवा काव्य-ग्रन्थ से उसे इनकी प्राप्ति भी सम्भव है, पर इनको सृजन-समय की प्रेरणा मानना विशेष समीचीन नही प्रतीत होता। सस्कृत के आचार्यों द्वारा मान्य "सद्य: परनिर्वृत्तये" को अवश्य साहित्य की प्रेरणा कहा जा सकता है। तुलसीदासजी का 'स्वान्त: सुखाय' का सिद्धान्त तो साहित्य की प्रेरणा के स्वरूप को और भी अधिक स्पष्ट कर रहा है। वस्तुत: इन दोनो प्रयोजनो में कोई विशेष अन्तर नहीं है। काव्य के हेतुओ मे भी काव्य की प्रेरणा पर स्पष्टत: विचार नहीं हुआ है। इनमे भी काव्य के बाह्य साधनों का निर्वचन-मात्र हुआ है। कवि की उस मन: स्थिति का निरूपण नही हुआ जिससे उसे काव्य-सृजन की प्रेरणा प्राप्त होती है। वस्तुत: संस्कृत के आचार्यो ने काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप तथा सृजन के समय कवि की मानसिक स्थिति पर बहुत कम विचार किया है। यह भी विवादास्पद ही है कि 'साधारणीकरण का सम्बन्ध केवल पाठकों से हो है, अथवा कवि से भी। कवि अपने वर्ण्य विषय, भाव आदि के साधारणीकृत रूप को ग्रहण करता है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। विभाव और भाव का साधारणी-करण काव्य के सृजन में होता है अथवा काव्य के अनुशीलन में, यह प्रश्न भारतीय आचार्यों ने नही उठाया है। पर भारतीय अलंकार-शास्त्र की परम्परा का समग्र रूप सामने रखकर यह कहना असमीचीन और अपसिद्धान्त नहीं है कि साधारणीकरण की क्रिया कवि-व्यापार में भी होती है और कवि-व्यापार से ही यह पाठक में भी सम्भव है। साधारणीकरण के मूल में यह सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि और पाठक का तादात्म्य होता है। आश्रय

के साथ पाठक का तादात्म्य तो उसीका सहज और स्वाभाविक परिणाम-मात्र है और यह सर्वत्र होता भी नही । रावण जब सीता के प्रति रति की व्यजना करता है, उस समय पाटक का रावण के साथ तादात्म्य नही होता, क्योकि कवि का आश्रय के साथ तादात्म्य नही है, अथवा यो कहिए कि कवि को उसके साथ तादात्म्य अभीप्सित नही है । कहने का तात्पर्य यह है कि इतने सारे विवेचन के उपरान्त इस सिद्धान्त को भारतीय घोषित किया जा सकता है कि कवि-व्यापार मे साधारणीकरण है । पर सस्कृत-आचार्यो ने इसका स्पष्ट निरूपण कहीं नही किया है । "नियतिकृतनियम रहिता" तथा "अपारे काव्य ससारे" आदि मे भी काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप पर तो थोड़ा सकेत है, पर सृजन के समय कवि की मनः-स्थिति क्या होती है ? उससे काव्यसृजन की प्रेरणा किस मन.स्थिति मे मिलती है आदि प्रश्नो पर भारतीय आचार्यो ने विचार नही किया है । पश्चिम के आचार्य का प्रारम्भ से ही इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है । साहित्य-शास्त्र का यह भी एक प्रमुख विषय रहा है । प्रायः सभी प्रधान आचार्यों ने साहित्य की प्रेरणा पर विचार किया है । पर इस क्षेत्र मे मनोविज्ञान के आचार्यो की महत्वपूर्ण देन है । उनके सिद्धान्तो ने इस क्षेत्र मे एक क्रान्ति ही उपस्थित कर दी है । उनके विवेचन ने साहित्य मे नवीन समीक्षा-सिद्धान्तो और पद्धतियो को जन्म दे दिया । इन आचार्यों मे प्रमुख फ्रायड एडलर और युङ्ग है । कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे यूरोप मे जो सिद्धान्त प्रचलित है, उनमे से प्रमुख तीन इन्हीकी मान्यताओ पर आधारित है ।

फ्रायड की कला-सम्बन्धी मान्यता के तीन प्रमुख आधार है । उसका कहना है कि मानव की अनेक इच्छाएँ और वासनाएँ सामाजिक, धार्मिक या अन्य प्रकार के प्रति-बन्धो के कारण अतृप्त रह जाती है । ये अतृप्त वैयक्तिक वासनाएँ तथा कुछ मूलभूत सामूहिक सहजात वृत्तिया नष्ट नही होती, अपितु अन्तर्मन के अतल मे दब जाती हैं । ये उपचेतन मस्तिष्क मे रह कर चेतन क्षेत्र मे आने तथा अभिव्यक्त होने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती है । मानव की स्वाभाविक विरोध-वृत्ति सामाजिक दमन को स्वीकार करके इन दमित इच्छाओ का उदात्तीकरण कर देती है । इस प्रकार ये वासनाएँ उदात्तीकृत रूप मे अभिव्यक्त होती है । इनकी अभिव्यंजना के ये उदात्ती-कृत प्रकार समाज द्वारा निषिद्ध नही होते । फ्रायड कहते है कि जीवन के सभी कार्यों के मूल मे काम वासना है । यह बाल्य-काल से ही जीवन की प्रधान प्रेरक शक्ति बन जाती है । बाल्य-काल की यह काम-वासना मातृ-रति (Oedipus complex) मे परिणत हो जाती है । फ्रायड तो बाल्य-काल की काम वासना ही को चरित्र-निर्माण की मूल प्रेरणा मानते है ।[1] इसका उन्नयन या उदात्तीकरण (Sublimation) भी विभिन्न प्रकार से होता है, इनकी अभिव्यक्ति में एक

विशेष आनन्द है। दमित इच्छाओ और वासनाओ की अभिव्यक्ति से मानव हल्का हो जाता है। यह रेचन (catharsis) से प्राप्त आनन्द है। इन वासनाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न, दैनिक भूल, हास्य विनोद और कला मे होती है। कला और साहित्य इन इच्छाओ की अभिव्यक्ति का सबमे सुन्दर साधन है।[2] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि इसके तीन प्रमुख आधार है—१ दमन, २. कामवासना और ३. उदात्तीकरण। इन्हीका विशद विवेचन फ्रायड के सिद्धान्तो को स्पष्ट करने वालो ने किया है।[3] फ्रायड ने यह माना है कि अन्तर्मन के अतल मे दमित ये वैयक्तिक और सामूहिक प्रवृत्तिया मानव-जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती है। मानव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के परिचालन की प्रमुख शक्ति यही है। मानव-विकास का सारा इतिहास इसी सत्य को प्रमाणित कर रहा है। मानव की पाशविक वृत्तियाँ अब तक भी अपने स्वरूप बदलकर अभिव्यक्त होती रहती है। सभ्यता और सस्कृति की मूल प्रेरणा ये प्रवृत्तिया ही है। इनके उन्नयन मे ही सस्कृति का वास्तविक विकास है। इसी मे मानव का व्यष्टिगत और समष्टिगत कल्याण है। इन प्रवृत्तियो की अस्वस्थ अभिव्यक्ति उसे ध्वस और नाश की ओर परिचालित करती है। साहित्य मे इन प्रवृत्तियो का स्वस्थ उन्नयन ही कल्याणकर है। फ्रायड के मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धातो के आधार पर पाश्चात्य जगत् मे कला की उन्नति का एक सम्प्रदाय

---

1. He came to see in the unconscious conflicts over the young child's sexual attitude towards its parents, which together with accompanying jealousy and hostility, he refers to oedipus complex (Freud, His dream and sex theories by Joseph Jasterol).
2. An unconcious mind where-in lurk and moil, basic instinct of the race, also thwarted personal desires (2)an inner censor that recognising society ban on these impulses forcing their repression seeks to sublimate them in more allowable forms of expression (one of which is Art) (3) a basic libido or rest drive (life force) A basic libido of sex drive (life force) which when checked may produce oedipus complex; distorted if not broken lives. Thus it sets love (the chief topic of modern Poetry, Modern Drama etc.) at the root of all human actions. The dictionary of wold literature).
3. Encyclopaedia Britanica Vol. 18 Psychoanalysis.

बन गया है। यह सम्प्रदाय कला और साहित्य की मूल प्रेरणा सीमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को ही मानता है। फ्रायड के अनुसार इन दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति स्वस्थ अस्वस्थ ओर दो प्रकार की हो सकती है। स्वस्थ अभिव्यक्ति वाल साहित्य ही चिरस्थायी और मानव-कल्याण का हेतु है। अस्वस्थ दमन तो मानव को ध्वसात्मक कार्यों मे प्रवृत्त करता है।

फ्रायड के ही समसामयिक और उनके शिष्य एडलर ने भी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तो के विकास मे पर्याप्त सहयोग दिया है। उनका कहना है कि मानव अपने व्यक्ति को समाज मे महत्वपूर्ण देखना चाहता है। वह अपने व्यक्तित्व की उपादेयता और महत्ता समाज पर व्यक्त करने का बाल्य-काल मे ही इच्छुक हो जाता है। उस समय उसको दूसरो की तुलना में अपनी शारीरिक अनुपयोगिता और निर्बलता का भी अनुभव होने लगता है और इसके परिणाम-स्वरूप उसमे हीनता की भावना जाग्रत हो जाती है। इसे ही एडलर हीनता-ग्रन्थि कहते है। इसी हीनता-जन्य अभाव की पूर्ति की कामना उसके जीवन की मूल प्रेरक शक्ति होती है। बालक मे बुद्धि के विकास का यह प्रधान कारण है। बुद्धि से किसी बता को समझने की क्षमता रहने पर भी वह जब शरीर से उस कार्य का सम्पादन नही कर पाता तब उसमें यह बुद्धि प्रबल हो जाती है। जब मानव-समाज के लिए शारीरिक आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार के पार्थिव रूप मे अनुपयोगी सिद्ध होता है तो वह अपने व्यक्तित्व की महत्ता का प्रतिपादन दूसरे क्षेत्रों में करता है। शारीरिक हीनता की क्षति-पूर्ति मानसिक विकास मे होती है। इस प्रकार मानव अपनी हीनता की पूर्ति स्वप्न, कल्पना, साहित्य, कला, दर्शन आदि मे भी करता है। अभाव की अनुभूति मानव को आत्मग्लानि से भर देती है और व्यक्ति जितना ही प्रतिभावान और मेधावी होता है उसकी आत्म-ग्लानि की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है। आत्म-ग्लानि उसकी प्रभुत्व-कामना को उग्र कर देती है। मानव अपने अभाव की पूर्ति के लिए छटपटाता है और वह उसी क्षेत्र में अथवा अन्य क्षेत्र मे क्षति-पूर्ति कर लेता है। इतना ही नही वह अतिरिक्त क्षति-पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहता है। कभी-कभी बाल्य-काल मे जो व्यक्ति क्षीण शरीर वाला होता है, वह युवावस्था मे पहलवान बनने का प्रयत्न करता है। अपनी शक्ति के सामान्य प्रभाव की ही पूर्ति उसका लक्ष्य नही अपितु वह अपने में अतिरिक्त शारीरिक शक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। क्षति-पूर्ति का यह प्रयत्न वैयक्तिक स्वार्थपरायणता और अहंकार का हेतु है। मनुष्य मे अपने प्रभुत्व की कामना अत्यधिक प्रबल होने के कारण वह अपने विशेष क्षेत्र के प्रभुत्व की रक्षा हर प्रकार से करना चाहता है। उसमे इसके प्रति मोह जागृत हो जाता है। वह आपाततः शक्तिशाली प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः दुर्बल रहता है। उसे अपनी

अर्जित शक्ति या यश के चले जाने का भय सदैव बना रहता है । उसकी रक्षा के लिए वह औचित्य और अनौचित्य का विवेक भी खो बैठता है । उसमें वास्तविक चारित्रिक सबलता नही आ पाती है । जिस कलाकार के व्यक्तित्व का विकास इन्ही सरणियो मे हुआ है, उसकी कला में प्रतिक्रियावादी तत्वो का आधिक्य हो जाता है । उसे कुछ विशेष विचार-धाराओ के प्रति अनावश्यक मोह हो जाता है, इसलिए वह जीवन के प्रगतिशील दृष्टिकोण को स्वच्छन्दतापूर्वक अपनाने मे असमर्थ रहता है । उसमे अहकार भी प्रबल हो जाता है जो उसके जीवन-दर्शन को अस्वस्थ कर देता है । कला की प्रेरणा का यह दूसरा सिद्धान्त है, जो मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित है ।

युङ्ग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की प्रधान वासना कहा है । उनकी मान्यता है कि मानव मे जीवित रहने तथा अमर रहने की प्रबल आकाक्षा है । इसीसे प्रेरित होकर वह सब कार्य करता है । यही मूल वासना उसे ऐसे कार्यो के लिए भी प्रेरित करती है, जिनसे वह अपने पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीवित रह सके । यही जीवनेच्छा लोक, वित्त और पुत्र नामक तीन एषणाओ की मूल प्रेरणा है । ये तीनो इसी एक की प्रधान जीवन-धाराएँ है तथा अभिव्यक्ति के तीन मार्ग है । मानव इन्ही तीन एषणाओ से प्रेरित होकर कार्य करता है । मानव के साहित्य-सृजन और कला-निर्माण के मूल मे भी ये ही भावनाएँ कार्य कर रही है । साहित्य और कला मे उसके जीवित एव अमर रहने की आकाक्षा ही अभिव्यक्त होती है । प्रभुत्व-कामना और काम-वासना को, जो क्रमश एडलर और फ्रायड के अनुसार जीवन की प्रधान प्रेरणाएँ है, युङ्ग जीवनेच्छा मे ही अन्तर्हित मानता है । पहली दोनो जीवनेच्छा की ही दो भिन्न प्रकार की वृत्तिया है, अर्थात जीवनेच्छा इन दो भिन्न रूपो मे अभिव्यक्त होती है । इन्ही के आधार पर युङ्ग ने अन्तर्मुखी (entrovert) और बहिर्मुखी (extrovert) दो प्रकार के मानव माने है । अन्तर्मुखी मनुष्यो मे प्रभुत्व की कामना का प्राधान्य रहता है और बहिर्मुखी मे काम-वासना का । प्रथम शासक बनना चाहता है और दूसरा शासित । पहले को अपने महत्व का ध्यान अधिक रहता है तथा दूसरा अन्य लोगो का ध्यान अधिक रखता है । ये दोनो वासनाएँ प्रत्येक व्यक्ति मे होती है । लेकिन युंग ने प्राधान्य के आधार पर इस प्रकार का अन्तर किया है । इनमे से जो वृत्ति प्रबल होती है, वही मानव की जीवनेच्छा की धारा का दिशा-निर्देश तथा उसकी सृजनात्मक शक्ति का नियन्त्रण करती है । इसीलिए इन दोनो प्रकार के मनुष्यों के सृजन, जो उनकी जीवनेच्छा की अभिव्यक्ति-मात्र है, दो भिन्न प्रकार के होते है । साहित्य और कला के क्षेत्र मे भी ये दोनो व्यक्ति दो भिन्न प्रकार के साहित्य और कला का निर्माण करते है । उनके वर्ण्य-विषय, विचार, चरित्र, शैली

आदि सभी-कुछ मे एक मौलिक अन्तर होता है। अन्तर्मुखी कलाकार व्यक्ति-प्रधान रचना अधिक करता और बहिर्मुखी विषय-प्रधान। इन दोनो का जीवन दर्शन भी भिन्न हो जाता है।

साहित्य-प्रेरणा के ये तीन सिद्धान्त पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप मे भी पूर्ण नही कहे जा सकते है। यह मानना कि प्रत्येक कलाकार एक मात्र अतृप्त काम-वासना प्रभुत्व की कामना अथवा जीवित रहने की आकाक्षा से ही काव्य-रचना करता है, ठीक नही है। प्रत्येक क्रिया के मूल मे काम-वासना को मानने का सिद्धान्त अतिवादी दृष्टिकोण है। कालिदास, भवभूति, प्रसाद, पन्त, गुप्त आदि जो सभी लोग किसी-न-किसी रूप मे अतृप्त रहे है और उनके काव्यों मे अतृप्त वासनाओ की ही अभिव्यक्ति हुई है। उनकी शैली पर भी इस अतृप्ति का प्रभाव है अथवा उन्होने अपने को समाज के लिए अनुपयोगी माना है और अपने महत्व के प्रतिपादन के लिए प्रभुत्व-कामना से ही वे काव्य मे प्रवृत्त हुए हैं, अथवा काव्य के रूप मे अमर रहने की आकाक्षा ने ही इन्हे काव्य-सृजन की प्रेरणा दी है, ऐसा कुछ भी निश्चय पूर्वक कहना उपयुक्त नही है। कभी-कभी इन तीनो के सम्मिलित रूप के दर्शन कलाकार की मानसिक प्रेरणा मे होते है और कभी इनसे भिन्न मानसिक स्थिति मे भी साहित्यिक प्रेरणा होती है। जिनकी ये तीनों वासनाएँ जीवन के अन्य क्षेत्रों मे परितृप्त हो सकती है, जो न अतृप्त है और न समाज के लिए उपयोगी, वे भी कला-सृजन मे प्रवृत्त होते है। अभिव्यक्ति मानव का स्वभाव ही है, उसमे उसे आनन्द की प्राप्ति होती है, यह स्वयं ही प्रेरणा है। इसके लिए अन्य किसी चेतना अथवा उपचेतन प्रेरणा की आवश्यकता नही प्रतीत होती है। 'एकोऽहं बहु स्याम' मे चेतना के मूलभूत स्वभाव की ओर निर्देश है। इस विकास मे आनन्द है। यह आनन्द की अभिव्यक्ति है। इसमे प्रेरणा, कार्य और प्राप्तव्य तीनो ही आनन्द है। लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नही है कि एक से अनेक होने के पूर्व वह आनन्दमय नही था। उसे आनन्द के अभाव की प्रतीति थी और उसी अभाव की पूर्ति के लिए यह विकास है ऐसा कुछ भी मानना दार्शनिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। वह पहले भी आनन्दस्वरूप ही था और इस विकास मे भी आनन्द-स्वरूप ही रहता है। यह शान्त, स्वानुभूति रूप आनन्द की अपनी शक्ति माया के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान-मात्र है। अभिव्यक्ति चित्त-शक्ति का स्वभाव है और यही आनन्द का व्यक्त स्वरूप है। कला के सम्बन्ध मे भी यही सिद्धान्त ठीक प्रतीत होता है। वह मन की स्वच्छन्द और स्वाभाविक अभिव्यक्ति-मात्र है। कलाकार को अभिव्यक्ति मे सहज आनन्द का अनुभव होता है। कभी-कभी सृजन की प्रेरणाएँ पृथक् व्यक्तित्व धारण करके स्पष्ट हो जाती है और कभी-कभी ऐसी किसी भिन्न प्रेरणा का अनुमान असभव

और व्यर्थ प्रतीत होता है। यह कहना भी पूर्ण सत्य का अवलम्बन नहीं है कि कला मे अतिरिक्त शक्ति (Superfluous energy) के ही अभिव्यक्ति होती है। श्रान्त और प्राय शक्ति का नितान्त अभाव अनुभव करने वाला मानव भी कभी-कभी बहुत ही उत्कृष्ट कला-कृति को जन्म दे देता है। लेकिन इन सभी सिद्धान्तो मे सत्याश अवश्य है। अतृप्त वासना, प्रभुत्व की कामना अमर रहने की इच्छा, अतिरिक्त शक्ति की अभिव्यक्ति और स्वान्तः सुखाय इन सबमे कला की पृथक् अथवा युगपत् प्रेरणा है। स्वान्तः सुखाय सबमे प्रमुख है। इसमे अभिव्यक्ति को मानव की सहज प्रवृत्ति मानने का सिद्धान्त अन्तर्हित है। कलाकार का "मन" जब मानव की दिव्यता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उस समय उसका स्वान्तः सुखाय भी मगलमय हो उठता है और ऐसी कृति मे स्वान्तः और परान्तः तथा आनन्द एवं मगल का सामंजस्य हो जाता है। शेष सब प्रेरणाओं के अभाव मे भी काव्य-सृजन हो जाता है। स्वच्छन्द अभिव्यक्ति की मूलभूत कामना से कला का जन्म होता है और ये उपर्युक्त कारण कभी कभी उसके सहायक हो जाते है। कभी-कभी मानव को इन्ही में से किसी एक अथवा सब को मूल प्रेरणा मान लेने की भ्रान्ति होती है। साहित्य की प्रेरणा की इसी अनिवर्चनीय अवस्था की कल्पना करके ही सम्भवतः सस्कृत का आचार्य इस प्रसग पर मौन रहा है। वह कवि की मानसिक स्थिति की ओर केवल काव्य के प्रयोजनो मे साधारण सकेत-भर करता है। "सद्यः परनिर्वृत्तये" को प्रधान प्रयोजन मानकर अभिव्यक्ति की सहज कामना के सिद्धान्त को स्वीकार कर रहा है। फिर भी मनोविश्लेषण-शास्त्र के इन सिद्धान्तों मे आशिक सत्य अवश्य है। अन्तर्मन की शक्तियां मानव के व्यक्त जीवन को प्रभावित करती रहती है। ये जीवन की परिचालक शक्ति की सहयोगिनी हैं। इन शक्तियों का विश्लेषणात्मक ज्ञान भी कलाकार के व्यक्तित्व का और कला-कृति के स्वरूप के लिए सहायक अवश्य होता है। ये सिद्धांत भी कला की दृष्टि से नितान्त उपेक्षणीय नही है।

ऊपर साहित्य-प्रेरणा के जिन सिद्धान्तो का निरूपण हुआ है उनका मनोविश्लेषण-शास्त्र से सम्बन्ध है। साहित्य के सृजन और मानव-क्षेत्र मे इन तीनो का सम्मिलित रूप मनोविश्लेषणात्मक सम्प्रदाय के नाम से अभिहित होता है। इन्होने काव्य-सृजन को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। एक समय था जब पाश्चात्य देशो मे इसका बहुत मान था। इन्ही सिद्धान्तों के आधार पर काव्य के चरित्रों और वर्ण्य विषय की कल्पना होती थी। साहित्य-समीक्षा मे भी इन सिद्धान्तों का पर्याप्त उपयोग किया गया है, स्वयं फ्रायड ने कई-एक उदाहरणों से मनोविश्लेषणात्मक पद्धति को स्पष्ट किया है। उन्होने इसको समीक्षा-पद्धति का रूप भी प्रदान कर दिया था। इन सिद्धान्तो ने साहित्य के एक विशेष रूप के सृजन की प्रेरणा भी दी है। पर यह प्रेरणा ठीक वैसी ही नही है जैसी छायावाद और प्रगतिवाद मे है।

इस सिद्धांत के मानने वाले कलाकारों ने तो उदाहरणों द्वारा इन सिद्धांतों का प्रतिपादन ही किया है। इन सिद्धांतों के उदाहरण उपस्थित किये है। हिन्दी में अज्ञेय जी और प० इलाचन्द्रजी जोशी के उपन्यास इसी विचार-धारा से प्रभावित हैं। कला-कृति को समझाने के लिए उसके गूढ रहस्यों और सौंदर्य के स्वरूप को समझकर रसास्वाद करने मे यह ज्ञान उपयोगी भी है।

साहित्य-समीक्षा का यह सिद्धान्त यह मानता है कि रचनाकार के मस्तिष्क की दमित वासनाएँ ही उपन्यास के प्रधान पात्रो के व्यक्तित्व का निर्माण करती है।[1] साहित्यकार की प्रेरणा प्राय. उपचेतन मस्तिष्क मे ही रहती है। काव्य के पात्र, वर्ण्य-विषय शैली, अप्रस्तुत विधान आदि सभी वस्तुओ पर इन दमित इच्छाओं अथवा प्रभुत्व की कामना और जीवनेच्छा की अभिव्यक्ति के स्वरूप का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है। ये ही कला-कृति के स्वरूप का निर्धारण करती है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा में कलाकार के चेतन मस्तिष्क की विचार-धारा और चेतन व्यक्तित्व से कला-कृति का सम्बन्ध मान्य हुआ। कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही कला मानी गई, इसलिए कला-कृति को ठीक-ठीक समझने के लिए कलाकार के व्यक्तित्व को समझना आवश्यक प्रतीत हुआ। कलाकार की मानसिक स्थिति को समझ लेने के बाद काव्य कभी-कभी अधिक गूढ और आस्वाद्य प्रतीत होता है। जब मनोविज्ञान के क्षेत्र मे नये सम्प्रदायो का जन्म हुआ और मानव के व्यक्तित्व-निर्माण में उपचेतन मस्तिष्क की शक्तियां भी प्रधान मानी जाने लगी तथा स्वयं इन मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रतिपादको ने अपने सिद्धांत का स्पष्टीकरण काव्य और कला के उदाहरणो से किया तो साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे भी मनोविश्लेषणात्मक के नाम से एक नवीन सम्प्रदाय की उद्भावना हो गई।

साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र मे इस सिद्धांत की भी उपयोगिता है। जैसा कि हम पहले देख चुके है कि कलाकार को सृजन के लिए ये प्रेरणाएँ भी, जिनका प्रतिपादन इस सम्प्रदाय मे हुआ है, कभी-कभी बाध्य करती है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय में काव्य के कुछ नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन होता है। दूसरे जब मानव का व्यक्तित्व उपचेतन वासनाओ से अत्यधिक प्रभावित होता है (यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय) तो कलाकार के व्यक्तित्व को समझने के लिए इन सिद्धांतो का उपयोग भी आवश्यक है। समीक्षा की दृष्टि से इसका उपयोग आवश्यक है। पर हर स्थान पर इसी का उपयोग करना प्रत्येक कलाकर में केवल दमित वासनाओं

1. The Dictionary of World Literature. That the chief figures in a great novel an unconcious projections of unvionihion factors in the authors own characetre.

के अन्वेषण की आलोचना करना दुराग्रह-मात्र है। फिर कलाकार के उपचेतन मस्तिष्क का अध्ययन उसके व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में ही सहायक है, उसमे काव्य के कुछ स्थलों का स्वरूप और गूढता स्पष्ट अवश्य हो जाते हैं। पर काव्य के रसास्वाद में ये सिद्धान्त बहुत दूर तक सहायक नही होते। क्यों किसी को एक 'रस' अधिक प्रिय है, उसमे उसे अधिक तन्मयता का क्यो अनुभव होता है आदि प्रश्नों को कभी-कभी प्रस्तुत वासनाओं की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या से सुलझाया जा सकता है। समीक्षा का प्रमुख रूप तो स्वयं रसास्वाद करना और पाठको को कराना है। उनमे इसका उपयोग सीमित है। काव्य-सौष्ठव के स्वरूप और उसके प्रसाधनो का अनुभूतिमय विश्लेषण ही समीक्षा का प्रकृत क्षेत्र है। कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी परिस्थिति आदि का विश्लेषण काव्य का नैतिक आधारो पर अध्ययन आदि तो समीक्षा के गौण रूप है। इस दृष्टि से मनोविश्लेषण-शास्त्र का समीक्षा से गौण और परोक्ष सम्बन्ध-मात्र है। उपचेतन मस्तिष्क की वस्तु होने के कारण समीक्षा मे इन सिद्धान्तो का उपयोग बहुत ही दूर की वस्तु है। हा, यह पद्धति कलाकार की मनोवृत्तियो के विकार अथवा स्वस्थता को समझने के लिए अवश्य उपादेय है। यह साहित्य मे विकृत मनोवृत्तियो की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के अवरोध में भी सहायक हो सकती है।

पाश्चात्य जगत् की अन्य साहित्यिक प्रगतियों की तरह इस सम्प्रदाय ने भी हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया है। सृजनात्मक क्षेत्र में इन सिद्धांतो का उपयोग विशेषतः कहानी, उपन्यास आदि मे ही हुआ है। प्रभुत्व-कामना तथा दमित काम-वासना के उग्र रूप से आक्रांत चरित्रों की कल्पना की गई है। व्यक्ति इन वासनाओं से प्रेरित होकर क्या करता है, यह दिखाना ही इन कथाओं और उपन्यासों का प्रधान लक्ष्य है। इन सिद्धांतो से प्रभावित होकर हिन्दी के कहानीकारों एवं उपन्यासकारों के माता-पिता के प्रति रति के उन्मुक्त और अश्लील वर्णन वाले वर्ण्य विषयों को आश्रय दिया है। उपन्यास के नायक अपने माता-पिता की रति का वर्णन विस्तार पूर्वक बिना किसी हिचकिचाहट के करते है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे उसका आस्वाद ले रहे है। विमाता से पुत्र उत्पन्न करने पर भी नायक लज्जित नही है। नायक नायिका शिशु प्राप्त करके प्रसन्न होते है, जैसे मानों उनका व्यवहार पूर्णतः विहित है। दो-एक कलाकार तो रति-क्रीडा के नग्न चित्रों को रुचि सहित खींचते है। उन्होने समाज के शिष्टाचार और शील का बिलकुल भी ध्यान नही रखा है। कहानी का नायक चुपचाप पीछे की खिड़की से नायिका के घर मे घुस जाता है। उसके साथ जिस समय वह रति-क्रीडा मे प्रवृत्त रहता है, उसी समय उस नायिका की सास आ जाती है। कहानी का नायक बहू को छोड़ कर सास को पकड लेता है और उसके साथ वही क्रीड़ा चलने लगती है। लेखक ने

"साम फूलना" आदि कई-एक क्रियाओं द्वारा इस दृश्य में नग्न चित्रोपमता का सृजन किया है। स्वयं लेखक इस दृश्य का आस्वाद लेता हुआ प्रतीत होता है। यथार्थवाद के नाम पर अंकित ये चित्र मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। क्या मानव इतना पशु हो जाता है? अगर मानव के इस पाशविक रूप की सत्यता में विश्वास करने के लिए मनोविश्लेषण-शास्त्र हमें बाध्य भी कर दे तब भी यह भारतीय जीवन की मर्यादा के विरुद्ध है। फिर अगर यह किसी के विरुद्ध न हो तब भी इन चित्रों में समाज और व्यक्ति का कौन सा कल्याण निहित है? इसमें लेखक की विलासिता की पूर्ति के अतिरिक्त और क्या है? मनोविश्लेषण-शास्त्र ने कुछ ऐसे ही श्लील और अश्लील के भेद का उन्मूलन करने वाले साहित्य को प्रेरणा दी है। हिन्दी में आज इस प्रकार की कहानियों और उपन्यासों का अभाव नहीं है। मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित यह समीक्षा सम्प्रदाय उच्चस्तरीय मानवता पर काव्य के मूल में रहने वाली लोक मंगल की भावना का उच्छेद करता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रभावित साहित्य रस का साहित्य न होकर अधिक से अधिक प्रसादन अथवा अवसादन का साहित्य ही हो सकता है।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग तो प्रायः सभी समालोचकों ने किया है। कलाकार के व्यक्तित्व का अध्ययन इसी शैली पर हुआ है। शुक्ल जी से लेकर परवर्ती-काल के सभी समालोचकों में इस शैली के दर्शन होते है। पर मनोविश्लेषणात्मक शैली की समालोचनाएँ हिन्दी में कम है। प० इलाचन्द्र जी जोशी तथा अज्ञेय जी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य आलोचकों ने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों का समीक्षा में कहीं-कहीं निर्देश-भर किया है। अज्ञेय जी और जोशी जी को सृजन के क्षेत्र में भी इन सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली है, इसका निर्देश पहले हो चुका है। समीक्षा में उन्होंने फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन्हीं सिद्धांतों के आलोचक में हिन्दी साहित्य की प्रधानतः आधुनिक छायावादी और प्रगतिवादी काव्य-धारा का विवेचन किया है। जोशी जी फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों से प्रभावित है और उन दोनों का ही उपयोग करते है, पर अज्ञेय जी ने विशेषतः एडलर के सिद्धान्तों को ही अपनाया है। अज्ञेय जी ने अपने 'त्रिशंकु' नामक निबन्ध-संग्रह में "प्रभुत्व कामना" और क्षति-पूर्ति के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। कहीं-कहीं इन सिद्धान्तों का उपयोग उनकी प्रयोगात्मक आलोचना में भी हो गया है। अज्ञेयजी कहते है कि व्यक्ति में जब अपनी "व्यक्ति-सत्ता" की अनुभूति जाग्रत होती है, तब वह अपने-आपको एक सन्तोषजनक समाज का अंग अनुभव करना चाहता है। जब व्यक्ति की महत्वपूर्ण कृतियाँ समाज की मान्यताओं के अनुकूल घोषित की जाती है, तभी वह अपने-आपको एक सन्तोषप्रद समाज का महत्वपूर्ण अंग स्वीकार करता है। अगर उसके व्यक्तित्व और कृतियों

को समाज की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती है, तो उसमें एक विद्रोह जाग्रत हो जाता है । अगर व्यक्ति प्रतिभावान है तो वह रूढ़िग्रस्त, ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों में हड़कम्प उत्पन्न कर देता है, अन्यथा उसमें केवल एक भूख, एक अतृप्ति, एक दोहद-मात्र जाग्रत होता है । कभी-कभी मानव अपनी इच्छाओं और रुचियों के लिए अतीत में स्वीकृति प्राप्त करता है । इस स्वीकृति के मूल्य के रूप में अपने-आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाकर, अपनी कुछ इच्छाओं को समाज के अनुकूल बदल-कर स्वीकृति का मूल्य भी चुकाता है, पर जब उसके मर्म का स्पर्श होने लगता है, तब वह विद्रोह कर उठता है । व्यक्ति परिस्थितियों के अनुकूल बनता है, उनसे संस्कार ग्रहण करके उनको अपने स्वरूप का अंश बनाता रहता है । पर एक वस्तु उसके व्यक्तित्व की प्राण-वायु होती है, यही उसकी मौलिकता का घनीभूत रस है, यह अंश परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बदल सकता । यही अंश स्वीकृति चाहता है ।[1] इसी अंश में व्यक्ति की प्रभुत्व-कामना का रहस्य गर्भित है । इस अंश की अस्वीकृति ही उसमें अनुपयोगिता और हीनता का भाव जाग्रत करती है । यह अंश विद्रोह करता है, अशक्त होने पर इसी के कारण दोहद उत्पन्न होता है । इसी में उन्नयन (Sublimation) और क्षति-पूर्त्ति की प्रेरणा है । इसकी उपयोगिता की समाज द्वारा स्वीकृति को ध्यान में रखकर अज्ञेय जी कला के स्वभाव का निरूपण करते हैं । "कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न, अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है ।" [2] मानव-जीवन के एक क्षेत्र की अनुपयोगिता की भावना की क्षति-पूर्ति किसी अन्य क्षेत्र में करता है । शारीरिक अथवा अन्य कारणों से समाज के लिए साधारणतया अनुपयुक्त होने पर, मानव अपनी उपयोगिता को असाधारण क्षेत्रों में सिद्ध करता है । वह अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए अपनी प्रभुत्व की कामना के लिए नवीन क्षेत्रों का निर्माण कर लेता है, समाज की नवीन उपयोगिताओं का सृजन कर लेता है । अज्ञेय जी का कहना है कि कला भी एक इसी प्रकार की क्रिया है । मानव-सभ्यता की आदिम अवस्था में समाज और परिवार के अनुपयुक्त मानव को अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने के प्रयास ने ही कला को जन्म दे दिया । सौन्दर्य-बोध, जो कला का प्राण है, इसी प्रकार की नवीन सृष्टि है । अज्ञेयजी लिखते हैं : "हमारे कल्पित प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है । उसे एक नई उपयो-गिता सिखाई है । पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कला-चेष्टा ऐसा

---

१. अज्ञेय 'त्रिशंकु' 'परिस्थिति और साहित्यकार' पृष्ठ २८-२० ।

२. वही, कला का स्वभाव और उद्देश्य', पृष्ठ २३ ।

ही विद्रोह रही होगी।"[1] यह विवेचन स्पष्टतः एडलर के सिद्धांतों से प्रभावित है, पर अज्ञेय जी ने फ्रायड के मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों का भी उपयोग किया है। वे वासनाओं के दमन और उनके उन्नयन (Sublimation) के सिद्धान्त का भी कला से सम्बन्ध मान रहे है। एडलर और फ्रायड के सिद्धान्त दो विरोधी सम्प्रदायों से सम्बद्ध नहीं है, अपितु उन्हें परस्पर मे पूरक कहना अधिक समीचीन है। इसीलिए काव्य के क्षेत्र मे इनका समन्वित रूप ही गृहीत हुआ है।

जोशीजी के कला-विवेचन मे भी फ्रायड और एडलर दोनों के सिद्धान्तों का उपयोग हुआ है. उन्हें कला-सम्बन्धी फ्रायड के सिद्धान्तों का अधिक उपयोग करने का अवसर मिला है, फिर भी एडलर का सिद्धात उन्हे अमान्य नहीं है, इसलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं हुई है। छायावादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए जोशीजी ने फ्रायड के अतृप्ति तथा एडलर के प्रभुत्व-कामना के सिद्धान्त का विवेचन किया है। कला का दमित वासनाओं से सम्बन्ध स्थापित करते हुए जोशी जी लिखते है : "वहां वे ऐसी दबी पडी रहती है कि फिर आसानी से ऊपर को उठ नहीं पाती। पर बीच-बीच मे जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती है, तब हमारे सचेत मन को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती है। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार का हृदय अपने भीतर किसी "अज्ञात शक्ति" की प्रेरणा का अनुभव करके कलात्मक रचना के लिए विकल हो उठता है। कवि अथवा कलाकर की कृतिया उसके अन्तस्तल मे दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती है।"[3] वे मानते है कि जैसे स्वप्न मे मानव की वासनाएं अपना रूप बदलकर आती हैं, वे अपने-आपको कुछ प्रतीकों के आवरण में अभिव्यक्त करती है, उसी प्रकार कला-कृति भी कलाकर की मानसिक स्थिति की ही रूपकों के आश्रय से अभिव्यक्ति-मात्र है। कला और स्वप्न के [साम्य का] सिद्धान्त भी फ्रायड की ही देन है। जोशीजी इसी आधार पर अस्पष्टता और रूपक रस को काव्य का अनिवार्य तत्व मानते हैं। जोशी जी ने हीनता के भाव की क्षति-पूर्ति के सिद्धान्त का भी कला से सम्बन्ध माना है। इस प्रकार इनको भी इन दोनों मनोविश्लेषक आचार्यों के सिद्धान्त मान्य है। इन दोनों सिद्धान्तों के सभी अंगों का विशद विवेचन हुआ है। फ्रायड और एडलर के सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए जिन तत्वों का निर्देश हो चुका है वे सभी इनको मान्य हैं। हिन्दी-साहित्य की मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति के ये दोनों व्यक्ति प्रतिनिधि है। इन्होने अपने विवेचन स यह प्रमाणित कर दिया कि "समीक्षा मे

१. सौन्दर्य-बोध, 'त्रिशंकु', पृष्ठ २६।
२. वही।
३. विवेचन पृष्ठ ५४।

मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तो का उपयोग उद्देश्य-विहीन और केवल पाडित्य-प्रदर्शन की आकाक्षा मात्र नही है । ये सिद्धान्त काव्य के वास्तविक स्वरूप के निरूपण तथा उसके स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करने के लिए प्रेरणा देने में सहायक है । काव्य मे अस्वस्थ वृत्तियो की प्रेरणा का उद्घाटन करके उसे स्वस्थ मार्ग पर ले चलना ही इस समीक्षा की उपयोगिता है ।" जोशीजी इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करते है : "....उसी प्रकार किसी कलाकार का किसी कृति से उसके मन के भीतर के के द्वन्द, उसकी अन्तश्चेतना मे निहित पाशविक प्रवृत्तियो के ताडना अथवा स्वास्थ्य-कर मानवीय भावनाओ के आलोडन का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है ।"[1] आधुनिक मनोविज्ञान ने मानवात्मा के अन्तःपुर की ऐसी कुञ्जी हमें दे दी है कि अब "स्वर्गीय" अथवा "प्रगतिशील" भावापन्न कलाकार के अन्तर में निहित वास्तविक मनोवृत्तियो का पर्दा फाश बडी सरलता से हो सकता है ।"[2] हम पीछे देख चुके है कि जोशीजी सौन्दर्यान्वेषी है । वे काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्य ही मानते हैं पर उनकी सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा मे मंगल का भी अतर्भाव है । वे साहित्य की चिरन्तनता इसी तत्व पर आश्रित मानते है । साहित्य मे चिरन्तन मगलमय सौंदर्य की सृष्टि प्रत्येक कलाकार नही कर सकता है । जोशीजी मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का उद्देश्य यह अध्ययन करना मानते है कि किस कलाकार के व्यक्तित्व में स्वस्थ साहित्य-सृजन की कितनी क्षमता है और कैसे है । शमित इच्छाओ का अध्ययन एवं हीनता की भावना की क्षति-पूर्ति का प्रयास अगर स्वस्थ दिशा में अग्रसर है तो कलाकार महान् कृति उपस्थित कर सकता है, अन्यथा आपाततः मधुर होते हुए भी उसमे जीवन-शक्ति का अभाव ही रहता है । जीवन की महान् कल्पना कलाकार के अवचेतन मन की भावनाओ के स्वस्थ विकास द्वारा ही नियत्रित होती है । अज्ञेय जी सत् साहित्य के स्वरूप तथा कलाकार के अवचेतन मन से उसका सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं । "यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक-बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्य पूर्वक अपनी आन्तरिक मांग का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमे प्रतिरोध और जुगुप्सा की भावनाएं जगाई है, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़ कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है तो उसकी रचनाएं महान् साहित्य बन सकेंगी ।...यदि उसके उद्वेग ने केवल अनिश्चय, घबराहट और पलायन की भावना जगाई है तब उसकी रचनाए मधुर होकर भी घटिया रहेंगी ।"[3] अज्ञेय जी मा के आंचल के भीतर के मधुर

१. वही, पृष्ठ ५५ ।
२ वही, पृष्ठ ५५ ।
३. 'त्रिशंकु, पृष्ठ ३०-५१ ।

स्वप्नों को शैशवोचित चेष्टा कहते है, उनमें जीवन-शक्ति का अभाव मानते है। ये आलोचक स्थूल उपयोगितावाद या नीति के उपदेश को काव्य का उद्देश्य नही मानते। प्रगतिवाद के विरोध का एक यह भी कारण है। लेकिन दूसरी तरफ विलासिता को तृप्ति करने वाली सौन्दर्य-साधना को भी ये काव्य का स्वस्थ और प्रौढ स्वरूप नही मानते। छायावाद के कतिपय कवियो मे जीवन का जो पलायनवादी दृष्टिकोण है, उसके मूल मे वासना ही है। वह जीवन का स्वस्थ सदेश देने मे असमर्थ है इसी लिए उन्होने उसका भी विरोध किया है। जोशीजी ने सामंजस्य के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। सौन्दर्य और मगल के सामजस्य पर हम पहले विचार कर चुके है जोशीजी ने नाशमयी और निर्माणमयी शक्तियों के समन्वय मे स्वस्थ साहित्य की प्रेरणा मानी है। इसी स्वस्थ प्रेरणा-शक्ति से प्रभावित होकर जो कवि लिखता है जोशीजी का कहना है कि वह युग-युगान्तर मे जीवित रह सकता है।[1] "सच्ची कला कभी भी अनैतिक नही हो सकती···सच्ची कला-वस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता (ethical value) पर आश्रित है। हा, यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा कि हम एक श्रेष्ठतर नीति की बात कह रहे है, निरी नैतिकता Moralities की नही।[2] वे मानते है कि कला पाठक के लिए भी जीवन को सहनीय बनाती है, अर्थात् उसे संघर्ष की शक्ति प्रदान करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन लोगों ने काव्य का उद्देश्य जीवनी-शक्ति प्रदान करना माना है। इनकी दृष्टि से यही काव्य की नैतिकता है। यह काव्य के प्रयोजन का स्वस्थ दृष्टिकोण है। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने काव्य के स्वस्थ और अस्वस्थ स्वरूप का अनुमान कलाकार के व्यक्तित्व के आधार पर किया है। अगर कलाकार का व्यक्तित्व पलायनवादी और विध्वंसक है तो उसका निर्मित साहित्य भी अस्वस्थ और विध्वंसक ही है। ये ऐसे साहित्य के प्रोत्साहन के घोर विरोधी हैं। समीक्षा के क्षेत्र मे मनोविश्लेषण-शास्त्र की यह उपयोगिता अस्वीकृत नही की जा सकती, पर केवल उसी दृष्टिकोण को चरम सत्य मान लेना साहित्य और कला के उन्मुक्त वातावरण को कुण्ठित करना है।

यह समीक्षा-पद्धति साहित्य-सृजन को वैयक्तिक विवशता का परिणाम मानती है। देश, काल की परिस्थितियाँ कलाकार को प्रभावित अवश्य करती है, पर साहित्य सृजन से उनका सम्बन्ध द्रविड है, सीधा नही। इनका कहना है कि समाज या देश के सुधार की भावना, उनके प्रति कर्त्तव्य आदि तो उसके हृदय को स्पर्श करके उसकी अनुभूति को तीव्र करके कलाकार को विवश करने में ही सहायक होते हैं, पर कला का वास्तविक हेतु वैयक्तिक विवशता ही है। साहित्य की प्रेरणा करने वाली मूल

१ 'विवेचना', पृष्ठ ६०।

२ 'त्रिशंकु', पृष्ठ २८-२९।

शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। "साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशो द्वारा निश्चित नही होती। कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति उसकी आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता उसे निश्चित करती है।" "कलाकार की प्रेरणा-शक्ति एक निगूढ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशना है, जिसके कारण वह समार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।"[1] जोशीजी सस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में बुद्धि के आभिजात्य (aristocracy) को आवश्यक मानते है। काव्य मे वे व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत चेतना का महत्व स्वीकार करना चाहते है।[2] वैयक्तिकता और आभिजात्य का तात्पर्य कला को उद्देश्यहीन बनाना नही है। कला के उद्देश्यो पर अभी विचार हो चुका है। अज्ञेय जी कला को पथ-भ्रष्ट होने से बचाने का उत्तरदायित्व आलोचक पर ही मानते है।[3]

हिन्दी में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के समालोचको ने काव्य की आधुनिक गति-विधि पर विचार करते हुए कला की वैयक्तिकता और जीवन-शक्ति प्रदान करने की क्षमता के सिद्धान्तो को अपनी आलोचना के मान के रूप मे ग्रहण किया है। जीवन-शक्ति प्रदान करने की क्षमता ही कला की श्रेष्ठता का मानदड मा गया है। जहा पर उन्हें इस प्राण-शक्ति का अभाव प्रतीत हुआ है, वहाँ उन्होने मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर उसके कारणों का अनुसंधान किया है। मनोविश्लेषण इन आलोचको की शैली है, पर काव्य की श्रेष्ठता की धारणा प्राय. सर्वमान्य कही जा सकती है। शुक्लजी तथा अन्य वैसे ही मूल्यवादी आलोचको के सिद्धान्तो मे यह बहुत भिन्न नही है। ये उनकी अपेक्षा स्थूल नैतिकता और चारित्रिकता के स्थान पर सौंदर्य और मंगल के सामजस्य पर जोर देते है। साहित्य मे प्राण-शक्ति खोजते हैं, उपदेश या विलासिता नही। इस दृष्टि से ये सौष्ठववादी समन्वय के समर्थक हैं। यही कारण है कि इन आलोचको ने छायावादी, प्रगतिवादी तथा इतिवृत्तात्मक तीन वर्तमान काव्य-धाराओं का खडन और समर्थन दोनो किया है। वे अविकल रूप में इनमे से एक के भी समर्थक नही है। इतिवृत्तात्मक कविता मे जहा स्थूल उपदेश और केवल कथा-प्रवाह है, उसका समर्थन वे लोग नही कर सके। छायावाद के कलात्मक सौष्ठव की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते है, पर उसकी विलासिता-जन्य पलायनवादी प्रवृत्ति के घोर विरोधी है। प्रगतिवाद भी नग्न चित्रण के आवरण मे इसीकी तृप्ति कर रहा है, ऐसा उनका मत है। साहित्य का अर्थ की समस्याओ मे गठबन्धन

---

१. वही, पृष्ठ ६६।

२. साहित्य-सर्जना पृष्ठ ५६-६०, ६४-६५।

३. त्रिशंकु पृष्ठ ७२।

करके उसके स्वच्छन्द विकास के मार्ग को अवरुद्ध करना—इनके अनुसार साहित्य में अस्वस्थ दृष्टिकोण को प्रश्रय देना है। जोशी जी के 'छायावादी और प्रगतिवादी कवियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' नामक निबन्ध में यही दृष्टिकोण है। जीवन की विध्वंसक शक्तियों को प्रश्रय देने वाला साहित्य जोशीजी की दृष्टि से हेय और बहिष्कार के योग्य है। आधुनिक उपन्यासों के नायकों की इसी विलासिता की उन्होंने घोर निन्दा की है।[1]

छायावादी कवियों में स्वर्गीय कल्पनाओं का कारण जोशीजी जीवन-संघर्ष की अक्षमतानजन्य आत्म-ग्लानि मानते हैं। इन कवियों में विश्व-कल्याण की भावना का अभाव है वे अपनी दाम्भिकता और विकृत मनोभावों की तृप्ति-मात्र करते हैं। छायावादी कवियों में समाज पर अपनी धाक जमाने की भावना है। उस शक्ति-प्राप्ति की आकांक्षा के भीतर से उनकी पुरुषार्थ-हीनता भी स्पष्ट झांक रही है। 'अहंकार-प्रसूत शक्ति-प्राप्ति की मूल प्रवृत्ति को चरितार्थ किया है। पर इस अहंभावापन्न शक्ति के बाह्याडम्बर के भीतर पुरुषार्थ हीनता का भयंकर पोपलापन छिपा हुआ रहता है।"[2] "आज का हिन्दी-साहित्य अधिकांश अतृप्ति या कह लीजिये लालसा के इच्छित विश्वास (विशफुल थिंकिंग) का साहित्य है।"..."अपनी स्त्री का आदर्शीकरण, स्त्री के नाम से कहानियां छपाकर, लेखिका स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति ये सब प्रवृत्तियां इसी प्रकार समझी जा सकती हैं, लेकिन ये सब हमारे साहित्य में व्यक्त होने वाली कुण्ठा का एक ही पहलू है।"[3] अज्ञेय जी भी अपने इन विचारों द्वारा जोशीजी के विचारों की पुष्टि कर रहे हैं। इन आलोचकों द्वारा प्रगतिवादी कविता के विरोध के कारणों में से सबसे प्रबल कारण उसमें जीवन की स्वस्थ शक्ति का अभाव ही है। हिन्दी का प्रगतिवाद भी कुछ कुण्ठाओं ही का परिणाम है। वे मानव के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं अपितु अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा तथा यथार्थता के नाम पर वासना-तृप्ति का प्रयास-मात्र है। जोशीजी के विचार में छायावादियों का अपने महत्व-स्थापन का दूसरा प्रकार ही प्रगतिवाद है। जोशीजी का प्रगतिवाद के सिद्धान्तों से नहीं अपितु व्यावहारिक क्षेत्र की उनकी अस्वस्थता से विरोध है। "छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उन्होंने जनता पर धौंस जमाने का यह दूसरा तरीका अख्तियार किया है। मानव के नाम पर उन्होंने अपनी इतने दिनों से दबी हुई सहज प्रवृत्तियों को नग्न रूप देने की उन्मुक्त सुविधा पाई है। स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व-मूलक सम्बन्ध में सुधार का बहाना पकड़

---

१ 'विवेचना, पृष्ठ ६०–६१।

२. वही, पृष्ठ ६३।

३. 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य,' पृष्ठ २०-२१।

करके निर्द्वन्द्व हो उठे हैं।...समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की चरितार्थता मे बाधा पहुँचाने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फलस्वरूप व्यक्त हुआ। ....हमारे प्रगतिवादी कवि भी अपने समाज-विद्रोही उद्गारो द्वारा एक विशेष प्रकार के 'रोमाण्टिक' रस का स्वाद पा रहे है जो छायावादी रस का अच्छा (सब्सटीच्यूट) है।"[1]

यह पहले कहा जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक आलोचक साहित्य की श्रेष्ठता का माप मानव के कल्याण तथा उसके सास्कृतिक विकास मे सहयोग की क्षमता मानते है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तो के आधार पर जोशी जी का पक्का विश्वास है कि मानव की अज्ञात चेतना की मनोवृत्तिया ही उसके जीवन को परिचालित करती है। सभ्यता के विकास के साथ मानव की पाशविक वृत्तिया अपना स्वरूप बदलती रहती है। जोशी जी कहते है कि इन पाशविक वृत्तियो को अपने अज्ञात चेतन से उखाड फेक देने मे ही मानव का कल्याण है, उनका विध्वसक रूप मे विस्फोटन न होकर नियत रूप मे स्वस्थ मार्ग का अवलम्बन करके प्रस्फुटन-मात्र हो।[2] उनकी यह मान्यता है कि व्यक्तिगत जीवन की समस्याए ही विश्व की सब चीजो के मूल मे है, इसलिए व्यक्ति की सारी प्रगति अज्ञात चेतना द्वारा ही प्रेरित है। व्यक्ति का स्वस्थ विकास ही इन समस्याओ का वास्तविक हल है। बाह्य परिस्थितियो को प्राधान्य देकर मानव-चेतन और अन्तर्विज्ञान की उपेक्षा मे विश्व की समस्याओ का समाधान नही है, इसलिए वही साहित्य श्रेष्ठ है जो मानव के स्वस्थ विकास मे सहायक है। अवचेतन मन का शास्त्रीय ज्ञान ही कलाकार को उन विषयों और शैली का निर्वचन करने मे समर्थ करता है जिससे पाशविक वृत्तियो को दृढतर करने मे इसी ज्ञान से समर्थ होता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित साहित्य-दर्शन की यह बहुत बडी उपादेयता है। इसी विकास का अध्ययन मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर भी हो सकता है। साहित्य के प्रति इनकी सद्भावना है। अज्ञेय जी साहित्य को ही आलोचना का विषय मानते है, पर उसके सम्यक् अध्ययन के लिए कलाकार के व्यक्तित्व के अध्ययन की अनिवार्यता भी स्वीकार करते है। वे कलाकार के मानस का उसके अवचेतन मन की चेतनाओ का अध्ययन आवश्यक मानते हैं।[3] साहित्य मे अवस्था वृत्तियों के अवरोध, बाह्य और अन्तर्वृत्तियो के सामंजस्य तथा

१. 'विवेचना', पृष्ठ १६६–१७०।
२. वही, पृष्ठ १६४-१७२।
३. 'देखिये कृति मौलिकता।'

स्वस्थ उन्नयन द्वारा साहित्य को मानव-कल्याण और स्वाभाविक विकास मे सहायक बनाने के लिए मनोविश्लेषण-शास्त्र को सहायक रूप मे ग्रहण करना ही समीचीन है। प्रत्येक कलाकार या कला-कृति मे दमित वासना अथवा प्रभुत्व-कामना का अस्वस्थ विकास के अनुसन्धान का साहित्य समालोचना की दृष्टि से केवल साम्प्रदायिक है ।

: १२ :

मार्क्सवादी समीक्षा

साहित्य और दर्शन का चिर सम्बन्ध रहा है। साहित्य की चिरन्तनता और विकास-क्षमता उसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही निर्भर है। जिस साहित्य का सास्कृतिक सन्देश व्यापक और मानव-मात्र के कल्याण के लिए है, वह उतना ही दीर्घायु होता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि प्रौढ और व्यापक जीवन-दर्शन वाला साहित्य ही चिरस्थायी होता है। प्रत्येक संस्कृति का एक अपना जीवन-दर्शन है। वही उसका प्राण-स्पन्दन है। दर्शन वह शक्ति-केन्द्र है जहा से जाति की सारी सांस्कृतिक क्रियाओ का परिचालन होता है। साहित्य भी मानव की एक प्रधान और महत्वपूर्ण सास्कृतिक सम्पत्ति है। सस्कृति और साहित्य का यह दृढ और अभिन्न सम्बन्ध तथा चिरञ्जीवी सस्कृति के साहित्य की चिरन्तनता का नियम सार्वदेशिक और सर्वकालिक है। 'रामायण', 'महाभारत' आदि काव्यो की इतनी दीर्घ आयु और लोकप्रियता का श्रेय हिन्दू-सस्कृति तथा उसके जीवन-दर्शन को ही है। दार्शनिक पृष्ठभूमि के अभाव मे अथवा सकुचित एवं अल्पजीवी जीवन-दर्शन का साहित्य कपडो के फैशन की तरह क्षणस्थायी होता है। वह कुछ समय तक लोक-रंजन करके समाप्त हो जाता है। आज का प्रगतिवादी साहित्य भी एक नूतन जीवन-दर्शन, जीवन की समस्याओ के नवीन समाधान और जीवन के नवीन मूल्यो के साथ साहित्य क्षेत्र मे प्रवेश कर रहा है। इसके स्थायित्व का अनुमान समय-सापेक्ष है। यह अभी भविष्य के गर्भ मे है कि इसके सास्कृतिक सन्देश मे मानव कल्याण की कितनी क्षमता है। दर्शन, समाज-शास्त्र अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र मे जो कुछ मार्क्सवाद है, वही साहित्य के क्षेत्र मे 'प्रगतिवाद' के नाम से अभिहित हो रहा है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो की कलात्मक अभिव्यक्ति को 'प्रगतिवाद' कहना उसका साम्प्रदायिक और संकुचित अर्थ मे प्रयोग अवश्य है। पर ऐसा ही कुछ लोगो को अभिप्रेत है, यह कहना भी गलत नही है। इसी सकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ मे मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता, उपादेयता और स्थायित्व का मूल्यांकन

करना प्रगतिवादी समीक्षा है। मानव की सभ्यता और संस्कृति के विकास मे साहित्य की देन का किसी सम्प्रदाय-विशेष के जीवन-दर्शन से न बँधकर उदार दृष्टिकोण से मूल्याकन व्यापक अर्थ मे प्रगतिवादी समीक्षा कही जा सकती है। इस व्यापक अर्थ मे समीक्षा के लिए मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की मान्यताओ को ही चरम सत्य मानकर चलना आवश्यक नही। वह आवश्यकतानुसार गान्धीवाद, आध्यात्मवाद आदि दर्शनो को भी उपयोग कर सकती है। भारत का तो चिर विश्वास रहा है कि मानव का वास्तविक कल्याण भौतिकवाद से नही अध्यात्मवाद से ही संभव है। लेकिन प्रगतिवाद के व्यापक स्परूप को समझने के लिए पहले साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का परिचय आवश्यक है।

मार्क्स के दर्शन का नाम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इस नाम से ही इसका वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट है। तर्क की द्वन्द्वात्मक प्रणाली से जगत् के वास्तविक सत्य का अनुसन्धान इस दर्शन का उद्देश्य है। मार्क्स जगत् के पार्थिव रूप को ही चरम सत्य मानता है। हीगेल का विरोध करते हुए मार्क्स वस्तु को ही चरम सत्य मानता है। हीगेल का विरोध करते हुए मार्क्स वस्तु को चरम सत्य तथा बुद्धि विचार अथवा आत्मा को उसीका प्रतिबिम्ब रूप कहता है। मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक जगत् का मानव-मस्तिष्क मे पडा हुआ प्रतिबिम्ब ही विचार है। हीगेल ने विचार को सत्य तथा भौतिक जगत् को उसकी बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र माना है, पर मार्क्स का दर्शन ठीक इसके विपरीत है।[1] ए जिल्स ने तो यहा तक कह दिया है कि इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष जगत् ही सत्य है और इन्द्रियातीत प्रतीत होने वाली चेतन सत्ता तो इसी का परिणाम-मात्र है। आत्मा भूत तत्व के विकसित रूप के अतिरिक्त कुछ नही है। [2]मार्क्स ने भी इसी सत्य का समर्थन करते हुए मस्तिष्क को पदार्थ का चरम विकास कहा है और दृश्यमान भौतिक जगत् को ही परम सत्य माना है।

---

1. To Hegeal.....the real world is only the external phenomenal form of the idea With me the contrary, the ideal is nothing else then the material world reflected by the human mind and translated into form of thought (Karl Marx : Capital volume 1. P. 30.)
2. The palpable world which we perceive with our senses to which we belong, ourselves is the only real world. Our conciousness and thought however supper sense like they may seem, are the product of matter ; spirit is only higher produot of matter. This is pure materialism.

इस दर्शन के अनुसार जगत् की कोई भी वस्तु पूर्णत. स्वतन्त्र और शेष जगत् से नितान्त विच्छिन्न एव सत्ताव नही है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व शेष जगत् पर आश्रित है, इसलिए उसका ज्ञान भी शेष जगत् के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। यह सारा वस्तु-जगत् चिर परिवर्त्तनशील है। इसका एक अणु भी स्थिर नही माना जा सकता। जगत् की प्रत्यक वस्तु मे परस्पर विरोधी तत्व उपस्थित रहते है और उनका शाश्वत सघर्ष चलता रहता है। वस्तु मे ही उनके विनाश के तत्व विद्यमान होते है। वस्तु क दो पक्ष है—एक मरणशील (निगेटिव) और दूसरा विकास मान (पौजीटिव)। वस्तु का प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) ही अपन विरोधी तत्वो के नैसर्गिक और आन्तरिक सघर्ष के फलस्वरूप प्रत्यवस्थान (एण्टीथीसिस) म परिणत होता है। पर उनमे सघर्ष बराबर चलता रहता है और एक अवस्था ऐसी आती है जब वस्तु के दोनो पारस्परिक विरोधी तत्वो का सतुलन हो जाता है। इसी अवस्था को मार्क्सवादी साम्यावस्थान कहता है। कुछ काल तक वस्तु इस अवस्था मे रहती है। लेकिन धीरे-धीरे उसमे क्षोभ पुन. प्रबल हो जाता है। फिर पूर्ववत सघर्ष चलने लगता है और इस प्रकार नवीन अवस्थान-क्रम की सृष्टि हो जाती है। सारा वस्तु-जगत् इन्ही अवस्थाओ के चक्र मे चिर विकासमान है। एक अवस्था का धन तत्व (पौजीटिव) दूसरी अवस्था मे ऋण (निगेटिव) तथा ऋण-धन हो जाता है। मार्क्स परिवर्त्तन का निरर्थक चक्र नही मानता, उसे विकास का सिद्धान्त ही मान्य है। वस्तु का परिवर्तन हमेशा ही उन्नयन और उत्कर्ष का हेतु है। उसके परिमाण मे वृद्धि होता है और परिमाण की वृद्धि उसके तात्विक तथा गुणात्मक अन्तर का कारण बन जाती है। प्रत्येक वस्तु की परवर्त्ती अवस्था अपनी पूर्ववर्त्ती से अधिक प्रौढ, विकसित और उत्तम होती है। स्टालिन के शब्दो का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वस्तु के तात्विक और आन्तरिक सघर्ष का अध्ययन ही है। विरोधो के सघर्ष का ही दूसरा नाम विकास है। परिवर्त्तन का तात्पर्य क्रमिक विकास नही है, अपितु क्राति है। वस्तु का विकास अपने पूर्व रूप को साथ लेकर नही होता। वह तो उसका पहले समूल विनाश कर देता है तब एक नवीन वस्तु का रूप धारण करता है। वस्तु अपने पूर्ववर्त्ती स्वरूप से परिमाण और मूलभूत तत्व दोनो में पूर्णतः भिन्न हो जाती है। विनाश पर ही नवीन स्वरूप या अवस्थान की प्रतिष्ठा होती है, इस प्रकार इस दर्शन का मार्ग क्रमिक विकास का नही, विध्वसात्मक क्राति का है।

---

1. In its proper meaning, dialectics is the study of the contradiction with in the essence of things.....Development is the struggle of opposits. (Stalin : The problems of Leninism P 573)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के आधार पर समाज के ऐतिहासिक विकास तथा व्यक्तियों के पारस्परिक एवं व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का अध्ययन ही ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है। मानव की चेतना पर मानव का अस्तित्व निर्भर नहीं है, अपितु उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्माण करता है।[1] समाज के भौतिक जीवन की अवस्थाओं का समाज पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। उसके नीति-शास्त्र, राजनीति, सौन्दर्य शास्त्र आदि सभी शास्त्रों के नियम तत्कालीन भौतिक जीवन के स्वाभाविक एवं अपरिहार्य परिणाम हैं। वे नियम ही उस काल के जीवन के लिए सत्य हैं। किसी भी नियम का वस्तु की तरह अपनी परिवृत्तियों से विच्छिन्न करके मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। सारे पदार्थ जगत् की तरह सारा मानव-जीवन और समाज भी चिरन्तन परिवर्तनशील और प्रवहमान हैं, इसलिए जीवन का कोई भी नियम शाश्वत सत्य नहीं है। नीति-शास्त्र या समाज-शास्त्र का कोई ऐसा सर्वकालीन मानदंड नहीं हो सकता जो हमेशा के लिए उपादेय माना जा सके। समाज और शासन की कोई ऐसी पद्धति संभव ही नहीं है जो हमेशा श्रेयस्कर हो। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध चिर परिवर्तनशील है। नैतिकता की धारणा भी हमेशा एक नहीं बनी रह सकती है, इसलिए मार्क्सवाद शाश्वत मूल्यों की संभावना को ही अस्वीकार करता है। सामन्त-काल की सामाजिक और नैतिक मान्यताएं, राजनीतिक संस्थाएं और शासन-पद्धति उस काल के भौतिक जीवन के सहज परिणाम होने के कारण उस काल के लिए तो पूर्णतः उपयुक्त थे, पर भौतिक जीवन की अवस्थाओं के बदल जाने के बाद ये सब विचार-धाराएं और धारणाएं अनुपयुक्त हो गईं। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना के बाद ये ही विकास के प्रतिगामी तत्व हो गए। भौतिक जीवन पर देश-काल की परिस्थितियों का भी पर्याप्त प्रभाव होता है, पर जीविकोपार्जन के प्रकार एवं उत्पादन की पद्धति का ही सबसे अधिक नियन्त्रण होता है। समाज और मानव-जीवन का सारा ढांचा ही इसी पर आश्रित रहता है। किसी समय की विहित दास-प्रथा आज की आर्थिक परिस्थितियों में अवैध है। पर कुछ द्वीपों की आर्थिक स्थिति आज भी इसी के उपयुक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव का पारस्परिक सम्बन्ध, उसका सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन, उसकी नैतिक और आध्यात्मिक धारणाएं सभी कुछ उपार्जन की पद्धति पर आश्रित हैं। सारी संस्कृति की मूल प्रेरणा-शक्ति अर्थ-व्यवस्था ही है।

---

1. It is not the conciousness of men that determines their being but on the contrary, their social being that determines their conciousness (Karl Marx. Quoted by Stalin)

इसलिए साहित्य का नियन्त्रण भी इसी के द्वारा होता है। अर्थ-व्यवस्था और उपार्जन पद्धति चिर परिवर्तन शील है इसीलिए इनके साथ सारा जीवन-दर्शन ही बदलता जाता है। उपार्जन-पद्धति के साथ उत्पादकों के पारस्परिक सम्बन्ध बदल जाते हैं और उससे सारे सामाजिक नियम नवीन हो जाते हैं। उत्पादकों का पारस्परिक सम्बन्ध भी उपार्जन-पद्धति के परिवर्तन का कारण बनता है। इनका परस्पर में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है।

पहले हम साहित्य का युग और समाज के साथ सम्बन्ध दिखा चुके हैं। साहित्य की ऐतिहासिक व्यवस्था में टेन आदि ने साहित्य को युग परिवृत्ति और जातीयता की अभिव्यक्ति-मात्र कहा है। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या में भी युग और साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध सिद्धान्ततः मान लिया गया है। एडवर्ड अपवर्ड साहित्य के वर्ण्य-विषय, शैली आदि सभी पर युग का पूर्ण नियन्त्रण स्वीकार करते हैं।[1] मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार सारे चिन्तन, सारी विधाओं, सब शास्त्रों को परिस्थितियों द्वारा परिचालित ही नही अपितु परिस्थितियों की उपज ही मानते हैं। इनमें साहित्य का भी अन्तर्भाव है। उसके अनुसार समाज-संगठन की मूल भित्ति ही आर्थिक सम्बन्ध है। उत्पादन के प्रकारो के साथ समाज में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध बदलता जाता है और उसी के अनुसार आचार-शास्त्र, साहित्य आदि भी बदलते जाते है। काडवेल कविता के मूल आधार को जातीय अथवा देशगत नही मानना चाहते, उन्हें उसे आर्थिक मानने का पूरा आग्रह है।

"Poetry is regarded then, not as some thing racial, national, genetic or specific in its essence, but as some thing economic"[2]

कविता के इस आधार के सम्बन्ध मे मार्क्स एंजिल्स और लेनिन आदि सभी एकमत है।[3] मार्क्स अन्ततः अर्थ-उत्पादन के प्रकारो द्वारा ही साहित्य के स्वरूप-निर्देश का होना सिद्धान्त मानते है. लेकिन मार्क्स दर्शन के प्रधान चिन्तकों ने साहित्य का सीधा सम्बन्ध अर्थ से मानने का निराकरण भी कर दिया है। एंजिल्स ने अपने एक पत्र मे अर्थ और साहित्य के सीधे सम्बन्ध मानने का विरोध किया है। उनकी मान्यता है कि दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि अधिक आकाशचारी विचार

१. 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या', ह स प्रगति-अंक प्रथम भाग।

2. (Illusion and Reality P. 7)

3. Literature like all products of the human mind is ultimately deter mind by society's economic relationships; its means of material production. (Marx Quoted F. Yudin in Lenin on Art and Literature. P. 126.)

धाराएं है, इसलिए उनका अर्थ से परोक्ष और घुमावदार सम्बन्ध ही संभव है ।[1] यूदिन नामक मार्क्सवादी समालोचक ने अर्थ और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मानने को मार्क्सवादी व्याख्या की आत्मा का हनन करना कहा है ।[2] मार्क्सवाद की मान्यता है कि विचार अन्ततोगत्वा अर्थ एवं वस्तु जगत् के द्वारा ही निर्मित होता है। पर उनके निर्मित हो जाने पर वे अपने विकास के स्वतन्त्र मार्ग को अपना लेते है । वे स्वयं भी वस्तु-जगत् के ही तत्व हो जाते है । यही साहित्य के लिए भी कहा जा सकता है, इसका विकास भी स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन करके ही होता है । ऐंजिल्स भी निर्विवाद रूप से विचारों के क्षेत्र मे आर्थिक विकास का नियन्त्रण मानते है । पर उनका भी यह कहना है कि आर्थिक प्रभाव विचार जगत् की मर्यादाओ के अनुसार ही पड सकता है ।[3] इतना ही नही मार्क्सवादी दार्शनिक का साहित्य भी विचार-जगत् की ही वस्तु है । उन्हें विचारो द्वारा भी अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप-निर्धारण मान्य है । साहित्य, दर्शन आदि भी मानव के आर्थिक सम्बन्धो के परिवर्तन की प्रधान प्रेरणाएँ है । अगर इस सिद्धान्त को न माना जाय तो साहित्य का साम्यवाद-प्रचार के लिए शास्त्र के रूप में उपयोग का कोई तात्पर्य ही नही रह जाता है । ऊपर साहित्य पर अर्थ के परोक्ष नियन्त्रण की बात कही गई है । कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण उसके वर्ग की मान्यताओं द्वारा होता है । मार्क्सवादी वर्ग-विभाजन का आधार अर्थ-उत्पादन के प्रकार मानता है । पूंजीवादी समाज-व्यवस्था मे जो मजदूर और मालिक अथवा व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध होता है, वही समाजवादी व्यवस्था मे नही होता । इसलिए इन दोनो समाजो की मान्यताएं एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न होगी, यह निर्विवाद सत्य है । कलाकार वर्ग की मान्यताओ के इस नियन्त्रण से कभी मुक्त नही हो सकता । कलाकार इन्ही मान्यताओं से बँध-कर साहित्य का सृजन करता है । मार्क्सवाद इसी अर्थ मे साहित्य पर अर्थ का नियंत्रण मानता है । पर ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि अर्थ का यह नियंत्रण प्रत्यक्ष नही अपितु परोक्ष है । अर्थ वर्ग की मान्यता तथा कलाकार के व्यक्तित्व के दोहरे आवरण वाले माध्यम से साहित्य मे प्रतिध्वनित होता है। इसी को समझाते हुए यूदिन कहते है कि कला मे आर्थिक आधार कला तथा उसके वर्ग के राजनीतिक विचारों और नैतिक मान्यताओ द्वारा प्रतिबिम्बित होता है ।[4] इस प्रकार मार्क्सवादी व्याख्या मे साहित्य और कला पर अर्थ का परोक्ष नियन्त्रण ही मान्य है,

---

१. 'लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर', पृष्ठ १२७ ।

२. 'वही', १२७ ।

३. 'वही' ।

४. 'लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर', 'परिशिष्ट भाग ।'

प्रत्यक्ष नहीं। अर्थ-उत्पादन के प्रकार साहित्य में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित होते हैं अथवा प्रत्यक्ष दिशा-निर्देश करते हैं, ऐसा मानना मार्क्सवादी विचार धारा के अनुसार भी साहित्य के मूल स्वरूप को न समझना है।

मार्क्स ने मानव-सभ्यता के विकास का आर्थिक आधारों पर विभाजन और अध्ययन किया है। उनके अनुसार यह लम्बा काल कई युगों में विभाजित है। प्रागैतिहासिक काल मे मानव आदिम साम्यवाद की व्यवस्था में था, उस समय कोई साहित्य सभव ही नही था। उसके उपरांत मानव वर्गों में बटने लगा और एक वर्ग का उत्पादन के साधनो पर पूर्ण नियन्त्रण रहने लगा। आज जो लिखित साहित्य उपलब्ध होता है, वह मानव के वर्गों में बट जाने के पूर्व का नहीं है। एडवर्ड अपवर्ड इसको ऐतिहासिक सत्य मानते है कि साहित्य-रचना मानव के वर्गों मे विभक्त होने के बाद ही प्रारम्भ हुई है।[1] सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य दास-प्रथा के समय का ही है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक युग में केवल दो ही वर्ग होते हैं—शासक और शासित अथवा शोषक और शोषित। समाज का एक भाग ऐसा होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व होता है, उसी को मार्क्सवादी शासकवर्ग कहता है। यही वर्ग अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के प्रयत्न में शोषक का रूप धारण कर लेता है। शासकवर्ग के विचारों का ही राजनीति, नीति-शास्त्र आदि के क्षेत्रों मे प्रभुत्व रहता है। ये क्षेत्र उसी के स्वार्थों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। शासकवर्ग की विचार-धारा अपने युग की प्रमुख और प्रतिनिधि विचार-धारा हो जाती है। साहित्य भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता है। कलाकार इन विचारों को आत्मसात् करके अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंश बना लेता है उसकी रचना में इनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही है। मानव-सभ्यता और साहित्य-रचना के प्रारम्भ होने के बाद से अब तक वर्ग हीन समाज का निर्माण नहीं हुआ है। मार्क्सवाद की मान्यता है कि वर्ग-हीन समाज मे ही वर्गहीन साहित्य की रचना संभव है। साहित्य अपने युग और वर्ग के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकता है। लेनिन साहित्यकार के निरपेक्ष स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को केवल विडम्बना मानकर उसका खण्डन करते है।[2] लेकिन युग की विचार धाराओं का साहित्य पर रूढ़ और जड़ नियन्त्रण मानना उससे भी बड़ी विडम्बना है। पूंजीवादी युग का प्रत्येक कलाकार स्वयं पूंजीवादी मनोवृत्ति का है अथवा उस विचार-धारा का पूर्ण समर्थक है, यह कहना समीचीन नही है। आज तक का सारा साहित्य शोषकवर्ग का ही रहा है, इसलिए वह मानव-सभ्यता का प्रतिगामी है यह कहना भी सत्य का हनन करना है। ऐसा मानना तो मार्क्सवाद

१. 'हंस', प्रगति-अंक, पृष्ठ ३६०।
२. 'लेनिन आन आर्ट एण्ड लिटरेचर,' पृष्ठ ४७।

का एक रूढ़ जड दृष्टिकोण है। स्वय एंजिल्स ने इस रूढिवादिता का खंडन किया है। इन्होंने इब्सन के नाटकों की इन रूढ धारणाओं के अनुकूल की गई आलोचना को मार्क्सवादी समीक्षा के प्रतिकूल बताया है।[1] कलाकार को युग की विचार-धारा का प्रतिनिधि कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक युग में चितन की एक सीमा होती है। उस सीमा से कलाकार भी मर्यादित रहता है। साहित्य-कार अपने युग की समस्याओ पर विचार करता है तथा उनका कोई एक समाधान उपस्थित करता है। उसका इन पर विचार करने का ढंग तथा समाधान दोनों ही युग की मर्यादाओं से सीमित और प्रभावित रहते है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि कलाकार अपने वर्ग के स्वार्थों और प्रतिनिधि विचार-धारा का विरोध करता ही नही है। कभी कभी वह अपने समसामयिक विचारो के विरुद्ध व्यापक विद्रोह कर उठता है। अगर साहित्यकार अपने युग का उपभोक्ता मात्र ही हो तो सस्कृति के विकास में साहित्य का कुछ भी उपयोग नही रह जाय। वह केवल अतीत का निर्जीव और मूक भण्डार-मात्र हो जाता है। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा कला-कार को युग का उपभोक्ता और निर्मायक दोनो ही मानती है। इसलिए उसे युग की मर्यादाओं में सीमित रहते हुए भी साहित्य का वर्ग की विचार-धारा के खन्डन का सिद्धान्त मान्य है। वह उस वर्ग मे रहकर भी उसके प्रतिक्रियावादी तत्वों का विरोध कर सकता है। पर वह विरोध भी एक सीमा तक ही सभव है। सामंतशाही का कलाकार जीवन के उन मूल्यो की कल्पना नही कर पाता था जो आज के युग की देन है। मार्क्सवाद इसी अर्थ में साहित्य को वर्गवाद की उपज कहता है। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन रूढ़िवादी और जड नही है, वह चिरन्तन प्रगति का समर्थक है। इसलिए उसमें कलाकार के निरपेक्ष स्वातन्त्र्य का समर्थन नही है तो वह कला-कार को युग की शृङ्खला से जकड भी नही देना चाहता। ऐसा सकुचित दृष्टिकोण तो द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक, भौतिकवाद को रूढ और जड रूप मे ग्रहण करने का परिणाम है।

मार्क्सवाद की काव्य की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध मे एक विशेष धारणा है। उसका कहना है कि उपज, युद्ध आदि मानव की सहज वृत्तियो द्वारा परिचालित नही होते। वे परोक्ष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होते है। ऐसे समय पर सामाजिक संगठन द्वारा मानव को इस कार्य के लिए तैयार करना पडता है। ऐसे अवसरों पर सामूहिक भाव की तरगे उठती है और मानव के समक्ष प्रत्यक्ष उद्देश्य के स्थान पर एक काल्पनिक उद्देश्य प्रस्तुत हो जाता है। सामूहिक भावो और संगीत की तरंगों मे वह इसी काल्पनिक उपज या विजय को सत्य मान लेता है। उपज

---

१. 'वही,' पृष्ठ १२०:१२५।

का पूर्ण विश्वास ही उसे कृषि कार्य मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करता है। मानव कल्पना द्वारा पहले से ही उपज को देख लेता है। यह भ्रांति ही उसे कर्म में प्रवृत्त करती है। उपज, युद्ध आदि के कार्यों में मानव को प्रवृत्त करने के लिए सामूहिक भावो को अभिव्यक्ति द्वारा सामूहिक भ्रान्ति का वातावरण उपस्थित करना आवश्यक होता है। इस वातावरण से मानव को श्रम की प्रेरणा मिलती है और उसको श्रम हल्का प्रतीत होता है। काडवेल ने अपनी पुस्तक Illusion and Reality में काव्य के सम्बन्ध मे इसी मान्यता का प्रतिपादन किया है। वे काव्य के लिए सामूहिक भावो द्वारा सामूहिक भ्रान्ति के वातावरण को उत्पन्न करना आवश्यक मानते हैं। Marxism and poetry नामक पुस्तक मे भी आदिम काल की कविता का उद्देश्य काल्पनिक उपज मे सत्य की प्रतीति कराके मानव को उपज मे सामूहिक रूप से प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करना माना गया है। आदिम काल का मानव नृत्य-सगीत आदि मे इसी विश्वास से प्रवृत्त होता था कि इससे उसकी उपज की रक्षा होगी। इस दृढ विश्वास के कारण उपज की रक्षा और वृद्धि होती भी थी। इस लिए परोक्ष रूप से कला भी उपज का साधन ही मानी गई।[1] मार्क्सवादी कला के जन्म का यही प्रयोजन मानता है। इस पुस्तक मे साहित्य की विभिन्न विधाओं (ट्रेजेडी आदि) के विकास की ऐतिहासिकता पर भी विचार किया गया है। लेखक इन विधाओं के तात्विक विकास का तत्कालीन समाज या वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करता है। दो कालों के नाटको मे तात्विक अन्तर का कारण वर्ग-सस्कृति है। एलिजावेथन युग के नाटक मे ग्रीक नाटक से इतना भेद होने का कारण उन्होंने दोनो युगो के दो भिन्न वर्गों की सस्कृति का वैषम्य माना है। ग्रीक नाटक कृषि-युग की देन है, इसलिए उनमे कोरस है। ऐलिजावेथन नाटक पूंजीवाद की उपज है।[2] मार्क्सवादी काव्य की कतिपय विधाओ को पूजीवाद अथवा सामतशाही की देन होने की स्पष्ट घोषणा करता है। इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य को वर्गवाद की उपज मानता है और उस पर वर्ग-चेतना का कठोर नियत्रण स्वीकार करता है।

ऊपर के विवेचन से काव्य के वर्ण्य विषय तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में

---

1. Inspired by the dance in the belief it will save the crop, they proceed to the task of tending it with greater confidence & so with greater energy than before. And so it does have an effect on the crop after all. It changes their subjective attitude to reality and so indirectly it changes reality P. 11.

2. Marxism and Poetry P. 40.

मार्क्सवादी धारणा की मूल भिन्नता स्पष्ट होती है। उसकी दृष्टि से काव्य में मानव के सामूहिक भावों को ही स्थान मिलना चाहिये। मार्क्सवाद व्यक्ति-वैचित्र्य के आधिक्य की प्रतिक्रिया है। कला मे हमेशा ही व्यक्तिवाद की अभिव्यंजना रही है, ऐसा मार्क्सवादी मानने को तैयार नही है। वह कलाकार की प्रतिभा के साथ ही कला का मानव के सामूहिक जीवन से स्पर्श बना रहना भी अत्यन्त आवश्यक मानता है। कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण ही उसकी भौतिक परिस्थितिया करती हैं। "हम कह सकते हैं कि कला जीवन का अन्तर्मुखी दर्शन है। किन्तु जिस मन के दर्पण में कलाकार जीवन का दर्शन करता है, वह स्वयं परिस्थितियो के अनुरूप बनता-बदलता रहता है।"[1] जीवन से सम्पर्क तोड लेने तथा सामूहिक भावो के स्थान पर व्यक्ति-वैचित्र्य को स्थान देने से कला मे प्राण-शक्ति का अभाव हो जाता है। इसीलिए वह अधिक दिन तक जीवित नही रह सकती। इस प्रकार चिरस्थायी साहित्य का वर्ण्य-विषय सामाजिक और सामूहिक होना चाहिए। उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए नही, अपितु सामूहिक भावों के लिए ही स्थान है। मार्क्सवादी ऐसी रचनाओं को ही प्रकृत साहित्य मानता है। उनकी मान्यता है कि काव्य में प्रकृत-चित्रण भी मानव-सापेक्ष ही होना चाहिए। जीवन के केवल सुन्दर और कोमल पक्ष अथवा निरपेक्ष प्रवृत्ति के चित्रण का काव्य के वास्तविक रूप में कोई उपयोग नही है। इसमें तो पूंजीवादी कलाकार की उपभोग-वासना की परितृप्ति-मात्र होती है। काव्य का परम लक्ष्य आनन्द है, ऐसा मान लेने से उसमें सामूहिक चेतना का अभाव और वैयक्तिकता की प्रधानता हो जाती है। मार्क्सवादी आनन्द को काव्य का लक्ष्य नहीं मानते, अपितु उसको केवल साधन के रूप में ग्रहण करते हैं। काव्य का उद्देश्य तो मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा प्रदान करना है। लेनिन आदि ने स्थान-स्थान पर साहित्य को क्रान्ति का, साधन तथा जो कुछ प्रतिगामी है, उसको नष्ट करने का शस्त्र कहा है। इसके अनुसार क्रान्ति और नव-निर्माण की बुद्धि जाग्रत कर देना साहित्य का उद्देश्य है। मार्क्सवादी साहित्य की रसानुभूति-मात्र से संतुष्ट नही। वह उसे बौद्धिक ज्ञान का पथ-प्रदर्शक बनाना चाहता है।[2] अंचल जी ने अतीत की समस्त सांस्कृतिक निधि की रक्षा और भविष्य के नव-निर्माण को कठिन जिम्मेदारी, इन दोनो को ही। साहित्य का उद्देश्य कहा है। कला के मूल्य के सम्बन्ध में आलोचकों में मतैक्य नही है। हम पहले देख चुके है कि कुछ लोग कला का मूल्य केवल उसकी आनन्द-क्षमता मानते हैं, कुछ की उसमें सुन्दर और मंगल का समन्वय देखने की प्रवृत्ति है। कुछ साहित्य का

---

१. 'हंस', प्रगति-अंक पृष्ठ ४०३।

2. Soviet Literature; Features of Socialist Realism, P. 30-31.

उद्देश्य मानव की प्रमुख मानसिक वृत्तियों की परितृप्ति तथा उनके संतुलन-स्थापन को मानते हैं। शुक्ल जी ने साहित्य का उद्देश्य मानव का रागात्मक प्रसार माना है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य के उपर्युक्त सभी उद्देश्य किसी-न-किसी रूप में व्यक्तिवाद से सम्बद्ध हैं। मार्क्सवाद ने जीवन और कला की समाज की दृष्टि से व्याख्या की है। उसमें काव्य का प्रारम्भ ही सामूहिक चेतना अथवा सामूहिक भाव से माना गया है, इसलिए काव्य के उद्देश्य और वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सामाजिक, सामूहिक अथवा समाजवादी कहा जा सकता है। अंचल जी ने साहित्य को सामाजिक संघर्ष का प्रतिबिम्ब और अस्त्र दोनो कहा है। साहित्य को समाज की चेतना के घनीभूत करने का एक आवश्यक माध्यम कहा गया है। अंचल जी उसको केवल प्रचार का साधन न मानकर वस्तुसत्ता से पूर्ण सामाजिक जीवन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति का साधन मानना समीचीन समझते हैं। सिद्धान्ततः मार्क्सवादी मानव के भौतिक विकास को साहित्य का चरम लक्ष्य मानता है, पर भौतिक विकास की निश्चित रूपरेखा में अटल विश्वास रखने के कारण व्यावहारिक रूप में उसने विशुद्ध प्रचारवादी दृष्टि को अपना लिया है। वह इस युग के साहित्य की श्रेष्ठता का एक-मात्र मानदंड साम्यवाद का प्रचार तथा पूंजीवाद का विरोध मानता है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रगतिवाद कला के उद्भव, उसके प्रयोजन, हेतु तथा वर्ण्य विषय का पूर्णतः भौतिकवादी दृष्टि से ही विवेचन करता है। उसे व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि का महत्व मान्य है।

प्रत्येक युग की कुछ विशेष मान्यताएं, विश्वास और संस्कार होते हैं। राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के अनुकूल विचार-धारा बन जाती है। जिस विचार धारा का जन-साधारण पर निरन्तर प्रभाव पडता है और वह उसे स्वीकार कर लेती है। उस युग का प्रत्येक व्यक्ति उसी विचार-सरणी का अवलम्बन करके सोचता है। अपने युग के विश्वासो और मान्यताओं की वह अवहेलना नही कर सकता है। युग-युगान्तर तक बाह्य जगत् के प्रति मानव की एक ही प्रतिक्रिया अक्षुण्ण नही रहती। वह एक ही वस्तु के महत्व को युगानुकूल भिन्न-भिन्न तरह से आंकता है, लोक या जन-मन के इन्ही विश्वासो, मान्यताओं, सस्कारो, अभावों और प्रतिक्रियाओ के समष्टिगत या राशिभूत रूप को काडवेल सामूहिक भाव के नाम से पुकारना चाहते है। "सामूहिक भाव" अपने युग के लोक-हृदय के पुष्प की गन्ध होती है। मार्क्सवाद जगत् और जीवन को चिर परिवर्तनशील मानता है। प्रत्येक युग की आर्थिक और राजनीतिक अवस्थाएं भिन्न-भिन्न होती हैं; इसलिए एक युग का सामूहिक भाव दूसरे युग का सामूहिक भाव नहीं हो सकता। दूसरे युग मे वही प्रतिगामी तत्व हो जाता है। आज भारत मे राष्ट्रीयता की भावना सामूहिक

भाव है। पर आज से दो हजार वर्ष पूर्व इस भाव की स्थिति इसी रूप में नही थी। उस समय धर्म और जातीयता की भावना का प्राबल्य था। जातिगत स्वाभिमान की वह पुरानी भावना आज प्रतिक्रियावादी तत्व है। जीवन मे नीति सदाचार, आचार-विचार के मानदड भी बदल गए हैं। उनको हठ पूर्वक पकडकर रखने की भावना प्रतिगामी दृष्टिकोण है। इस प्रकार एक काल का सामूहिक भाव परवर्त्ती काल के लिए उपादेय नही, क्योंकि उसमें विकास की क्षमता नही रह जाती। वह तो ह्रास का प्रतीक हो जाता है। उनको अक्षुण्ण बनाए रखने का आग्रह तो, संस्कृति के विकास में बाधक ही है। मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन प्रत्येक कलाकार के लिए जन-जीवन मे घुल-मिलकर उसकी वास्तविक स्थिति को अनुभूति के माध्यम से ग्रहण करना आवश्यक मानता है। सम्पूर्ण जन-जीवन के साथ अपने-आपको एकाकार कर देने से ही कलाकार सामूहिक भावों को समुचित रूप से ग्रहण कर पाता है। महान् कलाकार के लिए यह नितान्त आवश्यक ही है। हिन्दी मे वास्तविक प्रगतिवादी साहित्य प्रेमचन्द का ही है। उसमे देश के किसानो के जीवन का सच्चा चित्र है। उनमे उनकी दीनता, पीड़ा आदि के साथ जीवन की आशाओं और आत्म-विश्वासों का भी चित्र है। उसकी लोकप्रियता का कारण लोक-हृदय की सच्ची पहचान और अनुभूतिमय सच्चा चित्र है। जन-जीवन का बौद्धिक अथवा केवल कल्पना पर आश्रित ज्ञान साहित्य मे अपेक्षित सवेदनीयता लाने में असमर्थ रहता है। साहित्य की लोकप्रियता और स्थायित्व संवेदनीयता पर आश्रित है। और कला-कृति में सामूहिक भावो अथवा जन-जीवन का जितना सच्चा और अनुभूतिमय चित्र अङ्कित होगा उतनी ही वह संवेदनीय होगी। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा संवेदनीयता का भी मूल आधार सामूहिक भावो की सच्ची अनुभूति ही मानती है। इस प्रकार वह व्यक्ति-वैचित्र्य तथा कल्पना की ऊहात्मकता वाले काव्य को हेय कोटि में स्थान देती है। सामूहिक भावों पर युग के नियन्त्रण का सिद्धान्त हम स्वीकार कर चुके है और यह भी मान चुके है कि युग की विचार-धारा अधिकांशतः शासक वर्ग के विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। सामूहिक भाव भी उस मर्यादा की परिधि का अतिक्रमण नही कर सकते है। उनके द्वारा युग-चिन्तन की सीमा निश्चित हो जाती है। प्रत्येक युग मे भावी विकास के तत्व भी विद्यमान रहते है। द्वन्द्व का सिद्धान्त विरोधो पर अवलम्बित है। प्रत्येक वस्तु मे उसके ध्वस तथा भावी निर्माण के तत्व रहते है। उसमे विरोधो का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। उसका एक स्रोत उसके अन्तस्तल मे निरन्तर प्रवाहित रहता है। सच्चे कलाकार की प्रतिभा और सूक्ष्म दृष्टि उन तत्वो के भी दर्शन कर लेती है। ये भी उस युग के सामूहिक भावो मे ही अन्तर्भूत है। युग के विकास शील तत्व ही कलाकार के लिए उपादेय है। उसकी दृष्टि से सच्चे सामूहिक भावो का निर्माण उन्ही तत्वों से होता है, उन्ही में जीवन की शक्ति है। शासक

वर्ग जब शोषक हो जाता है, उस समय उसके भाव तो प्रतिक्रियावादी हो जाते है। इसलिए प्रतिक्रिया के नाशक और भावी निर्माण के भाव ही महत्वपूर्ण और उपादेय हैं। युग के जीवित साहित्य में सामूहिक भाव के इसी रूप को प्रमुख स्थान मिलता है।

भारतीय साहित्य मे साधारणीकरण का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हमेशा ही मान्य रहा है। जब तक भावो के साधारणीकृत रूप का चित्रण और ग्रहण नही किया जाता, तब तक काव्य का सृजन और आस्वाद दोनो ही नही हो सकते। इस सिद्धान्त के अनुसार भावो के अवलम्बन और आश्रय का भी साधारणीकरण हो जाता है। राम, सीता, रति और पाठक सभी वैयक्तिक सकुचित परिधियो को छोडकर मानव-सामान्य की भूमि पर आ जाते है। इसके अभाव मे काव्य-सृष्टि और आस्वाद दोनो ही असम्भव है। स्थायी और सचारी भाव तो मानव की वह मानसिक स्थिति है जो चिरन्तन है। यह तो मानव का वह अश है जिसका मानवत्व से अभिन्न सम्बद्ध है। मानव के मानव बने रहने के लिए इन मानसिक स्थितियो का रहना भी अपरिहार्य है। पर इन मनोवेगो के स्वरूप युगानुकूल परिवर्तित होते है। विभावादिक के साधारणीकरण का सम्बन्ध तो युग, देश और सस्कृति से है ही। विभावादिक भावो की वह उपाधि है जिनके माध्यम से वे अभिव्यक्त होते है। काल की गति के साथ उपाधि या वस्तु का स्वरूप चिरन्तन परिवर्तनशील है। इसलिए एक ही विभाव हमेशा उसी रूप मे अक्षुण्ण नही बना रह सकता। किसी समय नायक का अभिजात वर्ग या राज-वंश का होना अनिवार्य था। इसलिए उस समय उसी के उत्थान पतन से उस युग के मानव मात्र को सुख-दुख की अनुभूति होती थी। मार्क्सवाद के शब्दो मे यो कह सकते है कि वह उस काल का शासक वर्ग था, इसलिए उसका तत्कालीन समाज के विचारो पर भी नियन्त्रण था। अब युग बदल गया है, अभिजात वर्ग का वह महत्व और प्रभुत्व नही रह गया है। आज मजदूर भी एक उपन्यास का नायक बन सकता है। आस्वाद और प्रभाव की दृष्टि से सभवत. इन दोनो काव्यो मे कोई विशेष महत्वपूर्ण अन्तर भी नही होता, यही युग का प्रभाव है। भारतीय सस्कृति के आधार-स्तम्भ राम हैं। रावण उसके विनाशको मे से है। रावण का सीता के प्रति रति रसाभास और अनुचित इसीलिए है कि वह भारतीय दृष्टि से असास्कृतिक है। अगर किसी देश की संस्कृति का ऐसा विकास न हुआ हो तो उन्हे शायद यह रसाभास न भी प्रतीत हो। कवि इसको भी उचित मानकर चले। अभिप्राय यह है कि विभाव का स्वरूप युगानुकूल परिवर्तित होता रहता है। उससे सम्बद्ध रति आदि भावो की सवेदनीयता भी युग युग मे बदलती रहती है। औचित्य का स्वरूप युग और संस्कृति पर ही निर्भर है। इसीलिए भारतीय औचित्य अनिवार्य रूप से पश्चिम का औचित्य

नही है। प्राचीन काल की सामाजिक धारणाएं जो औचित्य की परिधि मे आती थी, आज बदल गई है। और उनमे से कुछ अनुचित होकर रस की बाधक भी हो गई है। साधारणीकरण का मूल आधार ही औचित्य है। युगानुकूल उचित विभावों तथा उनसे सम्बद्ध भावो का ही साधारणीकरण हो सकता है। अन्यथा साधारणीकरण की सार्वदेशिकता और सर्वकालिकता का सिद्धान्त स्थूल और रुढ हो जाता है। उसका कोई तात्पर्य नही रह जाता।

साधारणीकरण और औचित्य के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि उनका युग की धारणाओ से भी सम्बन्ध है और इस प्रकार सामूहिक भावो से भी। यह कहना भी अत्युक्ति नही कि युग की धारणाओ (दूसरे शब्दो मे सामूहिक भावो) का ही साधारणीकरण हो सकता है। काव्य का नायक मानव का वही रूप बन सकता है जो युग की भावनाओ, मान्यताओ और विश्वासो का आश्रय अथवा उन्ही का मूर्तिमान रूप हो। क्योकि उसी मे साधारणीकरण के तत्व विद्यमान रहते है। राम मे वे तत्व है जिनकी भारत के लोक-सामान्य हृदय मे प्रतिष्ठा है, पर रावण में उनका अभाव है। इस प्रकार मार्क्सवाद द्वारा मान्य सामूहिक भाव वह सामग्री है जिसका उपयोग कवि करता है अथवा काव्य को लोकप्रिय और चिरन्तन बनाने के लिए जिसका उपयोग कवि के लिए अपेक्षित है और साधारणीकरण वह क्रिया है जो इस सामग्री को जगत् के इस रूप को काव्योपयोगी बनाकर रस-निष्पत्ति कराती है। सामूहिक भावो मे सवेदनीयता के तत्व विद्यमान रहते है। वे आलोचनात्मक तत्व है पर काव्य के अलौकिक विभावन-व्यापार से ही काव्य में वे तत्व उभर आते है। युग की सामान्य जीवन सम्बन्धी धारणा ही सामूहिक भाव है। भारतीय आचार्य को 'औचित्य' के सिद्धान्त द्वारा परोक्ष रूप मे इसकी स्थिति मान्य है। युग की सामान्य विचार-धारा और मान्यताओ के अनुसार औचित्य की धारणा भी बदल जाती है। वैदिक काल का औचित्य आज का औचित्य नही है। युगानुकूल औचित्य के स्वरूप का यह अन्तर बाह्य आकार प्रकार का ही अन्तर है। इस प्रकार यह अन्तर स्थूल है। इस परिवर्तन के मूल मे एक अपरिवर्तनशील तत्व भी है। एक चिरन्तन धारणा भी है। मानव के शाश्वत स्वरूप की एक धारणा भी है। वही औचित्य का मानदण्ड है। यही स्वरूप औचित्य की आत्मा है। भारत के औचित्य और साधारणीकरण के सिद्धान्त का सामूहिक भावो से इतना घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी उसमे कुछ वैषम्य है। सामूहिक भाव काव्य की वह सामग्री है, जगत् का वह अश है जिसका कवि उपयोग करता है। साधारणीकरण उस उपयोग की प्रक्रिया है तथा औचित्य उसकी सवेदनीयता का मापदण्ड। इसके अतिरिक्त भारत के इन दोनों सिद्धान्तो मे काव्य के वर्ण्य-विषय के स्वरूप का भी अन्तर्भाव है। इन दोनो के आधार पर काव्य के वर्ण्य विषय के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। भारत

औचित्य का आधार सास्कृतिक और दार्शनिक मानता है। जब मार्क्सवादी सामूहिक भावो के एक स्वरूप को विशेष युग के लिए प्रतिगामी कहता है, उस समय उसके पास समाजवादी यथार्थवाद का मानदण्ड रहता है। पर भारतीय आचार्य अपने विशेष सास्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक मापदण्डो के आधार पर जीवन की कुछ मान्यताओं, विश्वासो और धारणाओ को अधर्म और मानव के लिए अमगल कारक मानता है। भारत के पास सस्कृति और धर्म का एक मानदण्ड है जो शाश्वत है। उसमे मानव की चिर और शाश्वत मंगल की भावना अन्तर्हित है। पर मार्क्सवादी भौतिक मंगल की दृष्टि से विचार करता है, इसलिए उसे वह शाश्वत नही मान सकता। मार्क्सवादी समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध मे रूढिवादी है। उसके विरुद्ध तत्वों को वह प्रतिगामी मानता है। उनका चित्रण करने वाला साहित्य उसकी दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है। पर भारतीय मगल के सिद्धान्त में समाजवादी यथार्थ को आवश्यकतानुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने की उदारता है। वह मानव का केवल भौतिक कल्याण ही नही चाहता अपितु उसके शाश्वत मगल का भी ध्यान रखता है। मार्क्सवादी आलोचना जहा पर काव्य की प्रेषणीयता पर विचार करती है, वहाँ वह सामान्य को ही इसका आधार मानती है, वैचित्र्य को नही। वैचित्र्य का आस्वाद भी सामान्य के ही माध्यम से संभव है। इस सामान्य का निर्माण मानव की गहन तथा अपेक्षाकृत स्थायी वृत्तियों, सामाजिक अवस्थाओ और संस्कारो मे होता है। इसीलिए ट्राट्स्की ने भी अपनी विचार-धारा में सामूहिक भाव और साधारणीरण दोनों के मिश्रित स्वरूप और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को आश्रय दिया है।[1]

प्रगतिवादी समालोचक वर्ण्य-विषय की तरह शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने का समर्थक है। अत्यधिक ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान शैली जनवादी साहित्य के लिए उपयुक्त नही होती। भाषा के अन्दर अत्यधिक कोमलता और मिठास को प्रगतिवादी सामाजिक ह्रास का चिन्ह मानता है।[2] इसमे कोई सदेह नही है कि जिस काल मे मानव का जीवन शिथिल और सघर्ष-शून्य रहता है उसके

---

1. So it can be seen that serves as bridge from soul to soul is not unique but the common. Only through the common is the unique known. the common is determined in men by the deepest and persistent conditions which make up his soul by the social conditions of education, of existence or work and by association. (Trotsky—Revolution & literature).

२. डॉ० रामविलास शर्मा 'हस प्रगति अक पृष्ठ ३९३।

हृदय मे हीन अवस्था के विरुद्ध विद्रोह नही जाग उठता, उस समय का साहित्य भी शिथिल और प्राण-शून्य हो जाता है। उसमे जीवन की प्रेरक शक्तियो का अभाव हो जाता है तथा वह केवल मानव के उपभोग की वस्तु बन जाता है। उसकी वासना की तृप्ति-मात्र ही साहित्य का ध्येय हो जाता है। ऐसे समय में भाषा में कृत्रिमता चमत्कार और आलकारिकता का ही प्राधान्य रहता है। जनवादी साहित्य की भाषा अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण होती है। उसमे अलंकारो की अनावश्यक भीड के लिए स्थान नही। ऐसा साहित्य अनुभूतिमय होता है, इसीलिए उसकी भाषा मे कलाबाजी और चमत्कार के स्थान पर हृदयग्राहिता और सवेदनीयता ही अधिक होती है। प्रगतिवादी तो ओज और कठोरता को जनवादी साहित्य की भाषा के आवश्यक तत्व मानता है। यह हम पहले कह चुके है कि मार्क्सवादी काव्य-विषयो और शैलियो का सम्बन्ध वर्ग-विकास से स्थापित करता है। नाटक का विकास कृषि-युग की वस्तु है और महाकाव्य का सम्बन्ध युद्धो से। इस प्रकार नाटक महाकाव्य की अपेक्षा अर्वाचीन है। यह विकास की परवर्ती अवस्था की देन है।[2] इसी प्रकार वह भाषा का सम्बन्ध भी वर्गो से स्थापित करता है। काव्य की भाषा मे अत्यधिक कोमलता और मिठास वासना-परितृप्ति की आकाक्षाओ का परिणाम है और यह पूँजीवादी युग की देन है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि मार्क्सवाद काव्य की भाषा तथा बोल-चाल की भाषा को पूर्णत. एक नही मानता। काडवेल ने बताया है कि प्रारम्भिक युग मे ही साधारण दैनिक बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा काव्य के लिए परिष्कृत और लययुक्त भाषा का प्रयोग होता था। उसमे सगीत-तत्व भी प्रचुर मात्रा मे रहता था। प्रारम्भिक युग मे पहले-पहल भाषा लययुक्त ही रही। उनकी बोल-चाल की भाषा भी कवितामयी होती थी। आज भी कुछ जातिया है जो अभी विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे है और जिनकी भाषा लययुक्त है। उस जाति के व्यक्ति अपनी आपस की बात मे भी पद्यमय भाषा ही बोलते है।

काव्य की श्रेष्ठता के मान तथा उसके वर्ण्य विषय की यथार्थता के सम्बन्ध मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्टता पूर्वक समझाने के लिए उनके समाजवादी यथार्थवाद पर कुछ थोडा-सा विचार कर लेना आवश्यक है। यथार्थवाद के सम्बन्ध मे साधारणतया यूरोप मे यह धारणा हो गई थी कि नीति, आदर्श अथवा किसी भी प्रकार के भावात्मक एव कल्पना के आवरण से शून्य प्रत्यक्ष भौतिक जगत् की वस्तुओ का ज्यो-का-त्यो वर्णन कर देना ही यथार्थवाद है। यथार्थवाद में कलाकार

---

३. वही, ब्रह्मानन्द सहोदर।

१ 'हस प्रगति अंक,' पृष्ठ १०।

की वैयक्तिकता की छाप कम-से-कम होती है। यह चित्र विषयी-तन्त्र नहीं अपितु वस्तु-तन्त्रात्मक ही अधिक होता है। भाषा, भाव और कार्य-व्यापार सभी कुछ नग्न होता है। वस्तु-जगत् के अत्यन्त सूक्ष्म विशद और यथार्थ चित्र का ही महत्व है। यथार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मीलट ने उसे "A faithful representation of human experience not in the world of the imagination, but in the world of bread and butter" कहा है। इस प्रकार यथार्थवादी चित्र में नग्नता रहती है। इसमें मानव का जीवन पाशविक वृत्तियों से परिपूर्ण चित्रित किया जाता है। पाठक का मन इस नग्नता से भयभीत-सा हो उठता है। उसके हृदय में जीवन के कुत्सित रूप की सत्यता में अटल विश्वास हो जाता है। उसे जीवन की अनैतिकता ही सत्य प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार का प्रकृतवाद मानव को स्वस्थ जीवन-शक्ति नहीं प्रदान कर सकता। मार्क्सवादी साहित्य दर्शन इस यथार्थ को काव्योपयोगी नहीं मानता। जीवन के यथार्थ और काव्य के यथार्थ में उसे अन्तर मान्य है। जीवन के नग्न चित्रों अथवा तथ्यों को मार्क्सवादी कला और काव्य नहीं कहता। कलाकार को जीवन की घटनाओं के अन्तस्तल में जाकर उन भावनाओं, विचारों और प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन करना है, जो उनको परिचालित करती है। मानव का जीवन किस दिशा में विकास कर रहा है और उसकी प्रेरक शक्तियां क्या है? इसी का राग-द्वेष, पक्षपात, वादों और मान्यताओं से ऊपर उठकर चित्रण करना मार्क्सदर्शन के अनुकूल वास्तविक यथार्थवाद है। वस्तु और पात्र के यथार्थवादी विवरण के साथ कलाकार को इनकी परिवृत्ति में उन शक्तियों का अन्वेषण और उद्घाटन भी करना है, जिन्होंने पात्रों और वस्तु को यह स्वरूप प्रदान किया है और जो उनके भावी विकास का भी दिशा-निर्देश कर रही है। एंजिल्स इसी को यथार्थवाद मानता है।[1] "समाजवादी यथार्थ के तत्त्वों" के लेखक ने युद्ध-चित्र के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है। उनका तर्क है कि केवल युद्ध की विभीषिकाओं का चित्रण ही यथार्थवाद नहीं है अपितु उनके कारणों की उद्भावना तथा उस शक्ति का दर्शन भी यथार्थवाद है, जिस में भावी क्रांति के तत्व अत्यन्त स्पष्ट है। केवल विभीषिकाओं का चित्रण तो जीवन का एकांगी रूप है। उसी को पूर्ण और यथार्थ मान बैठना जीवन का अस्वस्थ दृष्टिकोण

---

1. In addition to veracity of details, realism takes for granted true portrayal of typical characters in the typical circumstances .....which surround them and motivate their behaviour.

Soviet Literature The Features of Socialist Realism

है। सच्चे यथार्थवादी चित्र मे अन्तर्हित प्रेरक विचार-धारा का तथ्यों और घटनाओं के साथ समानुपातिक सम्बन्ध होता है, उसमे कवि कार्य-कारण-सम्बन्ध की अवहेलना नही कर सकता।[1] उद्देश्य-विहीन तत्त्व-निरूपण काव्य की वस्तु नही है, लेकिन मार्क्सवादी केवल भावी आशाओ के काल्पनिक चित्र को भी यथार्थ काव्य नही मानना चाहता। इसमे तो जीवन की यथार्थता ही नही रहेगी। काव्य की यथार्थता के लिए अनुभूति की सचाई अपरिहार्य है, इसलिए यथार्थवादी कवि केवल कल्पना-लोक मे नही विचरण कर सकता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी न ऐतिहासिक और प्रत्यक्ष जगत् के तथ्यो के नग्न चित्र को काव्य मानता है और न केवल कल्पना-लोक की आशापूर्ण अभिव्यक्तियो को ही। उसका काव्य और यथार्थ-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रेमचन्द जी का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा जा सकता है। यह आदर्श बाहर से आरोपित नही किया जाता। कलाकार स्वय किसी आदर्श की कल्पना करके घटनाओ को उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर नही करता है; अपितु घटनाए अपने स्वाभाविक रूप मे ही उस ओर बढती है। कलाकार का आदर्श उसकी अपनी वैयक्तिक और पूर्व निर्दिष्ट मान्यताओ का परिणाम नही होना चाहिए। वह तो वर्णित घटनाओ के अन्तस्तल मे प्रवाहित जीवनी-शक्ति का ही विकासमान रूप होता है। वही प्रेरणा जीवन को उन्नति की ओर अग्रसर करती है। कलाकार का कार्य उस शक्ति का उद्घाटन तथा घटनाओ से सम्बन्ध स्थापित करना मात्र है। उसे अपनी कल्पना के प्रयोग की इतनी ही स्वतन्त्रता है। मार्क्सवादी कवि-प्रतिभा का इतना ही महत्त्व मानता है। मार्क्सवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु मे गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है और इस प्रकार जीवन भी निरन्तर उन्नति की ओर ही बढ रहा है। इसलिए काव्य का यथार्थवाद जीवन की घटनाओ मे विकास की प्रेरक-शक्ति का दर्शन करना ही है। समाजवादी यथार्थवाद पूर्व प्रचलित सभी वादो से भिन्न है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि मार्क्सवादी समीक्षक उन वादो का खडन करता है।

"I can not consider the products of expressionism, futureism, cubism and other lsms the highest manifestations of artistic genious."[1]

इन्ही मे प्रकृतवाद का भी अन्तर्भाव है। पर एडवर्ड अपवर्ड यह मानते है कि क्रान्ति के समय मे जीवन का बुनियादी सत्य जीवन की सतह पर आ जाता है,

---

१- वही, पृष्ठ २९।

2. Lenin on Art and Literature P. 42.

इसलिए उस काल में प्रकृतवादी चित्रण भी समाजवादी यथार्थ से भिन्न नही होता।[1] एडवर्ड अपवर्ड के कथन में इतना तो सत्याश है कि क्राति-काल में जीवन के उथल-पुथल के कारण वे विचार-धाराएँ स्पष्ट होने लगती है जिनमे मानव-जीवन के भावी विकास और गुणात्मक परिवर्तन की क्षमता अन्तर्हित है। क्रान्ति-काल मे मानव अपनी रूढ धारणाओं को चुनौती दे देता है। पर साथ ही इसमे कोई सन्देह नही है कि युद्ध आदि के समय का साहित्य स्थायी महत्व का नही हो पाता है। मानव की विक्षुब्ध और विद्रोहात्मक मानसिक स्थिति के कारण वह जीवन के परम सत्यो के दर्शन नही कर पाता है। वह रूढि-खंडन के आवेश मे जीवन के कुछ महत्वपूर्ण सत्यो की भी उपेक्षा कर जाता है। घास के साथ गेहूँ के पौधे उखाडकर फेक देने की सभावनाएँ भी कम नही हैं। स्वयं ट्राट्स्की ने अपनी पुस्तक 'Literature and Rivolution' में इस बात को स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि साहित्य-सृजन के लिए अवकाश स्थायित्व और समन्वयवादी दृष्टिकोण का वातावरण आवश्यक है। इसके अभाव मे साहित्य क्षणिक प्रचारवादी महत्व का ही रह जायगा। उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि उनके सर्वहारा वर्ग में राजनीतिक चेतना का विकास तो हो रहा है पर अभी उनकी कलात्मक चेतना अविकसित ही है।[2]

अब हम साहित्य के मार्क्सवादी मूल्याकन पर विचार कर सकते है। मार्क्सवादी साहित्य को सामाजिक कृति मानता है और उसका मूल्याकन भी समाज की उपयोगिता की दृष्टि से ही करता है। मार्क्सवादी आलोचना का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अमृत-राय कहते है : "मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाज-शास्त्रीय अलोचना है जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील सम्बन्ध का उद्घाटन करती है और सचेतन रूप मे समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।[3] अच्छी कला कृति का सामाजिक जीवन के प्रति सच्चा होना अनिवार्य है। ऊपर हमने जिस यथार्थवाद पर विचार किया है, उसके प्रति सचाई और ईमानदारी के अभाव मे मार्क्सवादी आलोचक किसी भी कला-कृति को अच्छा नही कह सकता। साहित्य मे वर्तमान जीवन के प्रति ही सचाई नही होनी चाहिए अपितु भविष्य की सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर लेना भी उनके लिए आवश्यक है। उसे अतीत और वर्तमान यथार्थ के अन्तस्तल मे प्रवाहित भविष्य की नियामक शक्तियो को भी पहचान लेना है। ऐसा ही साहित्य दीर्घ काल तक जीवित रह

---

१. 'हस', प्रगति-अक, पृष्ठ ३७९।

२. **'लिटरलेचर एण्ड रिवोल्यूशन'**, पृष्ठ २०३।

३. **'नई समीक्षा'**, पृष्ठ ५।

सकता है। वह बासी और पुराना नही होता।[1] आज वे ही पुरानी पुस्तकें जीवित है जो अपनी समसामयिक भौतिक परिस्थितियो के प्रति सच्ची रही है और जिन्होने मानव के भावी विकास के तत्वों की पहचान की है। मार्क्सवादी आलोचक कला की भौतिक जगत् के प्रति सचाई को बहुत अधिक महत्व देता है। एडवर्ड अपवर्ड अपनी मार्क्सवादी व्याख्या मे कहते है : "कला-कृति वही तक सच्ची है जहा तक उसके भाव और विचार भौतिक जगत् के अनुभवो की व्यावहारिकता पर आधारित है।"[1] इसी विचार-धारा मे आगे लेखक साहित्य का सच्चे अर्थ मे यथार्थवादी होना आवश्यक मानते हैं : "Modern literature if it is to be true to life and if its emotional generalisations of life are to help us to live rather than to (beguile) us or dope us must view the world realistically. And it must view not merely the surface of life isolated facts of life but the fundamental forces at work beneath the surface."

मार्क्सवादी जीवन-शक्तियों के आधार पर कला-कृति की श्रेष्ठता स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि उसके मूल्यांकन का आधार बौद्धिक है। पर यह मान लेना कि मार्क्सवादी आलोचना काव्य और कला मे भाव-तत्व की आवश्यकता नही समझती अथवा उसको गौण महत्व देती है, इस आलोचना के वास्तविक स्वरूप को न समझना-मात्र है। कला का प्रभाव बुद्धि पर ही नही अपितु हृदय पर भी पडना आवश्यक है। भाव-सवेदना और शैली की सजीवता के कारण एक कला-कृति अपेक्षाकृत कम गम्भीर और उलझे हुए बुद्धि तत्व के साथ भी सवेदना-तत्व-विहीन प्रौढ बुद्धि-तत्व वाली कला-कृति से कही उत्कृष्ट मानी जायगी। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि मे श्रेष्ठ कला कृति का क्या स्वरूप है। इस आलोचना के सम्बन्ध मे फैली हुई कुछ भ्रातियो का भी इस विवेचन से निराकरण हो जाता है। लेनिन साहित्य मे जन-समुदाय के विचारो, भावो और अभिलाषाओ के सामजस्य की आवश्यकता पर जोर देते है। वे यह भी मानते है कि यह सामजस्य जन-समुदाय के उत्थान की दृष्टि मे ही होना चाहिये। इस प्रकार वे साहित्य मे भाव-तत्व का भी महत्व स्वीकार कर रहे है।

अब तक समाजवादी यथार्थ के उसी स्वरूप पर विचार हुआ है जिसको हम इस सिद्धान्त की आधार-भूमि कह सकते है। इसमे यथार्थवाद के व्यापक स्वरूप पर विचार हुआ है। यथार्थवाद की यह व्याख्या प्रत्येक देश और काल के साहित्य-

१. एडवर्ड अपवर्ड 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या', 'हंस-प्रगति-अंक' पृष्ठ ३७९।

2. The Mind in Chains P. 47.

दर्शन को मान्य है और अब तक का मूल्यांकन-सम्बन्धी विवेचन आधार भूत सिद्धांतों का ही स्पष्टीकरण है। समाज की दृष्टि से साहित्य के उपर्युक्त मूल्यांकन के महत्व और उपादेयता को अस्वीकार नही किया जा सकता। साहित्य के लिए इस प्रकार की यथार्थता और जनवादिता का सिद्धान्त आज प्रायः सर्वमान्य-सा हो गया है। पर साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या यहाँ समाप्त नहीं हो जाती है। उसका एक स्वरूप और है, जिसको हम एक प्रकार से सम्प्रदायवादी कह सकते है। मार्क्सवादी व्याख्या के अधिकाश विरोधियो ने इसी स्वरूप का खडन किया है। पर मार्क्सवादी को अपने इस सम्प्रदायवादी स्वरूप के रखने का पूर्ण आग्रह है। इसे वह अपना सच्चा स्वरूप समझता है। साहित्य के क्षेत्र मे यही उसकी मौलिक देन है। आगे हमे इस स्वरूप का भी सिहावलोकन कर लेना है। मार्क्सवाद मानव के सामाजिक, आर्थिक एवं सास्कृतिक विकास का एक विशेष क्रम मानता है। उसने इस विकास को कुछ युगों में बांट रखा है। यह कहने की तो अब आवश्यकता ही नही है कि इस विभाजन का आधार आर्थिक है। उत्पादन के प्रकारो और सम्बन्धो के आधार पर ही इन युगो का नामकरण हुआ है। मार्क्सवादी समाज-शास्त्र का यह अटल विश्वास है कि समाज का विकास इन्ही सरगर्मियो में हुआ है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि आदिम साम्यवाद का स्थान दास-प्रथा ने, दास-प्रथा का स्थान सामतशाही ने, तथा सामन्तशाही का स्थान पूंजीवाद ने लिया है। इस आधार पर, इतिहास के इसी प्रमाण पर, यह निष्कर्ष भी ठीक ही माना जायगा कि पूंजीवाद का स्थान समाजवाद लेगा। आज पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली विकृत हो गई है। उसमे मानव के विकास की क्षमता नही रही है। उसमे उत्पादन के साधनो को और विकसित करने की शक्ति नही रह गई है। इस प्रथा में उत्पादन के साधनो पर एक व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो गया है और उस स्वामित्व की रक्षा के लिए उसे फासिस्ट शासन-प्रणाली का आश्रय लेना पडता है। उसमें दिन-प्रतिदिन शोषण और अराजकता बढ़ रही है, इसलिए मानव के विकास के लिए यह आवश्यक हो गया है कि उसका स्थान समाजवाद ले। पूंजीवाद ने स्वय ही मजदूर और सर्वहारा वर्ग की वर्ग-चेतना के रूप में अपने विनाशक तत्व तैयार कर लिये है। जन-साधारण की विचार-धारा का प्रवाह स्पष्ट कर रहा है कि उनका विनाश अवश्यम्भावी है। मार्क्सवादी पूंजीवाद के स्थान पर समाजवादी व्यवस्था को ही मानव के विकास की अगली अवस्था मानता है। इसमें वह इतिहास को साक्षी समझता है। अतीत का युग-क्रम भावी अवस्था के लिए पर्याप्त प्रभाव है। यही मार्क्सवाद का तर्क है।

समाजवाद को अनिवार्य और अवश्यम्भावी मानकर मार्क्सवादी आलोचक वर्तमान साहित्य की श्रेष्ठता का मानदंड भी इसी के अनुरूप बनाता है। ऊपर

जिस मान का उल्लेख हुआ है वह मार्क्सवादी आलोचना की सामान्य और व्यापक प्रणाली मानी जा सकती है। पर मार्क्सवादी इस प्रणाली के विशेष सिद्धान्तों को अधिक महत्व देता है। वह यथार्थ के अन्तस्तल में प्रवाहित जीवन-शक्ति का पहले से निर्वचन कर देता है। दास-प्रथा के पतन-काल मे उसके अर्थ-उत्पादन के साधन तथा सामाजिक विकास के अनुपयोगी होने के उपरान्त का साहित्य अगर सामन्तशाही युग के निर्माण की प्रेरणा नही देता है, तो उसमें वस्तुतः समाजवादी यथार्थ का निर्वाह नही है। मार्क्सवादी उसको प्रतिक्रियावादी मानता है। मार्क्सवाद का यह पूर्ण विश्वास है कि भावी युग समाजवाद का है और इस युग के यथाशीघ्र आने में ही मानव का कल्याण है। इसलिए आज के साहित्य का मूल्याकन इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह समाजवादी युग के निर्माण को कितनी प्रेरणा प्रदान करता है। मार्क्सवाद शाश्वत सत्यों को नही मानता। इसलिए साहित्य के मूल्याकन का भी कोई ऐसा शाश्वत और निरपेक्ष मानदंड नही हो सकता है, जो प्रत्येक युग के साहित्य पर लागू हो। उसे साहित्य का युग-सापेक्ष प्रतिमान ही मान्य है और वह युगानुकूल बदलता रहता है। मार्क्सवाद का पूर्ण विश्वास है कि आज के युग की बुनियादी शक्ति पूंजीवाद के विकास और समाजवाद के निर्माण में तत्पर है, इसलिए आज के यथार्थवादी और सच्चे साहित्य के लिए कम या बेशी रूप मे इन दोनो को स्वीकार कर लेना नितान्त आवश्यक है।[1] आज अच्छा लेखक बनने के लिए उसको व्यावहारिक जीवन मे मार्क्सवादी बनना पड़ेगा।[2] लेनिन ने स्पष्ट शब्दो मे साहित्य का कम्युनिस्ट-पार्टी से सम्बन्ध माना है।[3] वे साहित्य को इस पार्टी के सिद्धान्तो के प्रचार का साधन मानते है तथा पार्टी के कार्यों और सिद्धान्तो से साहित्य का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह करते है। लेनिन आज के प्रचलित साहित्य-स्वातन्त्र्य के

1. Edward upward The Mind in chains P. 49.

२. वही।

3. Literature must become party literature. As opposed to bowgeois literary careerism and individual lordly anarchism and chasing for profits the socialist proletariat must put forward the principle of Party Literature, develop this principle and realise it in its fullest and most complete form.....Literature must become a part of the proletari at cause as a whole a part and parcel of a single whole.....Literature must become an integral part of an Organised planned united social economic party work. (Lenin on Art and Literature P. 45).

सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि आज के साहित्य का आधार वैयक्तिक है। वह कुछ उच्च वर्ग के लोगों का चित्र देता है। वास्तविक स्वतन्त्र साहित्य वह होगा जो देश के उन लाखो-करोड़ों मजदूरो की सेवा करेगा, जो देश की वास्तविक शक्ति हैं, जो देश के फूल हैं।[1] ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादी साहित्य-समालोचना का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण साहित्य को प्रचार का एक साधन के रूप में मानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मार्क्सवादी समाजवादी यथार्थ को केवल वर्तमान साहित्य के मूल्यांकन का ही मान नहीं समझता है। वह अतीत के साहित्य को भी इसी आधार पर आंकता है। साहित्य की तत्कालीन परिस्थितियों के यथार्थ चित्र तथा मानव-जीवन के भावी विकास की प्रेरणा की क्षमता के आधार पर श्रेष्ठ कहने में तो मार्क्सवादी भी व्यापक उदार और सर्वमान्य दृष्टिकोण का ही परिचय देता है, पर जब वह मानव-विकास के निश्चित युगों की सुगन्धि अतीत के साहित्य में भी सूंघने लगता है, उस समय वह वहाँ पर भी सम्प्रदायवादी हो जाता है। मार्क्सवादी को वर्तमान की तरह अतीत के साहित्य के मूल्यांकन मे भी साम्प्रदायिक बने रहने का पूर्ण आग्रह है। वह अतीत के साहित्य के लिये भी इसी रूढ़ मानदण्ड का उपयोग करने का समर्थक है।

मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षा मे साहित्य को जो सामाजिक क्रिया कहा गया है और उसके लिए जन-साधारण के जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना अनिवार्य माना गया है, उसका विरोध नही किया जा सकता। यथार्थवाद का तात्पर्य जीवन का नग्न चित्र नहीं है। कला जीवन का फोटो नहीं है। उसमें जीवन के वास्तविक तथ्यों के साथ उसकी प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन भी आवश्यक है। कलाकार को भावी विकास की प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति के भी स्पष्ट दर्शन कर लेने चाहिएं। साहित्यकार अपने युग का केवल उपभोक्ता नही है, वह मार्गनिर्देशक भी है। वह अतीत का संरक्षक, वर्तमान का प्रेक्षक और भविष्य का निर्देशक है। युग से निरपेक्ष रहकर साहित्यकार अपनी ही तृप्ति के लिए जो रचना करता है, उसका समाज के लिए कोई उपयोग नहीं, कोई महत्व नही, ऐसी रचना चिरकाल तक जीवित भी नहीं रह सकती। प्रत्येक युग के अन्तस्तल मे भावी विकास के तत्व अन्तर्हित रहते हैं और क्रान्तदर्शी कलाकार को उनके स्पष्ट दर्शन होने चाहिएं। कलाकार कल्पना द्वारा आत्म-तृप्ति तथा जीवन से पलायन का सन्देश न देकर मानव को जीवन-शक्ति प्रदान करे। साहित्य के मानदण्ड में युग-सापेक्षता भी एक अनिवार्य और आवश्यक तत्व है। साहित्य और जीवन का कोई भी भाव अविकल रूप से

1. 'The Lenin on art and literature'. P. 45.

प्रत्येक युग के उपयुक्त नही हो सकता। ऐसा मानना जीवन को जड़ और स्थिर करना है। मार्क्सवाद की इन सभी मान्यताओं से विश्व के किसी भी सच्चे समालोचक का विरोध नही हो सकता। पर इन सामान्य सिद्धान्तो पर उन्होंने जो साम्प्रदायिक आवरण चढा दिया है, उसके कारण उसकी आलोचना-पद्धति बहुत संकुचित और सीमित क्षेत्र की वस्तु हो जाती है। यह सीमित दृष्टिकोण साहित्य के स्वतन्त्र विकास में बाधक है। युग और समाज का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर साहित्य-सृजन मे व्यक्ति की उपेक्षा भी सम्भव नही है। हम चरित-मूलक समीक्षा के प्रसग मे यह स्पष्ट कर चुके है कि साहित्य का सृजन समूह नहीं करता, अपितु व्यक्ति ही करता है। साहित्य मे समूह व्यक्तित्व के माध्यम से ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसलिये साहित्य मे व्यक्ति का अधिक महत्व है। साहित्यकार के व्यक्तित्व को केवल कुछ गिने-चुने सामाजिक प्रभावो और सस्कारों का समूह-मात्र कह देने से काम नही चलता है उसका वह अश भी अस्वीकार नही किया जा सकता जो सामाजिक प्रभावो और सस्कारो को ग्रहण करता है और उनके प्रति एक विशेष प्रतिक्रिया भी करता है। ट्राट्स्की ने व्यक्तित्व को जातीय, राष्ट्रीय आदि तत्वों का विशेष और असाधारण मिश्रण माना है और साहित्य-समालोचक के लिए इन तत्वों का विश्लेषण आवश्यक समझा है।[1] ट्राट्स्की "असाधारण" शब्द से उसी अंश का निर्देश कर रहे है। राल्फ फाक्स भी उसी साहित्य को प्रथम श्रेणी का मानते है, जिसमे कलाकार के अन्तर्जगत् से निकला हुआ जीवन-दर्शन होता है। काव्य की महत्ता साधारण परिस्थितियो के पात्रो की कल्पना पर नही अपितु महान् पात्रों की कल्पना पर है। महत् की कल्पना महान् व्यक्तित्व वाले कलाकार द्वारा ही सम्भव है।[2] फिर साहित्यकार को वर्ण्य-विषय एव जीवन-सदेश की निश्चित धारणाओं से बांध देने पर साहित्य का सृजन सम्भव नही है। साहित्यकार बँधी हुई परम्परा

---

1. 'The truth is that even if the individuality is unique, it does not mean that it cannot betanylysed. Individuality is a welding together of tarible, national class temporary and institutional elements and in fact it is in the uniqueness of this welding togther in the proportion of this pycho-chemical mixture, that individuality is expressed. One of the most important tasks of criticism is to analyse the individuality of artist into its component elements and to show this corelation."

(Literature and Revolution P. 59-60)

२. धर्मवीर भारती. 'प्रगतिवाद: एक समीक्षा,' पृ० १३६—१३७।

में चलने के लिए बाध्य किये जाने या सामाजिक अथवा राजनीतिक अनुचित नियत्रण लगा देने पर, सच्चे साहित्य का सृजन नही कर सकता। ऐसा प्रचारवादी साहित्य "बीडी-प्रचार-साहित्य" की कोटि मे आ जायगा। उसमें स्थायित्व नही हो सकता। मार्क्सवादी यथार्थवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है, पर उसके समाजवादी विशेषण की अनिवार्यता नहीं। भौतिकता का इतना आग्रह भी मान्य नही हो सकता। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद तो दर्शन और समाजशास्त्र का एक सम्प्रदाय है। अन्य सम्प्रदायों की तरह उसमे भी केवल सत्याश ही है, सत्य का पूर्ण रूप नही। अभी उनके सामने विज्ञान और दर्शन की अनेक ऐसी समस्याएं है जिनका उत्तर उनके पास नहीं है। ऐसी अवस्था मे प्रत्येक साहित्यकार से उन्हीं सिद्धान्तों को सत्य मानकर चलने का आग्रह दुराग्रह-मात्र है। साहित्य केवल रोटी की समस्या हल करने का साधन नही है, उसका सास्कृतिक महत्व अधिक है। मार्क्सवादी चाहे सास्कृतिक सत्यों को अस्वीकार करता रहे पर उनका उन्मूलन नही किया जा सकता। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवादी मस्तिष्क में भी मानव-कल्याण का एक स्वरूप है, जिसको कसौटी मानकर वह युग के कार्यों, अर्थ उत्पादन के साधनो और सम्बन्धो को विकासवादी अथवा प्रतिक्रियावादी कहता है, आज पूँजीवाद इसीलिए बुरा है न कि उसमे अर्थ-उत्पादन के साधनों को अधिक विकसित करके अधिक मानवो की भौतिक समृद्धि की क्षमता नही है। मार्क्सवादी के द्वारा मान्य आदिम साम्यवाद आदि सभी अवस्थाओ के परिवर्तन का मूल हेतु यही मानव की भौतिक समृद्धि की आकाक्षा है। फिर मार्क्सवादी इनको भी शाश्वत न मानने का अभिनय कर रहा है, मार्क्सवादी भौतिक समृद्धि को ही मानव का परम ध्येय मानता है तो दूसरों को आध्यात्मिक उन्नति में मानव का परम कल्याण मानने का अधिकार है। इसलिए भारत साहित्य को मानव की आध्यात्मिक उन्नति का साधन मानकर चलेगा इसमे मार्क्सवादी को क्यो आपत्ति होनी चाहिये? फिर और ऐसी आपत्ति है भी तो वह दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ नही है। भारत की आध्यात्मिकता में भौतिकता की अवहेलना नही है; क्योकि उसमे अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों का समन्वय है। तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी साहित्य-मीमासा ने सामाजिकता, यथार्थवाद आदि के सम्बन्ध मे जो सामान्य धारणाएं बनाई है वे तो साहित्य के लिए हितकर है। पर उनका साम्प्रदायिक रूप साहित्य और सस्कृति दोनो के विकास में बाधक है। रोमां रोला के शब्दो मे कहा जा सकता है. 'बिलकुल तुम्हारी तरह नही हो सकता। लेकिन तुम्हें क्या हक है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से मेल नही खाता वह क्रान्ति के बाहर है। क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नही है। क्रान्ति की महान् ध्वजा की छाह में वे सभी सिपाही खड़े हो सकते है जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के

ही नही अपितु परोक्ष रूप में भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा भी जाग्रत करते है। गाधीवाद, भारतीय आध्यात्मिकता आदि भारतीय चीजों का विरोध करके मार्क्सवादी-भौतिकता का प्रचार ही इनका प्रधान लक्ष्य है। मार्क्स का जीवन-दर्शन भारत-भूमि की प्रकृति के विरुद्ध है। वह यहा की मिट्टी और जल से नहीं पनपा है। उसमे भारतीय मानव के विकास की क्षमता नही है। योरप के जीवन के अध्ययन से प्राप्त तथ्यो पर आधारित मार्क्सवादी विचारधारा को भारत के जीवन पर ज्यो की त्यो थोप देने का प्रयास बुद्धिमत्ता नही कही जा सकती। मार्क्सवादी प्रणाली पर यहाँ के जीवन का अध्ययन करके यहाँ की समस्याओं का भारतीय समाधान ढूँढने का प्रयास अगर मार्क्सवादी करे तो ठीक है। इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि इन पक्तियों का लेखक पूंजीवादी शोषण का समर्थन कर रहा है और उसे भारतीय बता रहा है। भारत की सामाजिक व्यवस्था मे पूंजीवादी प्रवृत्ति का विकास संभव ही नही था। यह तो भारत को विदेशी देन है। इस प्रवृत्ति का निष्कासन भारत के विकास के लिए अनिवार्य है, पर मार्क्सवादी तरीके पर नही। उस दर्शन का प्रसार भारत की सस्कृति को समूल नष्ट करने का प्रयास है। इससे एक चिरकालीन अशान्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। भौतिकवाद का प्रसार विश्व-व्यापी युद्धो का कारण रहा है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अभी जड, चेतन, मन आत्मा आदि के महत्वपूर्ण प्रश्नों को नही सुलझा सका है। उसमे नीति का आधार जड भौतिकवाद है, इसलिए व्यक्ति को अत्यधिक स्थूल स्वार्थो का शिकार बना देता है। इसमे मानव का शाश्वत कल्याण नही है। भारतीय दर्शन भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मानव को चिर-कल्याण की ओर ले जाता है, इसलिए मार्क्सवादी अर्थ-नीति और उद्योग-विकास-पद्धति को केवल सामयिक साधन के रूप मे अपनाना ही श्रेयस्कर है, अतिम प्राप्तव्य के रूप में नही। हिंदी-साहित्य का कल्याण भारतीय दर्शन से प्रेरणा ग्रहण करने मे ही है।

प्रगतिवाद के इस रूढ रूप के विकास में प्रगति का पहला रूप बहुत ही सहायक रहा है। वस्तुत: देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो के कारण जन-साधारण मे क्राति की भावना जाग्रत हो गई थी। जनता साहित्य को क्राति के अग्रदूत के रूप मे देखना चाहती थी। कहने को तो यह कहा गया कि "राजनीति में जिन प्रेरणाओ से गाधीवाद का विकास हुआ, साहित्य में उन्ही प्रेरणाओं से छायावाद का जन्म हुआ।" पर वस्तुत: यह बात सत्य नहीं है। पहले विश्व-युद्ध की विभीषिका से ही कवि अन्तर्मुखी हो गया। वह अपने व्यक्तित्व के चारो ओर ही केन्द्रित होकर जीवन के समष्टिगत रूप से विमुख हो गया। उसकी नितान्त अवहेलना करने के कारण उसकी कविता में पलायन और निराशा के स्पष्ट चित्र दिखाई पड़ने लगे। उसमें जीवन को विकास के मार्ग पर

परिचालित करने की क्षमता नही रह गई, भावी विकास की प्रेरणा का अभाव हो गया। उसकी कविता मनोरंजन की वस्तु-मात्र रह गई। इसीलिए स्वयं छायावाद के कवियों में ही उसकी अशक्तता पर विश्वास हो चला और वे ही प्रगति की ओर चल पड़े। सबसे बड़ा उदाहरण तो पन्त जी का ही है। निराला भी इस दिशा में बढे हैं। पन्त जी छायावादी-अशक्तता की प्रकट घोषणा करते हुए कहते हैं: "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" सुश्री महादेवी जी ने भी उसमें यथार्थ को ग्रहण करने की क्षमता का अभाव बताया है। दिनकर भी प्रगति को वर्तमान परिस्थितियों का परिणाम मानते है। दिनकर आदि की कविताओं में क्रान्ति का सन्देश है। जीवन के प्रतिगामी तत्वों के संहार की प्रेरणा है। पन्त जी ने जीवन के अधिकारों से वंचित और पीडित मानवता के चित्र दिए हैं। रूढ़ प्रगतिवाद के अनुरूप ही उनकी इन कविताओं में अनुभूति और भावात्मकता के स्थान पर बौद्धिकता का प्राधान्य भी हो गया है। सुश्री महादेवी भी नारी-स्वातन्त्र्य की घोषणा करती हुई रूढ धारणाओं की कठोर शृंखलाओं को तोड़कर फेंक देने की प्रेरणा देती हैं। पर इन सबमें प्रगति के स्वस्थ रूप का विकास हो रहा है, मार्क्सवाद पर अधिष्ठित साम्प्रदायिक प्रगतिवाद का नही। प्रगति तो इस युग की चेतना है। साहित्य तथा जीवन-सम्बन्धी धारणा साहित्य और संस्कृति को उसी ओर अग्रसर भी कर रही है। पन्त, दिनकर, निराला महादेवी आदि में प्रगति के जिस स्वरूप के दर्शन हो रहे है उनमें भावी विकास की बौद्धिक चेतना के साथ ही सवेदना और कलात्मक सौष्ठव का भी सामंजस्य है। इसमें मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के मंगलों का समन्वय है। व्यष्टि के चरित्र निर्माण की प्रेरणा के साथ ही इसमे समष्टि के स्वरूप संगठन के नवीन आदर्श हैं। इसको हम आध्यात्मिक लोक चेतनावाद कह सकते हैं। प्रगति का यही स्वरूप स्वस्थ है, भारत और हिन्दी-कविता का इनके सामंजस्य में ही कल्याण है। साहित्य को मार्क्सवादी राजनीतिक अथवा आर्थिक विचारो के प्रचार का साधन बनाना वस्तुतः उसकी विडम्बना-मात्र है।

पहले हम लिख चुके हैं कि काव्य की प्रत्येक धारा के पीछे साहित्य-दर्शन और जीवन-दर्शन की प्रेरणा होती है। इनके अभाव में साहित्य की धारा केवल फैशन रह जाती है और उसका जीवन-काल भी बहुत छोटा होता है। प्रगतिवाद के दोनों स्वरूपों की पृष्ठभूमि में ये दोनों दर्शन रहे है। पहले हमने साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के सामान्य और स्वाभाविक सम्बन्ध तथा रूढ़ एवं मार्क्सवादी रूपों का निर्देश किया है। ये दोनों धारणायें क्रमशः दोनों प्रगतिवादों के साहित्य-

दर्शन है। साम्प्रदायिक प्रगतिवाद स्वच्छन्द धारा के दर्शनों का अवलम्बन करके धीरे-धीरे उसकी ओर बढ भी रहा है। यह हिन्दी-कविता की प्रगति के स्वस्थ लक्षण हैं। प्रगतिवाद की स्वच्छन्द धारा का आधार भारतीय जीवन-दर्शन तथा साम्प्रदायिक प्रगतिवाद का मार्क्सवाद है। लेकिन धीरे-धीरे हिन्दी रूढ़िवादिता के आग्रह को छोड़ रही है। वह प्रकृत प्रगति के सिद्धान्त को मानकर विकास कर रही है। यह शुभ चिह्न है। प्रगतिवाद ने साहित्य का जीवन-दर्शन से अभिन्न सम्बन्ध मानकर उसका महान् कल्याण किया है। यह प्रगतिवाद की एक महत्वपूर्ण देन है।

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के प्रधान व्यक्ति श्री शिवदानसिह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री अञ्चल जी, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि है। इन सभी आलोचको ने मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन के सिद्धान्तो का थोडा-बहुत विवेचन किया है। हिन्दी मे मार्क्स के सौन्दर्य-शास्त्र, कला और साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओ का कोई क्रमबद्ध और सर्वांगीण विवेचन अभी नही हुआ है। इन आलोचको में से किसी ने ऐसे सर्वांगीण ग्रन्थ की रचना नही की है। हा, निबन्धों मे मार्क्सवाद के इन सिद्धान्तो का परिचय निखरा हुआ अवश्य मिल जाता है। प्रसंगवश प्रयोगात्मक आलोचना में तथा विशेष रूप से इसी उद्देश्य से लिखे गए सैद्धान्तिक निबन्धों मे इन लेखकों ने इस साहित्य-दर्शन की प्राय: सभी मान्य धारणाओ का परिचय दिया है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध, शासक वर्ग का साहित्य पर आधिपत्य, आदिम साम्यवाद आदि अवस्थाओं का निर्देश तथा उनसे साहित्य का सम्बन्ध, सामूहिक भाव, समाजवादी यथार्थ, साहित्य की उपयोगिता, साहित्य मे कला, व्यक्ति, भाव, और बुद्धि आदि प्राय. सभी पक्षों पर इन मार्क्सवादी आलोचको ने विचार किया है। पहले मार्क्सवादी साहित्य-दर्शन की जो सामान्य रूपरेखा दी गई है, उसमें निर्दिष्ट सभी सिद्धान्त इन लेखकों को मान्य हैं। पर सब लोग उतना व्यापक दृष्टिकोण नही अपना सके। इनकी समीक्षा का मान प्राय: रूढ़ अर्थ मे मार्क्सवादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप में उन्होने व्यापक मानदंड को स्वीकार किया है, पर प्रयोग में उतनी व्यापकता नहीं रह गई है।

हिन्दी का प्रगतिवादी अपने मान को सौंदर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण कहना चाहता है। वह साहित्य की उन प्रेरणाओं और शक्तियों का अध्ययन करना चाहता है, जो उसे समाज से प्राप्त होती हैं और जिससे वह समाज का भावी निर्माण करना चाहता है। वह साहित्य को व्यक्ति-मात्र से सम्बद्ध अथवा समाज से विच्छिन्न करके नही देखना चाहता। चौहानजी के शब्दों मे : 'अत: प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बद-

लती हुई परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है । सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों, व्यंग, प्रतीक, उपमाओं, रूपक और शैली आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में देखकर उसकी सौंदर्य-शक्ति का मूल्यांकन करता है ।'[1] प्रगतिवाद साहित्य का केवल सामंती, पूंजीवादी आदि युगों की उपज के रूप में ही अध्ययन करने का समर्थन नहीं करता है । यद्यपि हिन्दी के प्रगतिवादियो का विवेचन व्यावहारिक रूप में यहीं तक सीमित है । अपितु उसकी सौंदर्य-शक्ति का (सामाजिक सौंदर्य-शक्ति) मूल्यांकन भी करता है । सिद्धान्त रूप से हिन्दी का प्रगतिवादी भी यह मानता है कि साहित्य-समीक्षा का मानदण्ड इतना व्यापक होना चाहिए कि वह अतीत के साहित्य का भी मूल्यांकन कर सके । समीक्षक का कार्य साहित्य में अन्तर्हित उस शक्ति का अध्ययन करना है जिससे वह अपने युग में तथा आज भी जन साधारण को प्रिय है तथा जो उसको प्रतिक्रियावादी साहित्य बनाने से बचाये रहती है । साहित्य-समीक्षा के मान पर श्री चौहान जी का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत व्यापक कहा जा सकता है । वे साहित्य-समीक्षा के लिए 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण की आवश्यकता समझते हैं । उन्हें मार्क्सवादी भौतिकवाद मे विश्वास है और उनकी धारणाओं पर इसकी स्पष्ट छाप है । पर भारतीय जीवन की मौलिक विशेषताओं की उपेक्षा वे नही करना चाहते । वे हिन्दी समीक्षा के मानदण्ड को यहा के जीवन-तत्यों पर अवलम्बित करना चाहते हैं । वे प्रचारवादी साहित्य मे स्थायित्व नही देखते । मार्क्सवाद की रूढ धारणाओं पर भारतीय साहित्य का मूल्यांकन केवल पूर्वाग्रह के साथ की गई समालोचना है । वे डा० रामविलास शर्मा की 'शरच्चन्द्र' आदि की आलोचना से इसी से सहमत नहीं है । श्री अमृतराय भी साहित्य को प्रचार तक ही सीमित रख देने अथवा साहित्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध मानने के विरोधी है । उन्होने मार्क्सवाद को व्यापक अर्थ में समझने का प्रयत्न किया है । श्री 'अंचल' की धारणाएं अपेक्षाकृत रूढ़ कही जा सकती हैं । डा० रामविलास शर्मा साहित्य का उसके युग की परिस्थितियों में रखकर ही अध्ययन करने के समर्थक है । पर मार्क्सवाद की रूढ धारणाओं और अपनी वैयक्तिक धारणाओं के पूर्वाग्रह से वे सर्वथा मुक्त नही है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी में प्रगतिवादी समालोचक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ और पूर्वाग्रही है । वह बंधी हुई मार्क्स-

---

१. 'प्रगतिवाद,' पृष्ठ ५ ।

वादी विचार-धारा का अपने आलोच्य लेखक पर आरोप करता है और उसको उत्तम अथवा हेय कहने मे निर्णायक का रूप धारण कर लेता है। मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का प्रचारक, समाजवाद का प्रशंसक और पूंजीवाद को गालियां देने वाला साहित्य ही उनकी दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। यह दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है। कवि से यह आशा करना कि वह मार्क्सवाद के सिद्धान्तो को ही काव्य का रूप देगा, अनुचित है। अंचलजी मजदूरो को किसानो की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी मानते है और प्रेम चन्द जी से यह आशा करते है कि वे मजदूरो का चित्रण करते। वे प्रेमचन्द जी मे नवीन युग-प्रवर्त्तिका शक्ति भी मानते है। पर अचल जी प्रेमचन्द जी की क्रान्ति को व्यक्ति के भीतर से आने वाली कहकर उसका महत्व केवल इसीलिए कम कर रहे हैं कि उसमे मार्क्सवादी सामूहिकता के दर्शन उन्हें नही हो रहे।[1] यह आलोचना प्रेमचंद जी के साहित्य पर अपने पूर्वाग्रहो और रूढ़ धारणाओ का आरोप-मात्र है। डा० रामविलास शर्मा शरच्चन्द्र के चित्रण को नष्टप्रायः जर्जर जमीदार वर्ग का चित्रण मानते है। उसमे इन्हें प्रचंड व्यक्तिवाद की गंध आती है। डॉक्टर साहब को उनके उपन्यासो मे प्राण-शक्ति का अभाव भी प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि से शरत् बाबू के उपन्यासो को केवल वे ही व्यक्ति पढ सकते है जिनको प्रेमाश्रुओ में अधिक आनन्द आता है। उनको समाज के आवारो, निकम्मों और अतृप्त आकाक्षा वालो से ही सहानुभूति मिली है। शरत् का साहित्य समाज के पुनर्निर्माण का सन्देश नही दे सकता है। उसका कोई सामाजिक मूल्य नही है। वह साहित्य व्यक्ति की पुरुषार्थहीनता और असमर्थता को केन्द्र बनाकर घूमता है।[2] डॉक्टर साहब का यह दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण और स्वस्थ नही है। इस प्रकार की आलोचनाओ के सम्बन्ध मे चौहान जी लिखते है, 'उनमे व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामंती संस्कारगत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, उपदेशो को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया गया है।[3] इस प्रकार के पूर्वाग्रहो के आधार पर की गई समालोचनाओ से साहित्य का कुछ उपकार नही होता है। इससे साहित्य और सस्कृति के विकास मे सहायता की अपेक्षा पाठक की बुद्धि को भ्राति हो जाती है। आखिर शरत् की लोकप्रियता आवारो की रुचि की वस्तु कहकर टाली नही जा सकती। चौहान जी प्रायः ऐसे आरोपो से बचते रहे है। उन्होने साहित्य के विकास का सामूहिक विचार-धारा की दृष्टि से अध्ययन किया है। विभिन्न युगों के साहित्य की मान्य धाराये कौनसी रही है और उनका किस प्रकार विकास होता

---

१ 'समाज और साहित्य', पृष्ठ १०३।

२ 'संस्कृति और साहित्य', पृष्ठ १८१—१८३।

३ 'साहित्य की परख', पृष्ठ १८।

रहा है, यहा तक तो चौहानजी एक ऐतिहासिक आलोचक की तरह निष्पक्ष होकर विवेचन कर जाते हैं। पर जहा पर वे साहित्य का मूल्यांकन करते हैं, उसके महत्व का प्रतिपादन करते है, वहा उनमें भी पूर्वाग्रह की प्रधानता हो जाती है। हिन्दी के भक्ति-काल मे कबीर और अन्य ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों को श्रेष्ठ कहना तथा सूर और तुलसी में साम्प्रदायिकता की गंध लेना, आज की राजनीतिक विचार-धारा से उनका मूल्याकन करना है। तुलसी मे जो प्राण-शक्ति है, उसका एक अंश भी कबीर में नहीं मिलता। सारा हिन्दू समाज तुलसी के भावो और विचारों में आज तक अपने ही दर्शन करता है। आज भी वह हमारे जीवन का आधार है। कबीर को ऐसा सौभाग्य कभी प्राप्त नही हुआ। फिर जिन अवस्थाओं मे तुलसी ने 'मानस' की रचना की थी, उस समय के एक विशाल जन-समुदाय को एक व्यापक जीवन-आधार की आवश्यकता थी और वह तुलसी मे ही मिल सका। तुलसी के काव्य का मूल्याँकन डॉक्टर रामविलास शर्मा ने अधिक निष्पक्षता से किया है। उनकी शैली प्रायः सर्वत्र ही ऐतिहासिक है। इन निबन्धो मे उन्होने युग-चेतना और तत्कालीन अवस्थाओ का ध्यान रखा है। भारतेन्दु, तुलसी आदि को अपने युग का गतिशील लेखक मानना ही समीचीन धारणा है। डॉक्टर शर्मा ने इन कवियों की समालोचना मे इसी उदारता और समीचीनता का परिचय दिया है। अपने युग के सास्कृतिक विकास मे सहयोग देना ही साहित्य की प्रगतिशीलता है। और ऐसा नही माना जाएगा तो अतीत का सारा साहित्य ही अप्रगतिशील हो जाएगा। इसीको रूढ मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहते है। लेनिन आदि को भी यह मान्य नहीं है, यह दिखाया जा चुका है। हिन्दी के प्रगतिवादियों को भी सिद्धान्त को जड रूप में ग्रहण करने के मोह का त्याग करना है। इसीसे समीक्षा का स्वाभाविक विकास सम्भव है। पर ऐसा वे अभी नही कर पा रहे है। प्रायः सभी प्रगतिवादी आलोचकों को छायावाद पूंजीवाद की देन प्रतीत होता है। उसकी असन्तोष, निराशा, पलायन आदि की भावना उसी की देन है। छायावादी कवि उसी पूंजीवादी वर्ग का व्यक्ति है। अपने वर्ग में उसके लिए स्थान न होने के कारण उसमे असन्तोष जाग्रत हुआ है। चौहान जी ने इसी तथ्य को स्पष्ट करने लिए मार्क्स-दर्शन का पर्याप्त और प्रौढ सैद्धान्तिक विवेचन किया है। छायावादी कवियो के सम्बन्ध में प्रगतिवादी आलोचक की मान्य धारणा श्री नरेन्द के शब्दों में अभिव्यक्त की जा सकती है, 'हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति है। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नही है तो इसका अर्थ यह नही है कि उनके संस्कार और उनकी जीवन चर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नही है। जनता के लिए यह दुरूह है। जनता उनके अस्तित्व से अनभिज्ञ है।

जनता में उनके गुण-ग्राहक कहां मिलेंगे ।'[1] इस कथन से रूढ़िवादिता और प्रचारवादिता अत्यन्त स्पष्ट है । ऐसे निर्णय का विशुद्ध समालोचना की दृष्टि से अधिक महत्व नही है । कभी कभी जब प्रगतिवादी राष्ट्रीय कविताओं को पूंजीवादी परम्परा की कहने लगता है तब तो हद हो जाती है । कुछ कवियो और लेखको की विशुद्ध भारतीय आदर्श की प्रगतिपूर्ण विचारधारा में मार्क्सवादी विचारों की झलक देखना, एक दूसरे प्रकार की रूढ़िवादिता है । प्रेमचन्द जी की आलोचना में प्राय: प्रगतिवादियों का यही दृष्टिकोण रहा है । श्री अमृतराय महादेवी की नारी-सम्बन्धी विचारधारा को मार्क्सवादी कहने मे इसी का परिचय दे रहे है । महादेवी जी नारी के साथ ही भारतीय पवित्र नारी आदर्श के पूर्ण सरक्षण की समर्थक है । इसको श्री अमृतराय भूल जाते हैं । सारांश यह है कि हिन्दी का प्रगतिशील आलोचक अतीत और वर्तमान साहित्य मे उस प्राण-शक्ति और उन विचार-धाराओं को निष्पक्ष होकर नही देखना चाहता जो उस साहित्य के अन्तस्तल से झाक रही हैं । वह उन शक्तियो का जीवन के विकास की दृष्टि से मूल्याकन नही कर पाया है । इसी मे वह अपने पूर्वाग्रहो और रूढिवादिता से अभिभूत हो जाता है । दूसरे वह प्रगतिवादी साहित्य का केवल विचारों की दृष्टि से ही मूल्यांकन करता है । उन्ही विचारो को अभिव्यक्त करने वाली एक दर्शन-शास्त्र की पुस्तक और कविता की आलोचना मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता । हिन्दी का मार्क्सवादी समीक्षक साहित्य का महत्व कलात्मक मूल्यो पर बिलकुल भी नही आँकना चाहता । इस भेद को व्यावहारिक रूप मे मिटा देने का परिणाम यह हुआ है कि साहित्य का अपना पृथक् व्यक्तित्व ही विलीन होता जा रहा है । जिस वस्तु का मूल्याकन करें उसके व्यक्तित्व की उपेक्षा करके अथवा उसको विलीन करके उस पर विचार करना बहुत ही अपूर्ण और एकागी कहा जायगा । वह तो उसी के व्यक्तित्व को नष्ट करना है । हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचको ने अपनी समकालीन शैलियों का भी उपयोग किया है और यह स्वाभाविक भी है । आलोचना की प्रचलित शैलियो के प्रभाव से एक काल का आलोचक अस्पृष्ट कैसे रह सकता है । ऐतिहासिक शैली के तत्वो की उपस्थिति तो इन सबकी विशेषता हो है । वस्तुत: ऐतिहासिक शैली का एक विशेष दिशा में विकसित रूप ही मार्क्सवादी आलोचना है । डॉ० रामविलास शर्मा की शैली में यह तत्व अधिक प्रधान है । वे साहित्य का अध्ययन इतिहास की घटनाओं के आलोक मे अधिक करना चाहते है । वे किसी वस्तु के विकास के ऐतिहासिक कारणों की उद्भावना करके उसका मूल्याकन करते है । चौहान जी विशुद्ध इतिहास की घटनाओं की अपेक्षा समष्टिगत विचार-धारा का अन्वेषण अधिक करते हैं । इस

---

१ प्रवासी के गीत ।

विचार-धारा का वे साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। साहित्य पर इसके प्रभावों तथा साहित्य में इसके विकास का सहयोग इन दोनों बातों का अध्ययन करते हैं। यह प्रक्रिया भी एक प्रकार से ऐतिहासिक ही है। प्रभावो के मूल्यांकन तथा मानव-समाज की विकास-परम्परा की मार्क्सवादी मान्यता के अतिरिक्त आलोचना ऐतिहासिक ही है। श्री अमृतराय समष्टिगत विचार-धारा के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व का भी अध्ययन करते है। वे सामूहिक विचारों और युगीन परिस्थितियो से निर्मित कलाकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते है। अंचल जी की आलोचना मे इनके अतिरिक्त छायावादी की-सी अस्पष्टता और अभिव्यक्ति के घुनाव के भी दर्शन हो जाते है। श्री प्रकाशचन्द्र जी कई-एक उदाहरणों द्वारा अपने विवेचन को स्पष्ट करके पाठको को स्वयं उन्ही निर्णयों पर पहुँचने का अवसर देते हैं। इनकी आलोचना में कुछ प्रभाववादिता का आभास भी मिल जाता है।*

प्रगतिवादी विचार-धारा ने कलाकार के व्यक्तित्व और उसके मानसिक स्वातन्त्र्य की बहुत-अवहेलना की है। साहित्य पर राजनीति के कठोर नियन्त्रणों को स्वीकार करके उसकी प्रगति में बाधा पहुँचाई है। कवि को निश्चित वर्ण्य विषयों और विचार-धारा से बांध देने पर साहित्य और राष्ट्रीय इतिहास के प्रति प्रतिक्रिया के नाम पर अरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस प्रकार इसमे उसके प्रति अश्रद्धा जाग्रत करने की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते है। प्राचीन नैतिक मूल्यों की रूढ़िवादिता को प्रकट करने के लिए प्रगतिवादियों ने अश्लीलता का भी आश्रय लिया है। नीति से विरुद्ध कृत्यो को समाज के अत्याचार का परिणाम कहकर उन्हे क्षम्य समझना परोक्ष रूप से अनैतिकता का समर्थन-मात्र है। उन्होंने साहित्य के मूल्याकन का भी एक बहुत ही रूढ़ और सीमित दृष्टिकोण अपनाया है। इतना सब-कुछ होते हुये भी प्रगतिवाद ने साहित्य-क्षेत्र मे एक क्रांति उत्पन्न कर दी है। उसने साहित्य और समाज के महल को हिला डाला है। आज शताब्दियों से मान्य धारणाओं का पुनः मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई। आज जीवन के मूल्यांकन का नैतिक दृष्टिकोण बदलने की आकाक्षा उग्र होती जा रही है। इसीसे काव्य के औचित्य की धारणा में भी परिवर्तन आवश्यक प्रतीत हो रहा है। जो कल तक अनुचित था, आज शायद उसे उचित मानने की प्रवृत्ति जग उठी है। साहित्य और समाज का अभिन्न सम्बन्ध मान्य हो गया है। साहित्य की नितान्त निरपेक्षता का सिद्धान्त धीरे-धीरे अमान्य हो रहा है। उसकी श्रेष्ठता का मानदण्ड सामाजिक उपयोगिता होता जा रहा है। कलाकार के व्यक्तित्व पर भी सामाजिक दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ हो गया है। काव्य की प्रेषणीयता को भी नवीन रूप मिल रहा है। उसका आधार कलात्मकता की अपेक्षा युग की सामूहिक चेतना अधिक मानी जाने लगी है। रति, आदि स्थाई भावों की रूढ़िगत धारणाओं में परिवर्तन

हो रहा है। उनके औचित्य और रस-क्षमता पर नवीन दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। साहित्य में भाव और कला पक्ष की सपूर्ण एकता की प्रतिष्ठा होती जा रही है। सौदर्य-बोध का मानदण्ड बदल रहा है। वह वैयक्तिक की अपेक्षा सामाजिक और समष्टिगत अधिक होता जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की मान्य धारणाओं का फिर से मूल्यांकन और स्वरूप-निर्धारण करने की आकांक्षा जाग गई है। यह सारा दृष्टिकोण रूढ़ प्रगतिवाद की प्रत्यक्ष देन नही है। पर मान्य धारणाओ के विरुद्ध इसके विद्रोहात्मक दृष्टिकोण ने आलोचकों मे नवीन और विशुद्ध प्रगति की दृष्टि से विचार करने की आकांक्षा को जन्म दे दिया है। इसमें हिन्दी-आलोचना का सुन्दर भविष्य झांक रहा है। चौहान जी की वैज्ञानिक, सामाजिक सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा डा० देवराज की साहित्य मे जीवन की बौद्धिक प्रेरणा के अनुसन्धान की बात विशुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण के विकास की आशाओं का आभास दे रही है। पर हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना अभी रूढ़िग्रस्त ही है। उसे उदार अर व्यापक दृष्टिकोणो की ओर अग्रसर होना है।

: १३ :

समीक्षा की अन्य शैलियाँ : प्रभाववादी, अभिव्यंजनावादी सौन्दर्यान्वेषी

पिछले अध्यायों में यथावसर हमने समीक्षा के सम्प्रदाय एवं शैली का अन्तर स्पष्ट किया है। हिन्दी-समीक्षा के चार सम्प्रदायों का तात्विक विवेचन भी पिछले अध्यायो मे हो चुका है। अब आगे अध्यायो मे समीक्षा की उन शैलियों का विवेचन करना है जिनको हम सम्प्रदाय की व्यापकता एवं गरिमा तक पहुँचे हुए नहीं कह सकते है। इनमे से कुछ में तो स्पष्टतः पृथक् सम्प्रदाय बनने की क्षमता है। प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी में पृथक् सम्प्रदाय के रूप में विकसित होने की क्षमता स्पष्ट है। सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति के साथ इन शैलियों का निकटतम सम्बन्ध है। अगर हिन्दी की सर्जनात्मक और समीक्षात्मक चेतना मनोविश्लेषण शास्त्र एवं मार्क्स-दर्शन से प्रभावित होकर प्रयोगवादी और प्रगतिवादी धाराओं में न बंट जाती तो संभवतः प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी समीक्षा शैलियां सम्प्रदाय के रूप में विकसित हो जाती। हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा शैली ने एक तरफ शैली के रूप मे अपना अस्तित्व भी अक्षुण्ण रखा है और दूसरी तरफ वह मार्क्सवादी समीक्षा भी बन गई है। पर चरितमूलक समीक्षा शैली में अभी कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय का रूप धारण कर जाने की संभावना नहीं है। हिन्दी में उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त निम्नलिखित समीक्षा शैलियां भी हैं—१. प्रभाववादी, २. अभिव्यंजनावादी, ३. चरितमूलक, ४. ऐतिहासिक।

पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र आत्म-प्रधान (सबजैक्टिक) और वस्तून्मुखी अथवा मान पर आधारित (ऑबजैक्टिव) के नाम से साहित्य-समीक्षा के दो प्रधान भेद मानता है। इन्हें समीक्षा के दो प्रकार कहने की अपेक्षा उसकी दो प्रवृत्ति कहना अधिक समीचीन है और प्रत्येक आलोचक में इनके दर्शन होते हैं। शास्त्रीय मान को अपनी समीक्षा का आधार बनाने वाला समालोचक भी वैयक्तिक रुचि और

निर्णय से सर्वथा मुक्त नही हो सकता तथा आत्म-प्रधान समालोचक भी कोई विशेष मान ग्रहण करके चलता ही है। वह साहित्य के एक विशिष्ट स्वरूप या धारणा का समर्थक होता है और उसी रूप के आलोक मे साहित्यिक कृतियो का मूल्यांकन करता चलता है। जहा पर वह स्पष्टत: मूल्याकन नही करता, केवल कृति का रसास्वादन करता है, अथवा उसके सौन्दर्य से मुग्ध होता है, वहा पर भी वह अप्रत्यक्ष रूप में मूल्यांकन ही करता है। समीक्षा की इन प्रवृत्तियो का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इनका सघर्ष ही समालोचना का विकास है। पश्चिम के इतिहास मे ये दो प्रवृत्तिया ही रोमाण्टिक और क्लासिक के नाम से निरन्तर सघर्ष करती रही है। एक युग ऐसा आता है जब साहित्य-समीक्षा नियमो से जकडकर रूढ़ और परम्पराभुक्त हो जाती है, इसमे कवि-स्वातत्र्य का नितान्त अभाव हो जाता है। काव्य के नियम जड रूप मे अवशिष्ट रह जाते है, उसकी आत्मा उन नियमो के जगल मे कही खो जाती है। काव्य के बाह्य स्वरूप को अनावश्यक महत्त्व प्रदान किया जाने लगता है और आत्मा की उपेक्षा होने लगती है। कुछ समय तक ऐसी अवस्था रह सकती है, पर अन्त मे कवि-प्रतिभा और सहृदय-सुरुचि इस कृत्रिमता के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है और काव्य की आत्मा का अनुसन्धान प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे समीक्षा भी आत्म-प्रधान और रोमाण्टिक हो जाती है। कालान्तर मे यह प्रवृत्ति भी विकास की चरम स्थिति को पहुँच जाती है। समीक्षा शास्त्रीय तत्वो की अवहेलना करते-करते पूर्णत: वैयक्तिक या आत्म-प्रधान हो जाती है। उस समय किसी सर्व-सामान्य धरातल की आवश्यकता ही समालोचक नही समझता। समीक्षा के अत्यधिक वैयक्तिक हो जाने के कारण उसकी उपादेयता भी सन्देहास्पद प्रतीत होने लगती है। यह भी एक चरम स्थिति है। पर समीक्षा का विकास निरन्तर इसी तरह हो रहा है। सौष्ठववादी दृष्टिकोण की चरम स्थिति ही अर्थात् जिसमें काव्य की उपयोगिता सौष्ठव आदि पर सर्व-सामान्य की दृष्टि से विचार न करके पूर्णत आत्म-प्रधान समीक्षा हो, ऐसी स्थिति ही प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) समीक्षा है।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचक समीक्षा के विधान को नहीं देखता। वह साहित्य को इतिहास, मनोविज्ञान, चरित्र शास्त्र आदि की दृष्टियों से भी नही आंकता। उसके लिए सौदर्य-शास्त्र के नियम भी महत्वपूर्ण नही। वह तो साहित्य को अपनी रुचि से आंकता है। वह उपर्युक्त सब शैलियो तथा तत्वो को समीक्षा के प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तु समझता है। उसके लिए काव्य का एक मात्र उद्देश्य प्रेषणीयता है। आलोच्य पुस्तक द्वारा प्राप्त आनन्द ही मापदण्ड और उसका निर्णय है। प्रभाववादी साहित्यिक कृति के प्रति सहृदय की प्रतिक्रिया को ही आलोचना कहता है। अन्य दृष्टियों से विचार करना उसके मत में समीक्षा नही है। सैंट्सबरी के शब्दों में इस

आलोचक के सम्बन्ध में कहा जा सकता है : The first requisite of the critic is that he should be capable of receiving impressions, the second that he should be able to express and import them.'[1]

स्पिन्गार्न भी इसी आलोचना के समर्थक है। वे इसे ही समीक्षा का प्रकृत दृष्टि कोण मानते है। उनके शब्दों में प्रभाववादी आलोचक का दृष्टिकोण पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है : Anatole France described the critic not as a judge imposing sentence, but as a sensitive soul detailing his adventures among masterpeices...to have sensation in the presence of a work of art and to express them that is the function of criticism for the impressonistic critic. His attitude, he would express some what in this fashion' here is a beautiful poem, to read it is for me to experience a thrill of pleasure, my delight in it itself a judgment and what better judgement is it possible for me to give ? All that I can do is to tell how it effects me, what sensations it gives me.'[2]

वैयक्तिक रुचि के प्राधान्य के कारण शुक्ल जी प्रभाववादी समीक्षा को समीक्षा ही नही मानना चाहते। वे कहते है कि 'उसके औचित्य-अनौचित्य पर किसी को कुछ विचार करने की जरूरत नही। जिस पर जैसा प्रभाव पड़े वह वैसा कहे।'[3] लेकिन प्रभाववादी इसको भी दोष नही मानता। भिन्न-भिन्न आलोचकों पर एक ही कला-कृति के विभिन्न प्रभाव पड सकते है और पडते है। उन प्रभावों का पारस्परिक कुछ साम्य न होने में कोई आपत्ति नही। प्रत्येक को उसे भिन्न-भिन्न रूप मे ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार है। ऐसी समीक्षा स्वय एक स्वतन्त्र कला-कृति हो जाती है। मूल पुस्तक का आधार लेकर एक नवीन सृजन होता है।[4] उसका कला-

1. History of English Criticism p. 411.
2. The New Criticism p. 427-428.
३. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६३४।
4. Other men will derive other sensations from it and express them differently, they too have the same right as I. Each of us if we are sensitive to impressions and express ourselves well, will produce a new work of art to replace the work which gave us our sensations. That is the art of Criticism and beyond that criticism cannot go. (Ibid p. 428.)

त्मक महत्व भी है। कला-कृति बाह्य जगत् और जीवन की प्रतिक्रिया है और यह समीक्षा प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया। पर है वस्तुतः कला कृति ही। प्रभाववादी समालोचक तो इन सबको गुण ही मानता है। वह कहता है कि समीक्षा का चरम विकास ही नवीन कला-कृति के सृजन मे है। प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा मूल पुस्तक की अपेक्षा समीक्षक के मनोभावो और अनुभूति को प्राधान्य देती है। इस प्रकार यह आलोच्य वस्तु से दूर हट जाती है। प्रभाववादी इसका समर्थन भी यह कहके करता है कि प्रत्येक प्रकार की समीक्षा (ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि) प्रकृत क्षेत्र से पाठक को दूर ही ले जाती है। ये सब पद्धतिया इतिहास, मनोविज्ञान, सौदर्य-शास्त्र आदि की बातें करने लगती है। ये पद्धतिया कला-कृति के आधार से मनोविज्ञान या सौदर्य-शास्त्र की पुस्तको का निर्माण करती है। प्रभाववादी को यह गर्व है कि वह एक कला कृति से दूसरी कला-कृति को ही जन्म देता है। वह तो इसी को कला समीक्षा का चरम उद्देश्य मानता है। वह कहता है : 'Art can find only its alter-ego in art.'

यह पहले के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि शास्त्रीय विधान और नीति के बन्धनो से सौष्ठववादी आलोचना की अपेक्षा भी प्रभाववादी आलोचक अधिक मुक्त हो गया। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में एक और ऐसा ही चरम दृष्टिकोण मान्य हुआ और वह है अभिव्यंजनावादी। यूरोप में अभिव्यजनावाद और कलावाद के नाम से दो वादों का बहुत ही प्राबल्य रहा है। भारतीय विचार-धारा को भी इन वादों ने प्रभावित किया है, इसका कुछ साधारण-सा संकेत सौष्ठववादी समीक्षा के प्रसंग में किया जा चुका है। इस प्रभाव के सम्बन्ध में आगे और विचार करने से पूर्व इन दोनो वादों के सामान्य परिचय की आवश्यकता है। ये दोनो वाद एक-दूसरे से प्रायः मिलते-जुलते है। अभिव्यंजनावाद के जन्मदाता क्रोसे है। वे अभिव्यजना को ही काव्य या कला मानते हैं। उनका अभिव्यजना शब्द से विशेष तात्पर्य है। आत्मा का स्वय प्रकाश ज्ञान एक अलौकिक शक्ति है। यह जगत् की वस्तुओं को साकार और सुन्दर रूप प्रदान करती है। क्रोसे यह मानते है कि अभिव्यक्ति आभ्यन्तर और मानसिक होती है। जो कुछ शब्द संगीत आदि माध्यम से इन्द्रिय-गोचर होता है, वह तो उस आभ्यान्तर का बाह्याकरण अथवा स्पष्टीकरण-मात्र है।[1]

1. When we have mastered the internal world, when we have vividly and clearly conceived a figure or statue, when we have found a musical theme, expression is formed and is complete nothing more is needed...What we then do is say aloud what we have already said within, sing aloud what we have already sung within. (Croce.)

इस प्रकार की अभिव्यक्ति को क्रोसे सुन्दर ही मानते हैं। वे उसके असौदर्य की कल्पना की सभावना ही स्वीकृत नही करते।[1] क्रोसे सौन्दर्य का आधार साचा (फार्म) मानते है।[2] क्रोसे ने वस्तु की उपेक्षा नही की है। अभिव्यक्ति में नानात्व का कारण पदार्थ है। पर फिर भी उसे सौन्दर्य वस्तु की अपेक्षा अभिव्यक्ति (फार्म) मे ही मान्य है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त क्रोसे यह भी स्पष्ट स्वीकार करते है कि काव्य का सौदर्य के अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं है। उसके सम्बन्ध में नीति, उपयोगिता आदि की बात समीचीन नही। कला के लिए सत्य और शिव शब्दो का उपयोग ही क्रोसे अनुपयुक्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बुद्धि-सम्बन्धी व्यापारों के लिए "सत्य" शब्द की उपादेयता है तथा मंगल अमंगल तो धर्म या नीति के क्षेत्र की वस्तु है। इस प्रकार क्रोसे ने काव्य या कला को विशुद्ध सौदर्य के क्षेत्र की वस्तु माना है। उसमे अन्य किसी वस्तु की खोज निरर्थक है। काव्य का महत्व केवल सौदर्य पर आश्रित है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि सुन्दर शब्द मे आनन्द भी अन्तर्हित है। यह क्रोसे के विवेचन से भी स्पष्ट है। अन्य जितने भी इस मत के समर्थक आलोचक है, उनकी भी यही मान्यता है। क्रोसे ने सौदर्य की अभिव्यक्ति का जो क्रम बतलाया है, उसमें आह्लाद तत्व का भी समावेश है। इससे काव्य मे सौदर्य और आह्लाद का समन्वय स्पष्ट है।[3] क्रोसे का यह सारा निरूपण कला के लिए है, कला-कृति के लिए नही। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि वह कला और कला-कृति को दो भिन्न वस्तु मानता है। कला की अभिव्यक्ति के लिये तो कलाकार विवश है, यह तो अनुभूति का सहज और स्वाभाविक उन्मेष है। पर उसे बाह्य रूप देना कला-कृति के रूप में प्रकाशित करना कलाकार के हाथ मे है। क्रोसे का कहना है कि यदि वह जनता के लिए उपयोगी नही है तो कलाकार उसे जनता के समक्ष रखे ही नही। इस प्रकार क्रोसे ने कला-कृति का उपयोगिता से भी सम्बन्ध स्थापित कर दिया। पर यह दृष्टिकोण

---

1. We define beauty as successful expression or better as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression. (Ibid).
2. Aesthetic fact is form and nothing but form. (Croce.)
3. The complete process of aesthetic production can be symbolised in four steps (a) impressions (b) expression or spiritual aesthetic synthesis (c) hedonistic accompaniment or the pleasure of the beautiful (d) translation of the Aesthetic fact into physical phenomena. (Croce.)

उपयोगितावादी की अपेक्षा सौंदर्यान्वेषी ही अधिक माना गया है, यही स्वाभाविक भी है।

'कला कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी इसी प्रकार का है। उनके समर्थक ब्रेडले, आस्कर वाइल्ड, स्पिन्गार्न आदि का भी यही कहना है कि कला की एक पृथक अपने-आपमें परिपूर्ण और स्वतन्त्र सत्ता है। उसकी उपादेयता को जीवन की दृष्टि से आकना समीचीन नही। कला का मूल्य कला के आभ्यन्तर में ही है, बाहर नही। कला की विशुद्ध अनुभूति और तज्जनित आह्लाद ही उस का मूल्य है। नीति, धर्म तथा संस्कृति आदि, जो कला के लिए बाह्य वस्तुए है, उनकी दृष्टि से भी उनका मूल्याकन हो सकता है। पर यह मूल्य गौण ही है। कला का नीति, या धर्म के उपदेश मे तात्पर्य नही है। यह तो उसके प्रकृत क्षेत्र के बाहर की वस्तुएं है। कला के सम्बन्ध में इन बातों का विचार करना तो उसके कलात्मक महत्व को कम करना है।[1] इस प्रकार "कला कला के लिए" वाला मत भी कला का उद्देश्य एक-मात्र सौन्दर्य-सृष्टि तथा तज्जन्य आनन्द ही मानता है, अन्य किसी भी प्रकार की उपयोगिता उसे मान्य नही। इसी

---

1. What then does the formula 'Poetry for Poetry's sake tell us about this experience ? It says as I understand it these thing. First this experience is an end in itself, is worth having on its own account has an intrinsic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culure or religion, because it conveys instruction or softens the passion or furthers a good cause, because it brings the poet the fame or money or a quite conscience. So much the better, let it be valued for these reasons too. But its ulterior worth neither is nor can directly determine it poetry worth as a satisfying imaginative experience, and this is be judged entirely from within. The consideration of ulterior ends whether by the poet in the act of composing or by the reader in the act or experiencing tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere. For its nature is to be not a part not yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be world by itself independent, complete, autonomous. (A. C. Bradly : Oxford lectures on Poetry.)

सिद्धान्त के समर्थक स्पिनगार्न तो कला और नीति के सम्बन्ध को—समकोण त्रिभुज को नैतिक और समद्विबाहु त्रिभुज को अनैतिक मानने के समान कहकर उपहास ही करते है ।[1] कला का जीवन से स्वतन्त्र अस्तित्व और उसकी स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का परिणाम मानकर इन लोगो ने कला को शास्त्र और नीति के नियमो से मुक्त घोषित किया है । काव्य शास्त्र के किन्ही निश्चित नियमों का पालन भी कलाकार के लिए आवश्यक नही । इन दोनो सिद्धांतों ने साहित्य समीक्षा की जिन धारणाओं को प्रोसिाहन दिया है, वे एक प्रकार से अतिवादी (extremi) दृष्टि-बिन्दु कहे जा सकते है । इस आलोचक का काय कला-कृति के सौन्दर्य से आह्लादित होना तथा उसके सौदर्य तत्वो का उद्घाटन करना है । उसे काव्य शास्त्र के नियमों के आधार पर कला-कृति की व्याख्या नही करनी । उसे यह नही बताना है कि किसी कृति मे काव्य शास्त्र के नियमों का कितना निर्वाह हुआ है । पर उसे तो यह बताना है कि कोई कला-कृति कितनी सुन्दर है और उसके सौदर्य के कारण क्या हैं । वह कला-कृति का अपनी सहृदयता और सौदर्य-शास्त्र के नियमो से ही मूल्याकन करता है, नीति-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र के नियमो से नही । इस प्रकार का समालोचक सौदर्यान्वेषी (Aesthetic critic) है । वह सौदर्य को अपने आप में पूर्ण और स्वतः प्रमाण मानता है । सौदर्य जीवन की अन्य किसी उपयोगिता के कारण उपादेय नही है, अपितु उसकी तो जीवन मे पृथक उपादेयता स्वतः सिद्ध है । इनमें से कुछ लोग सौदर्य और मगल मे सामजस्य करना चाहते हैं । रवीन्द्र आदि मगल को ही सुन्दर मानते है । सौदर्य और मंगल का सामजस्य मानने वालो पर हम सौष्ठववादी आलोचना मे विचार कर चुके है । मगल को ही सौदर्य मानने के परिणामस्वरूप उन्हें सौदर्य वस्तुगत भी मानना पड़ता है । केवल बाह्य अभिव्यक्ति में मंगल नहीं हो सकता । वह मन को चमत्कृत अथवा मुग्ध अवश्य कर सकती है, पर हृदय को अलौकिक आह्लाद मे तन्मय करना तो मंगल का ही कार्य है और इसका सम्बन्ध बाह्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा वस्तु के आभ्यन्तर से ही अधिक है । इन्हीं सौंदर्यान्वेषी समीक्षको मे से कुछ ऐसे है जो केवल यह देखना चाहते हैं कि वस्तु की अभिव्यक्ति कितनी सुन्दर है । वस्तु के सौदर्य से उनको कोई सरोकार नही । वे तो केवल इतना कहेगे कि वस्तु को सुन्दरता पूर्वक अभिव्यक्त करने में कलाकार को कितनी सफलता हुई है । ऐसे समालोचक अभिव्यंजनावादी (Expressionist) माने जायेंगे

---

1. To say that poetry as poetry is moral is as meaningless as to say that an equilateral triangle is moral and isosceles triangle immoral or to speak of the immorality of a musical chord or Gothic arch. (American critical Essays XIX XX centuries page 443.)

ये सौंदर्य के मूल्यांकन के साथ ही उसके कारणों पर भी विचार कर लेंगे। वे केवल इतना ही नही कहेगे कि अमुक कला कृति मे अपने सौदर्य से उसको अथवा पाठक को कितना प्रभावित और आह्लादित करने की क्षमता है, पर उसके सौंदर्य-तत्वों का विश्लेषण भी करेंगे। प्रभाववादी (Impressionist) तो केवल अपने पर पड़े हुए प्रभावो को व्यंजित करता है। उसे कारणों के विश्लेषण और सौदर्य शास्त्र के नियमों से कोई मतलब नही रहता। इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि सौंदर्यान्वेषी (Aesthetic critic) अभिव्यजनावादी (Expressionist) और प्रभावाभिव्यंजक (Impressionist) ये तीनों समालोचक एक सिद्धान्त को तीन पहलुओं से देखने के कारण ही वस्तुत: भिन्न है, अन्यथा इनमें मूल सिद्धान्तो और मान्यताओं का कोई अन्तर नही है। ऊपर 'कला कला के लिये' तथा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जिन तत्वों का निर्देश हुआ है वे ही इन तीनों पद्धतियों की आधार-भूमि है। इनमे सौंदर्य-सिद्धान्त को ग्रहण करने के तारतम्य तथा प्रकार-भेद के कारण थोड़ा-सा अन्तर है जिसका स्पष्टीकरण ऊपर हो चुका है।

भारत मे साहित्य-सम्बन्धी विचार-धारा बहुत ही पुष्ट और प्रौढ थी। उसमें काव्य के प्रयोजन आदि पर इतना व्यापक और सर्वाङ्गीण विचार हुआ है कि पश्चिम के ये चकाचौध उत्पन्न करने वाले वाद यहा के विचारको द्वारा बहुत अधिक नही अपनाए जा सके। यहा पर सौन्दर्य से भी उत्कृष्ट रमणीयता की कल्पना हो चुकी थी। उसमे बाह्य और आभ्यन्तर सौदर्य के समाहार के अतिरिक्त अलौकिक आह्लाद की भावना भी अन्तर्हित थी। इस प्रकार यहां पर काव्य में भी मंगल की प्रतिष्ठा हो गई। काव्य-नीति के स्थूल उपदेशो द्वारा नही अपितु, रस-निष्पति और रमणीयता-जन्य आह्लाद द्वारा ही चित्त के सब विकारों को दूर करने का साधन मान लिया गया था। काव्यास्वाद चित्त की ऐसी मगलमयी अवस्था है कि उसमें आपातत: अश्लील प्रतीत होने वाली सारी वस्तुएँ भी मंगलमयी हो जाती है। इसलिए श्लील-अश्लील, नैतिक-अनैतिक, सत्-असत् उपदेश आनन्द आदि द्वन्द्वों के जिस स्थूल रूप का पश्चिम मे ग्रहण हुआ और जिसके फलस्वरूप अनेक मत-मतान्तर वाद-विवाद और सम्प्रदायो का वहा जन्म हो गया, यहां पर इनके लिए स्थान ही नही था। यहां की साहित्य-परम्परा से परिचित व्यक्ति को यह सब वाद-विवाद छिछला और व्यर्थ का प्रतीत होता है। भारत का कोई भी प्रौढ़ विद्वान पश्चिम की विचार-धारा को अविकल रूप से नहीं अपना सका। ये विचार प्राय: भारतीयकरण करके ही अपनाए गए हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के साहित्य-सम्बन्धी विचारों का एक साधारण सा आभास हम पहले करा चुके हैं। उनकी सौदर्य-सम्बन्धी धारणा में मंगल के स्पष्ट दर्शन होते है। उस पर भारतीय चिन्तन की अमिट छाप है।

महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री भी पश्चिम के प्रभावाभिव्यंजक समालोचक को ही वास्तविक समीक्षक कहते है। लेकिन इसी विचार-धारा के साथ भारत के रस, ध्वनि और औचित्य के सामंजस्य को ही सर्वोत्कृष्ट साहित्य-दर्शन मानते है। स्पिनगार्न आलोचना के नवीन दृष्टिकोण मे ऐतिहासिक आदि रूपो से युक्ति तथा सबका सामजस्य आवश्यक समझते हैं। आचार्य कुप्पुस्वामी उस सामंजस्य की स्थिति रस और ध्वनि के समन्वय में ही संभव मानते है। इस प्रकार वे भारतीय रस-सिद्धान्त की व्यापकता का प्रतिपादन कर रहे है। उनकी मान्यता है कि भारतीय सिद्धान्तों में पश्चिम की विचारधारा अन्तर्भूत ही नही हो जाती अपितु वे तो उससे भी अतिक्रांत अवस्था के परिचायक है। इस अवस्था तक पहुँचने में पश्चिम को अभी समय लगेगा।[1] प्रसाद और शुक्ल जी के विचारो से हम पहले परिचित हो चुके हैं। उनमें भारतीय दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय विचार-धारा से परिचित व्यक्ति इन सिद्धान्तों को अविकल रूप से अपना कर नही चल सकता था। हिन्दी में साहित्यिक धारणाओं की आधार-भूमि प्राचीन भारतीय विचार-धारा ही है। इसलिए हिन्दी में पाश्चात्य सम्प्रदायों के अविकल रूप के दर्शन संभव नहीं है। यहा की सौदर्य-सम्बन्धी धारणा भी कुछ रमणीयता की ओर झुकी हुई है। हिन्दी का अभिव्यंजनावाद भी पूर्णत: क्रोचे का नही कहा जा सकता। इन पाश्चात्य विचार-धाराओ के सहारे विकसित यहा के आलोचकों की विचार-धारा स्वतन्त्र एव मौलिक है। उन पर भारतीयता की स्पष्ट छाप है। पर फिर भी पाश्चात्य प्रभाव अस्वीकार नही किया जा सकता। वहां से निर्मित और विकसित विचार-धाराए आई है। अग्रेजी पढे लिखे उन व्यक्तियो ने. जो भारतीय परम्परा से कुछ अनभिज्ञ है, कुछ सीमा तक उन्हें अविकल रूप मे भी अपनाया है। यह हम पहले ही देख चुके है कि सौष्ठववादी विशुद्ध आनद को ही काव्य का प्रयोजन नही मानता। पर हिदी मे दो एक ऐसे समालोचक भी है जिन्हें हम अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध आनन्दवादी कह सकते हैं।

इनमें से सर्व प्रथम पं० इलाचन्द्र जी जोशी के विचारो को ही उद्धृत करेगे। कई स्थानों पर जोशी जी हिन्दी-साहित्य के विशुद्ध आनन्दवादी समीक्षक कहे जा सकते है। उन स्थानों पर वे कला में आनन्द के अतिरिक्त नीति या अन्य किसी तत्व का महवि स्वीकार नहीं करते। वे आनन्द को भी प्रयोजनातीत कहते है। कला का सृजन ही इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये होता है। उनकी मान्यता है कि नीति की दृष्टि से देखने से काव्य का महत्व कुछ भी नही रह जाता। "कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमे आनन्द प्राप्त

1. High-ways and by-ways of Literary criticism id Sanskirt.

होता है। पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, पर उससे हमे कोई शिक्षा नही मिलती, और न कोई सासारिक लाभ ही होता है।[1]

'विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नही। उसके अलौकिक माया-चक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनद की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

जोशी जी की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा व्यापक है। उनमे विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे बाह्य रूप अथवा अभिव्यक्ति मात्र मे सौदर्य नही मानते। उनकी धारणा मे वस्तून्मुखी तत्व भी है। उसमे भाव, शील और सस्कृति का सौदर्य ही प्रधान है केवल बाह्य आकार प्रकार अथवा अभिव्यक्ति का सौदर्य अवास्तविक है। वह तो वासना की दृष्टि है। वास्तविक सौदर्य तो आभ्यतर ही है। उसी मे स्वर्गीयता है। रमणी अपने बाह्य अंग प्रत्यंग की अपेक्षा चेहरे से टपकने वाले भावों के कारण अधिक सुन्दर होती है। पडित जी सहृदयता-हीन वेश्या अथवा फूहड ग्राम्य नारी की अपेक्षा करुणा, स्नेह और शील से स्निग्ध तथा चतुर नागरी नारी मे अधिक सौदर्य देखते है। उनकी मान्यता है कि साधारणजन जिन दृश्यो मे सौदर्य नहीं देख पाता, कवि की तीव्र दृष्टि उसमे भी सौदर्य के दर्शन कर लेती है। कालिदास सारस की कर्कश ध्वनि मे भी सौदर्य के दर्शन कर लेते है। कवि चन्द्रमा की स्वच्छ चादनी ही से नही अपितु निविड़ अन्धकार के सौदर्य से भी मुग्ध हो जाता है। कवि के लिये सौदर्य का अस्तित्व सर्वव्यापी है। जोशी जी का कहना है कि सस्कार के साथ मनुष्य मे सौदर्य-बोध की भी वृद्धि होती जाती है। "मनुष्य की रुचि का विकास पूर्णता की ओर जितना बढ़ता जाता है, सौदर्य के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा उसी रूप मे जटिल होती और बदलती जाती है।" पहले मनुष्य केवल बाह्य आकार-प्रकार, अगो के सगठन आदि के सौदर्य से ही आकृष्ट होता है, पर ज्यो-ज्यो उसकी रुचि का सस्कार होता जाता है त्यो-त्यो वस्तु के आभ्यन्तर मे प्रविष्ट होकर उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव-सौदर्य के भी दर्शन करने लगता है। विकसित रुचि तो भाव-सौदर्य से ही प्रसन्न हो पाती है। इस प्रकार जोशी जी का निरूपण केवल बाह्य एव जड सौदर्य तक ही सीमित नही रहा, अपितु उसमें आभ्यन्तर चेतन सौदर्य का स्पष्ट आभास है। यह धारणा रमणीयता के अत्यन्त सन्निकट है। भारतीय विद्वान के लिए यही स्वाभाविक भी है। जोशी जी सौदर्य

१. 'साहित्य-सजना,' पृ० ११।

में सत्य और मंगल के दर्शन करते है। "अन्त में हम फिर यह कहना चाहते हैं कि सौदर्य का कोई निश्चित मानदण्ड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। वह आदर्श है—आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का सयोग; सुन्दर, मंगल और सत्य का सामजस्य।"[1]

सौष्ठववादी समालोचक सौदर्य-जन्य आह्लाद को भी समीक्षा का एक मापदण्ड मानता है। पर भारत के शास्त्रीय रस आदि तत्वो मे इसका इतना अन्तर्भाव हो गया कि इसकी पृथक सत्ता नही रह पाई। फिर उन लोगो ने कलाकार के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक निरूपण ही अधिक किया। कला-कृति के सौदर्य से आह्लादित उतने नही हो पाये। समीक्षा के इस स्वरूप के दर्शन हमे जोशी जी मे होते है। उनका सैद्धान्तिक निरूपण ही सौदर्यान्वेषी (Aesthetic) कोटि का नही है, अपितु उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा में भी इसके प्रौढ प्रमाण है। उन्होने अपने निबन्धो में अनेक स्थानो पर केवल सौदर्य और तज्जनित आह्लाद के आधार पर ही काव्य की समीक्षा की है। आलोचक कालिदास के 'मेघदूत-काव्य' को तो सौदर्य की प्रदर्शिनी ही कहता है, उसमें जो सौदर्य के विभिन्न रूपो के दर्शन होते हैं, उनसे जोशी जी मुग्ध हो उठते है। "मेघदूत काव्य को यदि हम सौदर्य-कला की प्रदर्शिनी कहें तो अनुचित न होगा।...सौदर्य किन-किन स्वरूपो मे अपने को व्यक्त कर सकता है, इस काव्य में यही दिखलाया गया है। जिस प्रकार अव्यक्त के एकमेवाद्वितीयम् रूप से अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निविड कालिमालिप्त वर्षा ऋतु के एक रूप से अभिनव सौदर्य-मण्डित कितने ही भिन्न-भिन्न रूपो की अभिव्यक्ति होती है। पूर्व मेघ में यही दिखाया गया है।"[2] इस निबन्ध के लेखक सौदर्य की अनेक स्थितियो और भावो से मुग्ध हुए है। उन्होने उनका अनुभूति जाग्रत करने वाला वर्णन भी किया है। जोशी जी ने 'मेघदूत' के सौदर्य के सामान्य स्वरूप पर भी विचार किया है। वे केवल प्रभाव ग्रहण करके मुग्ध होने वाली आलोचना तक ही सीमित नही है, अपितु इससे आगे बढकर सौदर्य का विश्लेषण भी करते है। ऊपर जिस सौदर्य का वर्णन किया है, वह दु:ख-सुख, आशा नैराश्य, हास्य-क्रन्दन इन द्वन्द्वो से जर्जरित पृथ्वी माता का सौदर्य है। पूर्व-मेघ का सम्पर्क पृथ्वीतल से है। पर उत्तर-मेघ का सौदर्य इन सब द्वन्द्वो से परे है। उसमे सौदर्य के नाना रूप एक आनन्दमय मे आकर मिल गए है। वह स्वर्ग का सौन्दर्य है। उस सौन्दर्य-लोक मे क्षुधा-

---

१. 'साहित्य-सन्तरण', पृ० १६।

२. वही, पृष्ठ १३।

तृष्णा, पाप-ताप, जरा-मृत्यु की हाय-हत्या सुनने मे नही आती ।"[1] इस आलोचना में विशुद्ध सौन्दर्यान्वेषी आलोचक के दर्शन होते है। बाह्य-अभिव्यक्ति की अपेक्षा आलोचक का ध्यान भागवत सौन्दर्य की ओर ही अधिक रहा है। सौन्दर्य को प्रयोजनातीत मानकर चलने से इसका विशुद्ध रूप अत्यन्त स्पष्ट है।

यह हम ऊपर कह चुके है कि हिन्दी में प्रभाववादी आलोचक के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण अभी तैयार नहीं हुआ है। शुक्ल जी-जैसे युग के प्रौढ़ विद्वान् उसका विरोध करते रहे है। पर फिर भी इस प्रवृत्ति के दर्शन हिन्दी-साहित्य के कुछ आलोचनात्मक निबन्धो मे हो जाते है। पडित भुवनेश्वर मिश्र 'माधव' ने अपनी 'सन्त साहित्य' नामक प्रख्यात पुस्तक मे अनेक स्थानो पर इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। लेखक दादू, मीरा, कबीर, आदि के अन्तस्तल तक पहुँच कर स्वय भाव-विभोर हो उठते है और कवि-हृदय की तल्लीनता का विवरण अत्यन्त प्रौढ भावमय शैली मे देते है। लेखक उन भावों के सस्पर्श से स्वय भी भाव-धारा मे बह जाता है और अपनी अनुभूतिमयी शैली से पाठक को भी बहा ले जाता है। प्रभावाभिव्यजक समीक्षा-शैली मे ही प० भगवतशरण उपाध्याय ने गुरुभक्तसिह जी के 'नूरजहा' काव्य का विस्तृत अध्ययन किया है। इसमे महाकाव्य के विभिन्न सर्गों की कथावस्तु तथा धार्मिक स्थलों का सदर्भ सहित भावपूर्ण परिचय है। लेखक का मन स्वयं जिन स्थलो मे रमा है उन्ही का स्पष्टीकरण भर उसने किया है। लेखक स्वयं अपने ग्रन्थ को समालोचक का प्रयास न कहकर सहानुभवी और समानधर्मा का प्रयास कहता है। वह अपने-आपको प्रभाववादी भी घोषित करना है : "नूरजहा के अध्ययन का मेरे ऊपर बडा मार्मिक प्रभाव पडा। फलत: कुछ अनुकूल ग्रन्थग्रंथिया खुल पडी। मैं एक बात को स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नही प्रत्युत सहानुभवी और समानधर्मा का है।.....मैं प्रभाववादी हूँ। जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है, प्रभाववादी चुप नही बैठ सकता।"[2] इतना ही नही प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी इसे प्रभाववादी समीक्षा के अन्तर्गत ही मानना चाहते है : "यह तो नि.सकोच कहा जा सकता है कि यह आलोच्य काव्य का शास्त्रीय अन्तर्भाव नही है। आजकल जिसे प्रभाववादी समीक्षा कहते है उसी के अन्तर्गत यह भी रखी जायगी।"[3] आलोचक ने स्थान-स्थान पर कथा-भाग और मार्मिक स्थलो को विशद सदर्भ और विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है. अनेक स्थानो पर लेखक ने स्वयं का रसास्वादन भी किया है और वह उनकी

१. 'साहित्य-सन्तरण', पृष्ठ १७२।
२. 'दो शब्द'।
३. 'दो शब्द', पृष्ठ ३।

भाव-धारा मे भी बहा है। "अनार की लटें उसके कपोलो पर बिखर आई थी और उनके नीचे आसू बह रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो मतवाली नागिनी ओस चाट रही है और उसके कपोलो पर लोट रही है। चारो ओर की नीरवता उसे और भी खाये डालती थी। संसार का सारा कोलाहल, सारा व्यवसाय, निस्तब्धता मे डूब गया था, दिन रात्रि मे लय हो गया था पर हृदय, जिसे और भी शान्त होना चाहिए था, और भी चचल हो उठा।"[1] ऐसे स्थलो मे तन्मयता एव प्रवाह है। पर वस्तु की गहराई मे बैठकर प्रत्येक शब्द के साथ तीव्रतर होती हुई सौन्दर्यानुभूति तथा तज्जनित आह्लाद का अभाव है। कही-कही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। लेखक स्थिति-चित्रण मे पूर्णतः सफल हुआ है, पर ऐसे स्थल कम हैं जहा पर वह स्वय मार्मिक स्थलो मे भाव-विभोर होकर पाठको को भी विभोर कर सका है। प्रभाववादी की यही सबसे बडी विशेषता है। यही कारण है कि प० विश्वनाथप्रसाद इस आलोचना को महाकाव्य का भाष्य अथवा महाभाष्य कहना समीचीन समझते है। इस प्रकार यह टीका का विशद श्लाघ्य रूप है। लेखक कही-कही बौद्धिक विश्लेषण भी करने लगा है। सौन्दर्य-तत्वों के उद्‌घाटन और सौन्दर्य-जनित आह्लाद के अवसर कम आये है। लेखक ने परिशिष्ट मे आलोच्य-रचना की शास्त्रीय व्याख्या भी दी है। इसमें ग्रन्थ की पूर्णता ही उन्हें अभिप्रेत है। यह मूल ग्रन्थ का भाग नहीं है। ग्रन्थ प्रभाववादी सामंजस्य का सुन्दर उदाहरण है। भविष्य मे इसी पद्धति के विकसित रूप के भी हिन्दी में दर्शन होगे, यह तो इस समीक्षा का शिलान्यास है।

जैनेन्द्र जी साहित्य और कला को प्रयोजन से उच्च मानते है। लेकिन इस प्रयोजन से उनका तात्पर्य भी पार्थिव और भौतिक उपयोगिता से ही है।[2] साहित्य के दो स्वरूप उन्हें मान्य है, एक मजे का साहित्य तथा दूसरा समाज का नेतृत्व करने वाला।[3] साहित्य मानव को स्वरति और परालोचन की अहकारी वृत्ति के सकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता है। वह मानव मे लोक-हितैषिता की भावना को जाग्रत करता है। साहित्य के मूल्याकन मे जैनेन्द्रजी प्रभाववादी दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते है। वे कहते है: "साहित्य की कसौटी सस्कारशीलता है, जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता मे निष्ठा रखती है। जो सहृदय का चित्त मुदित करता है वह साहित्य खरा, जो सकुचित करता है वह खोटा।" जैनेन्द्रजी सहृदय को पर-दुःख-कातर और सेवा-परायण कहते है। इससे वे प्रभाववादी होते हुए भी पूर्णतः वैयक्तिक और आनन्दवादी नही कहे जा सकते है। उनका

---

१. वही, पृष्ठ २।

२. जैनेन्द्र के विचार', 'क्या-क्या है' शीर्षक निबन्ध।

३. 'साहित्य की कसौटी', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'।

यह दृष्टिकोण समष्टिगत मंगल की भावना को भी अपनाए हुए है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद या सौन्दर्यवाद का विशुद्ध रूप हिन्दी के समीक्षक मे नही मिलता। पर इतना तो निर्विवाद है कि इन प्रवृतियो ने हिन्दी-साहित्य और समीक्षा को प्रभावित अवश्य किया है। हिन्दी का सारा छायावादी साहित्य इनसे प्रभावित है। छायावाद मे अभिव्यजना और सौन्दर्य-सृष्टि की ही प्रधानता है। छायावादी कवि प्रत्येक वस्तु का विच्छितिमय और भगिमापूर्ण शैली मे ही वर्णन करता है। प्रतीक-विधान और लाक्षणिकता उसकी शैली की प्रधान विशेषता है। वह सौन्दर्य-सृष्टि और अभिव्यजना की भगिमा द्वारा ही पाठक के हृदय को भाव-विभोर और आह्लादित ही करना चाहता है। पाठक कही भी उनके कथन-वैचित्र्य से प्रभावित हुए बिना नही रहता, चमत्कार ही उस कविता के प्राण है। इससे यह स्पष्ट है कि कलावाद और अभिव्यजना ने हिन्दी साहित्य की काव्य-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों का दृष्टिकोण भी अभिव्यजनावादी ही रहा है। वे काव्य की उत्कृष्टता का मापदण्ड सौन्दर्य की सृष्टि तथा तज्जनित आह्लाद ही मानते है।। नन्ददुलारे वाजपेयी आदि ने काव्य पर इस दृष्टि मे विचार किया है, इसका निरूपण हो चुका है। पर उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण विशुद्ध अभिव्यजनावादी नही कहा जा सकता है, यह भी हम पहले देख चुके है। उनकी अपेक्षा इलाचन्द्र जोशी आदि विशुद्ध सौन्दर्यान्वेषी कहे जा सकते है इसीलिए इनका परिचय इस शैली के साथ दिया गया है। ये शैलिया स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के ही विकास हैं। इनको उसी पद्धति के अतिवादी दृष्टिकोण कह सकते है।

: १४ :

चरितमूलक समीक्षा

साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति द्वारा ही सम्भव है, समष्टि द्वारा नही। समष्टि द्वारा साहित्य-सृजन का कोई प्रमाण इतिहास मे उपलब्ध नही है और साहित्य की मूल प्रकृति पर विचार कर लेने पर इसकी असम्भवता भी स्पष्ट हो जाती है। साहित्य सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है, इसे तो कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। उसके विषय और अनुभूति लोक-सामान्य के होने चाहिये और होते ही है, इसका खंडन नही किया जा सकता। पर इसके साथ ही यह भी मानने के लिए बाध्य होना पडता है कि यह सामूहिक चेतना, लोक-सामान्य भाव और समष्टिगत जीवन-साहित्य मे केवल व्यक्ति के माध्यम से ही आ सकते है, समष्टि का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य नही है। व्यक्ति पहले सामूहिक चेतना को स्वयं ग्रहण करता है और फिर उसे अभिव्यक्त करता है। हा, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि व्यष्टि में विराजमान समष्टि ही कला का रूप धारण करती है। पर वह समष्टि व्यष्टि के आवरण से आवृत्त अवश्य रहती है, अथवा वह समष्टि व्यष्टि के माध्यम मे ही साकार भी होती है। इस क्रिया मे उसके व्यक्तित्व का महत्व अत्यन्त स्पष्ट है। सबकी तरह कलाकार के व्यक्तित्व का एक अश ऐसा होता है जिसको उसके व्यक्तित्व की आत्मा कहना पडता है। वह अश सस्कारो का समूह-मात्र नही है, पर संस्कारो को ग्रहण करने की आधार-भूमि भी है। वह जगत को अपने अनुरूप बनाकर ही ग्रहण करता है। जगत और उसकी प्रतिक्रिया के संस्कारो में अन्विति स्थापित करना भी उसी का कार्य है। स प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का जगत-सम्बन्धी ज्ञान वस्तुतन्त्रात्मक कम और वैयक्तिक अधिक होता है। उसकी अभिव्यक्ति तो और भी वैयक्तिक हो जाती है। अभिव्यक्ति चाहे किसी भी माध्यम से हो, उसपर व्यक्तित्व के प्रधान अंश का ही अधिक नियन्त्रण रहता है। इसीलिए आचार्य काव्य को जगत से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व की वस्तु मानते है। लोक-साहित्य के सम्बन्ध में एक धारणा यह बनी हुई है कि वह व्यक्ति द्वारा नही अपितु समष्टि

द्वारा निर्मित है। यह बात ठीक है, पर इसका भी उपर्युक्त सिद्धांत से वास्तविक विरोध नही है, यह तो केवल आपाततः प्रतीत है, लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक रही है, और अब भी है। इसके (एक ही गीत के) विभिन्न स्वरूप उपलब्ध होते हैं। इसका स्वरूप विशेषतः भाषा एवं कही-कही भाव की दृष्टि से चिर परिवर्तन-शील रहा है। इसलिए उनका आज जो स्वरूप उपलब्ध है, वह एक व्यक्ति द्वारा निर्मित नही कहा जा सकता, पर उनका प्रारम्भिक रूप तथा प्रत्येक परवर्ती संस्कार वैयक्तिक अभिव्यक्ति के ही परिणाम है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। उन पर उन व्यक्तियो की रुचि, भाव और विचारों की स्पष्ट छाप है।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि साहित्य व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है। पर इतने कथन से काम नही चलता। व्यक्तित्व के स्वरूप को भी पूर्णतः समझ लेना चाहिए। जब हम व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग करते है, उस समय हमारा तात्पर्य एक बहुत व्यापक वस्तु से होता है। व्यक्ति के भाव, विचार, व्यवहार और प्रत्यय मे चार प्रधान तत्व अथवा अंग है। इन चारों में उसके मानसिक जगत् की सभी वस्तुओ का अन्तर्भाव है। मानव की आदते, कार्य-प्रणाली, रुचि, जगत् के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि उसके जीवन की सभी बातों के सम्पूर्ण जीवन का नियन्त्रण इनके द्वारा होता है। शारीरिक विशेषताएं तथा परिवेष्ठन भी व्यक्ति के मानस-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी अभि-व्यक्ति की आधार-भूमि है। वह इसी के अनुरूप चरित्र और वर्ण्य विषय की कल्पना कर सकता है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे अगर उसकी कोई मौलिक देन है तो उसका स्वरूप निर्धारण भी इसी के द्वारा होता है। इसी में उसके बीज अन्तर्हित रहते है। कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति द्वारा चिरन्तन रहता है। अपने-आपको अभिव्यक्त करने की भावना मानव की सहजात वृत्ति है। उसका मानसिक जगत् ही उसका अहं नही है, अपितु उसमे स्थूल जगत् और उसके जीवन की घटनाओं का भी अन्तर्भाव है। ये घटनाएं विशेष मानसिक दशाओं की कारण हैं। कुछ घटनाएं मानव को असाधारण रूप से धीर, वीर अथवा विनम्र बना देती है। उस समय की अभिव्यक्ति पर इन भावो की स्पष्ट छाप होती है। वे कलाकार को ऐसे वर्ण्य-विषयो की कल्पना के लिए प्रेरणा प्रदान करती है, जिनमे ये भाव व्यंजित हो सकें। जीवन की कुछ घटनाएं इतनी मर्मस्पर्शी होती है कि उनको जब तक अभि-व्यक्ति द्वारा स्थायित्व नही मिल जाता, तब तक कलाकार उद्विग्न रहता है। इनकी अभिव्यक्ति से ही उसकी आत्म-तृप्ति होती है। कलाकार के व्यक्तित्व तथा कला-कृति मे इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण मनोवैज्ञानिक आलोचना का कार्य है। पर जीवन की घटनाओ, विशेष परिस्थितियों और तज्जनित मानसिक अवस्थाओ का कला कृति के वर्ण्य-विषय, भाव, शैली आदि के साथ सम्बन्ध-निर्देश

चरितमूलक आलोचना का कार्य है। इसमें उन घटनाओं तथा उनके प्रभाव का निर्देश होता है, जो कवि को विशेष रचनाओं के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। जीवन में घटित महत्वपूर्ण घटनाएं मानव की प्रकृति और स्वभाव का निर्माण करती है। इनसे मानव के व्यक्तित्व का विशेष दिशा में विकास होता है। समीक्षक इन घटनाओं और व्यक्तित्व के समन्वित रूप का साहित्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कर के देखता है। इस दृष्टि से साहित्य की अंतःप्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है। इस प्रकार चरितमूलक आलोचना मनोवैज्ञानिक पद्धति की एक सहायक शैली भी कही जा सकती है। इसके द्वारा कलाकार के व्यक्तित्व के विकासमान रूप तथा इसके विकास की प्रेरणाओं का सर्वांगीण अध्ययन हो जाता है। चरितमूलक आलोचना रचना के व्यक्त प्रयोजन को भी स्पष्ट करती है। इस पद्धति का परिचय देते हुए शिपले कहते है : Biographical criticism may establish significant relations between the creator and his work, may indicate the genesis the driving force or the concious purpose of a work of art.'[1] मनोवैज्ञानिक पद्धति केवल कवि स्वभाव के तत्वों का निर्देश करती है, पर चरितमूलक आलोचना में उन कारणों और घटनाओं पर विचार होता है जिनसे कवि-स्वभाव का निर्माण हुआ है। यह पद्धति यह बतलाती है कि अमुक ग्रंथ में कवि निराशा और व्यथा के चित्र अधिक क्यों देता है।

विशेष प्रकार की रचनाओं की पृष्ठभूमि में कवि के जीवन की कौन-सी घटना उसे प्रेरणा प्रदान कर रही है। उस घटना का अथवा कवि के जीवन का कितना अंश उसकी कविता में अभिव्यक्त हुआ है, यह अध्ययन बहुत ही रुचिर और आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पर कभी कभी आलोचक और कवि सीमा का अतिक्रमण कर जाते है। काव्य में वर्णित घटनाओं के आधार पर कवि के चरित्र का अनुमान हो जाता है, पर सिद्धान्त को स्थूल रूप से ग्रहण करने पर नहीं। कालिदास के 'शिव पार्वती' के सम्भोग शृङ्गार अथवा रीतिकाल के नग्न शृङ्गार के चित्रों के आधार पर कवि को चरित्र-भ्रष्ट अथवा लम्पट कह देना कोई आलोचना नहीं। कवि की अपने ही जीवन की घटनाओं का केवल चित्र, कविता नहीं है। कवि अपने जीवन की घटनाओं को काव्य का स्वरूप प्रदान कर देता है। यह जिस वर्ण्य-विषय की कल्पना करता है, जो शैली अपनाता है, जिन भावों और विचारों को काव्य में स्थान देता है, विश्व को जो संदेश दे जाता है; उन सबके अन्तस्तल में उनका व्यक्तित्व ही शक्ति-केन्द्र है। एक प्रकार से यह उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। पर इसकी एक

1. Shipley, Dictionary of World Literature P. 139.

सीमा है। कवि का व्यक्तित्व सामूहिक चेतना, सामूहिक भाव अथवा लोक-सामान्य भाव-भूमि के सामंजस्य मे ही काव्य के लिए उपादेय है, अन्यथा नही। कवि के व्यक्तित्व की काव्य के लिए उपादेयता स्वीकार कर लेने का यह तात्पर्य नही है कि उसके विकारों को भी काव्य मे अभिव्यक्त होने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। कवि अपने रोने-हँसने को काव्य मे स्थान दे सकता है पर केवल सामूहिक चेतना से तदाकार करके ही मानव-सामान्य को प्रतिनिधि बनाकर ही। काव्य में वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त सापेक्षिक है। कविता न तो पूर्णत निर्वैयक्तिक हो सकती है और न विशुद्ध रूप से कवि का व्यक्तित्व ही। काव्य मे निर्वैयक्तिक का तात्पर्य केवल अपने निजी योगक्षेम को मानव-सामान्य के योगक्षेम से एकाकार कर देना है। इस सामंजस्य को ध्यान मे रखते हुए ही चरितमूलक आलोचना का उपयोग अपेक्षित है। आलोचना को दुराग्रह की कोटि तक पहुँचाकर बात-बात मे कवि-जीवन का हू बहू चित्र देखना काव्य और समीक्षा के विकास मे बाधक है।

हिन्दी मे चरितमूलक आलोचना का प्राय. अभाव है। समीक्षा के विकास के प्रारम्भिक वर्षों में कवियो के जीवन-चरित उपस्थित किए गए थे। उनमे आलोचना के तत्व बहुत कम थे। शुक्ल-पद्धति की आलोचना में भी कवियो के विशद जीवन-चरित लिखे गए, पर उनमे भी चरित और समीक्षा एक दूसरे से विच्छिन्न से ही रहे। चरित मे काव्य की प्रेरणाओ का अनुसन्धान नही किया गया। हिन्दी मे इस प्रवृत्ति का विकास न होने का एक महत्वपूर्ण कारण भारतीय साहित्य और जीवन के दर्शन मे निर्वैयक्तिकता और निरहंकारता की मान्य श्रेष्ठता भी है। साहित्य-दर्शन मे "साधारणीकरण" का सिद्धान्त ही काव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध मे सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उसको निरपेक्ष सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लेने के कारण चिन्तन का विकास भी अवरुद्ध हुआ। लेकिन हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति ने समीक्षा-जगत् के अन्य सिद्धान्तो के समान ही इसकी सापेक्षता स्वीकार करने के लिये भी बाध्य कर दिया। इस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिन्तन के लिये विकास के अनेक मार्ग खुल गए। स्वच्छन्दतावादी धारा मे चरितमूलक समीक्षा-प्रवृत्ति का भी कुछ विकास हुआ। पर इस शैली के अधिक प्रयास नही हुये। समीक्षात्मक निबन्धो मे कही-कही इसका आभास देने की ही प्रवृत्ति रही है। पण्डित गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'महाप्राण निराला' इस पद्धति का प्रौढ उदाहरण है। इसमे लेखक ने कवि की जीवनी और कविता को अविच्छिन्न रूप मे एक रस करके देखा है। इसमे कवि के जीवन की उन महत्वपूर्ण घटनाओ तथा उनके प्रभाव का विश्लेषण है, जिन्होने कवि के व्यक्तित्व को नई दिशा में मोड दिया है और कवि को विशेष प्रकार की भाव-धारा से ओत-प्रोत कविता लिखने के लिए प्रेरणा दी है। लेखक ने अनेक कविताओं के उदाहरणो से उन पर पड़े हुए कवि-जीवन के प्रभाव का निर्देश

किया है। अपनी शैली की यह रचना बहुत ही उत्कृष्ट है। हिन्दी में यह नवीन दिशा का स्तुत्य प्रयास है।

पाडेयजी ने साहित्य और व्यक्तित्व के सम्बन्ध तथा साहित्य प्रयोजन पर जो विचार प्रकट किये है उनसे उनकी सौष्ठववादी धारणा अत्यन्त स्पष्ट है। पांडेयजी के साहित्य-सम्बन्धी कतिपय धारणाओं के संकेत कई स्थानो पर पहले भी हो चुके है। वे साहित्य को व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति मानते है। सामूहिक चेतना उसी के माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। उन्होंने उस सम्बन्ध में प्रगतिवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया है।[1] उन्होने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे जीवन का चित्र माना है, पर यथार्थ नही आदर्शात्मक। वे कहते हैं कि जैसे उत्ताप और दबाव से कोयला हीरा बन जाता है उसी तरह साहित्य मे भी मानवीय प्रवृत्तिया प्रोज्ज्वल हो उठती हैं।[2] आलोचक के कर्तव्य का निर्देश करते हुऐ पाडेय जी कहते हैं—"पहला साहित्यकार का हृदय कितना व्यापक है और ससार के ऊपर उसका कितना अधिकार है। दूसरा, वह स्थायी रूप मे कितना व्यक्त हुआ है, अनुभव का बल उसे कहाँ तक प्राप्त है और इन दोनों का सापंजस्य उसने किस सीमा तक किया है। साहित्य की विशिष्टता का यही मापदण्ड है।'[3] इन्ही धारणाओ को मापदण्ड मानकर लेखक ने अपनी यह पुस्तक लिखी है। इसमे उन्होंने प्रधानयता कवि की जीवनी और व्यक्तित्व का ही विश्लेषण किया है। वे उनके व्यक्तित्व की महत्ता स्पष्ट कर देना चाहते है।। पर उन्हें यह भी मान्य है कि कवि के व्यक्तित्व की महत्ता उसकी कविता मे ही अभिव्यक्त होती है।[4] उन्होने यह भी स्पष्ट किया है कि निराला जी के जीवन की घटनायें उनके स्वभाव और प्रकृति के लिए कितनी उत्तरदायी है। उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए पाडेय जी ने कवि के महान् व्यक्तित्व का विश्लेषण किया है। इसमे उनको निराला जी की कविता पर भी स्थान स्थान पर विचार करना पड़ा है। उन्होने कविताओ में निरालाजी के जीवन का प्रतिबिम्ब स्पष्ट किया है। उनके जीवन की विभिन्न घटनाएं कविता में किस प्रकार चिरन्तन हो गई है, इसके भी निदेश है: 'पन्तजी की माँ का भी, जब वे केवल ६ माह के थे, स्वर्गवास हो गया था। निराला और पन्त के काव्य में इन अप्रत्याशित दुर्घटनाओ का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है।··· निराला को मां के स्नेह-संसार का कुछ अंश मिला है। जब कि पन्तजी इस ममता

१ 'महाप्राण निराला' पृष्ठ १—४।
२ वही, पृष्ठ १४।
३ वही, पृष्ठ २०।
४ वही, पृष्ठ २१।

से एकदम अबोध है। स्वभावत: निराला का दृष्टिकोण नारी के प्रति एक दार्शनिक की अतृप्ति का भाव लिये हुए है तो पन्त उसके प्रति केवल आश्चर्य का भाव रखते है। जहां नारी का बोध निराला को करुणा के रूप में हुआ है वहां पन्त को केवल उसकी कल्पना की रहस्यमयता ही अधिक मिली।'[1] लेखक ने इन दोनों महाकवियों की दो कविताओं को उद्धृत करके उनकी नारी-भावनाओ को उनके जीवन के आलोक में स्पष्ट किया है। निराला को पत्नी-प्रेम का अवसर मिला है, इसलिए उनका नारी-दर्शन अधिक सूक्ष्म और स्वस्थ है, पर पन्तजी भावी पत्नी की कल्पना ही करते रहे, इसलिए उनके नारी के रूप में कमनीयता और वासना है। इस प्रकार पाडेय जी ने इन कवियो के जीवन से उनके जीवन-दर्शन और जीवन-सम्बन्धी धारणाओ का सम्बन्ध स्थापित किया है तथा यह भी दिखाया है कि ये उनकी कविताओं में किस प्रकार अभिव्यक्त हुई है। उन्होने काव्य-सृजन की उन प्रेरणाओ को भी स्पष्ट किया है जो उन्हें अपने जीवन से ही प्राप्त हुई है। निरालाजी ने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद एक गीत लिखा जिससे उनका प्रणय अमर हो गया।[2] पाडेयजी 'सरोज-स्मृति' को हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ दु:खान्त कविता (एलिजी) मानते है। निराला जी ने अपनी पुत्री की मृत्यु के बाद उसकी स्मृति मे यह कविता लिखी थी। उसके जीवन की नई झाकिया है, इसमें उन्होने अपनी पत्नी की करुण-स्मृति का भी एक चित्र खीचा है। कवि अपनी मानसिक दशा का तो चित्र देता ही है, इसके साथ ही वह कभी-कभी अपने निराश और श्रांत जीवन मे फिर से आत्म-विश्वास भी कविता के सहारे ही जाग्रत करता है। इस प्रकार कविता केवल जगत् को प्रेरणा, शक्ति देने वाली नही हैं, अपितु कवि भी उससे प्रेरणा ग्रहण करता है। निराला जी ने भी अपने जीवन की घोर निराशा में अपनी ही कविता से धैर्य और आत्म विश्वास को दृढ़ किया है। कवि अपने जीवन की मर्मस्पर्शी घटनाओ के चित्रो को उपस्थित करके हृदय हल्का कर लेता है। इसमे अभिव्यक्ति का रेचन है। अपनी प्रिय विचार-धारा और भाव-धारा के प्रश्रय मे उससे आत्म-प्रकाशन का आनन्द मिलता है। पर कवि नवीन जीवन-स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए भी कविता करता है। चरितमूलक समीक्षा काव्य के इन सभी प्रयोजनों को आलोकित करती है। पाडेयजी ने निराला जी पर इन सभी दृष्टियों से विचार किया है।[3]

प्रस्तुत पुस्तक निराला जी के व्यक्तित्व का विश्लेषण है। लेकिन कवि का व्यक्तित्व कविता से ही सबसे अधिक व्यक्त होता है इसलिए लेखक ने आलोच्य

---

१. 'महाराण निराला', पृष्ठ २४।

२. वही, पृष्ठ ३२-३३।

३. 'महाप्राण निराला', पृष्ठ ७७।

कवि की भी पर्याप्त आलोचना की है। इसमें चरितमूलक आलोचना के प्राय. सभी स्वरूपो के दर्शन हो जाते है। कवि के जीवन की घटनाएं किस प्रकार काव्य बन गईं, उन घटनाओ ने कवि के व्यक्तित्व का किस प्रकार निर्माण किया और वह व्यक्तित्व उनकी कविता मे अभिव्यक्त विचारों और भावों में कितना और कैसा स्पष्ट झलकता है, रचना के स्वरूप निर्माण में कवि का जीवन कितना उत्तरदायी है आदि अनेक प्रश्नो पर पाडेय जी ने विचार किया है। लेखक बीच-बीच में कवि के व्यक्तित्व का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते गए हैं तथा उसके निर्णायक सामाजिक, राजनीतिक और वैयक्तिक कारणों पर भी विचार करते गए हैं। इन विभिन्न परिस्थितियो मे अनेक आघातो के फलस्वरूप विकासमान व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण ही इस आलोचना का प्रधान उद्देश्य है। इसमें लेखक ने अनुभूति, बौद्धिकता, शैली और भाषा पर भी विचार किया है। कही कहीं पन्तजी और निराला जी के व्यक्तित्व और कविता की तुलना भी की गई है। काव्य-सौष्ठव के अनुभूतिमय विश्लेषण के साथ ही लेखक ने समीक्षा की मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैलियो का भी उपयोग किया है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा के अत्यन्त प्रौढ़ रूप के दर्शन होते है। व्यक्तित्व का मनोविज्ञान के आधार पर शास्त्रीय विश्लेषण है। पाडेय जी ऐतिहासिक समीक्षा का भी प्रसगानुकूल अनेक स्थानों पर हल्का सा आभास देते गए है। लेखक का प्रधान उद्देश्य निराला जी की जीवनी के आलोक मे उनके व्यक्तित्व की महत्ता का दिग्दर्शन है। उनकी कविता पर विचार करते समय इन शैलियो का हल्का-सा आभास ही अपेक्षित और संभव था। हिन्दी में यह पुस्तक अपनी शैली का नवीन और श्लाघनीय प्रयास है। पांडेय जी ने इस शैली का सूत्रपात ही बहुत प्रौढ़ रचना से किया है इसलिए इसका भविष्य सुन्दर और आशामय है।

: १५ :

ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति

कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी प्रकृति तथा जीवन-चरित्र से कला-कृति का अभिन्न एव अच्छेद्य सम्बन्ध का प्रतिपादन पहले हो चुका है। कला मे इनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। प्रकृति, स्वभाव, रुचि, शील आदि सभी कुछ व्यक्तित्व में अन्तर्भूत है। सश्लिष्ट रूप में एक शब्द मे व्यक्तित्व द्वारा इन सबका बोध हो जाता है, इसलिए संक्षेप मे कला को कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहना किसी प्रकार भी अत्युक्ति नहीं है। चिन्तन के इसी मार्ग का अवलम्बन करके अगर कुछ दूर और आगे बढा जाय तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व भी कोई नितान्त निरपेक्ष वस्तु नही है। उसका बहुत-कुछ निर्माण परिवृत्तियो द्वारा ही होता है। परिवृत्ति के प्रभावो की संस्कार-समष्टि का नाम ही व्यक्तित्व है। इसमें उस आधार-शिला का भी अन्तर्भाव है, जिन पर ये प्रभाव अंकित होते है अथवा आधारित रहते हैं। पर परिवृत्ति के इन संस्कारों के महत्व को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साहित्य का तत्कालीन परिस्थितियो से भी अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्तित्व का उपकरण तथा निर्णायक तत्व होने के कारण परिवृत्ति का सम्बन्ध साहित्य से स्पष्ट है। पर यह सम्बन्ध सीधा न होकर परोक्ष ही है। इतना ही नही कलाकार के व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति का आश्रय भी अपनी परिवृत्ति मे ही मिलता है। अपने काव्य के वर्ण्य-विषयो के सकलन के लिए वह अपने युग और परिवृत्ति का मुखापेक्षी है। उसकी सृजनात्मक प्रेरणा भी उसकी परिवृत्ति में ही अन्तर्हित है। इस सारे विवेचन का तात्पर्य यह है कि साहित्य और समाज का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। युग का साहित्य पर बहुत अधिक नियत्रण रहता है। वह उसे केवल सामग्री ही नही प्रदान करता, अपितु युग की चेतना साहित्य का दिशा-निर्देश भी करती है। 'साहित्य समाज का दर्पण है' का यही रहस्य है। यही कारण है कि एक युग, देश और जाति के साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों और कलाकारों में पारस्परिक पर्याप्त वैषम्य होते हुए भी

एक महत्वपूर्ण एकसूत्रता होती है, एक साम्य होता है। यह साम्य, और एक सूत्रता उनके महत्वपूर्ण अंश है। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक युग की चेतना का एक निश्चित स्वरूप होता है और कलाकार उससे पूर्णत. मुक्त नही हो सकता। युग-चेतना एक सीमा निर्धारित कर देती है और कवि उस सीमा का अतिक्रमण नही कर पाता है। विभिन्न देशो, जातियो और युगों के साहित्य के अध्ययन ने साहित्य और परिवृत्ति के इस सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया है। साहित्य के इतिहास का तो यह मूल आधार ही है।

साहित्य और युग का यही सम्बन्ध साहित्य के अध्ययन की ऐतिहासिक शैली का आधार है। प्रत्येक प्रौढ साहित्य में समीक्षा की यह शैली प्रचलित है। अंग्रेजी मे यह सेंट बेव तथा टेन आदि इसके प्रमुख व्यक्ति है। हिन्दी में भी इसका पर्याप्त उपयोग हो रहा है। टेन ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका मे इस पद्धति के सिद्धान्तो का विशद विवेचन किया है। वे जाति [रेस] परिवृत्ति [सराउडिग्स] और युग [Ehoch] को साहित्य की प्रधान प्रेरणा-शक्ति मानते है। इनका सम्पूर्ण साहित्य पर पूर्ण नियन्त्रण है, ऐसा उन्हे मान्य है। प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशेष समुदाय या जाति का एक अंग होता है, उस जाति की विचार-धारा, रहन-सहन. सभ्यता-सस्कृति, जीवन-दर्शन आदि की उस पर अमिट छाप होती है। वस्तुत· उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंश उस जाति की ही देन है। इसलिए किसी भी व्यक्ति द्वारा निर्मित साहित्य उसकी जातीय सभ्यता और सस्कृति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब होता है। जाति के सामूहिक साहित्य के अन्तस्तल मे जातीयता की धारा प्रवाहित होती रहती है और वही उस साहित्य की प्रमुख प्रेरक शक्ति है।

दूसरा तत्व है परिवृत्ति। इसमे भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियो का अन्तर्भाव है। ये सभी वस्तुएं साहित्य को प्रभावित करती है। एक देश के साहित्य की दूसरे देश के साहित्य से तथा एक जाति के साहित्य की दूसरे साहित्य से भिन्नता इन दोनो तत्वो के प्रभाव को स्पष्ट कर रही है। भारत और यूरोप के साहित्य का मौलिक अन्तर इसी जातीयता और परिवृत्ति पर अवलम्बित है। एक ही जाति के दो भिन्न परिस्थितियो मे रहने वाले व्यक्तियो के साहित्यो मे भी पर्याप्त अन्तर रहता है। इन सब उदाहरणो से ऊपर के सिद्धान्त का समर्थन हो जाता है। प्रत्येक वस्तु, प्रत्यय और विचार-धारा निरन्तर परिवर्तन-शील और प्रवहमान है। एक शताब्दी पूर्व की विचार-धारा आज ठीक वैसी ही नहीं रह गई है। जीवन स्थिर नही, गतिशील है। गति ही जीवन का लक्षण है। यही उसका प्रमाण है। जीवन के साथ प्रत्येक वस्तु भी चिर-परिवर्तन है, टेन का युग से वही तात्पर्य है। वे यह मानते हैं कि युग-चेतना चिर विकास शील है। वह अपने साथ पूर्व युग के संस्कारों को लेकर आगे बढ़ती रहती है। नदी के प्रवाह की तरह

उसमें एक सूत्रता है, पर स्थैर्य नहीं। इसीलिए एक युग का महाकाव्य अथवा नाटक दूसरे युग के महाकाव्य और नाटक से बहुत-कुछ भिन्न होता है। रत्नाकर जी ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा के कवि है, पर वे रीतिकालीन कवियों से स्पष्टतः भिन्न हैं। आज का मुक्तक-साहित्य भक्ति-काल के मुक्तक के अनुरूप नहीं हो सकता। इसी को साहित्य पर युग-चेतना का प्रभाव कहते है। यही कारण है कि टेन जाति, परिवृत्ति और युग-चेतना को साहित्य की प्रधान प्रेरणाएं मानते है। दर्शन की पदावली मे यह कहना भी अनुचित नहीं है कि उनकी दृष्टि में ये साहित्य के निमित्त और उपादान दोनो कारण है। साहित्य के अध्ययन और मूल्याकन के पूर्व इन तीनो का उपयुक्त ज्ञान आवश्यक है। साहित्य की कोई भी कृति अपने युग, परिवृत्ति और जातीयता से पृथक् करके नहीं देखी जा सकती। हडसन ने इसी प्रेरणा शक्ति को जाति और युग के नाम से दो प्रमुख स्वरूपो मे विभाजित किया है।[1] इन दोनो मे परिवृत्ति का भी अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक कला-कृति एक राष्ट्र के विशेष युग की अवस्थाओ का सहज परिणाम मात्र है। वह इसका प्रतिबिम्ब है। इसी को स्पष्ट करते हुए हडसन कहते है: "A nation's literature is not a miscellaneous collection of books which happened to have been written in the same tongue or within a certain Geographical area. It ts the progressive relation, age by age of such nations and character.[2]

एक अन्य स्थान पर हडसन साहित्य को युग की मूल चेतना और आदर्शों की अभिव्यक्ति मानते है।[3] टेन ने तो साहित्य के व्यष्टि रूप को भी इन्ही तीन प्रेरणाओ का परिणाम मान लिया है। वे कहते हैं: 'It was percieved that a work of Literature is not a mere play of imagination, a solitary caprice of a heated brain, but a transcript of contemporary manners, a type of a certain kind of mind"[4] वे मानते है कि कला-कृति के वर्ण्य-विषय, भाव, भाषा, शैली, विचारधारा आदि सभी कुछ उस युग की देन है। वे उस युग की अवस्थाओ के स्वाभाविक परिणाम हैं। प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक एडवर्ड अपवर्ड लिखते हैं. 'साहित्य मानव-समाज और प्रकृति-समन्वित सतत परिवर्तनशील पदार्थ-जगत् मे उद्भूत वस्तु है और उसे

1. 'An Introduction to the study of literature' Page 31-34.
2. Ibid page 33.
3. Ibid page 33.
4. Taine : 'History of English Literature' Introduction page 1

प्रतिबिम्बित करता है। कवि की उपमा-उत्प्रेक्षाएँ और औपन्यासिक पात्र उसके निरे दिमाग की उपज नहीं होते, बल्कि उसके चारों ओर के संसार से निर्दिष्ट होते हैं।"[1] मार्क्सवादी साहित्य और समाज के अछेद्य सम्बन्ध का समर्थक है। यह सम्प्रदाय ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का ही विशेष आर्थिक नीति और दर्शन के आधार पर विकसित रूप है। कला-कृति से निर्माण-काल की परिस्थितियों और जातीय चेतना का अनुमान तथा साहित्य पर जातीयता एवं युग-चेतना के नियन्त्रण का अध्ययन—समीक्षा के ये दोनों प्रकार ही ऐतिहासिक समीक्षा में अन्तर्भूत हैं। ऐतिहासिक समालोचक किसी भी कलाकार या कलाकृति को युग की धारा से विच्छिन्न करके नहीं देखना चाहता। वह उन प्रेरणाओं का अनुसन्धान करता है, जिनका सहज और स्वाभाविक परिणाम वह कलाकृति है। साहित्य और संस्कृति को अविरल धारा में रखकर उसके वर्ण्य-विषय, विचार धारा, भाव-भाषा, शैली आदि के स्वरूप का अध्ययन तथा मूल्याकन करना ही इस समीक्षक का प्रधान उद्देश्य है। ऐतिहासिक समीक्षक युग-चेतना के प्रभावों के साथ ही यह भी अध्ययन करता है कि किसी कला-कृति ने जाति के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में कितना सहयोग प्रदान किया है। साहित्य के मूल्याकन का वास्तविक मान तो वह इसे ही मानता है। विशेषत: साहित्य के समष्टिगत रूप के अध्ययन के लिए तो यह प्रक्रिया अत्यन्त उपयोगी है। इससे राष्ट्र और युग की सांस्कृतिक एकता भी सुस्पष्ट हो जाती है। एक कला-कृति को साहित्य की अविरल धारा में रखकर देखने में उसके महत्व का भी ज्ञान हो जाता है। किसी भी कलाकार अथवा कला-कृति को युग और जाति से विच्छिन्न करके देखना तो उसको विकलांग करके उसका मूल्याकन करना है। पर इस समीक्षा के सिद्धान्तों को ही एक-मात्र सत्य मानने वाले साहित्य में व्यक्ति के महत्व की उपेक्षा करते हैं। कलाकार का व्यक्तित्व पूर्णत: परिवृत्ति का ही परिणाम नहीं है। उसका एक अंश ऐसा भी होता है जो बाह्य जगत् की वस्तुओं और प्रत्ययों को अपने अनुरूप बनाना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् पर अपनी भावनाओं का आवरण चढ़ाकर उसको ग्रहण करता है। जगत् के विशुद्ध स्वरूप—व्यक्तित्व के आरोप से निर्लिप्त स्वरूप का ज्ञान सम्भव नहीं। जिन कलाकारों का व्यक्तित्व परिवृत्ति के समक्ष आत्म समर्पण करता है, उनका सृजन केवल समाज का उपयोग-मात्र है, वह साहित्यकार समाज का उपभोक्ता है, निर्णायक नहीं। ऐसा साहित्य समाज के लिए केवल दर्पण का ही कार्य करता है, उसका पथ-प्रदर्शन नहीं करता। समाज में क्रान्ति उपस्थित करने तथा नूतन निर्माण की क्षमता ऐसे साहित्य में नहीं हो सकती। ऐसा साहित्य समाज के परम्परागत रूप की

१ 'साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या' : 'हंस-प्रगति अङ्क' फरवरी-मार्च १९५३।

रक्षा और स्थिति का हेतु है, विकास का कारण नहीं। संस्कृति को विकास की ओर ले जाने वाला साहित्य केवल युग, राष्ट्र और परिवृत्ति का सहज परिणाम नहीं होता। उसकी प्रधान प्रेरणा-शक्ति कलाकार की प्रतिभा ही होती है। प्रतिभावान कलाकार युग का अनुगमन नहीं करता, वह तो युग का अग्रगामी होता है। वह परम्परागत मार्ग का ही अवलम्बन नहीं करता, अपितु मानवता के विकास के नूतन मार्गों का भी अनुसन्धान करता है। अगर रूढ़ि के खंडन की आवश्यकता होती है, तो वह भी करता है। साहित्य मानव के विकास को प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के बल पर ही शक्ति और प्रेरणा प्रदान कर सकता है। प्रतिभाशाली ही उसको विकास की नवीन दिशाएँ दिखाता है। प्रतिभाओं के अभाव में तो साहित्य, समाज और संस्कृति पूर्णतः स्थिर हो जाते हैं और कालान्तर में वे दूषित होकर दुर्गन्ध भी देने लगते हैं। हिन्दी का रीतिकाल कुछ ऐसे ही स्थैर्य का आभास देता है। ऐतिहासिक तत्वों के साथ ही कलाकार के व्यक्तित्व के महत्व को स्वीकार करने से ही समीक्षा प्रकृत मार्ग का अवलम्बन करके प्रौढ़ और विकसित होती है। कलाकार के व्यक्तित्व की नितान्त अवहेलना करने से तो साहित्य, समीक्षा और साहित्य केवल इतिहास-लेखन की सामग्री-मात्र हो जायगा। शिलालेखों की तरह साहित्य भी इतिहास के तथ्यों का प्रमाण-मात्र हो जायगा। उसका पृथक् सांस्कृतिक महत्व कुछ भी नहीं रहेगा। प्रत्येक कला-कृति की प्रेरणा के दो प्रधान स्रोत होते हैं, कलाकार का व्यक्तित्व और युग-चेतना। ये दोनों भी एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। कलाकार के व्यक्तित्व का एक अंश युग-चेतना का परिणाम और दूसरा निर्मायक है। प्रतिभाओं व्यक्तित्व के युग-निर्मायक एवं क्रान्तिकारी तत्व का स्वरूप निर्धारण भी युग-चेतना द्वारा ही होता है। इसीलिए समीक्षा की सर्वांगीणता के लिए इन दोनों का सामंजस्य ही अपेक्षित है। साहित्य में युग-चेतना अथवा सामूहिक भाव की अभिव्यक्ति कलाकार के व्यक्तित्व के माध्यम से ही होती है। इसलिए साहित्य में ऐतिहासिक और सामूहिक जीवन के तत्वों की अपेक्षा कलाकार के व्यक्तित्व का ही महत्व अधिक है। साहित्य और व्यक्तित्व के सम्बन्ध पर विशद विवेचन चरितमूलक समीक्षा तथा अन्य कई प्रसंगों में हो चुका है।

किसी भी प्रौढ़ साहित्य-समीक्षा की शैलियों में ऐतिहासिक समीक्षा के महत्व का स्थान अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी में साहित्य-समीक्षा बहुत ही अर्वाचीन है। यह विधा अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, पर विकास की शक्ति से गर्भित है, इसका भी स्पष्ट आभास मिल रहा है। आधुनिक समीक्षा के आरम्भ से ही ऐतिहासिक समीक्षा के दर्शन होते हैं। स्वयं भारतेन्दु जी ने अपने कतिपय लेखों द्वारा साहित्य के विकास की धारा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साहित्य के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों का अनुमान भी किया गया है।

उनके परवर्त्ती काल मे ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास होता रहा है : प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तथा मिश्र-बन्धुओ ने भी कवियो की रचनाओ मे तत्कालीन व्यवस्थाओ का अनुमान किया है। उन पर विचार करते हुए इसका निर्देश किया जा चुका है। लेकिन कवियो को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे रखकर विचार करने के प्रथम वैज्ञानिक प्रयास के दर्शन शुक्ल जी की समीक्षा मे ही होते है। उन्होने अपने प्रारम्भिक लेखो मे ही ऐतिहासिक शैली को अपना लिया था। प्रेमघन जी की 'आनन्द-कादम्बिनी' मे ही उन्होने भाषा-शैली के विकास के आधार पर हिन्दी- साहित्य के क्रमिक विकास का थोडा-सा आभास दिया था।[1] ऐतिहासिक विवेचन की इस प्रवृत्ति मे उन्होने राजनीतिक सामाजिक एव धार्मिक अवस्थाओ का निर्देश करके तुलसी और सूर की कविताओ को उन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम बतलाया है और इन कवियो का सास्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से भी महत्व आका है। शुक्ल जी के इस विवेचन से समीक्षा की ऐतिहासिक शैली केवल तत्कालीन परिस्थितियो के प्रासगिक सकेत तक ही सीमित नही रह गई अपितु वह साहित्य-समीक्षा का एक अनिवार्य तत्व हो गई। परवर्ती काल के प्राय: सभी आलोचको ने इस शैली का उपयोग किया है। पर शुक्ल जी की ऐतिहासिक दृष्टि साहित्य को अविरल और अविच्छिन्न धारा को नही देख सकी। उन्होने कवियो को साहित्य की धारा मे रखकर नही देखा। उनका ऐतिहासिक विवेचन चित्र की पृष्ठभूमि का ही कार्य कर सका, जिससे आलोच्य कवियो की विशेषताएँ कुछ अधिक प्रभावोत्पादक प्रतीत होने लगी। यह विवेचन फोटो की पृष्ठिभूमि है, जो प्रधान चित्र को प्रभावोत्पादक और सुस्पष्ट करने के लिए आवश्यक होती है। यह उस कलापूर्ण चित्र की पष्ठभूमि नही है, जिसके रंग और रेखाएँ ही गहरी और गुरुतर होकर चित्र का रूप धारण कर लेती है। कही-कही पृष्ठभूमि के रगो से प्रधान चित्र का अन्तर भी वैषम्य के द्वारा वस्तु को परिस्थितियो के अपवाद स्वरूप बताने तथा अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए दिखाया जाता है। शुक्ल जी का भक्ति को निराश हिन्दू-जनता को आश्रय देने की आकाक्षा का परिणाम बतलाना, इसी प्रकार का विवेचन है। भक्ति की अविरल धारा को देखकर उसे केवल सामयिक परिस्थितियों का परिणाम-मात्र कह देना साहित्य के कालो को एक-दूसरे मे विच्छिन्न करके देखना है। तुलसी की कविता को तत्कालीन परिस्थिति से प्रसूत मानना भी उसकी परम्परा से अलग करके ही देखना है। शुक्ल जी की इस विचार-धारा और शैली का अनुकरण बहुत दिनों तक होता रहा। अब भी हिन्दी के कवियो और साहित्य को इसी रूप में देखने की प्रवृत्ति निर्मूल नही हो गई है। लेकिन ऐतिहासिक

१. ज्येष्ठ से भाद्रपद, सं० १९६४।

समीक्षा की प्रवृत्ति में शैली के प्रौढतर स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। 'साहित्य की झांकी' मे भक्ति-काव्य, कृष्ण, राम, प्रेम-कथा, वीर-काव्य आदि के स्वरूपो के विकास पर विचार किया गया है। इन निबन्धो मे साहित्य की विभिन्न धाराओ और प्रत्ययो के विकासमान रूप का अध्ययन हुआ है। लेखक ने सूर के कृष्ण तथा तुलसी के राम का परम्परा से सम्बन्ध बताया है।[1] इन लेखो में यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि वैदिक काल से तुलसी और सूर तक विष्णु किन अवस्थाओं को पार करके पहुँचा है और हिन्दी के इन महाकवियों ने इनके किस स्वरूप को ग्रहण किया है। लेखक शृंगार रस का चित्रण भी तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम नही मानते। उनका कहना है कि यह अकबर के राजत्व-काल की देन अथवा सूर या नन्ददास की कृति नही है। इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है।[2] भूषण के विवेचन मे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियो का भी विवेचन है। भूषण पर इन परिस्थितियो का प्रभाव दिखाया गया है। यहाँ पर लेखक शुक्ल जी की शैली का अनुकरण करते प्रतीत होते है। "रावण" में मुगल-सम्राट् के अत्याचारो का दर्शन भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण ही है। कवि को (तुलसी की) रावण के तत्कालीन अत्याचारों के चित्रण से अवश्य प्रेरणा मिली होगी। यह पुस्तिका बहुत पहले ही (सन् ३० के पूर्व ही) की प्रकाशित है। यह ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का आभास देती है। ये निबन्ध हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे इतिहास-सम्बन्धी कतिपय भ्रान्तियो के निराकरण के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं। इनमें इस समीक्षा-पद्धति के स्वरूप का प्रारम्भिक आभास ही मिलता है, सर्वांगीणता के दर्शन नहीं होते। साहित्य की धाराओ और प्रत्ययो की निर्बाध विकास-परम्परा, विशेष युग के साहित्य से तत्कालीन परिस्थितियो का सम्बन्ध, साहित्य के विशेष युग और कवि की सांस्कृतिक और साहित्य की विकासमान परम्परा की देन आदि कतिपय महत्वपूर्ण विषय अस्पष्ट है। शुक्ल-पद्धति के आलोचको में प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ऐतिहासिक समीक्षा-शैली का बहुत सुन्दर उपयोग किया है। उनकी प्रवृत्ति भी साहित्य को अविच्छिन्न धारा के रूप मे देखने की है। 'भूषण-ग्रन्थावली'; की भूमिका मे उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का विशद निरूपण किया है।

ऊपर ऐतिहासिक समीक्षा-शैली के जिन तत्वों पर विचार हुआ है, वे साहित्य की मूलभूत प्रेरणाएं है। ऐतिहासिक समालोचक के लिये उन दृष्टियों से विचार करना अनिवार्य सा हो जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की शैली प्रारम्भ से ही

१. 'साहित्य की झांकी', पृष्ठ ६६।
२. वही, पृष्ठ १७१।

ऐसी रही है। वे साहित्य को एक अविच्छिन्न धारा के रूप मे ही देखना चाहते हैं। प्रत्येक कलाकार और कला-कृति एक अविरल धारा का कोई विशिष्ट अंश तथा उस धारा को आगे बढ़ाने का कारण भी है। द्विवेदी जी के आलोचक रूप का विकास इस दिशा में ही रहा है। उनकी सूर सम्बन्धी आलोचना में यह दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट नही है, इसीलिए वह पुस्तक बहुत कुछ शुक्ल-शैली की है। लेकिन उन का 'कबीर' स्पष्टतः ऐतिहासिक शैली के प्रौढ़ रूप का उदाहरण है। इसमें उन्होने साहित्य की उपर्युक्त सभी प्रेरणाओ की दृष्टि से कबीर पर विचार किया है। हिन्दी के अंग्रेज आलोचको ने इसको साहित्य का युग तथा तत्कालीन परिस्थितियों का सहज परिणाम मात्र कहा था। भक्ति-काल की प्रौढ रचना के मूल में मुगल दरबार की प्रेरणाएं है, ऐसी कुछ दृढ धारणा इन आलोचको ने कर दी थी। ग्रियर्सन और के, दोनों की यही धारणा थी।[1] हिन्दी-साहित्य के परवर्ती विद्वानों की धारणा भी इसी आधार पर बनी। वे सूर, तुलसी आदि को तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओं की ही उपज मानने लगे। इससे हिन्दी की लम्बी परम्परा उपेक्षित हो गई। हिन्दी-साहित्य का उसकी पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बन्ध स्थापित करने की आकांक्षा ने ही आलोचकों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य किया था। डा० सत्येन्द्र के कतिपय लेखो पर विचार करते हुए हमने देखा है कि वे कुछ परम्परा-सम्बन्धी भ्रांतियों का निराकरण करने के लिए लिखे गए हैं। द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी महत्वपूर्ण भ्रांतियो का निराकरण किया है। उन्होने हिन्दी की साहित्य-परम्परा का सम्बन्ध भारत की मूल चिन्तन धारा से स्थापित कर दिया है। संस्कृत के रीति और अपभ्रंश के लोक साहित्य तथा नाथ-सम्प्रदाय की विचार धारा एवं वैष्णव भक्तों की भक्ति-पद्धति—इन सभी का समाहार हिन्दी में हो जाता है और हिन्दी की विभिन्न काव्य-धाराएं उन्ही के विकसित रूप-मात्र हैं। द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' इसी परम्परा की एकसूत्रता घोषित करने के लिए लिखी है। उन्होने कबीर की चिन्तन-धारा को केवल मुसलमानो के आगमन का परिणाम न मानकर उसको भी एक बहुत लम्बी परम्परा की एक विशेष अवस्था माना है। इस चिन्तन-धारा के विकास में जातीयता, परिवृत्ति और युग-चेतना सभी ने सहयोग दिया है। कबीर को समझने के लिए इन सबका समझना अत्यन्त आवश्यक था, इस धारा को ध्यान में रखकर ही कबीर का महत्व जाना जा सकता है। यही द्विवेदी जी ने किया है।

कबीर के साहित्य मे योग और दर्शन-सम्बन्धी विचार, बाह्याचार का खडन, ब्राह्मण की श्रेष्ठता को अस्वीकार करना, गुरु का महत्व आदि कतिपय प्रत्यय, प्रधान रूप से मिलते है। ये सब कबीर को अपनी जातीय और वश-परम्परा से प्राप्त हुए

१. के : 'हिस्टी आफ हिन्दी लिटरेचर', पृष्ठ ३४-३५।

थे। द्विवेदी जी 'बयनजीवि' जाति से कबीर का सम्बन्ध स्थापित करते है। उस जाति मे जो विचार और लोक-व्यवहार परम्परा से चला आ रहा था, वही प्रधान रूप से कबीर की कविता मे व्यक्त हुआ है। कबीर के परिवार पर नाथ-सम्प्रदाय के विचारो का भी पूरा पूरा प्रभाव था।[1] इन जोगियों मे निराकार की पूजा प्रचलित थी, वे या तो जुलाहे थे अथवा भीख मागकर अपनी गुजर करते थे। ब्राह्मणों के प्रति इनमें घृणा का भाव था। ये लोग हिन्दू-समाज द्वारा उपेक्षित थे तथा समाज मे निम्न स्तर के समझे जाते थे।[2] योग के जिन साधनो और जिन योगपरक उलटवासियो का बाहुल्य कबीर की कविता मे मिलता है, वे सब कबीर को उनके परिवार तथा तत्कालीन वातावरण की देन है।[3] कबीर का जिस वंश मे लालन पालन हुआ है, उसमे यह योग-चर्चा साधारण धर्म-चर्चा के रूप मे होती थी। इसीलिए कबीर की भाषा, युक्तियो, तर्क-शैली और विचार धारा पर इस योग मत का स्पष्ट प्रभाव है।[4] कबीर की साधनात्मक प्रवृत्ति मुसलमानो की देन है इस धारणा को द्विवेदी जी भ्रान्त मानते है। वे इसको वश-परम्परा से प्राप्त तथा अत्यन्त पुरानी कह रहे हैं। हा, कबीर मे जो साहसिक भाव आ गया है, उसका एक कारण मुसलमान-वश मे पालन-पोषण भी है।[5] इस प्रकार द्विवेदी जी यह सिद्ध करते हैं कि कबीर के विचार, तर्क, भाषा आदि ही नही अपितु उनके व्यक्तित्व और स्वभाव का विशेष अश भी वंश-परम्परा मे रखकर समझा जा सकता है। कबीर तथा अन्य सभी सन्त-कवि अपनी वश परम्परा के अतिरिक्त चिरकाल से चली आती हुई योग, दर्शन आदि की परम्परा से भी बहुत अधिक प्रभावित हुए है। बौद्ध धर्म अनेक शाखाओं मे बंटता हुआ नाथ-सम्प्रदाय का रूप धारण कर गया। कबीर के समय मे योग, नाद, बिन्दु आदि की बातें प्राय: प्रचलित हो गई थी। निम्न स्तर के हिन्दुओं के जीवन पर इनका गहरा प्रभाव था। इन निर्गुण पथी सन्तो की तरह बौद्ध-सिद्ध और नाथ-पथी योगी भी नाना मतो का खडन करते थे, सहज और शून्य मे समाधि लगाने को कहते थे और गुरु की भक्ति करने का उपदेश देते थे। इतना ही नही, भाषा, भाव, अलकार, छन्द, पारिभाषिक शब्द आदि पर भी तत्कालीन अवस्थाओं की स्पष्ट छाप है। सिद्ध और योगी

---

१. कबीर', पृष्ठ ११।
२. वही, पृष्ठ १२ - १५।
३. वही, पृष्ठ ८० - ८१।
४. वही, पृष्ठ २२।
५. 'कबीर', पृष्ठ १३६-१३८।

भी इन्ही का प्रयोग करते थे ।[1] उलटबासिया तो स्पष्टत: ही इन सिद्धो से ही कबीर को प्राप्त हुई हैं । जाति-पाति का विरोध एवं बाह्याचार का खडन भी उस काल की विशेषता है ।[2] साहित्य और संस्कृति के उसी स्वरूप के दर्शन कबीर आदि में होते है, जो स्वरूप निरन्तर विकास के उपरान्त उनको प्राप्त हुआ था । ये भक्त सगुण भक्तों की अपेक्षा बहुत भिन्न थे । उनकी परम्परा कुछ भिन्न स्रोतो से प्रवाहित होकर आई थी इसलिए सगुण और निर्गुण मे साधना तथा दर्शन-सम्बन्धी पर्याप्त वैषम्य था । पर फिर भी भक्ति-सामान्य का जो स्वरूप विकसित होकर युग-धर्म के रूप मे ग्रहण होता आया है, उसके दर्शन इन दोनो मे होते है । भगवान् के साथ आनन्द-केलि मध्यकालीन भक्ति का केन्द्र-बिन्दु है । द्विवेदी जी आनन्द-केलि की यह प्रकृति कबीर मे भी मानते है ।[3] पहले के विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने कबीर पर युग-चेतना तथा जातीयता की देन की दृष्टि से विचार किया है । कबीर की कविता के स्वरूप-निर्देश मे इन दोनो तत्वो का कितना हाथ है, यह स्पष्ट करना ही द्विवेदी जी का अभिप्राय है । इनके अतिरिक्त साहित्य की विशेष धारा को निश्चित स्वरूप प्रदान करने की तीसरी प्रबल शक्ति है तत्कालीन अवस्था अर्थात् परिवृत्ति । द्विवेदी जी ने इस पर भी विचार किया है । बाह्याचार और जाति-पाति के खडन की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन थी । कबीर के बहुत पहले से ही यह विचार-धारा पर्याप्त प्रबल होती जा रही थी, पर इसके प्रभावोत्पादक स्वरूप के दर्शन कबीर मे ही होते है । द्विवेदी जी नि:सकोच इसे राजनीतिक अवस्थाओ का परिणाम स्वीकार करते है । मुसलमानो के आगमन के कारण हिन्दू-धर्म को एक विचित्र 'मजहब' का सामना करना पडा । उसके कारण से हिन्दू-धर्म की समन्वयवादी बुद्धि कुण्ठित हो गई और वह व्यक्तिगत चारित्र्य-प्रधान धर्म के स्थान पर आचार-प्रबल अधिक होता गया ।[4] इस प्रकार राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो ने कबीर आदि सन्त-मत के कवियो को लोकप्रिय होने मे सहायता दी है ।[5] इस विवेचन का एक-मात्र तात्पर्य द्विवेदी जी की ऐतिहासिक समीक्षा की सर्वांगीणता और प्रौढता को स्पष्ट करना है ।

द्विवेदी जी मूल्यवादी समीक्षक है । वे साहित्य का उद्देश्य केवल सौन्दर्यानुभूति-जनित आह्लाद नही मानते । वे साहित्य को मानव से आत्यन्तिक हित का

---

१. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ ३१-४३ ।
२. 'कबीर', पृष्ठ १३५ ।
३. वही, पृष्ठ १८० ।
४. 'कबीर', भारतीय धर्म साधना मे कबीर का स्थान ।
५. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृष्ठ ४३ ।

साधन स्वीकार करते है। साहित्य का कार्य विश्व को उदार और स्निग्ध बनाना है। शक्तिशाली को सहृदय और सच्चरित्र बनाने मे ही विश्व का कल्याण है और यह उत्तरदायित्व साहित्य का ही है। द्विवेदी जी साहित्य द्वारा ऐसे समाज का निर्माण कराना चाहते हैं जिसमे पारस्परिक घृणा और ग्लानि की भावना न हो, मानव एक-दूसरे का मुखापेक्षी न होकर पूर्णतः आत्म निर्भर हो सके। साहित्य का कार्य मानव को सब प्रकार के कुसस्कारो से बचाना और उसमें आत्मबल का सचार करना है। द्विवेदी जी साहित्य के उत्कर्षापकर्ष का मानदड ही मानव का हित-साधन मानते है।[1] इस प्रकार द्विवेदी जी के मूल्यवादी दृष्टिकोण में मानव का वैयक्तिक सुधार, उसे सच्चरित्र, सहृदय और उदार बनाना और आदर्श-समाज का निर्माण दोनों ही अन्तर्भूत है। द्विवेदी जी की आदर्श समाज की कल्पना भी सब प्रकार के शोषण, ग्लानि और कुसंस्कारो से मुक्त समाज की कल्पना है। लेकिन उनका यह दृष्टिकोण साम्प्रदायिक अर्थ मे प्रगतिवादी नही कहा जा सकता। अगर किसी वाद से सम्बद्ध देखने का आग्रह ही हो तो इसे गाधीवादी अधिक कह सकते है। शुक्लजी के व्यक्ति-प्रधान मूल्यवादी दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य-समीक्षा सामूहिक मूल्य की ओर अग्रसर हुई है। यही उसके विकास का मार्ग है। इसके दो प्रधान मार्ग आज स्पष्ट है और उनको वादो की पारिभाषिक शब्दावली में मार्क्सवादी और गाधीवादी कह सकते है। इनमे से दूसरा स्वभावत ही वैयक्तिक सुधार को अपना साधन मानने के कारण शुक्लजी के दृष्टिकोण को भी बहुत-कुछ अपना लेता है। द्विवेदी जी की यही स्थिति है। मार्क्सवादी समीक्षकों को छोडकर प्रायः शेष सभी आलोचकों के सम्बन्ध मे यह सत्य है। द्विवेदी जी ऐतिहासिक समीक्षा-शैली को इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप मे स्वीकार करते हैं। वे साहित्य के अध्ययन को साध्य नहीं अपितु मानव-जीवन की जटिल समस्याओ को समझने का साधन मानते है। प्राचीन कवियो का अध्ययन भी इसी दृष्टि से आवश्यक है। द्विवेदी जी कहते है: "उसके अध्ययन से हम केवल एक ही फायदा उठा सकते है। वह यह कि इनको पढकर इनका क्रमबद्ध विकास देखकर हम अपनी नित्य प्रति की उन समस्याओ का असली कारण और स्वरूप समझ सकते है जो हमे रोज ही जूझने को ललकारता रहता है।"[2] इससे स्पष्ट है कि साहित्यिक परम्परा का अध्ययन सास्कृतिक विकास के अध्ययन का साधन है। द्विवेदीजी इन दोनो को समानान्तर रखकर ही अध्ययन करने के समर्थक नही हैं, वे इन दोनो का पारस्परिक घात

१. 'अशोक के फूल', के 'साहित्यकार का दायित्व' तथा 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'—दो लेख।

२. 'अशोक के फूल', पृष्ठ २६२।

प्रतिघात एवं पारस्परिक प्रभाव भी स्पष्ट जान लेना चाहते हैं। ऐतिहासिक समीक्षा मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि साहित्य की प्रगति ने मानव के विकास में क्या सहयोग दिया है। द्विवेदी जी की समीक्षा इसी ओर उन्मुख है। हिन्दी में इस समीक्षा-शैली को अपनाकर संस्कृति और साहित्य के युगपत् अध्ययन की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है। इनकी समीक्षा की मानदण्ड सम्बन्धी धारणा समन्वयवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दे रही है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि साहित्य जन समुदाय की संस्कृति का मार्ग निर्देश अपनी प्रतिभाओं द्वारा ही कर सकता है। अगर किसी युग मे परम्परा को लेकर चलने वाले ही कवि हो तो वह युग सांस्कृतिक दृष्टि से केवल स्थित्यात्मक कहा जाएगा। उस काल मे साहित्य सास्कृतिक निधि की रक्षा भर कर पाता है, उसकी श्री-वृद्धि नही। प्रतिभाएं ही विकास के नवीन मार्गों का उद्घाटन करती हैं। इसीलिए साहित्य की प्रमुख एव सामूहिक प्रेरणाओं (जातीयता, परिवृत्ति और युगचेतना) के साथ ही हमने कलाकार के व्यक्तित्व का महत्व भी स्वीकार किया है। इसके अभाव मे साहित्य की वास्तविक पृथक् सत्ता ही नही रह जाती। प्रभावशाली प्रतिभाएं ही युग-परम्परा मे एक नवीन चेतना जाग्रत कर देती हैं जो तत्कालीन संस्कारों की समष्टि के अतिरिक्त भी कुछ हैं, वही उसी युग का अपना वास्तविक व्यक्तित्व है। उसे हम युग के व्यक्तित्व का वह अंश कह सकते हैं जो युग-परम्परा के सामने स्वय आत्मसमर्पण नही करता अपितु परम्परा को बदलकर अपने अनुकूल बना लेने की क्षमता रखता है। साहित्य-समीक्षा के लिए युग और कलाकार के ऐसे व्यक्तित्व का उद्घाटन बहुत महत्व की वस्तु है। ऐतिहासिक समीक्षा का उद्देश्य रूढि और मौलिकता दोनों का अध्ययन करना है। द्विवेदी जी ने रूढियो और परम्पराओं के साथ ही मौलिकता का अध्ययन भी किया है। वे कबीर की परम्परा तथा उसके समय पर भी विचार नही करते अपितु उसके व्यक्तित्व का महत्व भी स्पष्ट कर देते है। द्विवेदी जी मस्त, फक्कड स्वभाव और अक्खडपन के विशेषणों से कबीर का व्यक्तित्व स्पष्ट करते हैं। कबीर सब-कुछ झाड-फटकार कर चल देने वाला तेज व्यक्ति था।[1] इसीलिए उसमें सब परम्पराओं के विरोध की क्षमता थी। कबीर बाह्याचार के वातावरण में पले थे, पर वे उसको जैसा-का-तैसा ग्रहण नही कर सके। थोथा तर्क, कुटिल कवि-ज्ञान, कटु वचन और मधुर शब्द-जाल उनको भरमा नही सका। वे ऐसे प्रेम की खोज में थे जो सारे हलाहल को अमृत कर देता।[2] इन विशेषणों से द्विवेदी जी के कबीर के व्यक्तित्व

१. 'कबीर', पृष्ठ २१७।
२. वही, पृष्ठ १३६।

को स्पष्ट कर रहे हैं। यह सब कबीर के ऐसे दृढ और परिस्थितियों के सम्मुख आत्म-समर्पण न करने वाले व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि परम्परा से भिन्न होते हुए भी उनकी भक्ति, साधना और दार्शनिक सिद्धान्त से समाज इतना अधिक प्रभावित हुआ। व्यक्तित्व विशेष के निर्माण मे परिवृत्तियो का पूरा सहयोग रहता है। कबीर ऐसी ही परिस्थितियों में जन्मे और पले थे जिनमे वे धार्मिक प्रभावो मे मुक्त रह सकें। द्विवेदी जी ने कबीर के व्यक्तित्व के तटस्थ द्रष्टा के रूप को बहुत ही सुन्दर रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। 'वे मुसलमान होकर भी असल मे मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नही थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नही थे। ···वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानव-प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाति वे नाना असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियो के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे।···असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियो का मिलन-बिन्दु भगवान् को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे। जहां से एक ओर हिन्दूत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व···जहां पर एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहां से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना···।"[1] इन पंक्तियो मे कबीर के व्यक्तित्व तथा परिवृत्तियो के उन पर पड़े हुए सस्कारो का अच्छा निरूपण हुआ है। इसी से कबीर की युग मे नवीन चेतना जागृत करने की क्षमता स्पष्ट हो जाती है।

साहित्य का इतिहास तथा आलोचना दो पृथक् वस्तु होते हुए भी एक-दूसरे से अत्यधिक सम्बद्ध है। वस्तुत: वे एक-दूसरे पर आश्रित है। समीक्षा का उद्देश्य साहित्य का रसास्वाद कराते हुए उसका मूल्याकन करना है। इस मूल्याकन मे ऐतिहासिक विवेचन भी सहायक होता है। साहित्य का इतिहास भी साहित्य के मूल्यांकन के लिए ही प्रस्तुत किया जाता है। पर साहित्य के इतिहास का उद्देश्य प्रधान रूप से साहित्य का रसास्वाद कराना तथा उसका मूल्यांकन करना नही है। मोटे रूप से साहित्य की कृतियो का अनुसधान, काल-क्रम की स्थापना, उनकी सामान्य प्रवृत्तियो के आधार पर साहित्य की विभिन्न धाराओं का निरूपण एव काल-विभाजन ही साहित्य के इतिहास का प्रमुख कार्य माना जा सकता है। इतिहासकार तत्कालीन अवस्थाओं से भी साहित्य की प्रवृत्तियों का सम्बन्ध स्थापित करके देखता है। वह जन-समुदाय के बौद्धिक विकास और उस पर प्रभाव डालने वाली बाह्य शक्तियो का अध्ययन करके उनका साहित्य से सम्बन्ध स्थापित करता

१. 'कबीर', पृष्ठ १८१-१८२।

है। साहित्य जन-समुदाय के हृदय और बुद्धि का प्रतिबिम्ब है, इसलिए साहित्य के इतिहासकार के लिए इस दृष्टि से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। "जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[1] शुक्लजी ने इन पंक्तियों में साहित्य के इतिहास के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का यह भी एक उद्देश्य है। इस पर ऊपर विचार हो चुका है। इतिहास का उद्देश्य एक कलाकार की अपेक्षा साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों और धाराओं के विकास का अध्ययन करना अधिक है। वह इस सामान्य विकास में कलाकारों के सहयोग का मूल्याकन अवश्य करना चाहता है। यही कारण है कि इतिहास को भी कवियों की विस्तृत समालोचना प्रस्तुत करनी पड़ती है। पर इतिहास में साहित्यकार की सर्वांगीण आलोचना न अपेक्षित है और न सम्भव। "इतिहास की पुस्तक में किसी की पूरी तो क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।"[2] स्काट जेम्स इतिहासकार और समालोचक दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् मानते हैं। इतिहासकार प्राचीन तथ्यों का संकलन, और सम्पादन करता है तथा उन तथ्यों की प्रामाणिकता का परीक्षण करता है। पर आलोचक का कार्य साहित्य का मूल्याकन करना है। यह आवश्यक नहीं है कि अच्छा इतिहासकार उत्कृष्ट समालोचक भी हो।[3] ऐतिहासिक समालोचक को इतिहास का बहुत-कुछ उपयोग करना पड़ता है। वह साहित्य-परम्परा का अनुसधान करके कवि और कला का मूल्याकन करता है। जिस प्रकार सफल समीक्षक में इतिहासकार का मिश्रण आवश्यक एवं श्लाघ्य है, उसी प्रकार सफल इतिहासकार के लिए भी यह मिश्रण आवश्यक और उपयोगी है। यही कारण है कि साहित्य के उत्कृष्ट इतिहासकार आलोचना में भी प्रमाण हैं। शुक्ल जी ने

२ 'हिन्दी शब्द सागर', हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १।

१. शुक्ल जी—'इतिहास', वक्तव्य, पृष्ठ ७।

2 The historian of literature must be distinguished from the criti of literature. The task of research among the remains of literary period is distinct from the task of estimating thos remains for what they may be intrinsically worth. A literar historian who may do invalueable work in compiling siftin annotating editing is often a very poor critic. "The Making o Literature. Page, 24.25."

अपने इतिहास मे प्रसंग-वश जिन कवियो की आलोचना प्रस्तुत की है, वह प्रामाणिक है। यह सभी भाषाओ के उत्कृष्ट इतिहासकारो के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही हिन्दी साहि य का इतिहास प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति जग गई थी। ऐतिहासिक समीक्षा के रूप में आलोचको ने इसका आभास भारतेन्दु-काल मे ही दे दिया था। स्वय भारतेन्दुजी ने दो-एक लेखो मे हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास पर दृष्टि डाली है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। इतना ही नही वृत्त-सग्रह के रूप मे भी ये प्रयास प्रारम्भ हो गए थे। शिवसिह सेगर का 'शिवसिह सरोज' ही इस प्रकार का प्रथम क्रमबद्ध प्रयास माना जा सकता है। इसके पहले भी छोटे-मोटे कवित्त-संग्रह हुए है, ऐसा भारतेन्दु-कालीन पत्रिकाओ से अनुमित होता है। स्वय शिवसिह सेगर ने अपनी पुस्तक की भूमिका मे उन सग्रहो के नाम दिए है। उन्होने अपनी इस भूमिका मे यह भी माना है कि इसके पूर्व कुछ कवियो के जीवन-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गए है। वार्त्ता-साहित्य भी इसी की पूर्व-परम्परा माना जा सकता है। पर ये सब प्रयास वास्तविक अर्थ मे इतिहास नही माने जा सकते। इसीलिए इनको वृत्त-सग्रह कहना अधिक समीचीन समझा गया है। 'शिवसिह सरोज' के आधार पर ही ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' लिखा। इसमे लेखक ने कुछ कवियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से भी विचार किया है। सन् १९०० मे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्राचीन ग्रन्थो की खोज का कार्य अपने हाथ मे ले लिया था और हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज की कई रिपोर्टें प्रकाशित की थी। इस सामग्री का उपयोग मिश्र-बन्धुओ ने किया। इन्होने इसके आधार पर एक बहुत बृहत् वृत्त-सग्रह 'मिश्र-बन्धु विनोद' के नाम से प्रकाशित किया। पर ये सभी रचनाएँ इतिहास की गरिमा को नही पहुँच सकी है। एफ० ए० के० ने एक छोटा सा इतिहास सन् १९२० मे लिखा था। उसमे उन्होने तत्कालीन राजनीतिक अवस्थाओ का भी थोडा-सा विवेचन किया है। कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति आदि की कुछ साधारण कोटि की विशेषताओ का भी परिचय दिया गया है। रघुनाथ भट्ट ने भी 'हिन्दी' के नाम से एक बहुत छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जिसमे हिन्दी-साहित्य और भाषा दोनो का क्रमिक इतिहास है। पर वस्तुत: ये सभी ग्रन्थ इतिहास के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नही कर सके। इनमे जनता की चित्त-वृत्तियों का अध्ययन नही हुआ है और न उन चित्त-वृत्तियो के साथ साहित्य का सम्बन्ध ही स्थापित हो सका। साहित्य की आलोचना के विकास में इसी प्रकार का इतिहास सहायक हो सकता है और समीक्षा की दृष्टि से ऐसे ही प्रयास का महत्व भी है। हिन्दी में साहित्य के इतिहास को ऐसा प्रौढ और व्यवस्थित रूप शुक्ल जी ने ही दिया। 'हिन्दी शब्द सागर' के अन्त मे इतिहास के रूप मे जो-कुछ

प्रकाशित हुआ था, वही वास्तविक अर्थ में साहित्य का प्रथम इतिहास कहा जा सकता है। यह भी विकास का प्रारम्भिक रूप है। शुक्ल जी ने इसमें काल-विभाजन करके उन कालों की विशेषताओं का निरूपण किया। शुक्ल जी ही ऐसे प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने साहित्य की धारा को इतिहास के साथ मिलाकर देखा और राजनीतिक अवस्थाओं के साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्याकन किया। इसके बाद शुक्ल जी ने इसी के कई परिवर्तित एवं परिवर्द्धित सस्करण निकाले। उनमे वे कालों के उपविभाग करते तथा साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक परिचय भी देते गए है। इतिहास में कवियों की स्वतन्त्र आलोचना के लिए बहुत कम स्थान होते हुए भी शुक्ल जी ने साहित्य के सभी प्रमुख और प्रतिनिधि कवियो की विस्तृत और प्रामाणिक आलोचना की है। हिन्दी में इतिहास-रचना के प्रयास शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट पर पर ही हो रहे हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास मे कवियों की बहुत विस्तृत और प्रौढ समालोचना को स्थान दिया है। श्यामसुन्दरदास जी का इतिहास कही-कही प्रवृत्तियों के निरूपण मे अवश्य भिन्न है, पर उन्होने भी शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अवलम्बन किया है। शुक्ल जी के इतिहास में राजनीतिक अवस्थाओ, का साहित्य के विभिन्न कालो से सम्बन्ध अवश्य है, पर वे अवस्थाएं केवल पृष्ठभूमि का ही कार्य कर सकी है। उनमे भी साहित्य की अपरिछिन्न धारा के दर्शन स्पष्ट और अविकल रूप म नही होते। प० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' इस अभाव की पूर्ति का प्रयास है। वे हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध एक चिर-परम्परा मे जोड देते है। वे उसे केवल तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो का परिणाम-मात्र नही मानना चाहते। उनका कहना है कि अगर इस्लाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।[1] हिन्दी साहित्य दस करोड मनुष्यो के चिन्तन, इतिहास का इसी दृष्टि से उनके उत्थान-पतन और जीवन-सघर्ष का मूर्त रूप है। साहित्य के इतिहास का इसी दृष्टि से अध्ययन अपेक्षित है। द्विवेदी जी ने हिन्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व की कई शताब्दियो के लोक-जीवन और विद्वत्समाज के साहित्य की विशेषताओं का निरूपण तथा उनका हिन्दी-साहित्य से परम्परागत सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दी की भक्ति, रीति आदि की परम्पराएं चिरकाल की साहित्य-परम्पराओं के ही विकास है, यही द्विवेदी जी दिखाना चाहते है। इस प्रकार इतिहास के क्षेत्र का यह नवीन प्रयास प्रारम्भिक होते हुए भी समीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

प० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपने 'इतिहास के आलोक मे' वर्तमान कविता

१. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृ० २।

का क्रम-विकास तथा 'छायावाद और उसके बाद' नामक निबन्धो[1] मे साहित्य के विकास का अध्ययन किया है। इनमे कवियो और रचनाओं का नही है, अपितु लोक-रुचि और लोक-विचार-धारा का भी क्रमिक अध्ययन है। ये विचार-धाराए साहित्य का स्वरूप किस प्रकार निश्चित करती गई है, इस पर भी द्विवेदी जी ने विचार किया है। उन्होने गाधीवाद, समाजवाद, रोमाण्टिसिज्म, रियलिज्म, आदि वादो की परिधि मे लोक-चिन्तन का अध्ययन किया है और इनका साहित्य पर प्रभाव भी आका है। द्विवेदी जी यह भी स्पष्ट कर देना चाहते है कि किस प्रकार साहित्य समाजवाद की ओर उन्मुख है। दिनकरजी भी इतिवृत्तात्मक, छायावादी और प्रगतिवादी साहित्य के अन्तस्तल मे प्रवाहित होने वाली विचार-धारा को स्पष्ट करते है और यह भी प्रतिपादित करते है कि वैयक्तिकता का उत्थान ही साहित्य मे छायावाद का रूप धारण कर गया है। धीरे धीरे हिन्दी का कवि अपनी वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर उन्मुख हुआ है। कवि समाज के अधिक निकट आकर अनुभूति ग्रहण करने लगा। वह अब देश और समाज की अवस्थाओ के प्रति भी सजग है। इसी से वह साहित्य के पलायनवादी दृष्टिकोण को तिलाजलि देकर राष्ट्र-प्रेम के गीत गाने लगा। अब वह समाज के यथार्थ चित्रण की ओर उन्मुख हो गया है। इसी स्वाभाविक चिन्तन-विकास से प्रेरणा प्राप्त करके साहित्य प्रगतिशील होता जा रहा है।[2] इस प्रकार दिनकरजी और द्विवेदी जी युग-चेतना के विकास का साहित्य के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके देखना चाहते है। यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य मे दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है। ऐतिहासिक समीक्षा हिन्दी की प्रधान विशेषता होती जा रही है और उसका दृष्टिकोण भी धीरे धीरे वही होता जा रहा है जिसका निर्देश हो चुका है। आज ऐतिहासिक समीक्षा इस अवस्था को पहुँच चुकी है कि वह युग चेतना को साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में नही चित्रित करती, अपितु उनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखलाती है। साहित्य युग का परिणाम और दिशा-निर्देशक दोनो है, इसी सिद्धान्त की ओर हमारी ऐतिहासिक समीक्षा अग्रसर हो रही है। वह साहित्य के इतिहास को भी नवीन दृष्टि से लिखने की प्रेरणा प्रदान कर रही है। साहित्य को युग चेतना, लोक-रुचि, लोक-चिन्तन के समानान्तर विकासमान वस्तु देखने की प्रवृत्ति जाग रही है। ये निबन्ध तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के इन निबन्धों मे ऐतिहासिक तथ्यो के सकलन की प्रवृत्ति नही है, उनमे उनके वैयक्तिक चिन्तन का प्राधान्य है। रोमाण्टिसिज्म,

---

१. शान्तिप्रिय द्विवेदी : 'युग और साहित्य'।

२ देखिये 'मिट्टी की ओर' में संग्रहीत 'इतिहास के आलोक में' शीर्षक निबन्ध।

रियलिज्म आदि प्रत्ययों को उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार विशेष अर्थ में ही ग्रहण करके उन्हीं के अनुसार साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन किया है। इसलिए इनमे इतिहास के विशुद्ध दृष्टिकोण का निर्वाह नही है। दिनकरजी के निबन्धों में अपेक्षाकृत ऐतिहासिक प्रामाणिकता अधिक मानी जा सकती है। फिर भी ये वस्तुतः इतिहास नही अपितु ऐतिहासिक समीक्षा के उदाहरण हैं और इतिहास-लेखन को नवीन प्रेरणा का संकेत-भर करते हैं। अब हिन्दी-साहित्य के ऐसे इतिहास की आवश्यकता है जिसमें जीवन की मान्यताओ और प्रत्ययो के विकासमान रूप के आलोक मे साहित्य और कला के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन हो। द्विवेदीजी की 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' तथा ऊपर निर्दिष्ट कुछ निबन्ध इस विकास के पूर्वाभास तथा हिन्दी-जगत् की बढ़ती हुई आकांक्षा के द्योतक हैं।

: १६ :

आधुनिक काल में साहित्य-शास्त्र

समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक नाम से दो भेद प्रत्येक प्रौढ-साहित्य में मान्य रहते हैं। वस्तुत: ये दोनो एक ही वस्तु के दो पक्ष अथवा पटल है। इनको एक-दूसरे से पृथक नही किया जा सकता। इनका विकास भी अन्योन्याश्रित है, प्रयोगात्मक आलोचना के अन्तस्तल मे भी साहित्य-दर्शन या साहित्य-सम्बन्धी मान्यताओं की एक धारा अविरल रूप में निरन्तर बहती रहती है। ये धाराये, जो समीक्षा का मान भी हैं, समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष मे ही अन्तर्भूत है। इन धारणाओ के अभाव मे समीक्षा के प्रयोगात्मक रूप की कल्पना नही की जा सकती। समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष उसके व्यावहारिक रूप का आधार-स्तम्भ है। यही कारण है कि आत्म-प्रधान समालोचना का सिद्धात भी सापेक्षतामूलक है। मानदण्ड अथवा साहित्य-सम्बन्धी धारणा से शून्य निरपेक्ष आत्म-प्रधान आलोचना का कोई तात्पर्य ही नही। इस प्रकार के कथन तो अर्थशून्य होते हैं। इन दोनों स्वरूपों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होते हुए भी इनमें से किसी एक का अधिक महत्व साहित्य की प्रकृति पर निर्भर है। पाश्चात्य देशों की विचार धारा कुछ ऐसी ही सरणियो से विकसित हो रही है कि उसमें आलोचना के प्रयोगात्मक स्वरूप का अधिक विकास हुआ है। पर भारत में साहित्य शास्त्र का विज्ञान और दर्शन के रूप में विकास अधिक हुआ है, कला के रूप मे कम। समीक्षा के कला-रूप का विकास अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक कहा जा सकता है। उसके इस बहुमुखी विकास का काल तो आधुनिक काल ही है। इस विकास मे भी पाश्चात्य प्रेरणा का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध है कि भारतीय चिन्तन धारा इसके शास्त्रीय पक्ष के विकास की ओर स्वभावत: उन्मुख रहती है। संस्कृत साहित्य मे ही नही अपितु रीतिकाल में भी इस प्रवृत्ति का प्राधान्य रहा है। आज भी इस प्रवृत्ति की ओर भारतीय चिन्तन विशेष उन्मुख है। भारतीय प्रत्येक वस्तु की आत्मा का अनुसन्धान करने का स्वाभाविक रूप से इच्छुक रहता है। इसलिए यहा पर आज भी दर्शन का

ही विकास होता है। हिन्दी-समीक्षा में भी प्रयोगात्मक रूपों के साथ साथ साहित्य दर्शन का विकास होता रहा है। प्रयोगात्मक आलोचनायें भी साहित्य सम्बन्धी धारणाओं के विकास का ही इतिहास है।

भारतेन्दु काल से अब तक समीक्षा के सैद्धान्तिक रूप का विकास तीन प्रधान सरणियों मे हो रहा है। प्रथम सरणी उन पुस्तकों की है, जिनके उपजीव्य भारतीय प्राचीन सिद्धान्त है। इन पुस्तकों मे आचार्य परम्परा के मान्य सिद्धान्तों का ही निरूपण हुआ है। दूसरी सरणी उन ग्रन्थों और निबन्धों की है, जिनकी विवेचन प्रणाली प्राय: पाश्चात्य है। इनमे पाश्चात्य अलकार शास्त्र के तत्वों का स्वच्छन्दता पूर्वक ग्रहण हुआ है। इनमे समीक्षा के विभिन्न पाश्चात्य सम्प्रदायों और तत्वों के आधार पर काव्य के स्वरूप की विशद व्याख्या हुई है। यह दूसरी प्रकार का साहित्य शास्त्र भी विशुद्ध पाश्चात्य नही है। इसमे भारतीय दृष्टिकोण का भी मिश्रण है। लेकिन मिश्रण के परिणम और महत्व मे तारतम्य अवश्य है। तीसरी सरणी कवियों और आलोचकों की काव्य सम्बन्धी धारणाओं की है। प्रत्येक कवि काव्य की एक विशेष धारणा से प्रेरित होकर काव्य-सृजन करता है। उसकी यह धारणा उसके काव्य में अभिव्यक्त हो जाती है, आलोचक अपनी मान्यताओं का पृथक् निबन्धों अथवा ग्रन्थों के रूप मे चाहे विवेचन न करें लेकिन वे उसके साहित्य मे स्पष्ट झलक जाती है। आधुनिक काल मे इस प्रकार की धारणाओं को ग्रन्थों की भूमिकाओं मे स्थान मिल जाता है। साहित्य शास्त्र के इस तीसरे प्रकार का अन्तर्भाव प्राय: दूसरे मे ही हो जाता है, इसकी विचार-धारा मे कुछ वैयक्तिकता की छाप के अतिरिक्त साहित्य-शास्त्र के दूसरे प्रकार से कोई विशेष मौलिक भिन्नता नही है। इन धारणाओं मे पाश्चात्य और भारतीय विचारों का मिश्रण ही रहता है। कवि और आलोचक इनको वैयक्तिकता के आवरण मे अभिव्यक्त भर कर देता है। प्रसगानुसार इन धारणाओं का भी ऊपर विवेचन होता रहा है। साहित्य-दर्शन के विकास मे विचारों ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है। पन्त जी 'पल्लव' की भूमिका 'आधुनिक कवि' की भूमिका और महादेवी जी की अनेक भूमिकायें आदि इसकी प्रमाण है।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य-शास्त्र की कुछ मौलिक विशेषतायें हैं जो उसको रीतिकालीन विवेचन मे पृथक करती है, तथा विकास की ओर अग्रसर कर रही हैं। रीति-काल का विवेचन एक परम्परा की उद्धरणी और पिष्टपेषण-मात्र रहा, इसलिए वह इतनी शताब्दियों के प्रयत्न के उपरान्त भी साहित्य शास्त्र को कुछ नवीन वस्तु नही प्रदान कर सका। इसका एक प्रधान कारण मौलिक चिन्तन और विश्लेषण का अभाव ही था, चिन्तन और विश्लेषण की प्रवृत्ति रीति-काल की परवर्ती परम्परा में बढ़ती गई है, पर इसमे बहुत महत्वपूर्ण विकास नही

हो सका, इसका निरूपण यथास्थान हो चुका है। आधुनिक-काल विश्लेषण, चिन्तन और समीक्षा का काल रहा है। रीति-काल मे जो स्थान आप्त वाक्य का था वह इस काल मे विचार-स्वातन्त्र्य ने ले लिया। प्रारम्भ से ही विश्लेषण और चिन्तन की प्रवृत्ति जाग गई। साहित्य शास्त्र का विवेचन भी विश्लेषणात्मक और तर्क-प्रधान शैली मे होने लगा। विचार-स्वातन्त्र्य की भावना तथा विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति ने साहित्य शास्त्र को नवीन मार्ग दिखा दिया। उसने पाश्चात्य जगत् की विचार धारा के प्रवेश के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिया और अपने यहा के सिद्धान्तो का भी नवीन शैली मे पुनः विश्लेषण और मूल्याकन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार प्राचीन परम्परा मे लिखे गए साहित्य-शास्त्र के आधुनिक ग्रथ भी रीतिकालीन प्रवृत्ति से भिन्न रहे। प्रारम्भ से ही इन पर भी पाश्चात्य विवेचन शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। साहित्य शास्त्र की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है आधार सम्बन्धी। आज भी साहित्य दर्शन का मूल आधार भारतीय है। काव्य सम्बन्धी विभिन्न पाश्चात्य विचार धाराओ को आज का साहित्य-शास्त्रज्ञ रस, औचित्य तथा साधारणीकरण आदि भारतीय परम्परा के अनुकूल बनाकर ग्रहण करता है। उसके पास एक कसौटी है, वह उस पर उनकी उपादेयता की जाच कर लेता है। कुछ लोगो की यह कसौटी साधारण संस्कारो के रूप मे है तथा कुछ की गम्भीर अध्ययन और प्रौढ चिन्तन के फल स्वरूप। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओ के मिश्रण से काव्य शास्त्र की नूतन समस्याओ और नवीन विचार धाराओ की उद्भावना का क्षेत्र खुल गया है। मौलिक चिन्तन के सहयोग से इसमे विकास की सम्भावनाएं सुस्पष्ट है।

आधुनिक काल के साहित्य शास्त्र की पहली धारा प्राचीन भारतीय अलकार शास्त्र का प्रतिबिम्ब मात्र है। यह रीतिकालीन परम्परा का ही विकसित रूप है। पर इसमे प्रौढ चिन्तन और विश्लेषण को स्थान मिल गया है। इन ग्रन्थों में वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन पूर्ण और स्पष्ट है। रीतिकाल के अधिकाश ग्रन्थों की सी अस्पष्टता धीरे धीरे कम होती गई है। इन ग्रन्थकारों ने 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य दर्शन', 'रस गंगाधर' तथा 'ध्वन्यालोक' आदि सस्कृत के प्रौढ ग्रन्थो का अध्ययन करके इनकी सामग्री का समुचित उपयोग किया है। एक ही ग्रन्थ के अनुवाद की प्रवृत्ति प्रायः नही रही है। वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन अनेक ग्रन्थो की सहायता से किया गया है। उसी विषय से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शकाओ और प्रश्नों का समाधान करते हुए विवेचन हुआ है। कुछ ग्रन्थो में काव्य तत्वों की परिभाषा प्राचीन मान्य ग्रन्थो के लक्षणों के अनुवाद है। पर उनको स्पष्ट करने के लिए किया गया विवेचन मौलिक है। तर्कपूर्ण विवेचन का यह प्रकार आधुनिक है। ये ग्रन्थ शैली और निरूपण पद्धति की दृष्टि से तो नवीन हैं पर इनका प्रतिपाद्य विषय

अत्यन्त प्राचीन है। ये ग्रन्थ प्राचीन अलंकार शास्त्र के विभिन्न तत्वो के विश्लेषणात्मक परिचय के लिए ही लिखे गए है। वे सभी उस विचार धारा का प्रतिनिधित्व करते है। इनकी प्रामाणिकता का यही मापदंड है। इन ग्रन्थों मे विषय को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान, पाश्चात्य साहित्य शास्त्र तथा वर्तमान धाराओ का भी उपयोग हुआ है, पर केवल साधन रूप मे। यह इनकी प्रमुख विशेषता नही है। इसको कही कही प्रासगिक कहना भी अनुचित नही है। सर्वांगीण साहित्य शास्त्र केवल अलकार निरूपण करने वाले तथा रस और नायिका भद के ग्रन्थ, रीति काल की इन तीनो परम्पराओ के ग्रन्थों का निर्माण इस काल मे भी होता रहा है।

मेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'काव्य कल्पद्रुम' मे प्राचीन अलकार शास्त्र के लक्षणो का उपयोग किया है। 'रस मंजरी' और 'काव्य प्रभाकर' जैसे ग्रन्थ भिखारी दास, श्रीपति आदि की परम्परा के विकसित रूप है। इनमे साहित्य शास्त्र के सभी अंगो का विवेचन है। 'रस मंजरी' मे उन्होने 'काव्य प्रकाश' के लक्षणो का अनुवाद किया है। पर सारा विवेचन 'काव्य प्रकाश' के लक्षणो का अनुवाद नही है। अनेक ग्रन्थो से सामग्री एकत्र करके उन्होने विषय का मौलिक ढग से प्रतिपादन किया है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने भी अपने ग्रन्थो मे अनेक विद्वानो के मतो का उपयोग किया है। उन्होने 'साहित्य दर्पण' तथा 'काव्य प्रकाश' आदि सस्कृत के अलकार ग्रन्थो का ही नही अपितु बहुत से रीतिकालीन आचार्यो के मतो का भी उपयोग किया है। इतना ही नही उन्होने अपने समकालीन मराठी आदि के काव्य शास्त्रों के विचारो का भी उपयोग किया है। 'भानु जी' का 'काव्य प्रभाकर' काव्य शास्त्र का एक विशाल ग्रन्थ है। एक प्रकार से प्राचीन काव्य शास्त्र का वृहत् कोष है। लेकिन इसमे भी मौलिक चिन्तन का अभाव नही है। खडन की प्रवृत्ति स्पष्ट है। जिस मत का प्रतिपादन भानु जी (इन सभी आलकारिको ने भी) ने किया है, वह प्राचीन अलकार शास्त्र का सर्व सम्मत मत है। 'मराठी निबन्धमाला' के प्रसिद्ध लेखक चिपलूणकर की काव्य-हेतु-सम्बन्धी धारणा का खडन करते हुए, भानु जी ने शक्ति, निपुणता, और अभ्यास को अत्यन्त आवश्यक कहा है। यह सिद्धान्त उनका अपना नही है अपितु 'काव्य प्रकाश' का है। पर उनका विवेचन 'काव्य प्रकाश' तक ही सीमित नही रहा। उन्होने प्रतिभा के 'सहजा' और 'उत्पाद्या' नाम से दो भेदो का भी उल्लेख किया है। विश्लेषण और विवेचन द्वारा इन तीनो मे समन्वय भी स्थापित किया है। भानु जी का विवेचन पोद्दार जी की अपेक्षा अधिक विस्तृत और तर्क-प्रधान कहा जा सकता है। पोद्दार जी का निरूपण एक प्रकार से प्रामाणिक परिचय की कोटि का ही अधिक है। पर भानु जी ने सस्कृत-साहित्य के अधिक विस्तृत क्षेत्र का उपयोग किया है। उन्होने काव्य के एक अंग का विश्लेषण

करते हुए उसी प्रसग पर अनेक आचार्यों के मतो का उपयोग किया है। उन्होंने आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ और पडितराज-जैसे अपेक्षाकृत अर्वाचीन विद्वानो को ही उपजीव्य नही बनाया, अपितु वामन, दडी आदि प्राचीन आचार्यों के विवेचन का भी उपयोग किया है। उनके 'काव्य-लक्षण' भी उद्धृत किये है।

अलकार-प्रकाश' तथा अलकार-पीयूष' आदि अनेक ग्रन्थ केवल अलकार-ज्ञान के लिए ही लिखे गये है। ये ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' की परम्परा के ही विकास है। 'रसाल' जी का 'अलकार-पीयूष' तो अधिक प्रौढ और विश्लेषणात्मक है। उसमे सस्कृत और हिन्दी की प्राय सारी उपलब्ध सामग्री के उपयोग का प्रयत्न किया गया है। अलकार-सम्बन्धी भारतीय विचार-धारा को आत्मसात् करके उसको मौलिक ढग से प्रस्तुत करने का यह सफल प्रयत्न हुआ है। इस ग्रन्थ मे अलकारो पर व्यापक दृष्टिकोण मे विचार किया गया है। अलकार-सामान्य के स्वरूप, आधार, वर्गीकरण, पारस्परिक अन्तर आदि अनेक गूढ विषयो पर बहुत ही सूक्ष्म और प्रौढ विवेचन है। काव्य मे अलकारो के महत्व और स्थान पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार हुआ है। अलकार-शास्त्र का इतिहास देते हुए विद्वान् लेखक ने विभिन्न युगो की अलंकार के महत्व-सम्बन्धी धारणाओ का भी निरूपण किया है। 'रसाल' जी की शैली परिचयात्मक नही अपितु विश्लेषणात्मक अधिक है। उन्होंने अलकार सामान्य के स्वरूप, आधार, और वर्गीकरण मे ही नही, परन्तु प्रत्येक अलकार के निरूपण मे भी इसी शैली का उपयोग किया है। वे आचार्यों के मतो की थोडी आलोचना भी करते जाते है। 'रसाल' जी ने प्राय: प्रत्यक अलकार के लक्षण और उसके तत्वो का सूक्ष्म विवेचन तो किया ही है, इसके साथ ही उन्होंने इसके विकास का इतिहास भी थोडे मे दे दिया है। वे इस बात का उल्लेख करना भी नही भूले है कि हिन्दी के रीतिकारो का विशेष अलकारो के प्रति क्या दृष्टिकोण है। वे किस अलकार को पृथक् सत्ता मानते है, और किसकी नही; किस अलकार का कौन-से मे अन्तर्भाव करते है, आदि सभी विषयो का विवेचन है। 'रसाल' जी का 'अलकार पीयूष' अलकार-निरूपण का सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करता है। उसमे अलकार सम्बन्धी सभी विषयो का विशद निरूपण है। शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य को एक नवीन और अनुपम देन है। अलकार-सम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ पहले कभी नही लिखा गया। सब आचार्यों के मतो को एकत्र करके रखने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अलकारो का निरूपण करने वाले और भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये है, और आज भी यह क्रम जारी है। पोद्दार जी का 'अलकार-प्रकाश' तथा 'अलकार-मजरी' दीनजी का 'अलकार-मंजूषा', केडिया जी का 'भारती-भूषण' और मिश्रबन्धुओ का 'साहित्य पारिजात' आदि अधिक उल्लेखनीय है। पोद्दार जी ने पहले 'अलंकार-प्रकाश' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था।

उसमें अलकारों का प्रामाणिक विवेचन था। पर बाद में उसी के परिवर्द्धित सस्करण को 'अलंकार मजरी' का नाम दे दिया गया। इसमे 'अलंकार पीयूष' की तरह अलंकार-सम्बन्धी सभी प्रश्नो पर विशद विवेचन हुआ है। पोद्दार जी ने अलकार की परिभाषा देते हुए 'अलकारोतीति अलकार:' कहकर उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। उन्होने प्राचीन आचार्य भामह और दंडी के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अलकारो का प्राण कहा है। पोद्दार जी ने रुद्रट, रुय्यक आदि के वर्गीकरण का उल्लेख और इनकी वैज्ञानिकता पर विचार किया है। पोद्दार जी की 'अलकार-मजरी' प्रौढ रचना है। दीन जी की पुस्तक भी अलकार-परिचय के लिए अत्यन्त उपयोगी और रोचक है। अलंकारो के लक्षण पद्य में दिए गए है। इससे उनके स्मरण रखने मे अधिक सरलता है। लेकिन उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण भी टिप्पणी द्वारा कर दिया गया है। केडिया जी का 'भारती भूषण' भी अपनी निजी विशेषता और शैली का अच्छा ग्रन्थ है। इसमे उदाहरणो की नवीनता है। नवीन उदाहरणो में लक्षणों को घटाकर दिखाया है, इससे उनका विवेचन और भी प्रौढ और प्रामाणिक हो गया है। उन्होने राजस्थानी के "वैणसगाई" का भी उल्लेख किया है। 'साहित्य-पारिजात' मे बहुत सक्षेप मे काव्य-लक्षण और शब्द-शक्तियो का भी उल्लेख हुआ है, पर इसका प्रधान विषय अलंकार-निरूपण ही है। इसमे प्रत्येक अलकार का विशद विवेचन हुआ है। तर्क और विश्लेषण द्वारा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अलकारो के पारस्परिक अन्तर और प्रत्येक अवान्तर भेद की भी विशद व्याख्या हुई है। इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता यह है कि इसमे रीतिकालीन आचार्यो के मत भी उद्धृत किये गए है। रीतिकालीन विवेचन का यथाशक्ति पूरा उपयोग हुआ है। इसमे अलकार सामान्य, उनके आधार और वर्गीकरण के निरूपण का अभाव है। लेकिन समान अलकारो (प्रतीप और व्यक्तिरेक, भ्रांतिमान और सन्देह आदि) के सूक्ष्म अन्तर का निरूपण बहुत ही तर्कपूर्ण एव प्रौढ है। इसमे शब्दालकार और अर्थालकार के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। 'मिश्रालकार'-सम्बन्धी धारणा तो अत्यन्त मौलिक ही है। इसको तो वे अलकारो के प्रधान वर्गीकरण मे स्थान देते है। यह धारणा 'रसाल' जी की धारणा से भिन्न है। इस ग्रन्थ मे लेखक ने 'रसवत्' आदि को अलकार माना जाय या नही, इस समस्या पर भी विचार किया है। उनको इस सम्बन्ध मे 'काव्य-प्रकाश' का मत ही मान्य है।

रीति काल मे केवल रस निरूपण करने वाले ग्रन्थो की भी एक परम्परा थी। आधुनिक काल मे भी यह परम्परा कुछ दिन तक चलती रही। इस पर भी कई छोटे मोटे ग्रन्थ लिखे गए। इन सबमे महत्वपूर्ण हरिऔधजी का 'रस-कलश' ही है। आधुनिक काल मे इस पद्धति पर अधिक ग्रन्थ नही लिखे गए। 'हरिऔधजी' ने

इस ग्रन्थ मे नायिका-भेद और रस दोनो का समावेश किया है और निरूपण मे कुछ मौलिकता का भी परिचय दिया है। इस ग्रन्थ मे उदाहरण अत्यन्त सरस, सुरुचिपूर्ण और उपयुक्त है। लेखक ने रहस्यवाद का समावेश अद्भुत रस मे कर दिया तथा कुछ आधुनिक नवीन नायिकाओ के भी नामकरण किये, इस प्रकार यह ग्रन्थ केवल परम्परा मुक्त ही नही रहा, अपितु युग की आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाला हो गया। लेखक ने इस ग्रथ की विस्तृत भूमिका लिखी है, जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी परम्परा के 'नवरस' आदि एक दो ग्रन्थ और भी लिखे गए। रीति-काल मे शब्द-शक्तियो पर बहुत कम लिखा गया। यह विषय व्यापक अध्ययन, प्रौढ विवेचन तथा सूक्ष्म विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। रीति काल मे इसका प्राय. अभाव था। फिर भी प्रतापसिंह की 'व्यगार्थ कौमुदी' जैसी प्रौढ रचनाओ ने रीति-काल को अलकृत किया है। यह परम्परा इस काल मे भी चलती रही। 'व्यग्यार्थ मजूषा' -जैसे शब्द शक्तियो के निरूपण के पृथक् ग्रथो के अतिरिक्त इस विषय पर 'काव्य प्रभाकर', 'रस मजरी', 'साहित्य सिद्धान्त' आदि मे भी विचार हुआ है। रीति-काल और सस्कृत-साहित्य-शास्त्र में यह परम्परा इसी रूप मे चलती रही है। उसी की अक्षुण्ण धारा आधुनिक काल तक आई है। पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक द्वितीय उद्योत' इसी परम्परा का अत्यन्त प्रौढ ग्रन्थ है। मिश्र जी का यह ग्रन्थ इस विषय का प्रामणिक विवेचन है। इस ग्रन्थ मे शब्द, अर्थ, शक्ति आदि सभी की प्रामाणिक परिभाषाए व्याकरण और साहित्य शास्त्र के प्रौढ ग्रन्थ 'वाक्य पदीय' तथा 'काव्य प्रकाश', जैसे ग्रन्थो से दी गई है। लेखक ने अभिधा, लक्षणा, व्यजना और ध्वनि के स्वरूप का अत्यन्त सरल शैली मे प्रामाणिक विवेचन उपस्थित किया है तथा ध्वनि के उद्गम, एव उसका व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त से सम्बन्ध जैसे महत्वपूर्ण और गम्भीर विषयो को भी आलोकित किया है। इस ग्रथ की बहुत बडी विशेषता तो यह है कि इसमे उदाहरण हिन्दी के वर्तमान कवियो और लेखको की रचनाओ से लिए गए है। इससे विषय और भी सरल हो गया है। हिन्दी के पाठक को अपने प्राचीन काव्य सिद्धातो का आधुनिक कविता मे उपयोग देखकर उन सिद्धातो की व्यापकता का भी अनुभव होता है। पाश्चात्य धारणाओ की ओर भी साधारण सा सकेत किया गया है। शब्द शक्तियो के अतिरिक्त लेखक ने ध्वनि के साहित्य शास्त्र द्वारा, ('ध्वन्यालोक और 'काव्य प्रकाश' द्वारा) मान्य प्राय. सभी भेदो का विवेचन किया है. इस प्रसग मे उनको रस, भाव, भाषा-शबलता, भावोदय, भाव-शाति आदि अनेक महत्वपूर्ण काव्यागो पर प्रौढ़ विवेचन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ यह स्पष्ट करता है कि रीतिकालीन परम्परा आधुनिक काल मे कितनी प्रौढ हो गई है।

काल क्रम की दृष्टि से सेवक, ग्वाल, मतिराम आदि भी आधुनिक काल के ही

रीतिकार माने जा सकते है। पर शैली और निरूपण पद्धति की दृष्टि से ये पूर्णतः रीतिकालीन ही है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की[1] रचनाओं में ही स्पष्टतः नवीन शैली के दर्शन होते है। इसका थोडा सा आभास कविराज मुरारीदीन में ही मिलने लगा था। काव्यागो के लक्षणों में स्पष्टता और पूर्णता, साहित्य शास्त्र के गूढ प्रश्नों के प्रौढ विवेचन, अलकारो और अन्य काव्यांगो के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर के निदर्शन तथा विश्लेषण-प्रधान शैली के कारण ये ग्रन्थ रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न कहे जा सकते है। पर यथार्थ में इनमें और रीतिकालीन ग्रन्थों में विषय-निरूपण की दृष्टि से कोई तात्विक अन्तर नही है। इन दोनो का वर्ण्य विषय ही एक नही है, अपितु इनकी साहित्य सम्बन्धी धारणाएं भी एक हैं। इनकी प्रौढता का आभास इनको रीतिकालीन परम्परा मे रखकर तुलनात्मक अध्ययन करने मे ही होता है। इस तुलना से ही इन ग्रन्थो की विषय निरूपण और शैली सम्बन्धी प्रौढता स्पष्ट होती है। इन ग्रन्थों को रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न करने का एक कारण है, इनकी प्राचीन साहित्य शास्त्र की मान्य और प्रतिनिधित्व करने वाली प्रौढ धारणाओ के सश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने की प्रवृत्ति। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन ग्रन्थो मे अनेक प्रामाणिक ग्रन्थो का सहारा लिया गया है। ये ग्रन्थ पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नही लिखे गये है। साहित्य-समालोचना का आधार उपस्थित करने तथा साहित्य सृजन की प्रेरणा प्रदान करने की आकाक्षा से ही इन ग्रन्थो का सृजन हुआ है। अपनी प्राचीन निधि के स्वरूप को समझकर मूल्याकन करने की आकाक्षा आधुनिक काल की प्रधान विशेषता है। यही प्रेरणा इन ग्रन्थों के अन्तस्तल मे प्रवाहित हो रही है। इस सश्लिष्ट चित्रण के लिए आधुनिक-काल मे कई साधनो का उपयोग हुआ है। ग्रन्थकारो ने अपने ग्रन्थो की भूमिका में प्राचीन अलकार-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास और प्रतिनिधि धारणाओ पर विचार किया। 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'रस कलश' की भूमिकाए महत्वपूर्ण है। इनमे काव्य-लक्षण, हेतु, प्रयोजन, काव्य के तत्व, रस के स्वरूप, रस-निष्पत्ति, रस के सम्प्रदायो, ध्वनि, औचित्य आदि के अनेक प्रौढ और महत्वपूर्ण प्रश्नो का विवेचन हुआ है। 'हिन्दी रस गंगाधर' की भूमिका मे भी इनका प्रामाणिक निरूपण है। इसके अतिरिक्त इनके संश्लिष्ट विवेचन के लिए पृथक् ग्रन्थो की भी रचना हुई है। प० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' तथा पोद्दार जी का 'सस्कृत-साहित्य का इतिहास' इसी कोटि के ग्रन्थ है। इनमें प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, वक्रोक्ति, औचित्य आदि तत्वों के स्वरूप, अलकार और विकास का विवेचन है। उनका तात्विक, गम्भीर और सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। भारतीय साहित्य शास्त्र के इन तत्वों की भारतीय धारणाओ के साथ ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए इससे सम्बद्ध पाश्चात्य विचार-धारा का भी तुलनात्मक

निरूपण हुआ है । लेकिन इसका प्रधान उद्देश्य भारतीय विचार-धारा का स्पष्टीकरण ही है, इसलिए ये भी इसी परम्परा के ग्रन्थ है। इस काल मे 'रस-गगाधर', 'काव्य-प्रकाश', और 'साहित्य दर्पण' के अनुवाद भी हुए है । प० शालिग्राम शास्त्री की 'साहित्य-दर्पण' पर लिखी गई टीका अत्यन्त प्रौढ और सस्कृत-टीकाओ के समकक्ष है । ऐसे स्तुत्य प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण है । पं० पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का 'हिन्दी-रस-गगाधर' और प० हरिमगल मिश्र का 'काव्य-प्रकाश' भी प्रशसनीय प्रयास है । विषय निरूपण की प्रौढता और पर्याप्त प्रामाणिकता तथा शैली की दृष्टि से इस परम्परा के ग्रन्थो मे विकास हुआ है । यही कारण है कि 'काव्यालोक' तथा 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' जैसे आधुनिकतम ग्रन्थ रीतिकालीन तथा 'अलकार प्रकाश' और 'जसवन्त भूषण'—जैसे आधुनिक काल के प्रारम्भिक ग्रन्थों से बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं । 'अलकार पीयूष' भी शैली की दृष्टि से इस परम्परा की नवीन वस्तु है ।

विषय-निरूपण की सूक्ष्म विवेचन और आलोचना-प्रधान-शैली के कारण ये ग्रन्थकार काव्य-लक्षणो का तुलनात्मक अध्ययन एव रस की अलौकिकता आदि पर विचार कर सकते है । लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ और महत्वपूर्ण बाते है जो इन ग्रन्थो को रीतिकालीन परम्परा से कुछ भिन्न तथा आधुनिक काल के साहित्य-शास्त्र के नूतन विकास का आभास देने वाला बना देती है । अलकार-शास्त्र पर कला और विज्ञान के पाश्चात्य दृष्टिकोण से विचार, अलंकार-प्रयोग के अन्तस्तल की मानसिक प्रवृत्तियो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन,[1] शब्द-शक्ति, अलकार, रीति, गुण आदि की पाश्चात्य धारणाओ पर प्रकाश[2] भारतीय धारणाओ मे पाश्चात्य तत्वो का आभास प्राप्त करना आदि कतिपय ऐसी वस्तुएं है जो साहित्य-शास्त्र के भावी विकास के पूर्वाभास है । ये विकास की नवीन दिशा की ओर सकेत कर रही है । इन लेखको ने प्राचीन भारतीय तत्वो की आधुनिक काव्य की समस्याओ और आवश्यकताओ की दृष्टि से व्याख्या की है । उन्होने कही-कही पर इस दृष्टि से नवीन वर्गीकरण भी किया है । 'हरिऔध' जी ने नायिका-भेद पर ऐसे ही नूतन दृष्टिकोण से विचार किया है । उनकी मान्यता है कि नायिका-भेद के रूप मे आचार्यों ने स्त्री-पुरुषो की प्रकृति और प्रवृत्तियो का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है । वे इसे सार्वभौम और सर्वकालिक मानते है । उनका यह भी कहना है कि अज्ञात रूप से इनकी अभिव्यक्ति सर्वत्र होती रहती है ।[3]

---

१. 'देखिए—रसाल . 'अलकार-पीयूष' ।

२. देखिए—'काव्यालोक' और 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' ।

३ 'रस कलश' की भूमिका, पृष्ठ १२५ ।

आज की जो चरित्र-कल्पना है, उसका अन्तर्भाव भी नायिका-भेद में हो सकता है। 'हरिऔध' जी ने देश, जाति, और लोक-प्रेम की दृष्टि से नायिकाओं के नवीन भेद माने है। इससे आधुनिक काल के नवीन चरित्रो का अन्तर्भाव नायिका-भेद मे हो जाता है। इस प्रकार इन ग्रन्थो में ही प्राचीन साहित्य-शास्त्र के तत्वो की नवीन व्याख्या और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के तत्वो से समन्वय की प्रवृत्ति जाग गई थी। इनमे इन प्रवृत्तियो का पूर्वाभास-मात्र है। इन्ही के विकास ने साहित्य-शास्त्र की नवीन परम्परा को जन्म दिया है। आधुनिक साहित्य-शास्त्र की दूसरी परम्परा की प्रेरणा बीज रूप से इन ग्रन्थों मे विद्यमान है।

हिन्दी मे साहित्य शास्त्र की दूसरी परम्परा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के अनुकरण पर विकसित हुई है। आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडने लगा था। भारतेन्दु काल की पत्रिकाओ में साहित्य के इन पाश्चात्य तत्वो का साधारण सकेत होता रहा है। नाटक आदि पर विचार करते समय उस काल का लेखक नाटक के भारतीय स्वरूप के साथ ही पाश्चात्य तत्वो का भी उल्लेख कर दिया करता था। साहित्य समीक्षा, समालोचक के गुण, निबंध, कहानी, उपन्यास आदि काव्यशास्त्र के नवीन विषय प्रायः पश्चिम की ही देन है। द्विवेदी जी से तो पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के तत्वों के मुक्त उपयोग का युग ही प्रारम्भ हो जाता है। उन्होने साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी जो निबन्ध लिखे, उनका आधार प्रायः पाश्चात्य विवेचन ही रहा। बहुत से निबन्ध तो उनके छायानुवाद ही है। द्विवेदी जी के उपरान्त आचार्य शुक्ल जी, प्रसाद जी, बाबू श्यामसुन्दर दास जी, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' तथा बाबू गुलाबराय आदि अनेक आधुनिक विद्वानों ने साहित्य-शास्त्र की इसी परम्परा का विकास किया है। इनमे से कुछ तथा अन्य अनेक विद्वान अपने निबन्धों द्वारा इसकी श्री वृद्धि अब भी कर रहे है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र ने हमारे समक्ष एक नवीन चिन्तन का मार्ग खोल दिया है। आज हिन्दी का प्रायः प्रत्येक आधुनिक विद्वान साहित्य की आत्मा और स्वरूप का अनुसधान करता हुआ भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो प्रकार की शैलियों का उपयोग करता है। वह इन दोनो विचार धाराओं का समन्वय भी कर लेता है। भारतीय सिद्धातो को पाश्चात्य अनुसंधानो के तथा पाश्चात्य सिद्धातो को भारतीय मान्यताओं के आलोक मे रखकर सत्य वस्तु के निर्णय की प्रवृत्ति आज की प्रमुख विशेषता है। समन्वय की यह भावना भारतीय अलकार शास्त्र की पद्धति के आधुनिक ग्रंथों में भी है, यह पहले कहा जा चुका है। इस नवीन साहित्य शास्त्र में पाश्चात्य तत्वो का उपयोग बढ़ता जा रहा है। भारतीय सिद्धांतों का उपयोग कही कहीं तो प्रायः समर्थन के लिए ही अधिक हो गया है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि अब तक के विवेचन की आधार-भूमि भारतीय साहित्य शास्त्र ही है। हिन्दी के आधुनिक

विद्वान के मस्तिष्क मे इसके प्रबल संस्कार हैं और धीरे-धीरे इसकी प्रौढता में दृढ विश्वास भी होता जा रहा है। भारतीय साहित्य विश्व को सामजस्य के आधार पर प्रतिष्ठित एक नवीन साहित्य शास्त्र दे सकता है। इसमे हिन्दी का सहयोग भी कम महत्वपूर्ण नही है। हिन्दी में इस नवीन 'साहित्य-शास्त्र' के प्रणेताओं ने समन्वय का एक ही दृष्टिकोण नही अपनाया है। इनमें पारस्परिक तारतम्य एव अंतर है। शुक्ल जी प्रधानतः भारतीय विचारधारा के समर्थक आचार्य है। वे पाश्चात्य साहित्य शास्त्र और मनोवैज्ञानिक शैली का उपयोग प्राचीन सिद्धान्तों की गूढता को स्पष्ट करने के लिए ही करते है। बाहर से जो कुछ उन्होने ग्रहण किया है, पश्चिम के जो सिद्धान्त उन्होने अपनाये है, उनका उन्होने भारतीयकरण कर लिया है। पश्चिम में जो कुछ भारतीय विचार धारा के अनुकूल है, उसे अपनाने में शुक्ल जी को हिचक नही है। मौलिक चिन्तन से भारतीय सिद्धात की अव्यक्त गूढताओ का भी उद्घाटन किया गया है। शुक्ल जी के साधारणीकरण और रस-सम्बन्धी विचारों से यह स्पष्ट है। पर शुक्ल जी भारतीयता के प्रतिकूल कही नही गये है। उन्होने भारतीय साहित्य शास्त्र की मूल धारा के विकास के लिए ही नवीन सरणियां खोली है। शुक्ल जी पर विशद विवेचन पहले हो चुका है। भारतीय सिद्धांतो के गूढ़ तत्वो के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति आज की प्रधान विशेषता होती जा रही है। 'सुधाशु' मे भी इनके कई स्थानो पर स्पष्ट दर्शन होते है।[1] प्रसाद जी का दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय है, पर वे रूढिवादी नही है। उन्ही सिद्धातो से गम्भीर विश्लेषण द्वारा उन्होने आधुनिक सौष्ठववादी धारणाओ की उद्भावना की है। कवीन्द्र रवीन्द्र के लिए भी यही कहा जा सकता है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने दोनो पद्धतियो को अपनाया है, पर दोनो मे बहुत अधिक सामजस्य स्थापित नही कर सके है। बाबू गुलाबराय मे समन्वयवादी प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट है। इन दोनो विद्वानो का समन्वय दोनो पद्धतियां का आकलन ही अधिक कहा जा सकता है। सौष्ठववादी समीक्षा मे पाश्चात्य साहित्य दर्शन के तत्वो का पर्याप्त प्रयोग हुआ। पर समन्वय का आधार भारतीय ही रहा। लेकिन मार्क्सवादी और प्रयोगवादी साहित्य मे तो समन्वय का आधार ही बदल गया है। वह पाश्चात्य अधिक है। पर हिन्दी का अपना 'साहित्य दर्शन' भारतीय आधार लेकर ही निर्मित होना संभव है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन विद्वानो मे समन्वयवाद का एक रूप नही है, उसमे तारतम्य है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र भारतीय अलंकार-शास्त्र से भिन्न मार्ग का अवलम्बन करके अग्रसर हुआ है। भारत में काव्य के निर्मित स्वरूप का ही विश्लेषण हुआ है।

---

१. **सुधांशु : 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत'**, पृष्ठ १२६।

जिस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त वस्तु काव्य नाम से अभिहित होती है, उसी की आत्मा का अनुसंधान हुआ है। काव्य के विभिन्न तत्वों की विशद व्याख्या उनके तारतम्यिक महत्व का प्रतिपादन तथा उनका स्वरूप-निर्देश उसी दृष्टि से किया गया। कवि के मस्तिष्क और हृदय मे काव्य नाम की वस्तु कैसे तैयार हो जाती है ? उनके लिए कवि जगत् से किन उदाहरणो को किस रूप मे ग्रहण करता है तथा उनको काव्य का स्वरूप कैसे देता है, इन सब विषयो की विशद व्याख्या का भारतीय अलकार-शास्त्र मे अभाव है। भारतीय आचार्यों ने काव्य के निर्माण-पक्ष पर कम तथा आस्वाद-पक्ष पर अधिक विचार किया है। लेकिन इस दृष्टि से यह विवेचन अद्वितीय है और सहृदय और काव्य की दृष्टि से यही अधिक महत्वपूर्ण है। पर कवि की दृष्टि से कविता का विचार भी नितान्त उपेक्षणीय नही कहा जा सकता। पाश्चात्य आचार्यो ने कविता के इस दूसरे पक्ष का ही अधिक विवेचन किया है। प्रारम्भ से ही, अर्थात् प्लेटो, अरस्तू आदि के समय से ही, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र प्रधानत: इसी दिशा मे अधिक अग्रसर होता रहा है। अरस्तु ने काव्य और कला को अनुकरण माना। उसने कवि को अनुकर्ता कहा है और उस वस्तु-जगत का सकेत किया है जिसका वह अनुकरण करता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही पश्चिम मे काव्य, जीवन और कलाकार के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन हुआ है। वहा काव्य के प्रयोजन तथा आस्वाद पर भी इसी दृष्टिकोण से विचार हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत और पश्चिम में साहित्य-शास्त्र का प्रारम्भ दो भिन्न बिन्दुओ से हुआ है। ये दोनो विचार-धाराएं मिलती भी है, पर दो भिन्न बिन्दुओ से अग्रसर होकर ही। पश्चिम मे कला में कलाकार के आत्मभाव की अभिव्यक्ति, कला का जगत् तथा लौकिक जगत् से उसकी भिन्नता, कला की प्रेरणा आदि विषयो पर अधिक विचार हुआ है। इसका यह तात्पर्य नही है कि पश्चिम मे कला के आस्वाद और प्रयोजन पक्ष अस्पष्ट ही रहे है। वहां पर कला के इस स्वरूप का भी अध्ययन हुआ है। जगत् के आनन्द से उसकी तुलना की गई है। कला के प्रयोजन पर कवि और सहृदय दोनो की दृष्टियों से विचार हुआ है। 'जनहिताय' तथा 'स्वान्त सुखाय' दोनो का ही विवेचन है। अभिव्यक्ति मे कलाकार को स्वाभाविक आनन्द मिलता है, इसलिए यही काव्य का परम लक्ष्य मान लिया गया है। "कला-कला के लिए"—जैसे वादो का पश्चिम मे बहुत प्राबल्य रहा, पर भारत में ऐसे वादो को प्रेरणा नही मिल सकती थी। वह भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रकृति के विरुद्ध है, पर हिन्दी मे जिस नवीन साहित्य-शास्त्र का निर्माण हो रहा है, उसमें इन विषयों एव वादों का पर्याप्त निरूपण है। कुछ हिन्दी के आचार्य तो इन पर भी भारतीय रस-पद्धति से ही विचार करते हैं। शुक्ल जी ने अपने नवीन ग्रन्थ 'रस-मीमासा' मे काव्य के वर्ण्य विषय का विवेचन विभाव पक्ष

तथा प्रस्तुत-अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से किया है, जो पूर्णतया भारतीय है। इस प्रकार इन विषयों को भी भारतीय रूप देने की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है।

पश्चिम मे काव्य का भी कला मे ही अन्तर्भाव माना जाता है। हिन्दी मे अधिकांश आधुनिक आचार्यों ने काव्य को कला मान लिया है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी काव्य को कला मानकर उसकी अन्य कलाओं से अभिव्यंजना के माध्यम की अमूर्त्तता और मूर्त्तता के आधार पर श्रेष्ठता स्थापित करते है।[1] बाबू गुलाबराय जी भी काव्य को कला मानते है। उन्होने काव्य और कला मे रस रूप एक ही आत्मा की प्रतिष्ठा मानी है, इसलिए उन्हे काव्य को कला कहने मे कोई आपत्ति नही होती। उन्होने कला मे कौशल के भाव की प्रधानता वाली बात भी स्वीकार की है, पर इतने से ही वे कला के अर्थ की व्यापकता को अस्वीकार नही करना चाहते।[2] सुधांशु जी काव्य और कला के सम्बन्ध मे पाश्चात्य दृष्टिकोण के ही समर्थक है। कला और काव्य को भिन्न मानने वालो का भी एक सम्प्रदाय है। उसमे प्रसाद जी और शुक्ल जी प्रधान है। उन्होने कला पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया है और उसे उपविधा कहा है। वे उसमे काव्य का अन्तर्भाव नही मानते। प्रसाद जी ने तो कविता को कला मानने का बहुत ही विरोध किया है। उन्हें कला-विभाजन का मूर्त और अमूर्त वाला आधार भी मान्य नही है।[3] प्रसादजी काव्य मे आध्यात्मिकता की प्रधानता मानते है। कवि का कार्य केवल अभिव्यंजना-कौशल ही नही अपितु जीवन-रहस्य का उद्घाटन भी है। वह तो द्रष्टा है।[4] सस्कृत में ऋषि और कवि का प्रयोग समानार्थी है। इससे काव्य की दिव्यता एव अभिव्यंजना-कौशल या कला की अपेक्षा उसकी दिव्यता अत्यन्त स्पष्ट है। प्रसाद जी का दृष्टिकोण पूर्णत: भारतीय है। पर काव्य और कला-सम्बन्धी उनके विचार अधिक लोकप्रिय नही हो सके। पाश्चात्य प्रभाव की प्रबलता के कारण पन्त, निराला, महादेवी, दिनकर आदि प्राय: सभी कवियो ने काव्य और कला मे कोई अन्तर नही किया। उन्हें प्रसाद जी के समान काव्य की उच्चता और आध्यात्मिकता का सिद्धान्त नही मान्य हो सका। हिन्दी मे नवीन साहित्य-शास्त्र का विकास कविता को कला मानकर ही हुआ है।

कला अथवा साहित्य की प्रेरणाओं के सम्बन्ध मे जो वाद प्रचलित हुए है, उनका भी उल्लेख हिन्दी के समालोचकों मे मिलता है। बाबू गुलाबराय जी

---

१. 'साहित्यालोचन' 'कला का विवेचन'।

२. 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'कला और काव्य'।

३. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

४. 'काव्य और कला', पृष्ठ १२।

ने मनोविश्लेषण-शास्त्र पर आधारित फ्रायड, एडलर और जुंग के विचारो का विशद विवेचन किया है।[1] अज्ञेयजी, पं० इलाचन्द्र जी जोशी तथा नगेन्द्र जी ने भी कला की प्रेरणाओं पर विचार किया है। कला कलाकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, यह सिद्धात तो प्राय. सर्वमान्य सा है। कलाकार के व्यक्तित्व तथा उस के जीवन-चरित का काव्य से क्या सम्बन्ध है, इस पर पहले विशद विवेचन हो चुका है। 'सुधाशुजी' कला को "आत्मभाव की अभिव्यक्ति कहते है। वे काव्य के लिए अन्विति का तत्व आवश्यक मानते है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी काव्य मे आत्म भाव के सिद्धात का स्पष्टीकरण किया है।'[2] जगत् और अपने वातावरण मे निरपेक्ष कलाकार के व्यक्तित्व की कल्पना नही की जा सकती, इसीलिए काव्य का जगत् मे अनिवार्य सम्बन्ध मानना पडता है। काव्य का जगत् लौकिक-जगत् से भिन्न होता है। 'सुधाशु जी' कहते है· 'प्राकृत जीवन की सत्ता काव्य मे एक प्रभाव के रूप मे प्रकट होती है। जगत् मे जो जीवन है काव्य मे भी वही जीवन नही रहता बल्कि उसका प्रभाव-मात्र रहता है।'[3] काव्य की घटनाओ मे कलाकार की अपनी सृष्टि होती है, वह कला का निमित्त कारण है। कला का उपादान कारण तो जगत् ही है, पर कलाकार उसको नितान्त भिन्न स्वरूप प्रदान कर देता है।[4] सुधाशु जी ने काव्य की प्रभावोत्पादकता का कारण प्रभाव की गहराई मानी है। प्रभाव की सूचना मात्र काव्य नही है, अपितु सहृदय भी उसको वैसे ही ग्रहण कर सके इसके लिए एक विशिष्ट वातावरण अपेक्षित है। इसके लिए कवि को कल्पना का उपयोग करना पडता है। काव्य मे अनुभूति की प्रधानता का सिद्धांत भी इस काल का सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्रसादजी और शुक्लजी भी इसकी प्रमुखता मुक्त कठ से स्वीकार करते है, यह यथास्थान कहा जा चुका है। शुक्लजी विभाव, भाव और अप्रस्तुत-विधान में कवि-कल्पना की उपयोगिता और अनिवार्यता का प्रतिपादन करते है।[5] कल्पना के उपयोग से ही कवि काव्य-जगत् को सर्वाङ्गीण बनाता है। व्यक्ति को जगत् का एकागी ज्ञान होता है। वह सर्वत्र उसमे कार्य कारण सम्बन्ध नही देख पाता। पर कला-जगत् का वह स्वय सृष्टा है, इसलिए उसकी सम्पूर्णता का उसको स्पष्ट ज्ञान रहता है। यही कारण है कि जगत् की अनुभूति से काव्यानुभूति इतनी भिन्न होती है। काव्यानुभूति हमेशा ही आनंदानुभूति ही होती है। पाश्चात्य प्रभाव के

१. 'सिद्धांत और अध्ययन।
२. सुधांशु : 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत', पृष्ठ ३७-३९।
३. वही, पृष्ठ २७।
४, वही, पृष्ठ ४९।
५. 'रस-मीमांसा।

फल-स्वरूप काव्य के नवीन उपकरणों पर विचार प्रारम्भ हो गया है। कल्पना, बुद्धि, भाव और शैली काव्य के सर्वमान्य तत्व हो गये हैं। अलकार, गुण आदि के साथ इनका विवेचन भी इस काल की प्रमुख विशेषता है। वे तत्व काव्य निर्माण के उपादान है। कुछ लोगो की यह धारणा बन गई है कि रस अलकार आदि काव्य के शोभादायक धर्म मात्र है। वस्तुत उपकरण तो बुद्धि कल्पना आदि ही है। पर यह भ्रांत धारणा है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि और राग तत्व का भाव मे अन्तर्भाव है और उसको प्रस्तुत करने का साधन कल्पना है। भारतीय आचार्यो ने इसी को प्रतिभा कहा है। बुद्धि और राग तत्व का समन्वित रूप ही दूसरे शब्दो मे अनुभूति है। 'सत्य शिव सुन्दरम्' तो इस काल के विवेचन का सूत्र वाक्य हो गया है। काव्य का क्षेत्र निश्चित करने तथा विज्ञान और धर्म से उसका अन्तर स्पष्ट करने के लिए इसी को आधारभूत माना जाता है। काव्य, विज्ञान और इतिहास के सत्यो के अन्तर का विशद विवेचन हुआ है। शिवत्व काव्य का अनिवार्य तत्व है या नही, तथा काव्य मे शिवत्व का कौन सा स्वरूप ग्राह्य है आदि विषयों का भी विस्तृत निरूपण हुआ है। सौदर्य-सम्बन्धी अनेक धारणाओ पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार इस सूत्र के आश्रय मे काव्य के स्वरूप वर्ण्य विषय और प्रयोजन पर अनेक दृष्टियो से विचार किया गया और उसके परिणाम-स्वरूप अनेक सम्प्रदायों का जन्म हो गया। हिन्दी मे भी 'कला-कला के लिए', 'कला-जीवन के लिए' आदि वादो का भी निरूपण हुआ है। इस नवीन साहित्य शास्त्र में रस, अलकार आदि भारतीय तत्वो का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। शुक्लजी की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति पर विचार हो चुका है। इनके अतिरिक्त डा० भगवानदास, सुधाशु, नगेन्द्र, राकेश आदि ने इस दृष्टि से विशद विवेचन किया है। रस, भाव आदि के स्वरूप पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से थोडा प्रारम्भिक विचार हुआ है। 'रस' सौदर्यात्मक ही है, अथवा कोई भिन्न स्थिति, रसानुभूति भाव की प्रत्यक्ष स्मृति या कल्पना मे से कौन सी स्थिति है अथवा इन सबसे भिन्न है, सहृदयता मे कोई तारतम्य है या नही, रसानुभूति का पाठक की वैयक्तिक रुचि से क्या सम्बन्ध है,मन के ओज और रसानुभूति का सम्बन्ध, एक कृति को बार बार पढने से रसानुभूति मे क्या कोई अन्तर पडता है, आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नो को उठाना तथा उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के साहित्य-चिन्तक मे एक पुष्ट साहित्य-दर्शन के निर्माण की आकांक्षा है। भविष्य मे जो साहित्य-शास्त्र निर्मित होगा वह अवश्य ही स्वतन्त्र एवं हिन्दी की अपनी एक निधि होगी, वह न भारतीय प्राचीन साहित्य शास्त्र का पिष्टपेषण होगा और न पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का अविकल अनुवाद मात्र। वह इन दोनो के मंथन का नूतन परिणाम होगा।

नवीन शैली के साहित्य-शास्त्र के विकास ने हिन्दी-साहित्य का एक महान् उपकार किया है, और वह है, प्राचीन भारतीय अलंकार शास्त्र के सिद्धांतों का आधुनिक नवीन दृष्टि से विश्लेषण। शुक्लजी और प्रसाद जी ने पाश्चात्य विचार-धारा को आत्मसात् करके नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में अपनी प्राचीन निधि का विशद विश्लेषण किया है। इससे एक व्यापक, उदार और अत्यन्त प्रौढ साहित्य-दर्शन के विकास की सम्भावनाएं स्पष्ट हो गई है। शुक्लजी की 'रस-मीमांसा' इस कोटि का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ इस बात का स्पष्ट आभास दे रहा है कि हिन्दी भारतीय साहित्य शास्त्र की विशाल और अमूल्य निधि का नवीन मनोवैज्ञानिक शैली मे उपयोग करके महान् साहित्य सृजन और भावन का एक महत्वपूर्ण आधार उपस्थित कर सकती है। शुक्लजी इस मार्ग का निर्देश कर गए हैं। लेकिन अभी तक हिन्दी में साहित्य-शास्त्र के पाश्चात्य तत्वो का निरूपण परिचयात्मक कोटि का ही है। उसमे गूढ चिन्तन और विश्लेषण का अभाव है। साहित्य मे बुद्धि तत्व का स्वरूप और उसकी मर्यादा आदि विषयो का प्रौढ विवेचन नही है।

किसी भी काल का साहित्य-शास्त्र तत्कालीन सृजनात्मक साहित्य से असम्पृक्त नही रह सकता। वह काव्य सृजन की एक प्रधान प्रेरणा का कार्य करता है, यह हम पहले देख चुके है। हमने यह भी देख लिया है कि किस प्रकार विभिन्न समीक्षा-सम्प्रदायो ने काव्य की विभिन्न धाराओ को प्रभावित किया है। यहाँ पर उसके समष्टिगत रूप का थोडा-सा सकेत पर्याप्त है। भारतीय अलकार शास्त्र पर आधुनिक काल में ग्रन्थ-रचना तो हुई, पर वह विशुद्ध रूप मे वर्तमान साहित्य की प्रेरक शक्ति का कार्य नही कर सका। पाश्चात्य और भारतीय-साहित्य-सिद्धान्तो का समन्वित रूप अथवा नवीन विचार-धारा में प्रतिबिम्बित भारतीय साहित्य-सम्बन्धी धारणा ही इस काल के रचनात्मक साहित्य की मूल प्रेरणा कही जा सकती है। इस दृष्टि से साहित्य-शास्त्र की आधुनिक दूसरी प्रवृत्ति का ही विशेष महत्व है। उसी का विकास भी हुआ है और हो रहा है। प्राचीन परम्परा ने तो इसमे सहायक का ही कार्य किया है। काव्य के वर्ण्य-विषय, प्रयोजन, प्रेरणा, कला एव कलाकार के व्यक्तित्व, काव्य का युग और जीवन से सम्बन्ध आदि की स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न धारणाओ ने हिन्दी-साहित्य मे कई वादों को जन्म दिया है—जैसे यथार्थवाद, आदर्शवाद, कलावाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद, आदि। इनका आधुनिक काव्य-धाराओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इन्होने आधुनिक काव्य के स्वरूप तथा विकास की दिशा को निर्दिष्ट किया है। इस काल को चार प्रधान काव्य-धाराओं मे विभक्त किया जा सकता है—इतिवृत्तात्मक, छायावाद, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद। रहस्यवाद आदि अन्य काव्य-प्रवृत्तिया इन्ही धारणाओं में अन्तर्भूत है। पलायनवाद हालावाद आदि को इसीलिए काव्य-धारा न मानकर केवल गौण प्रवृत्तियों के नाम

से अभिहित करना अधिक समीचीन है। पर इन सभी धारणाओं और प्रवृत्तियो पर उपर्युक्त साहित्यिक वादों का बहुत नियन्त्रण रहा है। कलावाद, चमत्कारवाद, और व्यक्तिवाद आदि समीक्षा की धारणाओं ने काव्य की छायावादी, पलायनवादी, हालावादी आदि काव्य-धाराओ और प्रवृत्तियों का स्वरूप निश्चित किया है। इसी प्रकार समाजवाद का प्रगतिवाद तथा नीतिवाद का इतिवृत्तात्मक काव्य से सम्बन्ध अत्यन्त स्पष्ट है। ये वाद इन प्रवृत्तियो के अन्तस्तल में प्रवाहित प्रेरक शक्तियां है, इसलिए इनकी समीक्षा के मानदण्ड के आधार भी हैं। काव्य-सम्बन्धी ये धारणाये एक तरफ काव्य-सृजन की प्रेरणा देती है तथा दूसरी तरफ समीक्षा के मानदड के रूप मे विकसित होकर व्यक्त रूप धारण कर लेती हैं। काव्य मे यथार्थ, आदर्श आदि से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं मे पारस्परिक कुछ अन्तर भी रहता है। इसीलिए एक साहित्यिक वाद का जो तात्पर्य एक काव्य-धारा मे है, ठीक वही दूसरी मे नही है। प्रगतिवादी साहित्य यथार्थवाद से प्रभावित है, पर उनका यथार्थवाद मनोविश्लेषणात्मक कवियो के यथार्थवाद से भिन्न है। प्रगतिवादी नग्न यथार्थवाद का चित्रण काव्य के लिए उपयोगी नही मानता। वह समाजवादी यथार्थ का समर्थक है। इसी तरह इतिवृत्तात्मक तथा छायावादी कविताओ के आदर्शवाद मे स्पष्ट अन्तर है। इतिवृत्तात्मक कवि काव्य की निर्वैयक्तिकता का समर्थक है। उसका काव्य भी जन-सामान्य की भावनाओ का प्रतिनिधि है। पर निर्वैयक्तिकता तथा सामूहिकता की ठीक वही धारणा मार्क्सवादी की नही है। इतिवृत्तात्मक और प्रगतिवादी दोनों साहित्य ही उपयोगितावादी कहे जा सकते है। पर इन दोनो के उपयोगितावादी दृष्टिकोणो मे बहुत अन्तर है। एक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक आदर्शवाद है, तो दूसरे का भौतिक आदर्शवाद। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि आधुनिक काल मे साहित्य-सम्बन्धी धारणाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। इसके फलस्वरूप कई वाद भी बन गए। इन वादो के रूप भी चिरविकासमान है। उनके विकासमान रूप काव्य और समीक्षा की बदलती हुई धाराओ के निर्मायक तत्व हैं। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के एक स्वरूप का दर्शन प्रेमचन्द जी तथा उनके समसामयिक साहित्य मे मिलता है और उसी का दूसरा रूप प्रगतिवादी साहित्य है। इन दोनो के बीच की अवस्था मे इस धारणा का विकास होता रहा है। कवि और समीक्षक तो अपने सम्प्रदाय और प्रवृत्तियो के अनुकूल इनके विभिन्न तात्पर्य मानते रहे। एक ने जिसे आदर्श कहा, उसी को दूसरे ने आदर्श नहीं माना। जैनेन्द्र जी का यह कहना बिलकुल समीचीन है कि एक कवि की दृष्टि से जो यथार्थ है, वही दूसरे की दृष्टि से आदर्श हो सकता है। यथार्थ के सम्बन्ध मे कवि का अपना मौलिक दृष्टिकोण होता है। पाठक उसी को आदर्श भी मान सकता है, पर कवि के लिए तो वही यथार्थ ही है। विभिन्न परिस्थितियों

और मानसिक दशाओ मे यथार्थ और आदर्श का रूप बदल जाता है। जैनेन्द्र जी की कल्पना किसी के लिए आदर्शवादी कल्पना होती है। पर जैनेन्द्र जी तो उसे यथार्थ ही समझते है। सभी वादो की धारणा मे इस वैयक्तिकता के थोड़े-बहुत दर्शन होते हैं। यह वैयक्तिक मतभेद ही साहित्य-सिद्धान्त और वादो के विकास की कुञ्जी है।

हिन्दी मे साहित्य का सैद्धान्तिक निरूपण प्रगतिशील और विकासमान है, पर अभी तक उसने ऐसी निश्चित और पुष्ट सरणी का आभास-मात्र ही दिया है। साहित्य-सम्बन्धी प्रौढ और निश्चित एक विचार-धारा का अभाव है। साहित्य मे व्यक्तिवादियो और समाजवादियो तथा सौष्ठववादियो के पारस्परिक मत-वैषम्य मे सामंजस्य स्थापित नहीं हुआ है। समन्वय की आकाक्षा धीरे-धीरे व्यक्त और स्पष्ट स्वरूप अवश्य धारण कर रही है।

: १७ :

उपसंहार

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी-साहित्य मे प्रयोगात्मक समीक्षा अत्यन्त अर्वाचीन है। पर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य-दर्शन की अत्यन्त प्रौढ चिन्तन-धारा को परम्परागत पैतृक-सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त करने का सौभाग्य है। हिन्दी ने साहित्य-शास्त्र की इस निधि को अपनाया है। हिन्दी ने उसकी गहराई मे प्रविष्ट होकर उसके रत्नो से साक्षात्कार के ही सफल प्रयास नही किये अपितु उन सिद्धान्तों को जीवन की अधुनातन परिवृत्तियो मे रखकर उनकी नवीन व्याख्या भी की है। इससे उसमे महान् शक्ति अन्तर्हित है और प्रयोगात्मक क्षेत्र मे भी उन्नति की उज्जवल आशायें है। प्रयोगात्मक समीक्षा के वास्तविक एव वैज्ञानिक रूप के दर्शन तो आचार्य शुक्ल मे ही प्रथम बार होते है। इनके पूर्व के सारे प्रयासो मे समीक्षा की वैज्ञानिकता, गम्भीरता एव गरिमा का अभाव है। वे सब प्रारम्भिक प्रयास-मात्र है। उनमे वैयक्तिक रूप से काव्य को समझने तथा उसकी श्रेष्ठता को अपने ढग से आकने की प्रवृत्ति-मात्र के दर्शन होते है। आलोचक वस्तु की गहराई तक पहुचने की अपेक्षा उसके बाह्य स्वरूप पर ही मुग्ध अथवा रुष्ट होकर उसे अच्छी अथवा बुरी कह देता था। इसमे भी उसकी वैयक्तिक रुचि ही प्रधान मानदड थी। वह काव्य-तत्वो के शास्त्रीय विवेचन की ओर झुका है। यह काव्य-तत्वो का सामान्य परिचय अथवा बहिरग परीक्षण मात्र है। उनकी आत्मा तक पहुँचने अथवा उनकी कोई मौलिक व्याख्या प्रस्तुत करने की क्षमता के नही, आकाक्षा मात्र का सामान्य सकेत भर मिलते है। उसने काव्य का नीति से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा भी की है, काव्य का रस, सौन्दर्य अथवा आनन्द की दृष्टि से भी उसने अनुशीलन किया है, पर यह सब अत्यधिक स्थूल और वैयक्तिक ही रहा। यत्र-तत्र की शास्त्रीय विवेचना, काव्य-तत्वो की दृष्टि से आलोच्य रचना की परीक्षा के प्रयास, रचना सौन्दर्य से मुग्ध होना, काव्य की जीवन-सम्बन्धी उपादेयता पर विचार करना

आदि कुछ चीजों की झलक उन आलोचनाओं मे मिल जाती है। ये तत्व स्वयं तो बहुत ही अविकसित और अप्रौढ है, इसलिए इनमे समीक्षा की वैज्ञानिक गरिमा के दर्शन नहीं होते, पर समीक्षा को वैज्ञानिक बना देने की आकाक्षा का स्पष्ट आभास अवश्य है। परवर्ती-काल मे जो विकास हुआ है, इनको उसका पूर्वाभास कह देना अत्युक्तिपूर्ण नही है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि काव्य को विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखना, उसको जीवन की उपादेयता मे आकना तथा इन दोनों के समन्वित रूप को काव्य का मान मानना, इन तीन प्रधान प्रवृत्तियो के दर्शन वर्तमान हिन्दी साहित्य-समीक्षा मे होते है और शुक्ल जी के पूर्व की समीक्षा इन तीनों का ही पूर्वाभास मानी जा सकती है। शुक्ल जी के पूर्व की समीक्षा मे विकास हुआ है। वह धीरे-धीरे द्विवेदी जी और मिश्र-बन्धुओं के स्तर को पहुँची है। शुक्ल जी को यही रूप विरासत मे प्राप्त हुआ। उन्होने उसका ही आगे विकास किया। शुक्ल जी की समीक्षा अपने पूर्ववर्ती समीक्षा-तत्वो को वैज्ञानिकता के चरम विकास पर पहुँचा देती है और आगामी विकास के तत्वो को प्रेरणा प्रदान करती है। वाजपेयी जी आदि ने जिस सौष्ठववादी अथवा रहस्यवादी समीक्षा-शैली का अवलम्बन किया है, जो शैली इन लोगो मे विकसित एव प्रौढ रूप में दृष्टिगत होती है, उसकी कुछ अस्पष्ट आकांक्षा के दर्शन प० पद्मसिह जी शर्मा आदि मे होते है। वे काव्य को विशुद्ध दृष्टि से देखते थे, यद्यपि उनकी काव्य-सम्बन्धी धारणा मे अभिव्यजना-कौशल की अधिक प्रधानता है। सौष्ठववादी समीक्षा ने काव्य की आत्मा को पहचानकर समीक्षा मे उन तत्वो के आकलन का प्रयत्न किया है, जो समीक्षा के सार्वदेशिक और सर्वकालीन मानदण्ड को उपस्थित कर सकते है। इस प्रकार वर्तमान समीक्षा की ये सभी प्रधान पद्धतिया परम्परा के विकास ही है और इन्होने भी परस्पर आदान-प्रदान किया है। यह हम पहले कह चुके है कि सौष्ठववादी समीक्षा ने शुक्ल जी द्वारा निर्मित भूमि पर ही अपना भवन खडा किया है और शुक्ल-समीक्षा-पद्धति के आलोचको ने भी स्थूल नैतिकता का आग्रह छोडकर काव्य की आध्यात्मिकता को स्वीकार किया है। इस प्रकार समन्वय की प्रवृत्ति प्रबल रही है।

यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि शुक्ल जी मे अपनी एक प्रबल वैयक्तिक रुचि थी और उसकी एक गहरी छाप उनकी प्रयोगात्मक आलोचनाओं पर भी स्पष्ट है। कुछ लोग इसे पूर्वाग्रह भी कहना चाहते है। पर इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में शुक्ल जी का सा व्यक्तित्व अब तक नही हुआ है। शुक्ल जी मे कवि की अनुभूति के अन्तरतम मे प्रविष्ट होकर उसके अन्तर्हित सौन्दर्य के साक्षात्कार की अपूर्व क्षमता है। वे स्वय भी उन अनुभूतियो से भाव विभोर होते है तथा पाठक को भी करते है। शुक्ल जी अभिव्यंजना के मार्ग के अद्वितीय पारखी है। इस समीक्षा मे शुक्ल जी का दृष्टिकोण प्रधानत: रसवादी है। पर वह नितान्त

परम्परामुक्त नहीं है। उसमें वे मुख्यतः शील और लोकमंगल के सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। उसमें इस सहृदयता के साथ ही विश्लेषण की भी अपूर्व क्षमता है। इन गुणों के साथ अगर शुक्ल जी में युग के सांस्कृतिक आवश्यकताओं को आंकने की क्षमता और बढ़ी हुई होती तो सोने में सुगन्ध थी। उनका महत्व सूर, तुलसी और जायसी की आलोचना कर देने में नहीं अपितु समीक्षा को रस, शील, विकास एवं लोकमंगल समन्वित रूप पर आधारित वैज्ञानिक मानदण्ड एवं विश्लेषण प्रधान शैली प्रदान करने में है। उनकी प्रयोगात्मक समीक्षा की अपेक्षा उनका सैद्धान्तिक निरूपण अधिक महत्वपूर्ण है। उनमें चिन्तन की गम्भीरता एवं व्यापकता है। भारतीय अलंकार-शास्त्र की दृढ़ आधार-भित्ति पर निर्मित इस भवन में प्रसार की अमोघ क्षमता है। इसमें पाश्चात्य तत्वों का भी पर्याप्त उपयोग हो सकता है और हुआ भी है। स्वयं शुक्ल जी ने ही ऐसा किया है। शुक्ल जी के ही काव्य सिद्धान्तों को समयानुकूल परिष्कृत और व्यापक करके हिन्दी की सौष्ठववादी समीक्षा अग्रसर हुई। उसने काव्य को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया। उसके मापदण्ड में आस्वाद और प्रभाव का, सुन्दर और मंगल का, रस एवं नीति का, अनुभूति और अभिव्यक्ति का, भाव और कला का समन्वय स्थापित करने के सफल प्रयास हुए। यह आलोचना समीक्षा के व्यापक मान और शैली के निर्माण में प्रवृत्त हुई। उसने शुक्ल जी की शैली से प्राप्त मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, एवं वैधानिक तत्वों का विकास किया। धीरे धीरे हिन्दी में इन शैलियों और मानों को वैधानिक रूप मिलता गया। काव्य को विशुद्ध रूप में देखने की प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। उक्त दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की सफल चेष्टाएं हुई और हो रही हैं। समन्वय की ओर प्रगति करते हुए मानवतावादी, आध्यात्मिक, लोक-मंगलवादी एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का भी जन्म हुआ है। पर अभी ये अरूप और अनाम हैं। इनका विकास भी अवरुद्ध है। समन्वय के स्वस्थ एवं आशापूर्ण परिणामों से ये उपर्युक्त दृष्टिकोण भी स्पष्ट हैं। पर समन्वय की निश्चित रूपरेखा बनने के पूर्व ही हिन्दी-क्षेत्र में और पद्धतियों का पदार्पण हो गया। ये दोनों ही एक प्रकार से विदेशी हैं। एक ने साहित्य को मानव के आर्थिक विकास अथवा दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाने का पूरा आग्रह किया। इस पद्धति के आलोचकों ने अब तक के साहित्य को पूंजीवाद की देन कहकर प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया। हिन्दी की दूसरी नवीन पद्धति इस पहली की प्रतिक्रिया-स्वरूप आई है। यह काव्य की सामूहिक चेतना का परिणाम मानने का विरोध करती है। वह काव्य को कवि की अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति मानती है। ये दोनों पद्धतियां भी विकास और समन्वय की अवरोधकमात्र नहीं अपितु साधक और प्रेरक भी हैं। इन्होंने रूढ़िवादी दृष्टिकोण को झकझोर कर नवीन परिस्थितियों के प्रति जागरूक कर दिया

है। इस प्रकार हिन्दी में समीक्षा की वर्तमान चार प्रवृत्तिया है जिनको इस निबन्ध मे क्रमश: शुक्ल पद्धति, सौष्ठववादी, मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणात्मक नामों से अभिहित किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ गौण प्रवृत्तिया भी है, जो या तो इन्ही के उपविभाग है या इनमे से किसी का अतिवादी रूप अथवा उनमे से किसी का साधन या शैली है। इनमे से प्रधान निम्नलिखित है—प्रभावाभिव्यजक, अभिव्यजनावादी, सौन्दर्यान्वेषी चरितमूलक और ऐतिहासिक। इस प्रबन्ध मे इन सभी प्रवृत्तियो और शैलियो का अनुशीलन हुआ है। मानवतावादी एव आध्यात्मिक लोकचेतनावादी दृष्टिकोण अभी इतने पुष्ट तथा स्पष्ट नही हो पाये है कि इनको हिन्दी मे सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाए।

आज की हिन्दी-समीक्षा की परिस्थिति कुछ विचित्र होती जा रही है। काव्य समीक्षा की जितनी पद्धतिया और शैलिया प्रचलित है उनके सैद्धान्तिक आधार ठीक है। वे सभी काव्य के कुछ पुष्ट सिद्धान्तो पर आधारित है। पर उनका व्यवहारिक रूप अतिवादी और स्थूल होता जा रहा है। उनकी मान्यता पूर्वाग्रहों का रूप धारण करती जा रही है। शुक्ल-पद्धति का आलोचक काव्य और कवि के संबध मे कुछ स्थूल, शास्त्रीय एव वस्तुतत्रात्मक तत्वो का निर्देश भर कर देने मे अपने कर्तव्य की पूर्णता समझ बैठा है। यह कुछ अधिक शास्त्रीय एव इतिवृत्तात्मक हो जाना चाहता है। इसकी आलोचना आरोप का रूप धारण कर रही है। सौष्ठववादी सिद्धातत: जिस शैली और प्रतिमान को अपनाया है वे तो व्यापक है। उसके मान काव्य की चिरन्तनता तथा सामयिकता के साथ ही काव्य की अनुभूति और आस्वाद के विशुद्ध मान-मूल्यों से अकन की क्षमता भी स्पष्ट है। उसने काव्य को आध्यात्मिक रूप मे ग्रहण करके उसके विशुद्ध एव व्यापक दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया है। उस साहित्य दर्शन में समीक्षा की प्राय. सभी शैलियो का समीचीन समन्वय अ आकलन हो सका है। पर काव्य को इतने उच्च स्तर पर आकने के लिए प्र प्रतिभा एवं सूक्ष्म विवेचन-शक्ति की अपेक्षा है। हिन्दी मे इसका नितात अभाव नही है, पर प्रत्येक आलोचक में इतनी क्षमता सम्भव भी नही है। इसीलिए समीक्षा के भी अत्यधिक प्रभाववादी और आत्म-प्रधान हो जाने की आशका और यह वस्तुत: ऐसी होती भी जा रही है। दूसरे इसमे गूढता के मोह के का अनिश्चित अर्थ वाली पदावली का प्रयोग हो जाता है। इससे अस्पष्टता भी बढ़ जा रही है। साहित्य का देश काल से सम्बन्ध है। उसका अविरल स्रोत बह है। साहित्य के पूर्ण और यथार्थ मूल्याकन के लिए उसको देश काल और सस्कृ की सापेक्षता में देखना आवश्यक है। पर मार्क्सवादी तथा अन्य कतिपय आलो इसको भी अतिवादी पूर्वाग्रह का रूप प्रदान कर रहे है। उनका यह दृ कोण व्यावहारिक रूप में आग्रह बनता जा रहा है। उनके समक्ष समाज के वि

की एक निश्चित परम्परा तथा मानव के कल्याण का एक रूढ दृष्टिकोण है। उस को वे साहित्य का जड प्रतिमान बनाना चाहते हैं। साहित्य का देश काल से सम्बन्ध स्थापित करने का उनका आग्रह एक विशेष दिशा मे इतना बढ गया है कि वे साहित्य की मर्यादाओ का अतिक्रमण करना चाहते है। उनकी रचना साहित्य समीक्षा की अपेक्षा देश काल का एक वर्गवादी चित्र अथवा एक वर्णन का सिद्धान्त निरूपण अधिक हो जाती है। इसी तरह कलाकार के व्यक्तित्व को ही प्रधान मान कर उसकी अन्तश्चेतना के विश्लेषण की प्रवृत्ति और आग्रह भी साहित्य की मर्यादा की अवहेलना करना है। आज हर पद्धति की आलोचना पूर्वाग्रहो से ग्रसित होकर अपने भावो को ही पूर्ण मानने के कारण कुछ स्थूल और जड होती जा रही है, ऐसी अवस्था मे समीक्षा मे स्थैर्य आ जाना भी स्वाभाविक है। ये प्रवृत्तियां पारस्परिक सघर्ष के फलस्वरूप एक दूसरे की अवरोधक शक्ति बन गई है। द्विवेदी काल की 'तू-तू मैं-मैं' का भी अभाव नही है। हा उसने अपना स्वरूप बदल लिया है।

ऊपर के विवेचन का यह तात्पर्य नही है कि हिन्दी समीक्षा की वर्तमान अवस्था निराशापूर्ण है अथवा इसका भविष्य अन्धकारमय है। जहा पर हिन्दी मे इन प्रवृत्तियो के व्यावहारिक रूप एक दूसरे के अवरोधक है वहा पर इनके सिद्धान्तो मे पारस्परिक सम्बध की क्षमता भी स्पष्ट है। इनके सिद्धान्तो मे कोई मूलभूत विरोध नही है। इन सबमे काव्य के सत्य है। विरोध का वास्तविक कारण तो आशिक सत्य को पूर्ण मान लेने के आग्रह मे है। हिन्दी मे इन सभी प्रवृत्तियो मे समन्वय स्थापित करने की आकाक्षा की स्पष्ट और प्रबल हो रही है, इसलिए भविष्य आशापूर्ण है। आज के प्रमुख आलोचक इस स्थिति के प्रति सजग भी हैं वे इस समन्वय की आवश्यकता को अनुभव भी करने लगे है। उनमे से बहुत से समन्वय का आधार खोजने तथा उसकी रूपरेखा तैयार करने मे प्रयत्नशील है। पर अभी तक विभिन्न पद्धतियो के तत्वो का समाहार ही हो पाया है, समन्वयवादी सकलन का अभाव है। समन्वय के लिए एक प्रौढ साहित्य दर्शन को आधार मान लेना आवश्यक है। यह आधार भारतीय ही हो सकता है। शुक्ल जी ने जो सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया है, उसके विकसित रूप मे यह क्षमता स्पष्ट है। पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-शास्त्र के तत्वों का समन्वयवादी अध्ययन उसी आधार पर सम्भव है। सौष्ठववादी समीक्षक ने उसी को व्यापक रूप ग्रहण करके समीक्षा का एक व्यापक मानदन्ड एवं शैली उपस्थित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया था। उसी के विकास की आवश्यकता है। हिन्दी में प्राचीन भारतीय रस और ध्वनि के सिद्धान्त शुक्ल जी के शील-विकास, लोकमंगल, सौष्ठववाद के सौन्दर्य और मंगल के समन्वय प्रगतिवाद के सामुहिक प्रगति, मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के कलाकार की अन्तश्चेतना

व्यक्ति के सिद्धातों के समन्वित रूप की अपेक्षा है। यह समन्वय किसी ठोस अथवा मूलभूत सिद्धांत को अपनाकर उसी के औचित्य में आप सिद्धांतों के और त्याग के विवेक से ही सम्भव है। हिन्दी को अभी यह ठोस आधार है और विवेक बुद्धि जगानी है। हिन्दी मे उपन्यास, नाटक आदि विधाओं क्षायें भी आज कल खूब हो रही है, पर अभी दृष्टिकोण और शैली में प्रौढता की कमी है। प्रतिपाद्य विषय का विधा के साथ सम्बन्ध विधा की तथा उसका स्तर ऐसे प्रश्नो पर गम्भीर विचार करने वाली समीक्षाओ का है। साहित्य की रचनात्मक व्याख्या के साथ ही आलोचक को यह भी है कि कवि कितने उच्च और उदार जीवन की कल्पना उपस्थित करता है। मानव के चिरन्तन कल्याण की कितनी प्रेरणा है, वह व्यक्ति की बुद्धि और का कितना प्रसार कर सकता है आदि। साहित्य समीक्षा मे ऐसे अनेक महत्व-ो एव सिद्धातों की दृष्टि से आलोचना का विकास होना चाहिए। साहित्य सामयिक परिस्थितियो का प्रतिबिम्ब ही नही है अपितु वह अपनी इस सृष्टि न से महान् एव चिरन्तन जीवन की प्रेरणा भी प्रदान कर सकता है। वह जीवन कल्पना से सामयिक परिस्थितियों को भी प्रभावित करता है तथा के समक्ष जीवन का चिरन्तन स्वरूप भी उपस्थित करता है। उसमे सामूहिक के साथ ही व्यक्ति के विकास की भी क्षमता है। ऐसे व्यापक दृष्टिकोण को से ही वर्तमान समीक्षा की सभी पद्धतियों और शैलियो मे पूर्ण सामन्जस्य ता है। इन सिद्धातो मे आधारतः ही विरोध है पारमार्थिक नही। पाश्चात्य ा तथा शैलिया भारतीय साहित्य शास्त्र के व्यापक उपयोग एव मौलिक ण द्वारा एक सार्वभौमिक मान उपस्थित किया जा सकता है। यही आधुनिक धि भारतीय साहित्य दर्शन होगा। भारत की राष्ट्रभाषा होने के कारण पर ही इसके निर्माण का सबसे अधिक उत्तरदायित्व है।

स प्रतीयमान विरोध का एक स्वस्थ प्रभाव भी पडा है। हिन्दी के आलोचक थ, पक्षपात-शून्य एवं पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर समीक्षा के वास्तविक स्वरूप की जागृत हो रही है। उसे भारत का महान् साहित्य-दर्शन पैतृक सम्पत्ति के प्राप्त है तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धातो के उपयोग की सामर्थ्य और ता भी। उसका ध्यान इन दोनो की ओर अग्रसर हुआ है, यह अपने सैद्धान्तिक में इनका उपयोग कर रहा है। आज हिन्दी में आस्वाद की दृष्टि से रस ही का परम लक्ष्य माना जाता है। पर हिन्दी का समीक्षक काव्य के प्रभाव पक्ष ात्य सिद्धान्तों को अपनाता रहा है। वह काव्य पर जीवन की उपादेयता की से विचार करने लगा है। यही समन्वय है। शुक्ल जी ने रस के प्रभाव-पक्ष का

दृष्टि से विचार करने पर उसकी व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। उसमें काव्य के प्रभाव और आस्वाद—दोनो पक्षो का सुन्दर समन्वय है। रस के आधार पर काव्य की वैयक्तिक और सामूहिक—दोनो प्रकार की उपादेयता के सिद्धान्तो का निर्माण हो सकता है। शुक्ल जी ने इस सम्भावना की ओर संकेत किया है। हिन्दी को इसे आगे बढ़ाना है। हिन्दी रस-निष्पत्ति के अतिरिक्त आत्माभिव्यंजन, शील विकास, जीवन की सामूहिक चेतना, सास्कृतिक विकास की प्रेरणा, व्यक्ति और समाज की नवीन चिन्तन धारा प्रदान करना, मौलिक चिन्तन की प्रेरणा देना आदि काव्य प्रयोजनों को मान चुकी है। इससे प्रगति स्पष्ट है, पर अभी इसमें सिद्धांतो के व्यापक प्रयोग का अभाव है। समीक्षक इनके समन्वित रूप के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन नही करता। आज का आलोचक साहित्यकार को महान् साहित्य सृजन की महती प्रेरणा नही दे पा रहा है। हा, ऐसे चिन्ह अवश्य है कि हम एक महान् साहित्य दर्शन के निर्माण के लिए व्याकुल है। भविष्य में इसका व्यावहारिक रूप स्पष्ट होगा। विकास के ये स्वस्थ चिन्ह है। महान् जीवन दर्शन पर साहित्य की महत्ता अधिष्ठित है, और महान् साहित्य दर्शन पर प्रौढ समालोचना। हिन्दी को इसीके लिए प्रयत्न करना है।

: १८ :

पुस्तक-सूची

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय	१ रस कलश
	२ हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास
श्री अर्जुनदास केडिया	१ भारती भूषण
श्री इलाचन्द्र जोशी	१ साहित्य सर्जना
	२ साहित्य सन्तरण
	३ विवेचन
कन्हैयालाल पोद्दार	१ काव्य कल्पद्रुम
	२ संस्कृत साहित्य का इतिहास, दो भाग
कालेलकर काका	१ जीवन साहित्य
	२ कला : एक जीवन दर्शन
किशोरीदास वाजपेयी	१ साहित्य मीमांसा
	२ रस और अलंकार
कृपाराम	१ हित तरंगिणी
कृष्णशंकर शुक्ल एम०ए०	१ केशव की काव्य कला
कृष्णानन्द गुप्त	१ प्रसाद जी के दो नाटक
केशवदास	१ रसिकप्रिया
	२ कविप्रिया
	३ प्रिया प्रकाश
	४ राम चन्द्रिका
गंगाप्रसाद पाडेय	१ काव्य कलना
	२ छायावाद और रहस्यवाद
	३ महाप्राण निराला
गंगाप्रसादसिंह अखोरी	१ पद्माकर की काव्य साधना

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरिश'	१ महाकवि हरिऔध
	२ गुप्त जी की काव्य धारा
गुलाबराय	१ नवरस
	२ प्रसाद जी की कला
	३ हिन्दी नाट्य विमर्श
	४ सिद्धांत और अध्ययन
	५ काव्य के रूप
गौरीशकर 'सत्येन्द्र'	१ गुप्त जी की कला
	२ साहित्य की झांकी
	३ प्रेमचन्द जी की कहानी कला
श्री गौरीशकर हीराचन्द ओझा	१ मध्यकालीन भारतीय सस्कृति
श्री चिन्तामणि	१ कवि-कुल-कल्पतरु : हस्तलिखित
श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	१ समालोचनादर्श
श्री जगन्नाथ पण्डितराज (श्री पुरुषोत्तम चतुर्वेदी का अनुवाद)	१ हिन्दी : रस गगाधर
श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	१ निरंकुशता निदर्शन
श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	१ काव्य प्रभाकर
श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'	१ प्रेमचन्द की उपन्यास कला
श्री जयशंकरप्रसाद	१ काव्य और कला
श्री जसवन्तसिंह	१ भाषा-भूषण
श्री तुलसीदास	१ रामचरितमानस
	२ मानस-मयंक
श्री तोष	१ सुधानिधि
श्री द्विजेन्द्रलाल राय	१ कालिदास और भवभूति
श्री नगेन्द्र	१ सुमित्रानन्दन पन्त
	२ साकेत : एक अध्ययन
	३ आधुनिक हिन्दी नाटक
	४ रीतिकाल और देव
	५ विचार और अनुभूति
	६ विचार और विवेचन
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	१ सूर-सन्दर्भ
	२ जयशंकर प्रसाद
	३ हिन्दी साहित्य . बीसवीं सदी

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	४ सूर-सुषमा
श्री नरेन्द्र	१ पलाश वन
श्री नलिनीमोहन सान्याल	१ समालोचना तत्व
	२ सूरदास
श्री नाभादास	१ भक्तमाल
श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	१ विश्व-साहित्य
श्री पद्माकर	१ पद्माभरण
	२ जगद्विनोद
श्री प्रकाशचन्द गुप्त	१ नया हिन्दी साहित्य
श्री प्रभाकर माचवे	१ जैनेन्द्र के विचार
श्री प्रेमनारायण टंडन	१ द्विवेदी मीमान्सा
श्री बद्रीनाथ भट्ट	१ वेणी संहार की आलोचना
	२ हिन्दी
श्री ब्रह्मदत्तशर्मा	१ हिन्दी साहित्य में निबन्ध
श्री भगवतशरण उपाध्याय	१ नूरजहां (गुरुभक्तसिंह कृत काव्य की समालोचना)
श्री भगवानदीन लाला	१ अलंकार मंजूषा
	२ बिहारी और देव
	३ सूर पंचरत्न
	४ व्यंगार्थ मंजूषा
भिखारी दास	१ काव्य निर्णय
श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'	१ मीरा की प्रेम साधना
श्री मतिराम	१ रसराज
	२ ललित ललाम
श्री महादेवी वर्मा	१ आधुनिक कवि
श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी	१ नैषध चरित चर्चा
	२ हिन्दी कालिदास की आलोचना
	३ विक्रमांकदेव चरित चर्चा
	४ नाटय शास्त्र
	५ कालिदास की निरंकुशता
	६ रसज्ञ-रंजन
	७ साहित्य-सन्दर्भ
	८ लेखांजलि

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी	९ समालोचना-समुच्चय
	१० साहित्य सीकर
	११ विचार विमर्श
	१२ आलोचनावलि
मिश्र बन्धु	१ हिन्दी नवरत्न
	२ मिश्रबन्धु विनोद
श्री रघुवीरसिंह	१ शेष स्मृतियां
श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१ साहित्य
श्री रामकुमार वर्मा	१ कबीर का रहस्यवाद
	२ साहित्य समालोचना
	३ हिन्दी-साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास
श्री रामकृष्ण शुक्ल	१ प्रसाद की नाटक कला
	२ आधुनिक हिन्दी कहानियां
श्री रामचन्द्र शुक्ल	१ तुलसी ग्रन्थावली
	२ जायसी ग्रन्थावली
	३ भ्रमरगीत सार
	४ काव्य में रहस्यवाद
	५ हिन्दी साहित्य का इतिहास
	६ गोस्वामी तुलसीदास
	७ चिन्तामणि : दो भाग
	८ रस मीमांसा
श्री रामनरेश त्रिपाठी	१ तुलसीदास और उनकी कविता
श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	१ अलंकार पीयूष
	२ आलोचनादर्श
विनोदशंकर व्यास	१ प्रसाद और उनका साहित्य
	२ उपन्यास कला
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	१ भूषण-ग्रन्थावली
	२ पद्माकरपचामृत
	३ बिहारी की वाग्विभूति
श्री सुमित्रानन्दन पन्त	१ पल्लव
	२ आधुनिक कवि
श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी	१ सूर साहित्य
	२ हिन्दी साहित्य की भूमिका

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ३ कबीर

हस्तलिखित पुस्तकें, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

श्री चिन्तामणि १ कविकुल कल्पतरु (हस्तलिखित प्रति)
श्री सरदार कवि १ मानस रहस्य
श्री दूलह १ काव्य विलास
श्री प्रतापसिंह १ काव्य विलास
श्री सोमनाथ १ रस पियूष निधि
श्री कुलपति १ रस रहस्य

पत्र-पत्रिकायें

१ हिन्दी प्रदीप ७ समालोचक
२ आनन्द कादम्बनी ८ इन्दु
३ हरिश्चन्द्र सुधा ९ सरस्वती
४ हरिश्चन्द्र चन्द्रिका १० हंस
५ हरिश्चन्द्र मेगजीन ११ प्रतीक
६ साहित्य समालोचक

संस्कृत के ग्रंथ

श्री आनन्द वर्धन १ ध्वन्यालोक : लोचन सहित
श्री कुन्तक १ वक्रोक्तिजीवितम्
श्री राजशेखर १ काव्य मीमासा
श्री मम्मट १ काव्य प्रकाश, बाल बोधिनी टीका
श्री विश्वनाथ १ साहित्य दर्पण
श्री पण्डितराज १ रस गगाधर
श्री दण्डी १ काव्यादर्श

विशिष्ट

१ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
Dr. S. K. Dey. 1 Sanskrit Poetics (Two Volumes)
2 Introduction to Vakroktijivitam
Dr. Raghavan 1 Srngarprakas
2 Some Aspects of Alankarsastra
3 The Number of Rasas
Dr. Sankaran 1 Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit

Syt. Kupuswami	1	The Highways & the Byways of Literary Criticism in Sanskrit
Syt. I. A. Richards	1	Principles of Literary Criticism
Syt. Ramswami Shastri	1	Indian Aesthetics
Syt. B. C. Law	1	History of Pali Literature
Syt. S.M. Katre	1	Prakritik Languages & their contribution
Syt. Kane	1	Introduction to Sahitya Darpan
Syt. Saintsbury	1	A History of English Criticism
	2	Loci Criticism
Syt Vaughon	1	English Criticism
Syt. Taint	1	History of English Literature
Syt. Lamborn	1	Rudiments of Criticism
Syt. Warsford	1	Principles of Criticism
Syt. Aborcrombie	1	The Principles of Criticism
Syt. Bradley	1	Oxford Lectures on Poetry
Syt. Wordsworth	1	Preface to Lyrical Ballads
Syt. Caudvell	1	Illusion and Reality
	2	Studies in Dying Culture
	3	Further Studies in Dying Culture
Syt. Ralphfox	1	Notel and the people
Syt. George Thomson	1	Marxism and Poetry
Syt. Maxim Gorky	1	Life and Literature
Syt. Lunacharsky	1	Lenin on Art & Literature
Syt. Herbert Read	1	The meaning of Art
Syt. Norman Forester	1	American Critical Essays 19th & 20th Centuries
Syt. T.S. Eliot	1	The use of Poetry & the use of Criticism
Syt. Lenin	1	Materialism and Empirio-criticism
Syt. Stalin	1	Dialectical & Historical Materialism
Syt. S. A. Dange	1	Literature & the People
Syt. Shipley	1	Dictionary of World Literature
Syt. Mathew Arnold	1	The Essays in Criticism
Syt. Sukthankar	1	An Introduction to Kavyaprakas
		Encyclopaedia Britanica
Syt Engyio	1	Jha Commomeration Volume
	2	Bhandarkar Commomeration Volume